Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वभारती

प्रथम खण्ड

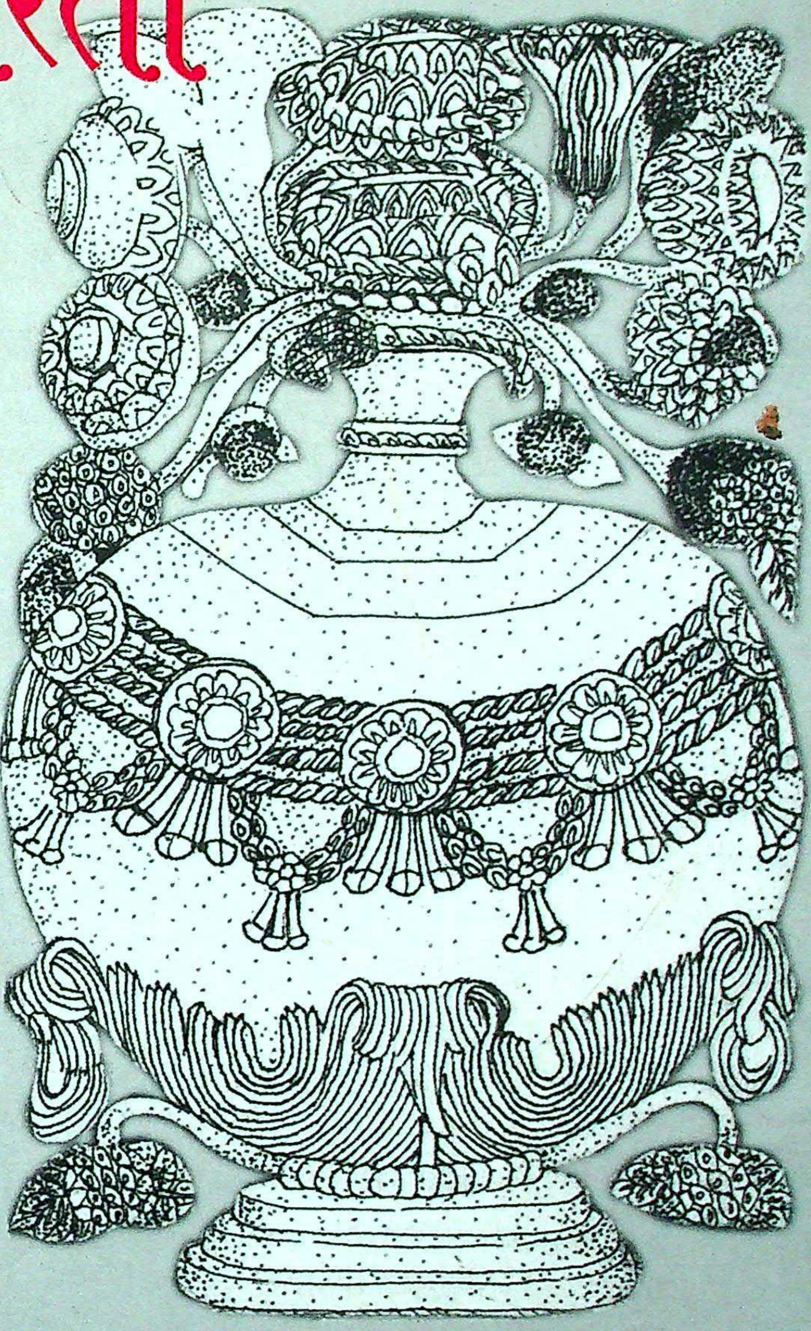

एन्साइक्लोपीडिया

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
.9
निक्ष/.१.दि

139306

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
139306

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या .... आगत संख्या..........

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

Stock Verification-2024

Stock Verification-2024

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वभारती

(एन्साइक्लोपीडिया)

प्रथम खण्ड

139306

संपादक

विश्वनाथ मिश्र
राधेकृष्ण गुप्त
जितेन्द्र कुमार मिश्र

139306

हिन्दी विश्वभारती समिति, लखनऊ
विद्ययाऽमृतमश्नुते

हिन्दी विश्वभारती समिति
16/1287, इन्द्रानगर, लखनऊ-226 016

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक : हिन्दी विश्वभारती समिति
16/1287, इन्द्रानगर, लखनऊ- 226 016

© : हिन्दी विश्वभारती समिति, लखनऊ

R
9
मिश्र - वि

ISBN : 81-903091-0-2

प्रकाशन वर्ष : सितम्बर, 2005

मुद्रक : डी.के. फाइन आर्ट प्रेस प्रा.लि.
फोन : 27302451, 27302929

सम्पादक मण्डल

डॉ. विश्वनाथ मिश्र, एम.ए., डी.फिल्, डी.लिट्, लखनऊ।
श्री राधेकृष्ण गुप्त, आई.ए.एस. (अवकाश प्राप्त), सचिव, भारतीय विद्या भवन, लखनऊ।
डॉ. जितेन्द्र कुमार मिश्र, एम.एससी., पीएच.डी., लखनऊ।
श्री सदाशिव त्रिवेदी, लखनऊ।
डॉ. राम शंकर दुबे, एम.एससी., पीएच.डी., लखनऊ।
डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शुक्ल, एम.एससी., पीएच.डी., बकेवर, इटावा।
डॉ. उपेन्द्र नन्दन शुक्ल, एम.एससी., पीएच.डी., लखनऊ।
श्री कृष्ण चन्द्र गुप्त, एम.ए., पीएच.डी., मुजफ्फरनगर।
डॉ. शुकदेव श्रोत्रिय, एम.ए., पीएच.डी., दिल्ली।

परामर्श–दाता

महामहिम डॉ. विष्णुकांत शास्त्री, राज्यपाल, उत्तर प्रदेश।
महामहिम डॉ. त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी, राज्यपाल, कर्नाटक।
डॉ. प्रेम शंकर जी गुप्त, न्यायमूर्ति (अवकाश प्राप्त), इलाहाबाद।
श्री विजय कुमार मेहरोत्रा, न्यायमूर्ति (अवकाश प्राप्त), लखनऊ।
प्रोफेसर आर. पी. सिंह, कुलपति लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
डॉ. सुभाष कश्यप, नई दिल्ली।
प्रोफेसर सूर्य प्रसाद दीक्षित, लखनऊ।
डॉ. रघुवंश, इलाहाबाद।
डॉ. कल्याण मल लोढ़ा, कोलकाता।
डॉ. रमेश कुन्तल मेघ, पंचकुला, हरियाणा।
प्रोफेसर रामचन्द्र तिवारी, गोरखपुर।
प्रोफेसर आभा अवस्थी, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
प्रोफेसर रजनीश दत्त कौशिक, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राक्कथन

विश्वभारती अथवा विश्वकोश को अंग्रेजी में 'एन्साइक्लोपीडिया' कहा गया है, जिससे उस विशेष ग्रन्थ या ग्रन्थावली का अर्थ लिया जाता है, जिसमें सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान संक्षिप्त जानकारी देने के लिए संकलित होता है। इधर किसी विशेष विषय को लेकर उसके सभी पक्षों का संक्षेप में सर्वेक्षण करने वाले ग्रन्थ को भी इसी प्रकार का नाम दिया जाने लगा है। भारतीय वाङ्मय में दोनों ही प्रकार के सन्दर्भ ग्रन्थों की बड़ी लम्बी परम्परा है। पहले प्रकार के ग्रन्थों में याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, मनु आदि के स्मृति–ग्रन्थ तथा आचार्य कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' आता है। दूसरी कोटि में भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' रखा जाता है, जो वस्तुतः केवल नाट्य–कला का नहीं, सभी प्रदर्शनात्मक कलाओं का आकर ग्रन्थ है। इसी कोटि के अन्य ग्रन्थ हैं, 'धनुर्वेद', 'आयुर्वेद', 'वास्तुशास्त्र' आदि।

पश्चिम में भी इस प्रकार के आकर–ग्रन्थों की बड़ी लम्बी परम्परा है। यूनान के इस कोटि के ग्रन्थों में वरिष्ठ टिलनी का 'हिस्टॉरिका नेचुरलिस' (ईसवी सन् ७७) आता है। उसमें विभिन्न विषयों को अलग–अलग लेकर संकलित किया गया है। रोमन लोगों की भाषा लैटिन में, इस प्रकार के ग्रन्थ की रचना व्यूवइस के विन्सेन्ट ने 'स्पेकुलम मेइयुस' के नाम से ईसवी सन् १२५० में की थी। उसमें भी विषयानुसार ही सामग्री प्रस्तुत की गयी है। पुनरुत्थान (रिनेसाँ) के बाद, जिसका आरम्भ १४५३ से माना जाता है, अनेक यूरोपीय भाषाओं में वर्णानुक्रम से सामग्री संकलित की जाने लगी। यह इस दृष्टि से था कि सामान्य व्यक्ति, जिन्हें ग्रीक या लैटिन का ज्ञान नहीं होता था, अपनी भाषाओं में ज्ञान–विज्ञान की जानकारी अर्जित कर सकें। इस अनुक्रम में सर्वप्रथम 'एफारिम चैम्बर्स साइक्लोपीडिया' (१७२८) का नाम आता है। उसके बाद फ्रान्सीसी भाषा में दिदेरो एवं उनके अनेक सहयोगियों की, जो विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ थे, ३५ खण्डों की 'एन्साइक्लोपीडिया' (१७५१–६५) आती है। अंग्रेजी में उसके बाद 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका', का प्रकाशन आरम्भ हुआ। उसके पहले संस्करण का रचनाकाल १७६८ से ७१ तक रहा। उसके और संस्करण अपेक्षित संशोधनों के साथ प्रकाशित होते रहे, आज भी हो रहे हैं। उसके बाद प्रकाशित आकर–ग्रन्थों में जर्मन भाषा का 'ब्रोएकहंस' (१८०६ ई०), 'एन्साइक्लोपीडिया अमेरिकाना', (१८३३ ई०) 'चेम्बर्स एन्साइक्लोपीडिया' (१८५६ ई०) और फ्रान्सीसी भाषा का 'ग्रैन्ड डिक्शनरी यूनिवर्सले', (१८६५–७६) आते हैं। बीसवीं शताब्दी में ज्ञान–विज्ञान का इतना विकास हुआ है कि सामान्य ज्ञान की एन्साइक्लोपीडिया के स्थान पर अलग–अलग विषयों के आकर–ग्रन्थ बहुत बड़ी संख्या में बनने लगे हैं। अब तो ये दोनों ही प्रकार के ग्रन्थ, सी.डी. के सहारे कम्प्यूटर पर भी उपलब्ध हैं।

भारतीय वाङ्मय में इस प्रकार के आकर–ग्रन्थों की लम्बी परम्परा होते हुए भी, आधुनिक भारतीय भाषाओं में श्री नगेन्द्रनाथ बसु ने २२ खण्डों के 'बंगला विश्वकोश' का सम्पादन किया जिसका प्रकाशन सन् १९११ में पूर्ण हुआ। उसके बाद ही वसु ने अनेक हिन्दी विद्वानों के सहयोग से २५ भागों में 'हिन्दी विश्वकोश' का सम्पादन किया, जो १९१६ से आरम्भ होकर १९३२ में पूरा हुआ।

'मराठी विश्वकोश' श्रीधर व्यंकटेश केतकर के सम्पादन में २३ खण्डों में 'महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश मण्डल लिमिटेड' के तत्वावधान में पुणे से प्रकाशित हुआ। उसके बाद इस ज्ञानकोश का गुजराती रूपान्तर डॉ० केतकर की देख–रेख में तैयार होकर उपलब्ध हुआ। डॉ० केतकर ने अपने विश्वकोश का हिन्दी रूपान्तर भी प्रकाशित करना आरम्भ किया था; लेकिन वे प्रारम्भिक खण्ड ही प्रकाशित कर सके। यह सारा कार्य उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के प्रवाह में हुआ था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन् १९४७ में स्वराज्य प्राप्ति के बाद भारतीय विद्वानों का ध्यान अपनी–अपनी भाषाओं में इस प्रकार के आकर–ग्रन्थों के निर्माण की ओर गया। 'नगरी प्रचारिणी सभा काशी' ने १९५४ में हिन्दी में एक मौलिक और प्रामाणिक विश्वकोश के निर्माण की योजना बनायी; और फिर उसे केन्द्रीय सरकार के पास स्वीकृति के लिए भेजा। केन्द्रीय सरकार ने इस सन्दर्भ में २४ अगस्त, १९५६ को अपनी स्वीकृत भेजी। सभा ने १९५६–५७ में उपलब्ध विश्वकोशों तथा प्रमुख आकर–ग्रन्थों का संकलन आरम्भ किया। उनकी सहायता से हिन्दी विश्वकोश का कार्य १९५८ में आरम्भ हुआ। पहले लगभग ७० हजार और फिर उन्हें घटाकर लगभग ३० हजार विषयों की सूची तैयार हुई। पहले सारा कार्य डॉ० भगवत शरण उपाध्याय ने किया। उसके बाद वैज्ञानिक विषयों पर कार्य के लिए डॉ० गोरख प्रसाद की नियुक्ति हुई। सन् १९५६ को डॉ० धीरेन्द्र वर्मा को प्रधान सम्पादक नियुक्त किया गया। उन्हीं के सम्पादन के डेढ़ साल के थोड़े से समय में हिन्दी विश्वकोश का पहला खण्ड प्रकाशित हुआ। उसके बाद समय–समय पर सम्पादक बदलते रहे और १९७० में १२ खण्डों में इसका प्रकाशन पूरा हुआ। परन्तु अभी तक उसके प्रथम संस्करण का पुर्नप्रकाशन ही चल रहा हैः किसी प्रकार के संशोधन का कोई प्रयास नहीं हुआ है।

अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखने के अनन्तर इलाहाबाद के पं० कृष्ण वल्लभ द्विवेदी ने लखनऊ रहकर पं० श्री नारायण चतुर्वेदी के शुभाशीष के साथ हिन्दी विश्वभारती पर कार्य करना प्रारम्भ किया। उन्होंने विषयानुसार उसके कुछ खण्ड प्रकाशित किये; लेकिन फिर जीविकोपार्जन के लिए उन्हें कुछ विशिष्ट विषयों को लेकर, उन पर ग्रन्थ–लेखन में संलग्न होना पड़ा। हिन्दी भाषा और साहित्य के विशिष्ट सेवी और 'दैनिक आज' के संस्थापक बाबू शिव प्रसाद गुप्त ने उनकी बड़ी मुक्त खण्ड से सराहना की थी, लेकिन कोई महत्वपूर्ण योजना बिना किसी आर्थिक सहायता के चलाई नहीं जा सकती।

प्रस्तुत 'विश्वभारती' की योजना भारतीय विद्या भवन, मुम्बई की लखनऊ शाखा के सचिव श्री राधेकृष्ण गुप्त, एम.ए., आई.ए.एस. (अवकाश प्राप्त) तथा श्री विजय कुमार मेहरोत्रा, न्यायमूर्ति (अवकाश प्राप्त) ने आज से कई वर्ष पहले बनायी थी। सरकारी संस्थाओं से आर्थिक सहायता के लिए पूरा प्रयास किया गया। परन्तु उनके असफल होते देख यह निश्चय किया गया कि यह कार्य हिन्दी विश्वभारती समिति की स्थापना कर उसके तत्वावधान में किया जाये। यह सारस्वत–यज्ञ अब उसी संस्था द्वारा बड़ी ही निष्काम भावना से चलाया जा रहा है।

पहले खण्ड में 'अ' से बनने वाले लगभग सभी विषय लिये गये हैं। दूसरे खण्ड का कार्य चल रहा है और उसमें 'आ' से लेकर 'औ' तक के विषयों के विवरण होंगे। यह ग्रंथ किशोरावस्था के लोगों के लिए बनना था; लेकिन अब इसे सामान्य–जन के योग्य बना दिया गया है। यह निश्चय किया गया है कि इस विश्वभारती का कार्य ग्यारह खण्डों में पूर्ण हो। यह योजना समय से भली प्रकार पूरी हो इसके लिए समिति सभी सुधी जनों का शुभाशीष चाहती है।

सभी पाठकों से आग्रह है कि वे 'विश्वभारती' के इस प्रथम खण्ड को रूचि के साथ पढ़े और आगे के खण्डों के लिए समुचित सुझाव दें। समिति यथासम्भव उनके सभी सुझावों का अनुपालन करने का प्रयत्न करेगी।

सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम खण्ड के लेखक

१. डॉ. अनुराधा विनायक, एम.ए., पीएच.डी., वी. एस. एन. बी. महाविद्यालय, लखनऊ। २. डॉ. अरुणा निगम, एम.एससी. , पीएच.डी., अध्यक्ष, गणित विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ। ३. आलोक शिव त्रिवेदी, दिल्ली। ४. प्रोफ़ेसर अशोक कुमार अग्रवाल, कृत्रिम पुनर्वास केन्द्र, के०जी० मेडिकल विश्वविद्यालय, लखनऊ ५. डॉ. उपेन्द्र नन्दन शुक्ल, एम. एससी. , पीएच.डी., वी. एस. एन. बी. महाविद्यालय, लखनऊ। ६. डॉ. उदय भानु सिंह, एम.ए., पीएच.डी., सनातन धर्म कालेज, मुजफ्फरनगर। ७. डॉ. उमा कान्त शुक्ल, एम.ए., पीएच.डी., सनानत धर्म कालेज, मुजफ्फरनगर। ८. श्री कुमुद नागर, एम. ए., नारायण नगर, रवीन्द्र पल्ली, लखनऊ। ६. श्री कुलदीप सिंह, शोध अधिकारी, योजना भवन, लखनऊ। १०. श्री कैलाश नाथ तिवारी, एम. ए., ३–बी, तरुन शक्ति सोसायटी, घाट लोढिया, अहमदाबाद। ११. डॉ. कृष्ण चन्द्र गुप्त, एम.ए., पीएच. डी., १८६/१२, आर्यपुरी, मुजफ्फरनगर। १२. डॉ. कमल सिंह, एम.ए., पीएच.डी., नवेन्दु सदन, आदर्श कालोनी, मुजफ्फरनगर। १३. श्री गणेश शंकर त्रिवेदी, एम.एससी., जयनारायण महाविद्यालय, लखनऊ। १४. डॉ. गोविन्द प्रसाद गुप्त, एम.एससी., पीएच.डी., सनातन धर्म महाविद्यालय, मुजफ्फरनगर। १५. श्रीमती चेतना आहुजा, एम.एससी., एम.फिल, ऑकलैण्ड, न्यूज़ीलैण्ड। १६. डॉ. जितेन्द्र कुमार मिश्र, एम.एससी., पीएच.डी., श्री जयनारायण महाविद्यालय, लखनऊ। १७. कुमारी निधि पाण्डेय, भौतिक चिकित्सक, लखनऊ। १८. श्री भरत भूषण तायल, एम.ए., श्री राम कालेज ऑफ़ कामर्स, मारिस नगर, दिल्ली। १६. श्रीमती मधु गुप्त, एम.ए., आदर्श कालोनी, मुजफ्फरनगर। २०. डॉ. श्रीमती प्रेम सुमन शर्मा, एम.ए., डी.लिट्, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ। २१. डॉ. बृजेन्द्र निगम, एम.काम., पीएच.डी., वाणिज्यविभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ। २२. श्रीमती रंजना शुक्ल, एम.टेक, आई.आई.टी., चेन्नई। २३. डॉ. रमा शंकर दुबे, एम.एससी. पीएच.डी., लखनऊ। २४. श्री राधेकृष्ण गुप्त, आई.ए.एस. (अवकाश प्राप्त), सचिव, भारतीय विद्या भवन, गोमतीनगर, लखनऊ। २५. डॉ. आर. एन. वाजपेयी, एम.डी., ११७/४५, सूर्योदय नगर, कानपुर। २६. डॉ. रजनीश दत्त कौशिक, एम.एससी., पीएच.डी., गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार। २७. डॉ. राजेन्द्र कुमार शुक्ल, एम.एससी., पीएच.डी., जनता कालेज, बकेवर, इटावा। २८. डॉ० विश्वनाथ मिश्र, ४७/४, कबीर मार्ग, क्ले स्क्वायर, लखनऊ। २६. डॉ. शरद चन्द्र मालवीय, एम.एससी., पीएच. डी., पंत नगर/लखनऊ, ३०. श्री सदाशिव त्रिवेदी, नाबार्ड बैक, लखनऊ। ३१. कुमारी हिमानी सिंह, शोधछात्रा, संजय गांधी स्नातकोत्तर आयुर्विज्ञान संस्थान, लखनऊ।

'विश्वभारती' के इस खण्ड में डॉ. सर्वेश चन्द्र शर्मा और श्री सुशील कुमार श्रीवास्तव ने लेखन–सहायक का कार्य किया है और श्री मनोज यादव ने कम्प्यूटर से इसके मुद्रण की प्रति तैयार की है।

आभार

महामहिम डॉ. विष्णुकांत जी शास्त्री, ने उत्तर प्रदेश के राज्यपाल के रुप में, दस हज़ार रुपये की धनराशि प्रदान की थी। और उन्होंने हमारी सारस्वत–योजना का संरक्षक होना भी स्वीकार किया था। हमें खेद है कि आज वे नहीं हैं; लेकिन उनका शुभाशीष हमारे साथ है, और वह हमारा बहुत बड़ा सम्बल है।

उनके अतिरिक्त निम्नलिखित सज्जनों ने भी हमें स्वेच्छानुसार आर्थिक सहायता दी है, यथा– श्री मुकुल गुप्त, श्रीमती प्रतिभा मिश्र, श्रीमती प्रीति शुक्ल, डॉ. आर. डी. कौशिक, डॉ. अशोक मित्तल, डॉ. कीर्ति वल्लभ, डॉ. सुभाष चन्द्र कुलश्रेष्ठ, श्रीमती श्याम कुमारी लाला, श्रीमती प्रमिला अशोक मिश्र, डॉ. विमल किशोर दुबे, डॉ. राकेश शुक्ल, श्रीमती उषा मिश्र, श्री समुन्त राय, डॉ. कमल सिंह, डॉ. शुकदेव श्रोत्रिय, डॉ. उदय भानु सिंह, श्री पुरुषोत्तम अग्रवाल, श्री प्रमोद कुमार भारद्वाज, डॉ. एस. के. सेठ, डॉ. ए. के. विरमानी, डॉ. गोविन्द प्रसाद गुप्त, डॉ. निरजंन सिंह शर्मा, डॉ. सीमा जैन, डॉ. सरोज त्रिपाठी, डॉ. श्रवण कुमार त्रिपाठी, श्री प्रदीप मिश्र, श्रीमती प्रतिमा मिश्र, श्रीमती हेमलता मिश्र, श्रीमती उदिता मालवीय, श्रीमती प्रेरणा दीक्षित, श्रीमती रंजना शुक्ला, श्रीमती चेतना आहुजा, डॉ. राम शंकर दुबे, डॉ. सदाशिव त्रिवेदी, डॉ. उपेन्द्र नन्दन शुक्ल, लेफ्टिनेन्ट कर्नल शिवजी मिश्र, श्री श्याम जी मिश्र, श्री अलोक मिश्र, श्रीयुत् श्री प्रकाश तिवारी, डॉ. वेद प्रभा त्यागी, डॉ. चन्द्र दत्त त्यागी, डॉ. कुलदीप सिंह, डॉ. अरुणलता वर्मा, श्री अनिल कुमार शुक्ल, श्री जयशंकर मिश्र, श्री अशोक वाजपेयी, श्री सुरेन्द्र नाथ तिवारी, डॉ. जे. के. मिश्र, श्री रवि पांडे, श्री रवि मिश्र, श्रीमती रिचा मिश्र, श्री मयंक मालवीय, श्रीमती अनुपमा सुशील कुमार, डॉ. एस. एन. बहोरे, डॉ. जे.पी. शुक्ला, डॉ. अनिल मिश्र, डॉ. अटल बिहारी मिश्र, डॉ. आर. सी. मिश्र, श्री गोपाल शर्मा और श्री किशोरी लाल जायसवाल।

सम्पादक मण्डल इन सभी का सम्पूर्ण मन से आभारी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय–सूची

क्र. सं.	नाम	पृष्ठ संख्या
१.	अ	१
२.	अंक (गणित)	१
३.	अंक (नाटक)	५
४.	अंकगणना	६
५.	अंकगणित	६
६.	अंकगणित (भारतीय)	१२
७.	अंकारा	१५
८.	अंकुर	१६
९.	अंकुरण	१६
१०.	अंग (१)	१७
११.	अंग (२)	१७
१२.	अंगकोरवात	१७
१३.	अंगद	१९
१४.	अंगददेव	१९
१५.	अंगराग	२१
१६.	अंगिरा	२३
१७.	अंगुत्तर निकाय	२३
१८.	अंगुलिछाप	२३
१९.	अंगुलिमाल	२४
२०.	अंगूर	२४
२१.	अंगोरा	२६
२२.	अंगोला	२६
२३.	अँग्रेज	२७
२४.	अँग्रेजी भाषा	२९
२५.	अँग्रेजी साहित्य	३०
२६.	अंजन	४६
२७.	अंजीर	४६
२८.	अंटार्टिका महादीप	४७
२९.	अंडमान द्वीप–समूह	४९
३०.	अंडा	५१
३१.	अंडोरा	५२
३२.	अंतःकरण	५३
३३.	अंतःपुर	५४
३४.	अंतःप्रत्यक्ष	५४
३५.	अंतरिक्ष	५४
३६.	अंतरिक्ष अन्वेषण	५४
३७.	अंतरिक्ष अभियान (पाश्चात्य)	५४
३८.	अंतरिक्ष अभियान (भारतीय)	६२
३९.	अंतरीप	६४
४०.	अंत्यज	६४
४१.	अंत्याक्षरी	६४
४२.	अंत्येष्टि	६५
४३.	अंतर–राष्ट्रीय न्यायालय	६६
४४.	अंतर–राष्ट्रीय राजनीति	६७
४५.	अंतर्दह इंजन	७०
४६.	अंतर्वेद	७४
४७.	अंतर्वेदि, अंतर्वेदी	७४
४८.	अंधविश्वास	७४
४९.	अंधता	७६
५०.	अंतश्चेतना	७९
५१.	अंसारी मुख़्तार अहमद	८०
५२.	अकबर इलाहाबादी	८०
५३.	अकबर–कालीन चित्रकला	८०
५४.	अकबर महान्	८१
५५.	अकलुष इस्पात	८४
५६.	अकसाईचिन	८५
५७.	अकादमी	८५
५८.	अकाल	८६
५९.	अकाल तख़्त	८६
६०.	अकाली	८७
६१.	अक्रा	८८
६२.	अक्रियावाद	८८
६३.	अक्रे (१)	८९
६४.	अक्रे (२)	८९
६५.	अक्रोपोलिश	८९
६६.	अक्षय कुमार	९०
६७.	अक्षय तृतीय	९०
६८.	अक्षय नवमी	९०
६९.	अक्षय वट	९०
७०.	अक्षर	९०
७१.	अक्षरकला	९३
७२.	अक्षरधाम	९३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७३. अक्षांश ६४
७४. अक्षौहणी ६४
७५. अखरोट ६५
७६. अख़्तर बाई फ़ैज़ावादी ६५
७७. अगरतला ६६
७८. अगस्तिन संत (१) ६६
७९. अगस्तिन संत (२) ६७
८०. अग्न्याशय ६८
८१. अग्नि ६८
८२. अग्नि देवता १०१
८३. अग्नि परीक्षा १०२
८४. अग्निष्टोम १०३
८५. अग्निशमन १०३
८६. अग्निसह ईंट १०६
८७. अग्निसह भवन १०६
८८. अग्निहोत्र १०८
८९. अग्रवाल १०८
९०. अज १०८
९१. अजगर (पायथन) १०९
९२. अजवाइन १०९
९३. अजन्ता ११०
९४. अजमेर ११३
९५. अज़र्बेजॉन ११३
९६. अजातशत्रु ११४
९७. अजामिल ११४
९८. अजितकेश कम्बली ११४
९९. अजीव ११५
१००. अजीविका ११५
१०१. अर्जेन्टिना ११५
१०२. अज्ञेय, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन ११६
१०३. अज्ञेयवाद १२४
१०४. अटलांटा १२४
१०५. अणु (मालिक्यूल) १२५
१०६. अणु ऊर्जा १२५
१०७. अणुव्रत १२६
१०८. अतलांत महासागर १२७
१०९. अतिचालकता १२८
११०. अतियथार्थवाद १२९
१११. अतिलांतिस १३१
११२. अति–सूक्ष्म रसायन १३२
११३. अत्रि १३३
११४. अथर्ववेद १३३
११५. अद्‌भुत रामायण १३४
११६. अदन १३५
११७. अदरक १३५
११८. अदालत १३६
११९. अदिति १३७
१२०. अदीलेड १३७
१२१. अद्वैत दर्शन १३८
१२२. अधिवक्ता १४०
१२३. अधिहृष्टता (एलर्जी) या प्रत्यूर्जता १४०
१२४. अध्यात्म रामायण १४१
१२५. अध्वर्य १४२
१२६. अनसूया (अनसुइया) १४२
१२७. अनन्तनाग १४२
१२८. अनन्नास १४२
१२९. अनित्य १४३
१३०. अनिषेक जनन १४३
१३१. अनीश्वरवाद १४४
१३२. अनीस मीर बबर अली १४६
१३३. अनुभववाद १४६
१३४. अनेकान्त दर्शन १४७
१३५. अन्नकूट १४७
१३६. अन्नपूर्णा (१) १४७
१३७. अन्नपूर्णा (२) १४८
१३८. अपभ्रंश भाषा १४८
१३९. अपभ्रंश साहित्य १४९
१४०. अपराध १५१
१४१. अपरिग्रह १५३
१४२. अपस्मार (मिरगी) १५४
१४३. अपेलिज १५५
१४४. अपोलो १५६
१४५. अफ़गानिस्तान १५६
१४६. अफ़लातून (प्लेटो) १६३
१४७. अफ़ीम १६८
१४८. अफ़्रीका १६९
१४९. अब्राहम १८३
१५०. अबुबक्र १८४
१५१. अबुल कलाम आज़ाद १८५
१५२. अब्दुल रहमान चुगताई १८७
१५३. अब्दुल रहीम खाँ खॉनखाना, नवाब १८७
१५४. अब्दुल कलाम (अबुल पकिर जुनैल आब्दीन अब्दुल कलाम) १९०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१५५. अब्दुल रहीम अप्पा भाई आलमेलकर १६१
१५६. अभिकल्पना १६१
१५७. अभिज्ञानशाकुन्तलम् १६१
१५८. अभिनय १६४
१५६. अभिनवगुप्त १६५
१६०. अभियांत्रिकी १६७
१६१. अभिरंजित कांच १६८
१६२. अभिलेख १६६
१६३. अभिलेखागार १६६
१६४. अभिलेखागार (राष्ट्रीय) १६६
१६५. अभिव्यंजनावाद (१) १६६
१६६. अभिव्यंजनावाद (२) २००
१६७. अभिषेक २०१
१६८. अमरकोश २०२
१६६. अमरकंटक २०२
१७०. अमर्त्य सेन २०२
१७१. अमरदास २०४
१७२. अमरबेल २०६
१७३. अमर सिंह २०६
१७४. अमरावती (१) २०६
१७५. अमरावती (२) २०७
१७६. अमरावती (३) २०७
१७७. अमरावती स्तूप २०७
१७८. अमरूकशतक २०८
१७६. अमरुद २०८
१८०. अमलतास २०६
१८१. अमिताभ २१०
१८२. अमेज़न २११
१८३. अमेज़न्स २१३
१८४. अमेरिका २१३
१८५. अमीबा २१५
१८६. अमीर ख़ुसरो २१७
१८७. अमृत २२०
१८८. अमृतलाल नागर २२०
१८६. अमृता शेरगिल २२५
१६०. अमृतसर २२५
१६१. अमोनिया २२६
१६२. अमोलकर, किशोरी २२८
१६३. अम्बपाली २२८
१६४. अम्बा २२८
१६५. अम्बालिका २२६
१६६. अम्बिका २२६
१६७. अम्बेदकर, भीमराव २२६
१६८. अम्ल २३०
१६६. अयोध्या २३१
२००. अरण्य तुलसी २३२
२०१. अरब २३२
२०२. अरब सागर २३४
२०३. अरबी भाषा २३५
२०४. अरबी लिपि २३५
२०५. अरबी साहित्य २३५
२०६. अरविन्द घोष २४३
२०७. अरस्तू २४६
२०८. अराजकतावाद २४८
२०६. अरावली २४६
२१०. अरिष्टनेमि २५०
२११. अरिस्टोफ़ेन्स २५०
२१२. अरीठा २५१
२१३. अरीठी (मरोड़फली) २५१
२१४. अरुणाचल प्रदेश २५२
२१५. अर्जुन (पांडव) २५४
२१६. अर्जुन (वृक्ष) २५५
२१७. अर्जुनदेव २५६
२१८. अर्थसार २५८
२१६. अर्द्धनारीश्वर २५८
२२०. अर्धमागधी २५६
२२१. अर्थशास्त्र (कौटिल्य) २६०
२२२. अर्थशास्त्र (पाश्चात्य) २६४
२२३. अर्थशास्त्र (भारतीय) २६७
२२४. अर्हत (१) २७०
२२५. अर्हत (२) २७१
२२६. अलंकार २७१
२२७. अलबेरूनी २७२
२२८. अलसी २७२
२२६. अलाउद्दीन ख़िलजी २७३
२३०. अलास्का २७६
२३१. अलिफ़ लैला २७७
२३२. अली २७८
२३३. अली, मुहम्मद २७६
२३४. अलहमबरा २७६
२३५. अलीगढ़ २८०
२३६. अलूचा २८१
२३७. अलेक्ज़ेण्डर २८१
२३८. अलक्तक २८४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२३६. अल्ज़ीयर्स २८४
२४०. अल्ज़ीरिया २८४
२४१. अल्तामीरा २८७
२४२. अल्पना २८८
२४३. अल्फ़ासा (अरविन्द आश्रम की श्रीमाँ) २८८
२४४. अल्बानिया २८६
२४५. अल्बामा २६१
२४६. अल्मोड़ा २६२
२४७. अल्लाह २६३
२४८. अवतारवाद २६३
२४६. अवध २६३
२५०. अवधी भाषा २६४
२५१. अवधी साहित्य २६५
२५२. अवनीन्द्र नाथ ठाकुर २६७
२५३. अवन्ति, अवन्तिका २६८
२५४. अवलोकितेश्वर २६६
२५५. अविद्या २६६
२५६. अवेस्ता ३००
२५७. अशोक (वृक्ष) ३०१
२५८. अशोक कुमार ३०२
२५६. अशोक (सम्राट) ३०४
२६०. अशोक–स्तम्भ ३०७
२६१. अश्फ़ाक उल्ला खाँ ३०७
२६२. अश्म ३०६
२६३. अश्मरी (पथरी) ३०६
२६४. अश्वघोष ३१०
२६५. अश्वत्थामा ३११
२६६. अश्वमेघ ३१२
२६७. अष्टछाप ३१३
२६८. अष्टदल कमल ३१३
२६६. अष्टधातु ३१३
२७०. अष्टनायिका ३१३
२७१. अष्टप्रधान ३१४
२७२. अष्टमंगल ३१४
२७३. अष्टमूर्ति ३१४
२७४. अष्टांगयोग ३१५
२७५. अष्टाध्यायी ३१५
२७६. अष्टावक्र ३१६
२७७. अष्टावक्र संहिता ३१७
२७८. असगंघ ३१७
२७६. असम प्रदेश ३१८
२८०. असमिया भाषा ३१६
२८१. असमिया साहित्य ३२०
२८२. असहयोग ३२४
२८३. असित कुमार हालदार ३२६
२८४. असीमो ३२७
२८५. असीरिया ३२७
२८६. असुर ३२६
२८७. अस्तित्ववाद ३२६
२८८. अस्तेय ३३१
२८६. अस्थि ३३१
२६०. अस्थि–चिकित्सा ३३२
२६१. अहंकार ३३२
२६२. अहमद खाँ, सर सैय्यद ३३३
२६३. अहमदनगर ३३४
२६४. अहमदशाह अब्दाली ३३४
२६५. अहमदाबाद ३३५
२६६. अहम् ३३६
२६७. अहम्दिया (१) ३३६
२६८. अहम्दिया (२) ३३७
२६६. अहम्मात्रवाद ३३७
३००. अहम्वाद ३३७
३०१. अहल्या ३३८
३०२. अहिछत्र ३३८
३०३. अहिमन ३३६
३०४. अहिल्याबाई होल्कर ३३६
३०५. अहिरावण ३४०
३०६. अहिंसा ३४१
३०७. अहुरमज़्द ३४२
३०८. अहोम ३४२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अ नागरी वर्णमाला का प्रथम अक्षर। यह हिन्दी, बंगला, उड़िया, तमिल आदि प्रायः सभी भारतीय भाषाओं का पहला वर्ण है। इसका प्रयोग वैदिक संस्कृत में भी मिलता है। संस्कृत में इसके उच्चारण के १८ भेद हैं। सामान्य/परिनिष्ठित हिन्दी में इसका उच्चारण 'अ' के रूप में मिलता है। कुछ बोलियों, में यथा अवधी में ह्रस्वार्द्ध अ् भी मिलता है। इसी के आधार पर परिनिष्ठित हिन्दी में पहला अक्षर 'अंक' बनता है। इसी कारण 'विश्वभारती' के विषयों का प्रारम्भ 'अंक' शब्द से किया जा रहा है। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी विश्वकोष' में भी इसी परम्परा का निर्वाह किया गया है। हिन्दी वर्णमाला की मूल विशेषता, जो कुछ लिखा जाता है, वही पढ़ा जाता है, इस पहले वर्ण में ही मिल जाती है। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में इसके उच्चारण के हृस्व और दीर्घ दो रूप मिलते हैं। संस्कृत, हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के उच्चारण में व्यंजन के साथ 'अ' ध्वनि समाहित होती है – क्+अ, ख्+अ तथा ग्+अ = क, ख तथा ग।

'अ' के लिखित रूप काल परम्परा में इस प्रकार मिलते हैं, 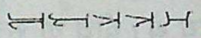 । इनमें प्रथम रूप ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में ब्राह्मी लिपि में मिलता है। उसके बाद शक, हूण, गुप्त कुषाण आदि कालों में बदलते हुए ईस्वी सन् की नवीं–दसवीं शताब्दी में देवनागरी में उसने दो रूपों यथा 'अ' 'ॺ' को ग्रहण किया। आज लेखन और मुद्रण में इन दोनों ही रूपों का प्रचलन है।

'अ' का प्रयोग शब्दों के साथ उपसर्ग के रूप में सादृश्य, अभाव, अन्यत्व, अप्रशस्ति और विरोध के आधार पर पाँच प्रकार से मिलता है यथाः अब्राह्मण, अनाम, अघट, अकाल और असुर।

'अ' का प्रयोग एक पूर्ण शब्द के रूप में भी विश्व अथवा ब्रह्म का बोध कराने के लिए होता है। तंत्रशास्त्र में 'अ' से शिव का बोध होता है। यह त्रिदेवों की शक्तियों का भी बोध कराता है। तंत्रशास्त्र में सृष्टि, श्री कण्ठ, मेध, कीर्ति, निवृत्ति, वामाद्यज, सारस्वत, अमृत, हर, नरकार्य, ललाट, कण्ठ, ब्राह्मण, वागीश, एकमातृक और प्रणव भी 'अ' का पर्याय माने गये हैं। ईश्वर की विभूति के रूप में भगवद्गीता में 'अक्षराणां अकारोस्मि' (अक्षरों में मैं अकार हूँ) कहा गया है।

अंक (गणित) अंक का आशय उन सांकेतिक चिह्नों से है, जिन्हें वस्तुओं को गिनने के लिए उपयोग में लाया जाता है। आरम्भ में मनुष्य ने वस्तुओं की गणना के लिए छोटी खड़ी लकीर (।) या बिन्दु (•) या ऐसे ही कोई चिह्न बनाये होंगे, और जितने चिह्न उतनी ही उस वस्तु की संख्या समझी गयी। इस प्रकार की गणना के लिए कभी एक डोरी या रस्सी लेकर, उसमें एक–एक वस्तु के लिए एक–एक गाँठ बाँधी गयी और जितनी गाँठें बनी, उतनी वस्तुएँ मान ली गयीं। इसके अतिरिक्त किसी पतली लम्बी छड़ी या डाल को लेकर उस पर एक–एक वस्तु के लिए काट–काट कर छोटे–छोटे निशान बनाये गये। यह प्रक्रिया पहले उस लकड़ी के आधे भाग में और फिर उसके शेष भाग में भी सम्पन्न हुई। उसके बाद उस लकड़ी या छड़ी को बीच से तोड़कर दोनों ने एक–एक टुकड़े को अपने पास रख लिया, भविष्य में यह याद रखने के लिए कि उनके बीच कितनी वस्तुओं का लेन देन हुआ। इन तीनों ही प्रक्रियाओं का रेखांकन देखिए

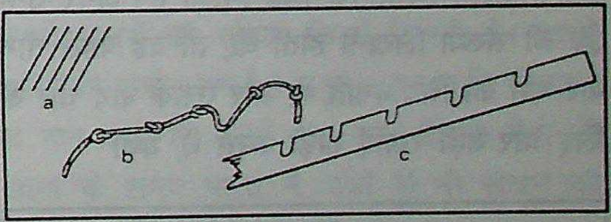

इन तीनों ही प्रक्रियाओं के उदाहरण आज भी देश–विदेश की आदिम जातियों में मिलते हैं। उनके आधार पर विद्वानों का कहना है कि आदि–काल में मनुष्य ने इसी प्रकार गणना के प्रयास किये होंगे।

पश्चिम में गणना के सांकेतिक चिह्नों का प्रयोग सर्वप्रथम मिस्र में माना जाता है। इस सन्दर्भ में नीचे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का छायांकन देखिए

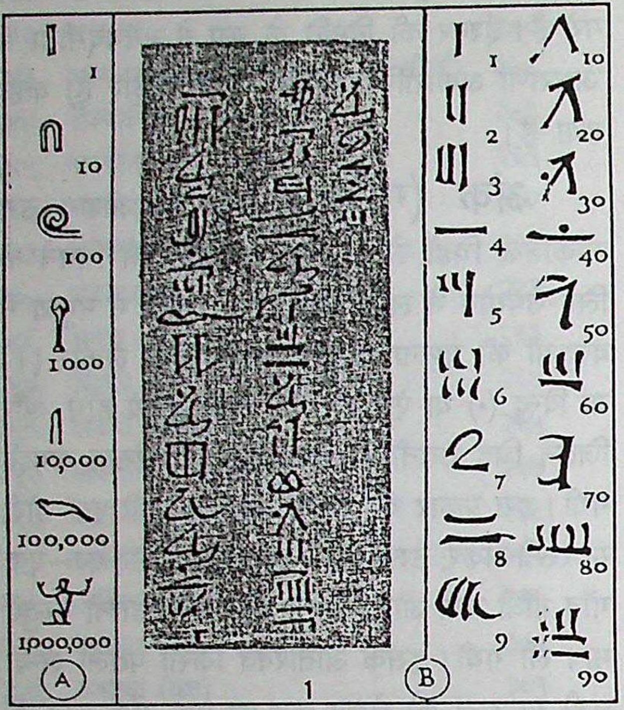

1

इस छायांकन में पहले स्तम्भ में गणना के वैचारिक लिपि चिह्न हैं; बीच में कुछ गणितीय समस्याएँ हैं, जो सोलह सौ ईसा पूर्व के मिस्र के एक पापिरस में मिली हैं; तीसरे स्तम्भ में मिस्र के सानुक्रम गणना के चिह्न हैं।

मिस्र के लोगों ने आदिम–काल में गणना के जो चिह्न विकसित किये थे, उनमें दस, सौ, हज़ार, दस हज़ार, एक लाख और फिर दस लाख के लिए अलग–अलग चित्रात्मक चिह्न मिलते हैं। अगर उन्हें ३४ की संख्या लिखनी होती थी, तो वह पहले तीन बार दस का चिह्न बनाते थे, और उसके बाद चार के लिए चार बड़ी रेखाएँ खड़ी करते थे, यथा

इस आधार पर कहा जा सकता है कि मिस्र के लोगों ने आदिम–काल में भी संख्याओं के लेखन की एक व्यवस्थित पद्धति विकसित कर ली थी।

मिस्र के बाद हम बेबिलॉन में विभिन्न संख्याओं के लिए अनेक पद्धतियों का प्रयोग देखते हैं :

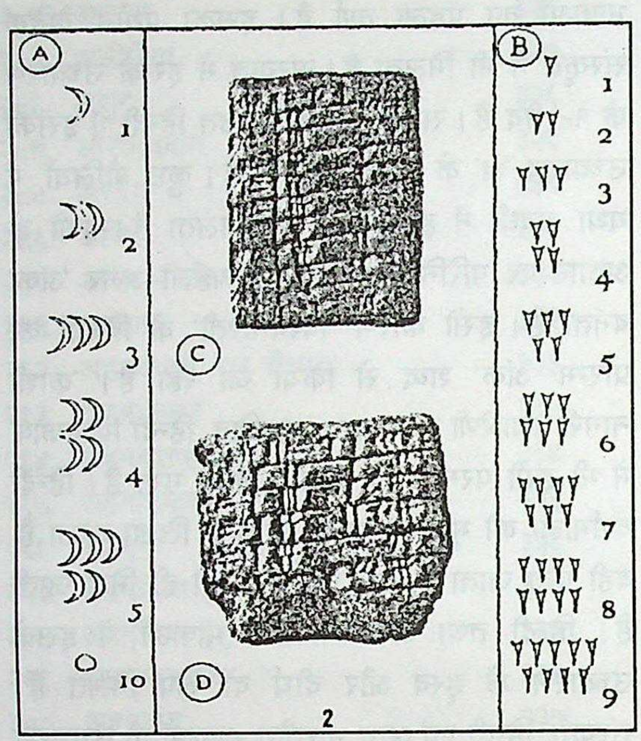

2

पहले स्तम्भ में बेबिलॉन के सबसे आरम्भ के अंक हैं। उनमें फन के आकार का प्रयोग किया गया है। ये सभी सांकेतिक चिह्न नरम अथवा हल्की गीली मिट्टी में बनाये गये थे। बीच के स्तम्भ में, जो पाषाण खण्ड दिखाये गये हैं, उनमें गणना की तालिकाएँ हैं। तीसरे स्तम्भ में फन के आकार को छोड़कर बाद में अपनायीं गयी खाईं जैसी पद्धति का प्रयोग हुआ है।

यूरोपीय देशों की गणना की अपनी पद्धति सर्वप्रथम रोम में देखने को मिलती है। उसमें दोनों हाथों की खड़ी उंगलियों को लेकर $\frac{६}{६}$ तक की संख्याओं का अंकन हुआ है; और दस की रचना भी दोनों हाथों के अंगूठों को ऊपर रखकर नीचे की हथेलियों को मिलाकर की गयी, यथा

रोमन लोग ५० की गणना के लिए ५ बार दस का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिह्न नहीं बनाते थे, वरन् उसके स्थान पर यूनानी वर्णमाला के अक्षर 'काई' (χ) का प्रयोग करते थे। एक सौ की गणना के लिए वे लैटिन शब्द सेन्टिनम के पहले वर्ण 'C' का प्रयोग करते थे। कालान्तर में उन्होंने पचास के लिए यूनान के उस वर्ण को छोड़कर उसके स्थान पर 'L' लिखना आरम्भ किया। एक हजार की संख्या के लिए पहले (|) का प्रयोग होता था; लेकिन फिर उसके स्थान पर लैटिन शब्द 'मिले' के प्रथम अक्षर 'M' का प्रयोग होने लगा। सांकेतिक चिह्न (|) का प्रयोग कुछ समय तक ५०० के लिए होता रहा। कालान्तर में भ्रम से बचने के लिए उसे D का आकार दे दिया गया। चार की संख्या लिखने के लिए भी चार खड़ी लकीरों के स्थान पर 'V' के चिह्न के पहले 'I' का चिह्न बनाया जाने गला। रोम के लोगों ने इस प्रकार संख्याओं के लेखन की जो पद्धति विकसित कर ली थी, उससे वे I, V, X, L, C, D और M के सहारे कोई भी संख्या लिख लेते थे। उन्होंने आगे चलकर १०,०००, १,००,००० और १०,००,००० के अंकों के लिए कुछ विशेष चिह्न बना लिये थे।

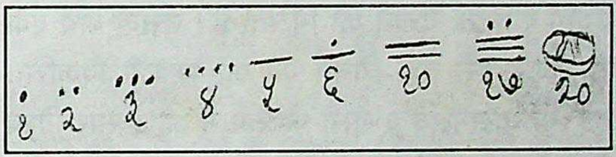

पश्चिम के लिपि चिह्नों के विकास के अध्येताओं का कहना है कि मैक्सिको और मध्य अमेरिका में प्राचीन 'मय' सभ्यता के जो अवशेष मिलें हैं, उनमें अंकों के लेखन को बड़ी ही सुव्यवस्थित प्रणाली मिली है, यथा

यहाँ १, २, ३ और ४ की संख्याओं के लिए बिन्दुओं का प्रयोग किया गया है, ५ के लिए —— चिह्न है, ६ की संख्या के लिए ५ के ऊपर बिन्दु बना दिया गया है। इसी प्रकार ७, ८ और ६ की संख्याओं के लिए ५ के ऊपर २, ३ और ४ बिन्दु बनाये जाते हैं। १० लिखने के लिए ५ के दो चिह्न ऊपर–नीचे बना दिये गये हैं। इसी प्रकार १७ के लिए ५ के तीन चिह्न और उसके ऊपर दो बिन्दु बनाये जाते थे। बीस के लिए उनके पास एक अलग चिह्न था। इसके आगे की गणना इन्हीं अंकों के आधार पर चलती थी।

आज यूरोप के विभिन्न देशों में अंकों के लिए १, २, ३ आदि की जो प्रणाली प्रचलित है, उसे पहले अरबों का गणनाक्रम माना जाता था। अरब के लोग स्वयं इन सांकेतिक चिह्नों को 'हिन्दसा' अर्थात् हिन्दुस्तान (भारत) से आया हुआ मानते हैं। पाश्चात्य विद्वान् भी अब यह मानने लगे हैं कि उनके यहाँ अंकों के लेखन की प्रचलित प्रणाली, मूलतः भारतीय है। पश्चिम ने केवल हमारे अंकों के लिपि, चिह्न ही नहीं वरन् उसके साथ हमारी दशमलव प्रणाली भी ग्रहण की है।

भारतीय साहित्य का आरम्भ ऋग्वेद से माना जाता है। ऋग्वेद में एक स्थान पर हज़ार अष्टकर्णी गायों के दान का उल्लेख मिलता है। विद्वानों की धारणा है कि यह विशेष प्रकार की गाय थी, जिसके हर एक कान का आकार कुछ ऐसा था कि वह चार कानों जैसा लगता था; इसीलिए उसे 'अष्टकर्णी गाय' की संज्ञा दे दी गयी थी। ***इसी प्रकार ऋग्वेद के १०वें मण्डल के ३४वें सूक्त में एक जुआरी कहता है, "मैंने एक पर अक्ष के कारण अपनी सती स्त्री खो दी": यहाँ एक पर का अर्थ ऐसा पांसा माना जाता है, जिस पर एक का अंक लिखित हो।*** अथर्ववेद में एक जगह छन्दों की संख्या ११ लिखी है। तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक आदि संहिताओं में कई छन्दों और उनके अक्षरों की संख्या लिखी मिलती है। इसके अतिरिक्त प्राचीन ग्रन्थों में अयुत, प्रयुत आदि संख्याओं के नाम आये हैं। इनसे यह स्पष्ट है कि वेदों की रचना के समय भारत में अंकों के भी लेखन की पद्धति विकसित हो चुकी थी।

उपनिषदों में संख्या के वर्णन अनेक स्थानों पर हैं, यथा– माण्डूक्योपनिषद् में ब्रह्म को सात अंगों और उन्नीस मुखों वाला कहा गया है। अन्य उपनिषदों में पाँच, बारह, सोलह, अष्टादश, बहत्तर, शत, सहस्र आदि गणनाएँ मिलती हैं। तैत्तरीयोपनिषद् में एक से लेकर द्वादश तक अनुवाक् आये हैं। इससे यह सिद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

है कि उपनिषदों की रचना तक भारत में गणना की प्रणाली का समुचित विकास हो चुका था।

पुरातात्त्विक अनुसंधानों के आधार पर हमारे देश में चित्रकला का उद्भव मध्य पाषाण काल, दस हज़ार से चार हज़ार वर्ष ईसा पूर्व, से माना जाता है। इस काल के अनेक गुहा–चित्रों में इस जगत् के विभिन्न परिदृश्यों के साथ विभिन्न अंकों की चित्रात्मक संयोजना भी मिलती है। अंकों की इस चित्रात्मक लिपि से ही आगे चलकर वैदिक युग में ही, सीधे अंकों के लेखन की पद्धति विकसित हुई होगी। हड़प्पा और मोहिनजोदड़ो के लिपि–चिह्नों को जब पढ़ लिया जायेगा, तो उससे भी भारतीय अंकमाला के विकास पर विशेष प्रकाश पड़ेगा।

जहाँ तक ऐतिहासिक युग की बात है, ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी से अक्षर और अंकों के अंकन हमें शिलालेखों में देखने को मिलने लगते हैं। अजमेर जिले के बड़ली गाँव में एक शिलालेख मिला हैं : वह खण्डित है और उसकी पहली पंक्ति में 'वीर (ा) य भगव (त)' और दूसरी पंक्ति में 'चतुरासितिब (स)' खुदा है। विद्वानों ने उसे जैनों के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के निर्वाण के ८४ वर्ष के बाद का माना है। इस आधार पर वह शिलालेख ईसा पूर्व (५२७ – ८४) = ४४३ का होगा। इस शिलालेख में ८४ का अंक अक्षरों में लिखित है। उसके बाद मौर्य सम्राट् अशोक के शिलालेख बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं। अशोक के शिलालेखों की लिपि ब्राह्मी है और उनका समय ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी माना जाता है। अशोक के शिलालेखों में २, ३ के अंक =, ≡ इन रूपों में खुदे हैं। कालान्तर में इन दोनों अंकों ने जो रूप धारण कर लिये, वे हमारे देश में ही नहीं, आज सारे विश्व में प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त १, ४, ५ और ६ के अंक जिस रूप में लिखित हैं, आज के यूरोपीय अंक उनसे पर्याप्त मिलते–जुलते हैं।

अशोक के १०० वर्ष बाद सातवाहनों के नानाघाट में जो अभिलेख मिले हैं, उनमें दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात और नौ के जो चिह्न मिले हैं, वे यूरोपीय देशों में आज भी प्रचलित चिह्नों से पर्याप्त मिलते–जुलते हैं; जिन्हें अरबों से प्राप्त किया गया था। नानाघाट के अभिलेखों के बाद हमारे यहाँ अंकों की लेखन पद्धति का जो विकास हुआ, उसे निम्नलिखित तालिका में देखिए

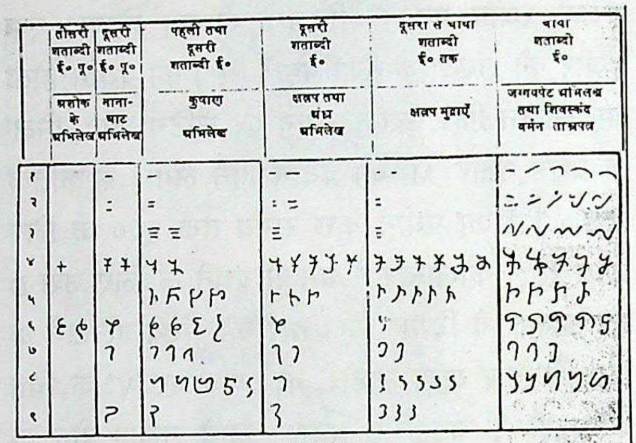

ब्राह्मी लिपि में अंक

ईसवीं सन् की चौथी शताब्दी तक, जहाँ तक अंकों की विकास की कथा यहाँ प्रस्तुत की गयी है, शून्य का प्रयोग हमें नहीं मिलता। शून्य भी वस्तुतः भारतीय मनीषा की देन है। आठवीं शताब्दी में उसका प्रयोग स्पष्टतः देखने को मिलता है। उसके बाद एक से लेकर दस तक गिनने की जो प्रणाली विकसित हुई, वह दशमलव प्रणाली के रूप में आज सारे विश्व में प्रयोग में लायी जाती है।

भारतीय इतिहास के आदिम युग में ब्राह्मी लिपि में अंकों के लेखन का जो क्रम आरम्भ हुआ था, आगे चलकर वह देवनागरी लिपि में और अधिक विकसित हुआ। उत्तर भारत में विशेष रूप से प्रचलित अंकमाला का विकास नौवीं–दसवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में हुआ था। देवनागरी में अंकों के लेखन की जो परम्परा विकसित हुई, उसकी भी तालिका देखिए

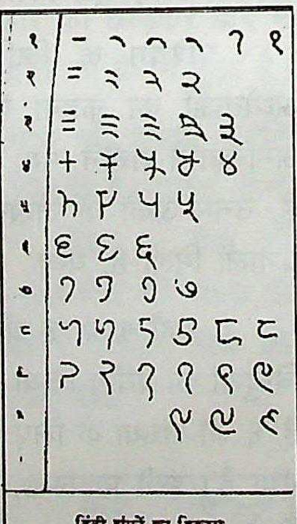

हिंदी अंकों का विकास

शून्य का चिह्न विकसित हो जाने पर कालान्तर में दस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की संख्या १० के रूप में लिखी जाने लगी।

अंकों के माध्यम से गणना का विधान निश्चित हो जाने पर सामान्य व्यवहार के लिए ज्ञान की एक स्वतंत्र शाखा अंकगणित का विकास हुआ।

अंक (नाटक) अंक शब्द का प्रयोग भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में सर्वप्रथम एक पारिभषिक शब्द के रूप में नाटक के एक खण्ड / अंश विशेष के अर्थ में किया है, लगभग उसी अर्थ में, जिसमें अंग्रेजी में 'ऐक्ट' शब्द का प्रयोग होता है।

'अंक' शब्द को भरत ने नाटक के सन्दर्भ में रूढ़ कहा गया है, अर्थात् वह अपनी संरचना के आधार पर नहीं वरन् परम्परा से प्रचलन को लेकर अर्थ देता है। वह नाटक के विभिन्न अर्थों को भाव तथा रसों के अनेक विधानों एवं लक्षणों के द्वारा बढ़ाता है, इसी लिए नाटक का वह भाग जिसमें एक घटना का पूर्ण रूप से प्रदर्शन किया जाए तथा जहाँ नाटक की कथावस्तु का 'बीज', पूरी तरह से विच्छिन्न होता है और जो 'बिन्दु' अर्थात् नाटक की जीवन–शक्ति के साथ अपने को जोड़े रखता हो, उसे अंक समझना चाहिए। इस 'बीज' को एक अंक में, अगर वह अन्तिम नहीं है, तो पूर्ण रूप से समाप्त नहीं कर देना चाहिए, क्योंकि 'बिन्दु' कथावस्तु में परिव्याप्त होकर फिर उसे ऊपर उठाता रहता है, और शाखाओं, प्रशाखाओं में विकसित होकर एक वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। तभी 'फलागम' के साथ अन्तिम अंक में नाटक की समाप्ति होती है।

भरत ने नाटक के एक अंक की कार्यावधि, एक दिन मानी है। यदि दिन बीतने तक कार्य समाप्त नहीं होता, तो उस अंक को समाप्त कर, एक लघु दृश्य के द्वारा, जिसके अनेक प्रकारों को समष्टि रूप से 'अर्थोपक्षेपक', कहा गया है, शेष कार्य की सूचना दे दी जानी चाहिए। भरत के अनुसार यह सूचित घटनाक्रम सामान्यतः एक वर्ष का ही होना चाहिए; लेकिन नाटकीय अपेक्षा के अनुसार वह घटनाक्रम अनेक वर्षों का भी हो सकता है, जैसा कि 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के अन्तिम अंक में है। सागरनन्दिन ने इस एक दिवस की कालावधि को कुछ और ही व्याख्यायित किया है। नाटक के एक अंक में कार्य एक दिन का, आधे दिन का और दिन तथा रात दोनों का भी हो सकता है।

पश्चिम में नाटक के एक अंक जैसे शारीरिक विन्यास को 'ऐक्ट' कहा गया है, जिसका अर्थ है कार्य–व्यापार। एक 'ऐक्ट' में एक कार्य की सम्बन्धित घटनाओं का संयोजन होता है। पश्चिम में इस प्रकार नाटकीय कार्य को दृष्टि में रखते हुए, उसके विभिन्न खण्डों की गणना की जाती है। भरत ने कार्य व्यापार की गणना के आधार पर नाटकीय विभागों का नामकरण किया था, प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि अंक। रूपकों में सर्वाधिक विस्तार 'नाटक' में होता है, उसमें सात अंक होते हैं। अगर नाटकीय कथा महाकाव्यात्मक हो तो अंकों की संख्या बढ़ जाती है। रूपक के अन्य प्रकारों में नाटकीय कार्य की संख्या घटते–घटते एक तक पहुँच जाती है। एकांकी नाटक इस प्रकार भारत में पाश्चात्य प्रभाव की देन नहीं, वरन् भारतीय सुमेधा का सहज विकास हैं।

पश्चिम में नाटक का अंकों में विभाजन यूनानी नाटकों में नहीं है, नाटकीय कार्य व्यापार कोरस अर्थात्, वृन्द, गायकों के गायन से बीच–बीच में विभाजित होता है। सर्वप्रथम रोम के होरेस ने नाटक के अंक में विभाजन की चर्चा की। उन्होंने पाँच अंकों का विधान किया था। वही थोड़े–बहुत परिवर्तन के साथ चलता रहा। १६वीं और २०वीं शताब्दी में इब्सन, चेखॅव, स्ट्रिडवर्ग आदि ने पहले चार, फिर तीन, उसके बाद दो और अन्ततः पूरे नाटकीय विन्यास में एक ही अंक की व्यवस्था कर दी। वह फिर भी नाटक ही कहा जाता रहा। आधुनिक काल में रंगमंचीय अपेक्षाओं के अनुसार, उस नाट्यरूप, का विकास हुआ है, जिसे एकांकी कहा गया, (देखिये एकांकी–नाटक)। आज देश–विदेश में नाटक अनेक एवं एकल दोनों ही विधानों में दृष्टिगत होता है, जिसे उसके विन्यास के आधार पर हम अनेकांकी और एकांकी कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंकगणना अंकगणना एक संयुक्ताक्षर है, जो अंक एवं गणना दो शब्दों के योग से बना है। संयुक्ताक्षर में 'अंक' शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में हुआ है। वैदिक काल से ही गणना पर आधारित विषय को गणित की संज्ञा दी गयी थी। जब गणना अंकों अर्थात् संख्याओं (मूलतः १ से ६ तक तथा शून्य) पर आधारित होती है, तब वह अंकगणित की विषयवस्तु बन जाती है।

विश्व के विभिन्न भागों में अंकगणित का आरम्भ कब, कैसे और किनके द्वारा हुआ; इसका कोई भी प्रामाणिक ज्ञान नहीं है; किन्तु निःसन्देह प्राग्ऐतिहासिक काल में, पाषाण युग में, जब मानव सम्यता अपने शैशव काल में थी और मनुष्य के पास भाषा और लिपि भी नहीं थी, उस समय भी अंकगणित उसके जीवन का अभिन्न अंग बन चुका था। कबीले अथवा परिवार में, कितने बच्चे, वृद्ध तथा स्त्रियाँ हैं, इसका उन्हें सम्पूर्ण ज्ञान था। इस प्रकार पूर्ण संख्याएँ अनजाने में ही अस्तित्व में आ गयीं। एक तरह की कई वस्तुओं के एकत्रित होने से धनात्मक पूर्णसंख्याओं में वृद्धि होने लगी। आज मनुष्य की मूलभूत तीन आवश्यकताएँ हैं, भोजन, कपड़ा और मकान। किन्तु आदि मानव की मूलभूत आवश्यकता मात्र भोजन थी, जिसके लिए वह प्रकृति प्रदत्त फलों, वनस्पतियों एवं आखेट पर निर्भर करता था। इस कार्य को युवा वर्ग सहजता से पूर्ण कर लेता था। शनैः शनैः सभ्य होते मानव समाज में युवाओं द्वारा अर्जित भोजन को, असहाय स्त्रियों, बच्चों, वृद्धों एवं बीमार व्यक्तियों में बाँट दिया जाता था। एक वस्तु को कई भागों में विभाजित करने की विघा से 'भिन्न' संख्याओं का प्रादुर्भाव हुआ। कालान्तर में आवश्यकता पड़ने पर उधार लेने की प्रथा के साथ ही ऋणात्मक संख्याएँ अस्तित्व में आयीं। शून्य एक ऐसी स्थिति थी, जब न कुछ जमा था और न ही कोई ऋण था : इसने धनात्मक तथा ऋणात्मक संख्याओं के बीच पुल का काम किया। मानव सभ्यता के विकास एवं उन्नति के साथ–साथ, यह अंक–साम्राज्य भी फलने–फूलने लगा।

संख्याओं के लिखने के लिए जगत् के विभिन्न भागों में, भाँति–भाँति के संकेतों का प्रयोग किया गया, जिनका लिखित प्रमाण प्राचीन गुफाओं के भीतर के भित्तिचित्रों, शिलालेखों या खुदाई में प्राप्त वस्तुओं से मिलता हैं। आज पूरे विश्व में संख्याओं के लिए जो संकेत प्रयोग किये जाते हैं, वे भारत में विकसित ब्राह्मी लिपि तथा प्राचीन गांधार (आज के पाकिस्तान, अफ़गानिस्तान तथा उत्तरी पंजाब) में विकसित खरोष्ठी लिपि का मिला–जुला विकसित रूप है। अंकगणना के विकास में, भारत का योगदान अभूतपूर्व रहा है। पूरी दुनिया में प्रचलित शून्य, स्थान–मान तथा दशमलव पद्धति का श्रेय मात्र भारत वर्ष को है। अतः संक्षेप में भारत में इसके क्रमिक विकास पर प्रकाश डालते हैं।

प्राचीन काल में अंकगणना को 'धूलिकर्म' तथा 'पाटीगणित' के नामों से जाना जाता था। उस समय कागज एवं लेखनी के अभाव में धूलि अर्थात् मिट्टी या बालू को समतल भूमि पर बराबर से फैला दिया जाता था; तथा पतली टहनियों से उस पर सूक्ष्म एवं कठिनतम गणनाएँ की जाती थीं। सभी स्थूल गणनाएँ मानसिक रूप से मौखिक की जाती थीं। कालान्तर में गणना हेतु कागज के स्थान पर लकड़ी की पाटी पर खड़िया एवं लकड़ी की कलम का प्रयोग होने लगा तथा 'धूलिकर्म' को 'पाटीगणित' कहा जाने लगा।

प्रारम्भ में गणना का विकास स्वतंत्र रूप से नहीं हुआ, वरन् वह ज्योतिष का अभिन्न अंग था। पाँचवी शती पूर्व के भारतीय ज्योतिषशास्त्र का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि इस युग में गणित ने वेदांगों में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लिया था। वेदांग ज्योतिष (१२०० ईसा पूर्व) में इस शास्त्र का प्राधान्य दिखलाते हुए कहा गया हैः–

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्.गशास्त्राणां गणितं मूर्धानि स्थितम्।।

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारत में बहुत प्राचीन काल से गणना का आधार दस रहा है। वास्तव में दस के अतिरिक्त किसी आधार के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विस्तृत प्रयोग का कोई चिह्न, संस्कृत साहित्य में कहीं नहीं मिलता। ग्रीक एवं रोमन जब क्रमशः १०४ तथा १०३ से अधिक संख्याओं के नाम नहीं जानते थे, उस समय भारतीय गणितज्ञ १०१८ से अधिक संख्याओं के नामों को पूर्ण आधिपत्य के साथ प्रयोग में लाते थे। यजुर्वेद संहिता एवं तैत्तरीय संहिता में संख्याओं के निम्नलिखित नामों की सूची दी हुई है:-

एक (१), दस (१०), शत (१००), सहस्त्र (१०००), अयुत (१०,०००), नियुत (१,००,०००), प्रयुत (१०,००,०००), अर्बुद (१,००,००,०००), न्यर्बुद (१०,००,००,०००), समुद्र (१,००,००,००,०००), मध्य (१०,००,००,००,०००), अंत (१,००,००,००,००,०००), परार्ध (१०,००,००,००,००,०००)।

शून्य, जो भारत की देन है, इसका ज्ञान भी वैदिक काल में हो चुका था। इसके लिए ख, आकाश, गगन, अम्बर, वियत, व्योम, अंतरिक्ष, नभ, जलघरपथ, पूर्ण, रन्ध्र, विष्णुपद, अनंत आदि अनेक शब्द प्रयोग में लाये गये थे।

ईसा से लगभग २०० वर्ष पूर्व 'पिंगल' में इसका प्रयोग छंदसूत्रों में किया गया है तथा 'बक्षाली' पाण्डुलिपि (लगभग २०० ई०) में भी गणना हेतु शून्य का प्रयोग बहुतायत से है। बाद में 'पौलिश सिद्धान्त' (लगभग ४०० ई०), 'आर्यभट्टीय' (४६६ ई०), 'पंचसिद्धान्तिका' (५०६ ई०) तथा 'वराहमिहिर' के समकालीन जैनमत को मानने वाले जिनभद्रमणि (५२६ ई० – ५८६ ई०) तथा सिद्धसेनमणि आदि की रचनाओं में शून्य का प्रयोग पूर्ण आधिपत्य के साथ किया गया है। २२,४४,००,००,०० के स्थान पर बाइस, चवालीस तथा आठ शून्य लिखा मिलता है।

एक से लेकर नौ अंकों तक के अंकों को संस्कृत में एक, द्वि, त्रि, चतुर, पञ्च, षट्, सप्त, अष्ट एवं नव कहते हैं। ये अंक शून्य के साथ किसी भी संख्या को व्यक्त करने में सक्षम हैं।

प्रारम्भिक काल में अंक पूरे-पूरे शब्दों में लिखे जाते थे। बड़ी संख्याओं के विषय में यह धारणा सत्य प्रतीत होती है, परन्तु छोटी संख्याओं को व्यक्त करने वाले संकेत उतने ही प्राचीन हैं, जितनी कि स्वयं लेखन क्रिया। प्राचीनतम् अंक-संकेत, मोहनजोदड़ो में प्राप्त मुहरों और लेखों में मिलते हैं। उनमें कहीं-कहीं खड़ी पाई, पास-पास रक्खी हुई, कई खड़ी पाइयाँ और एक के ऊपर एक करके रक्खी हुई, कई खड़ी पाइयाँ मिलती हैं। मालूम होता है एक से लेकर तेरह तक के अंक इन्हीं खड़ी पाइयों से सूचित किये गये हैं। मोहनजोदड़ो के बाद एवं अशोक से पूर्व के शिलालेखों में, खरोष्टी लिपि का प्रयोग बहुतायत से किया गया है। यह निर्विवाद सत्य है कि खरोष्टी विदेशी लिपि है, जो पश्चिम से भारतवर्ष में लायी गयी थी; परन्तु उसे भारतवर्ष में लाये जाने का ठीक समय ज्ञात नहीं है। सम्भवतः ५०० ईसा पूर्व के लगभग जब डेरियस ने पंजाब पर विजय प्राप्त की थी, उसी समय या उससे पहले खरोष्टी लिपि भारत लायी गयी होगी; किन्तु अशोक एवं उसके अगले काल में, अधिकांश अन्तर्लेखों में ब्राह्मी लिपि का प्रयोग हुआ है, जो पूर्णतः भारत की देन है, और उस समय की राष्ट्रीय लिपि है। अतः दोनों लिपियों के अंक सूचक चिह्नों में काफी मेल है। मोहनजोदड़ो में प्राप्त सामग्री तथा अशोक के अंतर्लेखों में २७०० वर्षों या उससे अधिक वर्षों का अंतराल है। अशोक के शिलालेखों से विदित होता है कि ब्राह्मी लिपि के अंक-संकेत सामान्य रूप से पूरे भारत में खूब प्रचलित थे। कालान्तर में अंक-संकेत परिवर्तित होते हुए, मात्र दस तक रह गये, जो एक से लेकर नौ तक की संख्याओं एवं शून्य को सूचित करते थे। इन्हीं चिह्नों को वास्तव में अंकों के नाम से जाना जाता है। भारत की सबसे बड़ी उपलब्धि, दशमलव, स्थान-मान, अंक-संकेत हैं। इस स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग करके, सभी संख्याओं को सरलता से लिखने के लिए ये दस अंक बिल्कुल पर्याप्त हैं। सभी संख्याएँ लिखने का आधार निःसन्देह दश है। यह पद्धति अब सम्पूर्ण जगत् में सामान्य रूप से प्रचलित है।

ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में स्थान-मान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के क्रम से रखे हुए शब्दों द्वारा संख्याओं को सूचित करने की नयी पद्धति का विकास एवं सिद्धि की गयी। इस पद्धति में अंकों के स्थान पर ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो वस्तुओं, जीवों अथवा भावों के नाम होते हैं, तथा स्वयं या शास्त्र के विधान में अंकबोधक होते हैं। इस प्रकार अंक १ किसी ऐसी वस्तु द्वारा सूचित किया जा सकता है, जो अपने प्रकार की एक ही है, जैसे पृथ्वी, चन्द्रमा इत्यादि। अंक २ को ऐसी वस्तु से सूचित कर सकते हैं, जिसके जोड़े होते हैं, जैसे आँख, हाथ, युग्म इत्यादि। इसी प्रकार अन्य अंक भी सूचित किये जा सकते हैं।

इस पद्धति का प्रयोग ज्योतिष, गणित तथा छंदशास्त्र के ग्रन्थों में, समय सूचित करने के लिए, अन्तर्लेखों तथा दानपात्रों में, और हस्तलिपियों में भी प्राप्त हुआ है। भारतवर्ष के प्राचीन ज्योतिषियों और गणितज्ञों ने अपने ग्रन्थों को पद्य में लिखा है। अतएव उनको उदाहरणों में आने वाली बड़ी–बड़ी संख्याओं को सूचित करने के लिए सुगम रीति की आवश्यकता पड़ी। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए शब्दांकों का प्रयोग हुआ और शीघ्र ही वे अत्यन्त लोकप्रिय हो गये। आज भी जब बड़ी–बड़ी संख्याओं को पद्यबद्ध करना होता है तो इन्हीं शब्दांकों का प्रयोग किया जाता है।

एक से लेकर नौ तक अंकों तथा शून्य को सूचित करने वाले शब्दों को स्थान–मान सिद्धान्त के अनुसार प्रयोग करके, किसी संख्या को सरलता से व्यञ्जित किया जाता है। इसी प्रकार संख्या १३२० को कई प्रकार से सूचित कर सकते हैं, जैसेः–

(१) खगुणकरादि (ख – गुण – कर – आदि)

(२) खलोककर्णचन्द्र (ख – लोक – कर्ण – चन्द्र)

(३) आकाशकालनेत्रधरा (आकाश – काल – नेत्र – धरा)

हम देखते हैं कि वही संख्या शब्दांकों के द्वारा सैंकड़ों प्रकार से सूचित की जा सकती है। इस विशेषता के कारण संख्याओं को छंदबद्ध करने में शब्द अधिक उपयुक्त हुए।

पाँचवी शताब्दी में आर्यभट्ट प्रथम ने 'आर्यभट्टीय' में संख्याओं को अत्यधिक संक्षिप्त रूप में लिखने की अक्षर–संकेत शैली विकसित की थी। उन्होंने पहले पच्चीस अंकों १, २, – – – – –, २४, २५ को क्रमशः पहले पच्चीस व्यंजनों क, ख, ग, – – – – –, भ, म द्वारा प्रदर्शित किया था। य, र, ल, व, श, ष, स, ह को क्रमशः ३०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८०, ६० तथा १०० के लिए एवं ह्रस्व तथा दीर्घ स्वरों को क्रमशः इकाई, दहाई, सैकड़ा आदि के लिए प्रयोग किया था, उदाहरणार्थ ३६४२२४ को खिरिचुयुभ = खि+रि+चु+यु+भ, जहाँ

ख = २००

रि = ४०००

चु = ६००००

यु = ३००,०००

भ = २४

अंकों में सर्वाधिक चमत्कारी एवं उपयोगी शून्य की परिकल्पना एवं प्रयोग में भी, भारत सबसे आगे है। ६२८ ई० में ब्रह्मगुप्त रचित 'ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त' के 'कुट्टकाध्याय' में शून्य को अन्य संख्याओं के साथ जोड़ने, घटाने तथा गुणा करने से सम्बन्धित सूत्रों की विशद् विवेचना की गई है। खलीफा अलमंसूर (७५३ – ७७४ ई०) के राज्यकाल में, सिन्ध से बगदाद को कुछ दूत गये थे, जिनमें कुछ भारतीय विद्वान् भी थे, जो अपने साथ गणित के ग्रन्थ, जिनमें 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' भी सम्मिलित था, ले गये थे। इन विद्वानों की सहायता से अलफ़ज़ारी ने और कदाचित् याकूब इब्न तारिक ने भी, उनका अरबी में अनुवाद किया था। पहले अरबवासी गोबार अंकों का प्रयोग करते थे, जिन्हें उन लोगों ने अलेक्जेन्ड्रिया अथवा सीरिया के निवासियों से प्राप्त किया था; परन्तु इनमें शून्य सम्मिलित न था तथा ये अंक दाहिनी ओर से बायीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर को लिखी जाने वाली उनकी लिपि के अनुकूल भी नहीं थे। अतः उन्होंने धीरे–धीरे गोबार अंकों को छोड़कर भारत में विकसित स्थान–मान एवं शून्य सहित अंकों के प्रयोग में दक्षता प्राप्त कर ली। कालान्तर में अरबों ने हिन्दू अंकों का प्रवेश यूरोप में भी करवा दिया। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि हिन्दू अंकों का प्रवेश यूरोप में कब और कैसे हुआ ? ये अंक प्रथम बार ब्रैथिअस की क्षेत्रगणित की एक हस्तलिपि में मिलते हैं, जो दसवीं शताब्दी की बतायी जाती है। आधुनिक अंक संकेत सिद्धान्त के कतिपय उदाहरण बारहवीं शताब्दी में यूरोप में मिलते हैं, परन्तु प्रतीत होता है कि तेरहवीं शताब्दी से पहले उनके प्रचार का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। सम्भवतः पीसा नगर के निवासी ल्योनार्ड फिबीनकी ही ऐसा व्यक्ति था, जो अंकों को फैलाने में अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुआ। ल्योनार्डो का पिता बारबरी के समुद्र तट पर स्थित बुगिया (आधुनिक बौगी) नाम के नगर में आढ़तिया था। यह नगर उस समय में श्रेष्ठतम बन्दरगाहों में था, तथा बारहवीं शताब्दी के अन्त में अफ्रीका के व्यापार का केन्द्र था। यहीं पर किसी मूर गुरु से ल्योनार्डो की शिक्षा हुई थी। युवक होने पर उसने रूमसागर के देशों का पर्यटन किया। उसने सीरिया, ग्रीस, इटली और फ्रान्स आदि देशों को देखा, वहाँ के विद्वानों एवं व्यापारियों से मुलाकात की, और उस समय के व्यापार केन्द्रों में प्रचलित अंक पद्धतियों का ज्ञान प्राप्त किया। उसका कहना था कि वे सभी पद्धतियाँ हिन्दुओं की अंक पद्धति के सामने दोषपूर्ण थीं। पीसा नगर लौटने पर १२०२ ई० में उसने 'लिवर एबैकी' नाम की पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उसने हिन्दू अंकों को समझाया है और व्यापार से सम्बन्ध रखने वाली साधारण गणनाओं में उनका प्रयोग किया है। कालान्तर में जब लोगों ने उसका महत्त्व अनुभव किया, तब इस पुस्तक को तत्कालीन गणितीय साहित्य में सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ।

अन्य लेखकों में जिनके ग्रन्थों से भारतीय अंकों के प्रसार में सहायता मिली, अलेक्जेन्डर डे विला डी (१२४० ई० लगभग) और जॉन ऑव हैलीफाक्स (लगभग १२५० ई०) के नाम उल्लेखनीय हैं।

एबैकस का प्रयोग करने वालों ने, जो शून्य का प्रयोग नहीं करते थे, हिन्दू अंकों के प्रसार का डट कर विरोध किया, परन्तु ल्योनार्डो सरीखे व्यक्तियों की लेखनी ने उन लोगों का मुँह बन्द करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की, यद्यपि इसमें दो तीन शताब्दियाँ लग गयीं। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य तक पश्चिमी यूरोप के सभी राष्ट्रों ने सामान्य रूप से इन अंकों को ग्रहण कर लिया था, परन्तु उनका सामान्य प्रयोग केवल सत्रहवीं शताब्दी में ही हुआ और यह प्रयोग आज पूरे विश्व में सफलता का परचम फहराये हुए है।

अंकगणित गणित अर्थात् विभिन्न वस्तुओं के गिनने की विद्या। जब अंकों को गिना जाता है, तो उसे अंकगणित कहते हैं। ज्ञान की इस शाखा को शास्त्र और विज्ञान दोनों ही कहा गया है। शास्त्र में अपने चारों ओर की परिस्थितियों को देखने और फिर उस पर चिन्तन–मनन तथा विवेचन की क्रियाएँ चलती रहती हैं। विज्ञान में प्रयोग और फिर निरीक्षण, परीक्षण, विश्लेषण और विवेचन के व्यापार अपनाये जाते हैं। अंक अर्थात् संख्याओं की गणना की चार पद्धतियाँ विकसित हुई हैं– जोड़ना, घटाना, गुणा करना और भाग देना। उच्चतर गणित में संख्याओं का सैद्धान्तिक आकलन होता है : उसे अलग से 'संख्या सिद्धान्त' (थ्यॉरी ऑफ नम्बर्स) की संज्ञा दी गयी है। कभी–कभी गणना के इस विधान को गणित की एक स्वतंत्र शाखा भी कहा जाता है। हम यहाँ सामान्य व्यक्ति की दृष्टि से सामान्य गणित की ही चर्चा करेंगे।

सामान्य गणित में पहले योग अर्थात् जोड़ने की प्रक्रिया आती है। जोड़ने में दो संख्याओं को मिलाकर, एक तीसरी संख्या बनती है। यह एक दोहरा व्यापार है : इसमें मूलतः दो संख्याओं को किसी अनुक्रम से, आगे–पीछे, या ऊपर–नीचे रखकर जोड़ा जाता है। जोड़ने के लिए आदर्श प्रतीक +

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(धन : अंग्रेजी में प्लस) है। इस प्रक्रिया में एक और चिह्न चलता है = (बराबर) : यह दो संख्याओं के बीच रखा जाता है अथवा यह बताता है कि एक ही संख्या के दो अलग–अलग रुप हैं। अंकगणित की पहली प्रक्रिया जोड़ने के लिए १ से १०० तक की गिनती की जानकारी जरूरी है, उसकी आधी से भी काम चलाया जा सकता है। एक पूर्ण संख्या के साथ, जब दूसरी पूर्ण संख्या जोड़ी जाती है, तो योगफल अर्थात् जोड़ भी पूर्ण संख्या ही होता है। किसी पूर्ण संख्या के साथ जब शून्य जोड़ा जाता है, तब संख्या उतनी ही बनी रहती है।

जोड़ने का यह व्यापार, सामान्य जीवन में खेलने के लिए और व्यावसायिक जीवन में काम–काज, दोनों में ही चलता है। इसीलिए उसके लिए शिक्षा की व्यवस्था की गयी है। लुडो या चौसर के खेल में पांसा फेंका जाता है; जो संख्या आती है, सामने बिछी बिसात में विभिन्न खानों को गिनकर, उसी में गोट रख दी जाती है। साँप–सीढ़ी के खेल में भी यही होता है।

व्यावसायिक जीवन में गणित के उपयोग के लिए कक्षा में, मौखिक तथा लिखित दोनों ही रूपों में जोड़कर अभ्यास कराया जाता है। लिखकर जोड़ने में संख्याएँ अगल–बगल अथवा ऊपर–नीचे लिखी जाती हैं। यथा २४ + ४५ अथवा ऊपर–नीचे यथा

२४
+ ४५

इन दोनों ही पद्धतियों में जोड़ने के लिए पहले दाहिनी ओर की संख्याएँ ली जाती हैं; अर्थात् पहले इकाई की संख्याएँ जोड़ी जाती हैं। इस जोड़ में अगर दहाई की संख्या भी आ जाती है, तो पहले इकाई की संख्या लिख दी जाती है और फिर दहाई की संख्याओं को जोड़ते हुए उनमें जोड़ दी जाती है। उस जोड़ में अगर सैकड़े की संख्या बनती है, तो पहले दहाई की संख्या लिख दी जाती है और फिर उसके पहले सैकड़े की संख्या लिख दी जाती है।

गणित में जोड़ने की इस प्रक्रिया में दो नियमों का प्रचलन है। एक आनुक्रमिक नियम, जिसमें अ + ब = ब + अ होता है; दूसरा साहचर्य नियम, जिसमें (अ + ब) + स = अ + (ब + स)। अगर किसी संख्या के साथ शून्य जोड़ा जाये तो संख्या उतनी ही बनी रहती है।

अंकगणित का दूसरा व्यापार घटाना है। यह भी दोहरा व्यापार है। इसका प्रतीक चिह्न – (ऋण : अंग्रेजी में माइनस) है। यह प्रक्रिया जोड़ की उलटी है अर्थात् इसमें बड़ी संख्या से छोटी संख्या घटायी जाती है। इस प्रक्रिया को निम्न प्रकार परिभाषित किया गया है; कोई तीन संख्याएँ लीजिए, यथा अ, ब और स।

अगर स – ब = अ है, तब स = अ + ब होता है।

इसी पद्धति के अनुसार यदि पूछा जाये कि स से अ को घटाया जाये तो क्या बचेगा ? और अ के साथ कौन सी संख्या जोड़ी जाये तो वह स के बराबर हो जायेगी? इस प्रकार ५ – २ = ३ का अर्थ बनता है कि ५ = २ + ३। इस प्रणाली में स – ब का संकेत होता है कि स संख्या ब से बड़ी है।

गणित का घटाने का व्यापार कैसे चलता है, उसे पूर्ण संख्याओं के साथ देखना ही ठीक रहेगा। जोड़ की भँति ये संख्याएँ एक ही पंक्ति में रखी जाती हैं यथा ६२–२४ के रूप में, और ऊपर नीचे भी, यथा

६२
– २४

पहले दाहिनी ओर की संख्याओं की गणना की जाती है। पहले अथवा ऊपर लिखी संख्या बाद को या नीचे लिखी संख्या से बड़ी होती है। लेकिन यहाँ ऊपर दाहिनी ओर की संख्या २ है और उसमें से ४ को घटाया नहीं जा सकता; अतः दहाई से एक उधार लेना होगा। अब संख्या बनी बारह; उसमें से जब चार को घटाया गया तो संख्या बची आठ। अब दाहिनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर की संख्या भी आठ ही रह गयी है; उसमें से जब दो को घटाया गया, तो बचा छह। घटाने की इस प्रक्रिया में आनुक्रमिक और साहचर्य नियम के साथ, एक वितरण का नियम भी चलता है। नीचे की संख्या बड़ी होने पर, जब दहाई या सैकड़े की संख्या से दस की संख्या उधार ली जाती है, तो वहाँ यह वितरण का नियम ही कार्य करता है।

अंकगणित की तीसरी प्रक्रिया गुणा करना है। यह भी दोहरा व्यापार है। इसका प्रतीक चिह्न × है। अंग्रेजी में गुणन–बिन्दु (•) का भी प्रयोग चलता है। इन दोनों का ही अर्थ है, इतनी बार गुणा। गुणा करने में वस्तुतः वही संख्या बार–बार जोड़ी जाती है, यथा २ × ४ में २ + २ + २ + २ की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। इस प्रक्रिया में जिन संख्याओं में गुणा किया जाता है, उन्हें गुणनखण्ड या गुणक, और गुणा करने से जो संख्या बनती है उसे गुणनफल कहते हैं।

गुणा करने की प्रक्रिया, जोड़ने की भाँति आनुक्रमिक और साहचर्यजनक होती है। गुणा को इस प्रकार परिभाषित किया गया है, कोई दो संख्याएँ लो, 'अ और ब'।

अ × ब = ब × अ

अब कोई तीन संख्याएँ लो, अ, ब और स

अ × (ब × स) = (अ × ब) × स

प्रायः इन दोनों ही पद्धतियों का प्रचलन है।

गुणा करने की प्रक्रिया दो रूपों में प्रचलित है, २४ × ३२ एवं ये दोनों संख्याएँ ऊपर नीचे लिखी जाती हैं, यथाः

```
  २४
× ३२
  ४८
 ७२
 ७६८
```

लेकिन सामान्यतः इसे छोटे रूप में लिखा जाता है।

```
  २४
× ३२
 ७६८
```

×	0	1	2	3	4	5	6	7	8	9
0	0	0	0	0	0	0	0	0	0	0
1	0	1	2	3	4	5	6	7	8	9
2	0	2	4	6	8	10	12	14	16	18
3	0	3	6	9	12	15	18	21	24	27
4	0	4	8	12	16	20	24	28	32	36
5	0	5	10	15	20	25	30	35	40	45
6	0	6	12	18	24	30	36	42	48	54
7	0	7	14	21	28	35	42	49	56	63
8	0	8	16	24	32	40	48	56	64	72
9	0	9	18	27	36	45	54	63	72	81

विशेषज्ञों ने गुणा करने की प्रक्रिया के तथ्यों का संकलन निम्नलिखित अंकतालिका में प्रक्रिया के रूप में किया है।

गुणा करने की प्रक्रिया में, आनुक्रमिक नियम का प्रयोग होता है, यथा अ × ब = ब × अ, इसलिए यहाँ दिए गये १०० तथ्यों में से केवल ५५ से ही काम चलाया जा सकता है। ये पचपन तथ्य विकर्ण अथवा तिरछी रंगीन रेखा के साथ, एक ओर के अरंगीन भाग के अंकों को जोड़कर बन जाते हैं। मान लो हमें ७ × ५ का गुणनफल देखना है, तो बाँयी ओर की तालिका में ७ अंक को खोजो और अब ऊपर से ५ अंक की तालिका के अंकों को देखते हुए ७ अंक तालिका के सामने आ जाओ, तुम्हें गुणनफल मिल जायेगा, ३५।

यह तालिका भाग करने में भी हमारी सहायता करती है; उसकी चर्चा हम आगे चलकर करेंगे।

गणित का चौथा व्यापार 'भाग' है। भाग देना भी वस्तुतः दोहरा व्यापार है; लेकिन उसमें गुणा करने की उलटी प्रक्रिया सम्पन्न होती है, यथा अ × ब भाग में अ ÷ ब हो जाता है। भाग का प्रतीक चिह्न ÷ है। लिखित रूप में भाग देने में दो पद्धतियाँ अपनायी जाती हैं। पहले विभाजक संख्या लिखी जाती है, और उसके बाद यह चिह्न) और फिर (यह चिह्न बनाकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभाजन से प्राप्त संख्या लिखी जाती है। भाग / लेखन के लिए एक अन्य विधि भी प्रचलित है, यथा अ/ब, और विभाजन से जो संख्या मिलती है वह ऊपर लिखी जाती है। भाग की परिभाषा इस प्रकार की गयी है : कोई तीन संख्याएँ लो, यथा अ, ब और स, और स ÷ ब = अ है तो स = अ × ब होता है। इस परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि अगर गुणा के तथ्यों का हमें ज्ञान हो, तो भाग के तथ्यों की जानकारी सहज रूप में हो जाती है। अभी गुणा के सम्बन्ध में जो अंकतालिका पर दी गयी है उसमें यदि बीस को चार से विभाजित करना है तो रञ्जित रेखा के बाँयीं ओर ४ का अंक खोजें और फिर उसी रेखा में दाहिनी ओर बीस का अंक लें, उससे जब ऊपर जायेंगे तो सबसे ऊपर जो संख्या ५ मिलेगी, वही विभाजन से प्राप्त होगी।

भाग या विभाजन के आधारभूत व्यापार को इस रूप में देखा जा सकता हैं

```
२५) ८५० (३४
    ७५
    ---
    १००
    १००
    ---
    ०००
```

यह प्रक्रिया इस रूप में भी सम्पन्न की जाती है :

```
      ३४
२५ √ ८५०
     ७५
     ---
     १००
     १००
     ---
     ०००
```

यदि २५ को ३४ से गुणा करें, तो विभाज्य संख्या मिल जायेगी।

सामान्य अंकगणित में प्रायः इन्हीं चार व्यापारों का प्रचलन है। क्रमचय और संचय से इन्हीं में अनेक प्रणालियाँ विकसित हुई हैं। पूर्ण संख्याओं के साथ अपूर्ण संख्याओं को भी जोड़ने, घटाने, गुणा करने और भाग देने की पद्धतियाँ विकसित हुई हैं।

अंकगणित के क्षेत्र में दशमलव प्रणाली और उसके प्रयोग की अन्य विधियों का विकास भारत में बहुत पहले हो गया था। इस क्षेत्र में कार्य करने वालों में ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य के नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इन आचार्यों ने अंकगणित के क्षेत्र में अनेक नियमों, ऐकिक, त्रयराशिक, पञ्चराशिक, सप्तराशिक आदि का विकास किया था। पश्चिम में आधुनिक युग में अंकगणना के सम्बन्ध में विशेष कार्य हुआ है। एक गणनायंत्र विकसित हुआ है जिसे कैलकुलेटर (संगणक या गणनायंत्र) की संज्ञा दी गयी है।

अंकगणित (भारतीय) भारतीय जनजीवन में अंकों का प्रयोग हमें ईस्वी सन् से तीन हजार वर्ष पहले की हड़प्पा–मोहनजोदड़ो सभ्यता के समय से ही मिलने लगता है। उस समय तोल और माप की बड़ी ही विकसित प्रणालियाँ प्रचलित थीं। पुरातत्त्ववेत्ताओं को एक फीटा (रूलर) भी मिला है, जिसमें ६.७ मिलीमीटरों का बड़ा ही सटीक विभाजन है। पुरातत्त्ववेत्ताओं का कहना है कि तत्कालीन सभ्यता में इस माप का प्रयोग, पूरे क्षेत्र में होता था। अब तो गुजरात से लेकर बिहार तक, उस सभ्यता के अवशेष मिले हैं, जिसे पहले मात्र सिन्धु घाटी की सभ्यता कहा गया था। उस युग की आग में पकायी जो ईंटें मिली हैं, उन सबकी माप बिल्कुल एक सी है, जिससे लगता है कि उस प्रकार के फ़ीटे का प्रयोग वास्तुकला के क्षेत्र में व्यापक रूप में प्रचलित था।

वैदिक युग में यज्ञवेदिकाओं के निर्माण में माप का प्रचलन था। वैदिक वाङ्मय के छह अंग–शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष माने गये हैं। छन्द के विधान में गणना और ज्योतिष में ग्रह–नक्षत्रों की गतिविधि के अध्ययन में, अंकगणित के प्रयोग के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। अंकों की गणना के साथ, ज्यामितीय और बीजगणित के भी पर्याप्त प्रयोग मिल जाते हैं। प्रसिद्ध अमरीकी लेखक दिक सरसी ने अपने ग्रन्थ 'लॉस्ट डिस्कवरीज' में अपने अनुसन्धान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के आधार पर स्पष्टतः यह स्वीकार किया है कि ईसा से हजारों वर्ष पूर्व भारतवर्ष में गणित के अनेक रूपों का उद्भव ही नहीं, प्रचलन भी हो गया था।

ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी के बीच लिखित 'सुलभ सूत्र' से यह ज्ञात होता है कि उस समय भारतीयों को उस प्रमेय (थियोरम) का ज्ञान था, जिसे पश्चिम के लोग ईसा पूर्व छठी शताब्दी के पाइथागोरस के नाम से जोड़ते हैं। ईसा पूर्व छठी शताब्दी के जैन ग्रन्थों में ज्यामिति, त्रिकोणमिति और अवकलन के क्षेत्रों में हुए कार्यों का उल्लेख है। उसी काल की सत्तर पृष्ठों की जो 'बख्शाली पाण्डुलिपि' मिली है, उससे ज्ञात होता है कि उस काल में भिन्न, युगपत् समीकरण, ज्यामितीय अनुक्रमों तथा ब्याज के साथ, लाभ और हानि की गणना का भी प्रचलन था। प्रसिद्ध अंग्रेज गणितज्ञ लैंसेलॉट हॉमबिन ने लिखा है कि हिन्दू उधारखाते का जीवन व्यतीत करते थे; इसीलिए उन्होंने ऋणात्मक संख्याओं की रचना की थी। इस आधार पर तो यह भी कहा जा सकता है कि जोड़, बाकी, गुणा, भाग की प्रणालियाँ भी, उन्होंने इसी दृष्टि से विकसित की होंगी। किन्तु वास्तविकता यह है कि उन दिनों भारतवर्ष विशेष रूप से समृद्ध था और विदेशी उसे 'सोने की चिड़िया' कहा करते थे। ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी के 'वेदांग ज्योतिष' में लिखा है कि मोर के सिर पर जैसे कँलगी होती है, साँप के माथे में जैसे मणि होती हैं, वैसे ही गणित, ज्ञान की सभी शाखाओं में शिरोमणि है। पश्चिम में यह धारणा आधुनिक काल में जाकर विकसित हुई है कि गणित सभी विज्ञानों का आधारभूत ज्ञान है।

अंकगणित का, ग्रह–नक्षत्रों की गणना का पहला उपलब्ध विस्तृत ग्रन्थ 'आर्यभट्टीय' है। इसके रचनाकार आर्यभट् ने, अपने इस ग्रथ में अपना जन्मकाल शक् सम्वत् ३६८ (ई०स० ४७७) लिखा है। अपना जन्म–स्थान उन्होंने कुसुमपुर बताया है। कुसुमपुर, आज के पटना (पाटलिपुत्र) का पुराना नाम है; लेकिन विद्वानों का कहना है कि उनका कुसुमपुर दक्षिण भारत में था। कालान्तर में आर्यभट् नाम के एक और ज्योतिषाचार्य भी हुए थे, इसीलिए इन्हें आर्यभट् प्रथम कहा जाता है। आर्यभट् (प्रथम) ने यह भी लिखा है कि उनका यह ग्रन्थ उस पुस्तक पर आधारित है, जो गुप्त साम्राज्य की राजधानी, कुसुमपुर में विशेष रूप से मान्य थी।

आर्यभट् का ग्रन्थ चार खण्डों, 'गीतिकापाद', 'गणितपाद', 'कालक्रियापाद' और 'गोलपाद' में विभाजित है। प्रथम पाद में उन्होंने अक्षरों द्वारा संक्षेप में विभिन्न संख्याओं के लिखने की विलक्षण रीति बतायी है : उसमें सरल संख्याओं के लिए व्यंजनों और स्वरों से शून्यों की गणना का निर्देश दिया गया है। अपनी इस संक्षिप्त संख्या–लेखन–पद्धति में उन्होंने ज्योतिष और त्रिकोणमिति के अनेक सूत्र दे दिये हैं। मात्र तेरह श्लोकों में यह सारी सामग्री दे दी गयी है। दूसरे खण्ड, 'गणितपाद' में तेंतीस श्लोक हैं; और उनमें अंकगणित, बीजगणित तथा रेखागणित से सम्बन्धित सूत्र हैं। इन श्लोकों में वर्गक्षेत्र, घन, घनफल, वर्गमूल, घनमूल, क्षेत्रफल तथा अनेक ज्यामितीय विषयों पर विचार किया गया है। 'कालक्रियापाद' में पच्चीस श्लोक हैं; और उसमें काल–विभाग के आधार पर ज्योतिषीय गणनाएँ दी गयी हैं। उन्होंने यह भी लिखा है कि चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से वर्ष का आरम्भ होता है और विभिन्न दिवस और माह चलते हैं। 'गोलपाद' में ग्रह–नक्षत्रों की गतिविधियों का निरूपण है। आर्यभट् ने ही बिना किसी वैज्ञानिक उपकरणों का प्रयोग किये, यह कहा था कि पृथ्वी, चन्द्रमा आदि सब सूर्य का संक्रमण करते हैं। पश्चिम में इस खगोलीय सत्य का प्रतिपादन, उनके कोई हज़ार वर्ष बाद पोलैण्ड के प्रसिद्ध ज्योतिष–वैज्ञानिक कोपर्निकस (१४७३–१५४३) ने किया था। सामान्यतः उन्हें ही इस सत्य का प्रवर्त्तक माना जाता है; लेकिन वस्तुतः इसका श्रेय आर्यभट् को दिया जाना चाहिए। उन्होंने यह भी लिखा है, 'नाव में बैठा हुआ मनुष्य, जब प्रवाह के साथ आगे बढ़ता है, तब उसे लगता है कि वृक्ष, पाषाण, पर्वत आदि उलटी गति से आगे जा रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार गतिशील पृथ्वी से, आकाश में स्थिर नक्षत्र भी, उलटी गति से जाते हुए दिखाई देते हैं। आर्यभट्ट ने ही सर्वप्रथम इस प्रकार यह सिद्ध किया था कि पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती है। उन्होंने ही सर्वप्रथम काल का विभाजन कल्प, मन्वंतर, महायुग और फिर सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग में किया था। ज्योतिषीय गणना के आधार पर उन्होंने चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण के वर्ष, मास, तिथि और कालावधि, पहले से कैसे बताये जा सकते हैं, उसकी विधि भी लिखी थी।

ब्रह्मगुप्त ने जिनका जन्म शक सम्वत् ५२० (ई०स० ५६६) में हुआ था, गणित के 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' और 'खण्ड खाद्य' नामक दो ग्रन्थों की रचना की थी। पहले ग्रन्थ में उन्होंने आर्यभट् की कुछ आलोचना की थी; लेकिन कालान्तर में लिखे दूसरे ग्रन्थ में आर्यभट् का पूर्णतः अनुकरण किया था। आर्यभट् का ग्रन्थ तो दक्षिण भारत में विशेष रूप से पढ़ा गया था; किन्तु ब्रह्मगुप्त का दूसरा ग्रन्थ उत्तर भारत में कश्मीर और नेपाल तक प्रचलित हुआ था। ख़लीफ़ा अलमन्सूर के शासन काल (ई०स० ७५३–७७४) में कुछ प्रबुद्ध व्यक्ति सिन्ध से बग़दाद गये थे, और तब वहाँ भारतीय गणना–पद्धति का प्रचार हुआ था। इसीलिए भारतीय गणना–पद्धति को अरब देशों में 'हिन्दसा' कहा जाता है। पश्चिम में दशमलव प्रणाली की यह गणना–पद्धति अरब देशों से गयी थी; इसीलिए वहाँ इन्हें 'अरेबिक न्यूमरल्स' कहा जाता है; लेकिन इधर उन्हें भारतीय स्वीकार कर लिया गया है।

ब्रह्मगुप्त की सबसे महत्वपूर्ण देन, चक्रिय चतुर्भुज प्रमेय माना जाता है। अनावर्त वितत भिन्नों की भी इन्होंने विवेचना की है। अन्य संख्याओं के साथ शून्य को जोड़ने, घटाने तथा गुणा करने की विधियाँ भी इन्होंने लिखी हैं।

ब्रह्मगुप्त के बाद भारतीय गणिताचार्यों में आर्यभट्ट द्वितीय का नाम आता है। इन्होंने अपने कार्यकाल के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है, लेकिन विद्वानों ने इन्हें ईस्वी सन् ६५० के लगभग का माना है। अपने ग्रन्थ 'महासिद्धान्त' में, पन्द्रह अध्यायों में इन्होंने पाटीगणित अर्थात् अंकगणित के विषय में लिखा है। इनमें क्षेत्रफल, घनफल आदि की विवेचना है। शेष अध्यायों में ग्रह–नक्षत्रों की गतिविधियों की, विशेष रूप से गणना की गयी है। अतः इन्हें अंकगणित से अधिक ज्योतिषीय–गणित का आचार्य माना जाता है।

गणित के प्रायः सभी रूपों में भास्कराचार्य का कार्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्हें शांडिल्य–गोत्रीय कहा गया है। उनका जन्म सन् १११४ में विज्जडविड गाँव में, जो प्राचीन पाटन के समीप था, हुआ था। उज्जयिनी की ग्रह–नक्षत्रों के अध्ययन की वेधशाला के यह अध्यक्ष रहे थे। इन्होंने श्लोकों में 'सिद्धान्त शिरोमणि' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय को 'पाटीगणित' दूसरे को 'बीजगणित', तीसरे को 'ग्रह गणित' और चौथे को 'गोलाध्याय' कहा गया है। पहला अध्याय, 'लीलावती' के नाम से अब स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में प्रचलित है। इसी प्रकार दूसरा अध्याय 'बीजगणित' के नाम से पुस्तकाकार प्रयोग में आ रहा है। शेष दोनों अध्याय ही अब 'सिद्धान्त शिरोमणि' के नाम से जाने जाते हैं। इनके तीन और छोटे–छोटे ग्रन्थ 'करण कुतूहल', 'भास्कर व्यवहार' और 'भास्कर विवाह पटल' प्राप्त हैं, जिनमें ज्योतिषीय गणनाएँ हैं। 'गोलाध्याय' में इन्होंने न्यूटन के जन्म काल से ८०० वर्ष पहले ही 'गुरुत्वाकर्षण' के सिद्धान्त की विवेचना कर दी थी।

'लीलावती' का आरम्भ मुद्रा की परिभाषा से होता है। उसके बाद तत्कालीन मुद्राओं के, उनके मूल्य बताते हुए नाम दिये गये हैं। उसके बाद भार, माप आदि के विभिन्न प्रकारों का निरूपण है। 'भिन्न कर्माष्ठकम्' में इकाई से लेकर शंख तक दश गुणोत्तर संज्ञाएँ बतायी गयी हैं। इस भूमिका के बाद संकलन, गुणन, भागहार, वर्गमूल, घनमूल, प्रभाग, भिन्न के गुणन एवं भागहार, लघुत्तम समापवर्त्त, मूलधन, ब्याज, मिश्रधन आदि पर विचार किया गया है। गुणकर्म के सन्दर्भ में त्रयराशिक, पंचराशिक विधियाँ भी दी गयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। अंकगणित के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में, बीजगणित और ज्यामिति के विषयों का भी समुचित निरूपण है।

भारतीय अंकगणित के इन सभी आचार्यों पर सन् १९११ में भारतीकृष्ण तीर्थ ने कार्य आरम्भ किया था, जो १९१८ तक चलता रहा। उन्होंने अपने शोध के आधार पर १६ सूत्र दिये हैं, जिनसे गणित के जटिल से जटिल प्रश्नों के उत्तर दिये जा सकते हैं। सन् १९२५ में उन्हें, गोवर्धनपीठ के शंकराचार्य के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। उन्होंने प्राचीन काल के भारतीय गणित को 'वैदिक गणित' कहा है और दशमलव प्रणाली का आधार लेकर गणित के विभिन्न विषयों की विवेचना की है। सन् १९६५ में उनका वृहद् ग्रन्थ 'वैदिक मैथमेटिक्स' प्रकाशित हुआ, जिसमें गणित के विभिन्न विषयों का विस्तृत विवेचन है। उन्हें प्राचीन भारतीय गणित पर व्याख्यान देने के लिए, लन्दन में भी निमंत्रित किया गया था। उनके वे भाषण, 'इन्ट्रोड्यूसिंग लेक्चर्स ऑन वैदिक मैथमेटिक्स' नाम से १९८१ में प्रकाशित हुए।

भारतीय कृष्ण तीर्थ के अतिरिक्त लखनऊ विश्वविद्यालय के विभूति भूषण दत्त एवं अवधेश नारायण सिंह ने भी सम्यक् अनुसन्धान के फलस्वरूप अंगेजी में 'भारतीय गणित का इतिहास' प्रकाशित किया था। उनके बाद इस विषय पर देश के कई विश्वविद्यालयों, तथा आई० आई० टी० कानपुर में भी इस क्षेत्र में कार्य हुआ है। इन्हीं अनुसन्धानों से प्रेरणा लेकर लखनऊ विश्वविद्यालय ने ज्योतिष गणित में स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम भी आरम्भ कर दिया है। अब भारतीय गणित को प्रारम्भिक कक्षाओं तक ले जाने पर विचार-विमर्श चल रहा है।

भारतीय अनुसन्धानों से परिचित होने के अनन्तर पश्चिम के विभिन्न देशों के विद्वान्, भारतीय गणित में भी रुचि लेने लगे हैं। भारतीकृष्ण तीर्थ के लन्दन में दिये गये भाषणों के अनन्तर वहाँ के सेंट जेम्स स्कूल तथा क्वीन्सगेट स्कूल में उसकी पढ़ाई आरम्भ हो गयी थी। लंकाशायर में १९९८ से 'कॉसमिक कन्सेप्ट' नाम से भारतीय गणित पढ़ायी जा रही है। अमेरिका, स्विट्जरलैण्ड तथा आस्ट्रेलिया में भी वैदिक गणित के पाठ्यक्रम चल रहे हैं। के० आर० विलियम्स ने अपने ग्रन्थ 'दि नेचुरल कैलकुलेटर' में लिखा है कि 'वैदिक गणित' के सिद्धान्तों से कोई भी व्यक्ति सहज रूप में बिजली की गति से चलने वाला कैलकुलेटर बना सकता है। भारतीय गणित इस प्रकार कैलकुलेटर (गणनायंत्र) के लिए भी उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

अंकारा तुर्की की राजधानी और वहाँ का दूसरा सबसे बड़ा शहर है। पहले इस्तमबूल, जो तुर्की का सबसे बड़ा शहर है, राजधानी था। सन् १९१८ में मुस्तफा कमाल ने जब युवा तुर्कों का आन्दोलन आरम्भ किया, तो उन्होंने यहीं, जिसका उस समय नाम अंगोला था, अपने दल का मुख्य केन्द्र बनाया था। सन् १९२३ में जब उन्होंने यूनानियों को स्वदेश से बाहर निकालकर तुर्क गणराज्य की स्थापना की; तो अंगोला को ही अपना राजनगर बनाया। सन् १९३० में उन्होंने अंगोला का नाम बदलकर अंकारा कर दिया।

आज का अंकारा शहर केवल शासन का केन्द्र ही नहीं, वरन् अनेक उद्योग-धन्धों का क्षेत्र है। वहाँ कपड़े, चमड़े, सीमेन्ट, खेती के उपकरणों आदि के बड़े-बड़े कारखाने हैं। अंकारा में आज अनेक प्रकार के खाद्य-पदार्थ तथा बियर भी बनती है। शहर के चारों ओर के क्षेत्र में अंगोरा भेड़ों का विशेष रूप से पालन होता है। अनेक फलों के बाग हैं, और शहद भी व्यावसायिक स्तर पर उत्पन्न किया जाता है। इस औद्योगिक राजनगर में बड़ी-बड़ी सड़कें हैं। बहुत बड़ा रेलवे स्टेशन है और राष्ट्रीय तथा अन्तर-राष्ट्रीय यातायात के लिए एस०एन०वोगा नाम का एयरपोर्ट भी है।

अंकारा में नगर के नाम का विश्वविद्यालय है। एक तकनीकी विश्वविद्यालय भी है, जहाँ स्वदेश के ही नहीं, पास-पड़ोस के देशों के विद्यार्थी भी पढ़ने आते हैं। 'गाज़ी इंस्टीट्यूट', के नाम से एक तीसरा शिक्षा संस्थान भी है। अंकारा में उसके संस्थापक और नवीन तुर्की के निर्माता कमाल अतातुर्क का बड़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही भव्य स्मारक है। इसके अतिरिक्त एक बड़ा संग्रहालय है, जिसमें प्रदर्शित वस्तुओं को देखकर ज्ञात होता है कि यह शहर ईसा से लगभग एक हजार वर्ष पहले का है। नये नगर से लगा हुआ जो पुराना शहर है, उसमें तीन हजार वर्ष पुराना किला है और अगस्टस का मन्दिर है, जो ईसा से तीन सौ वर्ष पहले बना था। ईसा से चार सौ वर्ष बाद बना बैजेन्टाइन स्तम्भ भी है।

विद्वानों का कहना है कि आज जहाँ अंकारा शहर है, वहाँ ईसा से लगभग दो हज़ार साल पहले हिट्टाइट सभ्यता का एक केन्द्र था। समय–समय पर यूनान, फारस आदि के लोगों ने उस पर अधिकार किया था। ईसा पूर्व ३३३ में मेसेडोनिया के एलेग्जेण्डर ने भी उस क्षेत्र पर विजय प्राप्त की थी। उस समय उस शहर का नाम अंकिरा था और वह वाणिज्य–व्यवसाय का केन्द्र था। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में रोमन लोगों ने उसे अपने प्रभाव में ले लिया था, और ईसा के २५ वर्ष पहले उन्होंने उसे रोमन साम्राज्य के गलेशिया प्रदेश की राजधानी बनाया था। समय–समय पर अरबों और मंगोलों ने भी उस प्रदेश पर अधिकार किया। कुछ समय के लिए तैमूर लंग ने भी उस पर अधिकार कर लिया था; लेकिन शीघ्र ही तुर्कों ने अपने को फिर से स्वतंत्र कर लिया था। लगभग पाँच सौ वर्षों तक यह क्षेत्र ओटोमन साम्राज्य के अन्तर्गत रहा।

अंकारा में इस प्रकार हिट्टाइट, यूनानी और रोमन सभ्यता के अनेक अवशेष देखने को मिलते हैं। सन् १९२० में जब मुस्तफा कमाल ने अंकारा क्षेत्र को अपने आन्दोलन का केन्द्र बनाया था, तो शहर के चारों ओर अनेक दलदली क्षेत्र थे; उन्हें ही पाट कर अब यह नया शहर बना है। अंकारा नगर इस्तम्बूल से लगभग ३४४ कि०मी० मील पर, अंकारा नदी के तट पर बसा है और आज वाणिज्य व्यवसाय का बहुत बड़ा केन्द्र है। शहर के चारों ओर आज भी अंगोला भेड़ों का पालन–पोषण होता है, जिनका ऊन विश्व प्रसिद्ध है।

अंकुर बीज पकने के बाद सुसुप्तावस्था में पड़ा रहता है। इस समय इसके वजन में ८ से १३ प्रतिशत तक पानी की मात्रा होती है। पानी तथा अन्य आवश्यक अवयवों (गर्मी तथा ऑक्सीजन) की उपलब्धता होने पर, बीज क्रियाशील होने लगता है। परिणामस्वरूप पृथ्वी के ऊपर जो प्राथमिक रचना निकलने लगती है, उसे अंकुर कहते हैं। दो दाल वाले पौधों में इसे 'प्लूम्यूल' तथा जड़ वाले अंकुर को (जो जमीन में नीचे की ओर बढ़ता है) 'रेडिकल' कहते हैं। स्वस्थ अंकुरण में ऊपरी भाग, जो कि कालान्तर में तने में परिवर्तित हो जायेगा, हरा होता है। वह स्वयं से खाना बनाकर अपनी वृद्धि करता है। जड़ वाले भाग की वृद्धि, मिट्टी से मिलने वाली खनिजों एवं प्लूम्यूल वाले भाग से भोजन के मिलने से होती है। स्वस्थ अंकुर में ऊपर तथा नीचे वाले भागों में सामान्य वृद्धि होती है।

एक दाल वाले बीजों में, पृथ्वी से ऊपर निकलने वाले भाग को 'कोलियोप्टाइल' तथा जमीन के नीचे की ओर बढ़ने वाले भाग को 'कोलियोराइजा' कहते हैं। 'कोलियोप्टाइल' की लम्बाई विभिन्न किस्म के बीजों में विभिन्न आकार–प्रकार की होती है। उस लम्बाई को ध्यान में रखकर ही, बीज की बिजाई की गहराई निश्चित की जाती है। अतः उससे अधिक गहराई पर बोने से 'कोलियोप्टाइल' के निकलने की सम्भावना कम हो जाती है। फलस्वरूप पौधा मर जाता है। 'कोलियोराइजा' निकलने के कुछ दिनों बाद ही मर जाता है, और फिर प्रायः तीन एक समान जड़ें निकलती हैं, जो सामान्य अंकुरण का लक्षण है। सारांश यह कि अनुकूल वातावरण में अंकुर अस्तित्व में आता है; और वही आगे चलकर पौधे का रूप धारण कर लेता है।

अंकुरण पौधे के जीवन का आरंभ अंकुरण से ही होता है। बीज, जो कि दो पीढ़ियों को जोड़ने का काम करता है, सुसुप्तावस्था में रहता है, जब तक कि उसे अंकुरण के लिए अनुकूलित वातावरण न मिल जाये। इसमें जल की उपलब्धता, ऑक्सीजन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर्याप्त मात्रा तथा उपयुक्त तापक्रम मुख्य हैं। तापक्रम से ही रासायनिक क्रियाओं का आरम्भ होता है।

पके तथा सूखे बीज में ५ से १० प्रतिशत तक जल की मात्रा होती है। बीज की नमी, बीज के लम्बे जीवन प्राप्त करने में सहायक होती है। बीज द्वारा अधिक पानी सोख लेने पर ही अंकुरण की क्रिया प्रारम्भ होती है।

पानी सोखने की क्रिया से पानी की मात्रा बढ़ जाती है, जो कि विभिन्न प्रकार के बीजों में विभिन्न समय में पूरी होती है। उदाहरणार्थ सलाद के बीजों में पानी सोखने का समय ३ घण्टे का है। इसके बाद भी धीमी गति से पानी सोखने की क्रिया चलती रहती है। इस समय जीवन–वृद्धि वाली क्रियाएँ प्रारम्भ हो जाती हैं। सर्वप्रथम भ्रूण का आकार बढ़ता है। इस प्रक्रिया से आगे की गतिविधियों में निरन्तरता रखने के लिए पानी की पर्याप्त आपूर्ति आवश्यक होती है। कदाचित पानी की मात्रा कम हो जाये तो जीवन–क्रियाओं का चलना कठिन हो जाता है।

सामान्य तापक्रम पर बीज का अंकुरण शुरू हो जाता है। पानी के अवशोषण से कोशा का आयतन, जो कि भ्रूण में उपस्थित होती है, बढ़ जाता है तथा सामान्य रूप से कोशाओं का भी भण्डारण होता है। क्षेत्रफल के बढ़ने से बीज में गैस का आदान–प्रदान बढ़ जाता है। पानी सोखने तथा गैस का आदान–प्रदान एन्जाइम की क्रियाशीलता को बढ़ाता है, जिससे नयी प्रोटीन का निर्माण सम्भव होने लगता है।

अनेक बीजों में तो माइटोकोण्ड्रिया की सहायता से वायु आधारित एन्जाइम क्रियायें होने लगती है। इन क्रियाओं के लिए प्राणवायु (ऑक्सीजन) का होना आवश्यक है।

प्राणवायु की अनुपस्थिति में पानी की उपलब्धता रहने के उपरान्त भी जीवन की क्रियायें प्रारम्भ नहीं होतीं। कुछ बीजों का अंकुरण गहरे बोये जाने पर इसीलिए अवरूद्ध हो जाता है क्योंकि प्राणवायु की उपलब्धता समाप्त हो जाती है। लेकिन धान के बीज में जीवनक्रिया बिना प्राणवायु उपलब्धता के भी प्रारम्भ हो जाती है। यह एन्जाइम विशेष की क्रिया के कारण सम्भव हो पाता है।

जड़ की वृद्धि प्राथमिक तौर पर तो कोशा भोजन पर आश्रित है। बाद में वृद्धि इनकी लम्बाई बढ़ने से प्राप्त होती है। लेकिन मटर के पौधे की प्रारम्भिक जड़ (रेडिकल) बिना कोशा भोजन के ही वृद्धि कर लेती है। दोनों ही उदाहरणों में नयी प्रोटीन का निर्माण निश्चित रूप से सम्पन्न होता है। एन्जाइम की क्रिया अंकुरण के समय तो चलती ही है, पर ये सामान्य विकास के समय भी चलती रहती है। बीज से बीज तक पहुँचने के लिए अंकुरण प्राथमिक क्रिया है।

अंग (१) इस शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ किये गये हैं: अच्छा, श्रीमान्, निस्सन्देह, सच और हाँ। यह जब अंगम् बनता है तो उसके अर्थ हो जाते हैं – सम्पूरक, सहायक भाग, अवयव आदि। इसी अर्थ में प्रायः मूल शब्द का भी प्रयोग होता है, यथा शरीर के विभिन्न भागों को अंग कहते हैं। चतुर्वेदों में संचित ज्ञान की विभिन्न शाखाओं, शिक्षा, कल्प, निरूक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष को वेदांग कहा गया है।

अंग (२) अंग, प्राचीन काल में एक भारतीय जनपद की संज्ञा थी। आज के बिहार के भागलपुर और मुंगेर तक उसका विस्तार माना जाता है। महाराज दशरथ के मित्र लोमपाद इसी प्रदेश के शासक कहे गये हैं। महाभारत काल में दुर्योधन ने कर्ण को, सम्भ्रान्त व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए, उसे इसी प्रदेश का शासक बनाया था। इस प्रदेश के राजनगर का नाम चम्पा था। अब भागलपुर में एक छोटासा चम्पानगर है। कालान्तर में मगध के सम्राट बिम्बसार ने अंग को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया था।

अंगकोरवात अंग्कोर या अंकोर कम्बोडिया का एक प्राचीन नगर था। उस क्षेत्र में भारतीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवताओं, शिव, विष्णु, शक्ति, गणेश, राम और बुद्ध के मन्दिर मिले हैं। इस आधार पर देश–विदेश के अनेक विद्वानों का यह मत है कि वह एक प्राचीन भारतीय उपनिवेश था। कम्बोडिया में संस्कृत की एक पाण्डुलिपि मिली है, जिसमें कौण्डिन्य नाम के एक ब्राह्मण का उल्लेख है। उसी के आधार पर यह कहा जाता है कि वही उस उपनिवेश का संस्थापक था। इस संदर्भ में पश्चिमोत्तर भारत की कम्बोज जाति के साथ भी उस प्रदेश के नामकरण की बात कही गयी है। यह कहा जाता है कि कभी वहाँ इस जाति के लोग बहुत बड़ी संख्या में जाकर बसे थे और उसी के आधार पर पहले 'कम्बुज', फिर 'कम्बुजिया' और उसके बाद 'कम्बोडिया' नाम पड़ा।

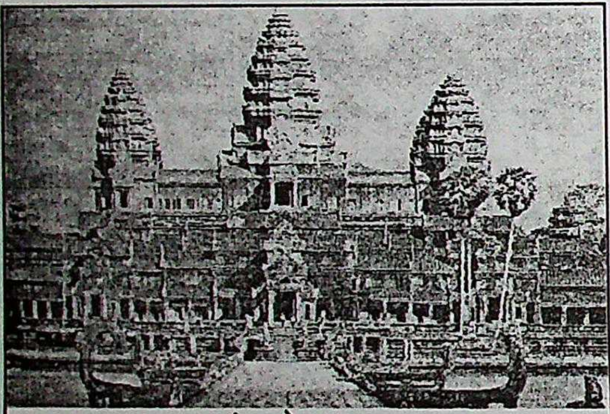
अंगकोरवात्

इतिहास के अनुसार अंग्कोर नगर की स्थापना ईस्वी सन् की ६वीं शताब्दी में यशोवर्मन ने की थी। उस नगर का पहला नामकरण यशोधरपुर हुआ था और फिर उसे ही कालान्तर में अंग्कोर कहा जाने लगा। इसी सम्राट् ने, जो ख्मेर जाति का कहा जाता है, पनॉम बखेर शिखर के ऊपर तोन्लेसाब जलाशय के पास शिवमन्दिर की स्थापना की थी। उस शिवालय को 'अंग्कोर' अर्थात् देवायतन या मन्दिर कहा गया। कालान्तर में ख्मेर राजवंश के उस सारे राजनगर को अंग्कोर कहा जाने लगा। उस शिवालय का शिखर १५० फीट ऊँचा है। उसके चारों ओर ५० छोटे शिखरों के मन्दिर हैं। इन मन्दिरों के शिखरों पर समाधिस्थ शिव की मूर्तियाँ हैं। मन्दिर की दीवारों पर पुष्पों, पशुओं, पक्षियों और नृत्यांगनाओं की मूर्तियाँ बनी हैं। ये मन्दिर पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसार भारतीय इतिहास की गुप्तकालीन वास्तुकला का प्रतिनिधित्व करते हैं।

बारहवीं शताब्दी में जब सूर्यवर्मन द्वितीय (१११३–११५०) सम्राट् हुए, तो उन्होंने शिवमन्दिर के परिसर से कुछ दूर विष्णु का विशाल मन्दिर बनवाया। विद्वानों का कहना है कि इस मन्दिर के परिसर की कल्पना, प्राचीन भारतीय धारणा के सर्वथा अनुरूप है। मन्दिर का परिसर आयताकार है। बीच में पिरामिड के स्वरूप का मूल मन्दिर का शिखर है। चारों और सागर के प्रतीक स्वरूप जल से आप्लावित खाईं है और फिर चारों ओर दीवार है। मन्दिरों में प्रतिष्ठित देवता, इस धरती के लोगों को देवलोक से जोड़ने की भूमिका का निर्वाह करते हैं।

आज इस पूरे क्षेत्र को 'अंग्कोरवात्' अर्थात देवायतन नगर कहा जाता है। मन्दिर का परिसर कोई ५०० एकड़ तक फैला हुआ है। मन्दिर के भवन की तीन मंजिलें हैं, और उनके बीच २१२ फीट ऊँचा मन्दिर का शिखर है। मन्दिर के चारों ओर आयताकार दीर्घाएँ हैं। दीवालों पर पूरी राम कथा चित्रांकित है। दीवालें इस प्रकार बड़ी ही कलात्मक चित्रपटी प्रदर्शित करती हैं। मन्दिर के परिसर में विष्णु और उनके अवतार राम के अतिरिक्त शिव, शक्ति और गणेश की प्रतिमाएँ भी हैं।

सन् ११७७ में निकट के चम्पा राज्य के शासक ने अंग्कोरवात् पर आक्रमण किया था और उस पर अपना अधिकार कर लिया था। लेकिन कुछ ही वर्षों बाद, जयवर्धन सप्तम् ने उन्हें भगाकर फिर से ख्मेर राजवंश की परम्परा चलायी थी। उसने बौद्ध धर्म में दीक्षा ले ली थी। अतः उसने अंग्कोरवात् से कुछ दूर पर बुद्ध के एक विशाल मन्दिर की स्थापना करायी थी। उस मन्दिर के चारों ओर ५० छोटे–छोटे मन्दिरों के शिखरों पर उसने मुस्कराती आकृतियाँ बनवाई थीं, जो अपने चारों ओर प्रसन्नता का सञ्चार करती थीं। अपने उस नये राजनगर को उसने 'अंग्कोरथाम'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम दिया था। वह नगर कोई ६.४ कि.मी. मील के क्षेत्र में फैला हुआ है। उस महानगर में राजमहल है, बहुत चौड़ा चौक है, अनेक मन्दिर हैं; पुस्तकालय और मनोरञ्जन के भी अनेक क्षेत्र हैं। सन् १४३१ में पड़ोसी देश ने फिर उस क्षेत्र पर आक्रमण किया था। तत्कालीन शासक उस क्षेत्र से भाग गये थे। आक्रमणकारी उस क्षेत्र पर विजय प्राप्त करने के बाद, किन्हीं कारणों से फिर अपने देश वापस लौट गये थे। वह सारा प्रदेश, जहाँ शिव, विष्णु, राम, बुद्ध आदि के मन्दिरों की प्रतिष्ठा थी, अनेक शताब्दियों तक उपेक्षित पड़ा रहा। अतः उसके चारों ओर बहुत बड़ा जंगल खड़ा हो गया था। वह क्षेत्र इस प्रकार बड़े लम्बे समय तक सर्वथा अज्ञात हो गया। सन् १८६१ में फ्रांस के वनस्पति–वैज्ञानिक हेनरी मौहात ने उसकी खोज की थी। वह ५ दिन की नौका–यात्रा के बाद उस क्षेत्र में पहुँचा था और वहाँ के वास्तुकलात्मक सांस्कृतिक वैभव को देख कर अभिभूत हो उठा था। उसके बाद उसने जो कुछ कहा–सुना और लिखा है, उसी का फल है कि आज वह क्षेत्र विश्व के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पर्यटन स्थलों में गिना जाता है और देश–विदेश से लोग उसे देखने के लिए आते रहते हैं।

अंगद मूलतः अंगद एक आभूषण का नाम है, जो भुजा में कोहनी के नीचे पहना जाता था। रामकथा में वानरराज बालि और तारा के पुत्र का नाम अंगद मिलता है। बालि के निधन के अनन्तर जब सुग्रीव ने कार्यभार संभाला था, तो उन्होंने अंगद को युवराज घोषित किया था। उसके बाद हम अंगद को हनुमान्, जाम्बवान् आदि के साथ, सीता की खोज में तत्पर देखते हैं। इस प्रसंग में तुलसीदास ने लिखा है कि अंगद ने कहा था कि वह समुद्र पार करके जा सकता है, अगर इस विषय में किसी को संशय हो, तो वह तीन बार आ–जाकर दिखा सकता है। लेकिन युवराज होने के कारण जाम्बवान् ने हनुमान् की शक्ति और सामर्थ्य को जगाकर, अंगद के बदले उन्हें ही भेजना उपयुक्त समझा, श्रीराम को अंगद की शारीरिक शक्ति तथा वाक्–कौशल पर पूरा विश्वास था, तभी उन्होंने अंगद को रावण की राज–सभा में अपना दूत बनाकर भेजा था। उस राजसभा में जब उनके बल की परीक्षा का सवाल उठा तो उन्होनें अपना चरण पृथ्वी पर रोप दिया और बड़े आत्म–विश्वास के साथ कहा कि अगर रावण का कोई योद्धा उनके चरण को हटा देता है तो सीता की माँग छोड़ दी जायेगी। कोई भी उनके पैर को हटाने में समर्थ नहीं हुआ था। तभी से 'अंगद का चरण' अपराजेय शक्ति के मुहावरे के रूप में प्रचलित है। लक्ष्मण भी अंगद के व्यक्तित्व से विशेष प्रभावित हुए थे। तभी उन्होंने आगे चलकर अपने पुत्र को अंगद नाम दिया था।

अंगददेव सिखों के दूसरे गुरु। इनका पूर्व नाम लेहना था। उनका जन्म मार्च ३१, सन् १५०४ को आज के मुक्तसर जिले के 'माते–दी–सराय' गाँव में हुआ था। उनके पिता भाई खेरूमल एक मुस्लिम शासक के लेखाधिकारी थे। अतः उन्होंने अपने पुत्र को अच्छी शिक्षा दी थी। जब वे १५ वर्ष के थे, तो खदूर गाँव की बीबी छेईबी के साथ उनका विवाह हुआ था। बाबर के आक्रमण के समय उनका गाँव नष्ट हो गया था। इस दुर्योग के बाद उनके पिता खदूर चले आये थे और वहाँ एक दुकान चलाने लगे थे।

भाई खेरूमल दुर्गादेवी के बड़े भक्त थे और उनके दर्शन के लिए हर साल अपने गाँव तथा जान–पहचान के लोगों को लेकर ज्वालामुखी देवी के दर्शनों के लिए जाया करते थे। सन् १५२६ में अपने पिता के निधन के बाद भाई लेहना भी लोगों को लेकर ज्वालामुखी जाने लगे। खदूर गाँव में भाई जोधा नाम के एक सज्जन रहते थे : वे गुरु नानकदेव के शिष्य थे और बड़ी रुचि तथा तन्मयता के साथ उनके पदों का गायन करते रहते थे। भाई लेहना उनके भजनों को सुनकर बड़े प्रभावित हुए और यह जानकर कि ये भजन गुरु नानकदेव के हैं, जो करतारपुर में रहते हैं, उन्होंने उनके पास जाने का निश्चय किया। सन् १५३२ में, जब वे अपने लोगों को लेकर ज्वालामुखी देवी जा रहे थे, तब उन्होंने निश्चय किया कि वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उधर न जाकर करतारपुर जायेंगे। वे जब घोड़े पर सवार होकर करतारपुर पहुँचे तो उन्होंने एक सज्जन को अपने खेत में काम करते हुए देखा। उन्होंने उन सज्जन से पूछा : गुरु नानकदेव जी कहाँ रहते हैं, और किस स्थान पर अपने प्रवचन देते हैं। उन सज्जन ने कहा मेरे साथ चलो। जब दोनों एक भवन पर पहुँचे तो उन सज्जन ने कहा कि अपनी घोड़ी उस खूँटे पर बाँध दो और उस द्वार से अन्दर आओ।

भाई लेहना ने उस द्वार से प्रवेश करने के अनन्तर देखा कि वही सज्जन गुरु की गद्दी पर बैठे हुए हैं। वे यह देखकर कुछ असमंजस में पड़ गये। तभी गुरु नानकदेव ने उनसे पूछा, 'भाई तुम्हारा नाम क्या है ?' लेहना जी ने जबाब दिया, उनका नाम लेहना है। गुरुजी ने कहा, 'अगर तुम्हारा नाम लेहना (लेना) है, तो मुझे तुम्हें कुछ देना है। उस परमेश्वर की सेवा करना कहीं अधिक अच्छा है, जिनसे विभिन्न देवी–देवता माँग कर अपने भक्तों की इच्छा पूरी करते हैं।' इन शब्दों को सुनने के बाद लेहना जी ने देवी के दर्शनों के लिए जाने का विचार छोड़ दिया; अपने साथियों को यह बता आये, और फिर गुरु जी के साथ रहने लगे।

गुरु नानकदेव जी ने कुछ दिन बाद उनसे कहा कि अपने घर के लोगों को, उनके पास जाकर यह बता आओ, और तब आकर उनके साथ रहो। लेहना जी जब लौटे, तो उन्हें ज्ञात हुआ कि गुरु जी तो अपने धान के खेतों में काम कर रहे हैं। वे गुरु जी के पास पहुँचे तो गुरु जी ने उन्हें देखकर उनके सिर पर धान का एक बण्डल रखा, और उनसे कहा कि इसे घर ले चलो। उस बण्डल के धान भीगे हुए थे, अतः लेहना जी के कपड़े उससे गन्दे हो गये। माता सुलक्खनी देवी ने जब यह देखा तो नानकदेव जी से कहा कि आपने यह क्या कर दिया। नानकदेव जी ने कहा कि यह तो गन्दगी नहीं, इनके कपड़ों पर जाफ़रान चिपकी हुई है।

गुरु नानकदेव जी ने उसके बाद भाई लेहना को शिक्षा देना आरम्भ किया। वे उन्हें जाति, धर्म की भावना से मुक्त करना चाहते थे। उन्होंने साथ चल रहे शिष्यों से कहा कि यह जो मरा चूहा पड़ा है, इसे फेंक दो। कोई भी शिष्य इसके लिए तैयार नहीं हुआ; लेकिन भाई लेहना ने उसे फेंक दिया। एक और दिन नहाते समय गुरु जी ने अपना लोटा जाने–अनजाने गन्दे पानी में गिरा दिया। कोई भी शिष्य उसे निकालने के लिए आगे नहीं बढ़ा। लेकिन लेहना जी ने गन्दे पानी में उतर कर उसे निकाल दिया। एक और दिन गुरु जी अपने कई शिष्यों को लेकर जंगल की ओर चले। उनके हाथ में डण्डा था, और उससे वे एक–एक शिष्य को पीटते जाते थे। धीरे–धीरे सभी शिष्य भाग खड़े हुए, केवल लेहना जी ही उनके साथ रह गये। गुरु जी ने उनसे पूछा, 'तुम क्यों नहीं गये ?' जवाब : 'आपके सिवा मेरा कोई दूसरा सहारा नहीं, अतः मैं आप के साथ लगा हूँ।' गुरु जी ने तब कहा, 'तुममें और मुझमें कोई फर्क नहीं है। तुम अब मेरे अंग बन गये हो और आज से तुम्हारा नाम 'अंगददेव' होगा।' गुरु जी ने उसके बाद उन्हें अपने आसन पर बैठाया, उन्हें सविनय प्रणाम किया और अपने सभी शिष्यों से उन्हें प्रणाम करने के लिए कहा। उन्होंने इस प्रकार उन्हें अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। इसके साथ ही उन्होंने अपनी पोथी, जिसमें उनके अपने तथा अन्य सन्तों के भजन थे, उन्हें सौंपी। फिर उन्होंने आज्ञा दी कि खदूर वापस जाओ और वहाँ के लोगों को जो जबरदस्ती मुसलमान बनाये जा रहे हैं, उनमें आत्मविश्वास जगाओ और उन्हें धार्मिक उपदेश दो।

गुरु नानकदेव जी के निधन के बाद बाबा बुड्डा के आग्रह पर गुरु अंगददेव ने खजूर और संगर स्थानों के बीच, एक टीले पर अपना स्थान बनाया और वहाँ नित्यप्रति उपदेश देने लगे। वहाँ उन्होंने एक सामुदायिक लंगर की व्यवस्था की, और बच्चों को शिक्षा देने के लिए एक विद्यालय की स्थापना की। सन्ध्या–प्रवचन के पहले वे लोगों से शारीरिक व्यायाम भी कराते थे। अपने भरण–पोषण के लिए वे बान बुनते थे और अपने भक्तों को उपदेश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देने के साथ–साथ उनकी पारिवारिक तथा सामाजिक समस्याओं के समाधान में रुचि लेते थे। शेरशाह से हारकर हुमायूँ जब उनसे मिला था, तो उन्होंने उसके मन में भी आत्मविश्वास जगाया था। उनकी प्रेरणा से ही वह सैन्य–शक्ति एकत्र कर, फिर से हिन्दुस्तान का बादशाह बन सका।

गुरु अंगददेव एवं अर्जुनदेव को गुरु नानकदेव के बाद सिख धर्म को एक सुव्यवस्थित रूप देने का श्रेय दिया जाता है। नानकदेव जी ने उन्हें अपनी रचनाओं की जो पोथी दी थी, उसकी उन्होंने अनेक पाण्डुलिपियाँ तैयार करवाकर वितरित की थीं। उन्होंने इसके लिए एक नयी लिपि भी विकसित की थी, जिसे गुरुमुखी कहते हैं, जो आज पंजाब प्रदेश की लिपि है।

अंगराग मानव शरीर के विभिन्न अंगों को स्वस्थ, स्वच्छ, सुडौल और सुन्दर बनाने के लिए जिन वस्तुओं का उपयोग किया जाता है, उन्हें अंगराग कहते हैं। अंगरागों का प्रयोग हम दैनिक, जीवन में आत्मप्रतिष्ठा, सम्मोहन जगाने, प्रभाव उत्पन्न करने आदि के लिए करते हैं। हमारे धर्म–प्रधान देश में धार्मिक दृष्टि से भी रोली, चन्दन आदि का प्रचलन है। उत्सवों, समारोहों आदि में तो उनका विशेष प्रयोग होता है। अंगरागों का प्रचलन स्त्रियों और पुरुषों दोनों में ही बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक देखने को मिलता है। रंगमंच पर नाट्य–प्रदर्शन के समय अंगरागों का प्रयोग अंगरचना के रूप में परमावश्यक होता है।

भारतीय वाङ्मय में अंगरागों का उल्लेख वैदिक साहित्य के समय से ही देखने को मिलने लगता है। महाभारत और वृहत्संहिता में अनेक स्थलों पर इसका उल्लेख है। अग्नि–पुराण और मार्कण्डेय पुराण आदि में भी इसकी चर्चा मिलती है। सुश्रुत ने आयुर्वेद की दृष्टि से इन पर विचार किया है। वात्स्यायन के कामसूत्र में इनकी विस्तृत विवेचना है। भरत ने अपने नाट्य–शास्त्र में रंगमंच की दृष्टि से अंगरचना पर विशेष रूप से विचार किया है। निघण्टु, अमरकोष आदि में भी अंगराग से सम्बन्धित बहुत से शब्द आये हैं।

इन शास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त जिनमें अंगरागों का सैद्धान्तिक विवेचन है, ललित साहित्य यथा–रघुवंश, 'कुमारसम्भव', 'ऋतुसंहार', 'मालती माधव', 'कादम्बरी', 'हर्षचरित' आदि में अंगरागों का प्रसाधन के रूप में अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है।

भारतीय आचार्य और साहित्यकारों ने विभिन्न अंगों के लिए पृथक्–२ अंगरागों की चर्चा की है। उन्होंने शिरोभाग के लिए विभिन्न प्रकार के तेलों और केश–पट–वासों का वर्णन किया है। मुख के प्रसाधन के लिए विलेपन, अनुलेपन, उद्वर्त्तन, दीपवर्त्ती, रंजक–चित्रका की चर्चा की है। आँखों के लिए अञ्जन, काजल, सुर्मा और इनके प्रयोग के लिए प्रसाधन शलाकाएँ बतायीं गयी हैं। ओठों को अनुरञ्जित करने के लिए अनेक प्रकार की रञ्जक शलाकाएँ, हाथों और पैरों में मेंहदी और महावर, अन्य अंगों के लिए चन्दन–अगरु आदि का उल्लेख है। सौन्दर्य–साधना में अनेक गन्धक द्रव्यों के भी प्रयोग मिलते हैं।

भारत में नाट्य–कला का विकास, आदि काल में ही हो गया था। भरत को हम इसी दृष्टि से अपने 'नाट्यशास्त्र' में आहार्य–अभिनय के अन्तर्गत अंगरचना के सन्दर्भ में सौन्दर्य–प्रसाधनों पर विचार करते हुए देखते हैं। यह प्रसंग आरम्भ करते हुए उन्होंने लिखा है

139306

"पुरुषों के वेष में सर्वप्रथम नाट्य–प्रयोक्ता द्वारा उनके अंगों को उचित वर्णों में अनुरञ्जित करना चाहिए। उसके बाद ही उन्हें अपनी प्रकृति और कार्य के अनुसार वेश–भूषा धारण करायी जानी चाहिए। उन्होंने चार स्वाभाविक रंग माने हैं : श्वेत, नील, पीत, और लाल इन्हीं रंगों के परस्पर समिश्रण से और भी अनेक प्रकार के रंग बनते हैं। इसी प्रक्रिया से अनेक प्रकार के रंगों को तैयार करके और फिर विभिन्न पात्रों के शरीरों को उनकी भूमिका के अनुसार रंगना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए। अभिनेताओं को उनकी भूमिका के अनुसार ही अनुरञ्जित किया जाना चाहिए, क्योंकि जो रूप उन्हें ग्रहण करना है, उसी के अनुरूप उनके अंगों का विधान होना चाहिए। यह ठीक वैसे ही है, जैसे आत्मा एक शरीर को छोड़कर, दूसरे शरीर में प्रवेश करती है, तब जैसे वह दूसरी अवस्था में हो, वैसी ही बन जाती है। इसी प्रकार विभिन्न रंगों और वस्त्रों से अच्छादित वह पात्र ठीक वैसा ही बन जाता है, जिसकी भूमिका वह धारण करता है। तभी वह उसके भावों, आचारों और चेष्टाओं का अनुकरण करता है तथा बिल्कुल वही बन जाता है।''

भरत ने अंगरचना के सन्दर्भ में दिव्य चरित्रों; यक्ष, किन्नर, गन्धर्वों; दैत्य, दानव, राक्षसों और मनुष्यों के अनेक प्रकार के रंग–विधानों की विवेचना की है। उन्होंने इस विशाल देश के अलग–अलग क्षेत्रों के पृथक–पृथक अंगरागों का भी वर्णन किया है। उन्होंने यह भी कहा है कि पात्रों का अनुरञ्जन उनकी आयु, उनकी जाति, उनके कार्य, उनके मनोविज्ञान के अनुरूप ही होना चाहिए।

पश्चिम में अंगरागों का आरम्भ मिस्र से माना गया है। प्राचीन मिस्र में मनुष्य के महाप्रयाण के बाद उसके शरीर के पास उसकी सुख–सुविधा के विभिन्न साधनों को रख देने का भी प्रचलन था। इसी दृष्टि से वहाँ के पिरामिडों में, जो विशेष रूप के शवागार हैं; विभिन्न प्रकार के प्रसाधन के साधन रखे हुए हैं। लन्दन के विशाल संग्रहालय में मिस्र से प्राप्त सामग्री का जो कक्ष है, वहाँ ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व मिस्र में प्रयोग में आने वाली अंगराग की अनेक वस्तुएँ देखी जा सकती हैं। वहाँ अनेक प्रकार की सेलखड़ी की रंगपट्टिकाएँ तथा छोटी–छोटी तश्तरियाँ हैं, जिनमें मिस्र की प्राचीन काल की महिलाएँ अपने शरीर पर अनुलेपन के लिए अनेक प्रकार के रंग तैयार करती थीं। अनेक वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनसे आज भी हल्की–सी सुगन्ध उठती है। प्रसाधन के लिए वे, तिल, बादाम और जैतून के तेलों का विशेष रूप से प्रयोग किया करती थीं।

विद्वानों का कहना है कि पाश्चात्य सभ्यता के उद्गम–स्थल ग्रीस या यूनान के लोगों ने मिस्र के लोगों से ही अंगराग का प्रयोग करना सीखा। कालान्तर में जब रोम का अभ्युदय हुआ और वहाँ के लोगों ने यूनान को अपने अधिकार में किया, तो वहाँ के सौन्दर्य–प्रसाधकों को वे विशेष रूप से अपने साथ लाये। आगे चलकर रोम के लोगों ने जब मिस्र पर आक्रमण किया, तो क्लियोपेट्रा से सम्पर्क स्थापित करने के बाद, उन्होंने सीधे–सीधे उनके माध्यम से ही अनेक अंगरागों के प्रयोग और निर्माण की शिक्षा ग्रहण की।

आज जब वैज्ञानिक उपलब्धियों के फल–स्वरूप यह विराट् विश्व हस्तामलकवत् हो गया है; तो पूर्व और पश्चिम में विकसित विभिन्न अंगरागों का प्रयोग, हम एक साथ देखते हैं। विद्वानों ने अंगराग के विषय को अब पूरे एक शास्त्र का रूप दे दिया है। सौन्दर्य प्रसाधनों ने अब व्यावसायिक रूप ग्रहण कर लिया है और प्रायः हर देश के छोटे–बड़े शहरों में हम सौन्दर्य– शालाएँ (ब्यूटी पार्लर्स) देखते हैं। इस व्यापक प्रयोग के फलस्वरूप अंगरागों अथवा सौन्दर्य –प्रसाधनों का शास्त्रीय अध्ययन भी हुआ है और निम्नलिखित प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधन स्वीकार किये गये हैं :

१. त्वचा प्रसाधन, यथा–पाउडर, क्रीम, कुंकुम, काजल, ओष्ठ–शलाकाएँ आदि।

२. केश–प्रसाधन, यथा–शैम्पू, केशवर्द्धक, केश–सम्भारक आदि।

३. नख–प्रसाधन, यथा–विभिन्न प्रकार की नख–रञ्जक शलाकाएँ।

४. मुख–प्रसाधन, यथा मुख–प्रक्षालक, दन्त–सँवारक, दन्तलेप, मञ्जन आदि।

५. सुगन्धित प्रसाधन तथा विभिन्न प्रकार के गन्धतत्व तथा अनेक प्रकार की गंध–शलाकाएँ आदि।

६. अन्य प्रसाधन, यथा–मेंहदी, आलता, केशरञ्जक आदि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक काल में अंगरागों के प्रति इतनी अभिरुचि बढ़ी है कि कुटीर–उद्योगों से लेकर उसके लिए बड़े–बड़े उद्योग खड़े किये गये हैं। प्रसाधन में प्रयोग में आने वाली अनेक वस्तुएँ सतत प्रयोग से हानिकर भी सिद्ध हुई हैं; अतः अब बड़ी सावधानी के साथ समुचित जानकारी के बाद ही विभिन्न अंगरागों के प्रयोग का परामर्श दिया जाता है और जड़ी बूटियों से बने हर्बल प्रसाधनों का प्रचलन बढ़ रहा है। अंगरागों के प्रचलित प्रयोगों के कारण जो अनेक हानियाँ सामने आयी हैं, उन्हे देखकर लोगों में उनके प्रति अरुचि बढ़ रही है तथा लोग यह कहने लगे हैं कि मनुष्य का वास्तविक सौन्दर्य उसके अन्तर की शोभा का प्रकाश होता है; अतः यथा सम्भव अपने को निरन्तर बढ़ते अंगरागों के प्रयोग से बचाकर, सहज, सरल और स्वाभाविक रूप में रहना चाहिए।

अंगिरा सप्तर्षियों में से एक। दस प्रजापतियों में भी इनकी गणना होती है। ऋग्वेद में इनके अनेक मंत्र मिलते हैं; अथर्ववेद का प्रारम्भ इन्होंने ही किया था। महाभारत में इनकी रची 'आंगिरसि श्रुति' का उल्लेख है। एक स्मृति भी इनके द्वारा प्रणीत कही जाती है।

अंगुत्तर–निकाय बौद्ध धर्म के त्रिपिटकों में सुत्तपिटक का एक भाग है। इसमें ग्यारह निपात हैं। पहले एकक निपात में एक–एक विषय को लेकर दिये गये उपदेशों के सूत्रों का संग्रह है। दुक निपात में दो–दो विषयों को लेकर उनके विषय में दिये गये सुत्त संकलित हैं। यही क्रम आगे चलता रहा है। एकादश निपात में ग्यारह–ग्यारह विषयों को लेकर उनके सम्बन्ध में दिये गये उपदेश संकलित हैं।

अंगुलिछाप मनुष्य की अंगुलियों और अंगूठों के ऊपर की पोरों में खेतों जैसी मेड़ें और रेखाएँ होती हैं। इनसे अनेक प्रकार की आकृतियाँ बनती हैं। किसी एक व्यक्ति की अंगुली या अंगूठे पर बनी आकृति, किसी दूसरे व्यक्ति के इन अंगों पर बनी आकृति से नहीं मिलती। यहाँ तक कि जुड़वाँ भाइयों में भी, जिनकी आकृति काफी मिलती–जुलती होती है, ये आकृतियाँ अलग–अलग ही होती हैं। भारतीय ज्योतिषाचार्यों ने इन आकृतियों के आधार पर मनुष्य की जीवन–यात्रा के विभिन्न प्रसंगों को पढ़ने में भी उपयोगी माना है। कहा जाता है कि चीन में आज से दो–ढाई हजार वर्ष पहले अपराधी को अंगुली की छाप के आधार पर पहचाना जाता था। कालांतर में अपराधी की पहचान के लिए, इन रेखाओं के अध्ययन–अनुशीलन का प्रचलन हुआ है।

पश्चिम में अंगुलियों और अंगूठों के इन चिह्नों को पढ़ने के सन्दर्भ में सर्वप्रथम जर्मनी के ब्रेसला विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री परकिञ्जे का नाम आता है। उनका कहना था कि अंगुली या अंगूठे की ये रेखाएँ, जन्म के समय जैसी होती हैं, मनुष्य के अन्तिम श्वांस लेने के बाद भी, पूर्णतः वैसी ही बनी रहती हैं। उनकी इसी खोज का आधार लेकर ईसवी सन् १८५८ में इण्डियन सिविल सर्विस के एक अधिकारी सर विलियम हर्शेल ने अपराधियों की पहचान के लिए अंगुलिछाप के अध्ययन की प्रणाली का सूत्रपात किया। वे उन दिनों बंगाल के हुगली जिले के अधिकारी थे। सन् १८६२ में हुगली जिले के ही सब–रजिस्ट्रार श्री रामगति वंद्योपाध्याय से सहायता लेकर सर फ्रांसिस गाल्टन ने अंगुलिछाप पर एक ग्रन्थ प्रकाशित किया। उन्होंने लिखा कि अंगुलियों और अंगूठों की ये रेखाएँ, सर्वथा स्थायी होती हैं; और उनकी छापों के सहारे संदिग्ध व्यक्तियों में वास्तविक अपराधी की पहचान निर्विवाद रूप से की जा सकती है। गाल्टन के इसी ग्रन्थ का आधार लेकर दक्षिण बंगाल की पुलिस के इंस्पेक्टर जनरल सर ई० आर० हेनरी ने अंगुलिछापों के वर्गीकरण की एक सुनिश्चित प्रणाली विकसित की। उनका कहना था कि अंगुली या अंगूठे पर बनने वाली ये आकृतियाँ विशेष रूप से चार आकार धारण करती हैं, शंख, चक्र, चाप और समिश्रित। तत्कालीन ग्रन्थ इस वर्गीकरण का वास्तविक श्रेय सर हेनरी के अधीन पुलिस सब–इंस्पेक्टर श्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अजीजुल हक को देते हैं। अंग्रेजी सरकार ने इन्हें पाँच हजार रुपये का पुरस्कार भी दिया था, जिसका मूल्य अगर आज की दृष्टि से देखा जाये तो पाँच लाख रुपये जैसा होगा।

अंगुलिछाप के ऊपर तब तक जो कुछ कार्य हुआ था, उससे दो बातें विशेष रूप से सामने आती हैं। एक तो यह कि दो अलग–अलग अंगुलियों की छापें, वे चाहे एक ही व्यक्ति की क्यों न हों, कभी एक सी नहीं होतीं और दूसरी यह कि हर व्यक्ति की अंगुली की छाप जीवन भर और उसके मरने के बाद भी वैसी ही बनी रहती है। अतः जहाँ कोई अपराध होता था, वहाँ की अनेक वस्तुओं पर अंगुली तथा अंगूठे की छापें खोजी जाती थी; उन्हें विशेष प्रयास से कागज पर उतार लिया जाता था और फिर संदिग्ध व्यक्तियों में जिसकी अंगुली की छाप मिल जाती थी, उसे अपराधी मान लिया जाता था। अपराधी की पहचान में इस प्रणाली की उपयोगिता को देखकर भारत की अंग्रेज सरकार ने सन् १८६७ में कलकत्ते में अंगुलिछाप कार्यालय की स्थापना की। इसे विश्व का पहला अंगुलिछाप कार्यालय कहा जाता है।

सन् १६०१ में अपराधी की खोज में अंगुलिछाप की उपयोगिता को देखकर इंग्लैण्ड में भी वहाँ की पुलिस सेवा में एक विशेष केन्द्र 'न्यूस्कॉटलैण्ड यार्ड' में स्थापित किया। कालान्तर में संयुक्त राज्य अमेरिका के वाशिंगटन स्थित 'फेडरल ब्यूरो ऑफ इन्वेस्टीगेशन' ने भी इस दिशा में कार्य आरम्भ किया। इस संस्थान में केवल अपराधियों के ही नहीं, वरन् सेनाकर्मियों की भी अंगुलिछापें इकट्ठी की गयीं। अब तो सामान्य लोग भी अपनी अंगुलिछाप बनवाने लगे हैं, जिससे वे अपने नाम के आधार पर धोखाधड़ी करने से बचने के लिए, अपनी प्रामाणिक पहचान करा सकें।

अंगुलिछाप के आधार पर यह देखने के लिए कि संदिग्ध व्यक्तियों में कौन वास्तविक अपराधी है, कभी–कभी एक विशेष समस्या खड़ी हो जाती थी। संदेह के आधार पर पकड़े गये कुछ लोग अपनी अंगुलिछाप देने से मना कर देते थे। इसलिए सन् १६२० में भारत सरकार ने कैदी पहचान अधिनियम बनाया, जिससे भारतीय पुलिस को सभी संदिग्ध व्यक्तियों की अंगुलियों की छाप लेने का अधिकार मिल गया। आज हमारे देश के प्रत्येक राज्य में एक अंगुलिछाप कार्यालय है। सन् १६५६ में कलकत्ते में एक 'केन्द्रीय अंगुलिछाप कार्यालय' की स्थापना की गयी। अंगुलिछाप का प्रयोग आज केवल अपराधी की पहचान के लिए ही नहीं वरन् व्यक्ति की पहचान के लिए भी होने लगा है। बिना पढ़े–लिखे लोग तो सरकारी दस्तावेजों में ही नहीं, अपने बैंक खाते के संचालन के लिए भी अपने अंगूठे की छाप का सहारा लेते हैं। परिहास में कभी ऐसे व्यक्तियों को अंगूठा–छाप भी कहा जाता है।

अंगुलिमाल बौद्ध त्रिपिटक में इसे ब्राह्मणपुत्र कहा गया है, जो किसी कारणवश साहसिक अर्थात् दस्यु बन गया था। उसे जीवन में जिन विषम परिस्थितियों को झेलना पड़ा था, उनके कारण उसने निश्चय किया था कि वह एक हजार मनुष्यों का वध करेगा। वह जिसका वध करता था, उसकी अंगुलियाँ काट कर, उनकी माला बना लेता था और फिर उसे कण्ठ में धारण कर लेता था। इसीलिए उसे अंगुलिमाल नाम दिया गया। एक बार बुद्ध जब उसके निवास के पास से गुजर रहे थे, तो उन्होंने उसे अहिंसा का पाठ पढ़ाया। उसने उसे पूरे मन से ग्रहण किया। उसके अन्तर्चक्षु खुल गये, तत्पश्चात् उसने बौद्ध धर्म में दीक्षा ग्रहण कर ली। वह बौद्ध–भिक्षु हो गया और उसकी गणना बौद्ध धर्मावलम्बियों में क्षीणाश्रय अर्हतों में की जाती है।

अंगूर आदिम काल से मनुष्य द्वारा उगाये जाने वाले फलों में से अंगूर एक है। इसे मृदवीका तथा द्राक्षा (संस्कृत), द्रक्ष (गुजराती), कोदिमुन्दरी या गोष्ठानि द्राक्षा, मुंदरी (मलयालम) तथा द्राक्या (उड़िया) नाम से भी पुकारते हैं। यह वाइटेसी कुल का पौधा है। इसका वंश वाइटिस है, जिसकी बहुत सी जातियाँ (स्पिशीज़) खाने योग्य फल पैदा करती हैं, जिनमें प्रमुख हैं, विनीफेरा, लेबूसका, ऐस्टीवेलिस व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रोटन्डीफोलिया। विश्व में अंगूर उत्पादन का लगभग ६० प्रतिशत भाग विनीफेरा स्पिशीज़ से प्राप्त होता है।

अंगूर के विभिन्न किस्मों के फलों के रासायनिक विश्लेषण में भिन्नता पाई जाती है। भारत के एक प्रारूपिक विश्लेषण में प्रति १०० ग्राम अंश में १३.१ ग्राम कार्बोहाइड्रेटस, ०.६ ग्राम प्रोटीन, ०.४ ग्राम वसा, ६०० मि० ग्राम खनिज लवण ०.०४ मि०ग्राम कियामाइन, ०.०१ मि०ग्राम राइवोफ्लेविन तथा ०.१ मि०ग्राम निकोटिनिक एसिड मिली है। इस से ५८.० कैलोरी ऊर्जा प्राप्त होती है। विभिन्न किस्मों में कुल घुलनशील ठोस पदार्थ, प्रमुख रूप से, शर्करा की मात्रा अलग–अलग होती है।

भारतीय साहित्य में अंगूर का उल्लेख कालिदास के 'रघुवंश' के चौथे सर्ग में द्राक्षा संज्ञा से है। 'भामिनी विलास' के पहले और चौथे सर्गों में भी द्राक्षा की चर्चा है। आयुर्वेदाचार्यों में वाग्भट्ट ने अंगूर के रस को आँखों की ज्योति और गुर्दों की कार्य–शक्ति बढ़ाने वाला कहा है; और इस प्रकार वह कोष्ठबद्धता तथा मूत्रकृच्छ से मुक्त करता है। सुश्रुत के अनुसार अंगूर स्वास्थ्यवर्धक होता है; और क्षय रोग निवारण में विशेष रूप से सहायता देता है। अतिसार के उपचार के लिए भी इसे उपयोगी माना गया है। अंगूर की स्वास्थ्यवर्धक शक्ति उसके छिलके में विशेष रूप से मानी गयी है; इसीलिए उसे छिलके सहित खाने का निर्देश दिया गया है। छिलके में उपस्थित टैनिक एवम् कार्बोलिक अम्लों के कारण इसमें पोलियो के विषाणु को नष्ट करने की क्षमता भी बतायी जा रही है।

उपचार की दृष्टि से केवल अपने ताजे रूप में ही नहीं, सुखाये हुए रूपों जैसे किशमिश और मुनक्कों को भी उपयोग में लाया जाता है। अंगूर के रस के प्रयोग से रक्ताल्पता का भी उपचार किया जाने लगा है। अंगूर के ताजे रस के सेवन से मुख पर तत्काल कान्ति और ओज आ जाते हैं। अंगूर की इसी उपयोगिता को देखकर उसकी शर्करा से ग्ल्यूकोज बनाया जाने लगा, जिसके सेवन से थोड़ी ही देर में शरीर के भीतर विशेष शक्ति और स्फूर्ति का अनुभव होने लगता है।

सामान्यतः विद्वानों का कहना है कि अंगूर का उत्पादन सर्वप्रथम कैस्पियन सागर के तट पर, उत्तरी ईरान से आरम्भ हुआ था। वहीं से वह पूर्व की ओर अफगानिस्तान तथा भारतवर्ष और पश्चिम के विभिन्न देशों में पहुँचा। इधर जो अनुसंधान कार्य हुए हैं, उनके आधार पर यह कहा जाने लगा है कि मिस्र में अंगूरों का उत्पादन ईसा से कोई तीन–चार हजार वर्ष पहले आरम्भ हो गया था। यूनान (ग्रीस) में प्रागैतिहासिक समाधियों में अंगूर के बीज मिले हैं। होमर ने भी अपने समय में अंगूरों की खेती की चर्चा की है। बाइबिल में अंगूर और उससे बनने वाली शराब के कई उल्लेख हैं। यह भी लिखा है कि नोहा ने अंगूर का बाग लगाया था।

अंगूर का उल्लेख भारत के प्राचीन साहित्य में आयुर्वेद के ग्रन्थों में विशेष रूप से मिलता है। स्वाधीनता से पूर्व भारत में अंगूर विशेष रूप से अफगानिस्तान तथा बिलोचिस्तान (पाकिस्तान) के चमन प्रदेश से आया करते थे। आजादी के बाद, अंगूर की खेती पंजाब में, बड़े व्यापक रूप में आरम्भ की गयी। लगभग उसी समय अरब सागर के तट पर पश्चिमी घाट के पहाड़ी प्रदेश में अंगूर के बाग लगाये गये। अब तो भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में अंगूरों का उत्पादन व्यावसायिक और अव्यावसायिक दोनों दृष्टियों से होने लगा है। उत्पादन की दृष्टि से महाराष्ट्र, कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु एवम् पंजाब प्रमुख हैं। प्रति इकाई क्षेत्र में उत्पादन की दृष्टि से, कर्नाटक विश्व में प्रथम स्थान पर है : यहाँ लताएँ वर्ष में दो बार फल देती हैं।

पश्चिम गोलार्द्ध में अंगूरों का उत्पादन सर्वप्रथम भूमध्य सागर के तट के प्रदेशों– इटली, फ्रांस, स्पेन आदि में आरम्भ हुआ था। उसके बाद जर्मनी, इंग्लैण्ड आदि में भी उसकी खेती होने लगी। बेल्जियम में विशेष रूप से हरित भवनों में अंगूरों का उत्पादन होता है। यूरोप के इन देशों से अंगूर की खेती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमेरिका पहुँची। कैलीफोर्निया में अंगूरों का उत्पादन बड़ी प्रचुर मात्रा में होता है। इधर अमेरिका के उत्तरी भाग में अपनी तरह के एक अलग प्रकार के अंगूर मिले हैं। उनकी कलमें अन्य क्षेत्रों तथा देशों में भी लगायी जाने लगीं हैं। आस्ट्रेलिया में भी अंगूर का उत्पादन प्रचुर मात्रा में होता है।

अंगूर आरम्भ में समशीतोष्ण कटिबन्ध का फल था, लेकिन अब उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों में भी उसकी खेती होने लगी है। अंगूर के लिए वही भूमि सर्वोत्तम मानी गयी है, जिसमें जल संप्राप्ति और निकास की समुचित व्यवस्था हो : इसीलिए पहाड़ की ढलानों तथा रेतीली दुमट में इसकी खेती विशेष रूप से होती है। अंगूर के लिए प्रारम्भिक दिनों में मध्यम से लेकर उष्ण तक का ताप आवश्यक माना गया है, उसके बाद वर्षा। लेकिन जब फल पकने लगे तो बारिश नहीं होनी चाहिए। इधर इन प्रतिबन्धों का अनुकरण कर अन्य प्रकार के क्षेत्रों और अलग प्रकार की जलवायु में भी अंगूर का उत्पादन होने लगा है। अलग–अलग क्षेत्रों में उत्पादित अंगूर में कुछ अलग–अलग प्रकार की विशेषताएँ आ जाती हैं। उनसे बनने वाली मदिरा की भी अलग–अलग विशेषताएँ होती हैं।

अंगूर की लगभग चालीस जातियाँ (स्पिशीज़) और आठ सौ से अधिक किस्में मानी गयी हैं जिनमें के केवल २० प्रतिशत ही उद्यानों एवम् अनुसन्धान –केन्द्रों में लगाई गयी है। इन सभी को फिर व्यावसायिक दृष्टि से पाँच वर्गों में विभाजित किया गया है, खाद्य अंगूर, किशमिशी अंगूर, विशेष रसीले अंगूर, सुरा अंगूर तथा डिब्बों में बन्द होने वाले अंगूर। अन्तिम प्रकार के अंगूर का प्रयोग विशेष रूप से सलाद, काकटेल आदि बनाने के लिए होता है।

अंगूर सामान्यतः पकने पर हरे से कुछ पीले हो जाते हैं; लेकिन कुछ किस्मों का रंग गहरा बैगनी या काला होता है।

अंगूर की खेती झाड़ियों और बेलों, दो रूपों में देखने को मिलती है। यदा–कदा उनमें कीटाणु भी लग जाया करते हैं। सन् १८६३ में फ्रांस और इंग्लैण्ड के अंगूर के बागों में फाइलक्सेरा कीट ने आक्रमण किया था। ये कीट इतनी तेजी से फैले कि लगा कि सारी फसल ही बर्बाद कर देंगे। तभी देखा गया कि अंगूर की जिन झाड़ियों और बेलों में उत्तरी अमेरिका के अंगूरों की कलमें लगी थीं, उन पर इन कीटों का आक्रमण नहीं हुआ था। तभी इन कीड़ों से बचने के लिए पुराने किस्म की अंगूरों की जगह, इन नये किस्मों के अंगूरों की कलमें लगायी जाने लगीं। अंगूरों पर यदा–कदा फफूँदी जन्य बीमारी भी लग जाया करती है। उद्यान–विशेषज्ञों ने उसका उपचार भी खोज लिया है।

अंगूर की झाड़ियों और बेलों की आयु बड़ी लम्बी होती है। लन्दन के पास के हैम्पटन कोर्ट में सन् १७६८ में लगायी गयी अंगूर की एक बेल है, जो आज भी फल दे रही है।

अंगोरा टर्की (तुर्की) में पायी जाने वाली एक विशेष नस्ल की बकरियाँ, जिनके बाल लम्बे और रेशमी होते हैं। उन्हें काटकर उनसे बढ़िया किस्म की ऊन बनायी जाती है, जिसे मोहेर कहते हैं। प्रतिवर्ष लगभग १०,००० मीट्रिक टन मोहेर ऊन का उत्पादन होता है। उससे उत्तम कोटि की कालीनें बनाई जाती हैं। मोहेर की व्यावसायिक उपयोगिता को देखकर, अंगोरा बकरियों के संयोग से कई नई प्रकार की बकरियों से भी मिलती–जुलती ऊन बनाई जाने लगी है।

अंगोला दक्षिणी–पश्चिमी अफ्रीका का एक देश, जो अतलान्त महासागर के तट पर बसा है। लुआण्डा इसकी राजधानी है। उत्तर की ओर ज़ैरे, पूर्व में जाम्बिया और दक्षिण में नामीबिया हैं। कांगो (ज़ैरे) नदी के उत्तर में काविन्दा का अन्तः क्षेत्र भी अंगोला का भाग है। अंगोला का पूरा क्षेत्रफल १२,४६,७०० वर्ग किलोमीटर है।

अंगोला का तटीय क्षेत्र तो मैदान है, लेकिन उसके बाद पठार उठता है। इस उच्च क्षेत्र की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जलवायु पर्याप्त ठण्डी है। देश का शेष भाग गरम है। कुछ क्षेत्रों में जल–भराव भी है और वहाँ मच्छरों का प्रकोप है। देश के अधिकांश भाग में घास के मैदान हैं। कांगो में मिलने वाली जो अनेक नदियाँ हैं, उनके तटों पर बड़े घने जंगल भी हैं। उन जंगलों में शेर, तेंदुए, जिराफ, गैण्डे, भैंसे, हाथी आदि पाये जाते हैं। नदियों में दरियाई घोड़े और घड़ियाल भी मिलते हैं।

अंगोला के अधिकांश लोग अफ्रीकी बंटू जाति के हैं। कुछ पुर्तगाली भी यहाँ आकर बस गये थे। उनके स्थानीय लोगों से थोड़े–बहुत मिल जाने के कारण एक संकर जाति भी उत्पन्न हो गयी है। दक्षिण पूर्व में एक जंगली जाति के लोग भी रहते हैं, जिन्हें उनके रहन–सहन के कारण बुशमैन कहा जाता है। अधिकांश लोग खेतिहर हैं : छोटे–छोटे गाँव मे रहते हैं तथा मक्का, गन्ना और कॉफी उगाते हैं। कॉफी अंगोला की सबसे बड़ी पैदावार है। कुछ लोग जंगली रबड़ और पामगरी भी इकट्ठी करके जीवन यापन करते हैं। नदियों तथा समुद्रतट पर रहने वाले लोग मछली का भी व्यवसाय करते हैं।

अंगोला खनिजों की दृष्टि से भी बड़ा समृद्ध है। ताँबा और कच्चा लोहा वहाँ विशेष रूप से पाये जाते हैं। कसिंगा में लोहे की खदाने हैं। कुंजा नदी के दक्षिण भाग में कोयले और हीरों की भी खुदाई होती है। उसी क्षेत्र में तेल भी मिलता है, जिससे पेट्रोल बनाया जाता है। राजधानी लुआण्डा के अतिरिक्त अन्य बड़े बन्दरगाह हैं; लोबीटो, बेंगुएला, मोकामेडे। हुआम्बो एक और बड़ा शहर है। बेंगुएला से रेलमार्ग शाम और जाम्बिया को जाते हैं। समुद्र तट से चार और रेलमार्ग भीतरी क्षेत्रों को जाते हैं।

अंगोला पर पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में पुर्तगाली समुद्र यात्री हेनरी ने अधिकार कर लिया था; और स्थानीय राजा से सन्धि करके उपनिवेश बना लिया था। १६वीं शताब्दी तक अंगोला के लोग गुलाम बनाकर पुर्तगालियों द्वारा ब्राजील के बागानों में काम करने के लिए भेजे जाते रहे। यद्यपि १८३० में गुलासी को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया था, लेकिन उसके बाद भी वह अनेक दशकों तक चलती रही। सन् १८८८ में पुर्तगालियों ने अंगोला में अपना प्रभुत्व पूर्णतः स्थापित कर लिया था और इस प्रकार यह समुद्र पार पुर्तगाल का एक प्रान्त बन गया था।

सन् १९६० में अंगोला के राष्ट्रवादियों ने पुर्तगालियों के विरुद्ध गोरिल्ला युद्ध आरम्भ कर दिया था। यह संघर्ष उसके बाद और सघन होता चला गया और फिर सन् १९७५ में अंगोला के लोग आजाद हो गये; लेकिन उसके बाद वहाँ के वामपंथी और दक्षिणपंथी लोगों के बीच गृह–युद्ध आरम्भ हो गया। क्यूबा और सोवियत संघ ने वामपंथियों को सहायता दी और फिर उन्हीं की सरकार बनी।

अंगोला की जनसंख्या १,०७,६६,००० है।

अंग्रेज ब्रिटिश द्वीप–समूह, विशेष रूप से इंग्लैण्ड के भू–भाग निवासियों को, अंग्रेज कहा जाता है। पुरातत्त्व–विदों का कहना है कि इस क्षेत्र में हिम युग में भी लोग रहते थे, और तब यह क्षेत्र यूरोपीय महाद्वीप से जुड़ा हुआ था। बाहर से आकर यहाँ बसने वाली अनेक जातियों में केल्ट, विशेष रूप से प्रभावपूर्ण प्रतीत होते हैं। अंग्रेजों की धमनियों में आज भी 'केल्ट' रक्त प्रवाहित हो रहा है; लेकिन सामान्यतः अंग्रेज अपने एंग्लोसेक्शन पूर्वजों को ही जानते हैं। फिर भी केल्ट जाति के अनेक उत्सव आज भी वहाँ प्रचलित हैं, यथा हरिन–मानवों का नृत्य, मई दिवस की आनन्द क्रीड़ाएँ आदि। केल्टों द्वारा दिये गये अनेक स्थानों के नाम आज भी वहाँ चल रहे हैं।

ईसवी सन् के ४३वें वर्ष, इटली से चले रोमन लोगों ने इस क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था और फिर यह विशाल रोमन साम्राज्य का अंग बन गया था। कहा जाता है कि रोमन लोगों ने इस क्षेत्र के गौर वर्ण के भोले–भाले और सुन्दर बच्चों को देखकर उन्हें एंगिल्स कहा था। उसी आधार पर इस क्षेत्र को कालान्तर में इंग्लैण्ड नाम दिया गया। रोमन शासकों ने इस क्षेत्र के विकास में विशेष रुचि ली थी : लन्दन, कोलेस्तर, ग्लोस्टर, यॉर्क, लिंकन, सेन्ट, अल्बेन्स जैसे नगर उन्होंने ही बसाये थे। उन्होंने इस क्षेत्र को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुव्यवस्थित शासन भी प्रदान किया था। अनेक वर्षों तक उन्होंने विदेशी आक्रमणकारियों को भी रोके रखा था। कोई चार शताब्दी इस भूभाग पर रहने के बाद, अपने साम्राज्य के अनेक क्षेत्रों में विद्रोह के स्वर उठते हुए देखकर उन्होंने ४१० में इंग्लैण्ड को पूरी तरह से छोड़ दिया था। उनके जाने के बाद लगभग २०० वर्षों तक जर्मनी के लोग आक्रमण करके वहाँ आते रहे। उसके बाद तो उनके पड़ोस के अनेक यूरोपीय प्रदेशों के लोग वहाँ आये, यथा–डेन, नार्वीजियन, नार्मन आदि। इस प्रकार आज हम जिन्हें अंग्रेज कहते हैं, वे वस्तुतः अनेक जातियों के सम्मिश्रण से बने हैं।

इंग्लैण्ड में अनेक जातियों के इस सम्मिश्रण का परिणाम यह हुआ कि उनमें क्षेत्रीय अन्तर अनेक रूपों में देखने को मिलता है। उत्तर और दक्षिण के लोगों में तो परस्पर संघर्ष की भावना भी है। पारम्परिक उद्योग विशेष रूप से उत्तरी भाग में है और इसका उस क्षेत्र के लोगों में अभिमान भी है। फिर भी इंग्लैण्ड के प्रायः सभी क्षेत्रों के लोग दक्षिणी क्षेत्र में, विशेष रूप से लन्दन और उसके निकट के क्षेत्रों में आकर बस गये हैं। यद्यपि आज इस सारे क्षेत्र की भाषा अंग्रेजी है; लेकिन अलग–अलग क्षेत्रों में जातीय विभिन्नता के कारण उच्चारण में भिन्नता है। शहर और गाँव के लोगों में भाषा विभेद के साथ रहन–सहन में भी अन्तर देखने को मिलता है। फिर भी बड़ी विचित्र बात है कि हर क्षेत्र के लोगों में, अपने इतिहास, अपनी परम्पराओं और अपनी जीवन पद्धति पर विशेष गर्व है। परन्तु अब जैसे–जैसे आवागमन के साधन बढ़ रहे हैं, आकाशवाणी और दूरदर्शन का प्रसार हो रहा है, यह विविधता घटती जा रही है। सभी लोगों के बोलने–चालने का ढंग, वेष–भूषा और कार्य–पद्धति में लगभग समानता आती जा रही है।

सामान्यतः विदेशियों की यह धारणा है कि इंग्लैण्ड के लोग स्वभाव से बड़े ठण्डे होते हैं और उन्हें समझना मुश्किल होता है। अमेरिका, कनाडा, न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया तथा अन्य अंग्रेजी भाषा–भाषी देशों के लोगों की यह धारणा है कि अंग्रेज बड़े अहम्वादी होते हैं। यह सही है कि अंग्रेज सहज रूप में अपनी भावनाओं को प्रगट नहीं करते, और किसी के प्रति आत्मीयता अनुभव करने के बाद भी, अपने को उसके आगे पूर्णतः उद्घाटित नहीं करते। यह भी कहा जाता है कि उनका ठण्डा स्वभाव, विशेष रूप से उनकी शर्मीली प्रकृति के कारण है। उनके सम्बन्ध में यह विशेष सूक्ति है– 'एक अंग्रेज का घर उसका अपना दुर्ग होता है।'

अंग्रेजों का इतिहास कुछ अलग ही कहानी कहता है। वे परम व्यवहार कुशल रहे हैं। अपने इसी व्यावहारिक कौशल से उन्होंने दूरस्थ प्रदेशों में जाकर उन्हें अपने शासन में ले लिया था। भारतीयों को भी उनके इसी व्यावहारिक कौशल के कारण अनेक शताब्दियों तक उनके शासन में रहना पड़ा। विश्व के अनेक भूभागों में जाकर उन्होंने अपने उपनिवेश बनाये। एक समय तो वह भी था, जब यह कहा जाता था कि अंग्रेजी साम्राज्य में सूरज कभी नहीं डूबता। जहाँ तक अंग्रेजी भाषा–भाषी लोगों की बात है, आज भी यह कथन सच बना हुआ है।

अंग्रेज लोग जहाँ तक अपने देश की बात है, बड़े ही शान्तिप्रिय कहे जाते हैं। उनमें वैचारिक मतभेद होते हैं; लेकिन संकट आते ही यह एक होकर खड़े हो जाते हैं। उनमें राजनीतिक वाद–विवाद तो होते हैं; लेकिन इस संदर्भ में उन्होंने सामान्यतः हिंसा का सहारा नहीं लिया है। यही कारण है कि अन्य यूरोपीय देशों में तो गृहयुद्ध हुए हैं; लेकिन १७वीं शताब्दी के बाद इंग्लैण्ड में कोई बड़ा राजनैतिक संघर्ष नहीं हुआ। वहाँ आज भी राजतंत्र है; लेकिन प्रशासन संसद् प्रणाली के माध्यम से होता है। अंग्रेजों की स्वातंत्र्य चेतना बड़ी प्रबल है। अपने को बहुत अधिक नियमों से बाँधना वे अनावश्यक समझते हैं। इसीलिए इंग्लैण्ड का कोई लिखित संविधान नहीं है, फिर भी उनमें सामान्य रूप से न्याय–व्यवस्था के प्रति आदर की भावना है। इसका प्रमाण है कि अंग्रेजी पुलिस बन्दूकें लेकर नहीं चलती।

अंग्रेजों का स्वातंत्र्य–प्रेम उनके धार्मिक विश्वासों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भी देखने को मिलता है। वे अपनी रुचि के अनुरूप पूजा आराधना पर विश्वास करते हैं। अधिकांश लोग इंग्लैण्ड की अपनी चर्च व्यवस्था से जुड़े हुए हैं। इस धार्मिक स्वतंत्रता के साथ एक ऐतिहासिक प्रसंग जुड़ा हुआ है। सम्राट् हेनरी, एनीबोलीन से, जो रोमन–कैथलिक नहीं थी, विवाह करना चाहते थे; लेकिन रोम के पोप ने उन्हें इसकी अनुमति नहीं दी। तभी जर्मनी में मार्टिन लूथर ने ईसाई धर्माधीशों का विरोध करते हुए, 'प्रोटेस्टेंट आन्दोलन' खड़ा किया। हेनरी अष्टम ने उसे स्वीकार किया और फिर एनाबोलीन से विवाह किया। प्रोटेस्टेंट विचारधारा की स्वीकृति के कारण, अंग्रेजों की धार्मिक व्यवस्था पोप के प्रभाव से मुक्त हो गयी, और वहाँ के लोग अधिकांश में अपनी इसी स्वतंत्र चर्च व्यवस्था से जुड़े हुए हैं। अन्य ईसाई धर्म प्रणालियों का भी वहाँ प्रचलन है। बहुत से लोग आज भी रोम के कैथलिक सम्प्रदाय से अपना सम्बन्ध बनाए हुए हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि अंग्रेज धार्मिक दृष्टि से बड़े उदार हैं।

अंग्रेजों की खेलकूद में भी बड़ी रुचि है। ठण्डक के दिनों में वहाँ लगभग आधे साल फुटबाल खेला जाता है; और गर्मी के आरम्भ होते ही क्रिकेट खेली जाने लगती है। क्रिकेट उनका राष्ट्रीय खेल है, लेकिन वे हॉकी, टेनिस, गॉल्फ, घुड़सवारी, नौकायन, तैराकी आदि में भी रुचि लेते हैं। शारीरिक क्रीड़ाओं का भी उनके बीच विशेष प्रचलन है। इन खेलों में जो लोग भाग नहीं लेते, वे भी इनके आयोजनों को देखने में तत्पर रहते हैं। इसीलिए विभिन्न प्रकार के खेलों के आयोजनों में स्त्री और पुरुष दोनों ही बहुत बड़ी संख्या में देखे जाते हैं।

इंग्लैण्ड के लोगों में ज्ञान–विज्ञान की साधना में भी बड़ी अभिरुचि है। ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज इंग्लैण्ड के विश्व–प्रसिद्ध शिक्षा–संस्थान हैं। लन्दन में अनेक बड़ी ही उच्च स्तर की शिक्षा–संस्थाएँ हैं। ज्ञान–विज्ञान के प्रायः सभी प्रकारों में रुचि होने के कारण, उनकी भाषा अंग्रेजी विशेष रूप से समृद्ध है। अंग्रेजी साहित्य में हमें शेक्सपियर, मिल्टन, वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स; वायरन, टेनीसन, एच०जी० वेल्स जैसी विश्वविख्यात कालजयी प्रतिभाएँ मिलती हैं। साहित्य के विभिन्न रूपों में कविता की विधा विशेष रूप से समृद्ध है।

अंग्रेजी भाषा अंग्रेजी भाषा से आशय मूलतः इंग्लैण्ड के लोगों की भाषा से है; लेकिन आज यह भाषा अंग्रेजों के साम्राज्य के फलस्वरूप विश्व के अनेक देशों एवं प्रदेशों में थोड़े–बहुत बदले रूप में बोली जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड तथा दक्षिणी अफ्रीका में भी लोग इसे बोलते हैं। कनाडा में भी इसे बोलने वालों की संख्या बहुत अधिक है। इसके अतिरिक्त व्यापारिक, बौद्धिक आदान–प्रदान तथा सांस्कृतिक सम्पर्क के लिए संसार के और भी अनेक देशों में इसका प्रयोग होता है। भारत में अंग्रेजों का राज्य समाप्त हो जाने के बाद भी, केन्द्रीय शासन में तथा विभिन्न प्रदेशों में सम्पर्क भाषा के रूप में इसका प्रयोग चल रहा है।

इंग्लैण्ड में ईसा पूर्व नवीं शताब्दी में, केल्ट जाति के लोग रहा करते थे, और वहाँ उन्हीं की भाषा बोली जाती थी। ईसवीं सन् ४६ में रोमन लोगों ने इंग्लैण्ड पर अधिकार कर लिया और उसके बाद लगभग १००० ईसवी सन् तक रोमन भाषा का प्रयोग प्रधान भाषा के रूप में होता रहा है। ईसवी सन् की पाँचवी शताब्दी में जब बर्बर जाति के लोगों ने रोम पर आक्रमण किया, तो अपनी मातृभूमि की सुरक्षा के लिए इंग्लैण्ड के अधिकांश रोमन लोग अपने देश वापस चले गये। उसके बाद उत्तरी सागर को पार कर एंगिल्स, सैक्शन और जूट जाति के लोगों ने इंग्लैण्ड पर अधिकार कर लिया। इन सभी जातियों की अपनी अलग–अलग भाषा थी; लेकिन जल्दी ही एंगिल्स जाति के लोगों ने अपना प्रभाव बढ़ा लिया, और फिर उन्ही की भाषा प्रधान हो गयी। एंगिल्स जाति के लोगों की उसी भाषा को आज इंग्लिश अर्थात् अंग्रेजी कहा जाता है। कुछ समय बाद नार्मन लोगों ने इंग्लैण्ड पर आक्रमण किया, विजयी हुए, और फिर नार्मन भाषा के शब्द भी अंग्रेजी में आने लगे। अंग्रेजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा में इसी लिए प्रारम्भ से ही केल्ट, सैक्शन, जूट, रोमन और नार्मन भाषाओं के शब्द मिलते है। अंग्रेजी भाषा में जो ग्रहणशीलता है, वह इस प्रकार प्रारम्भिक काल से ही उसमें चली आयी है।

अंग्रेजी भाषा के उस प्राचीन स्वरूप में एक बहुत बड़ा परिवर्तन सन् १०६६ में हुआ, जब फ्रांस के विलियम ने, जिनके साथ विजेता शब्द जुड़ा हुआ है, इंग्लैण्ड को अपने अधिकार में ले लिया। विजेता विलियम, अपनी सेना के साथ, फ्रांसीसी भाषा के नार्मन रूप को लाये थे, इस प्रकार नार्मन शब्दावली भी अंग्रेजी भाषा में प्रवेश करने लगी। इस प्रभाव ने अगले सौ वर्षों में अंग्रेजी भाषा के प्राचीन रूप को पूरी तरह से बदल दिया। उस बदले हुए रूप को माध्यमिक (मिडल) अंग्रेजी कहा जाता है। यह मध्यकालीन अंग्रेजी, प्राचीन अंग्रेजी से अलग है। उसे अच्छी तरह से समझ पाना आज बड़ा ही मुश्किल है, फिर भी प्राचीन अंग्रेजी की अपेक्षा, उसके इस मध्यकालीन रूप को समझना कुछ आसान है।

उस मध्यकालीन अंग्रेजी भाषा की अनेक बोलियाँ थीं; लेकिन धीरे–धीरे उनमें लन्दन और इंग्लैण्ड के मध्य क्षेत्र की बोली प्रधान होती गयी। अंग्रेजी साहित्य के आदिकालीन कवि जिआफरे चॉसर ने उसी भाषा में अपनी रचनाएँ लिखी थीं, और फिर उसी भाषा में विलियम कैक्सटन ने अनेक ग्रन्थ छापे थे। इन रचनाओं की भाषा ही, उस भाषा का प्रारम्भिक रूप कही जाती है, जिसे हम अंग्रेजी कहते हैं।

अंग्रेजी भाषा के उस मध्यकाल में, अर्थात् ११०० से लेकर १५०० तक इंग्लैण्ड में अंग्रेजी भाषा के साथ, फ्रांसीसी और लातिनी भाषाएँ चलती रही थीं। लातिनी भाषा के लेखकों को अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध साहित्यकार टॉमस मूर ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'यूटोपिया' (१५१६) लातिनी में लिखा था। अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबन्धकार सर फ्रेंसिस बेकन ने निबन्धों के अतिरिक्त अपनी शेष रचनाएँ, लातिनी में ही लिखी थीं। जॉन मिल्टन (१६०८–७४) ने भी लातिनी में ही लिखना आरम्भ किया था; लेकिन वे अपनी रचनाओं को जनसाधारण तक पहुँचाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने फिर अपनी अधिकांश रचनाएँ अंग्रेजी में ही लिखी थीं। अंग्रेजी की अपेक्षा लातनी को विशेष महत्त्व, १९वीं शताब्दी तक भी दिया जाता रहा।

अंग्रेजी भाषा का महत्त्व आज विश्व की अन्य भाषाओं में सर्वाधिक है। विश्व के अनेक देशों में उसके थोड़े बहुत बदले रूपों का सामान्य भाषा के रूप में प्रचलन है। आदिकाल से ही उसमें जो ग्रहणशीलता देखने को मिली थी, वह आज भी पूरी शक्ति के साथ जीवित है। संस्कृत एवं अनेक आधुनिक भारतीय भाषाओं के बहुत से शब्द अंग्रेजी में पूरी तरह से अपना लिये गये हैं। अंग्रेज शासक के रूप में तो भारत से चले गये, लेकिन अंग्रेजी भाषा केन्द्रीय प्रशासन में तथा अनेक प्रदेशों में भी राजभाषा तथा बौद्धिक विचार–विनिमय की भाषा के रूप में आज भी प्रचलित है।

अंग्रेजी साहित्य इंग्लैण्ड में एंग्लो–सैक्शन लोगों के आने के बाद ७वीं, ८वीं शताब्दी में, जिन काव्य रचनाओं की सर्जना हुई, उनकी १०वीं शताब्दी में लिखित चार–पांडुलिपियाँ उपलब्ध हैं। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काव्य–रचना 'बियोऊल्फ' है, जिसमें डेनमार्क के एक वीर पुरुष का आख्यान है कि कैसे वह किसी विचित्र और भयंकर दानव से अपने लोगों की रक्षा करता है। एक दूसरी कविता है 'दि वाँडरर'; जिसमें एक व्यक्ति अपने मालिक के निधन के अनन्तर अपने अकेलेपन का वर्णन करता है। तीसरी रचना है 'दि सी फ़ेयरर', जिसमें समुद्र यात्रा के कष्टों का विवरण है। इनके अतिरिक्त नार्थम्बरलैण्ड के धार्मिक आश्रमों में लिखित कविताएँ हैं। अंग्रेजी का पहला कवि 'कैडमॉन' को कहा जाता है, जो एक चरवाहा था, जिसे स्वप्न में किसी देवदूत ने आदेश दिया था कि वह इस सृष्टि के आरम्भ की कहानी गाये। उसने जो कुछ गाया था, आज उसका एक छोटा सा भजन मात्र उपलब्ध है।

अंग्रेजी की इन प्रारम्भिक रचनाओं के बाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत समय तक ईसाई धर्म के अनुयायी लैटिन में ही लिखते रहे। कालान्तर में जब अल्फ्रेड ने सत्ता सम्भाली, तो उसने अपनी प्रजा से अपनी ही भाषा में लिखने और पढ़ने का आग्रह किया। उसी की प्रेरणा से अनेक ग्रन्थ अंग्रेजी में अनुवादित हुए। सन् ७३१ में वैनरेबल बीड ने 'इक्लीजिएस्टिकल हिस्ट्री ऑफ इंगलिश नेशन' लिखी। 'एंग्लो सैक्शन क्रानिकल' भी अनेक लेखकों द्वारा, जिनमें तत्कालीन घटनाओं के विवरण थे, ८६२ से ११५४ तक अंग्रजी में लिखे गये।

सन् १०६६ में जब नॉर्मन लोगों ने आक्रमण किया तो वे अपने साथ नयी भाषा, नये विचार, लेखन की नयी शैलियाँ तथा साहस और शौर्य की नयी कहानियाँ भी लाये। उन्हीं में से एक रोलैण्ड को लेकर कथा–गीत भी था। उन दिनों नॉर्मन फ्रेन्च तो दरबार की भाषा थी; प्रबुद्ध लोग लैटिन में ही लिखते थे; लेकिन सामान्य जन अंग्रेजी के ही गीत गाते तथा कहानियाँ सुनते–सुनाते थे। उनकी कहानियों में सम्राट् आर्थर और उनके सामन्तों की साहसिक कहानियाँ हुआ करती थीं।

उस नॉर्मन युग की दो काव्य–रचनाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं– 'सर ग्वायने एण्ड दि ग्रीन नाइट' तथा 'पियर्स प्लाऊमैन'। पहली में सम्राट् आर्थर और उनके सामन्तों की साहसिक कथाएँ हैं। दूसरे ग्रन्थ का लेखक विलियम लैंगलैण्ड है। कवि कहता है कि वह एक दिन जब मैनवर्न पहाड़ियों पर सो रहा था तो उसने एक स्वप्न देखा, एक बहुत बड़ा मैदान है, जहाँ बहुत सारे लोग हैं। सभी अनेक प्रकार के कार्य कर रहे हैं; और उनमें बहुत से बड़ी बेईमानी के कार्य हैं। लैंगलैण्ड ने वस्तुतः अपने युग का बड़ा ही चित्रात्मक वर्णन किया था। उसका उद्देश्य लोगों के दुष्कर्मो को उजागर करके उन्हें सद्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करना था।

अंग्रेजी साहित्य के इस प्रारम्भिक काल का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवि था– जिऑफ्रे चॉसर, जिसने यह सिद्ध किया कि अंग्रेजी में उत्कृष्ट साहित्य लिखा जा सकता है। अपनी दो लम्बी कविताओं 'ट्रायलैस एण्ड दि क्रसीडा' तथा 'दि कैण्टरबरी टेल्स' में उसने सभी तरह के लोगों के बड़े जीवन्त शब्दचित्र प्रस्तुत किये हैं; तथा त्रासद भावनाओं से लेकर हास्य–विनोद की बड़ी ही मनोरम कहानियाँ कहीं हैं। चॉसर यह जानता था कि कैसे लोगों को, भाषा के विलक्षण प्रयोग से प्रसन्न किया जा सकता है। चॉसर को इसीलिए अंग्रेजी भाषा का पहला समर्थ कवि माना जाता है।

ईसवी सन् की चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में अंग्रेजी पठन–पाठन करने वालों की संख्या खूब बढ़ी। 'बाइबिल' के अनेक अनुवाद हुए, अनेक इतिहास–ग्रन्थ और साहसिक आख्यान लिखे गये। धार्मिक और राजनीतिक विषयों पर अनेक ग्रन्थ सामने आये। पत्र–लेखन को भी प्रोत्साहन मिला। इसी काल में विलियम कैक्सटन ने इंग्लैण्ड में छपाई की मशीन लगायी। फलस्वरूप अब तक जो ग्रन्थ मात्र लिख कर ही प्रसारित होते थे, वे अब छप कर आने लगे। कैक्सटन तो साहित्य को सर्वजन सुलभ बनाना चाहता था; और सम्भ्रान्त जनों के आगे गम्भीर विषय पर पुस्तकें उपस्थित करने में भी उसकी रुचि थी। उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन था, मैलोरी का 'मार्टेड आर्थर' जिसमें सम्राट् आर्थर के जीवन के अनेक साहसिक एवं मायावी आख्यान थे।

चौदहवीं शताब्दी में ही अंग्रेजी में नाट्य–लेखन और प्रदर्शन को प्रोत्साहन मिला। ईसाई–धर्माधीशों ने अपनी विचारधारा के प्रचार के लिए, 'मिस्ट्री' (रहस्यांक़ी), 'मॉरेलिटी' (आचारांकी) और 'मिरैकिल्स' (चमत्कारांकी) संज्ञाओं की रचनाएँ प्रकाशित कीं। जन–साधारण में, सद्–असद् का विवेक जगाने के लिए, उन्होंने 'एवरीमैन' (हर आदमी) नाम की नाटकीय श्रृंखला का प्रवर्त्तन किया। इन धार्मिक नाटकों के प्रदर्शन, पहले गिरजाघरों में ही हुआ करते थे; लेकिन जब इनकी श्रृंखला चली तो गिरजाघर के मंच उन्हें छोटे लगने लगे। तब उन्होंने गिरजाघर के बाहर, लेकिन उनके परिसर में ही नाटकों की व्यवस्था करायी। इन बाहर वाले नाटकों में जब धर्माधिकारियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की आलोचना होने लगी, तो रंग–कर्मियों को परिसर से बाहर निकाल दिया गया। यह दुर्योग नाट्य–कला के लिए बहुत बड़ा संयोग बन गया और जन–रंगमंच का विकास हुआ, जिससे नाट्य–कला के अनेक नये रूपों का जन्म हुआ।

पन्द्रहवीं शताब्दी का अन्त होते–होते यूरोपीय पुनरुत्थान एवं नवजागरण के प्रभाव इंग्लैण्ड में स्पष्ट दिखाई देने लगे एवं सेंट पाल्स् स्कूल के प्रधानाचार्य जॉन कॉलेट तथा अन्य प्रबुद्ध लोगों ने ग्रीक और लैटिन भाषाओं एवम् साहित्यों का अध्ययन अनिवार्य कर दिया। नव्य चेतना की प्रेरणा से अंग्रेजी के अध्ययन में भी रुचि बढ़ी, और उसका मध्यकालीन स्वरूप, आधुनिक रूप ग्रहण करने लगा। सर थॉमस वायट, और अर्ल ऑफ सरे ने इटली के चतुर्दशपदीय काव्य–रूप सॉनेट एवं अमित्राक्षर छन्द के प्रयोग आरम्भ किये। ये दोनों ही राज्यसभा के सदस्य थे और उन्हीं के साथ अंग्रेजी साहित्य ने धार्मिक प्रभाव से मुक्त होकर, राजाश्रय ग्रहण किया। इन दोनों की काव्य रचनाएँ, 'टइटिल्स् मिसलैनी' नामक संकलन में प्रकाशित हुई थीं।

नवजागरण की चेतना महारानी एलिज़ाबेथ के शासनकाल में चरमोत्कर्ष पर पहुँची। एलिज़ाबेथ के युग को अंग्रेजी साहित्य का स्वर्णकाल भी कहा जाता है। एलिज़ाबेथ के विलक्षण व्यक्तित्व से प्रेरणा लेकर, उस काल में अनेक नई साहित्यिक विधाओं का सूत्रपात हुआ एवं कालजयी रचनाएँ लिखी गयीं। उस काल के साहित्यकारों में सर फिलिप सिडनी का नाम सर्वप्रथम आता है, जो राज्यसभा के सदस्य होने के साथ–साथ बड़े कुशल योद्धा, राजनयिक और विद्वान भी थे। उन्होंने धार्मिक पुरुषों द्वारा काव्य पर हो रहे आक्रमण के विरोध में कविता की सुरक्षा के लिए एक निबन्ध लिखा था। इसके अतिरिक्त सॉनेट छन्द में लिखित 'एस्ट्रोफेल एण्ड स्टेला' नाम का एक दुःखान्त प्रेमाख्यान भी लिखा था। उन्होंने एडमण्ड स्पेन्सर को उनकी साहित्यिक साधना के लिए विशेष रूप से प्रोत्साहित किया। स्पेन्सर की 'द फ़ेयरी क्वीन' एक लम्बी प्रतीकात्मक काव्य–कथा है, जिसमें सम्राट् आर्थर के अनेक प्रसंग संकलित हैं। सिडनी ने गद्य में 'आरकेडिया' नाम की स्वच्छन्दतावादी प्रेमकथा लिखी थी। जॉन लिली ने भी उसी काल में बड़ी ही आलंकारिक शैली में 'यूफुएस' नाम की गद्य में एक प्रेमकथा लिखी।

एलिज़ाबेथ का शासन काल नाट्यकला की दृष्टि से सर्वाधिक समृद्ध रहा है। इस संदर्भ में सबसे पहले थॉमस किड की 'दि स्पैनिश ट्रैजडी' का नाम आता है। उसके बाद क्रिस्टोफर मार्लो की 'तैम्बूरलेन दि ग्रेट (१५८७)' और 'दि ट्रैजिकल हिस्ट्री ऑफ डॉक्टर फॉस्टस् (१५८८)' आती हैं। इन नाटककारों ने वस्तुतः विलियम शेक्सपियर जैसी महान् प्रतिभा के लिए पृष्ठभूमि तैयार की।

विलियम शेक्सपियर (१५६४–१६१६) को सर्वाधिक प्रसिद्धि उनके दुःखान्त नाटकों, यथा 'ओथेलो', 'हैमलेट', 'मैकबेथ' और 'किंगलियर' के लिए मिली है। लेकिन उनकी सुखान्त रचनाएँ 'ट्वेल्थ नाइट', 'दि कॉमेडी ऑफ़ एरर्स', 'ऐज यू लाइक इट', आदि भी उत्कृष्ट हैं। उन्होंने एकल और श्रृंखलात्मक अनेक ऐतिहासिक नाटक भी लिखे हैं। वे जीवन को सुख–दुःखात्मक मानते थे। अतः उन्होंने अनेक दुःख–सुखान्त नाटक लिखे हैं। 'दि विन्टर्स टेल' में उन्होंने इसी मिलीजुली विधा का प्रयोग किया है। 'ए मिड समर नाइट्स ड्रीम' में स्वप्न–नाटक और गीत नाट्य की मिली–जुली शैलियों का प्रयोग है। उनकी सबसे अधिक विलक्षण रचना 'दि टैम्पेस्ट' है, जिसमें हम एक समग्र दृष्टि से युक्त स्थान, काल और कार्य के शास्त्रीय संकलनों का समुचित निर्वाह देखते हैं।

शेक्सपियर के समकालीन बेन जॉनसन (१५७२–१६३७) को हम शास्त्रीय आदर्शों का निर्वाह करते हुए, अनेक नाटकीय रचनाएँ प्रस्तुत करते हुए देखते हैं। उनकी 'वाल्पोन', 'एवरी मैन इन हिज ह्यूमर', 'दि ॲलकेमिस्ट' आदि में तत्कालीन जीवन की व्यक्तिगत एवं सामाजिक विद्रूपताओं की आलोचना है। उस काल में दुःखान्त एवं सुखान्त रचनाओं का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखन, अन्य साहित्यकारों ने भी किया।

एलिज़ाबेथ के शासन काल में कुछ गद्य आख्यान भी लिखे गये। जॉन लिली ने 'दि एनाटमी ऑफ़ विट' (१५७१) लिखा। सर फिलीप सिडनी ने 'आरकेडिया' (१५८०) लिखी। ये दोनों रचनाएँ चरवाहों के जीवन की साहसिक प्रेमकथाएँ हैं। थॉमस नैस ने 'दि अनफारचुनेट ट्रेवलर' (१५६४) में सम्राट् हेनरी अष्टम् के अनुचरों के साहसिक आख्यान, यथार्थवादी शैली में उपस्थित किये। ये सभी रचनाएँ गद्य–कथाएँ तो हैं, लेकिन इनमें उपन्यास जैसा विन्यास नहीं मिलता। उपन्यास की विधा बाद में विकसित हुई।

सन् १६०३ में एलिज़ाबेथ का निधन हुआ; और उसके बाद उनका चचेरा भाई स्काटलैण्ड का शासक जेम्स प्रथम के नाम से इंग्लैण्ड का सम्राट् बना। उसके शासन काल में पहले से चली आ रही नाट्य–लेखन की परम्परा और आगे बढ़ी। जॉन वेब्स्टर ने 'दि व्हाइट डेविल (१६०६–१२) और 'दि डचेस ऑफ मालफी' (१६१२–१३) उत्कृष्ट, प्रतिशोधात्मक दुःखान्त रचनाएँ लिखी। फ्रैंसिस ब्यूमाण्ट और जॉन फ्लेचर ने भी 'दि नाइट ऑफ़ बर्निंग पेस्टिल' जैसी अनेक हल्की–फुल्की सुखान्त रचनाएँ प्रस्तुत कीं। उस काल के कुछ और नाटककार थे; थॉमस मिडिल्टन, थॉमस डेकर और जॉन फोर्ड। इन्होंने हास्य–व्यंग्यात्मक प्रसंगों को लेकर अनेक सुखान्त नाटकीय रचनाएँ लिखीं। बेन जॉनसन ने भी इसी काल में कुछ हास्य–व्यंग्यपरक नाटकीय रचनाएँ प्रकाशित कीं।

जेम्स प्रथम ने अंग्रेजी साहित्य को प्रोत्साहन देने में विशेष रुचि ली। उसी की प्रेरणा से सन् १६११ में 'बाइबिल' का प्रामाणिक अंग्रेजी पाठ प्रकाश में आया। इस प्रामाणिक पाठ ने अंग्रेजी के मौखिक तथा लिखित दोनों ही स्वरूपों को विशेष रूप से प्रभावित किया।

जेम्स प्रथम के शासनकाल के लेखकों में जॉन डन का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। उसने बीमारी, पाप और मृत्यु पर चिंतन करते हुए अनेक रचनाएँ लिखीं, जो कालान्तर में 'डिवोशन्स अपान इमरजेन्ट ऑकेज़न्स' (१६२४) में प्रकाशित हुईं। उसने अपने प्रारम्भिक जीवन में बड़ी ही आवेगात्मक प्रेम कथाएँ लिखी थीं। सन् १६१५ में उसने रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय से अपने को अलग कर, इंग्लैण्ड के अपने ईसाई सम्प्रदाय में दीक्षा ली। सन् १६१५ में इस सम्प्रदाय का वह पादरी भी बन गया। उसके बाद उसने ईश्वर को सम्बोधित बड़ी ही भावावेगपूर्ण धार्मिक रचनाएँ लिखीं। इसी धार्मिक–निष्ठा के साथ हम हर्बर्ट वान, रिचर्ड क्रैश आदि को धार्मिक कविताएँ लिखते हुए देखते हैं; लेकिन राजतंत्र का समर्थन करने वाले कवि इस काल में प्रेमकाव्य ही लिखते रहे। जॉन मिल्टन ने इसी काल में लिखना आरम्भ किया था और गद्य तथा छन्द–विधान दोनों में ही अनेक रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। मिल्टन को बड़ा लम्बा साहित्यिक जीवन मिला था।

सन् १६२५ में जेम्स प्रथम का निधन हुआ और उसका पुत्र चार्ल्स प्रथम सिंहासन पर बैठा। प्रारम्भ के कुछ वर्षों के बाद उसके समर्थक और विरोधियों के बीच संघर्ष आरम्भ हो गया। उसके समर्थक, जो राजतंत्र को जीवित रखना चाहते थे, कैवेलियर कहे गये। उनके विरोध में धार्मिक भावनाओं सें ओतः प्रोत और बड़े ही विशुद्धतावादी थे, उन्हें प्यूरिटन कहा जाता था। इन दोनों के बीच सन् १६४२ से बड़ा ही उग्र संघर्ष आरम्भ हो गया; और सन् १६४८ में सर ऑलीवर क्रॉम्वेल के नेतृत्व में विशुद्धतावादियों की विजय हुई। क्रॉम्वेल ने सन् १६४६ में चार्ल्स प्रथम की हत्या करा दी और प्रजातंत्र की स्थापना कर स्वयं शासक बन बैठा। विशुद्धतावादियों ने सन् १६४२ में संसद् के माध्यम से रंगशालाओं को प्रतिबन्धित कर दिया। विशुद्धतावादियों की धारणा यह थी कि नाटकीय रचनाएँ जनसाधारण को पथ–भ्रष्ट करती हैं। यह प्रतिबन्ध सन् १६६० तक चलता रहा, जब संसद् ने राजतंत्र को फिर से बहाल कर दिया।

विशुद्धतावादियों के प्रभाव में सर थॉमस ब्राउन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने रोचक गद्य शैली में, 'रैलीजियो मेडिची', (१६४२) ग्रन्थ लिखा, जिसमें अनेक विषयों पर बड़े ही चिंतन, मनन के बाद विचार प्रगट किये गये हैं। प्रजातंत्रीय काल की सर्वाधिक प्रसिद्ध रचनाएँ जेरेमी टेलर की 'होली लिविंग' (१६५०) और 'होली डाइंग' (१५५१) मानी जाती हैं।

विशुद्धतावादियों का शासन सन् १६६० में समाप्त हो गया, जब संसद् में राजतंत्र को फिर से स्वीकार कर चार्ल्स प्रथम के पुत्र को चार्ल्स द्वितीय के नाम से सिंहासन पर बिठा दिया गया। उसका शासन काल तो १६८५ तक ही चला; लेकिन १६६० से १७०० तक के काल को राजतंत्र के पुनरागमन का युग कहा जाता है।

प्रजातंत्र की वापसी के युग में ही जॉन मिल्टन ने, अपनी सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना 'पैरेडाइज़ लॉस्ट' (१६६७) उपस्थित की। इस महाकाव्य में उन्होंने बाइबिल का आदम और हव्वा की कहानी और शैतान को पराजित कर दिव्यशक्ति की विजय का आख्यान लिखा। इस काव्य ग्रन्थ में नरक, स्वर्ग और ईडेन उद्यान के बड़े ही मोहक शब्द–चित्र है। मिल्टन ने दूसरा पूरक महाकाव्य 'पैराडाइज़ रिगेन्ड' भी लिखा है।

सन् १६७४ में मिल्टन के निधन के बाद जॉन ड्रायडन को हम सर्वाधिक समर्थ साहित्यकार के रूप में देखते हैं। वे पहले विशुद्धतावादियों के साथ रहे थे; लेकिन बाद में उन्होंने राजतंत्र के प्रति अपनी निष्ठा जोड़ ली। एंग्लिकन सम्प्रदाय को छोड़कर वे रोमन कैथोलिक हो गये थे। इन राजनैतिक एवं धार्मिक परिवर्तनों की स्पष्ट छाप उनके अनेक ग्रन्थों में देखने को मिलती है। उनकी राजनीतिक व्यंग्यपरक रचना 'ऐब्सलॉम एण्ड ऐचिटाफॅल' (१६८१) में राजतंत्र के विरोधियों की भर्त्सना की गयी है। उन्होंने 'दि हाउण्ड ऐन्ड दि पैन्थर' (१६८७) में अपने रोमन– कैथोलिक हो जाने के औचित्य की विवेचना की है।

ड्रायडन, शेक्सपियर की स्वच्छन्दतावादी नाट्यकला के बड़े प्रशंसक थे और इसी को लेकर उन्होंने एक समीक्षाग्रन्थ 'एन एस्से ऑफ़ ड्रामेटिक पोयजी' लिखा था। उन्होंने उसके बाद तुकान्त पंक्तियों और द्विपदीय छन्दों में कई वीर रसात्मक, दुखान्त नाटकीय रचनाएँ भी लिखी थीं, यथा– 'दि कांक्वेस्ट ऑफ ग्रेनेडा' (१६७०–१६७१) और 'औरंगजेब' (१६७५)। उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना 'ऑल फॉर लव' (१६७७) मानी जाती है। उन्होंने एक सुखान्त नाटक 'मैरिज अल मोड' (१६७२) भी लिखा था।

चार्ल्स द्वितीय के शासनकाल में दो प्रकार के नाटकों, 'कॉमेडी ऑफ मैनर्स' (आचार प्रधान सुखान्त) और 'हीरोइक ट्रेजडी' (वीर रसात्मक दुःखान्त) रचनाओं को विशेष प्रोत्साहन मिला था। सुखान्त रचनाओं में विलियम विचरले की 'दि कन्ट्री वाइफ' (१६७५) तथा विलियम कांग्रीव की 'दि वे आफ दि वर्ल्ड' (१७००) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

राजतंत्र की पुनः स्थापना के युग में जॉन बनियन ने 'दि पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' (१६७८–१६८४) में एक ईसाई धर्मकथा बड़ी सरल भाषा में प्रतीकात्मक अर्थ के साथ उपस्थित की। सैमुअल पेपिज और जॉन एबेलिन ने प्रतिदिन के प्रसंगों को लेकर डायरियाँ लिखीं। पेपिज ने सन् १६६६ में लन्दन की आग, 'दि ग्रेट फायर ऑफ लण्डन', का बड़ा ही रोमांचक वर्णन उपस्थित किया है।

ऑगस्टन युग (१७००–१७५०) अंग्रेजी साहित्य के वर्ष १७०० ई० के बाद के वर्षों को ऑगस्टन युग कहा गया है। उस युग में हमें रोमन सम्राट् ऑगस्टन के शासन काल (ई०पूर्व २७ से ईसवी सन् १४) जैसी साहित्यिक विशिष्टता देखने को मिलती है। रोमन राज्य के उस काल के वरिष्ठ लेखक होरेस, ओविद, वर्जिल आदि माने जाते हैं। इन लेखकों ने तर्क और सामान्य बोध को लेकर अपनी रचनाएँ उपस्थित की थीं। यही प्रवृत्तियाँ इस युग के अंग्रेजी साहित्यकारों में देखने को मिलती हैं, जिन्होंने उस युग के साहित्यकारों का थोड़ा बहुत अनुसरण भी किया था। अंग्रेजी साहित्य के उस काल को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'नव–शास्त्रीयता युग' की संज्ञा भी दी गयी है।

अंग्रेजी साहित्य के इस युग की विशेषता इसकी व्यंग्य प्रधान रचनाएँ हैं। इस युग के व्यंग्यात्मक गद्य–लेखकों में जोनेथन स्विफ्ट और कवियों में एलेक्ज़ेण्डर पोप विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

स्विफ्ट को हम 'ए टेल ऑफ ए टब' में ईसाई धर्म की अनेक मान्यताओं की आलोचना करते हुए देखते हैं। अपनी रचना 'दि बैटिल ऑफ दि बुक्स' में उन्होंने अपने समय के धार्मिक व्याख्यानों की आलोचना की है। एक अन्य पुस्तक में उन्होंने अपने समय के साहित्यिक संघर्ष का मज़ाक बनाया है। उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'गूलिवर्स ट्रैवल्स' (१७२६) हैं, जिसमें उन्होंने राजाओं, दरबारियों और अध्यापकों की ढोंगी प्रवृत्तियों की बड़ी तीखी आलोचना की है।

समकालीन लेखक एलेक्जेण्डर पोप ने 'दि रेप ऑफ दि लॉक' (१७१२) में अपने समय के फैशन प्रिय लोगों के व्यवहार की आलोचना की है। 'दि इन्सियॅड' (१७२८–१७४३) में उन्होंने अपने युग के उन लेखकों पर व्यंग्य किया है, जो बड़ी ही नीरस पुस्तकें लिखा करते थे। उन्होंने 'ऐन एस्से ऑफ मैन' (१७३३–१७३४) तथा 'मॉरल एसेज़' (१७३१–१७३५) में, अति को छोड़कर मध्यम मार्ग अपनाने की सलाह दी है। 'मॉरल एसेज' में हम उन्हें स्त्री और पुरुषों की प्रकृति तथा धन के प्रयोग के सम्बन्ध में परामर्श देते हुए देखते हैं।

ज़ोज़ेफ ऐडिसन और सर रिचर्ड स्टील उस युग के प्रबुद्ध निबन्धकार थे। उनके निबन्ध 'दि ट्रैवलर' (१७०६–१७११) तथा 'दि स्पेक्टेटर' (१७११–१७१२) पत्रों में प्रकाशित हुए। इन दोनों लेखकों ने अपने समय के सामाजिक आचार–व्यवहार की आलोचना की तथा मध्यवर्गीय लोगों के जीवन में नैतिक आदर्शों और साहित्य में औदात्य की प्रतिष्ठा में सहायता दी। ऐडिसन की मनोरम गद्य शैली ने उस युग के अन्य लेखकों को भी प्रभावित किया।

अंग्रेजी में इन्हीं दिनों उपन्यास लेखन की परम्परा चली। इस साहित्यिक विधा का मूल रूप हम डैनियल डिफो की 'राबिन्सन क्रूसो' (१७१९) तथा 'मॉल फ़लैण्डर्स' (१७२२) जैसी रचनाओं में देखते हैं; लेकिन इनमें कथासूत्र का वह व्यवस्थित रूप नहीं है, जो इस साहित्यिक विधा की विशेषता है।

सैम्युअल रिचर्डसन की 'पामेला' (१७४०) को वास्तविक अर्थ में अंग्रेजी का पहला उपन्यास माना जाता है। यह पुस्तक नैतिकता की कुछ खास शैली में वकालत करती है। हेनरी फ़ील्डिंग ने 'पामेला', की आलोचना करते हुए 'शामेला' (१७४२) की रचना की थी। उनके 'टॉम जोन्स' (१७४६) को अंग्रेजी का श्रेष्ठ हास्य–विनोद पूर्ण उपन्यास कहा जाता है। टोबियस स्मॉलेट के 'दि ऐक्सपिडेशन ऑफ हम्फ्री क्लिंकर' (१७७१) को प्रभावपूर्ण उपन्यास स्वीकार किया गया है। लारेंस स्टर्न का 'ट्रिसट्रम शैण्डी' (१७६०–१७६७) में कथासूत्र तो नहीं है; लेकिन यह श्लिष्ट शब्दावली में मनोरम हास्य–वयंग्यपरक प्रसंगों की रचना है।

सैम्युअल जॉनसन को अपने रचनाकाल में हम अंग्रेजी साहित्य पर पूर्णतः शासन करते हुए देखते हैं। उनकी प्रसिद्धि विशेष रूप से बातचीत के कौशल के लिए थी, जिसमें अपने आलेखों की भाँति वह बड़े ही उग्र विचार प्रकट किया करते थे।

जॉनसन की साहित्यिक उपलब्धियाँ बड़ी ही विलक्षण हैं। इस संदर्भ में सबसे पहले उनकी 'डिक्शनरी ऑफ़ दि इंग्लिश लैंग्वेज' का नाम आता है: इसमें उन्होंने शब्दों की बड़ी ही विद्वतापूर्ण व्याख्याएँ उपस्थित की हैं और उनके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए बड़े ही उपयुक्त अवतरण दिये हैं। अपने दूसरे ग्रन्थ 'दि लाइव्ज ऑफ दि इंग्लिश पोयेट्स' (१७७८–१७८१) में उन्होंने ५२ कवियों की आलोचना उपस्थित की है; और इस प्रकार साहित्यिक समीक्षा को, साहित्य विधा के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने कुछ कविताएँ भी लिखी थीं, यथा– 'लन्दन' (१७३८) और "दि वैनिटी ऑफ ह्यूमन विशेज़' (१७४९)। अपनी एक अन्य गद्य रचना 'रैस्सेलस' (१७५९) में उन्होंने सरल मार्ग से आनन्द की खोज में तत्पर व्यक्तियों की बड़ी ही तीखी आलोचना की है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जॉन्सन के युग के लेखकों में सर्वप्रथम उनके मित्र गोल्डस्मिथ का नाम आता है। गोल्डस्मिथ ने 'दि विकार ऑफ वेक्फील्ड' (१७६६) उपन्यास की रचना की थी, जिसमें एक धर्मनिष्ठ व्यक्ति की अपनी तथा परिवार के सदस्यों की दुःखगाथा है। उनके काव्यग्रन्थ 'दि डेज़र्टेड विलेज' (१७७६) में शहरों के प्रसार के कारण, एक (अंग्रेजी) गाँव के उजड़ने का विवरण है। 'दि ट्रैवलर' में उन्होंने एक व्यक्ति के विश्व भ्रमण का विवरण लिखा है, जो अन्त में स्वदेश लौट आता है और इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अपने देश से अधिक सुख–सुविधा और आनन्द अन्य किसी देश में नहीं हैं। उन्होंने 'शी स्टूप्स टु कॉंकर' (१७७३) नाम का एक हास्य–विनोदपरक नाटक भी लिखा था। शेरीडन ने उसी काल में 'दि राइवल्स' (१७७५) और 'दि स्कूल फॉर स्कैण्डल' (१७७७) नाम के दो आचार–प्रधान, सुखान्त नाटक लिखे। एडमण्ड बर्क ने अपने समय के प्रशासन, इतिहास और सौन्दर्य–बोध पर निबन्धों की रचना की थी। उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'फिलॉसोफिकल इन्क्वायरी इन टु दि ओरिजिन ऑफ दि सबलाइम एण्ड ब्यूटीफुल' (१७५७) है जिसमें बाद में आने वाले कला–चिंतन का पूर्वाभास मिलता है। जेम्स वासवेल ने अपने मित्र जॉनसन की जीवनी 'दि लाइफ़ ऑफ़ सैम्युअल जॉनसनशर्करा ' (१७९१) लिखी, जिसमें उस युगपुरुष के वाणी के वर्चस् एवं व्यवहार के बड़े ही रोचक विवरण हैं।

पूर्व स्वच्छन्दतावादी डॉ० जॉनसन के बुद्धिनिष्ठ युग के अनन्तर हम भावना के शील का थोड़ा–थोड़ा जागरण देखते हैं। इस चेतना के साथ जो काव्य रचनाएँ लिखी गयीं, उन्होंने वस्तुतः नवशास्त्रीयतावाद के साथ स्वच्छन्दतावाद को जोड़ा। इस काल के कवियों में नैसर्गिक सुषमा के प्रति आकर्षण और व्यापक मानवीय सहानुभूति (जनसाधारण की समस्याओं के प्रति सहानुभूति) की अभिव्यक्ति मिलती है। जेम्स थामसन ने प्रकृति की क्षण–क्षण बदलती हुई शोभा को लेकर 'दि सीज़न्स' की रचना की, जिसमें हम यूरोप की चार ऋतुओं– बसन्त, ग्रीष्म, शरद् और शिशिर की मनोरम झाँकियाँ देखते हैं। थॉमस ग्रे ने अपने प्रसिद्ध शोक–काव्य 'एलेजी रिटेन इंन ए कन्ट्री चर्च–यार्ड' (१७५१) से कालजयी ख्याति अर्जित की है। विलियम कूपर की रचनाओं में हम प्राकृतिक सौन्दर्य का अभिनन्दन और शहरी जीवन की कृत्रिमता के प्रति अरुचि की अभिव्यक्ति देखते हैं। स्कॉटलैण्ड के राबर्ट बर्न्स ने अपने क्षेत्र की बोली में ग्रामीण चरित्रों के बड़े मनमोहक चित्र उपस्थित किये हैं। उनकी सबसे अधिक लोकप्रिय रचनाएँ 'अउल्ड लैंग सिने' (१७८८) और 'कोमिन थ्रो दि राइ' (१७६०) थीं। उस काल के एक और वरिष्ठ कवि विलियम ब्लेक थे। उन्होंने छन्द और गद्य दोनों ही विधाओं में लिखा है। उन्हें दिव्य–द्रष्टा कवि कहा जाता है। उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं– 'दि बुक ऑफ़ थेल' (१७८६), 'विजन्स ऑफ़ दि डाटर्स ऑफ़ ॲल्बियान' (१७६३) और 'दि फोर जोअस' (१७६७–१८०४)। उन्होंने अपनी गद्य रचना 'दि मैरिज ऑफ़ हैवेन एण्ड हेल' के लिए विशेष प्रशंसा पायी। उनके गीतों के दो संकलन 'सांग्स ऑफ़ इन्नोसेन्स' (१७८६) और 'सांग्स ऑफ़-इक्सपीरिएन्स' (१७६४) भी लोकप्रिय हुए थे।

स्वच्छन्दतावादी काव्य विलियम वर्ड्सवर्थ और सैम्युअल टेलर कॉलरिज के 'लिरिकल बैलेड्स' (१७६८) के साथ स्वच्छन्दतावाद का युग आरम्भ होता है। सन् १८०० में इसके दूसरे संस्करण की भूमिका में वर्ड्सवर्थ ने यह स्पष्ट किया कि क्यों वे ड्रायडन और पोप की परिनिष्ठित भाषा को छोड़कर, सामान्य जनों की भाषा में लिखते हैं तथा प्रतिदिन की घटनाओं को लेकर, विशेष रूप से ग्रामीण जीवन के, शब्दचित्र उपस्थित करते हैं।

वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज बहुत वर्षों तक साथ–साथ, पहले सॅमरसेट और फिर पश्चिमोत्तर इंग्लैण्ड के झील के जनपदों में पास–पास रहे थे। इन दोनों कवियों में प्रकृति के मनोरम और भयावह दोनों ही रूपों का वर्णन किया है। वर्ड्सवर्थ ने अपनी आत्मकथात्मक लम्बी कविता 'दि प्रिल्यूड'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१७६६–१८०५) में बाल्य जीवन की स्मृतियों और उस आयु की विशेषताओं का बड़ा प्रभावपूर्ण वर्णन उपस्थित किया है। सन् १८५० में उन्होंने अपनी इस रचना का संशोधित रूप प्रकाशित किया था।

कॉलरिंज की कल्पनात्मक दृष्टि को उजागर करने वाली रचनाओं में 'कुबलाखान' (१७६७), 'कृष्टावेल' (१८००) और 'दि राइम ऑफ़ ऐन्शिएन्ट मैरिनर' (१७६८) मानी जाती हैं।

स्वच्छंदतावादी युग के कवियों में इसके बाद लॉर्ड बायरन का नाम आता है। उन्हें अपनी अर्ध–आत्मकथात्मक काव्य, रचना 'चाइल्ड हैराल्ड्स प्रिल्ग्रिमेज' (१८१२–१८१८) से विशेष प्रसिद्धि मिली। मुक्तक कविताओं के अतिरिक्त उन्होंने कुछ छोटे कथात्मक–काव्य भी लिखे थे, यथा– 'दि प्रिजनर ऑफ शिलान', 'डॉन जुआन' आदि। उन्होंने कई नाटक भी लिखे थे, जो यदा कदा मंच पर प्रदर्शित हुए। उन्होंने विद्रोही, दुस्साहसिक तथा परम्परागत रूप से निंदनीय समझे जाने वाले पात्रों के, चरित्रों के चित्रण में विशेष रुचि ली थी; अतः उन्हें प्रतिनायक (एन्टी–हीरो) की संकल्पना का जनक भी कहा जाता है।

स्वच्छंदतावादी कवियों में 'परसी बिशे शेली' को उनके आदर्शनिष्ठ, मानवतावादी और विद्रोही प्रवृत्तियों को लेकर विशेष ख्याति मिली है। उन्होंने उच्च कोटि के गीति–काव्य के अतिरिक्त कई नाटक भी लिखे थे, जिनमें 'प्रोमिथिएस अनबाउन्ड' (१८२०) विशेष प्रसिद्ध है, जिसमें उन्होंने मानव कल्याण के लिए तत्पर विद्रोही व्यक्तित्व का अभिनन्दन किया है। यूनानी नाटककार एस्काइलस ने तो प्रोमिथिएस को बन्दी दिखाया था, लेकिन शेली ने उसे बन्धन मुक्त रूप में प्रदर्शित किया है।

जॉन कीट्स ने इसी काल में सौन्दर्यानुभूति, स्नेहभावना और जीवन की क्षणभंगुरता को लेकर बड़ी ही मर्मस्पर्शी रचनाएँ लिखीं। उनके पहले काव्य संकलन (१८१७) में उनका प्रसिद्ध सॉनेट 'ऑन फर्स्ट लुकिंग इन्टु चैपमैन्स होमर' है तथा दूसरे काव्य संग्रह (१८१८) में उनकी कालजयी कविता "इम्डीमियन" है। क्षय रोग से पीड़ित होते हुए भी वे बराबर लिखते रहे। उन्हें अपने प्रेम प्रसंग में निराशा झेलनी पड़ी, फिर भी उन्होंने 'ऑन ए ग्रिसियन अर्न', 'टु ए नाइटिंगेल', 'लाबेल दॉम सॉय मर्सी', 'दि ईव ऑव सेन्ट ऐग्निस' आदि अनेक कालजयी सुन्दर भावनात्मक रचनाएँ प्रस्तुत कीं। सन् १८२१ में मात्र २५ वर्ष की आयु में उनका निधन हो गया। उनके आलोचकों ने कालान्तर में उन्हें शेक्सपियर जैसी काव्य प्रतिभा से सम्पन्न स्वीकार किया।

स्वच्छंदतावादी गद्य रचनाएँ वह युग निबन्ध, उपन्यास, साहित्यालोचन एवं पत्र–पत्रिकाओं की दृष्टि से भी बड़ा ही समृद्ध रहा। निबन्धकारों में थॉमस दि क्विन्सी, विलियम हैज़लिट् और चार्ल्स लैम्ब ने विशेष ख्याति अर्जित की। दि क्वेन्सी का आत्मकथात्मक लेखन, 'कन्फ़ेशन्स ऑफ़ ऐन इंग्लिश ओपियम ईटर' (१८२१), उस युग के व्यक्तिपरक निबन्धों का बड़ा ही अच्छा संकलन है। हैज़लिट् के निबन्ध बड़े ही विद्वतापूर्ण हैं। उन्होंने शेक्सपियर तथा उनके समकालीन नाटककारों पर बड़े ही विलक्षण आलोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं। लैम्ब को हम ऊष्मा से परिपूर्ण हास्य–व्यंग्य परक निबन्धों की रचना करते हुए देखते हैं। उनके दो संकलन 'एसेज ऑफ ईलिया' (१८२३) और 'लास्ट एसेज ऑफ ईलिया' (१८३३) प्रकाशित हुए।

उस युग की अन्य गद्य रचनाओं में भी हम आत्मानुभूति का प्रकाशन देखते हैं। वर्ड्सवर्थ की बहिन डोरोथी के लिखे हुए बड़े ही रोचक संस्मरण प्राप्त होते हैं। उनके भाई जब कॉलरिज के साथ झील–जनपद में रह रहे थे और 'लिरिकल बैलेड्स' पर कार्य कर रहे थे, उनके बड़े ही रोचक विवरण लिखे हैं। उनके इन लेखों में काव्य की रचना प्रक्रिया का मोहक वर्णन मिलता है।

स्वच्छंदता के उस युग में कई संत्रास से भरे उपन्यास भी लिखे गये थे। उनके अनगढ़ विधान के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण, उन्हें 'गाथिक उपन्यास' भी कहते हैं। उनमें कथानक के रूप में प्रेतात्माएँ और लोकातीत घटनाएँ मिलती हैं। होरेस वालपोल के 'दि कासिल ऑफ ओर्ट्रेन्टो' (१७६४) को पहला गॉथिक उपन्यास कहा जाता है। शेली की पत्नी मैरी शेली ने भी 'फ्रंकेनस्टीन' शर्करा (१८१८) नाम का एक ऐसा ही उपन्यास लिखा था।

उस युग में सामाजिक उपन्यासों की रचना जेन ऑस्टिन ने की। उन्होंने अपनी 'प्राइड एण्ड प्रेज्यूडिस' (१८१३) और 'एम्मा' (१८१६) आदि में एक तो छोटे शहरों के मध्यमवर्गीय जीवन का चित्रण किया है; और दूसरे नारी की स्वतंत्र अस्मिता और उसके वाक्-कौशल की प्रतिष्ठा की है। सर वाल्टर स्कॉट ने उन्हीं दिनों स्कॉटलैण्ड के पर्वतीय प्रदेशों, विशेष रूप से एडिनबरा को लेकर, वास्तविक अर्थ में ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की थी; उन्हें 'वैवरली' उपन्यास' कहा जाता है। सन् (१८३२) में स्कॉट के निधन के बाद स्वच्छंदतावाद का वह युग समाप्त होता है।

विक्टोरिया युग महारानी विक्टोरिया ने तो वैसे १८३७ में शासन भार सँभाला, लेकिन उनके युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों का आरम्भ १८३२ से ही हो जाता है; और उनके सम्पूर्ण शासनकाल १६०१ तक चलता है। उनके शासन काल में आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से बड़े परिवर्तन हुए। अंग्रेजी साम्राज्य इस विशाल विश्व के लगभग एक चौथाई भाग में विस्तृत हो गया; औद्योगिक क्रान्ति हुई; रेल यातायात आरम्भ हुआ; नहरों का जाल बिछा; देश-विदेश में व्यापार की वृद्धि हुई; विज्ञान तथा तकनीक के क्षेत्रों में बड़ी प्रगति हुई; मध्यमवर्ग के लोगों की संख्या बढ़ी; शिक्षा का विशेष रूप से प्रसार हुआ और बहुत बड़ी संख्या में लोगों को प्रजातंत्र में मतदान का अधिकार मिला। इस सारी समृद्धि के होते हुए भी गरीबी की रेखा के नीचे के लोगों की संख्या बढ़ी थी। उस युग के एक अत्यन्त प्रभावशाली प्रधानमंत्री बेंजामिन डिज़रैली ने विक्षुब्ध होकर कहा था कि इंग्लैण्ड में दो जातियाँ है; एक अमीर, दूसरी गरीब।

चार्ल्स डारविन ने उसी युग में अपना महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'दि ओरीजिन ऑफ़ स्पिसीज़' (१८५६) प्रकाशित किया। उन्होंने बाइबिल की सृष्टि के आरम्भ की अवधारणा का खण्डन किया था, और कहा था कि जीवन की हर प्रजाति किसी पूर्व प्रजाति का विकसित रूप है। उन्होंने बन्दर को मनुष्य का पूर्व पुरुष कहा था। उस युग में और भी वैज्ञानिक हुए थे। उन्होंने जो विचार प्रगट किये थे उनके आधार पर यह कहा जाने लगा कि पारम्परिक जीवन मूल्य अब मनुष्य के जीवन को अनुशासित नहीं कर सकते।

उस युग के प्रारम्भिक काल में विशेष रूप से उपन्यास कला का विकास हुआ। चार्ल्स डिकेन्स ने अनेक वैविध्यपूर्ण प्रकृति के चरित्रों को लेकर उपन्यासों की रचना की। ऑलिवर ट्विस्ट (१८३७-१८३६) तथा 'डेविड कॉपर फील्ड', (१८४६-१८५०) में उन्होंने क्रूर प्रकृति के तथा विचारहीन बुजुर्गों द्वारा बच्चों के जीवन को अत्यधिक कष्टमय बनाने की कहानियाँ लिखी हैं। अपने एक अन्य उपन्यास 'ब्लीक हाउस' (१८५२-१८५३) में उन्होंने उस युग की दुःखद परिस्थितियों का विवरण दिया हैः न्यायालयों तथा धार्मिक व्यवस्था की आलोचना की है; तथा गरीबों की उपेक्षा के प्रति आक्रोश प्रगट किया है। विलियम मोकपीस थैकरे को भी हम दोहरे आख्यान को लेकर अनेक स्तर के चरित्रों के माध्यम से अपने समय की सामाजिक व्यवस्था का चित्रण करते हुए देखते हैं। उनका उपन्यास 'वैनिटी फेयर' उल्लेखनीय है।

उस युग में तीन ब्रॉन्टी बहनों- एमिली, चार्लट तथा ऐन ने बड़े ही प्रभावपूर्ण उपन्यासों की रचना की। उनके उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक यंत्रणाओं से त्रस्त नायक-नायिकाओं के चरित्रों का उद्घाटन हुआ है। शार्लट ब्रॉण्टी के 'जेन आयर' (१८४७) और एमिली ब्रॉण्टी की 'वुदरिंग हाइट्स' (१८४७) उस युग के श्रेष्ठ उपन्यास कहे जाते हैं। एमिली ने यार्कशायर के जंगली मोरों को लेकर उनके प्रति स्नेह प्रगट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हुए बड़ी ही विलक्षण कविताएँ भी लिखीं।

उस युग में अनेक भिन्न प्रकार की गद्य रचनाएँ भी की गयीं। उनमें थॉमस कार्लाइल की 'सार्टर रिजार्ट्स' (१८३३–१८३४) 'हीरोज़ एण्ड हीरो–वर्शिप' (१८४१) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने उन्हीं दिनों समाज और व्यक्ति के सम्बन्धों की विवेचना करते हुए 'ऑन लिबर्टी' (१८५६) ग्रन्थ की रचना की।

विक्टोरिया युग के उत्तरार्द्ध में पद्य और गद्य दोनों ही प्रकार के साहित्य में हम निराशा का स्वर मुखर होते हुए देखते हैं। अल्फ्रेड टेनीसन उस समय के सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने १८३०–१८३२ में अपने दो काव्य संकलन प्रकाशित किये थे, लेकिन उन्हे विशेष ख्याति 'मार्टे द आर्थर' (१८४२) के प्रकाशन से मिली थी। सन् १८५० में उन्होंने अपने शोकोक्ति–गीतों का संग्रह 'इन मेमोरियम' प्रकाशित कराया थाः उसमें उन्होंने अपने मित्र 'आर्थर हैलम' (१८११–१८३३) के निधन को लेकर अपनी मनोव्यथा को वाणी दी थी। उसी वर्ष उन्हें इंग्लैण्ड का राजकवि बनाया गया। उसके बाद लिखी गयी उनकी रचनाओं में 'इडिल्स ऑफ़ दि किंग' (१८५६) को सर्वाधिक प्रसिद्धि मिली। उनका काव्य लेखन १८६२ में उनके निधन तक चलता रहा।

राबर्ट ब्राउनिंग उस युग के एक और प्रमुख कवि थे। उन्हें अपने नाटकीयप्रकल्पों के लिए विशेष प्रसिद्धि मिली। उनकी रचनाओं में वास्तविक या काल्पनिक चरित्र का बड़ा ही प्रभावपूर्ण चित्रण आत्मकथात्मक शैली में हुआ है। उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'दि रिंग एण्ड दि बुक' (१८६८–१८६६) है। उसमें इटली में हुए एक हत्या के प्रसंग को लेकर हम १२ व्यक्तियों को अपने–अपने दृष्टिकोण से विचार व्यक्त करते हुए देखते हैं। उनकी पत्नी एलिज़ाबेथ बैरेट ब्राउनिंग भी कवयित्री थीं। उन्होंने प्रेम की भावना को लेकर जो काव्य रचनाएँ लिखीं थीं, वे 'सॉनेट्स फ्राम द पुर्तगीज़' (१८५०) में प्रकाशित हुईं। मैथ्यू आर्नल्ड की प्रसिद्धि तो विशेष रूप से उनके समीक्षा ग्रन्थों के लिए थी; लेकिन उन्होंने समय–समय पर कुछ काव्य रचनाएँ भी लिखीं थीं, 'द स्कालर जिप्सी', (१८५३), 'डोवर बीच' (१८६७) आदि। उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'कल्चर एण्ड ऐनार्की' (१८६६) मानी जाती है, जिसमें संस्कृति, धर्म, राजनीति आदि से सम्बन्धित निबन्धों का संकलन है।

जेरार्ड मैनले हाप्किंस ने उस युग में अपनी विलक्षण काव्य रचनाओं के लिए ख्याति अर्जित की थी। वे धर्माधिकारी थे और उन्होंने प्रयोगशील धार्मिक कविताएँ ही लिखी थीं। उन रचनाओं को उनकी असामान्य शब्द–योजना एवं शब्द–चित्रों के लिए प्रसिद्धि मिली। उनकी दो छोटी काव्य रचनाएँ, 'पांइड ब्यूटी' और 'विन्डहोवर' विशेष रूप से सराही गयीं। जार्ज मेरीडिथ ने भी अपने सॉनेटों का एक संकलन 'मॉडर्न लव' (१८६२) प्रकाशित किया था। कथाकार थॉमस हार्डी ने भी बड़ी प्रभावपूर्ण कविताएँ लिखी थीं।

जार्ज मेरीड़िथ ने उपन्यासकार के रूप में विशेष ख्याति अर्जित की। अपने उपन्यासों 'दि आर्डियल ऑफ रिचर्ड फेरवेल' (१८५६) तथा 'दि इगोइस्ट' (१८७६) में उन्होंने भावना को लेकर अपने चरित्रों की विलक्षण अस्मिता को उद्घाटित किया। जार्ज इलियट (मूल नामः मेरी एन एवन्स) ने सामाजिक और नैतिक समस्याओं को लेकर अनेक उपन्यासों की रचना की थी, जिनमें 'मिडिल मार्च' (१८७१–७२) सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उस युग के उत्तरार्द्ध में थॉमस हार्डी के उपन्यास आते हैं, जो एक काल्पनिक प्रदेश 'वेसेक्स' के बड़े ही कष्टमय जीवन के चित्र उपस्थित करते हैं। उनके प्रसिद्ध उपन्यासों में 'फ़ार फ़्राम दि मैडिंग क्राउड', 'मेयर ऑफ कैस्टरब्रिज', 'रिटर्न ऑफ द नेटिव' 'टेस' तथा 'जूड द आब्सक्योर' हैं।

विक्टोरिया के शासन काल में अंग्रेजी साम्राज्य का विशेष विस्तार हुआ था और उसने साम्राज्यवादी अहम् भी जगाया था। रुडयर्ड किप्लिंग इसी भावना से ओतःप्रोत साहित्यकार थे। उन्होंने ही कहा था, 'पूर्व, पूर्व है और पश्चिम, पश्चिम; ये दोनों कभी मिलेंगे नहीं' (वेस्ट इज़ वेस्ट एण्ड ईस्ट इज़ ईस्ट, एण्ड नेवर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द ट्वेन शैल मीट)। उन्हें विशेष प्रसिद्धि बच्चों के लिए लिखी गयी कहानियों के लिए मिली थी, यथा– 'दि जंगल बुक्स' (१८६४), 'किम' (१६०१) और 'द जस्ट सो स्टोरीज' (१६०२)। उन्हें १६०७ में साहित्य के लिए नोबेल पुरस्कार भी मिला।

उस युग के अन्तिम चरण में कुछ सुखान्त नाटकीय रचनाएँ भी लिखी गयीं। ऑस्कर वाइल्ड ने अनेक चरित्र प्रधान कामदी रचनाएँ लिखीं, यथा– 'लेडी विन्डरमियर्स फ़ैन' (१८६२), 'दि इम्पार्टेन्स ऑफ़ बीइंग अर्नेस्ट' (१८६५) आदि। जार्ज बनार्ड शॉ ने भी उसी युग में लिखना आरम्भ किया था, यथा– 'आर्म्स एण्ड दि मैन' (१८६४)। सर आर्थर विंग पिनेरो ने भी अनेक कामदियाँ तथा अतिनाटकीय रचनाएँ प्रकाशित कीं। उनकी 'दि सेकेण्ड मिसेज़ टैनक्वीरे' (१८६३) तथा सामाजिक नाटक विशेष रूप से प्रसिद्ध हुए।

सन् १६०१ में विक्टोरिया के निधन, और १६१४ में प्रथम विश्व युद्ध के आरम्भ तक अंग्रेजी साहित्य में हम विशेष सक्रियता देखते हैं। उपन्यासकारों में आर्नल्ड बेनेट की, 'दि ओल्ड वाइव्ज़ टेल' (१६०८) को विशेष प्रसिद्धि मिली। उनके उपन्यासों में हम मध्य इंगलैण्ड के छोटे शहरों के मध्यवर्गीय जीवन की विरसता का चित्रण देखते हैं। एच०जी० वेल्स ने 'दि वार ऑफ वर्ल्डस्' (१८६८) से विज्ञानपरक साहित्य आरम्भ किया और इस काल में अपने अनेक वैज्ञानिक उपन्यास प्रकाशित किये। 'दि टाइम मशीन' उनकी इस कोटि की सर्वोत्तम रचना कही जाती है। उन्होंने विश्व का इतिहास भी लिखा था। बर्नाड शॉ ने इस युग में सामाजिक मूल्यों की बड़ी तीखी आलोचना करने वाले अनेक नाटक लिखे, यथा– 'मेज़र बारबरा' (१६०५), 'दि डाक्टर्स डाइलमॉ' (१६०६)। उन्होंने कई ऐतिहासिक नाटक भी लिखे, यथा– 'द सेण्ट जोन', 'सीज़र एण्ड क्लियोपेट्रा' आदि। उनका एक पूर्व–आदिकालीन नाटक 'बैक टु मेथ्यू सेलाह' भी बड़ा प्रसिद्ध है। उन्होंने अपने नाटकों के बड़े ही विस्तृत प्राक्कथन लिखे थे। समय–समय पर उन्होंने वैचारिक गद्य की भी रचना की थी। अपने एक ग्रन्थ में उन्होंने इब्सन के नाट्य सिद्धान्तों का अध्ययन उपस्थित किया है।

उस युग के कथाकारों में पोलैण्ड में उत्पन्न हुए जोज़ेफ कॉनरैड का नाम सबसे पहले आता है। 'लार्ड जिम' (१६००) में उन्होंने एक अंग्रेज के युवाकाल में किये गये कायरतापूर्ण कार्य के उपरान्त अपने स्वाभिमान को फिर से प्रतिष्ठित करने की लम्बी कहानी लिखी है। 'हार्ट ऑफ़ डार्कनेस' (१६०२) में उन्हें हम आधुनिक–बोध को अभिव्यक्ति देते हुए देखते हैं। गाल्सवर्दी ने इसी काल में अनेक यथार्थवादी नाटकों तथा उपन्यासों की रचना की। उनका तीन खण्डों में प्रकाशित उपन्यास 'दि फारसाइट सागा' (१६०६–१६२१) एक अंग्रेज परिवार की अनेक पीढ़ियों की कहानी कहता है। इसी परिवार को लेकर उन्होंने और भी कई उपन्यास और कहानियाँ लिखी थीं। ई०एम० फॉस्टर ने उन्हीं दिनों ईमानदारी और सहनशीलता को महत्त्व देते हुए 'ए रूम विद ए व्यू' (१६०८), 'हावर्ड्स एण्ड' (१६१०), 'ए पैसेज टु इण्डिया' (१६२४) आदि उपन्यास प्रकाशित किये। उन्होंने एक निबन्ध 'आस्पेक्ट्स् ऑफ़ दि नावेल' (१६२७) भी लिखा। फोर्ड मैडाक्स फोर्ड ने 'दि गुड सोल्जर' (१६१५) की रचना की, जिसमें दो सम्पन्न दम्पतियों की कहानी के माध्यम से उच्च वर्ग के जीवन की पतनशील प्रवृत्तियों का विवरण दिया गया है।

प्रथम विश्व युद्ध, जो सन् १६१८ में समाप्त हुआ, के समय तक के कवियों में रूपर्ट ब्रुक, जॉन मैसफील्ड, वाल्टर डे ला मेयर और जॉन ड्रिंकवाटर के नाम आते हैं। रूपर्ट ब्रुक ने प्रथम विश्व युद्ध के अपने अनुभवों को लेकर, जिसमें मात्र २८ वर्ष की अवस्था में उनका निधन हो गया था, बड़ी मर्मस्पर्शी काव्य रचनाएँ लिखीं। उसी युद्ध के जनसंहार और त्रासद विनाश के अनुभवों को लेकर विलफ्रेड ओवेन, सी सीगझाइट, सैसून और आइजक रोजेनबर्ग ने भी बड़ी सशक्त कविताएँ लिखीं।

दो महायुद्धों के बीच का इतिहास प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति कें अनन्तर हम अंग्रेजी की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय वस्तु और अभिव्यंजनाविधान में बड़े महत्त्वपूर्ण परिवर्तन देखते हैं। कवियों की रचनाओं में उनकी अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। इस संदर्भ में टी०एस० इलियट की कुछ रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, यथा 'दि वेस्टलैण्ड' (१६२२), 'दि हालो मैन' (१६२५) आदि। उन्होंने अपनी पहली कविता में अपने चारों ओर की भूमि की अनुर्वरता का वर्णन करने के अनन्तर वृहदारण्यक उपनिषद् का एक आख्यान उपस्थित किया है, उसके माध्यम से समाधान की खोज की; और फिर शान्तिपाठ के साथ उसे समाप्त किया। उस युग के कवियों में डब्ल्यू०एच० ऑडेन, स्टीफेन स्पेंडर आदि को हम जीवन के नये मूल्यों की खोज में तत्पर देखते हैं। अंग्रेजी के अनेक साहित्यकारों, यथा स्टीफेन स्पेन्डर, डब्ल्यू०एच० ऑडेन तथा सेसिल डे लेविस आदि ने अपने उदार राजनीतिक आदर्श को व्यक्त करने के साथ ही तत्कालीन समाज में व्याप्त अन्याय और असमानता की आलोचना की।

डॉयलान थॉमस इस काल में वेल्श के सबसे बड़े कवि थे। उन्होंने अपनी गीति रचनाओं में प्रेम की भावना व्यक्त करते हुए बड़े विशद् बिम्बों की रचना की है। उन्होंने समय–समय पर कहानियाँ और निबन्ध भी लिखे। उनके एक नाटक "अंडर मिल्क वुड" (१६५४) को विशेष प्रशंसा मिली।

उस कालावधि के उपन्यासकारों में डी०एच० लॉरेन्स का नाम सबसे पहले आता है। उन्होंने स्त्री–पुरुष सम्बन्धों को लेकर बड़ी स्वच्छन्द मनोवृत्ति से 'वुमैन इन लव' (१६२०), 'लेडी चैटरलेज़ लवर' (१६२८) आदि उपन्यासों की रचना की। जेम्स ज्वायस ने अनेक उपन्यासों के साथ एक बड़ा वृहद् उपन्यास 'यूलिसीज़' (१६२२) लिखा जिसमें मात्र २४ घण्टों की घटनाओं का विवरण सामान्य बोलचाल की भाषा में हैः यूनान का यूलिसीज तो २४ वर्ष बाद जब अपने घर लौटा था, तो अपनी पत्नी को अपना ही पाकर विस्मित हुआ था; लेकिन इसका नायक तो २४ घण्टे की त्वरा के साथ गतिशील घटनाक्रम के बाद, अपनी पत्नी को अपना ही देखकर चकित हो उठा है।

ज्वायस ने अपने इस उपन्यास में मनोजगत् के चेतना–प्रवाह का जैसा वर्णन किया है, कुछ वैसा ही वर्णन हम वर्जीनिया वुल्फ के उपन्यासों में देखते हैं। उनके कुछ उपन्यास हैं, 'नाइट एण्ड डे' (१६१५), 'मिसेज डैलीवे' (१६२५), 'टु द लाइट हाउस' (१६२७), 'द वेव्स' (१६३१)। उनकी ही तकनीक का प्रयोग हम डोरोथिन रिचर्डसन को 'प्वाइंटेड रूट्स' (१६१५) में देखते हैं। कैथीलीन मैन्सफील्ड ने अपने कई कहानी संग्रह यथा– 'ब्लिस' (१६२०) और 'दि गार्डेन पार्टी' (१६२३) प्रकाशित किये। रोजामॉन्ड लेहमैन ने 'इन्वीटेशन टु दि वाल्ट्ज़' (१६३२) और 'दि वेदर इन द स्ट्रीट्स' (१६३६) में अपनी मनोभावनाओं का बड़ा ही स्पष्ट उद्घाटन किया।

रेबेका वेस्ट ने पत्रकारिता में विशेष ख्याति प्राप्त करने के बाद कई उपन्यास भी लिखे। अपने पहले उपन्यास 'दि रिटर्न ऑफ दि सोल्जर' (१६१८) में फ्रांस में हुये युद्ध विभीषिका से बचे हुए लोगों की समस्याओं पर बड़ी गम्भीरता से विचार किया है। फोर्ड मैडाक्स फोर्ड ने भी चार उपन्यासों की एक माला 'परेड्स एण्ड' (१६२४–१६२८) प्रकाशित की। ग्राहम ग्रीन ने 'इंगलैण्ड मेड मी' (१६३५) और 'ब्रिटेन रॉक' लिखे।

उस युग में कुछ हास्य–व्यंग्य परक उपन्यास भी लिखे गए। एर्वलिन वॉऊ ने धनवान और फैशन परस्त लोगों के जीवन की हृदय–हीनता और व्यर्थ के क्रिया–कलापों के विवरण उपस्थित किये; उनके उपन्यासों 'वाइल्ड बॉडीज' (१६३०) तथा 'ए हैण्डफुल ऑफ डस्ट' में इसी प्रकार के प्रसंग हैं। आल्डस् हक्सले ने बहुत कुछ ऐसी ही जीवन दृष्टि लेकर 'क्रोम येलो' (१६२१), 'ऐन्टिक हे' (१६२३) और 'प्वाइंट काउन्टर प्वाइंट' (१६२८) उपन्यास लिखे थे। कालान्तर में हक्सले और वॉऊ ने भी जीवन के अन्धकारमय पक्ष का चित्रण करने वाले कुछ गम्भीर उपन्यास लिखे थेः हक्सले ने 'द ब्रेव न्यू वर्ल्ड' (१६३२), और वॉऊ ने 'ब्राइट शेड रिविजिटेड' (१६४५)। हक्सले ने अपने इस उपन्यास में भविष्य की ऐसी झलक दिखाई है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसमें विज्ञान ने मनुष्य की अस्मिता और उन्मुक्तता को कुंठित कर दिया है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद का साहित्य

भविष्य के जीवन के स्वरूप का काल्पनिक चित्रण हम इस काल के उपन्यासों में देखते हैं। जार्ज ऑर्वेल ने वैसे तो १९३० से ही लिखना आरम्भ कर दिया था, लेकिन उनके भविष्य के दुःस्वप्नों का चित्रण करने वाले उपन्यास 'एनीमल फार्म' (१९४५) और '१९८४' (१९४६) बाद में प्रकाश में आये। इन दोनों उपन्यासों में राजनीतिक तानाशाही से उत्पन्न होने वाले खतरों से सावधान किया गया है। सन् १९४५ में महायुद्ध की समाप्ति के बाद उपन्यासकारों की एक लम्बी परम्परा देखने को मिलती है, यथा– ऑडेन, ग्रीन, वॉऊ, लेहमैन आदि। फिलिप लार्किन ने भी दो उपन्यास 'जिल' (१९४६) और 'ए गर्ल इन विंटर' (१९४७) लिखे थे।

लार्किन को उसके बाद हम कवि के रूप में सक्रिय देखते हैं। लार्किन ने 'दि मूवमेन्ट' नाम के काव्य, आन्दोलन में सहयोग भी दिया था, जिसमें स्वच्छंदतावाद को नकार कर बोलचाल की भाषा में वाक्–कौशल के प्रदर्शन पर बल दिया गया था। इस आन्दोलन से सम्बन्धित लार्किन की काव्य रचनाएँ 'दि लेस डिसीव्ड' (१९५५) में प्रकाशित हुई थी। ऐलिजाबेथ जेनिंग्स ने भी इस आन्दोलन के प्रभाव को लेकर कुछ कविताएँ लिखी थीं। जेनिंग्स और लार्किन ने बाद में अपनी कविता का स्वर बदल दिया था।

स्टेवी स्मिथ ने अपना साहित्यिक जीवन 'नावेल ऑन येलो पेपर' (१९३६) से आरम्भ किया था। १९५० से १९६० के बीच उनकी काव्य रचनाओं के आठ संकलन प्रकाशित हुए थे, जिनमें एक का नाम 'नॉट वेविंग बट ड्राउनिंग' (१९५७) था। जॉन बेट्जेमन ने भी १९३० से ही लिखना आरम्भ किया था; लेकिन १९५० के बाद ही उन्हें गीतिकार के रूप में विशेष प्रसिद्धि मिली। सन् १९५८ में उनके गीतों का संकलन 'कलेक्टेड पोएम्स' प्रकाशित हुआ, जो १९६२ में और विस्तृत होकर प्रकाश में आया। उन्होंने 'समन्ड् बाइ बेल्स' (१९६०) पद्य में अपनी आत्मकथा भी प्रकाशित की थी।

सन् १९५० में कवियों का एक समुदाय पारम्परिक राजनीति, शिक्षा व्यवस्था और साहित्यिक प्रवृत्तियों के प्रति असंतोष तथा विद्रोह की भावना प्रगट करने लगा, जिन्हें 'एंग्री यंग मैन' (नाराज़ युवा पीढ़ी) का नाम दिया गया था। इन विद्रोही कवियों में जॉन ऑसबॉर्न, जॉन ब्रेन, किंग्सले एमिस और एलेन सीलिटो के नाम आते हैं। ऑसबॉर्न ने एक नाटक भी लिखा था, 'लुक बैक इन ऐंगर' (१९५६), जिसका नायक जिमी पोर्टर युवा श्रमिक के रूप में समाज की वर्ग व्यवस्था पर अपना आक्रोश प्रकट करता है। ब्रेन के 'रोम ऐट दि टॉप' (१९५७), एमिस के "लकी जिम" (१९५४) और सीलिटो के 'सैट्रडे नाइट एण्ड सण्डे मॉर्निंग' (१९५८) और 'दि लोनली मिस ऑफ़ दि लांग डिस्टेन्स रनर' (१९६१) सभी में श्रमिक–वर्ग या निम्न मध्यमवर्ग के नायकों में नयी चेतना के साथ सामाजिक व्यवस्था के प्रति अनादर का भाव है। महायुद्ध के फलस्वरूप अंग्रेजों के जन–जीवन में आये परिवर्तनों को लेकर सी०पी० स्नो ने अपने ग्यारह उपन्यासों की माला 'स्ट्रेन्जर्स एण्ड ब्रदर्स' (१९४०–१९७०) प्रकाशित की। उसमें उन्होंने विश्वविद्यालय एवं शासन व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों का वर्णन किया है। जॉन ले ली कैरे का 'द स्पाई हू केम इन फ्राम द कोल्ड' (१९६३) मूलतः तो जासूसी आख्यान है, लेकिन उसमें राजनीतिक शक्ति की क्रीड़ाओं का व्यापक प्रदर्शन भी है। एन्थेनी पावेल ने अपनी बारह उपन्यासों की शृंखला 'ए डान्स टु दि म्युज़िक ऑफ़ टाइम' (१९५१–१९७५) में महायुद्ध के बाद के मध्यवर्गीय जीवन का चित्रण किया है। डोरिस लेसिंग ने रोडेशिया में अपने पालन–पोषण, युद्ध के बाद के लन्दन के अनुभवों के और भविष्य के पूर्वाभास के बाद की संकल्पनाओं को लेकर पाँच उपन्यासों की माला, 'चिल्ड्रेन ऑफ़ वायलेन्स' (१९५२–१९६६) प्रकाशित की। 'द गोल्डेन नोट–बुक' (१९६२) में लेसिंग ने युद्ध के बाद स्त्रियों के जीवन में आये परिवर्तनों का वर्णन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया है। सामाजिक यथार्थवाद यद्यपि उस युग की प्रधान धारा थी, लेकिन कुछ लेखकों ने समानान्तर स्वच्छन्द कल्पना के संसार की भी रचना की। जे० आर० टोलकिन की रचना 'द लार्ड ऑफ दि रिंग्स' (१६५४–१६५५) में स्वच्छन्द कल्पना के चित्र हैं। इसी प्रकार इरिस मरडोक ने अपने बीस से अधिक उपन्यासों में यथार्थता के साथ स्वच्छन्द कल्पना और पौराणिकता को भी जोड़ दिया है।

नाट्य–जगत् में क्रिस्टॉफर फ्राई ने 'दि लेडीज नॉट फार बर्निंग' (१६४८) तथा टी०एस० इलियट ने 'द कॉकटेल पार्टी' (१६५०) में काव्य–नाटकों की परम्परा को फिर से लाने का प्रयास किया; लेकिन उन दिनों रंगमंच पर सामाजिक यथार्थवाद को विशेष प्रश्रय मिला। जॉन ऑस्बार्न, अर्नाल्ड वेस्कर, शेला डेलाने आदि इसी दिशा में अग्रसर हुए। उनके नाटकों में श्रमिक वर्ग के जीवन का चित्रण है। हेरॉल्ड पिंटर ने अपने नाटकों में सम्प्रेषण की कठिनाइयों को उजागर करने के लिए विराम और मौन के विशेष प्रयोग किये। उसके नाटकों में सैम्युअल बेकेट की 'थियेटर ऑफ़ दि एब्सर्ड' (अनर्गलता का रंगमंच) का प्रभाव भी दृष्टिगत होता है। इस संदर्भ में उसके नाटक 'द बर्थडे पार्टी' (१६५८), 'द केयर टेकर' (१६६०), तथा 'द होम कमिंग' (१६६५) उल्लेखनीय हैं।

सन् १६७० के बाद का साहित्य इस काल के पूर्व से ही प्रतिष्ठित उपन्यासकारों में ग्राहम ग्रीन की रचनाएँ 'द ऑनरेरी कौन्सल' (१६७३) और 'द ह्यूमन फ़ैक्टर' (१६७८) आती हैं। डोरिस लेसिंग ने मनोजगत् का उद्‌घाटन करते हुए 'ब्रीफ़िंग फ़ॉर ए डिसेन्ट इन्टू हेल' (१६७१) तथा 'मेम्वायर्स ऑफ़ ए सरवाइवर' (१६७५) लिखे थे। उन्होंने वाह्य–जगत् के क्रिया–कलापों को लेकर भी पाँच उपन्यासों की माला 'कैनोपस इन आर्गस आरकाइव्ज' (१६८१–१६८३) प्रस्तुत की। विलियम गोल्डिंग ने अपना पहला उपन्यास 'लार्ड ऑफ़ द फ्लाइज' (१६५४) प्रकाशित किया। इस काल में उनके 'डार्कनेस विज़िबल (१६७६), 'राइट्स ऑफ़ पैसेज' (१६८०), 'दि पेपर मैन' (१६८४) और 'क्लोज़ क्वार्टर्स' (१६८७) प्रकाशित हुए। सन् १६८३ में उन्हें साहित्य के लिए नोबेल पुरस्कार मिला।

सन् १६७० से १६८० के बीच साहित्य के क्षेत्र में 'मैजिक रियलिज़्म' (जादुई यथार्थवाद) का भी प्रसार हुआ। इस धारा के लेखकों का कहना था कि ऐहिक और अतिकाल्पनिक दोनों ही धारणाएँ नैसर्गिक रूप से प्रत्यक्षतः साथ–साथ चलती हैं। इस विचारधारा की विधा के लेखकों में एम्मा टनैन्ट, एञ्जेला कार्टर और सलमान रुश्दी के नाम आते हैं। इसी समय के कुछ और लोकप्रिय उपन्यासकार जूलियन बर्न्स, ए०एस० बॉयट, मार्टिन एमिस, मैलकॉम ब्रैडबरी, डेविड लॉज, रोज़ ट्रिसेन, मैरी वेसले, फेडवेलडन, ग्राहम, स्विफ्ट आदि हैं। इस कालावधि में ऐसे प्रकाशन गृहों का भी उदय हुआ, जो उन महिला कथाकारों की रचनाएँ प्रकाश में लाये जिन्होंने नारी की अस्मिता को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया।

सन् १६७० और १६८० के बीच के वरिष्ठ कवियों में डोनाल्ड डेवी, ज्याफ्रे हिल, फिलिप लार्किन और टेड ह्यूग्ज़ आते हैं। डेवी के काव्य रचनाओं के संकलन १६७२ और १६८३ में प्रकाशित हुए। हिल ने प्रायः धार्मिक और ऐतिहासिक विषयों पर लिखा है। उनकी लम्बी कविता 'दि मिस्ट्री ऑफ़ दि चैरिटी ऑफ़ चार्ल्स पेगुई' १६८३ में प्रकाश में आयी। लार्किन का अन्तिम काव्य संकलन 'हाई विन्डोज़' १६७४ में छपा। १६८४ में 'एक्वायर्ड राइटिंग' में उनके निबन्ध और लेख संकलित हुए। टेड ह्यूग्ज ने अपनी अधिकांश रचनाएँ जानवरों एवं नैसर्गिक शोभा को लेकर लिखीं। उनका पहला काव्य संकलन 'दि हॉक इन द रेन' (१६५७) था। उसके बाद उनके काव्य–संकलन 'क्रो पोएम्स' (१६७०–१६७१) तथा 'रिवर' (१६८३) छपे थे। उन्हें १६८४ में इंग्लैण्ड का राष्ट्रीय कवि बनाया गया। इस काल के तथा इसके बाद के कवियों में रोजर मैकग्राफ, ऐड्रियन टेनरी और ब्रायन पेटिन के नाम आते हैं, इन्हें 'लीवरपूल पोएट्स' के नाम से जाना जाता है। इनके समकालीन एवं पूर्ववर्ती कवियों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टेड वाकर, एन्ड्रयू मोशन, टोनी हैरिसन, क्रेगरेना, वेन्डीकोप आदि आते हैं।

नाट्य–जगत् में हेराल्ड पिण्टर इस काल में भी बड़े सशक्त और उत्तेजक नाटक लिखते रहे, यथा, 'नो मैन्स लैण्ड' (१६७५), 'विट्रेयल' (१६७८), 'माउन्टेन लैंग्वेज' (१६८८) आदि। टॉम स्टॉपर्ड बड़े ही मौलिक प्रसंगों को लेकर शाब्दिक और वैचारिक विलक्षणता का प्रदर्शन करते रहे। उनकी नाटकीय रचनाएँ हैं, 'रोजेन्क्रैन्ट्स् एण्ड गिल्डेन्सटर्न आर डेड' (१६६६), 'जम्पर्स' (१६७२), 'टेविस्टीज़' (१६७४), 'डर्टी लिनेन' (१६७६), 'दि रिअल थिंग' (१६८२) आदि। महायुद्ध के बाद की सामाजिक विकृतियों को लेकर डेविड हेयर ने 'रैकिंग् डेमन' (१६६०), 'मरमरिंग जजेज़' (१६६१) और 'दि ऐब्सेन्स ऑफ़ वार' (१६६३) नाटकीय रचनाएँ प्रस्तुत कीं। हैराल्ड पिण्टर की भी एक नाटकीय रचना 'मून लाइट' (१६६३) छपी थी। टॉम स्टापर्ड की 'आरकेडिया' भी १६६४ में प्रकाशित हुई।

इसी कालावधि में साइमन ने मानसिक द्वन्द्व से ग्रस्त बुद्धिजीवियों के स्मरणीय शब्द–चित्र 'बटले' (१६७१) और 'अदरवाइज इंगेज्ड' (१६७५) में उपस्थित किये। उनकी बाद की नाटकीय रचनाएँ– 'क्वाट्रमैन्स टर्म्स' (१६८१) और 'दि कामन पर्सूट' (१६८४) हैं। पीटर शैफर ने 'एक्यूअस' (१६७३) में एक मनोचिकित्सक के एक मनःरोगी बालक के साथ सम्बन्ध का बड़ा ही उद्विग्न करने वाला प्रसंग उठाया थे। उन्होंने सन् १६७६ में 'अमेडियंस' में मोजार्ट और सेलियरी दो महान् संगीतकारों के बीच रचनाशीलता को लेकर बड़ी ही तीव्र प्रतिद्वन्द्विता का प्रदर्शन किया है। नारी की अस्मिता की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील कैरिल चर्चिल ने अतीत तथा वर्तमान के मिले–जुले आख्यान को लेकर 'क्लाउड नाइन' (१६८१) एक कामदी रचना लिखी थी। उन्हें हम 'टाप गर्ल्स' (१६८२) में केवल नारी चरित्रों और 'सॉटकॉप्स' (१६८४) में केवल पुरुष चरित्रों को लेकर नाट्य–प्रयोग करते हुए देखते हैं। उनकी सभी रचनाएँ लन्दन के रॉयल कोर्ट थियेटर में प्रदर्शित हुई थीं।

संस्मरण, ललित साहित्य और निबन्ध

अंग्रेजी के कुछ लेखकों को हम अपने अनुभवों को, बिना कल्पना से अनुरंजित किये, सीधे–सीधे प्रगट करते हुए भी देखते हैं। हेनरी विलियमसन ने कविताएँ और कथा साहित्य लिखने के अतिरिक्त पशु जगत् के अपने अनुभवों को लेकर आत्मकथात्मक शैली में अनेक रचनाएँ लिखीं, यथा– 'टारकाटि ऑटर' (१६२७), 'साराल दि सालमॅन' (१६३५) और 'दि फेजियन बर्ड' (१६४८)। उनकी पहली रचना सर्वोत्कृष्ट कही जाती है, जिसमें उन्होंने मनोवैज्ञानिक व्यस्तता का सापेक्ष शैली में विवेचन किया है। रिचर्ड जेफ़रीज़ की 'डेविस एण्ड वुड–मैजिक' भी इसी कोटि की रचना मानी जाती है।

टी० ई० लारेन्स (१८८८–१६३५), जिन्हें 'लारेन्स ऑफ़ अरेबिया' के नाम से जाना जाता है, में क्रियाशीलता के साथ साहित्यिक रचनाशीलता का विलक्षण समन्वय है। अपने ग्रन्थ 'दि सेवेन पिलर्स ऑफ़ विज़डम्' (१६२६) में उन्होंने सन् १६१६ में तुर्कों के विरुद्ध अरबों के विद्रोह में अपनी भूमिका का बड़ा ही सशक्त और रोचक विवरण दिया है। यह अपनी शैली की विशिष्टता के कारण महाकाव्यात्मक विन्यास की रचना बन गयी है; वे स्वयं उसके नायक के रूप में और उनके सहयोगी तथा विरोधी, बड़े ही सशक्त चरित्रों के रूप में उभरे हैं। महायुद्ध के बाद उन्हें अपने देशवासियों से जो उपेक्षा मिली थी, उससे क्षुब्ध होकर उन्होंने वायुसेना में प्रवेश ले लिया था। सन् १६५५ में प्रकाशित 'दि मिल्ट' में हम उन्हें रायल एयरफोर्स के अपने अनुभवों का प्रभावपूर्ण वर्णन करते हुए देखते हैं। उनका यह ग्रन्थ उनके नये पक्ष का उद्घाटन करता है। डेविड गैनेट ने १६३८ में उनके पत्रों का जो संकलन प्रकाशित किया है, उसमें उनके व्यक्तित्व के अनेक और कभी–कभी परस्पर विरोधी पक्षों का उद्घाटन होता है।

आत्मकथा के क्षेत्र में सर आस्बर्ट सिटवेल के पाँच खण्डों में प्रकाशित संस्मरण– 'लेफ्ट हैण्ड, राइट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैण्ड' (१६४५), 'दि स्कार्लेट ट्री' (१६४६), 'ग्रेट मॉर्निंग' (१६४६), 'लाफ्टर इन दि नेक्स्ट रूम' (१६४६) और 'नोबुल ऐसेन्स' (१६५०) उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं। इनमें परीलोक के विलक्षण प्रसंग भी अवतरित किये गये हैं। उनके दो कहानी संकलन 'बिफोर दि बमबार्डमेन्ट' (१६२६) और 'ए लाई एण्ड अदर स्टोरीज' (१६४७), भी वैचारिक और भाषिक–संरचना दोनों ही दृष्टियों से उत्कृष्ट हैं।

कविवर सीलफ़ाइड सैसून ने भी १४५४ पृष्ठों की चार खण्डों की अपनी आत्मकथा प्रकाशित की थी– 'दि वील्ड ऑफ़ यूथ', 'मेमॉयर्स ऑफ़ ए फाक्स–हंटिग मैन', 'मेमॉयर्स ऑफ ऍन इन्फैन्ट्री ऑफिसर' और 'शेरसटनस प्रोग्रेस'। इन सभी में व्यक्तिगत जीवन एवं परिवेश के रोचक विवरण मिलते हैं।

साहित्य के रचनात्मक समीक्षकों में सबसे पहले– जॉन मिडिल्टन मरी (१८८६–१६५७) का नाम आता है। उनके लेखन में सौन्दर्यचेतना और धार्मिकसत्य की खोज की प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से मिलती हैं। उनके ग्रन्थ हैं– 'कन्ट्रीज ऑफ़ दि माइन्ड' (१६२२–१६३१), 'कीट्स एण्ड शेक्सपियर' (१६२५) और 'स्टडीज़ इन कीट्स' (१६३०)। उन्होंने दो समीक्षा पत्रिकाएँ 'दि एथिनियम' और 'दि एडल्फी' भी सम्पादित की थीं; और उनमें टी०एस० इलियट तथा अन्य समकालीन लेखकों की रचनाओं के आलोचनात्मक अध्ययन उपस्थित किये थे।

साइरिल कोनोली ने एक समीक्षा पत्रिका 'होराइज़न' (१६४०–१६५०) का सम्पादन किया, और उसमें साहित्य के प्रति अपनी जुझारू मनोवृत्ति को अभिव्यक्ति दी थी। उनके उपनाम से लिखे गये पत्रों का संकलन 'दि अनक्वायट ब्रीज़' १६४४ में प्रकाशित हुआ था। उनके निबन्धों का एक संकलन १६६३ में 'प्रीवियस कन्सल्टेशन्स' छपा था जिसमें उनकी असाधारण अध्ययनशीलता और वाग्विदग्धता को अभिव्यक्ति मिली थी।

जॉन लेहमैन ने 'न्यू राइटिंग' (१६३५–१६४०), 'पेंग्विन न्यू राइटिंग' (१६४०–५०) तथा सन् १६५४ से 'दि लन्दन' मैग्ज़ीन का सम्पादन किया था। साहित्य की विषयवस्तु और रचना–विधान में नवीनता की प्रतिष्ठा में उनका विशेष योग रहा। उनकी आत्मकथा 'दि व्हिस्परिंग गैलरी' (१६५५) में हमें तत्कालीन साहित्यिक गतिविधियों का प्रबुद्ध वर्णन मिलता है।

विश्वविद्यालयों के अध्यापकों में एफ०आर० लेविस का व्यक्तित्व साहित्य जगत् में लगभग बीस वर्षों तक जबरदस्त रूप में छाया रहा। उनका यह एकाधिपत्य उनकी समीक्षा पत्रिका 'स्क्रूटिनी' (१६३२–१६५३) के माध्यम से सक्रिय रहा। उनके समकालीनों में आई०ए० रिचर्ड्स ने अपने ग्रन्थों 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिट्रेरी क्रिटिसिज़्म' (१६२४), 'साइन्स एण्ड पोएट्री' (१६२६) और 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' (१६२६) के माध्यम से साहित्य के अध्ययन को स्वस्थ मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि प्रदान की है। रिचर्ड्स ने काव्यार्थ के अनुशीलन में विशेष रुचि ली थी। उनके इस अध्ययन को उनके शिष्य विलियम एम्पसन ने और आगे बढ़ाया। एम्पसन के ग्रन्थ 'सेविंन टाइप्स ऑफ़ ऐम्बीगुइटी' (१६३०) में काव्य की अर्थ–छवियों का विलक्षण अध्ययन है।

सी०एस० लेविस (१८६८–१६६३) ने साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन के क्षेत्र में 'इंग्लिश लिट्रेचर इन दि सिक्सटीन्थ सेंचुरी' (१६५४) प्रस्तुत की थी। उनकी दो अन्य रचनाएँ 'दि ऐलीगॅरी ऑफ लव' (१६३६) और 'ऐन एक्सपेरिमेन्ट इन क्रिटिसिज़्म' (१६६१) में नैतिकता की दृष्टि से साहित्य का अनुशीलन है। स्पेन्सर और मिल्टन के अध्ययन में उन्होंने इसी दृष्टि का प्रयोग किया है। टी०एस० इलियट को हम साहित्यालोचन के क्षेत्र में धार्मिक निष्ठा का उपयोग करते हुए देखते हैं। उनके उल्लेखनीय समीक्षा ग्रन्थ हैं– 'दि यूज़ ऑफ पोएट्री एण्ड दि यूज़ ऑफ क्रिटिसिज़्म' और 'दि सिक्रेड वुड'। उनके कुछ महत्त्वपूर्ण निबन्ध हैं– 'ट्रेडीशन एण्ड इन्डिविजुवल टेलेन्ट', 'दि फन्क्रशन ऑफ क्रिटिसिज़्म' और 'दि फ्रान्टियर्स ऑफ क्रिटिसिज़्म'। साहित्य में जीवन्त परम्पराओं के निर्वाह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को उन्होंने विशेष महत्त्वपूर्ण माना है।

महायुद्ध के बाद की परिस्थितियों से विक्षुब्ध होकर साहित्य के क्षेत्र में जो नाराज़ पीढ़ी खड़ी हुई थी, कोनिंग विल्सन उसके सशक्त प्रतिनिधि और व्याख्याता रहे हैं; उन्होंने विद्रोही विचारधारा को लेकर 'दि आउट–साइडर' पत्रिका का सम्पादन भी किया था। साहित्यालोचन के क्षेत्र में 'रिलीजन एण्ड दि रिबेल' उनकी महत्त्वपूर्ण कृति मानी जाती है। उन्होंने 'रिचुअल इन दि डार्क' के नाम का उपन्यास भी लिखा था।

अब केवल तीन लेखकों विन्स्टन चर्चिल, अर्नाल्ड टायन्बी और बर्ट्रेन्ड रसेल की चर्चा रह जाती है। चर्चिल ने दो महायुद्धों को लेकर अनेक खण्डों के ग्रन्थों की रचना की थी। प्रथम विश्व युद्ध पर उन्होंने चार भागों में एक पुस्तक लिखी थी, 'दि वर्ल्ड क्राइसिस' और छह भागों में दूसरी पुस्तक 'दि सेकन्ड वर्ल्ड वार'। उन्होंने अपने कुछ पूर्व पुरुषों के जीवन–चरित्र और स्वयं अपनी भी आत्मकथा लिखी थी। अर्नाल्ड टायन्बी (१८८६–१९७५) सर्वोत्कृष्ट इतिहासकार के रूप में माने जाते हैं। उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बारह खण्डों का 'ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री' (१९३४–६१) है। उन्होंने अपने इस ग्रन्थ में विभिन्न सभ्यताओं के उत्थान और पतन का ऐतिहासिक अनुशीलन उपस्थित किया है। बर्ट्रेन्ड रसेल (१८७२–१९७०) की विशेष ख्याति प्रबुद्ध दार्शनिक के रूप में है; लेकिन वे उतने ही समर्थ लेखक भी थे। उनके दार्शनिक ग्रन्थों में 'दि प्रिंसिपल्स ऑफ मैथमेटिक्स' (१९०३), 'दि प्राब्लम्स ऑफ फिलासफी' (१९१२), 'ऑवर नॉलेज ऑफ़ एक्स्टर्नल वर्ल्ड' (१९१४), 'हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलासफी' (१९४६) हैं। सन् १९५० में उन्हें अपने लेखन के लिए नोबेल पुरस्कार मिला था। उसके बाद उनके दो कहानी संग्रह 'सेटन इन दि सबर्ब्स' (१९५३) और 'नाइटमेयर्स ऑफ एमिनेन्ट परसन्स' (१९५४) प्रकाशित हुए थे। उन्होंने तीन खण्डों में अपनी आत्मकथा भी प्रकाशित की थी, (१८७२–१९१४) १९६७ में, (१९१४–१९४४) १९६८ में, (१९४४–१९६७) १९६९ में। इस आत्मकथा में उन्होंने अपने जीवन की विभिन्न गतिविधियों का बड़ी ईमानदारी के साथ विवरण उपस्थित किया है और इस दृष्टि से उसे स्मरणीय महत्त्व की रचना माना जाता है।

भारत में लिखे गये अंग्रेजी साहित्य पर 'भारतीय अंग्रेजी साहित्य' स्तम्भ में विवरण दिया जायेगा।

अंजन संस्कृत की 'अञ्ज' धातु में 'ल्युट्' प्रत्यय लगाकर इसकी रचना हुई है। 'अञ्ज' अनेकार्थी धातु है। उसके कुछ अर्थ हैं; लेपना, स्पष्ट करना और चमकना। अञ्जन शब्द का प्रयोग मूलतः तो काजल के अर्थ में होता है, लेकिन वह अपने साथ अपने मूल के सभी अर्थ लिये हुए है। आँखों में लगाये जाने पर वह देखने की शक्ति को बढ़ाता है, तथा अपनी चमक से शोभा का संवर्द्धन भी करता है; इसीलिए स्त्रियों के सोलह श्रृंगारों में उसकी भी गणना होती है। कालिदास ने अपने रघुवंश में 'विलोचन दक्षिणम् अञ्जनेन सम्भाष्य' लिखा है। 'मृच्छकटिक' में 'अंजन' शब्द का आलंकारिक प्रयोग मिलता है, यथा, 'अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया / चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै पाणिनये नमः'।

आँखों में लगाया जाने वाला अञ्जन, सजल और चूर्ण दोनों ही रूपों में मिलता है। सजल अञ्जन तो कभी अंगुली और कभी शलाका से लगाया जाता है। उसके चूर्ण रूप को लगाने के लिए, विशेष रूप से शलाका का ही प्रचलन है। अंजन को सामान्यतः भारतीय नारियाँ ही प्रयोग में लाती हैं। पुराकालीन वेदिका–स्तम्भों पर अनेक नारी–मूर्तियों को हम शलाका से आँखों में अञ्जन लगाते हुए देखते हैं। पञ्जाब में, पाकिस्तान के कबीलायी क्षेत्रों में, अफ़गानिस्तान तथा बिलोचिस्तान में पुरुष भी अञ्जन का प्रयोग करते हैं। अञ्जन का प्रयोग आँखों की शोभा को बढ़ाने, दृष्टि को विस्तार देने के साथ–साथ अनेक रोगों से सुरक्षा के लिए भी होता है।

अंजीर अंजीर मोरेसी कुल का पौधा है। इसका वानस्पतिक नाम फाइकस कैरिका है। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृक्ष, झाड़ी और लता तीनों ही रूपों में पाया जाता है। यह पहले फूल के रूप में प्रगट होता है, जिसमें दल नहीं होते, सम्पुट होता है, उसी के भीतर फ़िर गूदा और बीजों की उत्पत्ति होती है। आकार में यह बहुत छोटे सेव जैसा होता है। पकने पर यह हरा, पीला और गुलाबी हो जाता है। यही फल अपने ताजे रूप में या सुखा कर खाया जाता है। इसके सूखे रूप को डिब्बा बन्द करके बिक्री के लिए भेजा जाता है। शुष्क अंजीर के १०० ग्राम अंश में ४.० ग्राम प्रोटीन ६६.० ग्राम कार्बोहाइड्रेटस तथा १०० अ०इ० विटामिन ए मिलता है। इस अंश से २६६ कैलरी ऊर्जा प्राप्त होती है।

अंजीर का वृक्ष कभी छोटे और कभी बड़े आकार का भी होता है। अपने बड़े आकार में यह पीपल या बरगद जैसा भी लगता है। बाइबिल में कहा गया है कि आदम हव्वा ने इसी के पत्तों से अपना शरीर ढका था और उसके नीचे विश्राम भी किया था लेकिन मिल्टन ने यह लिखा है कि वह अंजीर किसी और ही प्रकार का वृक्ष रहा होगा। यह अर्द्ध उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र का वनस्पति है। इसे गरम जलवायु और थोड़ी सी ठंडक चाहिए। जल ऐसा चाहिए कि जड़ों को तरोताजा करने के बाद बह जाये; लेकिन अब अंजीर की खेती अन्य क्षेत्रों और अन्य प्रकार की जलवायु में भी होने लगी है। अंजीर मूलतः तो भारतवर्ष, श्रीलंका, मलयेशिया और भूमध्य सागर के तट के देशों यथा तुर्की, यूनान, इटली, अल्जीरिया, स्पेन और पुर्तगाल का फल है; लेकिन अब इसकी खेती एशिया के अन्य भागों, दक्षिणी अफ्रीका और अमेरिका में भी होने लगी है। ब्रिटेन में इसकी खेती कभी–कभी आच्छादित भवनों में भी होती है। भारत में महाराष्ट्र (पुणे) में इसका व्यावसायिक उत्पादन होता है। छोटे स्तर पर बँगलौर व पंजाब के कुछ भागों में इसको उगाते हैं।

आयुर्वेद में अंजीर की महिमा का विशेष रूप से वर्णन है। कोष्ठबद्धता अर्थात् कब्ज के उपचार के लिए इसे विशेष रूप से उपयोगी माना गया है। ताजे फल तो वैसे ही खा लिये जाते हैं। उन्हें सुखाकर उन दिनों उपयोग में लाया जाता है, जब इसकी फसल नहीं होती। इन्हीं सूखे हुए फलों को फिर डिब्बे में बन्द कर बेचने के लिए भेज दिया जाता है। सूखे अंजीर को चपटा करके उनकी माला बनाकर बेचने का भी प्रचलन है। उपचार के लिए सूखे अंजीरों को कभी तो वैसे ही खा लिया जाता है और कभी उन्हें भिगोकर जब वे फूल जाते हैं तभी लिया जाता है। अंजीर के साथ कभी–कभी सौंफ और किशमिश को भी भिगोकर उसका जल पीने और फिर तीनों को हल्के–हल्के चबाकर खाने की सलाह दी जाती है।

अंजीर के विभिन्न प्रकारों में कैपरी को सबसे पुराना माना जाता है। उसी से उसके अन्य प्रकारों स्माइर्ना, सफेद सैनप्रेरू आदि की उत्पत्ति मानी जाती है। भारत में स्वदेशी अंजीर के अतिरिक्त मार्सेलीज़ इस्चिया, टर्की आदि से लाई गयी किस्में भी उपजायी जाती हैं। इस्चिया अंजीर काली और टर्की की भूरी होती है। अंजीर की उपयोगिता को समझकर अब व्यावसायिक दृष्टि से उसकी खेती होने लगी है और उसके लिए एक वर्ष के डाल की कलमें बनायी जाती हैं और पन्द्रह–पन्द्रह फुट की दूरी पर उन्हें रोपकर पौधे तैयार किये जाते हैं। अंजीर के पौधे सामान्यतः तीन वर्ष बाद फल देने लगते हैं। बड़े वृक्षों में फलों की संख्या हजारों तक पहुँच जाती है।

अंजीर अब ताजे और सूखे के अतिरिक्त जैम बनाकर भी खाये जाते हैं। उसका रस पिया जाने लगा है तथा शराब भी बनायी जाने लगी है। उसके पेय का काफी के स्थानापन्न के रूप में प्रयोग होने लगा है। उसके रस से रंग भी बनाये जाने लगे हैं।

अंटार्कटिका महाद्वीप दक्षिणी ध्रुव को चारों ओर से घेरे हुए विश्व का सर्वथा निर्जन महाद्वीप। उस तक पहुँचने का मार्ग बड़ा ही दुष्कर है, इसीलिए अब तक वहाँ कोई उपनिवेश नहीं बनाया जा सका; केवल अनुसन्धान के लिए अनेक देशों के लोग वहाँ जाते रहे। उसे जो सागर घेरे हुए हैं, उन्हें वेगेल और रास नाम दिये गये हैं। इन सागरों में छोटे बड़े

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिमखण्ड बराबर तैरते रहते हैं और भूभाग भी सर्वथा हिमाच्छादित है। विश्व की ६० प्रतिशत बर्फ इसी महाद्वीप में पायी जाती है। आँकलन के आधार पर अगर यह बर्फ पिघल जाये तो पृथ्वी पर समुद्र के जल का स्तर ६० मीटर (२००फुट) ऊपर उठ जायेगा। इस महाद्वीप की जलवायु सर्वाधिक ठंडी है। सन् १९६० में तापमान सर्वाधिक नीचे चला गया था {– १२६° फारेनहाइट (– ८७.८° सेंटीग्रेड)}। यद्यपि वहाँ विशेष हरियाली नहीं है, तथापि कुछ थोड़े से छोटे–छोटे पौधे मिलते हैं। भू–भाग पर मात्र बहुत ही थोड़े कीड़े पाये जाते हैं, लेकिन समुद्र में बड़ी–बड़ी व्हेलों के साथ छोटी–छोटी मछलियाँ तैरती हुई दिखाई देती हैं। सील मछलियाँ काफी संख्या में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त पेंग्विन, गल, पेट्रल तथा अन्य चिड़ियाँ भी मिलती हैं।

दक्षिणी ध्रुव इस महाद्वीप के लगभग मध्य भाग में है। वह पठारी प्रदेश है और समुद्र से उसकी ऊँचाई सामान्यतः ३०५० मीटर है। उसके चारों ओर पर्वत श्रृंखलाएँ हैं, जिनकी ऊँचाई ३६५० से लेकर ४५७० मीटर तक है, और उनके बीच बड़े ही खतरनाक दर्रे हैं। पहाड़ों के बीच हरेबस और टेरर जैसे ज्वालामुखी भी हैं, जो कभी भी फूट सकते हैं। इन पर्वतीय भूभागों में कहीं–कहीं ४५०० मीटर घनी बर्फ की पर्त है। बर्फ की यह पर्त धीरे–धीरे केन्द्र की ओर बढ़ती रहती है।

इस महाद्वीप का समुद्र तट जहाँ कहीं नीचा और चिकना है, वहाँ बर्फ की पर्त किनारों पर छिटकती रहती है। पर्वतीय तटों पर बर्फ धीरे–धीरे घाटियों के माध्यम से हिम सरिताएँ बनाती हुई जाती है। इस प्रकार इस महाद्वीप के चारों ओर बर्फ की बड़ी दीवार है, जो कहीं उच्छृंग और कहीं ठोस बर्फ के खम्भों के रूप में दिखाई देती है। उनकी ऊँचाई १५ से लेकर ६० मीटर तक देखने को मिलती है।

प्रायः समुद्र तट पर कई दिनों तक तेज हवाएँ चलती रहती हैं, जिनकी गति १६० किमी० तक हो जाती है। सूर्य जब दक्षिणायन होता है और ग्रीष्म ऋतु होती है, तब भी तापमान हिमांक से प्रायः नीचे ही रहता है। फरवरी के महीने में जब शीत ऋतु आने लगती है तो दिन छोटे हो जाते हैं और समुद्र का जल भी बर्फ बनने लगता है, तब पूरा महाद्वीप किरकराती और कड़कड़ाती बर्फ से घिर जाता है जिसे प्रवाही हिमकुंज की संज्ञा दी जाती है। हवाएँ और सागर की लहरें इन हिमकुंजों को इतनी शक्ति से दबाती हैं कि बर्फ की श्रृंखलाएँ जहाज़ के मस्तूल से भी ऊपर उठ जाती हैं और मात्र कुछ ही मिनटों में जल–धाराओं का प्रवाह बन्द हो जाता है। बड़े–बड़े हिमश्रृंग जिनका अधिकांश भाग समुद्र की सतह से नीचे होता है, लहरों द्वारा हिमकुंजों के भीतर ढकेल दिये जाते हैं।

ग्रीष्म ऋतु आने पर हिम क्षेत्र अन्ततः टुकड़ों में बँट जाते हैं; और फिर वे धरती के हिमखण्डों के साथ जुड़कर उत्तर की ओर चल पड़ते हैं। कभी–कभी धुँधला हो जाता है और तूफान भी उठते हैं और तब हवा लहरों पर जैसे कोड़े–से मारकर उन्हें बहुत ऊँचा उठा देती है।

अंटार्कटिका महाद्वीप पर अनुसंधान का कार्य सन् १८४१ में जेम्स क्लार्क रोस द्वारा आरम्भ किया गया था। उन्होंने ही दो ब्रिटिश जलयानों के आधार पर ज्वालामुखी का नामकरण किया था। उसके बाद लोग उसकी ओर मछलियाँ पकड़ने को जाते रहे। अनुसंधान कार्य सन् १९२१ में कैप्टन राबर्ट, फैलकन स्कॉट द्वारा फिर से आरम्भ हुआ। उन्होंने इस महाद्वीप का नाम किंग एडवर्ड सप्तम भूभाग रखा था। सात वर्ष बाद अरनेस्ट शौकिल्टन लगभग दक्षिणी ध्रुव पहुँच गये थे। दक्षिणी ध्रुव को वास्तव में पहले–पहल पहुँचने वाले नार्वे के रेनाल्ड ऐमण्ड्सन थे। उनके ३५ दिनों बाद एक अंग्रेजी अभियान दल को लेकर स्कॉट वहाँ पहुँचे थे, लेकिन वापस आते हुए उनका तथा उनके दल के सभी लोगों का निधन हो गया था।

शौकिल्टन ने रॉस सागर के जिस भाग को व्हेल की खाड़ी का नाम दिया था, उसी के तट पर रिचर्ड एवलेन वाइल्ड् ने अपने अभियान की आधार–भूमि बनायी थी और उसे 'लिटिल अमेरिका' नाम दिया था। उसके बाद चार अन्य अभियान दलों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने भी उसी क्षेत्र को अपनी आधार–भूमि बनाया था।

इस महाद्वीप के वेडेल सागर में, जो दूसरी दिशा के भू भाग को भी छूता है, अब तक खोज–कार्य बहुत ही कम हुआ है; क्योंकि उधर के गहन हिमखण्डों को चीरकर पार कर पाना जहाजियों के लिए बड़ा ही मुश्किल रहा है। इस भाग की भूमि का अंशतः सर्वेक्षण सन् १९२८ में सर ह्यूबर्ट विल्किन्स ने किया था। उन्होंने वस्तुतः पहली बार इस महाद्वीप का हवाई सर्वेक्षण भी किया था। सात वर्ष बाद अमेरिका के लिंकन इल्सबर्थ ने वेल्स की खाड़ी तक इस महाद्वीप का आर–पार हवाई सर्वेक्षण किया था।

सन् १८५७–१८५८ में अन्तर–राष्ट्रीय भौगोलिक वर्ष के आयोजन के समय इस महाद्वीप में खोज के कार्य को विशेष प्रगति मिली थी। उन दिनों इस महाद्वीप के सर्वेक्षण के लिए अन्तर–राष्ट्रीय प्रयास हुआ था। कोई बारह राष्ट्रों के लोगों ने वहाँ पचास से अधिक अनुसंधान केन्द्र स्थापित किये थे। संयुक्त राज्य अमेरिका ने तो स्वयं दक्षिणी ध्रुव को अपना अनुसंधान केन्द्र बनाया था। उसी समय विवियन फुक ने वेडेल सागर से रास सागर तक की उस महाद्वीप की समस्त भूमि का आर–पार सर्वेक्षण किया था। सोवियत संघ ने भी इसी वर्ष इस महाद्वीप में अनुसंधान कार्य आरम्भ किया था।

विश्व के अनेक राष्ट्रों में उस अन्तर–राष्ट्रीय भौगोलिक वर्ष में भू–सर्वेक्षण के फलस्वरूप जो नक्शे बनाये थे और भू–वैज्ञानिक अध्ययन किये थे, उसके आधार पर यह निष्कर्ष निकला था कि आदिम काल में यह भूभाग गोंडवाना लैण्ड से जुड़ा रहा था और फिर बाद में उससे अलग हो गया था।

सन् १९६२ से निर्जन दक्षिण ऑक से और दक्षिण सेकलेन द्वीप और वेडेल सागर से दक्षिणी ध्रुव तक फैला हुआ क्षेत्र जिसके भीतर ग्राहम लैण्ड भी आ जाता है, विशेष रूप से ब्रिटेन के अधिकार के क्षेत्र रहे। इसी प्रकार और कई राष्ट्र भी इस महाद्वीप के किन्ही क्षेत्रों पर अध्ययन और अनुसंधान के लिए मात्र अपना ही अधिकार मानते हैं।

सन् १९५९ के अन्त में इस क्षेत्र में अनुसंधान करने वाले मुख्य राष्ट्रों, अर्जेण्टाइना, आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, फ्रांस, न्यूजीलैण्ड, सोवियत संघ, इंग्लैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान आदि के बीच एक संधि पर हस्ताक्षर हुए थे। उसके आधार पर यह निश्चय हुआ था कि इस महाद्वीप का उपयोग केवल शांतिमय उद्देश्यों के लिए ही होना चाहिए और वहाँ कोई सैनिक केन्द्र स्थापित नहीं किया जाना चाहिए और न ही किसी हथियार को लेकर उसका परीक्षण ही होना चाहिए। यह भी निश्चय हुआ था कि इस क्षेत्र में कार्य करने वाले विभिन्न राष्ट्र एक दूसरे को अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों के विषय में बताते रहेंगे।

इस महाद्वीप में विभिन्न राष्ट्रों द्वारा अब तक जो अनुसंधान कार्य हुए हैं, उनसे यह ज्ञात हुआ है कि वहाँ प्रचुर मात्रा में कोयला, ताँबा, जस्ता, प्लेटिनम, सोना, मूलीबिंजलयम, निकिल, फोमिरूम, कोबाल्ट तथा और भी अनेक धातुएँ बर्फ की मोटी पर्त के नीचे छिपी हुई हैं। उन्हें प्राप्त करने के लिए बर्फ को हटाकर खुदाई करने में बड़ी मेहनत लगेगी और फिर उन्हें वहाँ से ले जाना तो और भी मुश्किल होगा, इसीलिए इस दिशा में अब तक कोई विशेष कार्य नहीं हुआ है। शोर–शराबे और प्रदूषण से मुक्त यह महाद्वीप विशेष रूप से दर्शनीय भी है, इसलिए अब वहाँ अनेक देशों के पर्यटक दल भी जाने लगे हैं।

भारत से भी सन् १९८१ में डा० एस० जेड कासिम के नेतृत्व में पहला अभियान दल इस महाद्वीप को गया था। उसके बाद तो अनेक अभियान दल उधर जाते–आते रहे हैं। उन्होंने दक्षिण गंगोत्री तथा मैत्री नाम के दो अनुसंधान केन्द्रों की स्थापना की है। इस संदर्भ में देखिये, दक्षिण गंगोत्री।

अंडमान द्वीप–समूह बंगाल की खाड़ी के २२२ द्वीपों में से कुल २०४ के समूह का नाम। उनमें केवल २४ द्वीपों में ही आबादी है। यह भारत का केन्द्र–शासित प्रदेश है। इन द्वीपों के मूल निवासी,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अण्डमानी, होंगे, जरवा तथा सेण्टीनेन जाति के हैं : इन्हें सम्मिलित रूप से नेग्रिटो प्रजाति का कहा जाता है। इनमें से जरवा एवं सेण्टीनेन जातियों के लोग, अपने शरीर को ढकना भी नहीं जानते।

इस द्वीप समूह को कभी कभी अण्डमान एवं निकोबार द्वीप समूह भी कहा जाता है। ये दोनों द्वीप समूह एक दूसरे से १० चैनल अक्षांश द्वारा अलग हैं। चेन्नई से इनकी दूरी लगभग २२० किलोमीटर और कोलकाता से ये द्वीप ५६० किलोमीटर दक्षिण में स्थित हैं। कोलकाता, विशाखापट्टम और चेन्नई से इन द्वीपों के प्रधान नगर पोर्ट ब्लेयर के लिए स्टीमर सेवा है। कोलकाता तथा चेन्नई से विमान सेवा भी है।

भौगोलिक दृष्टि से ये द्वीप म्यामांर (बर्मा) की अराकानयौमा पर्वतमाला का ही विस्तृत सिलसिला हैं। अण्डमान एवं निकोवार द्वीप समूहों का सम्मिलित क्षेत्रफल ८३२६.८५ वर्ग किलोमीटर है। केवल अण्डमान द्वीपों का कुल क्षेत्रफल ६६८२.२ वर्ग किलोमीटर है। अण्डमान के सबसे ऊँचे शिखर सैदिलपीक की ऊँचाई ७५० मीटर है। अण्डमान को उत्तरी, मध्यवर्ती, दक्षिणी, बारहटांग द्वीप एवं रेटलैन द्वीपों में बाँटा गया है। छोटा अण्डमान, रेटलैन द्वीप के ४६ किलोमीटर दक्षिण में है। अण्डमान द्वीप, कर्क रेखा के दक्षिण में स्थित है, और उसके तटीय भागों को गर्म सागरीय जल निरन्तर आवृत्त करता रहता है। सामान्यतः तो यहाँ वर्ष भर ही वर्षा होती रहती है, जो औसतन २०० सेंटीमीटर, वार्षिक होती है; फिर भी फरवरी से लेकर अप्रैल के मध्य तक कुछ सूखा रहता है।

इन द्वीपों के तटीय भागों में बालू, बजरी एवं बहुत समय से चली आ रही, मूँगे की चट्टानें मिलती हैं। यह सहज प्रवेश्य हैं। घाटियों एवं निचले पर्वतीय ढालों पर चीका एवं दोमट मिट्टियाँ पायी जाती हैं। इन द्वीपों का अधिकांश भाग बड़े ही सघन वनों से ढका हुआ है; फिर भी यहाँ स्तनपायी एवं मांसाहारी वन्य जीव, कभी–कभी मिलते हैं। सुअर, साँभर एवं हिरन बहुत बड़ी संख्या में मिलते है। स्थानीय जन जातियों के लोग विशेष रूप से वन्य सुअरों का शिकार करते हैं। साँप भी यहाँ अनेक प्रकार के पाये जाते हैं। वन्य भूभाग में विविध रंगों की तितलियाँ और अनेक प्रकार के पक्षी पाये जाते हैं।

अंडमान निकोबार द्वीप समूह की राजधानी पोर्ट ब्लेयर है। यह दक्षिणी अंडमान द्वीप के पूर्वी तट पर स्थित है। अंग्रेज सैनिक अधिकारी, कैप्टन आर्चीवाल्ड ब्लेयर ने १७८६ में इस स्थान को उपनिवेश के लिए चुना और फिर उसी के नाम पर इस शहर का नामकरण हुआ। अंग्रेजों ने पोर्ट ब्लेयर को प्रारम्भ में आजीवन सजा पाने वाले राजनैतिक कैदियों के अधिवास के लिए बसाया था। सन् १८७० में इस प्रकार के कैदियों के लिए यहाँ सेल्यूलर जेल का निर्माण कार्य आरम्भ हुआ था, जो सन् १६०५ तक चलता रहा। खारे समुद्र के बीच स्थित होने के कारण यहाँ दण्डित होकर भेजे जाने वाले कैदियों के लिए कहा जाता था कि उन्हें काला पानी की सजा हुई।

पोर्ट ब्लेयर से पाँच किलोमीटर की दूरी पर दक्षिणी अंडमान में डॉलीगंज नाम का एक गाँव स्थित है।

मध्यवर्ती अंडमान में बारहटाँग द्वीप पर नयागढ़ नाम की एक नई कालोनी बसायी गयी है। यहाँ बसने वाले प्रत्येक परिवार को खेती किसानी के लिए ५ एकड़ समतल भूमि दी गयी है, जहाँ वे विशेष रूप से चावल उगाते हैं। विशेष आवश्यकताओं की सम्पूर्ति के लिए, उन्हें पाँच एकड़ जंगली पहाड़ी क्षेत्र भी दिया गया है।

सन् १६४२ में द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्तिम दिनों, जापान ने इस द्वीप समूह पर अधिकार कर लिया था। सन् १६४५ में अंग्रेजों ने फिर उस पर अधिकार प्राप्त किया। सन् १६४७ में स्वतंत्र होने के बाद से यह द्वीप समूह भारत का केन्द्र–शासित प्रदेश है। सन् १६५८ में केन्द्रीय शासन ने पोर्ट ब्लेयर में म्यूनिसिपल बोर्ड की स्थापना की।

आज यह द्वीप समूह पर्यावरण की दृष्टि से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक मनोरम पर्यटन केन्द्र माना जाता है। पोर्ट ब्लेयर में अनेक दर्शनीय स्थल हैं, यथा सेल्यूलर जेल (राष्ट्रीय स्मारक), सागरीय अजायबघर, प्राणी विहार, गांधी पार्क आदि। इनके अतिरिक्त यहाँ साहसिक जल क्रीड़ा की भी व्यवस्था है।

अंडा वह गोलाकार वस्तु जो किसी भी जीवधारी की मादा के डिम्ब में उसी योनि के पुरुष के शुक्राणु के संयोग से उत्पन्न होती है; और फिर कुछ समय तक परिपक्व होने के बाद अथवा तत्काल ही, उसी जीवधारी के रूप में विकसित होने लगती है। इस प्रकार प्रायः सभी प्रकार का प्राणिक–जीवन, अण्डे से ही आरम्भ होता है। सभी चिड़ियाँ, कीड़े–मकोड़े, अधिकांश रेंगने वाले जानवर और मछलियाँ अण्डे देती हैं, जो सामान्यतः कुछ समय तक माँ के शरीर के बाहर विकसित होते हैं, और तब अण्डे खुलते हैं तथा बच्चे बाहर आते हैं। अधिकांश स्तनपायी जानवरों के बच्चे, माँ के शरीर के भीतर रहने वाले अण्डे में विकसित होते हैं। कुछ प्राणी ऐसे भी होते हैं, जिनके शरीर का भाग विभाजित होकर एक अलग जीवधारी बन जाता है।

वे जीवधारी जो अण्डे से विकसित होते हैं, अगर माँ के शरीर के भीतर ही उनका विकास होता है तो वे सीधे अपने माँ के रक्त–प्रवाह से ही अपने लिए जीवन ग्रहण करते हैं। माँ का शरीर ही उनकी सुरक्षा करता है और उन्हें गर्मी प्रदान करता है। वे अण्डे जो माँ के शरीर के बाहर निकलते हैं, उनके भीतर की जर्दी ही उन्हें भोजन प्रदान करती हैं। विकसित होता हुआ जीवधारी अथवा भ्रूण, खोल के भीतर की जर्दी या पीतक से भोजन ग्रहण करता है और ऊपर का गोलक तब तक उसकी सुरक्षा करता है, जब तक उसके फूटने से एक नया जीवधारी उसके बाहर नहीं निकलता है।

किसी चिड़िया के अण्डे के खोल में उससे लगी हुई कुछ मोटी सफेद सतह होती है और उसके नीचे जर्दी या पीतक। ऊपर की सफेदी पारदर्शी जलीय होती है। वह पकाये जाने पर स्वस्थ और पूरी तरह से सफेद हो जाती है। इसीलिए शायद उसे सफेदी का नाम दिया गया है। सफेदी की दो मोटी रस्सियाँ, जर्दी को थामे रहती हैं और उसे चारों ओर हिलाती रहती हैं, जिससे कि वह उस भाग को, जिसमें भ्रूण पल रहा होता है, उसे सबसे ऊपर रख सके। इसे भ्रूणीय डिस्क (चेकत्ती) कहते हैं। मादा के डिम्ब में जब शुक्राणु का संयोग होता है तो वह पहले दो कोशिकाओं में विभाजित होता है; फिर चार में, फिर ८ में, फिर १६ में और यह विभाजन तब तक चलता रहता है जब तक कि भ्रूण रूप ग्रहण नहीं कर लेता। यह भ्रूण, मुर्गी के अण्डे के भीतर नंगी आँखों से देखा जा सकता है।

इन सभी कोमलकांत भीतरी भागों को घेरे हुए, बाहर का गोलाकार खोल होता है, जिसकी सतह चिकनी होती है, जिसमें दो झिल्लियाँ संलग्न होती हैं अथवा त्वचा की दो पतली चादरें। ऊपर का खोल अधिकांश में चूने के कार्बोनेट से बना होता है, जिसमें बड़े ही छोटे–छोटे छेद होते हैं, जिनसे श्वास के लिए हवा आती–जाती रहती है।

यह डिम्ब माँ के शरीर के उस अंग से बाहर निकलता है, जिसे गर्भाशय कहते हैं। उसके निकलने के मार्ग को जीवाणुवाहिनी कहा गया है। इस मार्ग से बाहर निकलते हुए, वह श्वेत झिल्ली से आवृत होता जाता है। इस वाहिनी के नीचे के भाग में आने पर खोल अभिरंजित होने लगता है।

अण्डे के विकास के लिए भोजन में गर्मी की आवश्यकता होती है : भोजन उसे जर्दी से मिलता है और गर्मी माँ, अण्डे के ऊपर बैठकर देती है। ऊपर का खोल इतना सबल होता है कि वह जीवाणु की सुरक्षा कर सके। जलीय सफेदी, भीतर की जर्दी और जीवाणु चकत्ती को सुरक्षित रखती है। भ्रूण जर्दी के कोणों से बनता है, उनसे अपना भोजन ग्रहण करता है; और वह जैसे–जैसे बढ़ता है, सफेदी भी गायब होती जाती है।

खोल से लगी हुई दो झिल्लियाँ, अपने बड़े

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोर की ओर जेब बनाती हैं, जो हवा से भरी होती हैं। इसी हवा से चूज़ा अर्थात् बच्चा पहली साँस ग्रहण करता है, जब वह चोंच चलाता हुआ बाहर निकलता है। कुछ चिड़ियों के बच्चों को अण्डों के भीतर पर्याप्त भोजन नहीं मिलता, यथा काली चिड़िया या कस्तूरा। इसीलिए उसके बच्चे जब बाहर निकलते हैं, तो अन्धे, नंगे और असहाय होते हैं। लेकिन कुछ और पक्षियों जैसे – बत्तख के अण्डों के भीतर काफी भोजन होता है। इसीलिए उनके बच्चे परों के साथ और आँखें खोले हुए बाहर आते हैं। चिड़ियों के अण्डों में भोज्य पदार्थ, उनके आकार के आधार पर निर्भर होता है।

सबसे छोटी चिड़िया, यथा मर्मर पांखी का अण्डा, मटर के दाने के बराबर होता है। आकार में सबसे बड़ा अण्डा शुतुर्मुर्ग का होता है, जो सत्रह सेंटीमीटर तक लम्बा और वजन में १७५ किलोग्राम तक होता है।

अधिकांश पक्षी स्वयं अपने अण्डे का सेवन करते हैं। उनकी मादा अपने अण्डे पर बैठकर तब तक गर्मी प्रदान करती है, जब तक उसका बच्चा बाहर नहीं निकलता। लेकिन कोयल ऐसा पक्षी है, जो स्वयं अपने अण्डे का सेवन नहीं करती और उसे कौवे के घोंसले में रख आती है। आस्ट्रेलिया के मेगापोट परिवार के पक्षी अपने अण्डों को सड़ती हुई सब्जियों के बीच, जो गरम होती हैं या गरम बालू में रख आते है। इसी परिवार की एक चिड़िया टर्की, अपने अण्डे के लिए सूखी पत्तियों का ढेर बनाती है। उसके बच्चे इतने विलक्षण होते हैं कि अण्डे से निकलते ही उड़ने लगते हैं।

उन जानवरों के अण्डे, जो रेंगकर चलते हैं, अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ के, यथा कछुआ, घोंघा आदि के अण्डे, बड़े ही सख्त होते हैं। कुछ अण्डों के खोल सामान्य रूप से सख्त होते हैं और कुछ के मुलायम। छिपकली और गिरगिट अपने अण्डे बिलों में देते हैं और वे सामान्यतः बड़े ही मुलायम होते हैं। फ़ाख्ता के अण्डों के खोल बड़े ही सख्त होते हैं और वह उन्हें बालू में दबा देती है। कुछ- तरह के साँप, अपने अण्डे सड़ती–गलती सब्जियों में दबा देते हैं। कुछ बड़े आकार के साँप, अपने अण्डों को सेने के लिए उसके चारों ओर कुण्डली मारकर बैठ जाते हैं। प्रायः सभी रेंगने वाले जानवरों के अण्डों के भीतर खाने की पर्याप्त व्यवस्था होती है।

कुछ सरीसृप जन्तु, यथा घड़ियाल, मगरमच्छ आदि भी अण्डे देते हैं। इनमें से जल–जन्तु दलदल में या गीली बालुका–राशि में लगभग सौ की संख्या में अण्डे देते हैं। उनके खोल भी कुछ सख्त होते हैं। बत्तख चोंचा, बिल में अण्डे देती है और फिर उन्हें गर्मी भी प्रदान करती है। आस्ट्रेलिया की जंगली चुहिया, कँगारुओं की भाँति अपने शरीर में लगी हुई थैली में रखकर अण्डे सेती है।

मछलियाँ बड़े ही छोटे–छोटे अण्डे देती हैं और उनकी संख्या बहुत अधिक होती है। कॉड मछली तो सालभर में ६०,००,००० तथा कर्बाट मछली ६०,००,००० और लिंग तो २,८०,००,००० अण्डे देती है। ये सभी सामान्यतः अपने अण्डों को सेती नहीं; अतः अन्य जीव–जन्तु उसे खा जाते हैं।

उभयचर जीव–जन्तु यथा मेढ़क और भेक के अण्डों पर चिकना जेली जैसा आवरण होता है। मेढ़क तो अपने अण्डों को सूर्य की रोशनी से पकने के लिए छोड़ देते हैं, लेकिन भेक उन्हें अपने पीछे के पैरों के बीच दबाकर सेती रहती है।

अंडोरा पेरीनीज पर्वत शृंखलाओ के ऊपर फ्रांस और स्पेन के बीच ऊँची ऊँची घाटियों से घिरा, विश्व के बड़े ही छोटे देशों में एक। इसका क्षेत्रफल मात्र ४६४ वर्ग किलोमीटर है और आबादी लगभग २५०००, जो वस्तुतः विश्व के अन्य सभी देशों से कम है। राजधानी अंडोरा ल वेला बड़ा ही छोटा शहर है और उसके निवासियों की संख्या लगभग ८००० है।

अंडोरा के लोग आज भी लगभग उसी प्रकार से रहते हैं, जैसे आदिम युग में रहा करते थे। वे पहाड़ों पर अपनी भेड़ों और बकरियों के साथ रहते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और बड़े ही पुराने किस्म के करघे पर बड़ी ही अनगढ़ किस्म की ऊन बनाते हैं। अधिकांश में वे तम्बाकू उगाते हैं और उससे सिगरेट बनाते हैं। गेहूँ, राई और आलू भी थोड़े-बहुत उगा लेते हैं। वे बिजली तो पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न करते हैं; लेकिन उनके उद्योगों की संख्या बड़ी थोड़ी है। उन्हें सर्वाधिक आय पर्यटन से होती है। फ्रांस और स्पेन की ओर बड़ी अच्छी सड़कें आती हैं; और उन पर अनेक होटल बने हुए हैं। पहाड़ों पर भी अनेक होटल मिल जाते हैं। सघन पहाड़ियों के बीच लोग पैदल या घोड़ों पर चलते हैं। उनकी अपनी भाषा कट्लान है। वाणिज्य व्यवसाय में वे फ्रांस या स्पेन के सिक्कों का प्रयोग करते हैं। जाड़े के दिनों में घाटियों में वे अपने स्थायी घरों में रहते हैं; लेकिन अप्रैल आते ही वे गर्मी के दिनों में अपने पहाड़ी निवासों में चले जाते हैं।

अंडोरा कहने के लिए तो आठवीं शताब्दी से सम्राट् चार्लेमैग्न के समय से ही स्वतंत्र रहा है, और उसे गणराज्य कहा जाता है; लेकिन वस्तुतः वह फ्रांसीसी गणराज्य के राष्ट्रपति और स्पेन के उदगेल के संयुक्त शासन में है। उसकी छह यजमानी परिवारों के मुखियों से २४ सदस्यों की एक समिति बनती है, जो राजकाज चलाती है। मात्र २० के लगभग पुलिसकर्मी समाज की देख-रेख करते हैं। उनके अलावा इस देश का अपना कोई सैन्यदल नहीं है। यहाँ के लोग अधिकांश में रोमन कैथलिक हैं।

अंडोरा में शत-प्रतिशत साक्षरता है। लगभग ८० प्रतिशत लोग किसी न किसी वाणिज्य व्यवसाय में लगे हुए हैं। प्रति व्यक्ति आय लगभग १४००० डालर है। यह देश यूरोपीय आर्थिक समुदाय का सदस्य भी है।

अंतःकरण यह भारतीय दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। आचार्य शंकर ने इसके चार अवयव बताये हैं– मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार। वेदान्त दर्शन के अनुसार इन चारों का समुच्चय अन्तःकरण चतुष्टय कहलाता है। मन में संकल्प-विकल्प होते हैं, बुद्धि का कार्य है विवेक के प्रकाश में निश्चय करना, चित्त का तात्पर्य हमारी चेतना से है, अहंकार का तात्पर्य 'मैं' से है। अन्तःकरण का आशय हमारे भीतर की उस क्रियात्मक शक्ति से है, जो हमें सत्य का दर्शन कराती है, हमारे भीतर सद्-असद् के दर्शन का विवेक जगाती है और हमें सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है। अध्यात्मनिष्ठ विचारकों का कहना है कि इस विराट् जगत् में जो दिव्य-चेतना परिव्याप्त है, हमारा अंतःकरण उसे ही उजागर करता है, और फिर हमें अपने जीवन की परिस्थितियों के अनुरूप कार्य करने का निर्देश देता है। यह फिर हमारी अपनी रुचि, अपनी मनःशक्ति, अपनी शारीरिक क्षमता पर निर्भर है कि हम उसे माने या न माने।

लेकिन भौतिकवादी विचारकों का कहना है कि हमारी अन्तश्चेतना का निर्माण वस्तुतः हमारे धार्मिक, साम्प्रदायिक विश्वास, सामाजिक मान्यताएँ और सांस्कृतिक आदर्श ही करते हैं। हमारा अन्तःकरण अर्थात् हमारे भीतर की क्रिया-शक्ति उसी के निर्देश पर कार्य करती है। इसीलिए तो एक विशेष सांस्कृतिक चेतना से परिपूर्ण व्यक्ति मिट्टी, पत्थर अथवा किसी धातु की मूर्ति में देवी-देवताओं के दर्शन करता है, तो दूसरी सांस्कृतिक चेतना से परिपूर्ण व्यक्ति को यह मूर्तिपूजा सर्वथा अनर्गल दिखाई देती है।

सामान्यतः विचारशील लोगों का कहना है कि चाहे हम अध्यात्मनिष्ठ हों अथवा भौतिकवादी हमें सात्विक चेतना के साथ निर्मल बुद्धि से लोक में मंगल की भावना की प्रतिष्ठा को दृष्टि में रखकर, जो हमारा मन कहता है, उसे मानना चाहिए।

गांधी जी ने समय-समय पर अन्तरात्मा की पुकार अथवा अन्तःकरण के स्वर को मानकर कार्य करने का आग्रह किया था। राजनीति में भी उन्होंने इस प्रकार अन्तर की वाणी, अन्तःकरण से उठते स्वर को महत्त्वपूर्ण बना दिया था; लेकिन इधर राजनेताओं ने उनके इस परामर्श का दुरुपयोग भी किया है। अन्तःकरण की वाणी वस्तुतः अपने-पराये की भेद-बुद्धि से ऊपर उठकर, लोक में मंगल की प्रतिष्ठा की पुकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है; और अपने इसी रूप में वह ग्रहण किये जाने योग्य मानी जानी चाहिए।

अंतःपुर यह शब्दशः तो भीतर के नगर का अर्थ देता है; लेकिन इसका प्रयोग संस्कृत में अन्तःपुरम् के रूप में राजमहल के उस भाग का बोध कराता है, जहाँ रानियाँ, राजकुमारियाँ आदि रहा करती थीं। इस आधार पर इसे रनिवास भी कहा जाता है। अन्तःपुर में महिला पारिचारिकाओं को सेवा–कार्य के लिए रखा जाता था।

मध्य युग में मुसलमानों के शासन–काल में अन्तःपुर को ज़नानखाना नाम दिया गया था; और उसकी व्यवस्था लगभग वैसी ही रखी गयी थी जैसी यहाँ प्राचीन–काल से चली आ रही थी।

अंतःप्रत्यक्ष अंतर्ज्ञान, अंग्रेजी में इसे Apperception कहा गया है। मनुष्य का प्रत्येक नया बोध, उसकी पूर्व अनुभूति और अवबोधन के समय की उसकी मानसिक अवस्था पर निर्भर होता है। सामान्यतः इस संज्ञा का प्रयोग पश्चिम के ज्ञान–क्षेत्र में इसी अर्थ में होता हैं, लेकिन जर्मन दार्शनिक गोट्फ्रिड विल्हेल्म लेई, लेण्हिनेत्ज (१६४६–१७१६) ने अंतःप्रत्यक्ष को अवबोधन से भिन्न आत्म–चेतना कहा है।

अंतरिक्ष (अंग्रेजी में स्पेस) भूमण्डल के ऊपर छाये हुए खाली या खुले स्थान को अंतरिक्ष कहा जाता है। अंतरिक्ष के अत्यधिक दूरस्थ भाग को 'वाह्य अंतरिक्ष' (आउटर स्पेस) कहा गया है। जेट वायुयान अंतरिक्ष में अधिकतम १२ किलोमीटर ऊँचाई तक जाते हैं। गुब्बारे करीब ४० किलोमीटर ऊँचाई तक पहुँच जाते हैं। अंतरिक्ष में अनुसन्धान करने वाले वायुयान और भी अधिकं ऊँचाई तक जाते हैं। वाह्य–अंतरिक्ष में प्रवेश करने के लिए अंतरिक्ष यान को धरती से बड़े ही सशक्त राकेटों से प्रक्षेपित करना होता है। सन् १६५० में ही बाहरी अंतरिक्ष में प्रवेश सम्भव हो पाया था।

अंतरिक्ष अन्वेषण मनुष्य ने अंतरिक्ष में यात्रा की कल्पनाएँ एवं स्वप्न–दर्शन आदिकाल से ही आरम्भ कर दिये थे, इसीलिये देश–विदेश के पुराख्यानों एवं आदिकालीन साहित्य में इसके विवरण देखने को मिलते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैमानिकी के सूत्र वेदों में खोज निकाले हैं। वाल्मीकीय 'रामायण' में राम के लंका से लौटते समय, पुष्पक विमान से आने का उल्लेख है। अठारहवीं शताब्दी में हैदरअली व उसके पुत्र टीपू सुल्तान ने श्रीरंगपट्टनम के युद्ध में अंग्रेजों के विरूद्ध राकेटों का प्रयोग किया था, जो लोहे के ट्यूब तथा बाँस की खपच्चियों में बाँधकर बनाये गये थे। अंग्रेज इनमें से कुछ राकेट अपने साथ ले गये थे, जो आधुनिक काल के राकेट के जनक कहे जा सकते हैं। (देखिये केन्द्र सरकार प्रकाशन विभाग : 'इण्डियन स्पेसफ्लाइट्स' पृष्ठ २–३) आधुनिक काल में १६वीं शताब्दी में फ्रांस के वैज्ञानिक कथाओं के महान लेखक जूलवर्ने ने सन् १८७३ में अपना उपन्यास 'फ्राम दि अर्थ टू दि मून' प्रकाशित कराया था। अपनी इस रचना में उन्होंने अन्तरिक्ष यान को एक बड़ी तोप के सहारे प्रक्षेपित किया था। उस यान ने चन्द्रमा का चक्कर लगाया था और फिर छपाक से सागर की लहरों पर सुरक्षित उतर आया था। प्रसिद्ध अंग्रेज उपन्यासकार एच०जी० वेल्स ने १६१८ में अपने उपन्यास 'दि वार ऑफ दि वर्ल्ड्स' में मंगल ग्रह के निवासियों द्वारा अंतरिक्ष यान से पृथ्वी पर आक्रमण की कहानी लिखी थी। सन् १६०१ में उन्होंने 'दि फर्स्ट मैन इन दि मून' में दो ब्रिटिश अंतरिक्ष यात्रियों के चन्द्रमा पर पहुँचने और वहाँ सतह के नीचे बड़ी–बड़ी गुफाओं में रहने वाले लोगों से मिलने के विवरण दिये थे। लेकिन ये सभी तो अंतरिक्ष यात्रा की मनोरम कल्पनाएँ मात्र थीं।

अंतरिक्ष अभियान (पाश्चात्य)

अंतरिक्ष में वैज्ञानिक साधनों के सहारे, यात्रा करने की संकल्पना एक रूसी अध्यापक 'कान्सप्तेटिन त्सिओकोवस्की' (१८५७–१६३६) ने की थी। वह बड़ा ही गम्भीर विचारक था और सन् १८६३ में उसने अन्तरिक्ष यात्रा के लिए अपना वैज्ञानिक आलेख प्रस्तुत किया था। उसने कहा था कि रॉकेटों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रक्षेपण के लिए, तरल ईंधन की आवश्यकता होगी। सन् १९२३ में एक जर्मन वैज्ञानिक हर्मेन ओबर्थ ने एक पुस्तक लिखी थी 'दि रॉकेट इन्टू दि प्लेनेटरी स्पेस'। सन् १९२६ में एक अमेरिकी वैज्ञानिक राबर्ट एच० गोडार्ट (१८८२–१९४५) ने पहला रॉकेट बनाया था और फिर उसे तरल ईंधन के सहारे अन्तरिक्ष में प्रक्षेपित भी किया था।

सन् १९२७ में जर्मन वैज्ञानिक ओबर्थ ने अपने ही देश के कुछ उत्साही लोगों को लेकर अन्तरिक्ष यात्रा का एक संस्थान बनाया। कुछ समय बाद वर्नहर ब्रान भी उस संस्था में सम्मिलित हो गये। यही ब्रान कालान्तर में अमेरिका चले गये और वहाँ के अन्तरिक्ष विज्ञान के विकास में उन्होंने महत्त्वपूर्ण योग दिया। जर्मन संस्थान के लोगों ने बर्लिन के बाहर के क्षेत्र में तरल ईंधन के साथ रॉकेट प्रक्षेपण का कार्य आरम्भ किया। वे स्वयं अपने प्रयोगों से विस्मय विमुग्ध थे। उन दिनों जर्मनी में हिटलर का शासन था। उसके सैनिक अधिकारियों ने जब उन प्रयोगों को देखा, तो उन्होंने निश्चय किया कि इस पद्धति का उपयोग वे दूरस्थ क्षेत्रों पर बमों की वर्षा करने के लिये करें। इस निश्चय के साथ उन्होंने उस संस्थान को तो बन्द करा दिया; लेकिन उसके वैज्ञानिकों को बाल्टिक तट के एक सुनसान क्षेत्र में ले गये। वहाँ उन्होंने V_2 नाम का एक बहुत बड़ा राकेट विकसित किया जो वस्तुतः आधुनिक निर्देशित प्रक्षेपास्त्रों का पूर्व रूप था। द्वितीय विश्व युद्ध में तथा उसके बाद जो V_2 रॉकेट अमेरिकी एवं रूसी अधिकारियों के हाथों में आये थे, वे ही सन् १९४५ के बाद, उनके अंतरिक्ष अभियान के मॉडल बने।

सन् १९५४ में रूसी तथा अमेरिकी सरकारों ने घोषणा की कि १९५७–५८ के अन्तरराष्ट्रीय भूभौतिकी वर्ष में, वे अंतरिक्ष में कृत्रिम उपग्रह प्रक्षेपित करेंगे। इसी योजना के अनुसार रूसी वैज्ञानिकों ने पहली अक्टूबर १९५७ को स्पुतनिक–१ नाम का मानव–रहित उपग्रह अंतरिक्ष में भेजा। उसका कैप्सूल (सम्पुट) वजन में ८३ किलोग्राम था; और वह ५६० मील की ऊँचाई तक गया था। उसने पृथ्वी के चक्कर लगाये और उसके रेडियो संचार यन्त्रों ने अंतरिक्ष की जानकारी धरती पर भेजी।

रूस के वैज्ञानिकों ने उसी वर्ष नवम्बर १९५७ में अपना स्पुतनिक–२ भेजा, जो १०५६ मील की ऊँचाई तक गया था। इस यान में उन्होंने लायिका नाम की कुतिया भी भेजी थी, जो पृथ्वी की परिक्रमा करने वाली पहली जीवधारी थी; लेकिन उसका वहाँ निधन हो गया था।

संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपना पहला उपग्रह 'एक्सप्लोरर–१', ३ जून, १९५८ को अंतरिक्ष में भेजा। उसका वजन मात्र १४ किलोग्राम था। वह १५८७ मील की ऊँचाई तक गया था। इस उपग्रह से जो सूचनाएँ मिली थीं, उनके आधार पर ऐरीजोना विश्वविद्यालय के भौतिक विज्ञान के प्रोफेसर जेम्स अलफ्रेड वाल एलेन ने, विषुवत रेखा के ऊपर ऊँचाई में जो मेखला है, उसमें विद्युत आवेशित कणिकाओं की खोज की थी, जो धरती के चुम्बकीय प्रभाव से वहीं बँध गयी हैं। उन्हें भौतिक विज्ञान में वान एलेन विकिरण मेखला कहा ज़ाता है। सन् १९५८ में ही संयुक्त राज्य अमेरिका ने अंतरिक्ष के अन्वेषण, उसके शान्तिमय तथा सामरिक उपयोग की दृष्टि से 'नेशनल एयरोनॉटिक्स एण्ड स्पेस एडमिनिस्ट्रेशन' ('नासा') की स्थापना की; और जर्मनी के वैज्ञानिक वान ब्रान को उसका निर्देशक नियुक्त किया। इस संस्था के गठन को अभी छह महीने नहीं हुए थे कि उसकी ओर से यह घोषणा कर दी गयी कि ११ वर्षों के भीतर अमेरिका चन्द्रमा पर मनुष्य को उतार देगा। उन दिनों जॉन एफ० कैनेडी राष्ट्रपति थे और उन्होंने कहा था कि चन्द्रमा पर मनुष्य को उतारना हमारा राष्ट्रीय लक्ष्य है।

लेकिन रूस के वैज्ञानिक इस दिशा में अमेरिका से कहीं अधिक गतिशील रहे। सन् १९५९ में उन्होंने लूना–१ को प्रक्षेपित किया जो लगभग छह हजार किलोमीटर की दूरी से चन्द्रमा के पास से गुजरा और फिर एक छोटा कृत्रिम उपग्रह बनाया, जिसने सूर्य के

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४५० चक्कर लगाये। उसी वर्ष लूना–२ ने चन्द्रमा के तल को वास्तव में स्पर्श क्रर लिया, उसी के बाद लूना–३ भेजा गया, जिसने चन्द्रमा के कई चक्कर लगाये, और फिर उसके दूसरी ओर के कई फोटो भी भेजे। अप्रैल १९६१ में रूस ने ही 'वोस्टॉक–१' भेजा जिसमें यूरी गागरीन थे, जिन्हें आज हम अन्तरिक्ष यान में पृथ्वी की परिक्रमा करने वाला पहला व्यक्ति मानते हैं।

सन् १९६१ में ही 'नासा' ने 'मरकरी' यान में एलेन शेपर्ड और विर्जिल ग्रीसम को भेजा, जो अन्तरिक्ष में जाकर सकुशल पृथ्वी पर वापस आ गये। रूस के अन्तरिक्ष वैज्ञानिकों का कार्यक्रम भी आगे बढ़ता रहा और अगस्त १९६१ में उन्होंने 'वोस्टॉक–२' में घेरमान तिताउ को भेजा, जिन्होंने पृथ्वी के १७ चक्कर लगाये। फरवरी १९६२ में अमेरिकी यान 'फ्रेंडशिप–७' में जॉन ग्लिन ने यात्रा की और पृथ्वी के ३ चक्कर लगाये। उसके बाद रूस के अंतरिक्ष यान 'वोस्टॉक–३' में एण्ड्रियन निकोलेव ने पृथ्वी के ६४ चक्कर लगाये। रूसी और अमेरिकी वैज्ञानिक दोनों ही उन दिनों अंतरिक्ष यान के संप्रेषण के लिए, निर्देशित प्रक्षेपास्त्र से विकसित प्रणाली का ही उपयोग कर रहे थे। रूस के वैज्ञानिकों ने कुछ ऐसा प्रक्षेपास्त्र बनाया था, जो अधिक भारी बोझ को वहन कर सकता था, अतः उन्होंने बहुत बड़े–बड़े अंतरिक्ष यान भेजे। अमेरिका के 'मरकरी' कैप्सूल का वजन मात्र १.५० टन था; लेकिन 'वोस्टॉक–३' का भार लगभग ५ टन था। सन् १९६४ में उन्होंने और भी भारी वजन के 'वोस्खॉड–१' को भेजा (वोस्खॉड = सूर्योदय); जिसमें तीन अंतरिक्ष यात्रियों ने पृथ्वी के कई चक्कर लगाये। सन् १९६५ में रूस ने 'वोस्खॉड–३' को भेजा, जिसमें ऐलेक्सी लियोनॉव ने यान से बाहर निकलकर २० मिनट तक अंतरिक्ष में चहलकदमी की थीः इस प्रकार वे अंतरिक्ष में चलने–फिरने वाले प्रथम मानव बन गये। वे उस समय अन्तरिक्ष का एक विशेष परिधान पहने थे, जो डोरी से यान में जुड़ा हुआ था, जो उनके लिये ऑक्सीजन का भी संवहन कर रही थी।

वर्ष १९६३ में 'नासा' ने अपने यान 'मरकरी' के उड़ानों के कार्यक्रम को भलीभाँति पूरा किया। उनसे यह सिद्ध हुआ कि अंतरिक्ष यात्री परिक्रमा करते हुए भी अपना अन्वेषण कार्य जारी रख सकते हैं, और पृथ्वी से जो उन्हें आदेश दिये जायें, उन्हें भी कार्यान्वित कर सकते हैं। इन प्रयासों में वापसी के रॉकेटों का भी परीक्षण हुआ, जो अंतरिक्ष यान के कैप्सूल को नीचे की ओर भेजकर धरती के परिवेश में फिर से आने के लिए इतना धीमा कर देते थे कि यान के समुद्र में टूटकर गिरने से पहले, उसके यात्री पैराशूट से सुरक्षित उतर सकें।

सन् १९६५–६६ में 'नासा' ने जैमिनी (मिथुन) कार्यक्रम चलाया, जिसमें दो यानों को परस्पर मिलाने और जोड़ने की युक्तियाँ खोजीं तथा सुव्यवस्थित की गयीं। इस कार्य के लिए १० 'जैमिनी' यानों का प्रयोग किया गया था, जिनका वजन लगभग ३.५० टन था, और प्रत्येक में दो–दो अंतरिक्ष यात्री थे। इन यात्रियों को अंतरिक्ष परिधान पहनकर, यान से बाहर निकलकर कार्य करने का भी अभ्यास कराया गया था। सबसे लम्बी उड़ान जैमिनी–७ ने भरी थी और उसने धरती के २२० चक्कर लगाये थे।

'नासा' ने चन्द्रमा पर उतरने के अपने कार्यक्रम के लिए और भी कई प्रकार के उड़ानों की व्यवस्था की थी। ये सभी यान मानव–रहित ही भेजे गये थे। सन् १९६४–६५ में 'रेंजर' श्रेणी के यान भेजे गये थे, जिन्होंने चन्द्रमा की सतह के फोटो लिये और फिर अन्ततः चन्द्रमा पर उतर गये। उनके द्वारा लिये गये फोटो, दूरदर्शन विधि से भी पृथ्वी पर प्राप्त किये गये। दूसरे चरण में चन्द्रमा की सतह के निकट से फोटो लिये गये। इन यानों को इस प्रकार का बनाया गया था कि वे बड़ी सहजता से चन्द्रमा की सतह पर उतर सकें; और फिर वापसी के रॉकेटों से उनके धरती पर उतरने को भी सुविधाजनक बनाया जा सके। यह कार्य वर्ष १९६६–६७ में 'सर्वेयर' श्रेणी के यानों द्वारा पूरा किया गया। 'सर्वेयर–३' में एक ऐसा पकड़ने वाला यन्त्र लगाया गया, जो आदेश देने पर चन्द्रमा की मिट्टी उठा सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंतरिक्ष के बाहरी परिवेश में उल्का पिण्डों के अतिरिक्त धूल कणों से लेकर रोड़ों तक, उल्का कणिकाएँ भी हैं। उनके टकराने से अंतरिक्ष यान में दरारें और छेद हो सकते हैं। इस प्रकार की दुर्घटनाओं से बचने कि लिए नासा ने 'पेगस' (यूनानी पुराकथाओं में पंख वाला घोड़ा) श्रेणी के तीन खोजी यान भेजे। उसके पंखों पर चोटें; सहज रूप से अंकित हो जाती थीं। दो वर्षों बाद देखा गया कि लगभग १३०० चोटें लगीं थीं, किन्तु उनसे विशेष आघात नहीं हुआ था। इस आधार पर निष्कर्ष निकाला गया कि मानव–सहित यान को भी इन चोटों से न्यूनतम हानि पहुँचेगी।

उसके बाद 'अपोलो' के उड़ानों का कार्यक्रम बना। यह निश्चय किया गया कि पहले 'अपोलो' की उड़ान में चन्द्रमा का पृथ्वी की ओर उन्मुख जो भाग है, उसकी मध्य रेखा पर यान को उतारा जाय। इस क्षेत्र के फोटो १९६६–६७ में 'लूनर आरमिटर' श्रेणी के यानों द्वारा ले लिये गये थे।

अमेरिका ने अपने 'अपोलो' कार्यक्रम पर लगभग १०,००० लाख डालर खर्च किये। 'अपोलो' यान के प्रक्षेपण की प्रक्रिया को तीन अवस्थाओं में सम्पन्न किया गया।

पहली अवस्था में वृहदाकार रॉकेट में पाँच इञ्जन लगाये गये, और उन्हें तरल ऑक्सीजन और पैराफिन के ईंधन से प्रज्वलित किया गया। प्रक्षेपक का भार २००० टन था और प्रक्षेपण की सम्पूर्ण सामग्री ३४०० टन थी। प्रक्षेपण का कार्य लगभग दो मिनटों में सम्पन्न होना था। चार इञ्जनों को यान की दिशा और गति का नियन्त्रण करना था। दूसरी अवस्था में भी यह प्रक्रिया पाँच इञ्जनों की ५०० टन के प्रक्षेपण की सामर्थ्य से आठ मिनटों में सम्पन्न होनी थी। इस अवस्था में प्रक्षेपण के लिए तरल ऑक्सीजन और तरल हाइड्रोजन का प्रयोग किया गया था। इन्हीं ईंधनों का प्रयोग, तीसरी अवस्था में भी हुआ। तीसरी अवस्था में यान के साथ एक विशेष उपकरण जोड़ दिया गया था, जिसमें इलेक्ट्रानिक निर्देशन का यन्त्र था।

'अपोलो' अंतरिक्ष यान में प्रशासकीय प्रकोष्ठ, सेवा प्रकोष्ठ और चन्द्रमा प्रकोष्ठ थे। इसमें तीन अंतरिक्ष यात्रियों के लिए १४ दिनों की ऑक्सीजन और खाने–पीने के सामान की व्यवस्था की गयी थी।

शासकीय प्रकोष्ठ से लगा सेवा प्रकोष्ठ, सिलेण्डर के आकार का था और उसमें ऑक्सीजन एवं जल की सम्पूर्ति की व्यवस्था थी। इसी में अंतरिक्ष यान के लिए एक अलग इञ्जन भी था। वह उड़ान के नियन्त्रण के लिए था और ६ टन के वजन को प्रक्षेपित कर सकता था। ईंधन की बैट्रियाँ ऑक्सीजन और हाइड्रोजन के प्रयोग से उसे विद्युत–शक्ति प्रदान करती थीं।

शासकीय प्रकोष्ठ से ही तीसरा कक्ष .चन्द्रमा प्रकोष्ठ भी संलग्न था। वह बड़ी ही हल्की सामग्री से बनाया गया था और उसका इस्तेमाल दो अंतरिक्ष यात्रियों को प्रशासकीय कक्ष से चन्द्रमा तक ले जाने और वापस लाने के लिए था। इसके दो भाग थे; एक अंतरिक्ष यात्रियों को चन्द्रमा की सतह पर उतरने पर मुलायम स्थल प्रदान करने के लिये था; दूसरा ऊपर चढ़ने का मंच।

'अपोलो' यान को चन्द्रमा पर उतारने की तैयारी अनेक चरणों में की गयी थी। सन् १९६७ में 'सैटर्न–५' रॉकेट ने मानव रहित 'अपोलो' अंतरिक्ष यान को पृथ्वी का चक्कर लगाने के लिए भेजा था। सन् १९६८ में चन्द्र–प्रकोष्ठ और उसके इञ्जनों का मानव रहित उड़ान में परीक्षण हुआ था। इसी वर्ष 'सैटर्न–५' के रॉकेट के सहारे मानव सहित यान के संप्रेषण का परीक्षण हुआ था, जिसने ११ दिनों तक पृथ्वी की परिक्रमा की थी तथा उसी उड़ान में सेवा प्रकोष्ठ के इञ्जन की भी जाँच हुई थी। उसी वर्ष दिसम्बर में अपोलो–८ का प्रक्षेपण हुआ था, कर्नल फ्रेंक बोरमैन ने उसका संचालन किया था और चन्द्रमा के १० चक्कर लगाये थे। मार्च १९६९ में अपोलो–९ ने मानव सहित यान में पृथ्वी के चक्कर लगाये थे और प्रशासकीय तथा चन्द्र–प्रकोष्ठों का परीक्षण हुआ था। उसके बाद चन्द्र–प्रकोष्ठ में दो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंतरिक्ष यात्रियों को बैठाकर यान का प्रक्षेपण किया गया था, जो प्रशासकीय प्रकोष्ठ के साथ धरती पर वापस लौट आया था। दो महीने बाद चन्द्र प्रकोष्ठ को कर्नल की स्टैफोर्ड के निर्देशन में भेजा गया। 'अपोलो–१०' चन्द्रमा के धरातल से लगभग १० किलोमीटर की दूरी तक गया। उसने चन्द्रमा के ऊपर यान उतरने के सम्भाव्य स्थल के फोटो लिये थे, और फिर धरती पर सकुशल वापस लौट आया।

नील आर्मस्ट्रांग

मानव सहित यान 'अपोलो–११', २० जुलाई १६६६ को चन्द्रमा पर उतरा। उसके 'ईगल' नाम के चन्द्र–प्रकोष्ठ से नील आर्मस्ट्रांग और एडविन एल्ड्रिन उस क्षेत्र में उतरे थे, जिसे प्रशान्तिका सागर कहा जाता है। पृथ्वी पर दूरदर्शन के माध्यम से लाखों लोगों ने आर्मस्ट्रांग को चन्द्रमा पर पहले मनुष्य के रूप में उतरते हुए देखा था। उस समय उनके शब्द थे, 'यह एक आदमी के लिए तो छोटा कदम है, लेकिन मानव जाति के लिए बहुत बड़ी छलाँग।' उसके बाद एल्ड्रिन उतरा था और फिर दोनों यात्री लगभग २ घण्टे तक चन्द्रमा की सतह पर रहे; उन्होंने वहाँ के फोटो लिये तथा अनेक वैज्ञानिक प्रयोगों की व्यवस्था की और अनेक शिलाखण्ड, नमूने के लिए एकत्र किये। कोई साढ़े इक्कीस घण्टे चन्द्रमा की सतह पर रहने के बाद 'ईगल' ने उड़ान भरी और फिर परिक्रमा करते हुए प्रशासकीय–प्रकोष्ठ 'कोलम्बिया' के साथ जुड़ गया था। माइकल कॉलिन्स नामक अन्तरिक्ष यात्री उसी प्रकोष्ठ में रह गये थे। चन्द्रमा के ऊपर एक पट्टिका छोड़ दी गयी थी, जिस पर लिखा था, 'यहाँ पृथ्वी ग्रह से आये हुए आदमियों ने जुलाई १६६६ (ई० सन्) को चन्द्रमा पर सर्वप्रथम कदम रखे थे। हम समस्त मानवता की शान्ति के लिए यहाँ आये थे।' यान के यात्री २४ जुलाई को सकुशल धरती पर वापस आ गये थे।

मनुष्य के चन्द्रमा पर पहली बार उतरने के इस ऐतिहासिक प्रसंग के बाद यह क्रम जारी रहा और नये–नये क्षेत्रों में अनुसन्धान किया गया। 'अपोलो–१३' ने अप्रैल १६७० में उड़ान भरी, लेकिन यान में विस्फोट हो जाने के कारण अंतरिक्ष यात्रियों को बीच में ही वापस उतरना पड़ा। 'अपोलो–१४' कुछ जरूरी यान्त्रिक सुधारों के बाद ऐलेन शेपर्ड और एडगल मिचेल को लेकर फरवरी १६७१ में कुछ उपकरणों के साथ उतरा। इन दोनों अंतरिक्ष यात्रियों ने हाथ से चालित ट्राली में उपकरण रखकर चन्द्रमा की सतह का दो बार सर्वेक्षण किया। जुलाई १६७१ में 'अपोलो–१५' वर्षा के सागर हैडले रिले के निकट उतरा। डेविड स्कॉट और जेम्स इरविन ने पहली बार चन्द्रमा पर भ्रमण के लिए बनाये गये विशेष यान पर बैठकर सतह का सर्वेक्षण किया। इस अंतरिक्ष यान ने चन्द्रमा के परिक्रमा क्षेत्र में एक वैज्ञानिक उपग्रह भी छोड़ा था।

'अपोलो–१६', १६७२ में छोड़ा गया। जॉन यंग और चार्ल्स ड्यूफ ने उससे उतरकर, डेकार्डे उच्च भूमि के पथरीले क्षेत्र का बड़ी मेहनत से सर्वेक्षण किया। 'अपोलो–१७' भी उसी वर्ष छोड़ा गया। यूजने सिरनन और भू–वैज्ञानिक रोनाल्ड स्मिथ प्रशान्तिका सागर के दक्षिण–पूर्व की सकरी घाटी में उतरे। ये दोनों लगभग ७५ घण्टे तक चन्द्रमा की सतह पर अनुसंधान करते रहे; और फिर प्रशासकीय–प्रकोष्ठ से जुड़कर, पाइलट रोनॉल्ड एवन्स के साथ पृथ्वी पर वापस लौटे।

संयुक्त राज्य अमेरिका ने इन अपोलो उड़ानों के बाद उनमें लगने वाले समय और धनराशि को देखते हुए अंतरिक्ष अन्वेषण का कार्य कुछ धीमा कर दिया। उसके बाद उन्होंने मानव सहित यानों को केवल इस समस्या के अध्ययन के लिए भेजा कि इस यात्रा को कितना लम्बा समय दिया जा सकता है। इन उड़ानों में यह भी प्रयास किया गया कि ऐसी यान्त्रिक गाड़ी बनायी जाये जो धरती पर उतरने के बाद फिर से अंतरिक्ष यात्रा के उपयोग में लायी जा सके। मई १६७३ में इसी योजना के अन्तर्गत एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकाशीय प्रयोगशाला भेजी गयी, जिसका वजन ८५ टन था; और जिसे परिक्रमा पथ पर रहते हुए, अनेक सर्वेक्षण और बहुत से प्रयोग भी करने थे। उस आकाशीय प्रयोगशाला में सबसे पहले चार्ल्स कॉरैट, जोजफ़ कैविन और पॉल वीड्स ने २८ दिन रहकर कार्य किया था। दूसरे दल के ऐलेन बेन, ओवेल डैरिऑट और जैक लुइस्मा ५६ दिन कार्य करते रहे थे; और तीसरे दल के ज़ेराल्ड कर, एडवर्ड गिप्सन और विलियम पॉगीव ने ८४ दिनों तक कार्य किया।

जुलाई १६७५, में टॉम स्टैफोर्ड, डोनॉल्ड स्नेटन और वान्स ब्रेण्ड, 'अपोलो' अंतरिक्ष यान में ही उड़े थे, और फिर सोवियत अंतरिक्ष यान सोयूज़ से उनका सम्मिलन हुआ था। अंतरिक्ष शटलयान बनने के पहले अमेरिकी और रूसी अंतरिक्ष यात्रियों की यह एक मिली-जुली यात्रा थी, जिसने पृथ्वी के कई चक्कर लगाये।

सोवियत रूस के वैज्ञानिक अब तक मानव रहित अथवा मानव सहित उड़ानों द्वारा मात्र पृथ्वी का चक्कर ही लगाते रहे थे। उन्होंने अपनी अंतरिक्ष की उपलब्धियों को गोपनीय ही रखा था। सन् १६६६ में 'लूना-६' को चन्द्रमा की सतह पर उतरने के बाद, वे मानव रहित अंतरिक्ष यानों से ही चन्द्रमा में अन्वेषण करते रहे थे। सन् १६७० में 'लूना-१६', पूर्ववर्ती सागर के क्षेत्र से कुछ मिट्टी उठाकर परीक्षण के लिए पृथ्वी पर लाया था। उनके स्वचालित पर्यटन यान 'लूनोखाद-१' ने वर्षा के सागर के क्षेत्र में अनुसंधान किया था। उनका दूसरा चन्द्र पर्यटन यान 'लूनोखाद-२' सन् १६७३ में लेमोनिये कार्टर क्षेत्र में उतरा था; और उसने ५ महीने वहाँ रहकर कुल ३७ किलोमीटर के क्षेत्र में सर्वेक्षण का कार्य किया था।

रूस के वैज्ञानिकों ने मानव सहित अंतरिक्ष यात्रा का जो कार्यक्रम बनाया था, उसमें प्रारम्भिक सफलता के बाद एक बहुत बड़ा दुर्योग हो गया था। सन् १६६७ में उनका अंतरिक्ष यात्री व्लादीमीर कोमाराव, 'सोयुज-१' यान में वापस लौटते हुए मर गया था। रूसियों का यह 'सोयुज' यान यद्यपि अमेरिकी अपोलो से बहुत छोटा था, तथापि वर्षों तक वे उसका ही प्रयोग करते रहे थे।

अंतरिक्ष में दो रूसी यान 'सोयुज-४' और '५' सन् १६६६ में एक दूसरे से जुड़े थे, और उसके यात्रियों ने स्थानान्तरण भी किया था। उसी वर्ष सोयुज-६, ७ और ८, सात अंतरिक्ष यात्रियों को लेकर उड़े थे और उन्होंने पृथ्वी की परिक्रमा की थी। १६७१ में रूस ने अपना प्रथम अंतरिक्ष स्टेशन सल्युत-१ स्थापित किया था। सोयुज-११ के अन्तरिक्ष यात्री जार्जी डोगरोवोलस्की, लादिसलाव, भूलकॉव और विक्टर पथसाएव उस स्टेशन पर २३ दिन रहे थे, लेकिन धरती की ओर अपनी वापसी यात्रा में सोयुज़ का केबिन दबाव के कारण रिसने लगा था और तीनों अंतरिक्ष यात्री तुरन्त ही मर गये। उसके बाद अंतरिक्ष यान में परिवर्तन किये गये थे, और सोयुज़ कार्यक्रम जारी रहा। उसके बाद कई सेल्युत अंतरिक्ष स्टेशन परिक्रमा पथ पर स्थापित किये गये। सोयुज़-१६ ने अमेरिकी अंतरिक्ष यान के साथ मिलकर यात्रा की थी। उसके अंतरिक्ष यात्रियों ऐनेक्सेयी लियोनॉव और वालेरी कुबासाव ने परिक्रमा करते हुए अमेरिकियों के साथ स्थान भी बदले थे।

मानव-रहित कॉसमॉस उपग्रह नियमित रूप से प्रक्षेपित होते रहे। उन्होंने अनेक सैनिक और असैनिक कार्य सम्पन्न किये। उनमें से कई को वापस भी लाया गया था। सोवियत कार्यक्रम के अन्तर्गत जलपरिवहन और पार्थिव संसाधनों की दृष्टि से अनेक सोवियत कार्यक्रम चलाये गये थे। सेल्युत अंतरिक्ष स्टेशन में तो कई वैज्ञानिक बड़े ही लम्बे समय, यथा छह माह तक ठहरे थे। उनके लिए अपेक्षित भोजन आदि की व्यवस्था, सामान ढोने वाले अंतरिक्ष यानों से की गयी थी। सोयुज़ यान टी-II में वर्ष १६८४ में एक भारतीय अंतरिक्ष यात्री राकेश शर्मा ने भी यात्रा की।

सोवियत संघ और अमेरिका ने मानव-रहित अंतरिक्ष यान समय-समय पर शुक्र (वीनस) और मंगल (मार्स) ग्रहों पर भी अनुसंधान के लिए भेजे। शुक्र की यात्रा ने ४ महीने और मंगल के अभियान ने ७-१/२ महीने लिये थे। अंतरिक्ष यान की नाक से जुड़ी खोजी गाड़ी से यह कार्य सम्पन्न हुआ था, जो कि ग्रह से जाकर जुड़ गयी थी। पृथ्वी से दिये गये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांकेतिक आदेश से खोजी गाड़ी के रास्ते और चाल में सुधार भी किये गये थे। अंतरिक्ष यान के उपकरणों में तापमान, चुम्बकीय क्षेत्रों, विकिरण तथा ग्रह की अन्य प्रवृत्तियों का निरीक्षण किया गया और उनके निष्कर्षों को रेडियो तरंगों के माध्यम से धरती पर प्राप्त किया गया। यान से लगे पंख जैसे फलकों पर संलग्न, सूर्यचालित बैट्रियों से विद्युत शक्ति उत्पन्न की गयी। सिलीकॉन के छोटे–छोटे फलकों के प्रयोग से सूर्य के प्रकाश को बिजली में बदल दिया गया था। अमेरिका द्वारा सन् १९६५ में प्रक्षेपित 'मेरीनर–४' ने ६००० किलोमीटर की दूरी से दूरदर्शन के लिए चित्र भेजे। सन् १९६९ में 'मेरीनर–६' और '७' मंगल ग्रह के बहुत पास से गुजरे। सन् १९७१ में 'मेरीनर–९' ने मंगल की परिक्रमा की और उसकी सतह के बहुत विस्तृत और बारीकियों से भरे चित्र भेजे। सन् १९७३ में 'मेरीनर–१०' बुध (मरकरी) ग्रह से लगभग १००० किलोमीटर से गुजरा। 'वीकिंग' नाम के दो अंतरिक्ष यान सन् १९७५–७६ में मंगल ग्रह को भेजे गये। प्रत्येक में एक भाग चक्कर लगाने के लिए और दूसरा उतरने के लिए था। उतरने वाले भाग में खोजी उपकरण लगे हुए थे तथा उन्हें मंगल ग्रह पर जीवन की भी खोज करनी थी।

सोवियत संघ ने चन्द्रमा के बाद शुक्र पर खोज आरम्भ की थी। उसके 'वीनस–४', १९६७ में, '५' और '६', १९६९ में, '७', १९७० में, '९' और '१०', १९७५ में शुक्र की परिक्रमा करते रहे। 'वीनस–११' और '१२', १९७८ में उस ग्रह के सघन वातावरण में उतरे। इसी प्रकार उनके कई यानों ने पहले मंगल की परिक्रमा की और फिर उनमें से २ और ३ ने उसके ऊपर कई खोजी उपकरण उतारे। शुक्र और मंगल ग्रह को भेजे गये यानों ने धरती पर बहुत महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ भेजीं।

सन् १९७२ में संयुक्त राज्य अमेरिका ने 'पायोनियर–१०' को अंतरिक्ष में भेजा था : उसने सूर्य के परिक्रमा क्षेत्र से सर्वथा बाहर बृहस्पति (जूपिटर) के बहुत पास तक की यात्रा की थी। यह यान उन ग्रहों के लिए जिनमें जीवन्तता हो, सांकेतिक भाषा में यह सूचना लेकर गया था कि पृथ्वी पर जीवन है। सन् १९७३ में 'पायनियर–२', बृहस्पति और शनि (सैटर्न) के निकट से उड़ा था। अमेरिका के अंतरिक्ष यान 'वायजर–१' और '२', १९७६ में बृहस्पति के बहुत निकट से उड़े थे। 'वायजर–२' तो १९८६ में यूरेनस ग्रह के पास ही पहुँच गया था। इन यानों ने परिक्रमा करते हुए बृहस्पति और शनि ग्रहों के अनेक चित्र भी भेजे थे।

अंतरिक्ष में भेजे गये इन यानों के अतिरिक्त कुछ कृत्रिम उपग्रह भी भेजे गये, जिन्होने संचार माध्यम का कार्य किया। उनके द्वारा दूरभाष के संवादों, रेडियो संदेशों और दूरदर्शन के कार्यक्रमों को धरती पर भेजा गया। उपग्रह संकेतों को ग्रहण करता है, और उन्हें विस्तार देकर धरती पर वापस भेज देता है।

अन्तरिक्ष में भेजे गये संचार उपग्रह पृथ्वी के परिभ्रमण क्षेत्र में लगभग ३५,८०० किलोमीटर की ऊँचाई तक पहुँचाये जाते हैं। वहाँ एक स्थान पर रुककर वे पृथ्वी से सांकेतिक संदेश ग्रहण करते हैं, और फिर उसे वापस भेजते हैं। वे इस प्रकार अंतरिक्ष में आकाशवाणी या दूरदर्शन के टावर का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार के संदेश–ग्राहक और फिर उसके संप्रेषक उपग्रह की स्थापना सर्वप्रथम १९६३ में हुई थी। सन् १९६४ में अन्तरराष्ट्रीय दूरसंचार उपग्रह संघ 'इन्टर–नेशनल टेलीकम्यूनिकेशन्स् सैटलाइट कंसॉर्टियम' की स्थापना हुई थी, जिसके माध्यम से एक समय में ६००० टेलीफोन वार्ताएँ और पूरे विश्व को दूरदर्शन कार्यक्रम प्रसारित किये जा सकते थे। कालान्तर में कुछ ऐसे उपकरण संयोजित किये गये कि उनके द्वारा इससे दुगनी संख्या में दूरसंचार के कार्यक्रम संप्रेषित होने लगे। सोवियत संघ ने इसी कार्य के लिए 'मूलनिया' उपग्रह की स्थापना की थी।

सोवियत संघ १९९१ में विघटित हो गया तथा उसका अंतरिक्ष कार्यक्रम समाप्त हो गया। किन्तु अमेरिका बराबर सक्रिय रहा है। १९९४ में उसने 'क्लेमेन्टाइम' खोज का कार्यक्रम चलाया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि चन्द्रमा के गह्वर में उसने पानी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और बर्फ की जमावटें खोज ली हैं। १६६५ में उसने सूर्य के भीतरी भाग की खोज के लिए 'सोहो' अंतरिक्ष यान प्रक्षेपित किया। सन् १६६७ में उसने मंगल ग्रह पर अनुसंधान के लिए 'मार्स पाथफाइन्डर' नाम की छह पहियों की गाड़ी को उतारा। इसी वर्ष उसने शनि ग्रह पर खोज के लिए 'कासनी' आंतरिक्ष यान को भेजा, जिसकी यात्रा लगभग ७ वर्षों तक चलती रही।

अमेरिका और रूस ने सैनिक सर्वेक्षण के लिए अपने भेजे गये उपग्रहों का प्रयोग आरम्भ किया। अमेरिका द्वारा मानव–रहित भेजे गये उपग्रहों में 'मीदास' (मिसाइलडिफेन्स एलार्म सिस्टम), 'सामोस' (सैटलाइट एण्ड मिसाइल आबजरवेशन सिस्टम), 'डिसकवरर', 'ऐजेना' और 'वेला' श्रेणी के यान आते हैं। यह सभी उपग्रह कैमरा, गुप्त अन्वेषक और ऐसे इलेक्ट्रानिक उपकरणों से युक्त रहे हैं, जो कि सतह के चित्र ले सकें, अन्य देशों से भेजे गये प्रक्षेपास्त्रों को पहचान सकें, सम्भाष्य नाभिकीय विस्फोटों को जान सकें तथा रेडियो के संकेतों तथा रडार के प्रेषणों को पहले से समझ सकें। सोवियत संघ के 'कासमॉस' उपग्रहों ने भी कुछ ऐसे ही कार्य किये थे।

अंतरिक्ष में कुछ उपग्रह विश्व के सभी प्रदेशों की जलवायु के अध्ययन के लिए भी भेजे गये हैं। ये मानव–रहित उपग्रह, अनेक उपकरणों यथा कैमरा, अवरक्त (इन्फ्रा–रेड) खोजी यन्त्रों आदि से लैस होकर तापमान की माप करते हैं; तथा धरती तथा सागरों के ऊपर होने वाले जलवायु सम्बन्धी परिवर्तनों की जानकारी प्रदान करते हैं। बादलों के आवरण के फोटो, आँधी या तूफान आने की पहले से सूचना देते हैं और इसी प्रकार पृथ्वी के चारों ओर होने वाले परिवर्तनों का पूर्वाभास कराते हैं। इस प्रकार के उपग्रह रेडियो अथवा दूरदर्शन के माध्यम से अपनी उपलब्ध सूचनाओं को धरती पर भेजते हैं। वे यह भी बताते हैं कि उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों के क्षेत्र में बर्फ कितना सघन है और कितना जल है। जलवायु की सूचना देने वाले उपग्रहों में 'टीरॉस', 'निम्बस', 'ऐसा' (एनवायरनमेन्टल साइन्स सर्विसेज एडमिनिस्ट्रेशन), 'एटीएस' (एप्लाइड टेक्नॉलॉजी सैटेलाइट), 'कॉसमॉस' आदि हैं। इसी प्रकार के उपग्रहों से हमारी आकाशवाणी और दूरदर्शन प्रतिदिन हमें देश के विभिन्न भागों में होने वाले जलवायु के परिवर्तनों की सूचना देते हैं।

उपग्रहों का प्रयोग करने वाले विभिन्न राष्ट्र, प्राप्त सूचनाओं का अपेक्षानुसार आदान प्रदान करते रहते हैं। अन्तरिक्ष में अनुसंधान के लिए एक अन्तरराष्ट्रीय समिति है 'सी०ओ०एस०पी०ए०आर०', जिसकी स्थापना सन् १६५८ में की गयी थी। यूरोपीय देशों ने सूचनाओं के आदान–प्रदान के लिए अपनी एक अलग समिति 'यूरोपियन स्पेस एजेन्सी' बनायी है। वह अमेरिका के सहयोग से अंतरिक्ष में प्रयोगशाला भी स्थापित करती है।

सन् १६७१ में ब्रिटेन ने 'प्रासपेरो' नाम का उपग्रह 'ब्लैक ऐरो रॉकेट' के माध्यम से प्रक्षेपित किया था। इसके बाद भारतीय वैज्ञानिकों ने भी, पहले अन्य देशों के और फिर स्वयं अपने रॉकेटों के माध्यम से उपग्रह प्रक्षेपित किये। आज अन्तरिक्ष में उपग्रह प्रक्षेपित करने वाले सात राष्ट्र हैं, यथा रूस, संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, जापान, चीन, ब्रिटेन और भारत। भारत के श्री हरिकोटा रॉकेट केन्द्र से जर्मनी ने भी अपना उपग्रह भेजा था। (देखिए इसरो)

संयुक्त राष्ट्र संघ ने सन् १६६६ में विभिन्न राष्ट्रों से यह सन्धि करायी थी कि वे वाह्य अंतरिक्ष का उपयोग सैनिक दृष्टि से नहीं, वरन् शान्ति व्यवस्था की दृष्टि से करें। उसमें स्पष्ट उल्लेख है कि नाभिकीय अस्त्र–शस्त्र पृथ्वी की परिक्रमा कक्ष में नहीं भेजे जायेंगे; और न ही चन्द्रमा आदि ग्रहों में सैनिक अड्डों की ही स्थापना की जायेगी।

कल्पना चावला

नासा के एक अंतरिक्ष अभियान में कार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने का सुयोग एक भारतीय महिला कल्पना चावला को १६८८ में मिला। उनका जन्म करनाल में हुआ था। करनाल के टैगोर कालेज से १६७६ में बी.एससी. करने के बाद उन्होंने पंजाब इंजीनियरिंग कालेज से १६८२ में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। उसके बाद टेक्साज़ विश्वविद्यालय से परास्नातक की उपाधि लेने के अनन्तर १६८८ में कोलोरेडो विश्वविद्यालय से वैमानिकी में पी–एच.डी. किया। पहले उन्होंने नासा के एमस रिचर्स सेन्टर में पावर्ड–लिफ्ट कॅम्प्यूटेशनल फ्लूयिड डायनामिक्स क्षेत्र में कार्य किया। उन्हें १६६३ में ओवर सेट्स मेथडस, लास एल्टास, कैलीफोर्निया में उपप्रधान के रूप में कार्य करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। अनेक सहयोगियों के साथ उन्होंने वैमानिकी विषय पर अनुसन्धान कार्य किया और उनके कई अनुसन्धान–पत्र, पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। उनके उसी कार्य के फलस्वरूप दिसम्बर, १६६४ में उन्हें नासा में कार्य करने के लिए चुन लिया गया। उन्हें १६६७ में एसटीएस–८७ अन्तरिक्ष यात्रा में भेजा गया। वर्ष २००३ में उन्हें एसटीएस– १०७ में ३० दिन, १४ घन्टे और ५४ मिनट, अंतरक्षि में रहने का सुअवसर मिला। यह अभियान जनवरी १६ को आरम्भ हुआ था। इस अभियान में २४ घन्टे, एक–एक दिन छोड़कर कार्य हुआ था और ८० अनुसंधान योजनाएँ सम्पन्न हुई थी। यह अभियान अचानक फरवरी, २००३ में समाप्त हो गया था, जब अन्तरिक्ष यान कोलम्बिया अपने उतरने के १६ मिनट पहले ही दुर्घटना ग्रस्त होकर गिर पड़ा था। इसी दुर्योग में कल्पना चावला और उनके सभी सहयोगियों का निधन हो गया था।

कल्पना को, इस दुर्योग के बाद नासा का स्पेस फ्लाइट मेडल तथा का विशिष्ट सेवा मेडल प्रदान किये गये थे। कांग्रेस ने भी उन्हें स्पेस मेडल ऑफ आनर दिया था। न्यूयार्क में २००५ में उनकी स्मृति को जीवित रखने के लिए एक सड़क का नाम कल्पना चावला मार्ग रखा गया है। (जनवरी, ३०, २००५, दि हिन्दू, अंग्रेजी दैनिक, दिल्ली)

अंतरिक्ष अभियान (भारतीय) भारत ने साठ के दशक में डॉ० विक्रम साराभाई की प्रेरणा तथा निर्देशन में अंतरिक्ष तकनीकी की दिशा में प्रयास करना आरम्भ किया। भारत का प्रथम राकेट २० नवम्बर १६६७ को थुम्बा नामक स्थान से छोड़ा गया। 'रोहिणी–७५' नामक उस राकेट का व्यास ७५ मि०मी० तथा भार केवल १० कि०ग्रा० था। कुछ लोगों ने इसे खिलौना ही कहा, जब कि इसके बाद के 'रोहिणी' श्रेणी के बड़े राकेटों के निर्माण और प्रक्षेपण में इससे प्राप्त जानकारी को ही आधार बनाया गया। अगले पाँच वर्षों में राकेटों का भार ६० कि०ग्रा० से लेकर २ टन तक हो गया। सत्तर का दशक पूरा होते–होते अंतरिक्ष में तीन उपग्रह छोड़कर और उपग्रह प्रक्षेपण यान 'एस०एल०वी–३' बनाकर भारत ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सफलता दर्ज की। अंतरिक्ष में स्थापित उपग्रहों का प्रयोग शिक्षा के लिए करने की दिशा में भारत ने १६७५ में 'साइट' 'सैटेलाइट इन्स्ट्रक्शनल टी०वी० एक्सपेरीमेण्ट्स' अथवा 'उपग्रह प्रशिक्षण टी०वी०–प्रयोग' के अन्तर्गत पहल की थी। आंध्र प्रदेश स्थित श्री हरिकोटा वह स्थान है जहाँ पर उपग्रह छोड़ने का मुख्य स्टेशन है। इसके अतिरिक्त त्रिवेंद्रम, अहमदाबाद, कावालूर तथा निकोबार सहित लगभग २० अन्य स्थान हैं जहाँ पर 'भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संस्थान' (इसरो) के केन्द्र हैं, जो उपग्रहों से प्राप्त जानकारी का विश्लेषण आदि करते हैं। भारत का प्रथम उपग्रह 'आर्यभट्' १६ अप्रैल १६७५ को सोवियत संघ से छोड़ा गया। इसके बाद 'भास्कर–I' तथा 'भास्कर–II' क्रमशः ७ जून १६७६ तथा २० नवम्बर १६८१ को छोड़े गये। अस्सी के दशक में 'इन्सेट' (इंडियन नेशनल सैटेलाइट अथवा भारतीय राष्ट्रीय उपग्रह प्रणाली) श्रृंखला के संचार उपग्रह, 'आई०आर०एस०' (इंडियन रिमोट सेंसिंग सैटेलाइट) श्रृंखला के सुदूर संवेदन उपग्रह तथा 'स्रोस' (स्ट्रेच्ड रोहिणी सैटेलाइट सिरीज़) श्रृंखला के संचार उपग्रह, तथा साथ ही साथ 'ए०एस०एल०वी०', 'पी०एस०एल०वी०' तथा 'जी०एस०एल०वी०' उपग्रह प्रक्षेपण यानों पर भी काम करना प्रारम्भ किया गया। नब्बे के दशक में 'इन्सेट–२' तथा 'आई०आर०एस–पी' श्रृंखला के उन्नत तकनीक वाले उपग्रह प्रक्षेपित किये गये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय भूमि से छोड़ा जाने वाला पहला उपग्रह 'रोहिणी' श्रेणी का 'आर०एस० I' था जिसे 'एस०एल०वी०–१' से १८ जुलाई १९८० को छोड़ा गया। इसके बाद 'रोहिणी' श्रेणी के ही दो अन्य उपग्रह क्रमशः ३१ मई १९८१ तथा १७ अप्रैल १९८३ को छोडे गये। इन उपग्रहों का कार्य सुदूर संवेदन (रिमोट सेंसिंग) अर्थात् प्राकृतिक संसाधनों, विशेष रूप से भू–संसाधनों, की गवेषणा था।

भारत का प्रथम प्रायोगिक 'भू–स्थिर संचार उपग्रह' (जियो स्टेशनरी कम्युनिकेशन सैटेलाइट' जिसका नामकरण 'ऐपिल' ('एरियेन पैसेंजर पेलोड एक्सपेरीमेंट') था, १९ जून १९८१ को कोउरू (फ्रेंच गियाना) से छोड़ा गया। इसके साथ ही भारत संसार के गिने–चुने देशों की श्रेणी में आ गया यथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, सोवियत संघ, कनाडा, फ्रांस तथा जर्मनी। इसके बाद 'इन्सेट–१ए', 'इन्सेट–१बी', 'इन्सेट–१सी' तथा 'इन्सेट–१डी' क्रमशः १० अप्रैल १९८२, ३० अगस्त १९८३, २१ जुलाई १९८८ तथा १२ जून १९९० को छोड़े गये। ये सभी बहूद्देशीय संचार उपग्रह थे। इसके बाद 'इन्सेट–२ए', '२बी', '२सी', '२डी' तथा '२ई' १० जुलाई १९९२ से अप्रैल १९९९ की समयावधि में छोड़े गये। इनमें से 'इन्सेट–२डी' के अतिरिक्त सभी उपग्रह आज भी कार्य कर रहे हैं।

'आई०आर०एस०' श्रेणी के सुदूर संवेदन उपग्रहों की श्रृंखला में 'आई०आर०एस०–१ए', '१बी', 'पी२', '१सी', 'पी३' तथा '१डी', १७ मार्च १९८८ से २९ सितम्बर १९९७ की समयावधि में छोड़े गये तथा ये सभी आज भी कार्यरत हैं।

'इन्सेट' श्रेणी के उपग्रहों में 'इन्सेट–३सी', २४ जनवरी २००२ को एरियेन राकेट द्वारा कोउरू (फ्रेन्च गियाना) से प्रक्षेपित किया गया। इसे सफलतापूर्वक भू–स्थिर कक्षा में स्थापित कर दिया गया है। आने वाले कुछ दिनों में इसके २४सी–बैण्ड ट्रांसपांडरों, छह विस्तारित सी–बैण्ड ट्रांसपांडरों तथा गतिशील उपग्रह सेवा ट्रासपांडरों का परीक्षण करने के बाद इस उपग्रह को पूरी तरह से सेवा में ले लिया जायेगा।

वर्ष १९८४ का अप्रैल मास, भारतीय अंतरिक्ष अभियान प्रेमियों के लिए विशेष रूप से स्मरण किया जायेगा जब भारत–सोवियत अंतरिक्ष अभियान के अन्तर्गत सोवियत अंतरिक्ष यान 'सोयूज–टी–II' में प्रथम भारतीय अंतरिक्ष यात्री स्क्वाड्रन लीडर राकेश शर्मा ने पृथ्वी की परिक्रमा की थी। शर्मा तथा तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के बीच अंतरिक्ष यान से हुई बातचीत का वह अंश अविस्मरणीय है, जब श्रीमती गांधी के प्रश्न पर कि भारत अंतरिक्ष से देखने पर कैसा लगता है, शर्मा ने उत्तर दिया था 'सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा।' नवम्बर १९९७ में भारत की डॉ० कल्पना चावला को प्रथम भारतीय महिला अंतरिक्ष यात्री होने का गौरव प्राप्त हुआ, जब उन्होंने अमरीकी शटलयान कोलम्बिया में सोलह दिवसीय अंतरिक्ष यात्रा की। लेकिन वर्ष २००३ में उनका यान वापस होते समय जल गया था और उसमें उनकी मृत्यु हो गयी थी।

भारतीय अंतरिक्ष अभियान में मई, ५ २००५ को एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण योजना सम्पन्न हुई है। श्री हरिकोटा से पीएसएलवी सी– ६ यान कार्टोसैट एक उपग्रह को लेकर अन्तरिक्ष की ओर उड़ चला। इस यान में रेडियो सेवाएँ देने वाले हैमसैट उपग्रह को भी कक्षा में सफलतापूर्वक स्थापित कर दिया। यह सुबह १० बजकर १४ मिनट पर भारी गर्जना करते हुए आकाश की ओर अग्रसर हो गया। काटोसैट एक के प्रक्षेपण से दूरस्थ संवेद (रिमोट सेन्सिंग) योजनाओं के एक नये दौर की शुरुआत हुई है। डेढ़ टन का यह अत्याधुनिक दूर संवेदी उपग्रह भारत के प्रत्येक घर, सड़क, गली, बस्ती और बड़े–छोटे गाँवों को अपने कैमरे से देख सकने में समर्थ है। इसमें मानचित्र बनाने से लेकर और भी कई प्रकार की नयी से नयी सुविधाएँ हैं। इसमें दो बड़े ही सूक्ष्म कैमरे संलग्न हैं, जो इलेक्ट्रो मैग्नेटिक स्पेक्ट्रम में, पृथ्वी के दिखाई देने वाले क्षेत्र का श्याम और श्वेत स्टीरियों स्पोषिक चित्र ले सकेंगे। उपग्रह में लगाये गये कैमरे में त्रिआयामी नक्शे बनाने की भी सुविधा है।

कार्टोसैट एक में लगाये गये कैमरे, चित्रों को

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कम्पृष्ठ कर पृथ्वी पर स्थित केन्द्रों को भेजेंगे। उन चित्रों को भू–केन्द्रों पर मिलने वाले डाटा से दोबारा बनाया जायेगा। इस उपग्रह में २० गीगाबाइट का एक रिकार्डर भी लगाया गया है, जो कैमरे द्वारा लिये गये चित्रों को संरक्षित रखेगा। हैमसैट को अक्टूबर, २००३ में रिसोर्ससैट ए के साथ प्रक्षेपित किया जाना था; लेकिन किन्हीं कारणों से उस समय यह कार्य नहीं हो सका था। यह पीएसएलवी सी– ६ ही २००७ या २००८ में चन्द्रमा के लिए भारत के पहले अभियान का वाहक बनेगा।

पीएसएलवी सी– ६ इस समय चार चरणों में उपग्रह को प्रक्षेपित करता है। प्रथम चरण में १३८ टन का ठोस नोदक वाला इंजन होता है, जो उपग्रह को आरम्भ में बड़ी तेजी से ऊपर ले जाता है। दूसरे चरण में ४१.५ टन तरल नोदक तथा तीसरे चरण में ७.६ टन ठोस नोदक वाले इंजन का उपयोग किया जाता है। चौथे चरण में दो इंजनों के साथ २.५ टन तरल नोदक का उपयोग किया गया। कार्टोसैट– एक के प्रक्षेपण को भारत के अंतरिक्ष अभियान की सबसे बड़ी उपलब्धि मानना चाहिए।

अंतरीप (अंग्रेजी में केप) भूगोल में समुद्र में निकले हुए तिकोने भूभाग को यह संज्ञा दी गयी है। हमारे देश के दक्षिण में कन्याकुमारी के पास निकले हुए तिकोने भूभाग को, जिसे पश्चिम में अरब सागर और पूर्व में हिन्द महासागर के जल छूते हैं, 'कुमारी अन्तरीप', कहा जाता है। दक्षिण अफ्रीका में नीचे की ओर ऐसा ही भूभाग है। सन् १४२८ में डॉयस ने इसे 'केप ऑफ़ स्टार्म्स' (तूफानों का अन्तरीप) नाम दिया था। उसके कुछ समय बाद वास्कोडिगामा ने जब उस अन्तरीप को पार कर भारतवर्ष को आने का मार्ग खोजा और नये वाणिज्य व्यापार की आशा जगायी, तब से इसे 'केप ऑफ़ गुडहोप' (आशा अन्तरीप) नाम मिला। दक्षिणी अमेरिका में भी ऐसा ही भू–क्षेत्र है: उसे स्पेन के यात्रियों ने 'केप हार्न' (शृंग अन्तरीप) नाम दिया।

अंत्यज 'अन्त्य' शब्द का भौगोलिक अर्थ सीमा परवर्त्ती किया गया है। आर्यों की क्षेत्रीय सीमा के बाहर जो लोग रहा करते थे, उन्हें 'अन्त्यज संज्ञा' दी गयी। इन्हें इसी दृष्टि से अन्त्यावसायी, बाह्य तथा निर्वसित भी कहा जाता था। अधिकांश में इन्हें जंगलों में रहने वाली जातियाँ कहा गया है। ये आर्य नहीं थे, अतः चतुर्वर्णों में इनकी गणना नहीं होती थी। इसी दृष्टि से कहीं–कहीं इन्हें पंचम वर्ण का भी कहा गया है। अन्त्यजों के साथ सवर्णों के भोजन, पान, विवाह आदि के सम्बन्ध भी अनुचित माने गये हैं। अन्त्यजों की समस्या (जिन्हें हम आज आदिवासी कहते हैं) आज भी बड़ी ज्वलन्त है। बंगला की प्रसिद्ध कथाकार श्रीमती महाश्वेता देवी ने इन अन्त्यज जातियों को लेकर अनेक उपन्यास तथा कहानियाँ लिखी हैं। अन्त्यजों की समस्या केवल हमारे देश की ही नहीं है। अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि में भी इस प्रकार की जातियों को लेकर बड़ी गहमागहमी रहती है। आज के उदारमना लोगों ने इन जातियों के लोगों को सभ्य और सुसंस्कृत मानव–समुदाय के साथ मिल–जुलकर रहने की बात कही है।

अंत्याक्षरी यह अपने देश में प्राचीन काल से चली आ रही काव्य–पाठ की एक शब्द–क्रीड़ा है। पहला व्यक्ति मंगलाचरण के रूप में एक छन्द अथवा किसी काव्य–रचना की एक पंक्ति को पढ़ता है। उस पाठ में प्रायः गणेश, सरस्वती अथवा किसी अन्य देवी–देवता की वन्दना होती है। उस छन्द अथवा काव्य–पंक्ति का जो अन्तिम अक्षर होता है, उसे लेकर दूसरा व्यक्ति कोई और काव्य–रचना पढ़ता है। उसकी रचना के अन्तिम अक्षर से काव्य–पाठ की यह प्रक्रिया आगे बढ़ती रहती है। यह काव्य–क्रीड़ा दो व्यक्तियों में भी हो सकती है, लेकिन प्रायः यह चार–पाँच व्यक्तियों को लेकर चलती है। अब तो दो–तीन टोलियों के बीच भी अन्त्याक्षरी की प्रतियोगिता चलने लगी है। एक टोली का एक व्यक्ति एक काव्य रचना पढ़ता है, और उसके अन्तिम अक्षर को लेकर दूसरी टोली का कोई भी व्यक्ति उसे आगे बढ़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता है। जब कोई व्यक्ति अथवा किसी टोली का कोई भी व्यक्ति अन्तिम अक्षर पर रचना नहीं सुना पाता, तो वह पराजित घोषित कर दिया जाता है।

अन्त्याक्षरी की इस शब्द–क्रीड़ा का आरम्भ तो संस्कृत में हुआ था, लेकिन अब हिन्दी में भी इसका खूब प्रचलन है। कभी–कभी तो प्रतियोगिता एक ही काव्य–रचना तक सीमित कर दी जाती है। 'रामचरित मानस' को लेकर विशेष रूप से अन्त्याक्षरी प्रतियोगिताएँ आयोजित होती रहती हैं। अन्त्याक्षरी की यह शब्द–क्रीड़ा पारिवारिक परिवेश से मित्र–मण्डल, विद्यालय और आकाशवाणी एवं दूरदर्शन में भी पहुँच गयी है। अब तो प्रतियोगिताएँ केवल काव्य–रचनाओं को लेकर ही नहीं, वरन् फिल्मी गीतों को लेकर भी होने लगी हैं।

अन्त्याक्षरी की यह शब्द–क्रीड़ा केवल, मनोरंजन ही नहीं करती, स्मरण–शक्ति भी बढ़ाती है, और कविताओं के पठन–पाठन की रुचि जगाती है तथा साहित्यिक संस्कार प्रदान करती है।

अंत्येष्टि भारतीय समाज के सोलह संस्कारों अर्थात् धार्मिक अनुष्ठानों में से एक। ये धार्मिक अनुष्ठान गर्भाधान, जन्मोत्सव, नामकरण, मुण्डन, उपनयन से आगे चलकर अन्तिम संस्कार 'अन्त्येष्टि' में समाप्त होते हैं। जब किसी भारतीय का अन्तिम क्षण आता है, तो परिवार के लोग उसके पास एकत्र होते हैं। धर्मग्रन्थों का पाठ होता है। उसके मुख में गंगाजल और तुलसीदल डाले जाते हैं। समर्थ लोग गौ–दान के लिए भी कोई धनराशि देते हैं। जब उसका निधन हो जाता है, तो उसे तुरन्त धरती पर उतारा जाता है, फिर उसकी शवयात्रा की तैयारी चलने लगती है। उसे टिकटी पर लिटाया जाता है, उस पर चादर डालकर उसे फूलों से सजाया जाता है। अगर स्त्री सधवा रही हो तो, उस पर चूनर भी डाली जाती है। फिर शवयात्रा आरम्भ होती है। 'हरिबोल', 'राम नाम सत्य' जैसे बचनों का उच्चारण होता है। अगर वयोवृद्ध व्यक्ति की अन्तिम यात्रा हो, तो उस पर मखाने, पैसे आदि भी बरसाये जाते हैं। शवयात्रा सामान्यतः किसी नदी के तट की ओर जाती है। गंगा को सर्वाधिक पवित्र समझा जाता है। इसलिए दूर–दराज के लोग भी, गंगातट को ही ले जाते हैं। पास–पड़ोस में जहाँ कोई नदी नहीं मिलती, वहाँ विशेष रूप से बनाये गये श्मशान क्षेत्र में उसका संस्कार होता है। सामान्यतः ज्येष्ठपुत्र अथवा पति, मुखाग्नि देता है। अन्त में कपाल–क्रिया भी, जिसमें मृत व्यक्ति के शिरोभाग को बाँस के सहारे तोड़ा जाता है, उसी के द्वारा सम्पन्न होती है। एक–दो दिनों बाद परिवार के लोग उस व्यक्ति के साथ जाकर उसकी जली हुई अस्थियों, को जिन्हें, 'फूल' कहते हैं, इकट्ठा करते हैं, और उसे फिर गंगा में या किसी पवित्र नदी में प्रवाहित किया जाता है।

वह व्यक्ति जो मुखाग्नि देता है, कुछ दिनों तक अशौच समझा जाता है। वह पास ही किसी निश्चित स्थान पर या पीपल के वृक्ष पर एक घट बाँधता है, उसमें जल भरता है, और फिर उस वृक्ष के नीचे के भाग में सन्ध्या के समय एक दीप प्रज्वलित करता है। यह प्रक्रिया पूरे दस दिनों तक चलती रहती है। फिर वह व्यक्ति एवं परिवार के अन्य लोग अपने सिर मुँड़ा कर शुद्ध होते हैं। इन पूरे दस दिनों तक वह व्यक्ति और परिवार के अन्य लोग, किसी पण्डित को बुलाकर 'गरुड़ पुराण' का पाठ सुनते हैं। इस पुराण में मृत्यु के बाद जीवात्मा को किन–किन सम और विषम परिस्थितियों से गुजरना होता है, उसके विवरण हैं। ग्यारहवें दिन परिवार के लोग बैठकर विशेष प्रकार का पूजन करते हैं। अन्त्येष्टि का अन्तिम कार्य तेरहवीं को सम्पन्न होता है, जिसमें महाब्राह्मण विशेष प्रकार की पूजा कराता है, और परिवार के लोगों को विश्वास दिलाता है कि उनके पूर्व–पुरुष प्रेतयोनि से मुक्त होकर अब मुक्तजीवन का लाभ उठायेंगे। महाब्राह्मण को उस समय उस पूर्व–पुरुष या स्त्री के स्मृति–स्वरूप अन्न, वस्त्र, पलंग, उस पर बिछाने के सामान आदि दिये जाते हैं। उस वर्ष के प्रति मास में उस व्यक्ति के लिए श्राद्ध के आयोजन होते हैं। उसके बाद प्रतिवर्ष उसके निधन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के दिन अथवा पितृ–पक्ष में आश्विन कृष्ण प्रतिपदा से आश्विन कृष्ण अमावस्या तक बड़ी श्रद्धा के साथ विस्तृत विधि–विधान से उसका स्मरण किया जाता है।

अन्तिम संस्कार के लिए वाराणसी के मणिकर्णिका घाट को सर्वाधिक पवित्र कहा जाता है; इसलिए निकट के शहरों के सम्पन्न लोग वहीं जाकर अपने प्रिय पुरुष या स्त्री को मुखाग्नि देते हैं।

अंत्येष्टि की प्रक्रिया मृत्यु के चार वर्ष बाद चौथा पाटा नाम के संस्कार से पूरी होती है। कुछ लोग उसके बाद भी वार्षिक श्राद्ध करते रहते हैं। गया जाने पर, और वहाँ, श्राद्ध कर लेने के अनन्तर अन्त्येष्टि की प्रक्रिया को विराम लगता है। पश्चिमोत्तर भारत में कश्मीर के मत्तन नामक स्थान को, जिसका पूर्व नाम मार्तण्ड था, अंत्येष्टि के अन्तिम श्राद्ध के लिए उपयुक्त माना जाता है।

अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय यह न्यायालय संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रधान न्यायिक अंग है। उसका प्रधान कार्यालय हेग (नीदरलैण्ड्स) में है। परंतु यदि न्यायालय अपना अधिवेशन और अपने कर्तव्यों का पालन अन्यत्र करना ठीक समझे तो, वह ऐसा कर सकता है। इस न्यायालय के १५ न्यायाधीश होते हैं। वे, महासभा (जेनरल असेम्बली) और सुरक्षा परिषद् (सेक्यूरिटी काउन्सिल) द्वारा ६ वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते हैं। केवल वे व्यक्ति न्यायाधीश चुने जाते हैं, जिन्हें दोनों निकायों (महासभा और सुरक्षा परिषद्) में अधिकतम मत मिलते हैं। इनमें से कोई भी दो न्यायाधीश एक ही राज्य के राष्ट्रिक (नेशनल्स्) नहीं हो सकते। नौ वर्ष की अवधि के पश्चात् किसी भी न्यायाधीश को पुनः निर्वाचित किया जा सकता है। न्यायाधीश केवल वही व्यक्ति बन सकते हैं, जो अपने देशों में उच्चतम न्यायिक पदों पर नियुक्त किये जाने की योग्यताएँ रखते हैं। न्यायाधीश तब तक अपने कर्तव्यों का निर्वहन करते रहते हैं, जब तक कि उनके स्थान भरे नहीं जाते। उनके स्थान पर दूसरे न्यायाधीश का चयन हो जाने पर भी, वे उन मुकदमों (केसेज) का निपटारा करेंगे, जिन पर उन्होंने विचार करना आरम्भ कर दिया है।

कोई भी न्यायाधीश, कोई राजनीतिक या प्रशासनिक कार्य नहीं कर सकता अथवा किसी अन्य व्यवसाय या धंधे में नहीं लग सकता। वह किसी मामले में अभिकर्ता (एजेन्ट) या अधिवक्ता (ऐड्वोकेट) के रूप में भी कार्य नहीं कर सकता।

प्रत्येक न्यायाधीश अपना कार्यभार ग्रहण करने से पहले, न्यायालय में सत्यनिष्ठा से घोषणा करता है कि वह अपनी शक्तियों का प्रयोग निष्पक्षता से और शुद्ध अन्तःकरण से करेगा। न्यायालय अपने अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को तीन वर्ष के लिए निर्वाचित करता है। उन्हें पुनः निर्वाचित किया जा सकता है। न्यायालय अपने रजिस्ट्रार की नियुक्ति करता है, और अन्य ऐसे अधिकारियों की नियुक्ति कर सकता है, जो आवश्यक हों।

किसी भी न्यायाधीश को तभी पदच्युत किया जा सकता है, जब अन्य न्यायाधीश सर्वसम्मति से यह राय प्रकट करें कि अब वह अपेक्षित शर्तें पूरी नहीं करता। रजिस्ट्रार उनकी इस राय की सूचना, संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव (सेक्रेट्री जनरल) को देगा। इस सूचना से स्थान रिक्त हो जायेगा।

न्यायाधीशों के वेतन व भत्ते महासभा द्वारा नियत किए जाते हैं। ये उनके कार्यकाल के दौरान घटाये नहीं जा सकते। अध्यक्ष को विशेष वार्षिक भत्ता दिया जाता है। उपाध्यक्ष को ऐसे प्रत्येक दिन के लिए, जिस दिन वह अध्यक्ष के रूप में कार्य करता है, विशेष भत्ता मिलेगा। रजिस्ट्रार का वेतन न्यायालय के प्रस्ताव पर महासभा नियत करती है।

न्यायालय का क्षेत्राधिकार, शक्तियाँ और कार्य न्यायालय के समस्त मामलों में केवल राज्य ही पक्षकार हो सकते हैं, व्यक्ति नहीं। वे सभी, राज्य जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य हैं, न्यायालय में जा सकते हैं। ऐसे राज्य भी अपने मामले न्यायालय में ले जा सकते हैं, जो संयुक्त राष्ट्र के सदस्य नहीं हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस स्थिति में उस राज्य को, न्यायालय के व्यय का एक निश्चित अंश वहन करना पड़ेगा।

'अनिवार्य एवं बाह्य क्षेत्राधिकार' के अंतर्गत न्यायालय उन विवादों पर विचार करता है, जिनमें किसी संधि (ट्रीटी) की व्याख्या का प्रश्न निहित है। वह अंतरराष्ट्रीय विधि की व्याख्या करता है और किसी अन्तरराष्ट्रीय संधि के भंग किए जाने की स्थिति में, हानिपूर्ति की प्रकृति और मात्रा तय करता हैं।

न्यायालय का 'ऐच्छिक क्षेत्राधिकार' उन सभी मामलों को लेकर है, जो राज्यों या सुरक्षा परिषद् द्वारा उसके समक्ष लाए जाते हैं। जब एक राज्य न्यायालय के समक्ष कोई विवाद लाता है और दूसरा राज्य उस मामले में प्रतिवादी बनना स्वीकार कर लेता है, तो यह मान लिया जायेगा कि दोनों राज्य अपने झगड़े का न्यायालय द्वारा समाधान चाहते हैं।

न्यायालय का 'सलाहकारी क्षेत्राधिकार' भी है। महासभा, सुरक्षा परिषद् अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ के विशिष्ट अभिकरण न्यायालय से सलाहकारी राय (एड्वाइज़री ओपिनियन) ले सकते हैं। जिन प्रश्नों पर न्यायालय से राय माँगी गयी है, वे लिखित अनुरोध के रूप में न्यायालय के समक्ष रखे जायेंगे और उसके साथ ऐसे दस्तावेज संलग्न किए जायेंगे, जिनसे उस प्रश्न पर प्रकाश पड़ सकता हो।

न्यायालय की कार्रवाई के लिए कम–से–कम नौ न्यायाधीशों की मौजूदगी जरूरी है। किन्हीं विशेष परिस्थितियों में, संपूर्ण न्यायालय की बैठक भी संभव है। न्यायालय किन्हीं कम महत्त्वपूर्ण मामलों में तीन या पाँच न्यायाधीशों की बेंच का गठन कर सकता है। ये मामले इस प्रकार के होंगे, जैसे कि श्रमिकों से संबंधित विवाद अथवा पारगमन या संचार (कम्यूनिकेशन) से संबंधित मसले।

न्यायालय के निर्णयों के लिए बहुमत की आवश्यकता होती है। यदि न्यायाधीशों के मत बराबर–बराबर हैं, तो आयु में ज्येष्ठतम न्यायाधीश को निर्णायक मत (कास्टिंग वोट) देने का अधिकार होगा। न्यायालय का निर्णय अन्तिम (फ़ाइनल) होगा और उसके विरुद्ध अपील नहीं की जा सकेगी। किसी निर्णय के पुनरीक्षण (रिव्यू) के लिए आवेदन केवल इस आधार पर किया जा सकेगा कि किसी ऐसे तथ्य का पता चला है, जो निर्णयात्मक तथ्य है और उस समय जबकि निर्णय दिया गया था, न्यायालय को उस तथ्य की जानकारी नहीं थी। पुनरीक्षण के लिए आवेदन, नया तथ्य ज्ञात होने की तारीख से अधिक से अधिक छह मास के भीतर किया जा सकेगा। न्यायालय के निर्णयों को लागू करने की जिम्मेदारी सुरक्षा परिषद् की है।

अन्तरराष्ट्रीय राजनीति

विभिन्न राष्ट्रों के बीच की राजनीति अन्तरराष्ट्रीय राजनीति है। प्रायः सभी राज्य एक–दूसरे को अपना प्रतिद्वन्द्वी मानकर चलते हैं। अन्तरराष्ट्रीय राजनीति विभिन्न राष्ट्रों की आपसी प्रतिस्पर्द्धा, उनके मतभेदों, संघर्षों और उन संघर्षों के समाधान से संबंधित है। राजनीति में सिर्फ यह बात ही महत्त्वपूर्ण नहीं है कि अपने विशुद्ध हितों या शुद्ध स्वार्थ के लिए कौन सी नीतियाँ अपनायी जायें, बल्कि यह भी महत्त्वपूर्ण है कि उन नीतियों के परिपालन में जो कठिनाई या प्रतिरोध उत्पन्न हो, उसका मुकाबला कैसे किया जाये।

अन्तरराष्ट्रीय राजनीति के मुख्य तत्त्व

अन्तरराष्ट्रीय राजनीति के तीन मुख्य तत्त्व हैं : राष्ट्रहित, विवाद और उन विवादों का निवारण। विवादों का निवारण युद्ध द्वारा होता है और शान्तिपूर्ण उपायों से भी। युद्धों के तीन प्रकार हैं : प्रथम, किसी एक राष्ट्र या एक से अधिक राष्ट्रों का किसी अन्य राष्ट्र या राष्ट्रों से युद्ध। राजनयिक और राजनेता युद्ध को अवांछित तो समझते हैं, पर साथ ही उसे अपने हितों की सिद्धि का साधन मानकर भी चलते हैं। द्वितीय, किसी राज्य के आक्रामक मंसूबों और विस्तृत प्रसार को अन्य राज्यों की सम्मिलित कार्यवाही से विफल किया जाना, जैसे कि नेपोलियन या हिटलर की योजनाओं को विफल किया गया। तृतीय, संयुक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्र संघ अथवा सुरक्षा परिषद् द्वारा अपराधी राष्ट्र के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई। उस स्थिति में संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य–राष्ट्रों का यह कर्त्तव्य है कि वे अपनी सैनिक टुकड़ियाँ तुरन्त उपलब्ध करायें। संयुक्त राष्ट्र संघ शान्ति मिशन (पीस कीपिंग मिशन) के अन्तर्गत, लेबनान, साइप्रस, कोरिया, कंबोडिया, सोमालिया, मोजांबिक और सिएरा लिओन जैसे देशों में अपने सैनिक भेजता रहा है।

शान्तिपूर्ण उपायों के अन्तर्गत प्रायः इन उपायों की चर्चा की जाती है – वार्त्ता (निगोसिएशन), मध्यस्थता (मीडिएशन), विवाचन अथवा पंच–फैसला (आर्बिट्रेशन) और न्यायिक निर्णय (जुडिशियल सेटिलमेन्ट)।

अन्तरराष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति

राजनीति के इस रूप की प्रकृति के विषय में पहली उल्लेखनीय बात यह है कि अनेक नये राष्ट्र–राज्यों (नेशन स्टेट्स) का उदय हो जाने से, उसका स्वरूप अब सचमुच अन्तरराष्ट्रीय हो गया है। परम्परागत रचनाओं में आमतौर पर अमेरिका और यूरोपीय राज्यों के अन्तरराष्ट्रीय संबंधों का ही विवरण मिलता है। परन्तु एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका के विकासशील राज्यों का महत्त्व बढ़ जाने से, इस राजनीति का दायरा, अब पहले से बहुत अधिक व्यापक हो गया है। अक्टूबर १९४५ में संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य–राष्ट्रों की संख्या मात्र ५१ थी, जो सितम्बर सन् २००० में बढ़कर १८६ हो गयी। अब इस मंच पर भाग लेने वालों की संख्या बहुत बढ़ गयी है। इसके अतिरिक्त विभिन्न देशों की आम जनता भी अब वैदेशिक मामलों में रुचि रखने लगी है। आज की अन्तरराष्ट्रीय राजनीति पहले की अपेक्षा अधिक लोकतान्त्रिक हो गयी है।

अन्तरराष्ट्रीय राजनीति के संबंध में दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य, 'शक्ति का बाहुल्य' है, जिसके लिए उन्नत प्रौद्योगिकी (टेक्नालॉजी) उत्तरदायी है। 'शक्ति', राजनीति का एक अनिवार्य तत्त्व है और रहेगा, पर अब स्थिति यह है कि कोई भी परमाणु–शक्ति संपन्न राष्ट्र, युद्ध में अपने सारे साधन झोंकना नहीं चाहेगा। परमाणु–युद्ध का अर्थ है, 'सर्वनाश'। शस्त्रों की मारक क्षमता बढ़ जाने की वजह से युद्ध केवल सीमित मात्रा तक ही, विवादों के समाधान का साधन रह गया है।

इस दूसरे तत्त्व से ही उपजा है, अन्तरराष्ट्रीय राजनीति का तीसरा महत्त्वपूर्ण आयाम, जिसे हम 'शान्ति के लिए बढ़ती हुई चिन्ता' कह सकते हैं। इस नयी शताब्दी में राष्ट्रों के बीच शान्ति की स्थापना, परमाणु निरस्त्रीकरण से ही हो सकती है, न कि आंशिक रूप से परमाणु–शक्ति संपन्न बने रहने से। संयुक्त राष्ट्र संघ चिरस्थायी शान्ति का संस्थागत साधन बन सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रनेता और राजनयिक अपने राष्ट्रीय हित को इतना तूल न दें, जिससे कि किसी अन्य राष्ट्र की सह्य सीमा का बाँध टूट जाये। टकराव केवल वैरपूर्ण आक्रमणों अथवा नये प्रदेशों की लालसा से ही पैदा नहीं होता, वह विभिन्न देशों के बीच समान विकास न हो पाने की स्थिति से भी उत्पन्न होता है। आज का यथार्थ, विकसित और विकासशील देशों में विश्वव्यापीकरण से होने वाले लाभों की विषमता के कारण सामने आ रहा है। जब गिनती के कुछ देश समृद्ध होते जा रहे हों, तब अधिकांश देशों का निरन्तर गरीब बनते जाना, देशों के बीच शांति को खतरा पैदा करता है।

अंतिम मुख्य बात यह है कि आज बहुत से क्षेत्रीय संगठनों का जन्म हो चुका है, जैसे कि 'यूरोपीय यूनियन', 'दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ' ('सार्क'), 'दक्षिण–पूर्व एशियाई क्षेत्रों का संघ' ('आसियान'), 'अरब लीग' और 'राष्ट्रमंडल' ('कॉमनवेल्थ ऑफ़ नेशन्स')। ये संगठन विश्व–मंच पर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। परन्तु विश्व व्यवस्था का आदर्श आधार ऐसा विश्व राज्य ही होगा, जिसमें राष्ट्रीय प्रभुसत्ता से उत्पन्न होने वाली बाधाएँ हट जायेंगी।

अन्तरराष्ट्रीय श्रम–संगठन इस संगठन की स्थापना १९१९ में वारसाई की संधि द्वारा 'लीग ऑफ़ नेशन्स' के एक स्वायत्त अंग के रूप में की गयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी। वह तभी से क्रियाशील है और द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भी कार्य करता रहा। १६४६ में यह संयुक्त राष्ट्र संघ का एक विशिष्ट अभिकरण (एजेंसी) बन गया। इस श्रम संगठन की स्थापना इस उद्देश्य को लेकर की गयी थी कि रोजगार के अवसर बढ़ें, रोजगार के अवसर बेहतर बनें, औद्योगिक जगत् में सामंजस्य बना रहे और सामाजिक न्याय को बढ़ावा मिले। भारत प्रारंभ से ही इस श्रम-संगठन का सदस्य है।

श्रम-संगठन के तीन अंग हैं- 'अन्तरराष्ट्रीय श्रम कॉन्फरेन्स', 'शासकीय निकाय' ('गवर्निंग बॉडी') तथा 'अन्तरराष्ट्रीय श्रम कार्यालय'। 'श्रम कॉन्फरेन्स, 'शासकीय निकाय' के सदस्यों को निर्वाचित करती है और वार्षिक बजट का अनुमोदन करती है। अन्तरराष्ट्रीय श्रम कार्यालय का प्रधान अधिकारी 'डाइरेक्टर जनरल' कहलाता है, जिसकी नियुक्ति शासकीय निकाय करता है। श्रम-संगठन का मुख्यालय जेनेवा, स्विट्जरलैण्ड में स्थित है।

अन्तरराष्ट्रीय श्रम-संगठन के कार्य इस श्रम-संगठन के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं :

१. सामाजिक सुरक्षा और कल्याण से संबंधित कार्य, जैसे कारखानों, व्यापारिक संस्थानों और कृषि से जुड़े श्रमिकों को औद्योगिक और व्यापारिक ख़तरों से सुरक्षा प्रदान कराना। श्रम-संगठन की कन्वेंशन्स (संविदाज़ात विधियाँ) कहती हैं कि कर्मचारियों और उनके आश्रितों को सेवाकाल के दौरान किसी दुर्घटना में, उचित मुआवजा दिया जाये। आकस्मिक बीमारी की अवस्था में इलाज के लिए नकद भत्ता देने का भी प्रावधान है।

२. अन्तरराष्ट्रीय श्रम-संहिता ('इन्टरनेशनल लेबर कोड') श्रमिकों और अन्य कर्मचारियों के वेतन, बोनस भुगतान और सेवाशर्तों का विनियमन करती है। इस संबंध में अभी तक २५ कन्वेन्शन्स अंगीकृत की जा चुकी हैं। कारख़ानों के मालिकों को निर्देश दिया गया है कि वे अपने कारख़ानों में समुचित मात्रा में प्रकाश, हवा, स्वच्छता तथा कल्याणकारी सुविधाएँ उपलब्ध करायें।

३. महिलाओं और बालश्रमिकों की समस्याओं पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। एक ही तरह के काम के लिए, पुरुष श्रमिकों तथा महिला श्रमिकों को समान मजदूरी देने की व्यवस्था है। कार्यस्थलों पर महिला कर्मचारियों के यौन उत्पीड़न को रोकने के लिए इस श्रम-संगठन द्वारा, व्यापक दिशानिर्देश दिये गये। कारख़ानों और ख़ानों में १५ वर्ष से कम आयु के बच्चों के काम करने की मनाही है।

४. इस श्रम-संगठन द्वारा विकासशील देशों को तकनीकी सहायता प्रदान की गयी है। व्यावसायिक प्रशिक्षण, प्रबंधकीय प्रशिक्षण और उत्पादकता के क्षेत्र में कई परियोजनाएँ शुरू की गयी हैं।

५. इस श्रम-संगठन ने कार्य समितियों की स्थापना की भी सिफारिश की है। इन समितियों में नियोक्ताओं (मालिकों) और श्रमिकों दोनों के प्रतिनिधि होंगे। कार्य समितियों का उद्देश्य मालिकों और कर्मचारियों के बीच मैत्री व भाईचारा स्थापित करना है।

६. कृषि श्रमिकों की स्थिति में सुधार के लिए बहुत सी सिफारिशें की गयी हैं। उपज की कमी और अकाल की स्थिति में सरकार को चाहिए कि दीन-हीन लोगों के लिए लाभकर रोजगार के अवसर जुटाये।

७. इस श्रम-संगठन ने सहकारिता आन्दोलन को लोकप्रिय बनाने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। सहकारिता आन्दोलन का उद्देश्य आत्मनिर्भरता और सहयोग की भावनाएँ जगाना है। गाँवों और नगरों में उत्पादक सहकारी समितियाँ हो सकती हैं और उपभोक्ता सहकारी समितियाँ भी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८. इस श्रम–संगठन द्वारा १९५६ में श्रम समस्याओं के अध्ययन के लिए एक संस्थान, 'इन्टरनेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ़ लेबर स्टडीज़' की स्थापना की गयी। यह संस्थान श्रमिकों, मजदूर संघों, श्रम–रोजगार, श्रम–बाजार और श्रम आन्दोलन के संबंध में अनुसंधान को प्रोत्साहन देता है। उसका एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह भी है कि श्रमिकों और कामगारों के अन्दर अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता पैदा की जाये।

श्रम–संगठन द्वारा की गयी सिफारिशें अधिदेशात्मक नियम नहीं होते। उन्हें स्वीकार करना राज्यों की सदिच्छा पर निर्भर है। फिर भी सामाजिक न्याय तथा काम की उन्नत दशा प्राप्त कराने में इस संगठन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

अंतर्दह इंजन इस प्रकार के इंजन में मशीन के भीतर के ही एक भाग में ऊर्जा उत्पादक ईंधन प्रज्वलित होता है। उन इंजनों को जिनका ईंधन मशीन के किसी बाहरी भाग में प्रज्वलित होता है, जैसे भाप के इंजनों में, उन्हें बाह्यदह इंजन कहते हैं। अंतर्दह इंजनों के तीन मुख्य प्रकार माने गये हैं: १. पेट्रोल से चलने वाले इंजन, यथा मोटर गाड़ियाँ, मोटर साइकिलें, स्कूटर, मोपेड और कुछ विशेष प्रकार के वायुयान; २. डीजल से चलने वाले इंजन, यथा भारी–भरकम मशीनें, पानी के जहाज, रेलवे के इंजन, बसें तथा अन्य भारी मालवाहक; ३. गैस टर्बाइन अथवा टर्बोजेट; जो कि अधिकांश में जेट वायुयानों में प्रयोग में आते हैं। इन सभी प्रकार के इंजनों में ईंधन जलता है, जिससे कि हवा गर्म होती है। फलस्वरूप हवा फैलती है या फूलती है, और इस प्रकार अपने दबाव से धक्का देती है जोकि पिस्टन को सिलिण्डर में नीचे दबाता है, अथवा टर्बाइन पर आघात करता है, जिससे कि वह हवा, मिल की भाँति घूमने लगती है।

प्रारम्भ में जो अन्तर्दह इंजन बने थे, वे ईंधन के रूप में शहरों में मिलने वाली सामान्य गैस का, जो गैस–कुकर में जलने वाली गैस की तरह होती थी, प्रयोग करते थे। इस प्रकार का पहला इंजन सन् १८६० में एक फ्रान्सीसी, इतियाने लेनिओर ने बनाया था। उसके बाद दो वैज्ञानिकों, जर्मन निकोलस ओटो और यूजेन लैञ्जेन ने इसी प्रकार के कोई पचास हज़ार इंजन बनाये थे, और सन् १८६७ तथा १८८४ के बीच उन 'अवाक्' गैस इंजनों को बेचा था। एक अन्य जर्मन गाटीलिड डइमलर पहला व्यक्ति था, जिसने तेजी से घूमने वाला इञ्जन बनाया। उसने पेट्रोल का तरल ईंधन के रूप में प्रयोग किया था। यह प्रयोग उसने सन् १८८५ में एक बाइसिकिल में किया था, और फिर एक वर्ष बाद उसी से मोटर–कार चलायी थी। वह भी जर्मन ही था, रूडाल्फ डीज़ल, जिसने १८९४ में पहला डीज़ल इंजन चलाया था। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में कई आविष्कारकों ने गैस टर्बाइनें बनायी थीं, लेकिन उनका प्रयोग द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ही हुआ था।

पेट्रोल इंजन मोटर गाड़ियों एवं कुछ वायुयानों के पेट्रोल इञ्जनों में चार या उससे भी अधिक सिलेण्डर होते हैं। उनके पिस्टन एक साथ जुड़े होते हैं; जिससे वे एक ही अराल–मण्डल अथवा क्रैंक में घूमते हैं। पिस्टन ऊपर और नीचे जाते हैं, ठीक वैसे ही जैसे बाइसिकिल चालक के घुटने पैडिल चलाते समय ऊपर–नीचे जाते हैं और वे क्रैंकधुरी से बहुत कुछ वैसे ही जुड़े होते हैं। इस प्रकार का इञ्जन कैसे कार्य करता है, उसके लिए केवल एक सिलेण्डर की सक्रियता को समझने की जरूरत है। पिस्टन और क्रैंकधुरी के बीच का सम्बन्ध कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है : मशरूम के आकार के स्टील के टुकड़ों के साथ, जो द्वारों को खोलने और मूंदने के लिए चलते हैं, उनके साथ सिलिण्डर के ऊपरी भाग में वाल्वों (द्वारों) को भी देखा जा सकता है, उन कमानियों के विरुद्ध जो क्रैंकधुरी से चालित मशीन के द्वार बन्द रखने की कोशिश करते हैं। विभिन्न वाल्वों को सही क्षणों पर खुलते हुए देखा जा सकता है। पिस्टन की सिलेण्डर के एक छोर से दूसरे छोर तक की हर एक चाल, एक आघात कहलाती है। चार आघातों के इंजन में केवल एक ही आघात कार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है। उन चारों आघातों की प्रक्रियाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं:

१. **अन्तरंग या भीतरी आघात** पिस्टन सिलेण्डर में नीचे की ओर जाता है, और जैसे ही भीतर का द्वार खुलता है, सिलेण्डर उस भीतर के द्वार से हवा भीतर खींचता है। भीतर की ओर जाती हुई हवा, कार्बेरेटर के भीतर से गुजरती है, जहाँ पेट्रोल की अच्छी फुहार उसके साथ मिल जाती है, जिससे सिलेण्डर हवा और पेट्रोल के मिश्रण से भर जाता है। पिस्टन जब सिलेण्डर के नीचे के भाग में पहुँचता है, भीतर का वाल्व बन्द हो जाता है और सिलेण्डर में पिस्टन बँध जाता है।

२. **दबाव का आघात** पिस्टन सिलेण्डर में ऊपर लौटता है, और क्योंकि दोनों वाल्व बन्द होते हैं इसलिए मिश्रण दमित या संकुचित होता है।

३. **शक्ति का या फैलाव का आघात** पिस्टन जब उस दबाव के आघात में ऊपर उठता है, तो कुछ ऐसा प्रबन्ध होता है कि सिलेण्डर के ऊपर लगे चिनगारी के प्लक से एक विद्युत चिनगारी प्रकट होती है। वह चिनगारी प्रज्वलित होती है या प्रकाश देती है। पेट्रोल और हवा का वह सम्मिश्रण जल्दी ही जल उठता है, और फैलकर पिस्टन को सिलेण्डर में नीचे की ओर ढकेलता है। वह जलता हुआ सम्मिश्रण, बड़ा ही गरम हो जाता है; इसलिए यह बहुत जरूरी हो जाता है कि सिलेण्डर को ठण्डा करने के प्रबन्ध किये जायें।

४. **निकास आघात** उस सशक्त आघात के अन्त में या ठीक उसके पहले निकास वाल्व (द्वार) खुल जाता है। इस प्रकार पिस्टन जैसे ही सिलेण्डर के ऊपर के भाग में पहुँचता है, वह जलती हुई गैसों को धक्का देता है, जो कि खुले निकास वाल्व से गुजरती है। वह इस प्रकार बना होता है कि उस आघात के अन्त में वह फिर बन्द हो जाता है। पिस्टन अब अपने चार आघात पूरे कर लेता है, और तब उसका पाँचवाँ आघात पहले की आवृत्ति होती है।

कुछ छोटे पेट्रोल इंजनों में, विशेष रूप से हल्की मोटर–साइकिलों और स्कूटरों में, केवल दो आघात के इंजन होते हैं, जिनमें दो में से केवल एक आघात कार्य करता है। स्थानान्तरण और निकास के द्वार सिलेण्डर की दीवारों में नीचे की ओर होते हैं। स्थानान्तरण का द्वार नीचे क्रैंक के खाने से जुड़ा होता है। पिस्टन जैसे ही ऊपर उठता है, उसके साथ चलने वाली सूखने की प्रक्रिया कार्बोरेटर से क्रैंक के खाने में पेट्रोल और हवा के उस सम्मिश्रण के ताजे प्रवाह को खींचती है, जबकि पहले के प्रवाह का सम्मिश्रण, सिलेण्डर के ऊपर के भाग में संकुचित होता है। चार आघातों के इंजनों की भाँति, सिलेण्डर के ऊपर का चिनगारी का प्लग, उस सम्मिश्रण को प्रज्वलित कर देता है। यह प्रक्रिया तभी सम्पन्न होती है, जब पिस्टन उस आघात की चरम सीमा पर पहुँचता है। जलती हुई गैस फैलती है, पिस्टन को नीचे भेजती है और पिस्टन के नीचे क्रैंक के खाने में उस सम्मिश्रण का ताजा प्रवाह, दमित या संकुचित होता है। जब पिस्टन निकास–द्वार को खोलता है, तो जलती हुई गैसें तेजी से बाहर निकलती हैं और उसके कुछ देर बाद पिस्टन, सिलेण्डर के दूसरी ओर के स्थानान्तरण द्वार को खोल देता है। इससे क्रैंक के खाने में जो संकुचित सम्मिश्रण है, उस स्थानान्तरण द्वार से सिलेण्डर के भीतर दौड़ पड़ता है, और वह जलती हुई गैसों के अन्तिम भाग को भी बाहर निकाल देता है। पिस्टन अब फिर ऊपर उठने लगता है। इस प्रक्रिया में वह दोनों द्वारों को ढँक लेता है, और उनके ऊपर ताजे प्रवाह को दबाता है। इस प्रकार नीचे की ओर जाता हर एक आघात, सक्रिय आघात होता है। दो आघातों में वाल्वों की जरूरत नहीं होती, इसलिए वे चार आघातों के इञ्जन से कहीं अधिक आसान होते हैं। यद्यपि इस प्रकार का इञ्जन, चार आघातों के इञ्जन से, उसी आकार के सिलेण्डर से दूनी शक्ति प्रदान करता है, लेकिन उसमें कुछ कम सामर्थ्य होती है; क्योंकि वह ठीक उतने ही कार्य के लिए अधिक पेट्रोल का प्रयोग करता है।

जर्मनी के एन०एस०यू० वान्केल द्वारा विकसित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिक्रामी पिस्टन का इंजन, किसी भी अन्तर्दह इंजन से सर्वथा अलग प्रकार का होता है। पिस्टन के स्थान पर उसमें त्रिकोण के आकार का घूमता हुआ चक्र होता है, जो कि एक बन्द कक्ष के भीतर घूमता है। उस चक्र के एक घुमाव में ही, भीतर के दबाव के शक्ति और निकास के चारों ही आघात पूरे हो जाते हैं; और गतिशील भाग केवल वह चक्र और उत्पादक दण्ड होते हैं।

इन अंतर्दह मशीनों में पेट्रोल या तो कार्बोरेटर में उसके ऊपर के टैंक से एक पाइप के माध्यम से पहुँचता है, अथवा अगर टैंक कार्बोरेटर के नीचे है, तो (जैसा कि अधिकांश मोटर गाड़ियों में होता है) पेट्रोल एक इंजन के माध्यम से अथवा इलेक्ट्रिक पंप से पहुँचाया जाता है। पेट्रोल का प्रवाह नोजल के भीतर से गुजरते हुए, जिसमें एक छोटा सा छेद होता है, जिसे जैट कहते हैं; पेट्रोल गैस में परिवर्तित हो जाता है, और इस प्रकार वह फुहार के रूप में बाहर निकलता है, और फिर सिलेण्डर से चूसी हुई हवा से मिल जाता है। कार्बोरेटर और इंजन के भीतरी वाल्व के बीच के रास्ते में एक और वाल्व होता है, जिसे थ्राटिल (वाष्परोधी) वाल्व कहते हैं, जिसे मिश्रण के कम या अधिक मात्रा में बाहर निकालने की दृष्टि से खोला या बन्द किया जा सकता है। इस प्रकार वह इंजन की गति को नियन्त्रित करता है।

इस इंजन को दो तरीकों से ठण्डी हवा या ठण्डे पानी से ठण्डा किया जाता है। बहुत से छोटे पेट्रोल इंजनों को, जिसके सिलेण्डरों में बाहर की ओर अनेक मीन–पंख होते हैं, उन्हें ठण्डा किया जाता है। मीन–पंखों से युक्त सिलेण्डर सामान्य की तुलना में अधिक बड़ा क्षेत्र घेरते हैं; और इसीलिए उनसे गर्मी, चारों ओर की हवा में अधिक जल्दी चली जाती है। बहुत बड़े–बड़े इंजनों को पानी से ठण्डा किया जाता है। उनके सिलेण्डरों के ऊपर, बाहर बहुत बड़ा जैकेट होता है, अथवा पानी भरे खाने भी होते हैं, जिनमें पानी ट्यूबों के माध्यम से जाता है, अथवा उन माध्यमों से, जो उनके सतहों के बहुत बड़े भाग को घेरे होते हैं। रेडियेटरों के माध्यम से जो हवा चलती है, वही उनकी गर्मी को बाहर निकालती है। सभी अंतर्दह इंजनों को चिकनाई की जरूरत होती है, जिसका मतलब है कि उनमें तेल लगाया जाना चाहिए। वे जब खूब गरम होते हैं, तब हो सकता है कि वे चलना बन्द कर दें या उनमें जाम हो जायें। उसके सक्रिय भागों को तेल, छोटी–छोटी नलियों के सहारे पंप में पहुँचाया जाता है, और कभी–कभी वह स्वयं उन भागों में बनाये गये छेदों से पहुँचता है; और फिर बाद में वह नीचे क्रैंक के खाने की हौज में टपकता है। उस हौज में तेल, एक अलग रेडियेटर के द्वारा भी इञ्जन में फिर से पहुँचाये जाने के पहले ठण्डा करने के लिए आ सकता है। कुछ छोटे, दो आघातों के पेट्रोल वाले इंजनों में, एक गैलन पेट्रोल में उसके आठवें भाग के अनुपात में तेल मिलाया जाता है। तेल कार्बोरेटर के माध्यम से खींचा जाता है और बूँद–बूँद करके सिलेण्डर में प्रयुक्त होता है, जो पेट्रोल, गैस और हवा के सम्मिश्रण की तरह जलते नहीं, वरन् इंजन को चिकनाई देते हैं। इसे पेट्रोल तेल से चिकनाई प्रदान करना कहा जाता है।

डीज़ल इंजन अंतर्दह इंजनों के दूसरे प्रकार को डीज़ल इंजन कहा जाता है। उनके अन्तर्गत वे सभी इंजन आते हैं, जिनके सिलेण्डर में सम्मिश्रण का प्रज्वलन उसके दबाये जाने के कारण उत्पन्न ताप से होता है। अन्य अंतर्दह इंजनों के समान, इन इंजनों में भी सिलेण्डरों में पिस्टन ऊपर और नीचे जाते हैं, और क्रैंक दण्ड को संबंधित राडों के माध्यम से घुमाते हैं।

हम जब साइकिल के टायर में हवा भरते हैं, तो पम्प के नीचे का भाग बड़ा गरम हो जाता है: जब हवा या गैस को दबाया जाता है तो हमेशा ऐसी ही गरमी उत्पन्न होती है। डीज़ल इंजन में भी सिलेण्डर में हवा इतनी दबायी जाती है कि पिस्टन के ऊपर–नीचे आने से वह हवा बड़ी ही गरम हो जाती है। ठीक उसी क्षण एक तेजी से काम करने वाला पम्प गरम सिलेण्डर में ईंधन का तेल डालता है। नोज़ेल के बड़े ही महीन छेदों द्वारा, जिससे कुहासा–सा उठने लगता है। वह जब डाला जाता है तो तेल जल उठता है, और उच्च दबाव की बड़ी ही गरम गैस में बदल जाता है, जो पिस्टन को अधिक शक्ति के साथ नीचे दबाने लगता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पेट्रोल इंजनों की भाँति डीज़ल, के इंजन या तो चार आघातों के हो सकते हैं, जिसमें हर पिस्टन चार में से एक आघात में काम करता है, अथवा दो आघातों के हो सकते हैं, जिसमें से दो में से केवल एक आघात ही सक्रिय होता है। पेट्रोल के इंजनों से डीज़ल के इंजनों में फर्क केवल इतना ही होता है कि एक विद्युत चिनगारी के स्थान पर, हवा के दबाव से उत्पन्न गर्मी ईंधन की भाप को प्रज्वलित करती है। इसीलिए इन इंजनों को कभी–कभी दबाव से प्रज्वलित होने वाले इंजन भी कहा जाता है।

डीज़ल से चलने वाले इस इंजन का आविष्कार एक जर्मन इंजीनियर रूडोल्फ डीज़ल ने किया था। उसने अपना बनाया पहला इंजन सन् १८९४ में चलाया था। उसका विचार था कि वह एक ऐसा इंजन बनाये जो किसी भी प्रकार के ईंधन से चल सके, कोयले का चूरा भी जिसे सक्रिय कर सके; लेकिन सामान्यतः उसके द्वारा आरम्भ किये गये इंजन पेट्रोलियम से प्राप्त ईंधन के तेल से ही चलते हैं, जो पेट्रोल से कुछ अधिक घना होता है। यह इंजन इसी शक्ति के अन्य इंजनों की तुलना में कम ईंधन का प्रयोग करता है, फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से यह कुछ भारी होता है, और इसे बनाने में खर्चा भी अधिक होता है। इसीलिए इसका उपयोग भारी वाहनों, बसों, लारियों, ट्रैक्टरों, रेलवे इंजनों, पानी के जहाजों आदि में होता है। कभी–कभी विद्युत उत्पादन केन्द्रों में इसका उपयोग डायनेमों को चलाने के लिए भी किया जाता है।

कुछ रेलवे इंजनों, रेलगाड़ियों और पानी के जहाज़ों में डीज़ल के साथ विद्युत–शक्ति का भी प्रयोग होता है। इस प्रकार के डीज़ल इंजनों में, इंजन का दण्ड एक डायनेमों से जुड़ा होता है, जो विद्युतधारा उत्पन्न करता है। यह धारा तारों और स्विचों के माध्यम से विद्युत–मोटरों तक ले जायी जाती है, जो कि दण्डों के माध्यम से जहाजों के प्रॉपेलरों से जुड़े होते हैं, अथवा रेलवे–इंजन के पहियों से सम्बन्धित होते हैं। विद्युत–ऊर्जा का प्रयोजन इंजन की गति को बिना बदले सुव्यवस्थित करना होता है।

गैस टर्बाइन वे इंजन, जिनमें पिस्टन ऊपर और नीचे जाते हैं, इसलिए सक्रिय होते हैं, क्योंकि उनमें पिस्टन निरन्तर अपनी दिशाएँ उल्टी–पुल्टी करते हुए गतिशील रहते हैं। टर्बाइन में रोटर या गतिशील भाग, केवल एक दिशा में जाता है। यह गति बड़ी सहज होती है तथा कम्पनों से सर्वथा मुक्त। गैस टर्बाइन, पेट्रोल और डीज़ल से चलने वाले इंजनों से अधिक सरल रूप में कार्य करती है, और उसी शक्ति के इंजन से अधिक छोटी तथा हल्की भी होती है।

एक गैस टर्बाइन के तीन मुख्य भाग होते हैं : एक जो दबाता है, दूसरा प्रज्वलन–कक्ष और तीसरा टर्बाइन। दबाने वाला भाग सामने, हवा के द्वार के पीछे होता है। उसमें घूमने वाला पंखा होता है, जिसमें अनेक कतारों में कई फलक (ब्लेड) लगे हुए होते हैं। वह बाहर से हवा खींचता है, और उसे दबाता है। हवा दबाये जाने से गरम होती है और दाहक कक्षों में से किसी एक में ले जायी जाती है। तरल ईंधन जैसे कि पैराफ़िन (केरोसिन) दाहक कक्ष में डाला जाता है अथवा पिचकारी से उसकी फुहार छोड़ी जाती है; जहाँ वह जलता है, और हवा को गरम कर उसे फैलाता है। गरम गैसें फिर दाहक कक्ष से तेजी से बाहर निकलती हैं। टर्बाइन के फलकों को धकेलती हैं और फिर उसे हवा–मिल की भाँति चला देती हैं। टर्बाइन का दण्ड द्रावक–यंत्र से जुड़ा होता है। गरम गैसें टर्बाइन से निकलने के बाद द्रावक–यन्त्र को भी चला देती है, जिसका दण्ड हवाई जहाज के प्रोपेलर से जुड़ा हुआ होता है। इस प्रकार के इंजन को प्रोपेलर टर्बाइन या कभी–कभी 'टर्बो–ट्राप' कहते हैं। दूसरे टर्बाइन में, टर्बाइन उस द्रावक यंत्र के अतिरिक्त और किसी को सक्रिय नहीं करती और गरम गैस उससे निकलती हुई एक नोज़ेल के माध्यम से एक सशक्त जेट के पीछे पहुँचती है, और इस प्रकार हवाई जहाज को आगे बढ़ाती हैं। इस तरह की टर्बाइन को टर्बो–जेट भी कहते हैं। गैस–टर्बाइनों का प्रयोग अन्य प्रकार से भी होता है। उससे रेलवे इंजन चलाये जाते हैं; पानी के जहाजों में भी उनका प्रयोग किया जाता है; लेकिन अधिकांश में उसका प्रयोग हवाई जहाजों में ही होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इस प्रकार के इंजन, छोटे आकार के वाहनों, यथा मोटर–गाड़ियों और मोटर साइकिलों के लिए उपयुक्त नहीं होते।

अंतर्दह इंजनों की तुलना में, गैस टर्बाइनों का निर्माण बहुत बाद को हुआ था; क्योंकि उसके लिए जरूरी, सक्रिय भागों के लिए सामग्री, बड़ी ही कठिनाई से मिली थी। यह कठिनाई विशेष रूप से टर्बाइन के फलकों के सन्दर्भ में हुई थी। उसके लिए ऐसी वस्तु चाहिए थी, जो जलती गैस के ऊँचे तापमान को, बिना पिघले और कमजोर हुए पूरी तरह से बर्दाश्त कर सके।

अंतर्वेद प्राचीन काल में यह गंगा और यमुना के बीच के भूखण्ड की संज्ञा थी। उसका विस्तार हरिद्वार से लेकर प्रयाग तक था। इसके पूर्व की ओर कोसल और काशी जनपद थे, और पश्चिम तथा दक्षिण की ओर कुरू, शूरसेन, चेदि आदि देश। वैदिक युग में यहाँ उशीनर, पंचायल तथा वत्स वंशों के लोग रहते थे। इस क्षेत्र में उस आदि–काल में निरन्तर यज्ञों की परम्परा चलती रही थी। उसके बाद प्राप्त इतिहास में इस क्षेत्र में अनेक यज्ञ हुए इनमें सुद्रगुप्त का अश्वमेध यज्ञ सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

गुप्त राजवंश के युग में अंतर्वेद साम्राज्य का एक विशिष्ट क्षेत्र था। तत्कालीन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि सम्राट स्कन्धगुप्त ने इस क्षेत्र के शासन का कार्यभार शर्वनाम को दिया था। उन दिनों इस प्रकार के क्षेत्र को विषय और उसके शासक को विषय पति कहा करते थे। प्रसाद जी ने अपने नाटक 'चन्द्रगुप्त' ने शर्वनाम का उल्लेख इस क्षेत्र के विषय पति के रूप में किया है।

अंतर्वेदि, अंतर्वेदी मूल शब्द है, अन्तर्वेदिः। अन्तर का अर्थ है, बीच में और वेदिः का अर्थ है, वह भूमि, जहाँ यज्ञों का आयोजन होता है। इसी आधार पर भारतीय आर्यों ने गंगा–यमुना के बीच के क्षेत्र को अन्तर्वेद की संज्ञा दी थी। यह क्षेत्र हरिद्वार से, जहाँ से गंगा समतल धरती पर उतरती है, प्रयाग तक और सहारनपुर से, जहाँ यमुना मैदान में आती है, और प्रयाग में आकर मिलती है, यह सारा क्षेत्र, वैदिक युग से अंतर्वेद कहा जाता रहा हैं। वैदिक युग और उसके बाद यहाँ उशीनर, पंचाल और वत्स वंशों के लोग रहते थे। अंतर्वेद की पश्चिमी सीमा पर शूरसेन वंश के लोगों का आधिपत्य था। दक्षिण में चेदि वंश का शासन था। पूर्व में काशी और कोशल के जनपद थे। आगे चलकर यह क्षेत्र मौर्य, गुप्त आदि राजवंशों के शासन में रहा। गुप्त शासनकाल में इस क्षेत्र में अश्वमेध यज्ञ का भी आयोजन हुआ था।

अंतर्वेद में जब यज्ञों का आयोजन कम हो गया, और उपनिषदों के प्रभाव में ब्रह्मज्ञान का प्रचार–प्रसार हुआ, तो इसे 'ब्रह्मावर्त्त' कहा जाने लगा। मध्ययुग के मुस्लिम शासनकाल में दो नदियों के बीच का क्षेत्र होने के कारण इसे दोआब संज्ञा मिली।

अंतर्वेद के क्षेत्र में रहने के कारण इस क्षेत्र के ब्राह्मण अपने को अंतर्वेदी कहने लगे। इस क्षेत्र में कभी कान्यकुब्ज (कन्नौज) राजनगर था। इसलिए यहाँ के अंतर्वेदी ब्राह्मण कान्यकुब्ज कहलाये; आज जिन्हें कनौजिया कहा जाता है। इस क्षेत्र के कुछ अब्राह्मण भी अपने को कनौजिया कहते हैं। इस क्षेत्र के ब्राह्मण बंगाल के महाराज बल्लाल सेन के आमंत्रण पर बंगाल गये थे। बंगाल के अधिकांश ब्राह्मण अंर्तवेदी ही हैं। इस क्षेत्र का एक ब्राह्मण समुदाय बिहार में बस गया था, उस वंश के लोग आज भी अपने को अंतर्वेदी या कनौजिया ब्राह्मण कहते हैं।

अंधविश्वास परम्परा से चली आ रही उन बातों को जिन्हें हमने बिना सोचे–विचारे, अपने सद्–असद् विवेक का प्रयोग किये स्वीकार कर लिया है, उन्हें ही अन्धविश्वास कहा जाता है। इस प्रकार के बहुत से विश्वास तो लोक–परम्परा से हमारे साथ चल रहे हैं। हमारे साहित्य ने भी इस प्रकार की अनेक बातों का प्रचार किया है। अनेक चतुर विद्वानों, व्यवहारकुशल विशेषज्ञों, पंडितों, पुरोहितों आदि ने भी उन्हें प्रचारित किया है। शकुन–अपशकुन, जादू–टोना, गण्डा–ताबीज, तंत्र–मंत्र भी इस दिशा में कार्यरत रहे। भूत–प्रेत आदि को मान्यता देना भी अंधविश्वास का ही प्रचार है। विद्वानों ने समय–समय पर इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार के विश्वासों के मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आदि अनेक प्रकार भी बताये हैं।

लोकजीवन में अनेक शकुन–अपशकुन प्रचलित हैं। लोकप्रचलित एक उक्ति है, 'नीलकण्ठ के दर्शन पाये, घर बैठे परमेश्वर आये।' नीलकण्ठ बड़े ही विरल रूप में दिखाई देने वाला पक्षी है। वह देखने में भी बड़ा सुन्दर होता है, अतः जब यह दिखाई दे जाता है, तो यह मान लिया जाता है कि सब कुछ अच्छा ही होगा। बस, इसी विश्वास में उसके दर्शन को शकुन मान लिया गया है।

अब एक अपशकुन का उदाहरण देखिये, घर से बाहर निकलते समय पशु, पक्षी रास्ता काटते रहते हैं। कमजोर मन का आदमी सोचता है कि उसका रास्ता कट गया है, इसलिए उसका काम नहीं होगा। किसी बिल्ली अथवा काने आदमी के रास्ता काटने पर भी यह माना जाता है कि काम नहीं होगा। काने आदमी के मिलने से दुर्बल मन के व्यक्ति में यह भाव आता है कि जैसे इसके व्यक्तित्व में अपूर्णता है, उसका कार्य भी अपूर्ण रह जायेगा। यह सोचना सही नहीं हैं। वह विकलांग है, लेकिन इस विश्वास के साथ जा रहा है कि वह अपना कार्य पूरा करेगा। उसकी विकलांगता से भयभीत नहीं; वरन् यही सोचते हुए आगे बढ़ना चाहिए कि हमें भी अपने कार्य में सफलता मिले।

एक और अपशकुन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण देखिये, रास्ते में खाली घड़ा मिल जाता है, तो अपने मन की कमजोरी से हम यह सोचते हैं कि इस खाली घड़े की तरह हमारा प्रयास भी खाली ही जायेगा। लेकिन यह सोचना सही नहीं है। जैसे वह व्यक्ति अपना खाली घड़ा भरने के लिए जा रहा है, उसी तरह हम भी जिस काम से जा रहे हैं, उसे पूरा करेंगे।

अब रही मारण, मोहन, वशीकरण आदि की बात : ये सभी एक प्रकार के सम्मोहन (मिस्मैरिज़्म) की क्रियाएँ है। आप जानते हैं कि सशक्त व्यक्तित्व का मनुष्य, अपनी वाणी के कौशल से, अपनी प्रभावशाली अंग–भंगिमाओं से, अपने से कमजोर व्यक्ति पर अधिकार कर लेता है और फिर उससे अपनी इच्छानुसार कार्य कराता है। यही सम्मोहन कला के विशेषज्ञ भी करते हैं: अपनी वाणी के वर्चस् और आंगिक चेष्टाओं से तथा दृष्टि के प्रभाव से, अपने आगे बैठे हुए व्यक्ति पर अधिकार कर लेते हैं; और फिर उससे अपने निर्देशों के अनुसार कार्य कराते हैं। लेकिन अगर वह सामने बैठा हुआ व्यक्ति, उनसे कहीं अधिक मानसिक रूप से सबल होता है, तो वह उस पर कोई प्रभाव नहीं उत्पन्न कर पाते है।

इस सम्मोहन विद्या की ही भाँति, ग्रह, नक्षत्रों के दुर्योग अथवा किसी संकट से मुक्ति के मंत्र–तंत्र का सहारा लेना भी एक प्रकार का अंधविश्वास ही है। यह माना जा सकता है कि किसी मंत्र के अर्थ को समझकर, अपने भीतर उसकी भावना करते हुए पूर्ण मनोयोग में कार्य किया जाये, तो सफलता मिल सकती है। लेकिन केवल मंत्र–तंत्र के आधार पर ही कष्ट से मुक्ति पा जाना सम्भव नहीं है।

ग्रह–नक्षत्रों के दुष्प्रभाव से मुक्ति के लिए अक्सर रत्नाभरण धारण करने की भी सलाह दी जाती है। ज्योतिषाचार्यों ने विशेष ग्रह–नक्षत्रों के साथ विशिष्ट रत्नों को जोड़ रखा है। नीलम, पुखराज, हीरा, मोती, मूंगा आदि की अंगूठियों के पहनने अथवा किसी न किसी प्रकार अपने शरीर के ऊर्ध्व भाग के किसी अंग के साथ स्पर्श बनाये रखने पर, दैहिक, भौतिक अथवा दैविक तापों से छुटकारा मिलने की बात कही जाती है।

भूत, प्रेत, पिशाच, पिशाचिनी, योगिनी, डाकिनी आदि पर विश्वास भी इसी कोटि के अन्तर्गत आता है। शेक्सपियर ने अपने नाटक 'मैकबेथ' के प्रारम्भ में तीन इसी प्रकार की विलक्षण शक्ति वाली स्त्रियों की अवतारणा की है। लेकिन उन्होंने जो कुछ कहा, उससे मैकबेथ को अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए कुमार्ग अपनाने की प्रेरणा मिली। कभी–कभी यह मानकर कि ऐसे व्यक्तियों के दुष्प्रभाव से किसी का अकाल निधन हो गया है, अंधविश्वास से प्रेरित होकर कर उनकी हत्या भी कर दी जाती है। इसी प्रकार अपने किसी स्वार्थ की सिद्धि के लिए, देवी की मूर्ति के आगे किसी बालक अथवा बालिका की और कभी–कभी तो अपने ही पुत्र या पुत्री का बलिदान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर दिया जाता है। इस दुष्कृत्य से उनसे किसी आशा की सम्पूर्ति हुई हो, ऐसा कभी नहीं देखा गया है। उनके इस दुष्कृत्य की जानकारी हो जाने पर, उन्हें शासन दण्डित करता है।

कवियों एवं साहित्यकारों ने भी अपनी कल्पना से अनेक ऐसी बातों का प्रचार किया है। कवियों ने चातक के सम्बन्ध में लिखा है कि वह केवल चन्द्रमा की किरणों अथवा अग्नि के स्फुलिंगों का आहार करता है और केवल स्वाति नक्षत्र के मेघों द्वारा बरसायी गयी बूंदों से ही अपनी प्यास बुझाता है। लेकिन पक्षी विशेषज्ञों का कहना है कि यह मात्र केवल काव्योक्ति ही है। इसी प्रकार एक काव्योक्ति है कि स्वाति नक्षत्र के मेघों की बूंदें जब सीपी में पड़ती हैं, तो मोती बन जाती हैं। साहित्याचार्यों ने इन्हें काव्य–जगत् का कल्पित सत्य माना है, और उन्हें 'कवि समय' की संज्ञा दी।

समय–समय पर देश–विदेश के मनीषियों ने स्पष्ट कहा है कि किसी बात को केवल इसलिए नहीं मान लिया जाना चाहिए कि किसी महान व्यक्ति ने ऐसा कहा है अथवा किसी महान् ग्रन्थ में ऐसा लिखा है, वरन् हर बात को यथासंभव तर्क की कसौटी पर कसकर, व्यावहारिक रूप में उसे देखकर ही विश्वास करना चाहिए और हर प्रकार के अन्धविश्वास से बचना चाहिए।

अंधता कोई व्यक्ति, आँखों से देखकर जो काम किये जाते हैं, उन्हें नहीं कर पाता, तो उसे अंधा कहते हैं। यह अंधता पूर्ण और आंशिक दोनों प्रकार की हो सकती है। इसी प्रकार वह जन्मजात और किन्हीं कारणों से वह बाद को भी उत्पन्न हुआ करती है।

अंधता अथवा दृष्टिहीनता के अनेक कारण हो सकते हैं। किसी बच्चे की आँख हो सकता है कि उसके जन्म के पहले ही माँ की किसी विशेष बीमारी के कारण ख़राब हो गयी हो। इस प्रकार की बीमारियों में चेचक की विशेष रूप से चर्चा की गयी है। डाक्टरों का कहना है कि इस प्रकार की अंधता का, विशेष प्रकार के टीके से उपचार हो सकता है। जन्म के बाद किसी चोट से अथवा जीवाणु के संक्रमण से भी अंधता हो सकती है। परिवर्तित वय में भी किसी रोगाणु के संक्रमण अथवा दुर्घटना से दृष्टि जा सकती है। वयोवृद्ध लोगों में अंधता का कारण रोहे, चेचक, समलबाई, प्रमेह, उपदंश, मोतियाबिन्द, कुष्ठ आदि में से कोई भी हो सकता है।

किन्हीं विशेष प्रकार की अन्धताओं में, बड़ी ही सूक्ष्म और जटिल शल्य–चिकित्साओं से लाभ हो जाता है और दृष्टि यथासम्भव वापस आ जाती है। मोतियाबिन्द होने पर खराब हुआ लेन्स हटाकर कृत्रिम लेन्स लगा दिया जाता है। अन्धता का सबसे बड़ा उपचार तो यह होता है कि किसी मृत–व्यक्ति की कार्निया (स्वच्छ–मण्डल) को निकाल कर उसे व्यक्ति की आँख में प्रतिरोपित कर दिया जाता है; लेकिन बहुत से लोग ऐसे होते हैं, जिनके साथ इस प्रकार के उपचार सम्भव नहीं हो पाते। अतः जीवन–यापन के लिए विशेष प्रकार का प्रशिक्षण देना आवश्यक हो जाता है।

आज से कोई दो–सौ साल पहले, संसार के अधिकांश देशों में यह समझ लिया जाता था कि अन्धे व्यक्ति को कोई ऐसा प्रशिक्षण नहीं दिया जा सकता, जिससे वह अपना कामकाज भली प्रकार चला सके। अंधता इस प्रकार मनुष्य को भीख माँगकर गुजारा करने को मजबूर कर देती थी। कुछ देशों में अंधों के लिए विशेष प्रकार के भवन बनाये जाने लगे; लेकिन अठारहवीं शती का अन्त होते–होते प्रयत्न आरम्भ हो गये कि उन्हें कुछ ऐसी शिक्षा दी जाये जिससे वे आत्मनिर्भर हो सकें।

सन् १७७१ में फ्रांस के एक सज्जन ने, जिनका नाम 'वैलेंतिन हेई' था, एक मेले में देखा कि बहुत सारे लोग कुछ अंधे लोगों का मज़ाक बना रहे हैं और परेशान कर रहे हैं। उन्होंने यह निश्चय किया कि वह अपना शेष जीवन अंधों को सिखाने–पढ़ाने और सामान्यतः उनके जीवन की परिस्थितियों को सुधारने में लगायेगा। कुछ समय बाद उन्होंने एक अंधे बच्चे, जिसका नाम 'फ्रैंक्वा लेसुआ' था, भीख माँगते हुए देखा। वे उसे अपने घर ले गये और उसे पढ़ाने की कोशिश करने लगे। उनके सामने समस्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह थी कि वह उसे लिखित सामग्री को पढना कैसे सिखायें। उन्होंने देखा कि अंधे लोग विभिन्न वस्तुओं को छूकर जानने की कोशिश करते हैं; और इसीलिए उनकी अंगुलियों के अग्रभाग, बड़े ही संवेदनशील होते हैं। अब तक अंधे लोगों को स्पर्श के सहारे पढ़ाने के थोड़े–बहुत प्रयास हुए थे। कुछ लोगों ने काठ के और सीसे के ऐसे अक्षर बनाये थे, स्पर्श के सहारे जिनके वर्णक्रम को समझ कर, उनसे बनने वाले शब्दों का उच्चारण किया जा सके। संयोग से उन फ्रांसीसी सज्जन को इससे भी सुविधाजनक अक्षर निर्माण की पद्धति मिल गयी।

वे सज्जन एक दिन बैठे हुए जब कुछ लिख रहे थे, तब वह अंधा बच्चा उनके पास आया और उनकी मेज के कागजों को व्यवस्थित करने लगा। उन कागजों में कुछ गत्ते भी थे, जिन पर कुछ उभरे हुए रूप में मुद्रित था। उस बालक की अंगुलियाँ जब उन उभरे हुए अक्षरों पर घूमीं, तो उसने उनमें कुछ रुचि दिखायी। इससे हेई को लगा कि अगर उभरे रूप में कुछ छापा जाये, तो पहचाना जा सकता है। अपने साथ शिक्षा ग्रहण कर रहे अंधे बालकों की सहायता से उन्होंने उभरे हुए अक्षरों में छपायी की एक प्रणाली विकसित की और उसमें कुछ पुस्तकें प्रकाशित कीं। उन्होंने ही सबसे पहले दृष्टिहीनों के लिए पहला विद्यालय खोला। उनकी वह संस्था आज भी फ्रांस की सरकार की सहायता से चल रही है। कुछ ही वर्षों में उन्होंने सिद्ध कर दिया कि अंधे बच्चों को पढ़ना और लिखना भी सिखाया जा सकता है। उनके विद्यालय में अंधे बच्चों ने वाद्य–यंत्रों को बजाना तथा उसके साथ और बहुत से उपयोगी कार्य करना सीखा। उन्होंने बड़ी निष्ठा के साथ जो कठोर परिश्रम किया, उसके आधार पर उन्हें 'अंधों का पिता और मसीहा' कहा जाने लगा।

हेई ने उभरे अक्षरों की छपायी की जो विधि विकसित की थी, उसमें अभी कुछ और सुधार की अपेक्षा थी। इस कार्य में उनके एक अंधे शिष्य लुई ब्रेल (**1809-1852**) ने एक ऐसी प्रणाली विकसित की, जिसमें अक्षरों के स्थान पर उभरे बिन्दुओं का प्रयोग किया जाता था; और सन् १८२६ में उन्होंने उस पद्धति का सूत्रपात किया, जिसे आज हम ब्रेल अक्षर माला के नाम से जानते हैं। कालान्तर में उनकी उस प्रणाली (बिन्दु अक्षर माला) में कुछ परिवर्तन किये गये।

सन् १८४७ में विलियम मून ने उभरे अक्षरों की एक और पद्धति विकसित की, जिसमें अक्षर बड़ी सरलता से लिखे जा सकते थे। उन्होंने आशा की थी कि वह ब्रेल द्वारा चलायी पद्धति से आसान होगी; लेकिन उनका यह प्रयोग विशेष सफल नहीं हुआ। फिर भी उनकी चलायी पद्धति का उपयोग आज भी उन व्यक्तियों के बीच प्रचलित है जो कुछ पढ़ायी–लिखायी करने के बाद अंधे हो जाते हैं।

ब्रेल द्वारा स्थापित अक्षर प्रणाली निम्न प्रकार है:

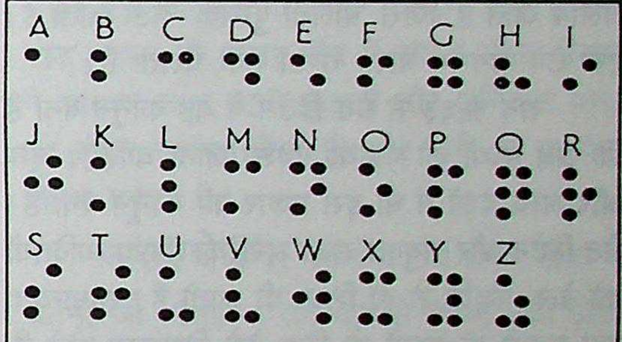

ब्रेल की अक्षर प्रणाली

इस अक्षर प्रणाली में हर वर्ग में पाँच या उससे कम उभरे बिन्दुओं द्वारा लिखा जा रहा है। ये उभरे हुए अक्षर अपने उभार के कारण आयताकार व्यवस्थित किये गये हैं। एक अकेला बिन्दु अंग्रेजी के पहले वर्ण **A** का प्रतिनिधित्व कर रहा है, **B** के लिए ऊपर नीचे दो बिन्दु बनाये गये हैं, **C** के लिए दो समतल बिन्दु हैं, उसके बाद अंग्रेजी वर्णमाला के शेष अक्षर दो, तीन, चार या पाँच बिन्दुओं से बनाये गये हैं। इन बिन्दुओं की संख्या एक और बढ़ाकर उनके द्वारा विराम चिह्न, संख्याओं, संगीत के स्वरों आदि का बोध कराया जाता है। कुछ सम्बन्ध वाचक शब्दों के लिए पूरे अक्षर न लिखकर उन्हें भी छह बिन्दुओं की विशेष व्यवस्था से लिखा जाता है, यथा अंग्रेजी का फॉर शब्द तीन अलग–अलग वर्णों में न लिखा जाकर छह बिन्दुओं की एक विशेष व्यवस्था से लिपिबद्ध किया जाता है।

ब्रेल वर्णमाला के लेखन की पद्धति भी विलक्षण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। उसके लेखन में कागज के ऊपर लेखनी गहरे चलायी जाती है, जिससे दूसरी ओर बिन्दु उभर आता है। इस पद्धति में प्रकाशित पुस्तकें बहुत बड़ी होती हैं, और उनकी कीमत भी बहुत अधिक होती है। इस पद्धति में ईसाइयों का धर्मग्रन्थ बाइबिल जो १६वीं शताब्दी में प्रकाशित हुई, उसके ३६ खण्ड थे।

ब्रेल द्वारा विकसित इस प्रणाली के द्वारा सभी अंधों को पढ़ा पाना मुश्किल हो रहा है, क्योंकि उनमें अनेक ऐसे होते हैं, जो छूकर भी नहीं पढ़ पाते। उन लोगों के लिए कि वे जीवन भर अनभिज्ञ ही न बने रहें, बहुत–सी पुस्तकें लिखी गयी हैं, जो आदि से लेकर अन्त तक उन्हें पढायी जाती हैं। वे टेप पर अंकित की जाती हैं। वे टेप एक विशेष मशीन पर चलाये जाते हैं, जिसे 'बोलती पुस्तक' कहा जाता है। एक टेप लगभग बारह घण्टों तक चलता है।

सन् १८६३ से ग्रेट ब्रिटेन में यह कानून बना है कि अंधे बच्चों को पढ़ाया अवश्य जाना चाहिए। कुछ और अन्य देशों में भी इस प्रकार का कानून बना है। ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका में अंध व्यक्तियों को ब्रेल–पद्धति से ही शिक्षा दी जाती है। सामान्यतः इस प्रकार के बच्चों के लिए ऐसे विद्यालय होते हैं, जहाँ विभिन्न विषय कुछ इस प्रकार पढ़ाये जाते हैं कि वे बच्चे उन्हें समझ सकें। उदाहरण के लिए भूगोल, उभरी हुई रेखाओं से बने नक्शों से पढ़ाया जाता है। प्राकृतिक इतिहास की शिक्षा, जानवरों और चिड़ियों के भीतर से भरे माडलों के द्वारा पढ़ायी जाती है। कुछ अंधे बच्चे टाइप करना भी सीखते हैं। टाइप करने के लिए वे स्पर्श के सहारे चलने वाली एक विशेष पद्धति का उपयोग करते हैं। इस प्रकार की पद्धति में वे कुंजी–पटल का प्रयोग अंगुलियों के स्पर्श के सहारे ही कर लेते हैं।

कुछ अंधे बच्चे, इस प्रकार प्रशिक्षण ग्रहण करने के बाद विश्वविद्यालय में भी प्रवेश पा जाते हैं। वहाँ उनके लिए विशेष प्रशिक्षकों की व्यवस्था होती है, जो उन्हें पढ़कर सुनाते हैं और लेखन में उनकी सहायता करते हैं। इस प्रकार उच्च शिक्षा प्राप्त लोग बैंकों आदि में कार्य पा जाते हैं। अंधे बच्चे इसके अतिरिक्त गायन, वादन में प्रशिक्षण प्राप्त कर लेते हैं। कुछ तो इतने प्रतिभाशाली होते हैं कि वे अपना स्वतंत्र कार्यक्रम भी देने लगते हैं। कुछ अंधे व्यक्ति, धन्धों का भी प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं और बास्केट बनाना, कुर्सियाँ को बुनना, कपड़े सिलना आदि का कार्य भी करने लगते हैं। अंधे बच्चे मनोरञ्जन के लिए खेल–कूद में भी रुचि लेते हैं। वे शतरंज खेलते हैं, जिसके मुहरों को वे स्पर्श के सहारे पहचान लेते हैं। उनके खेलने के लिए ब्रेल पद्धति के उभरे हुए ताश भी बनाये गये हैं, जिन्हें स्पर्श से वे जान लेते हैं कि हुकुम, पान, चिड़िया, ईंट, किसका पत्ता है और उसका मूल्य क्या है। कुछ को नृत्य में रुचि लेते या जलाशयों में तैरते भी देखा जा सकता है।

सबसे बड़ी समस्या अंधे व्यक्तियों के साथ चलने–फिरने, विशेष रूप से सड़कों पर भीड़–भाड़ के बीच अपना रास्ता बनाने एवं सड़क पार करने की हुआ करती है। इस सम्बन्ध में विशेष सहायक, उनके लिए विशेष प्रकार से बनायी गयी छड़ी होती है, जिसके सहारे रास्ता समझकर वे चलते रहते हैं। ये छड़ियाँ कुछ सीधी होती हैं, और कुछ ऐसी होती हैं जिन्हें मोड़कर रखा जा सकता है।

कुछ समृद्ध देशों में उनके मार्ग–दर्शन के लिए कुत्तों की भी व्यवस्था की गयी है। इन कुत्तों का चुनाव, उनकी चरित्रगत विशेषताओं और बुद्धिमत्ता के आधार पर होता है। अल्सेशियन और लेब्राडोर कुत्तों को इस दृष्टि से विशेष उपयोगी पाया गया है। यदा–कदा कुछ अन्य बड़े और बुद्धिमान कुत्तों का भी उपयोग किया जाता है। हर कुत्ते को पहले चार महीने का विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है, और फिर उसके अंधे मालिक या मालकिन से परिचित कराया जाता है। दोनों को फिर एक साथ कुछ हफ्तों का प्रशिक्षण दिया जाता है। वह कुत्ता फिर अपने मालिक का भली प्रकार मार्ग–दर्शन करता है। जब भीड़ बहुत होती है तो वह रुक जाता है; और जब सड़क खाली होती है, तभी उसे पार कराता है।

यद्यपि अनेक देशों की सरकारें अपने यहाँ के अंधों की भली प्रकार देख–रेख करती हैं; लेकिन ऐसी संस्थाएँ भी होती हैं जो लोकसेवा की भावना से उनकी देख–रेख करती हैं। इंग्लैण्ड में इस प्रकार की एक संस्था हैं, 'रायल इंस्टीट्यूट फ़ॉर दि ब्लाइण्ड' जो उनके लिए, साहित्य की, उपकरणों की और खेल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सामानों की व्यवस्था करती है। वह अनेक विद्यालय और आवास भी चलाती है। इंग्लैण्ड में इसी प्रकार की एक और संस्था 'सेन्ट डस्टन' नाम की है। सन् १९१५ में सर आर्थर ग्रियर्सन ने उसकी स्थापना की थी। ग्रियर्सन ने स्वयं बड़े हो जाने पर दृष्टि खो दी थी; तभी उन्होंने यह निश्चय किया कि प्रथम विश्वयुद्ध के समय जो लोग दृष्टि खो रहे हैं, उनके लिए पुनर्वास की व्यवस्था की जाये।

पश्चिम में इस प्रकार के बहुत लोग हुए हैं जिन्होंने दृष्टि खो देने के बाद बहुत बड़े–बड़े काम किये हैं। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि जॉन मिल्टन ने अंधे हो जाने के बाद ही अपना सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथ 'पैराडाइज़ लॉस्ट' बोलकर लिखवाया था। एडवर्ड रूस्टन ने अठारहवीं शती में एक गुलामों के जहाज पर कार्य करते हुए एक नीग्रो के सम्पर्क से आयथेलमिद्रा से ग्रस्त होकर अपनी दृष्टि खो दी थी। उसने फिर लिवरपूल में अंधे व्यक्तियों के लिए एक बहुत बड़े संस्थान की स्थापना की थी। इस सन्दर्भ में पश्चिम में सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम संयुक्त राज्य अमेरिका की हेलेन कीलर का है। उनका जन्म सन् १८८० में हुआ था और जब वे १६ महीने की थीं तो कुछ ऐसी बीमार पड़ीं कि वे अंधी और बहरी दोनों ही हो गयीं। कुछ ही समय बाद उनके बोलने की शक्ति भी जाती रही। उन्हें एक विशेष अध्यापिका अने सोलिवन ने प्रशिक्षित किया था। वे स्वयं भी पहले कुछ अंधी हो गयी थीं; लेकिन उपचार और आत्मविश्वास से उन्होंने पर्याप्त दृष्टि प्राप्त कर ली थी। उन्होंने ही बड़ी मेहनत करके अंगुलियों पर अक्षरों पर के चिह्न बनाकर उसे पढ़ाया था। हेलेन ने सबसे पहले एक शब्द वाटर (पानी) को समझा था, जब उसके एक हाथ की अंगुलियों में पाँचों अक्षर लिखे गये थे, और दूसरे हाथ में पानी डाला गया था। सोलिवन ने बड़े परिश्रम से धीरे–धेरे हेलेन को पढ़ना–लिखना और बोलना, तीनों ही सिखा दिया। यह प्रशिक्षण ग्रहण करने के बाद वे इतनी विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न हो गयीं कि उन्होंने कालेज में प्रवेश लिया और वहाँ उपाधि प्राप्त की। उन्होंने फिर कई भाषाएँ सीखीं और बहुत सी पुस्तकें लिखीं। दृष्टिहीनों के लिए अनेक योजनाएँ चलायीं और देश–विदेश की यात्राएँ करके यह सिद्ध किया कि अगर दृढ़ निश्चय कर लिया जाये तो बड़ी से बड़ी नैसर्गिक दुर्बलता पर भी विजय पायी जा सकती है।

अंग्रेजी के अमेरिकी लेखक विलियम गिब्सन ने जन्म से दृष्टिहीन और बहरी हेलर केलर के प्रशिक्षण को लेकर एक बड़ा विलक्षण नाटक लिखा है– 'दि मिरैकिल वर्कर'। उसमें ऐनी सूलीवन ने बड़े ही परिश्रम से जिस प्रकार उन्हें प्रशिक्षित किया था, उसका बड़ा ही प्रभावपूर्ण और रोचक आख्यान है। उर्दू में जोगिन्दर पाल ने भी अंधों के जीवन के दुःख दर्द तथा जीने की कोशिश को लेकर बड़ा ही रोचक उपन्यास लिखा है, 'नादीद'। उसका हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध है। हालीउड ने पिछली शताब्दी के नवें दशक के पूर्वार्ध में अंधे, बहरे और गूँगे चरित्रों को लेकर एक फिल्म बनायी थी, 'चिल्ड्रेन ऑफ ए लेसर गाड'। इधर दो हजार पाँच में संजय लीला भँसाली ने आयशा कपूर, रानी मुखर्जी और अभिताभ बच्चन को लेकर लगभग वैसी ही और बड़ी ही प्रभावपूर्ण फिल्म बनायी है।

अंतश्चेतना सामान्य अर्थ हमारे भीतर की चेतना, जो सांसारिक राग–द्वेष से सर्वथा मुक्त होकर, सक्रिय होती है। इसे सहज–ज्ञान, अन्तरात्मा की पुकार, आत्मा की आवाज़, अन्तर की वाणी, भीतर से उठता स्वर भी कहा जाता है। जब यह मुखर होती है, तो मन की आँखें खुल जाती हैं; अन्तर के कपाट उद्घाटित हो जाते हैं, सत्य हमारे सामने उजागर हो उठता है, सद्–असद् विवेक जाग उठता है और हमें कौन–सा रास्ता पकड़ना चाहिए, उसका भान हो जाता है। अब यह हमारे ऊपर निर्भर है कि हम उसका कहना मानें या न मानें। गांधी जी अपनी अन्तर्वाणी का ही आदर करते थे और उसी का अनुसरण भी करते थे। हमारे सन्त कवियों ने हमें उसी के बताए मार्ग पर चलने का परामर्श दिया है। लेकिन अपनी अन्तश्चेतना को जागरूक रखने के लिए यह आवश्यक है कि मन को कलुषित वृत्तियों, कुत्सित विचारों, स्वार्थ की भावना, माया–मोह आदि से मुक्त रखा जाये। कबीर ने इसी दृष्टि से हमें अपने मन को विषय–वासनाओं से मुक्त रखने की सलाह दी है।

अंतश्चेतना के सम्बन्ध में अध्यात्मनिष्ठ व्यक्तियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का कहना है कि वह दिव्य–सत्ता का प्रकाश होती है; लेकिन भौतिकवादी कहते हैं कि वह हमारे अपने धर्म, संप्रदाय या पंथ विशेष की सामाजिक–सांस्कृतिक मान्यताओं की निर्देश होती है। फ्रायड ने उसे 'सुपर–ईगो' अर्थात् उच्चतर अहम् का स्वर कहा है। श्री अरविन्द इस जगत् की भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार की समृद्धि के लिए, अंतश्चेतना के जागरण को आवश्यक मानते हैं। वे उसे वस्तुतः दिव्य–चेतना का सजग हो उठना मानते हैं। उन्होंने जागरूक आत्मा के व्यक्ति को 'चैत्य–पुरुष' कहा है; और उनका यह भी कहना है कि यही 'चैत्य–पुरुष', ही एक दिन इस जगत् में दिव्य–जीवन की अवतारणा करेंगे।

अंसारी, मुख़्तार अहमद अखिल भारतीय ख्याति के दिल्ली के प्रसिद्ध चिकित्सक। इनका जन्म गाजीपुर के यूसुफपुर ग्राम में सन् १८८० में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा गाजीपुर और फिर दिल्ली में हुई थी। इन्होंने डाक्टरी की शिक्षा मद्रास (चेन्नई) के मेडिकल कालेज और फिर इंग्लैण्ड में ग्रहण की थी। सन् १९१० में ये दिल्ली आकर बस गये थे और वहीं चिकित्सा करने लगे थे। स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लेने के लिए ये भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सदस्य हो गये थे। बनारस में काशी विद्यापीठ की स्थापना में इन्होंने विशेष योग दिया, और फिर दिल्ली में भी जामिया मिलिया इस्लामिया नाम की शिक्षा संस्था स्थापित की थी, जो आज एक मान्य विश्वविद्यालय है। इनकी कर्मठता से प्रभावित होकर सन् १९२० में 'ऑल इण्डिया मुस्लिम लीग' ने इन्हें अपना अध्यक्ष बनाया था। ये साम्प्रदायिकता की भावना से सर्वथा मुक्त थे, और स्वाधीनता आन्दोलन के साथ अपना सम्बन्ध इन्होंने बनाये रखा था। इसलिए १९२७ में इन्हें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया था। सन् १९२८ में इन्हें जामिया मिलिया इस्लामिया का कुलपति बनाया गया था और फिर अपने अन्तिम दिन तक वे इसी पद पर रहे थे। राजनीति में इनकी बराबर रुचि बनी रही थी और सन् १९२८ में इन्होंने लखनऊ में सर्वदलीय बैठक की अध्यक्षता की थी। इसी सम्मेलन में सम्पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव स्वीकार हुआ था। पं० जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस ने जिसका समर्थन किया था। डा० अंसारी बड़े ही सुसंस्कृत व्यक्तित्व के थे और अपने अन्तिम क्षण तक सर्वधर्म समभाव के सशक्त वक्ता रहे। सन् १९३६ में दिल्ली में ही उनका निधन हुआ था।

अकबर, इलाहाबादी पूरा नाम सैयद अकबर हुसेन (१८४६–१९२१)। इन्हें व्यंग्य और हास्यपरक कविताओं के लेखन के कारण उर्दू का बड़ा वरिष्ठ कवि माना जाता है। सन् १८६७ में इन्हों ने मुख्तारी की परीक्षा पास की। कुछ समय तक कचहरी में वकालत करने के बाद, सन् १८६९ में नायब तहसीलदार बने। उसके कुछ समय बाद उन्होंने इलाहाबाद उच्च न्यायालय की वकालत की परीक्षा पास की और फिर मुंसिफ बना दिये गये। उस पद से उन्नति करते–करते वे सेशन जज हो गये। इसी पद से उन्होंने अवकाश ग्रहण किया। सन् १९२१ में इलाहाबाद में ही उनका निधन हुआ।

अकबर ने सन् १८६० से गजलों की रचना से अपना कवि जीवन आरम्भ किया। कुछ समय बाद लखनऊ से जब 'अवध पञ्च' प्रकाशित हुआ, तो वे उसकी विचारधारा के अनुरूप हास्य और व्यंग्यपरक रचनाएँ लिखने लगे। यद्यपि वे अंग्रेजी राज्य के कर्मचारी थे; लेकिन अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति के प्रति उनके मन में बड़ा विरोध का भाव था। अंग्रेजी शिक्षा के वे तीव्र विरोधी थे, और अपनी सांस्कृतिक गरिमा पर उन्हें विशेष स्वाभिमान था। उनकी काव्य–रचनाओं का संकलन 'कुल्लियाते अकबर' चार भागों में प्रकाशित हुआ है। उनका एक ग्रन्थ 'गांधी' अलग से छपा है। उन्होंने बड़े रोचक और हास्य–व्यंग्यपरक पत्र भी लिखे थे, उनका भी एक संग्रह मिलता है।

अकबर–कालीन चित्रकला मुगल सम्राट् अकबर बड़ा ही कला अनुरागी था। साहित्य, संगीत और चित्रकला तीनों में ही उसकी गहरी रुचि थी। उसने एक चित्रशाला स्थापित की थी जिसका प्रबन्धक (दरोगा) प्रति सप्ताह चित्रकारों के नये चित्रों को अकबर के सामने प्रस्तुत करता था तथा कार्य के अनुरूप अकबर चित्रकारों को पुरस्कृत करता था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सल्तनत के सम्मानित अतिथियों को चित्रशाला दिखायी जाती थी।

अकबर ने फ़ारसी तथा संस्कृत के अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों को चित्रित करवाया। "हम्ज़ानामा" अकबर की प्रिय पुस्तक थी। उसने फारसी तथा संस्कृत के अनेकानेक हस्तलिखित ग्रन्थों के दृष्टांतों को चित्रित करवाया। उसके पोथीखाने में चित्रित पांडुलिपियों की भरमार थी। अकबर के पोथीखाने की कुछ प्रसिद्ध चित्रित पांडुलिपियों के नाम इस प्रकार हैं–

(१) हम्ज़ानामा, (२) शाहनामा, (३) रज्मनामा, (४) रामायण, (५) वाकआत बाबरी (बाबरनामा), (६) अनवार सुहेली, (७) अयार दानिश, (८) तूतीनामा, (९) अकबर नामा, (१०) आइन–ए–अकबरी।

अकबर ने शबीह चित्रण (व्यक्ति चित्रण) को भी प्रोत्साहित किया। मीर सय्यद अली, ख्वाज़ा अब्दुस्समद शीराजी, दसवन्त, बसावन आदि उसके श्रेष्ठ कलाकारों में उल्लेखनीय हैं। 'आइन–ए–अकबरी' में लिखा है कि अकबर की चित्रशाला में लगभग १०० उत्कृष्ट चित्रकार थे। इनमें से १३ के नामों का भी उल्लेख है। अकबरनामा में ४३ चित्रकारों के नाम दिये हैं।

अकबर काल के हम्ज़ा–चित्रों के बाद, चित्रशैली में ईरानी, राजस्थानी तथा कश्मीरी शैली का ऐसा संगम हुआ कि यह एक मौलिक रूप में सामने आती है। इस काल के चित्रों में मीनाकारी की भाँति दमकते हुए रंगों को प्रयुक्त किया गया है। इन चित्रों में रेखाओं की गति स्वाभाविक है तथा रेखाएँ कोमल हैं। वस्त्रों की फहरान में स्वाभाविकता है। ईरानी प्रभाव से अकबर कालीन चित्रों के बीच में पट्टी छोड़कर उस पर चित्र से सम्बन्धित कविता लिखी जाती थी। इस समय के चित्रों में भीड़–भाड़ अंकित की गयी थी, जिनमें मानवाकृति अत्यन्त गतिशील मुद्राओं में चित्रित की गयी है। चित्रों के हाशियों पर बेलबूटे से सज्जा की जाती थी। अकबर के काल में चित्रों में यूरोपीय तत्त्वों का भी समावेश होने लगा था।

अकबर महान् (१५५६–१६०५ ई०) जन्म १५ अक्टूबर १५४२ अमरकोट सिन्ध, राज्याभिषेक १४ फरवरी १५५६, कलानौर पंजाब, मृत्यु २५ अक्टूबर १६०५ आगरा। मध्यकालीन शासकों में मुगल सम्राट् अकबर को श्रेष्ठतम स्थान प्रदान किया गया है। अकबर के जन्म के समय मुगल शासन भारत में समाप्त हो चुका था। मुगल सम्राट् हुमायूँ और माता हमीदाबानू बेगम को अकबर के जन्म के समय अमरकोट के राजपूत राजा वीरसाल के यहाँ शरण प्राप्त करनी पड़ी। ३ वर्ष की अवस्था तक अकबर का पालन–पोषण हुमायूँ के भाई अस्करी की पत्नी ने किया। ५ वर्ष की अवस्था से अकबर अपने पिता हुमायूँ के साथ ही रहा। उसका नाम 'जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर' रखा गया। यद्यपि अकबर की शिक्षा के लिए कई शिक्षकों की व्यवस्था की गयी थी, फिर भी वह शिकार व कबूतरों की उड़ान में अधिक लिप्त रहा। अकबर की स्मरणशक्ति अद्भुत थी। अपने पिता की मृत्यु का समाचार अकबर को पंजाब में अफगानों के विरुद्ध अभियान करते हुए मिला। उस समय उसकी अवस्था मात्र १३ वर्ष थी। अपने राज्यारोहण के समय अकबर पंजाब के थोड़े से भू–भाग का शासक था। दिल्ली पर इस समय अफगान शासक आदलशाह सूर के हिन्दू वजीर हेमू (हेमचन्द्रगुप्त–विक्रमादित्य) का आधिपत्य था। १५५६ ई० में पानीपत के द्वितीय युद्ध में अकबर के विरुद्ध हेमू की पराजय हुई और दिल्ली पर मुगलों का फिर से अधिकार स्थापित हो गया। इसके पश्चात् बैरम खाँ, जो कि अकबर का संरक्षक था, उसने अब्दुल लतीफ को अकबर का शिक्षक नियुक्त किया और अकबर के वयस्क होकर स्वयं शासन सम्भालने तक बैरम खाँ ने उसके संरक्षक के रूप में शासन की बागडोर सम्भाले रखी। १५६० ई० में जब अकबर १८ वर्ष का हो गया, तो उसने स्वयं स्वतंत्र रूप से शासन करने की इच्छा व्यक्त की। १५६१ ई० में बैरम खाँ की, जिसने स्वामिभक्तिपूर्ण तरीके से मुगल साम्राज्य की सेवा की, दुर्भाग्यपूर्ण तरीके से मक्का जाते समय गुजरात के पास पाटन में एक अफगान द्वारा हत्या कर दी गयी।

अन्य साम्राज्यवादियों की भाँति अकबर भी अपने साम्राज्य को विस्तृत करना चाहता था। उसने उत्तरी भारत को आगरा से गुजरात, आगरा से बंगाल और असम की सीमाओं तक विजित किया। इसके पश्चात् उसने उत्तर–पश्चिमी सीमाप्रान्त को सुरक्षित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया और दक्षिण भारत में मुगल शक्ति के प्रसार का निर्णय किया। उसने १५६१ ई० में बाजबहादुर से मालवा, १५६४ में रानी दुर्गावती से गोंडवाना, १५७२–७३ ई० में गुजरात पर अधिकार किया। गुजरात को विजित करने के उपलक्ष्य में फतेहपुर सीकरी नामक नगर का निर्माण कराया। अकबर की अन्य महत्त्वपूर्ण विजयें रहीं– बिहार–बंगाल १५७४–७६, काबुल विजय १५८१, कश्मीर व बलूचिस्तान १५८६, सिन्ध १५९१, उड़ीसा १५९२, कंधार १५९५। वर्ष १५९३–१६०१ ई० में उसने चाँदबीबी से अहमदनगर का एक भाग और खानदेश जीत लिया। १५८५ ई० में अकबर ने अब्दुल्ला खाँ उजबेग की शक्ति को समाप्त करने के लिए और उसके प्रयत्नों को निष्फल करने के लिए उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत की ओर रुख किया। अकबर ने इस क्षेत्र में निवास करते हुए यहाँ की उद्दण्ड जातियों के विरुद्ध तीन अभियान किये। इन्हीं जातियों के खिलाफ अभियान करते हुए उसके परम मित्र व उसके नवरत्नों में से एक बीरबल की मृत्यु हुई। राजा टोडरमल ने पराजय का बदला लिया और कबाइलियों को वश में कर लिया। १६०१ ई० में असीरगढ़ की विजय, अकबर की अंतिम विजय रही।

अकबर के शासनकाल में पहले अब्दुल्ला खाँ उजबेग ने १५६४ ई० में और उसके बाद मिर्ज़ाओं ने विद्रोह किया था। इन विद्रोहों को १५८१ ई० तक सफलता पूर्वक शांत कर दिया गया था।

अकबर के शासनकाल के अंतिम वर्षों में उसके पुत्र शाहजादा सलीम ने, उसके विरुद्ध विद्रोह किया। १५९९ ई० में वह बिना आज्ञा के अजमेर चला गया और वहाँ उसने एक स्वतंत्र शासक की भाँति व्यवहार करना शुरू कर दिया। शाहजादा सलीम के ही एक मित्र ओरछा के बुंदेला सरदार वीरसिंह देव ने दक्षिण से लौटते हुए मार्ग में ही अकबर के मित्र अबुल फज़ल की हत्या कर दी। इससे अकबर बहुत दुःखी और क्रोधित हुआ। किन्तु सलीम ने क्षमा माँग ली और अकबर के द्वारा उसे क्षमा कर दिया गया। इस समय तक अकबर के अन्य पुत्रों दानियाल व मुराद की मृत्यु हो चुकी थी। २५ अक्टूबर १६०५ ई० में अकबर की मृत्यु हो गयी और उसे आगरा से ५ मील दूर सिकंदरा में दफना दिया गया।

राजपूत नीति अकबर ने एक सुनिर्धारित नीति के अनुसार राजपूतों का सहयोग व समर्थन मुगल साम्राज्य के हितार्थ प्राप्त करने के लिए उनसे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। सर्वप्रथम आमेर के कछवाह राजा भारमल के वंश के साथ उसने १५६२ ई० में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। उसने कई राजपूत राजकुमारियों के साथ विवाह किये। अधिकांश राजपूत राज्यों ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली। अकबर ने राजपूतों को महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक पदों पर भी नियुक्त किया। राजा मानसिंह, राजा भगवान दास आदि राजपूत जो उसके सम्बन्धी भी थे, सभी को ऊँचे पद दिये गये। राजपूतों का विश्वास प्राप्त कर उसने इस जाति के शौर्य व पराक्रम का उपयोग मुगलशक्ति के विस्तार के लिए किया। लेकिन मेवाड़ के राणाओं ने अकबर के सम्पूर्ण शासन काल में मुगलों की अधीनता स्वीकार नहीं की। हल्दीघाटी की प्रसिद्ध लड़ाई में यद्यपि मुगल सेनापति मानसिंह ने १८ जून १५७६ को मेवाड़ के महाराणा प्रतापसिंह को परास्त कर दिया, तब भी मुगल पूर्णरूपेण मेवाड़ को अपने आधिपत्य में नहीं कर पाये। अकबर की राजपूत नीति के परिणामस्वरूप मुगल शासन को सुरक्षा व स्थायित्व ही प्राप्त नहीं हुआ, बल्कि देश में अपूर्व समृद्धि व सांस्कृतिक चेतना का उदय हुआ। हिन्दू–मुस्लिम संस्कृतियों का समन्वय हुआ, जो मुगल शासन की एक अमूल्य देन है।

धार्मिक नीति अकबर का पालन–पोषण उदार वातावरण में हुआ था, इसलिए उसमें अपेक्षाकृत कट्टरता की भावना नहीं थी। सर्वप्रथम १५६३ ई० में तीर्थयात्री कर को बंद किया और १५६४ ई० में गैर–मुस्लिमों से वसूल किया जाने वाला 'ज़जिया' कर भी समाप्त कर दिया। १५७५ ई० में अकबर ने फतेहपुर सीकरी में एक इबादतखाना बनाने की आज्ञा दी। प्रारम्भ में यह मुख्य रूप से मुस्लिम लोगों के लिए बनाया गया था। अबुल कादिर बदायूँनी और अबुल फज़ल इसमें प्रमुख वक्ता थे। इन दोनों को अबुल फज़ल के पिता शेख मुबारक द्वारा प्रशिक्षित किया गया था। लेकिन कुछ समय बाद ही अकबर को यह अनुभव हुआ कि सभी धर्मों में सत्य का अंश विद्यमान है, अतः यह इबादतखाना शिया मुसलमानों, हिन्दू, ईसाई व पारसी लोगों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए खोल दिया गया। शेख मुबारक की सलाह के अनुसार अगस्त–सितम्बर १५७६ ई० में एक प्रपत्र में जिसे 'मजहर' और 'अचूक' आज्ञापत्र भी कहा जाता है, की घोषणा की गईं। इसके द्वारा धार्मिक क्षेत्र में अकबर का निर्णय ही अंतिम माना जाने लगा। १५८१ ई० में अपने काबुल अभियान से लौटने के पश्चात् अकबर ने अपने आपको एक नवीन धर्म का प्रमुख व संस्थापक घोषित किया, जो 'दीन–ए–इलाही' के नाम से जाना जाता है। इस नवीन धर्म के विषय में मुख्य रूप से ईसाई मिशनरी बारअटोली ने लिखा है, जो अकबर के समय में भारत आये एक शिष्ट मंडल का सदस्य था। अबुल फज़ल इस धर्म का प्रधान पुरोहित था। प्रतिष्ठित हिन्दुओं में से सिर्फ बीरबल ने ही इसे स्वीकार किया था। इस नवीन धर्म के सदस्यों की संख्या सीमित ही रही।

प्रशासन अकबर के राजपद सम्बन्धी विचार सहज विकास के परिणाम थे। अकबर एक सर्वशक्तिमान शासक था। वह राज्य का प्रमुख था, सेना का सर्वोच्च सेनापति व प्रमुख न्यायाधीश भी वही था। उसके अधिकार असीमित थे, लेकिन प्राचीन हिन्दू राजाओं के समान अकबर जनमत का सम्मान करना अपना परम कर्तव्य समझता था। राजकाज के लिए वह दिन में तीन बार दरबार में आता था। सूर्योदय के समय वह झरोखा दर्शन में अपनी प्रजा को दर्शन देने के लिए उपस्थित हो जाता था। अकबर के अधीन केन्द्रीय सरकार के चार विभाग थे। प्रत्येक विभाग की अध्यक्षता एक मंत्री करता था जो इस प्रकार थे – १. प्रधानमंत्री अथवा वकील, २. वित्तमंत्री – इस मंत्री को दीवान अथवा वजीर भी कहा जाता था। मुजफ्फरखाँ को प्रथम दीवान नियुक्त किया गया था। मुजफ्फर खाँ, टोडर मल और शाह मंसूर – ये तीनों ही अकबर के उच्चकोटि के वित्त विशारद् रहे। अकबर ने भू राजस्व के क्षेत्र में अनेक प्रयोग किये, जिनमें करोड़ी व्यवस्था और दहसाला प्रबंध प्रमुख हैं। ३. मीर बख्शी का स्थान दीवान के बाद होता था। वह सभी मनसबदारों का नाम, दर्जा व वेतन आदि दर्ज करता था। ४. सदरूल सदर मुगल सम्राट् को धार्मिक परामर्श दिया करता था। इन मंत्रियों के अतिरिक्त एक मंत्री मीर सामाँ भी होता था, जिसके प्रबंध में शाही महल, हरम, रसोई रक्षा व्यवस्था आदि थे।

अकबर ने अपने सम्पूर्ण साम्राज्य को प्रांतों में विभाजित कर दिया था और एक समान शासन व्यवस्था स्थापित की थी। इन प्रांतों की संख्या १५ थी। ये प्रांत इलाहाबाद, आगरा, अवध, अजमेर, अहमदाबाद, बिहार, बंगाल, दिल्ली, काबुल, लाहौर, मुल्तान, मालवा, बरार, खानदेश और अहमदनगर थे। इन सूबों का प्रमुख "सिपहसालार" कहलाता था। प्रत्येक सूबा जिलों में, जिले परगनों में और परगने ग्रामों में विभक्त थे।

अकबर के नवरत्न अकबर ने अपने दरबार के अति विशिष्ट व्यक्तियों में से नौ को नवरत्नों की उपाधि प्रदान की थी। इनके नाम थे– १. तानसेन, २. मानसिंह, ३. बीरबल, ४. टोडरमल, ५. अब्दुर्रहीम खानखाना, ६. अबुल फज़ल, ७. फैजी, ८. मिर्ज़ा अजीज कोका, ६. मुल्ला दो प्याजा।

कला–कौशल अकबर का शासनकाल कला–कौशल तथा विद्या की दृष्टि से भी उन्नतिशील रहा। अकबर ने फारसी भाषा को राजभाषा घोषित किया। उसने एक अनुवाद विभाग की भी स्थापना की थी। अबुल फज़ल द्वारा रचित 'अकबरनामा' व 'आईने–अकबरी' उसके समय में रचित प्रमुंख फारसी ग्रंथ हैं। हिन्दी साहित्य भी अकबर के शासन काल में फला फूला। अब्दुर्रहीम खानखाना व रसखान की रचनाएँ इनमें प्रमुख रहीं। दरभंगा के महेश ठाकुर ने अकबर के समय का इतिहास संस्कृत में लिखा। जैन विद्वान् पदमसुन्दर ने 'अकबरशाही श्रृंगार दर्पण' लिखा। हिन्दी भक्त कवियों में श्रेष्ठतम गोस्वामी तुलसीदास तथा सूरदास आदि ने उसके शासनकाल में राज्याश्रय से पृथक् रहकर उत्कृष्ट कोटि की रचनाएँ कीं।

अकबर के समय में बनी पहली इमारत दिल्ली में बना हुआ हुमायूँ का मकबरा है, इसे अकबर की सौतेली माँ हाजी बेगम ने फारसी कलाकार मीर मिर्जा गियास की सेवाएँ उपलब्ध करके बनवाया था। अकबर के समय में आगरा, लाहौर और इलाहाबाद के किले बनवाये गये और उनमें बहुत सी इमारतों का निर्माण किया गया। फतेहपुर सीकरी के नगर और उसमें अनेक इमारतों का निर्माण किया गया। चित्रकला को भी अकबर ने पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय के चित्रकारों में अब्दुल समद, दसवंत, बसावन आदि थे। अबुल फज़ल ने लिखा है कि अकबर के दरबार में संगीतज्ञों की संख्या बहुत अधिक थी। उनमें सबसे प्रमुख तानसेन थे। अकबर ने मुगलों की टकसाल और मुद्रा व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये। अकबर के समय में सबसे बड़ा सोने का सिक्का 'शसंब' था, जो तोल में १०१ तोले के करीब था। सोने का अधिक चलने वाला सिक्का 'इलाही' कहलाता था, जिसका मूल्य १० रुपये के बराबर था। चाँदी का सिक्का 'रुपया' कहलाता था, जिसका वजन १७२.५ ग्राम था। चौकोर रुपये को 'जलाली' पुकारा जाता था; ताँबे का सिक्का 'दाम' व ताँबे का सबसे छोटा सिक्का 'जीतल' कहलाता था।

अकबर का शासन काल प्रत्येक दृष्टि से उल्लेखनीय रहा। वह एक कुशल शासक था।

अकलुष इस्पात (स्टेनलेस स्टील)

मिश्रधातुओं के उस समूह का प्रतिनिधि है, जो वायुमण्डल एवं अकार्बनिक तथा कार्बनिक अम्लों से प्रभावित (कलुषित, खराब) नहीं होता है। साधारण इस्पात की तुलना में अकलुष इस्पात अधिक ताप भी सह सकता है। इस्पात में ये गुण क्रोमियम तथा अन्य धातुएँ मिलाने से उत्पन्न होते हैं। क्रोमियम इस्पात के बाह्य तल को निष्क्रिय बना देता है। इसमें प्रतिरोधी शक्ति की वृद्धि के लिए 'निकल' धातु भी मिलाया जाता है।

सन् १८७२ से लेकर १६३५ तक अकलुष इस्पात की भिन्न-भिन्न प्रतिरोधी शक्तियों एवं क्षमताओं वाली अनेक प्रजातियाँ तैयार की गयीं, जिनमें मिलायी जाने वाली धातुओं, अधातुओं की संख्या तथा अनुपातों में परिवर्तन कर वैज्ञानिकों ने मनोनुकूल क्षमता के इस्पात को जन्म दिया। अकलुष इस्पात के निर्माण में लोहे में आवश्यकतानुसार ताम्र, कोबाल्ट, टाइटेनियम, निकल, नियोबियम, गन्धक तथा नाइट्रोजन आदि को मिलाया जाता है। इन विविध धातुओं और अधातुओं की सहायता से विभिन्न भौतिक, रासायनिक तथा यांत्रिक गुणों के अकलुष इस्पात बनाये जा सकते हैं।

क्षयरोधक तथा तापरोधक आधुनिक अकलुष इस्पातों को पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :-

१. जिनमें मुख्य धातु मिश्रणकारी के रूप में क्रोमियम का प्रयोग किया गया हो।
२. जिनमें क्रोमियम और इस्पात की मिश्रधातु में परिवर्तन लाने के लिए पर्याप्त मात्रा में एल्यूमिनियम, ताम्र, मोलिबडीनम, सिलिकन, गन्धक या टंगस्टन का उपयोग हो।
३. जिनमें क्रोमियम, निकल और इस्पात के मिश्रणों में पूर्वोक्त धातुओं में से एक, दो अथवा अधिक का उपयोग, अकलुष इस्पात के गुणों में थोड़ा सा परिवर्तन लाने के लिए किया गया हो।
४. जिनमें प्रमुख धातु मिश्रणकारी के रूप में क्रोमियम और निकल का प्रयोग हो।
५. जिनमें निकल के स्थान पर, प्रमुख धातु मिश्रणकारी के रूप में मैंग्नीज़ का उपयोग किया गया हो।

कार्बन की मात्रा या धात्वीय संरचना की दृष्टि से भी इस्पात का वर्गीकरण किया जा सकता है। कार्बन के अनुसार वर्गीकरण करने पर इस्पात न्यून, मध्यम तथा उच्च कार्बन वाले कहलाते हैं। संरचना की दृष्टि से भी इस्पात को तीन वर्गों में बाँटा गया है:-

१. फेरिटिक इस्पात, जिन्हें कड़ा नहीं किया जा सकता। इनमें १५ प्रतिशत से ३० प्रतिशत तक क्रोमियम होता है तथा कार्बन की मात्रा अत्यधिक कम, मात्र ०.०८ प्रतिशत से ०.२० प्रतिशत तक, होती है।
२. मारटेंसिटिक इस्पात, जो तप्त कर पानी में बुझाने पर कड़े हो जाते हैं। इनमें १० प्रतिशत से १८ प्रतिशत तक क्रोमियम और ०.०८ प्रतिशत से १.१० प्रतिशत तक कार्बन रहता है।
३. आस्टेनिटिक इस्पात, जिसे बिना बुझाए ही कड़ा किया जा सकता है। इसमें १६ प्रतिशत से २६ प्रतिशत तक क्रोमियम और ६ प्रतिशत से २२ प्रतिशत तक निकल होता है।

निम्नलिखित तालिका विभिन्न प्रकार के अकलुष इस्पात और उनके उपयोगों को प्रदर्शित करती है :-

१. **१२ प्रतिशत क्रोमियम :** साधारण कामों में; कोयले के क्षेत्र में प्रयुक्त यन्त्रादि तथा पम्प, वाल्व आदि में।

२. **१७ प्रतिशत क्रोमियम :**

(क) तप्त करके कठोर हो सकने वाला : छुरी,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काँटा आदि; शल्य चिकित्सा के औजार; बाल बेयरिंग आदि में।

(ख) **कठोर न हो सकने वाला :** आन्तरिक गृहनिर्माण; मोटर कार; दाहक कक्ष में।

३. १८–८ **क्रोमियम–निकल :** भोजनागार, गृहों के बाहरी दरवाजों या दीवारों में।

४. १८–८ **क्रोमियम–निकल–मालिब्डिनम :** लवणमय जल, वस्त्र निर्माण के यन्त्र, कागज़ निर्माण के यन्त्र; फोटोग्राफ़ी में।

५. **क्रोमियम–मैंगनीज़ :** भोजनागार, गृह के बाहरी उपकरण और बाहरी दीवारों में।

अकलुष इस्पात को जोड़ने में रांगे–सीसे के टाँके का उपयोग वर्जित है। अकलुष इस्पात को दूसरी धातुओं से जोड़ने के लिए चांदी का टाँका लगाया जाता है।

अक्साईचिन पश्चिमोत्तर भारत में हिन्दूकुश और कराकोरम श्रृंखलाओं के बीच बहुत ही ऊँचाई पर स्थित एक विस्तृत मैदान। यह विस्तृत क्षेत्र कभी कश्मीर राज्य के लद्दाख क्षेत्र का भाग था; लेकिन सन् १९६० में इसके बहुत बड़े भूभाग पर चीन ने अधिकार कर लिया, जो आज भी चीन के अधिकार में ही है। इस क्षेत्र में यद्यपि किसी प्रकार की कोई आबादी नहीं है तथापि अन्तरराष्ट्रीय दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है और तिब्बत तक उसका संप्रसार है। आज भी वह भारत और चीन के बीच विवाद का विषय बना हुआ है।

अकादमी यह मूलतः प्राचीन यूनान में एथेन्स नगर के बाहर देवी एथेना तथा अन्य देवी–देवताओं को समर्पित एक सार्वजनिक उद्यान था। एथेना को ज्ञान, लोक–कलाओं, कृषि, युद्ध और विजय की देवी कहा गया है। उस उद्यान के हरे–भरे वातारण के बीच एक व्यायामशाला भी थी। उसी परिसर में यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात के शिष्य प्लैटो कक्षाएँ लिया करते थे। उनके विद्यालय को 'अकादमी' कहा जाता था। उनके बाद यूनान के अनेक दार्शनिकों एवं विद्वानों ने अपने विद्यालय खोले, और उन्हें भी अकादमी कहा गया। प्लैटो के विद्यालय की स्थापना ३८७ ईसा पूर्व हुई थीः उसे प्राचीन अकादमी कहा जाता है। उन्हीं की शिष्य परम्परा के दार्शनिक आरकेशिलस (३१६–२४१ ई०पू०) ने माध्यमिक अकादमी की प्रतिष्ठा की थी। उनके बाद सन्देहवादी दार्शनिक कामियेदे ने नवीन अकादमी स्थापित की।

यूनान की ये अकादमियाँ मूलतः विद्यालय थीं। कालान्तर में विद्वानों की संस्था को अकादमी कहा जाने लगा। रोमन सम्राट् चार्ले मैगने ने ईस्वी सन् ७८२ में, अपनी राज–सभा के एक विद्वन्मण्डल को अकादमी नाम ही दिया था। सन् १३२३ में फ्रांस में कुसुम–क्रीड़ाओं की एक अकादमी की स्थापना हुई थी, जो आज भी साहित्यिक पुरस्कार प्रदान करती है। यूनान पर तुर्की के आक्रमण के बाद बहुत से यूनानी विद्वान् इटली आ गये थे, जिनकी प्रेरणा से अनेक अकादमियों की स्थापना हुई। उनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय ईस्वी सन् १४४२ में स्थापित 'प्लैटॉनिक अकादमी' को कहा जाता है। कास्मियो–दि–मेदिची ने यूनानी साहित्य के अध्ययन के लिए फ्लोरेन्स में उसकी स्थापना की। कुछ समय बाद उसमें इतालवी भाषा का भी अध्ययन होने लगा था। उसके बाद फ्रांस में सन् १६३५ ई० में कार्डिनल रिचलू ने 'अकादमी–ए–फ्रांकासे' की स्थापना की थी, और उसे फ्रांसीसी भाषा के शब्दकोश निर्माण का कार्य दिया था, जिसे उस संस्था ने सन् १६९४ में पूरा किया था। फ्रांस में इस समय सर्वाधिक प्रसिद्ध फ्रेञ्च अकादमी हर प्रकार के ज्ञान–विज्ञान तथा साहित्यिक और वैज्ञानिक गतिविधियों को प्रोत्साहन देती है। इंग्लैण्ड में इस नाम की संस्थाओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध 'रायल अकादमी ऑफ आर्ट्स' है। अमेरिका में इस नाम की अनेक संस्थाएँ हैं, यथा 'अमेरिकन अकादमी ऑफ आर्ट्स एण्ड साइन्सेज़' आदि। पश्चिम में विद्वन्मण्डलों के अतिरिक्त अनेक विद्वानों के साथ भी अकादमी संज्ञा चल रही है।

भारत में 'अकादमी' संज्ञा का प्रयोग वरिष्ठ विद्वन्मण्डलों के अतिरिक्त विशिष्ट एवं सामान्य विद्यालयों के साथ भी चल रहा है। केन्द्रीय शासन के तत्त्वावधान में अनेक संस्थाएँ चल रही हैं, यथा साहित्य अकादमी, संगीत नाटक अकादमी, ललित कला अकादमी, विज्ञान अकादमी आदि। विद्यालय का स्वरूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मसूरी की लालबहादुर शास्त्री अकादमी में देखा जा सकता है। उत्तर प्रदेश राज्य में ललित कला अकादमी, संगीत नाटक अकादमी आदि अनेक संस्थाएँ हैं। अन्य प्रदेशों में भी इसी प्रकार ज्ञान–विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में साहित्य एवं संस्कृति को लेकर अनेक संस्थाएँ हैं। भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में अनेक बड़े–छोटे शहरों में विद्यालयों के साथ 'अकादमी' संज्ञा जुड़ी हुई मिलती है।

अकाल सामान्य अर्थ है, बुरा समय; लेकिन इसका प्रयोग दुर्भिक्ष अर्थात् फसल ख़राब होने पर खाने–पीने के जब लाले पड़ जाते हैं, उस समय के लिए विशेष रूप से होता है। कभी–कभी दुर्भिक्ष या अकाल, स्वार्थी मनुष्यों द्वारा भी निर्मित होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय सन् १९४३ ई० में बंगाल में पड़ने वाला अकाल, कुछ ऐसा ही था। उसी के आर्थिक पक्ष का अध्ययन करते हुए प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डा० अमर्त्य सेन ने कई ग्रन्थों की रचना की; 'च्वाइस ऑफ टेक्निक इन रेफरेन्स ऑफ पावर्टी एण्ड फेमीन्स' (गरीबी और दुर्भिक्ष के सन्दर्भ में तकनीक का चयन)'। उनकी दूसरी पुस्तक हैः पावर्टी एण्ड फेमीन्स–एन एस्से ऑन एनटाइटेलमेन्ट एण्ड डिप्राइवेशन' (गरीबी और दुर्भिक्ष के सन्दर्भ में अधिकार और वंचना)। डॉ० सेन ने इनके अतिरिक्त अपने और भी कई ग्रन्थों में इसी विषय पर लिखा है। उनका कहना है कि दुर्भिक्ष का वास्तविक कारण जनसाधारण में खरीदने की क्षमता का अभाव है। उन्होंने दुर्भिक्षों का कारण समाज में अनैतिकता के परिव्याप्त होने को भी माना है। प्रो० सेन ने इस प्रकार गरीबी और दुर्भिक्ष को दृष्टि में रखकर एक नये अर्थशास्त्र की भी सृष्टि की थी; और उसी के लिए उन्हें सन् १९९८ में अर्थशास्त्र के क्षेत्र में विशेष कार्य के लिए नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

आज वस्तुतः विश्व का इतना वैज्ञानिक विकास हो गया है कि विश्व के किसी भी भाग में इस प्रकार का दुर्योग उत्पन्न हो जाने पर बहुत से दूसरे स्थानों से बड़ी सरलता से अनाज भेजा जा सकता है। आवश्यकता बस इस बात की है कि हम स्वार्थ की सीमा से ऊपर उठकर लोक सेवा की भावना अपनाएँ। आज देश का, विदेश का सबसे बड़ा संकट वस्तुतः नैतिकता का ह्रास है। अगर मनुष्य केवल ईमानदारी से कार्य करना सीख ले तो अकाल से सर्वथा मुक्ति पायी जा सकती है।

अकाल तख़्त वह सिंहासन जिस पर वह अकालपुरुष अर्थात् अनादि, अनन्त, परम–सत्ता बैठती है। अमृतसर में सिक्खों के हरिमन्दिर अथवा स्वर्णमन्दिर परिसर में उसकी प्रतिष्ठा है। सिक्खों के दसवें गुरु गोविन्दसिंह जी ने सन् १७०६ ईस्वी में यह घोषणा की थी कि अब गुरु–परम्परा नहीं चलेगी : गुरु की भूमिका का निर्वाह अब 'गुरु–ग्रन्थ साहब' करेंगे। 'गुरु ग्रन्थ साहब' को सिक्ख धर्म में 'आदि ग्रन्थ' भी कहा जाता है, क्योंकि उसमें उस धर्म के आधारभूत सिद्धान्त लिखित हैं। अब अकाल तख़्त के आगे खुले क्षेत्र में बैठकर सिक्खों के चयनित नेता अपने अनुयायियों के साथ बैठते हैं और समुचित विचार–विमर्श के बाद समस्या पर सर्वसम्मति से निर्णय होता है। उस निर्णय को फिर हुकुमनामा के रूप में प्रसारित किया जाता है। प्रत्येक सिक्ख के लिए उसका मानना अनिवार्य होता है। वह आयोजन दण्ड भी देता है। उसी के द्वारा अनेक वरिष्ठ सिक्खों को सजाएँ भी दी गयी हैं। किन्हीं बड़े लोगों को उनके धर्म के प्रति अपराध के कारण 'तनखैया' भी घोषित किया गया और उन्हें बिना कोई पारिश्रमिक लिये मन्दिर–परिसर में अनेक छोटे–बड़े कार्य करने पड़े।

अकाल तख़्त के सामने बैठकर, पहले धार्मिक ही नहीं, राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में भी निर्णय लिये जाया करते थे; लेकिन सन् १८०६ में नवस्थापित सिक्ख राज्य के शासक के रूप में महाराज रणजीत सिंह जी ने राजनीतिक विषयों को गुरुमत से स्वतंत्र कर दिया था। उन्होंने सिक्खों और असिक्खों की एक सम्मिलित परिषद् बनायी थी, और वही राजनीतिक निर्णय लिया करती थी। तबसे अकाल तख़्त के सामने बैठकर केवल धार्मिक विषयों के सम्बन्ध में ही निर्णय लिये जाते हैं।

अकाल तख़्त जैसी व्यवस्था आज आनन्दपुर, पटियाला, पटना और नांदेड़ (महाराष्ट्र) के गुरुद्वारों में भी है।

अमृतसर के स्वर्णमन्दिर परिसर के अकालतख़्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर जब जरनैल सिंह भिंडरावाला ने अपने लड़ाकुओं के साथ अधिकार कर लिया था, तो जून १९८४ में भारतीय सेना ने उनके विरुद्ध जो 'ब्ल्यू स्टार' नाम का अभियान चलाया था, उसमें अकाल तख़्त का भवन बहुत टूट–फूट गया था; लेकिन उसके बाद सिक्खों ने कार–सेवा से उसे फिर से भव्य बना लिया था।

अकाली इस संज्ञा का प्रयोग विशेष रूप से उन सिखों के लिए किया जाता है जो शूरवीर, पवित्रमना, लोकसेवा और आत्मबलिदान की भावना से परिपूर्ण होते हैं। मूलशब्द है अकाल, जिसका अर्थ है, जो काल (समय) अर्थात् भूत, भविष्य तथा वर्तमान सभी से परे है, जन्म–जन्मान्तर के बन्धन से मुक्त है, वह परम–सत्ता है, जो अजर–अमर है। भगवद्सत्ता के अजर–अमर स्वरूप पर विश्वास करने वाले सिक्ख को अकाली कहा जाता है। सिख धर्म के संस्थापक गुरु नानकदेवजी ने अकाल पुरुष की उपासना का प्रचार–प्रसार किया था। उनका स्पष्ट कहना था कि 'मानुस की जाति सबे एकै कर जानिए'। अकाली इस प्रकार संकीर्णता की भावना से सर्वथा मुक्त होते हैं और जाति, धर्म, सम्प्रदाय, देश आदि के बन्धनों को वे सर्वथा अस्वीकार करते हैं। नानक जी का उपदेश था कि हम सभी एक अकाल पुरुष की सन्तान हैं, अतः हमें मानव मात्र के प्रति प्रेम की भावना से ओतःप्रोत होना चाहिए।

गुरु नानक देव की परम्परा में छठे गुरु हरगोविन्द हुए जिन्होंने 'अकाल बुंगे' की स्थापना की। बुंगे शब्द का अर्थ है, वह बड़ा भवन जिसके ऊपर गुम्बज हो। इसी प्रकार के भवन में, जो अमृतसर में स्थित है और जिसे स्वर्ण–मन्दिर कहते हैं, अकालतख़्त की प्रतिष्ठा की गयी है। कालान्तर में इसी भवन में 'गुरुग्रन्थ साहब' की प्रतिष्ठा की गयी, जिसमें सिक्खों के सभी गुरु और अन्य सन्त–महात्माओं की रचनाएँ है। इसी भवन में 'गुरुमताँ' होता है, अर्थात् वरिष्ठ सिक्ख बैठकर परस्पर विचार–विमर्श करते हैं। औरंगजेब के शासन–काल में जब हिन्दुओं पर अत्याचार होने लगे, तो यहीं बैठकर यह निर्णय लिया गया था कि जनसाधारण की सुरक्षा के लिए आन्दोलन चलाया जाना चाहिए। अकालतख़्त के निर्णय को आदेश के रूप में स्वीकार किया जाता है। आज भी यही वस्तुस्थिति चली आ रही है। अकालतख़्त से 'गुरुमताँ' द्वारा प्रचारित आदेश सभी सिक्खों के लिए सर्वथा मान्य होता है।

सिक्खों के दसवें गुरु गोविन्दसिंह जी के समय औरंगजेब की मुस्लिम साम्प्रदायिकता की भावना अत्यधिक उग्र हो उठी थी। उसका मुकाबला करने के लिए ३० मार्च सन् १६९९ ई० को गुरु गोविन्दसिंह जी ने खालसा पंथ की स्थापना की। उन्होंने जो अपने शिष्यों की नयी परम्परा चलायी, उसमें अकाली मनोवृत्ति के अर्थात् सर्वस्व त्याग की भावना से परिपूर्ण सिक्ख ही आगे आये। अपने इस नये पन्थ के लोगों को उन्होंने आदेश दिया कि वे नीले वस्त्र पहनें और फिर पंच ककार अर्थात् कच्छ, कड़ा, कृपाण, केश और कंघा अवश्य धारण करें। इस खालसा सेना ने औरंगजेब की सेना और अधिकारियों से बड़े साहस के साथ टक्कर ली थी।

गुरुगोविन्द सिंह के प्रयास से जो सेना बनी, उसकी एक शाखा का नेतृत्व सरदार मानसिंह ने किया था। उस सैनिक–दल को 'निहंग' कहा गया है। यह शब्द संस्कृत के निसंग शब्द का विकास है, जिसका अर्थ होता है, सर्वथा अपरिग्रही। सच्चा 'निहंग' अपने को परिवार के बन्धनों से सर्वथा मुक्त रखता है और अनिकेत होता है। निहंगों के जत्थे होते हैं और उनके नायक को 'जत्थेदार' कहा जाता है। इस संसार में जो भी पीड़ित और प्रताड़ित है, अर्थात् दीन और दुर्बल है, उसकी सेवा करना और सिख धर्म का प्रचार–प्रसार ही निहंगों का एकमात्र कार्य होता है। वे एक स्थान पर नहीं ठहरते, खाना मिल गया तो ठीक, नहीं तो उपवास ही कर लेते हैं। उनकी इस मनोवृत्ति के कारण उन्हें 'विहंगम' भी कहा जाता है। गुरु गोविन्दसिंह जी ने जो भावना जगायी, उससे प्रत्येक अकाली अपने को सवा–लाख के बराबर समझता है। अपनी सहज मनोवृत्ति के कारण सूखे चने को ये लोग बादाम कहते हैं; और सोने–चाँदी के सिक्कों को ठीकरा कहकर अपनी अपरिग्रह की भावना का परिचय देते हैं। मध्य–युग में विदेशी आक्रमण विशेष रूप से भारत के पश्चिमोत्तर भाग में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही हुए थे। उन आक्रमणों का सामना अधिकांश में अकाली दस्तों ने ही किया था। उन्होंने उस क्षेत्र के पुरुषों में ही नहीं; स्त्रियों में भी प्रबल पुरुषार्थ की भावना जगायी थी।

गुरु गोविन्दसिंह के बाद महाराज रणजीत सिंह ने इन शूरवीर अकालियों का नेतृत्व किया था। उन्होंने जो सेना खड़ी की थी, उसने साम्प्रदायिकता की भावना से ओतःप्रोत गाजियों से निर्भीक होकर टक्कर ली थी। इसी सेना के बल पर महाराजा रणजीत सिंह, ने मुल्तान, कश्मीर, अटक, नौशेरा, जमशेर और अफगानिस्तान के अनेक भागों तक अपने साम्राज्य को प्रसारित किया था।

महाराज रणजीत सिंह के शासन–काल में अनेक गुरुद्वारे और धर्मशालाएँ स्थापित की गयी थीं, और उनके सुचारु संचालन के लिए उनके साथ बड़ी–बड़ी जागीरें जोड़ दी गयी थीं। कालान्तर में इन गुरुद्वारों में विपरीत मनोवृत्ति के लोगों का अधिकार हो गया। अतः १६२० में अनेक सिक्ख युवकों ने मिलकर एक अभियान चलाया, गुरुद्वारों की व्यवस्था को सुधारा और सिखों में पुनः त्याग और पवित्रता की भावना का संचार किया। सन् १६२५ में उन्होंने सारे गुरुद्वारों को 'शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी' के अधिकार में कर दिया। सिक्खों और अकालियों ने इस नयी व्यवस्था के साथ महात्मा गांधी के नेतृत्व में जो स्वाधीनता आन्दोलन चल रहा था, उसमें विशेष रूप से योग दिया। बहुत बड़ी संख्या में अकाली 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' में सम्मिलित हुए और देश की स्वतंत्रता के लिए पूरे मनोयोग से कार्य किया। स्वाधीनता के लिए सशस्त्र क्रान्तिकारियों का जो आन्दोलन खड़ा हुआ था, उसमें भी सिक्खों ने बड़ी संख्या में भाग लिया। अमर शहीद सरदार भगतसिंह सिक्ख ही थे, जिन्होंने प्रसिद्ध क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर आजाद के साथ मिलकर 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी' की स्थापना की।

सिक्खों, विशेष रूप से अकालियों, के इतिहास में सन् १६२५ में बने 'गुरुद्वारा ऐक्ट' का विशेष महत्त्व है। उसी के निर्देशों के अनुसार २ अक्टूबर, १६२६ को पहला निर्वाचन हुआ और गुरुद्वारा प्रबन्ध–समिति की स्थापना हुई। इसे अब 'शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी' कहा जाता है और हर पाँच वर्ष के बाद इसका निर्वाचन होता है। यह समिति प्रमुख गुरुद्वारों की देखभाल करती है, धर्म प्रचार करती है तथा शिक्षा एवं जनसेवा की अन्य संस्थाओं का संचालन करती है। इस समिति का कार्यालय अमृतसर के स्वर्ण–मन्दिर में है और उसी के आदेश और निर्देश से सभी बड़े–बड़े गुरुद्वारों की प्रबन्ध–व्यवस्था होती है।

अक्रा अफ्रीका के घाना राज्य की राजधानी और गिनी की खाड़ी में स्थित उसका मुख्य बन्दरगाह। भौगोलिक दृष्टि से वह ५.१२° उत्तर अक्षांश तथा ०.१२° पश्चिम देशान्तर में है। भूमध्य रेखा के अत्यन्त निकट स्थित होने के कारण, यहाँ की जलवायु बड़ी ही गर्म है; और वर्ष भर में लगभग २६ इंच वर्षा होती है। इस शहर का मुख्य मार्ग होलीट्रिनिटी गिरजाघर से आरम्भ होकर बिल्कुल सीधा जाता है। उसी पर बड़े–बड़े व्यापारिक केन्द्र और बैंक हैं। विक्टोरिया स्क्वायर क्षेत्र में वरिष्ठ अफसरों तथा सम्भ्रान्त लोगों के निवास हैं। शहर के एक ओर घुड़दौड़ का मैदान है। मुख्य रूप से यहाँ से मछलियों तथा नारियल का निर्यात होता है।

अक्रियावाद तीर्थंकर महावीर और गौतम बुद्ध के समय की एक भारतीय विचारधारा, जो कर्म के महत्त्व को सर्वथा अस्वीकार करती है। भारतीय दर्शन सामान्यतः यह मानता है कि मनुष्य का, सभी प्राणियों का जीवन, उसके कर्मों पर आधारित होता है। कर्म इस दृष्टि से तीन प्रकार के माने गये हैं– संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। किसी भी प्राणी ने जो कुछ भी किया है, उसी के आधार पर उसके जन्मों की परम्परा चलती रहती है। अपने पूर्व के जन्मों में जो कुछ उसने किया है, उसे संचित कर्म कहते हैं; जिन कर्मों का वह भोग कर रहा है, उन्हें प्रारब्ध कर्म की संज्ञा दी गयी है; और जो कुछ भी वह इस जन्म में कर रहा है, उसे क्रियमाण कहा जाता है। अक्रियावादी इन सभी प्रकार के कर्मों को अस्वीकार करते हैं। इस विचारधारा का कोई लिखित रूप उपलब्ध नहीं है। जैन तथा बौद्ध साहित्य में जो इसकी आलोचना की गयी है, उसी के आधार पर इसकी कुछ धारणा बनती है। मौर्यों के शासनकाल में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घोषाल मस्करपुत्र ने इस जीवन–दृष्टि को लेकर आजीवक नाम का एक सम्प्रदाय भी खड़ा किया था। इस सम्प्रदाय के अन्य विशिष्ट व्यक्तियों के नाम हैं– पूर्णकश्यप, प्रबुद्ध, कात्यायन, अजित केशकम्बली। कविवर सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय ने अजित केशकम्बली के असाधारण व्यक्तित्व को लेकर मुक्त छन्द में एक बड़ी लम्बी कविता लिखी है।

अक्रे–(१) ब्राजील का एक प्रदेश और इसी संज्ञा की एक नदी। इस प्रदेश के उत्तर में बोलिविया तथा दक्षिण में पेरू का भाग है। यह प्रदेश पहले बोलिविया के अधिकार में था। उसके बाद ब्राजील ने उस पर आक्रमण किया और कई सालों तक दोनों के बीच युद्ध चलता रहा। सन् १८६६ ई० में अक्रे ने अपने को स्वतंत्र देश घोषित कर दिया; लेकिन १६०३ में ब्राजील ने उसे अपने में सम्मिलित कर लिया। बोलिविया से समझौता करने के लिए ब्राजील को क्षतिपूर्ति के रूप में १,००,००,००० डॉलर देने पड़े थे। अक्रे क्षेत्र का प्रधान राजनगर रियो ब्रांको है। इस क्षेत्र में रबर के वृक्ष बहुत अधिक हैं, और रबर का निर्यात जनसाधारण का मुख्य आर्थिक आधार है।

अक्रे–(२) हिब्रू भाषा में अक्रा एक बड़ा ही प्राचीन बन्दरगाह का नाम है। यह आज के इज़राइल में हाइफा शहर के निकट स्थित है। विश्व के आदिम काल से निरन्तर बसे रहने वाले शहरों में उसकी गणना होती है। उपलब्ध इतिहास में तूतमस (ईसा पूर्व १५०४–१४५०) के शासनकाल में उसकी स्थापना मानी जाती है। ईसा पूर्व ७०० में असीरिया के शासकों ने उस पर अधिकार कर लिया था, और असुर बनीपाल ने तो उसे सम्पूर्णतः उजाड़ देने की कोशिश की थी। ईसा पूर्व ३३२ में अलेग्जेण्डर महान् ने अपने अभियान में उसे अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था। ईसा पूर्व तीसरी शंताब्दी में मिस्त्र के सम्राट् तोलेमी द्वितीय ने उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, और फिर मध्य–युग तक वह तोलेमाइस के नाम से ही जाना जाता रहा। ईसाई धर्म के उद्भव के पूर्व वह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र रहा। यह पहले सीरिया का भाग और फिर रोमन लोगों का उपनिवेश बना। जब रोमन साम्राज्य का ईस्वी सन् ३६५ में विभाजन हुआ, तो वह पूर्वी साम्राज्य का, जिसे बाइजेन्टाइन कहते हैं, भाग बन गया। अरबों ने ईस्वी सन् ६३८ में उस पर अधिकार कर लिया और अनेक शताब्दियों तक वह उन्हीं के अधिकार में रहा। ईस्वी सन् ११०४ में यरूशलम के महाराज बाल्डविन ने उसे अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। सन् ११८७ में मिस्त्र और सीरिया के सुल्तान सलादीन ने उसे अपने प्रभुत्व में ले लिया। लेकिन जल्दी ही तीसरे जेहादी अभियान के समय वह फिर रोमनों के अधिकार में आ गया। सन् १२६१ में सीरिया की एक घुमन्तू जाति ने लम्बी लड़ाई के बाद उसे अपने हाथों में ले लिया। सन् १६१८ में अंग्रेजी फौजों ने उस पर अपना अधिकार कर लिया। सन् १६४८ में इज़राइली सेना ने वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और एक वर्ष बाद उन्होंने उस नगर को औपचारिक रूप से अपने राज्य में समाहित कर लिया। अब वह इज़राइल का बड़ा ही समृद्ध नगर है और वहाँ इस्पात के कारखाने हैं, फिर भी अभी उसकी जनसंख्या मात्र ५०,००० के लगभग ही है।

अक्रोपोलिस मूलतः यह ग्रीक अथवा यूनानी भाषा का शब्द है, जिसमें 'अक्रोर' का अर्थ उच्चतम और 'पोलिस' का अर्थ है 'नगर'। इसी व्युत्पत्ति के अनुसार इस शब्द का प्रयोग प्राचीन यूनान में पहाड़ पर बने हुए सुदढ़ दुर्ग (किले) के लिए होता था। भारतवर्ष में भी अनेक दुर्ग सुरक्षा की दृष्टि से पहाड़ियों पर बने हुए मिलते हैं। उन पहाड़ी दुर्गों के नीचे के भाग में शहर बसाये गये थे। यूनान में इस प्रकार के कई अक्रोपोलिस हैं, यथा कोरिन्थ का एक्रोरिन्थ, थीब का कैडमिआ थीब। सर्वाधिक प्रसिद्ध एथेन्स का एक्रोपोलिस हैं।

एथेन्स का एक्रोपोलिस लगभग १५० मीटर की ऊँचाई पर चूने के पत्थर के पहाड़ पर बना है। तरायी में बसे हुए शहर के ऊपर वह बड़े ही भव्य रूप में शोभायमान है; और वास्तुकला के बड़े ही उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित करता है। पश्चिमी सीमा पर प्रोपेलिया नाम का इसका प्रवेश द्वार है। अन्य महत्त्वपूर्ण भवन पर्थेनॉन और एरिचथियम हैं, इसे 'कुमारिकाओं का मण्डप' कहा जाता है। सुरक्षा के लिए बनायी गयी दीवार के बाहर दक्षिण–पूर्व में विस्तृत चट्टान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर डायोनिसस का मुक्ताकाश रंगमंच है, जिस पर कभी यूनान के प्रसिद्ध नाटककारों अइस्किलस, सॉफोक्लीज, यूरिपिडीज, अरिस्टोफेन्स आदि के नाटक खेले गये थे।

यूनान के एथेन्स प्रदेश के सम्राटों ने सर्वप्रथम उस पहाड़ के ऊपर अपने दुर्ग, राजभवन और देवालयों की इमारतें बनवायी थीं। कहा जाता है कि ईसा पूर्व ४८० में प्राचीन ईरान के लोगों ने अपने आक्रमण में उन सभी भवनों को विनष्ट कर दिया था। लेकिन उसी शताब्दी के उत्तरार्ध में एथेन्स के सम्राट् पेरिक्लीज ने पुनर्निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया था। वास्तुकार फ़ीदियस ने उस कार्य का निरीक्षण किया था, और स्वयं भी अनेक सुन्दर मूर्तियाँ बनायी थीं। उस समय वास्तु–कला की दृष्टि से सर्वाधिक भव्य एथनानिके नाम का मन्दिर बना था। काल के प्रवाह में उपेक्षा के कारण अनेक भवन धीरे–धीरे टूट–फूट गये थे; लेकिन सन् १८३३ में जब यूनान में राजतंत्र की वापसी हुई थी, तो उन्हें धीरे–धीरे फिर से सुन्दर बना दिया गया था। एक्रोपोलिस की गणना आज भी पुरातात्त्विक दृष्टि से विश्व के महत्त्वपूर्ण स्थलों में होती है।

अक्षय कुमार महादेव के सुपुत्र, जिन्हें विशेष रूप से स्कन्द अथवा कार्त्तिकेय कहा गया है। उनके कार्त्तिकेय नामकरण के सन्दर्भ में एक बड़ा विलक्षण पौराणिक आख्यान है (देखिये कार्त्तिकेय)। कार्त्तिकेय को देवताओं का सेनापति भी कहा गया है। उन्हीं के अनुशासन में देवताओं की सेना ने दैत्यराज तारक को पराजित किया और फिर उन्होंने उसका वध कर डाला था; इसीलिए उन्हें तारकजित भी कहा गया है। उनकी इसी अपराजेयता को देखकर उन्हें अक्षय कुमार की संज्ञा दी गयी। कालिदास ने अपने 'कुमार सम्भव' में महादेव के पार्वती के साथ परिणय और फिर कुमार कार्त्तिकेय की उत्पत्ति की कथा दी है (देखिए 'कुमार सम्भव', पार्वती और स्कन्द)।

अक्षय तृतीया वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की तीज। इस तिथि का उत्तर भारत के लिए विशेष महत्त्व इसलिए है कि इसी दिन से किसान धार्मिक विधि–विधान के साथ नयी फसल के लिए बीजारोपण आरम्भ करते हैं। सम्भवतः इसीलिए इस तिथि को स्नान, दान आदि के लिए महत्त्वपूर्ण माना गया है।

अक्षय नवमी कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की नवमी लिथि। कार्तिक का पूरा महीना ही स्नान, पूजा आदि के लिए महत्त्वपूर्ण माना गया है; लेकिन उसमें नवमी के स्नान को विशेष महत्त्व दिया गया है और उससे अक्षय पुण्य का लाभ स्वीकार किया गया है। इस तिथि को लोग व्रत अथवा उपवास रखते हैं तथा धार्मिक कथाएँ भी सुनते हैं।

अक्षयवट वट अर्थात् बड़ का वह विशेष वृक्ष जो प्रलय में भी नष्ट नहीं होता, न जलप्लावन में डूबता है और न अग्नि का विनाशकारी प्रकोप उसे नष्ट कर पाता है। पुराणों का कहना है कि इस अक्षयवट पर सब कुछ विनष्ट हो जाने पर भगवान् बालरूप में बने रहते हैं; अपने चारों ओर के महाविनाश को देखते हैं और फिर सृष्टि के नये विधान का सूत्रपात् करते हैं। कालिदास ने अपने 'रघुवंश' में अक्षयवट का उल्लेख किया है। सनातन परम्परा के भारतीयों का यह कहना है कि प्रयाग में त्रिवेणी के निकट यमुना की लहरों से प्रक्षालित मुगल सम्राट् अकबर का बनवाया हुआ जो किला है, उसमें वह अक्षयवट आज भी स्थित है। चीनी यात्री युवॉन–च्वाँग ने अपने यात्रा–विवरण में इस विशिष्ट वृक्ष का उल्लेख किया है। अंग्रेजी शासन के दिनों में भी संगम में स्नान करने वाले लोगों के लिए इस अक्षयवट की पूजा की व्यवस्था थी, जो आज भी चल रही है। अक्षयवट के इधर–उधर छोटे–छोटे मन्दिरों की श्रृंखला है। कहा जाता है कि अकबर ने अपनी रानी जोधाबाई की पूजा के लिए इन मन्दिरों की व्यवस्था की थी।

अक्षर यह संस्कृत की 'क्षर्' धातु में 'अ' उपसर्ग और 'अच्' प्रत्यय लगाकर बना है। 'क्षर्' का अर्थ है, बहने, पिघलने या नष्ट होने वाला; 'अच्' प्रत्यय के साथ बना 'क्षर'; अर्थ देता है, नश्वर; और 'अ' उपसर्ग जुड़ जाने पर, उसका अर्थ हो जाता है, अनश्वर। भारतीय मनीषियों ने जब अपने ज्ञान–विज्ञान को देश और काल की सीमाओं का अतिक्रमण कर सुरक्षित रखने का निश्चय किया, तो उन्होंने जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीक–चिह्न बनाये, उन्हें उन्होंने बड़ी सही संज्ञा 'अक्षर' दी। सामान्यतः वर्ण को, 'अक्षर' का पर्याय समझा जाता है; लेकिन 'वर्ण' तो केवल ध्वनि–प्रतीकों की संज्ञा हैः 'अक्षर', भाषा के ध्वन्यात्मक और लिखित, दोनों ही रूपों का बोध कराते हैं।

अक्षरमाला के विकास की देश में, विदेश में अपनी अपनी अलग कहानी है। विद्वानों का कहना है कि मनुष्य ने स्थान और समय की सीमाओं को पार कर जब अपना संदेश अपने भावों, विचारों, इच्छाओं, आकांक्षाओं को संप्रेषित करने की विधि खोजी, तो उन्होंने पहले विभिन्न वस्तुओं के चित्र बनाये। इन्हीं चित्रों के माध्यम से फिर उन्होंने अपने भावों, विचारों आदि को संप्रेषित करने का प्रयास किया। पहले चित्र अच्छे बने; फिर त्वरा से बनाये गये, उसके संकेतात्मक चित्रों की परम्परा चली। उन संकेतों द्वारा पहले वाक्यांश (सिलेबुल) का बोध कराया गया; और फिर वे एक ध्वनि–विशेष के प्रतीक–चिह्न बन गये। संसार के प्रायः सभी देशों में लिपि–चिह्न अर्थात् अक्षरमाला के विकास की यही कहानी है; पहले चित्रात्मक लिपि, फिर भावनात्मक या विचारात्मक लिपि–चिह्न, फिर उनसे वाक्यांश का बोध, और फिर अन्ततः एक अक्षर से एक ध्वनि का बोध।

एक विशेष अक्षर से एक ही ध्वनि का संकेत, वस्तुतः लिपि–चिह्नों के विकास की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि यह वस्तुस्थिति, केवल कोरिया के लिपि–चिह्नों में ही मिलती है। हम अंग्रेजी का ही उदाहरण लें; उसमें 'सी' कभी 'क' (यथा कैट); तो कभी 'स' (यथा सिटी) के रूप में उच्चारित होता है। अंग्रेजी में एक ध्वनि के लिए कभी–कभी एक से अधिक लिपि–चिह्न भी मिलते हैं; यथा 'क' के लिए 'सी' यथा कॉट (चारपाई) तथा 'के' यथा 'की' (चाभी)। अंग्रेजी में कभी–कभी, उच्चारण में, किसी ध्वनि का लोप भी हो जाता है, यथा 'के' लिखा तो जाता है, लेकिन सामन्त का अर्थ देने वाले 'नाइट' शब्द में उसका उच्चारण नहीं होता। संसार की प्रायः सभी भाषाओं में केवल देवनागरी के ही लिपि–चिह्न ऐसे हैं, जो केवल एक ही ध्वनि का संकेत देते हैं। इस सन्दर्भ में आदर्श माने जाने वाले कोरियाई लिपि का विकास तो १५वीं शताब्दी में हुआ था। देवनागरी लिपि का उद्भव तो नवीं शताब्दी में ही हो गया था। अतः उसे ही विश्व की प्रथम आदर्श अक्षर–माला माना जाता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने अक्षरमाला का आरम्भ ईसा से कोई तीन हजार वर्ष पहले मिस्र के अभिलेखों में माना है। मिस्र में आरम्भ तो चित्रात्मक अक्षरों से हुआ था; फिर वे भावों, विचारों और क्रियाओं के अभिव्यञ्जक बने; और फिर कोई २२ ध्वनि–प्रतीक भी बने। लेकिन उन ध्वनि–प्रतीकों का विशेष प्रचलन नहीं हुआ। अधिकांश में वहाँ चित्रात्मक और भावनात्मक लिपि–चिह्नों का ही प्रयोग होता रहा।

मिस्र के बाद मेसोपोटामिया में 'कीलाक्षर' प्राप्त होते हैं। उन्हें 'कीलाक्षर' इसलिए कहा जाता है कि क्योंकि वे कील जैसी वस्तु के सहारे गीली मिट्‌टी पर लिखे जाते थे। ये 'कीलाक्षर' अपने रूपाकार में चित्रात्मक नहीं हैं। विद्वानों ने उन्हें ध्वनि–प्रतीकों के रूप में स्वीकार किया है। यह भी कहा जाता है कि वे सभी व्यञ्जनों के प्रतीक हैं।

ईसा के कोई २००० वर्ष पहले, भूमध्यसागर के पूर्वी किनारे पर सेमेटिक जाति के लोगों ने ध्वन्यात्मक लिपि–चिह्नों की परम्परा का सूत्रपात् किया था। मिस्र के ध्वनि–चिह्नों से उनका विकास माना जाता है। मिस्र के सिनाई प्रायद्वीप से चलकर, यह अक्षरमाला फिलिस्तीन और फोएनेशिया आयी थी। फोएनेशिया का बेबिलॉन शहर बड़ा ही उच्च सांस्कृतिक केन्द्र था, और वहाँ १७०० ईसा पूर्व के बड़े ही प्रामाणिक अभिलेख मिले हैं।

यह जो सेमेटिक अथवा सामी लेखमाला मिली है, उसके स्पष्टतः दो स्वरूप हैं, उत्तरी और दक्षिणी। उत्तरी सामी लेखमाला में १५ से लेकर २२ तक अक्षर हैं। उसका प्रयोग सिनाई के अतिरिक्त फिलिस्तीन और फोएनेशिया में मिलता है। दक्षिणी सामी के लिपिचिह्न प्राचीन इथोपिया से आये हुए कहे जाते हैं। आज वह केवल इथोपिया में ही प्रयोग में आते हैं।

यूरोप के सभी देशों की अक्षरमाला प्रायः उत्तरी सामी, इज़राइल की प्राचीन हिब्रू लिपि से ली हुई मानी जाती है। सम्भवतः फोएनेशियन व्यापारियों के संपर्क से यूनान (ग्रीस) के लोगों ने ईसा से कोई हजार वर्ष पहले उसे ग्रहण किया था। यूनान के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोगों ने सामी अक्षर–माला के अलग–अलग प्रतीकों के नाम प्रायः वही बनाये रखे थे। उन्होंने कोई २२ अक्षर लिये थे, और पहले दो अक्षरों अल्फा, बीटा के नाम पर उन्हें 'अल्फाबेट' कहा था। यूनानियों ने मूलतः व्यञ्जन ध्वनियों के संकेत–चिह्न ही ग्रहण किये थे; और जो सामी संकेत–चिह्न छोड़ दिये थे, उनमें से ५ को स्वर–चिह्नों के रूप में बाद को अपना लिया था। ईसा के ४०० वर्ष पूर्व एथेन्स नगर में २४ अक्षरों की उनकी अपनी वर्णमाला बन गयी थी।

यूनान के ही लोग जब इटली गये तो वहाँ के लोगों को उन्होंने जो अक्षर–माला प्रदान की, वही कालान्तर में रोमन लोगों द्वारा लातिनी लिपि–चिह्न बनीं। उसे रोमन अक्षर–माला भी कहा जाता है। उसी का प्रचार–प्रसार फिर यूरोप के पश्चिमी देशों, यथा फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैण्ड आदि में हुआ। रोम के एक पादरी संत सिरिल, पूर्व में स्लाव लोगों के बीच ईसाई धर्म के प्रचार के लिए गये। वहाँ उन्होंने उस क्षेत्र की भाषा के अनुसार रोमन–लिपि में कुछ परिवर्तन किये। उसे ही आज उन्हीं के नाम से सिरिलिक अक्षर–माला कहते हैं।

अंग्रेजी की अक्षर–माला रोमन लिपि–चिह्नों का ही विकास है। अंग्रेजी में जो बड़े आकार के अक्षर हैं, वे तो सीधे रोमन अभिलेखों से लिये गये हैं। रोम की भाषा जब त्वरा के साथ लिखी जाती थी तो उससे उसका जो रूप बना था, वही अंग्रेजी के लिपिक अक्षरों में देखने को मिलता है।

भारत में हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई के बाद सिंधुघाटी और हड़प्पा के जो अवशेष मिले हैं, वे करीब ३५०० ई० पू० के माने जाते हैं। यह लगभग वही काल है, जब पाश्चात्य विद्वानों ने मिस्र में चित्रात्मक अक्षर–माला का उद्‌भव माना है। इधर उत्तर भारत में, गुजरात और अन्य समीपस्थ प्रदेशों में जो खुदाइयाँ हुई हैं, उनसे यह ज्ञात होता है कि सिंधुघाटी सभ्यता का संप्रसार, इस क्षेत्र में भी था। सिंधुघाटी में कोई ५०० लिपि चिह्न मिले हैं। उनमें लिपि के विकास की चित्रात्मक, भावात्मक, विचारात्मक और ध्वन्यात्मक, सभी अवस्थाएँ मिल जाती हैं। इस प्रकार यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि मिस्र में जब लिपि–चिह्नों का विकास हो रहा था; लगभग उसी समय भारत में अक्षर–माला का शुभारम्भ हो गया था।

भारत में प्राचीन ऐतिहासिक काल की ब्राह्मी और खरोष्ठी अक्षर–मालाओं के अभिलेख मिले हैं। खरोष्ठी तो दाहिने से वायीं ओर लिखी जाती थी। इसलिए संभव है कि वह पश्चिम एशिया के लोगों के साथ अरबी लिपि की भाँति पश्चिम से भारत में आयी हो। ब्राह्मी लिपि का अपनी समकालीन किसी भी लिपि से कोई साम्य नहीं है। केवल सिंधुघाटी के ही आठ लिपि–चिह्न उसमें मिलते हैं; इसलिए उसे भारतीय सुमेधा का अपना विकास माना जाता है।

ब्राह्मी अक्षरों के अभिलेख छठी, शताब्दी ईसा पूर्व से मिलने लगते हैं। संस्कृत के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि का समय सातवीं शताब्दी ई० पू० माना जाता है। उन्होंने संस्कृत भाषा का जो वैज्ञानिक विश्लेषण उपस्थित किया है, वह लिखित साहित्य के अनुशीलन के बिना सम्भव ही नहीं है। फिर चतुर्वेद, उपनिषद्, आरण्यक आदि की रक्षा के लिए तथा उसमें अर्न्तनिहित जो ज्ञान है, उसे आगे की पीढ़ियों तक पहुँचाने के लिए, ज्ञान के एक पर्याय ब्रह्म भी है, अतः ज्ञान के प्रचार–प्रसार के लिए अपनायी गयी लिपि की ब्राह्मी संज्ञा ठीक ही लगती है।

ब्राह्मी लिपि से कालान्तर में अन्य भारतीय लिपियों का विकास हुआ। स्वयं ब्राह्मी के भौगोलिक और ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक रूप माने जाते हैं; यथा, पूर्व मौर्य, मौर्यकालीन, उत्तर मौर्य, शुंग, गुप्त, कुटिल, कलिंग और सातवाहन। इन्हीं से आगे चलकर सिद्धि–मातृका, शारदा, देवनागरी आदि अक्षर–मालाओं का विकास हुआ। देवनागरी के ही थोड़े–बहुत रूपान्तर हमें उड़िया, बंगला, असमिया, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं की अक्षर–मालाओं में देखने को मिलते हैं। हिन्दी प्रदेश में देवनागरी के अनेक रूपों का प्रचलन रहा है, यथा मैथिली, बिहारी, कैथी, महाजनी आदि। पंजाबी भाषा की गुरुमुखी लिपि भी देवनागरी का ही रूपान्तर हैं। सम्पूर्ण भारत में संस्कृत देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती है। दक्षिण भारत की द्रविड़ भाषाओं ने अपनी अलग–अलग अक्षर मालाएँ विकसित कीं।

भारतीय संस्कृति का सम्प्रसार पूर्व एशिया के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेक देशों यथा तिब्बत, बर्मा, मलाया प्रायद्वीप, कम्बोडिया, तथा सुमात्रा, जावा, बाली आदि द्वीपों में भी हुआ हैं। इन सभी क्षेत्रों में शिव, विष्णु, राम और गौतम बुद्ध की भी मान्यता मिली है। इस धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रभाव के साथ हमारी अक्षर–माला भी इन प्रदेशों में गयी है। जावा की मूल भाषा को और उसकी लिपि को भी 'कवि' कहा जाता है। भारतीय अक्षर–माला वहाँ ६८२ शकाब्द के एक अभिलेख में देखने को मिलती है। सुमात्रा, बाली, सेलीवीज, फिलिपाइन आदि में भी कवि अक्षर–माला का प्रयोग मिल जाता है। कम्बोडिया में दसवीं, ग्यारहवीं शताब्दी के अभिलेखों में ब्राह्मी लिपि–चिह्न थोड़े–बहुत परिवर्तित रूप में मिल जाते हैं। थाईलैण्ड में १२१४ शकाब्द के भारतीय अक्षर–माला से प्रभावित अभिलेख मिले हैं।

पूर्व एशिया में चीनी लिपि का अपना सर्वथा स्वतंत्र अस्तित्व है। चीन की अक्षर–माला को देखकर यह लगता है कि चित्रात्मक लिपि–चिह्नों से उसका आरम्भ हुआ था। उसके बाद वह भावात्मक और विचारात्मक बनी। लगभग २००० ई०पू० से प्रयोग में आये ये लिपि–चिह्न अब तक ध्वान्यात्मक अवस्था तक नहीं पहुँच सके हैं। चीनी लिपि–चिह्नों की संख्या कई हज़ार है। विद्वानों ने समस्त चिह्नों को छह वर्गों में विभाजित किया है। १. चित्रांकन, २. भावांकन, ३. सूक्ष्म विचारात्मक, ४. बाह्य–विच्छेद और अन्तर्भेद, ५. सम नामांकन, तथा ६. ध्वन्यात्मक समास। सामासिक अक्षरों के भी दो विभेद किये गये हैं: ध्वन्यात्मक और अर्थात्मक। प्रथम केवल ध्वनि का बोध कराते हैं और दूसरे केवल अर्थ की ओर संकेत करते हैं। चीनी अक्षर ऊपर से नीचे लिखे जाते हैं। पहला स्तम्भ दक्षिणी भाग से आरम्भ होता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने अमेरिका, मैक्सिको, ईस्टर द्वीप आदि के आदिम निवासियों की अक्षर–मालाओं की भी खोज की है। ये सभी अक्षर–मालाएँ चित्रात्मक हैं। उनमें हम मनुष्य, पशु, मछलियों आदि की आकृतियाँ देखते हैं।

अक्षर–माला का सर्वोत्कृष्ट रूप ध्वनि–संकेतों में देखने को मिलता है। इस दृष्टि से सर जेम्स पिटमैन ने रोमन अक्षर–माला का आधार लेकर ४४ अक्षरों की एक माला का प्रचार सन् १९५६ में आरम्भ किया था, लेकिन अभी तक उसका विशेष प्रचलन नहीं हुआ है।

अक्षरकला (कैलीग्राफ़ी) प्राचीन काल में जब छपाई की मशीन अथवा तकनीक का आविष्कार नहीं हुआ था, तब ग्रंथों को हाथ से लिखा जाता था। इन ग्रंथों को लिखने वाले बड़ी सुन्दर लिपि में लिखते थे। धीरे–धीरे अक्षरों को अत्यधिक सज्जित एवं कलात्मक रूप में लिखा जाने लगा। इस प्रकार अक्षरकला का तात्पर्य सुलेख, सुलेखन, कलात्मक लेखन, खुशनवीसी, खुशख़त आदि है। यह कला अरबी और फारसी लिपि में सर्वाधिक प्रचलित हुई। मुगल काल के स्थापत्य में यह कलात्मक लेखन देखा जा सकता है। सुलेख में लिखे गये प्राचीन भारतीय ग्रंथों में सबसे अधिक संख्या जैन धर्म के ग्रंथों की है। उन्हें लिखने की स्याही के स्थान पर सोने और चाँदी का प्रयोग भी किया जाता था। ऐसी लिपि की पृष्ठभूमि, लाल अथवा नीले रंग की बनायी जाती थी जिससे अक्षर चमक उठते थे।

199306

अक्षरधाम यह पुण्यस्थान गुजरात राज्य की नवस्थापित राजधानी गांधीनगर में, स्वामिनारायण–वैष्णव–सम्प्रदाय का बड़ा ही भव्य मन्दिर है। स्थापत्य का भी यह बड़ा ही उत्कृष्ट नमूना है। इसका नाम 'अक्षर धाम', इसलिए है कि वह अक्षर, जिसका क्षरण नहीं है, उन परमात्मा का मन्दिर है। इस धर्मस्थान को सहजानन्द स्वामी के अनुयायियों ने बनवाया, जिनमें 'पटेल' अधिक हैं, जिनका मूलकर्म कृषि है। ये पटेल दुनिया के विभिन्न देशों में फैले हुए हैं; समृद्ध हैं; तथा स्वामी जी के परम अनुयायी हैं। उन्हीं लोगों ने करोड़ों की धनराशि से बारह–तेरह वर्षों में, बड़े ही विस्तृत परिसर में इसे बनवाया है। लाल पत्थरों से इसका निर्माण हुआ है, मुख्य द्वार से प्रवेश के बाद, ताजमहल की भाँति बीच से मूल भवन की ओर जाती हुई नहर में फ़व्वारे हैं। दोनों तरफ विस्तृत लॉन है, जिसके किनारे–किनारे विभिन्न वर्णों के फूलों की क्यारियाँ हैं। इस भव्य परिवेश में एक सुन्दर झील भी है। सामने बड़ा ही भव्य मन्दिर है, जिसमें सहजानन्द स्वामी जी की स्वर्णिम आदमकद प्रतिमा प्रतिष्ठित है। उसके चारों और उनके कुछ विशिष्ट शिष्यों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुन्दर मूर्तियाँ हैं। आधुनिक तकनीक का आश्रय लेकर एक ओर प्रदर्शिनी–भवन भी बनवाया गया है, जिसमें स्वामी जी के जीवन के विभिन्न प्रसंगों की बड़ी मनोरम झाँकियाँ प्रदर्शित की गयी हैं। भवन के विभिन्न स्थलों को जोड़ने वाली सुनिर्मित गैलरियाँ भी हैं। एक भाग में दिल्ली के लाल किले की भाँति, ध्वनि–प्रकाश से कुछ विशिष्ट प्रसंगों को प्रदर्शित करने की भी व्यवस्था है। भवन और परिसर की रमणीय व्यवस्था को देखकर दर्शक बड़े ही मनोमुग्ध हो जाते हैं।

सहजानन्द स्वामी, उत्तर प्रदेश के बस्ती ज़िले के छपैया ग्राम के निवासी थे। वहाँ रेलवे स्टेशन भी है, और उसे 'स्वामी नारायण छपैया' नाम दे दिया गया है। ब्राह्मण परिवार में उनका जन्म हुआ था, और वैराग्य–भावना से ओतःप्रोत होकर वे घर छोड़कर निकल गये थे। गुजरात पहुँचकर उन्होंने सौराष्ट्र क्षेत्र के लोगों को धर्मोपदेश देना, सत्संस्कार प्रदान करना तथा दिव्य–साधना की ओर उन्मुख करना, अपने जीवन का ध्येय बना लिया था। समय–समय पर वे गाँवों और वन–प्रान्तर में बसने वाले लोगों के बीच भी जाया करते थे। उनके व्यक्तित्व में इतनी सात्विकता थी, वाणी में इतना वर्चस् था, व्यवहार में इतनी आत्मीयता का संस्पर्श था कि लोग उनसे विशेष रूप से प्रभावित होकर, उनके भक्त बनते गये। उनका संस्कृत में, श्लोकों में लिखा ग्रन्थ 'पत्रिका', जिसमें उनके उपदेश, आदेश और शिक्षाएँ संकलित हैं, सानुवाद प्रकाशित हुआ है। उनकी कुछ रचनाएँ तथा उनके सम्प्रदाय से सम्बन्धित और भी साहित्य, उस भवन में उपलब्ध रहता है।

अक्षांश अंग्रेजी में लेटीट्यूड अथवा पैरेलल। पृथ्वी–तल की उत्तर तथा दक्षिण दिशाओं में माप के लिए भूगोल की दृष्टि से कल्पना की गयी समानान्तर रेखाएँ। भूमण्डल के बिल्कुल मध्य भाग में पश्चिम से पूर्व अथवा पूर्व से पश्चिम की ओर कल्पित रेखा को विषुवत् या भूमध्य रेखा (ईक्वेटर) कहते हैं। यह सम्पूर्ण पृथ्वी तल के मध्य भाग को घेरे हुए गोलाकार कल्पित की गयी है। उस रेखा को ०° अक्षांश कहा जाता है। उसके उत्तर और दक्षिण में बनने वाली सभी गोलाकार रेखाएँ समानान्तर हैं। उत्तरी ध्रुव पर कल्पित किये गये बिन्दु को ६०° उत्तर कहा जाता है, दक्षिण ध्रुव की ओर कल्पित बिन्दु को ६०° दक्षिण।

भूमध्य रेखा अर्थात ०° अक्षांश पर सूर्य पृथ्वी के सर्वाधिक निकट होता है। उत्तर तथा दक्षिण अक्षांशों में जाते हुए पृथ्वी तल से सूर्य की दूरी बढ़ती जाती है। उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव सर्वाधिक दूर हैं; इसीलिए वहाँ सूर्य का ताप बहुत ही कम पहुँचता है। विश्व के विभिन्न भूभागों के नगरों की स्थिति उनके अक्षांश और देशान्तर पर मानी जाती है। देशान्तर (लांगीट्यूड) की रेखाएँ भौगोलिक माप के लिए उत्तर से दक्षिण की ओर कल्पित की गयी हैं। भूमण्डल के 23½° उत्तरी अक्षांश रेखा को कर्क रेखा तथा 23½° दक्षिण अक्षांश रेखा को मकर रेखा कहा जाता है।

किसी स्थान के अक्षांश व देशान्तर की माप के लिए एक विशेष खगोलीय त्रिभुजाकार पद्धति अपनायी जाती रही है। सन् १६७१ में एक भारतीय भूगोलविद् श्री निरंकार सिंह ने भूघूर्णन नामक यंत्र बनाया था।

अक्षौहिणी 'अक्ष' का अर्थ है रथ; 'ऊह' का अर्थ होता है मार–काट करना, विनष्ट करना; णिनि+ङीप् का अर्थ होता है योग्य, शक्तिशाली, बलवान्, साहसी आदि। सम्पूर्ण शब्द का अर्थ बन जाता है, वह रथ जो मार–काट करने में समर्थ हो। इस प्रकार अक्षौहिणी का शाब्दिक अर्थ तो बनता है रथ–सेना; लेकिन इसका प्रयोग युद्ध के प्रसंग में चतुरंगिणी सेना के लिए होता है, जिसमें रथ, घोड़े, हाथी और पैदल सभी प्रकार के सैनिक होते हैं। अक्षौहिणी सेना की सबसे छोटी इकाई 'पत्ति' मानी गयी है : उसमें एक रथ, एक हाथी, तीन घोड़े तथा पाँच पैदल सैनिक होते हैं। सेना के उससे बड़े भाग को 'सेनामुख' कहा गया है, जिसमें तीन रथ, तीन हाथी, नौ घोड़े तथा पन्द्रह पदातिक होते हैं। उससे बड़ी सेना के भाग को 'गुल्म' कहा गया है, उसमें सेनामुख से तीनगुना रथ, हाथी, घोड़े और पैदल की संख्या होती है। तीन गुल्मों को लेकर एक 'वाहिनी' बनती है, तीन वाहिनियों से एक 'पृतना', तीन पृतनाओं से एक 'चमू', तीन चमू से मिलकर एक 'अनीकिनी' बनती है, और फिर दस अनीकिनी मिलकर एक अक्षौहिणी सेना बनाते हैं। इस गणना के अनुसार अक्षौहिणी सेना में २१८७० रथ, इसी संख्या के हाथी,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घोड़ों की संख्या तिगुनी अर्थात् ६५६१०, और पैदल पदातिकों की संख्या पँचगुनी अर्थात् १०६३५० होती है। कुल मिलाकर अक्षौहिणी सेना में इस प्रकार २१८७०० रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सैनिक होते हैं। यह गणना महाभारत के आदि–पर्व के आधार पर की जा रही है। महाभारत का युद्ध जब आरम्भ हुआ था, तो यह कहा गया है कि पाण्डवों की सेना ८ अक्षौहिणी थी, और कौरवों की सैनिक संख्या ११ अक्षौहिणी थी। कुरुक्षेत्र में इसी विशाल सैन्य दल को देखकर अर्जुन प्रकम्पित हो उठे थे और उन्होंने युद्ध से विरत हो जाने की बात कही थी। तभी श्रीकृष्ण ने उन्हें गीता–प्रवचन देकर फिर से अपने उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक और युद्ध में तत्पर किया था।

अखरोट यह एक वृक्ष है, जो अमरीका से पूर्वी एशिया में लाया गया। अखरोट के पेड़ को वैज्ञानिक भाषा में 'जुगलेन्स रोजिया' कहते हैं। यह वानस्पतिक जुगलैंडेसी कुल का पौधा हैं। इसकी कुछ किस्में लकड़ी तथा फल प्राप्त करने हेतु उगायी जाती हैं। भारत में हिमालय तथा आसाम की पहाड़ियों पर ३ हज़ार से ११ हज़ार फीट की ऊँचाई पर पाया जाता है। पेड़ की ऊँचाई ८०–१०० फीट तथा तने की मोटाई १०–१५ फीट होती हैं। अखरोट की लकड़ी फर्नीचर बनाने तथा उस पर खूबसूरत डिजाइन बनाने के लिए उपयुक्त है। इसका उपयोग विभिन्न आयुधों के निर्माण में भी किया जाता हैं।

भारत के कश्मीर राज्य में मुख्य रूप से इसकी खेती होती है, जिसका क्षेत्रफल लगभग ८००० एकड़ है। दक्षिण भारत की पहाड़ियों पर सुचारु रूप से यह पेड़ नही उगाया जा सकता ऐसा वातावरणीय भिन्नता के कारण है। भारत में अखरोट फल की वार्षिक उपज लगभग २२४०० कुन्तल है, जिसका प्रमुख भाग देश के विभिन्न प्रान्तों को एवं विदेशों को भेज दिया जाता है।

भारत के उत्तरी प्रान्तों में जाड़ों में इसकी गिरी का प्रयोग किया जाता है। इसकी गिरी में प्रोटीन, चिकनाई, रेशा आदि पाये जाते हैं, जिसमें चिकनाई ६०–६७ प्रतिशत तथा प्रोटीन की मात्रा १४.३–२०.४ प्रतिशत तक तथा कार्बोहाइड्रेट ११ प्रतिशत के साथ अन्य आवश्यक तत्त्व जैसे सोडियम, पोटेशियम, कैल्शियम, मैंगनीशियम, लोहा, ताँबा, फास्फोरस, सल्फर, क्लोरीन, आयोडीन, जिंक, कोबाल्ट और मैंगनीज पाया जाता है।

विटामिन के विश्लेषण से ज्ञात हुआ है कि इसमें 'बी' विटामिन के विभिन्न रूप जैसे थायमीन, राइबोफ्लेबिन, निकोटिनिक एसिड, पेन्टोथेनिक एसिड, फोलिक एसिड, विटामिन 'बी'–६ तथा वायोटिन पाये जाते हैं। इसमें विटामिन 'ए' तथा एस्कोर्बिक अम्ल भी होता है।

कच्चे फल 'एसकोर्बिक अम्ल' के अच्छे स्रोत हैं। इस अवस्था के फल के अन्य उपयोग भी हैं।

इसमें तेल की मात्रा ६०–७० प्रतिशत होती है, जो कि हल्के पीले रंग का होता है। तेल, खाने के अलावा पेंटिग, वार्निश तथा साबुन बनाने में प्रयुक्त होता है।

इसकी खली प्रोटीन से भरपूर होने के कारण, जानवरों को खिलाई जाती है। हरी पत्तियाँ भी एस्कोर्बिक अम्ल से सम्पन्न होती हैं।

अख़्तर बाई फ़ैज़ाबादी प्रचलित नाम बेग़म अख़्तर, जिनकी गणना बीसवीं शताब्दी के भारत के वरिष्ठ गायक कलाकारों में होती है; और जिन्हें 'गज़ल साम्राज्ञी' कहा जाता है। इनका जन्म १६१४ में फ़ैज़ाबाद के एक गायिका परिवार में हुआ था। उनकी माँ अपने समय की सुप्रसिद्ध गायिका थीं। उन्होंने अपनी बेटी को पटियाला घराने के उस्ताद अता अहमद खाँ से प्रशिक्षित कराया था। इनके गायन की इतनी अधिक प्रसिद्धि हो गयी थी कि एच० एम० वी० ने इन्हें रिकार्डिंग के लिए आमंत्रित किया और रिकार्ड आते ही बाज़ार में उनका सिक्का जम गया।

बेगम अख़्तर

आरम्भ से ही बेग़म अख़्तर ने, अपने को गायकी के लिए सम्पूर्णतः समर्पित कर दिया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरसोज़ और प्रभावपूर्ण आवाज़ की धनी गायिका को, इस बात की जानकारी हो गयी थी कि गाते समय किन्हीं क्षणों में उनकी आवाज़ में ज़रा–सी क्रेक (कड़क) आ जाती है, जिसे संगीत की भाषा में, आवाज़ में पत्ती आना कहते हैं। इस जानकारी के बाद, बड़े अभ्यास से उन्होंने अपनी इस कमी को, अपनी विशेषता बना लिया था; और उसी के अनुरूप अपनी गायन शैली ढाल ली थी।

फ़ारसी में ग़ज़ल का अर्थ होता है, स्नेह–संवाद। बेग़म अख़्तर अपनी सोज़ भरी आवाज़ और गायन शैली में ग़ज़ल के इसी भाव को चरितार्थ करती थीं। शायर के शब्दों में छिपी उसकी कोमल भावनाओं को, अपने गायन के स्वर में मूर्त्त रूप देना, उनकी विशेषता थी।

सन् १९३३ में जब लखनऊ में ऑल इण्डिया रेडियो के स्टेशन की स्थापना हुई, तो अनेक कलाकारों ने अपनी पहचान बनायी; अख़्तरी बाई भी उनमें से एक थीं। जल्दी ही लखनऊ रेडियो के विशेष पसन्दीदा कलाकारों में उनकी गिनती होने लगी।

बेग़म अख़्तर को अपने परिणत वय में दाम्पत्य जीवन व्यतीत करने का सौभाग्य मिला। उनके एक प्रशंसक बैरिस्टर अब्बासी ने उनके साथ विवाह कर लिया था। फिर भी उनका विशेष समय संगीत की साधना में ही व्यतीत हुआ। अपने बाद की पीढ़ी की अनेक गायिकाओं को उन्होंने अपनी गायन प्रणाली का प्रशिक्षण भी दिया था। सन् १९७२ में संगीत नाटक अकादमी ने उन्हें सम्मानित किया। सन् १९७४ में उनके निधन से ग़ज़ल गायिकी का एक युग समाप्त हो गया।

बेग़म अख़्तर को सामान्यतः ग़ज़ल गायिका ही समझा जाता है; लेकिन उन्हें ठुमरी, दादरा, सावन, होरी, आदि उपशास्त्रीय विधाओं एवं लोकगीतों की विभिन्न शैलियों में भी महारत प्राप्त थी।

अगरतला भारतवर्ष के त्रिपुरा राज्य की राजधानी। यह २३.५५ डिग्री उत्तरी अक्षांश तथा ९१.३० डिग्री पूर्वी देशान्तर पर स्थित है। प्राचीन नगर तो हाथोरा नदी के बायें किनारे पर स्थित था; लेकिन नया नगर दाहिने किनारे पर बसा हुआ है। प्राचीन नगर में राजभवन के पास एक देवालय है, जहाँ इस राज्य के लोग आज भी बड़ी श्रद्धा से पूजा–अर्चना के लिए जाते हैं। इस मन्दिर में सोने तथा अन्य धातुओं की चौदह देवताओं की मूर्तियाँ हैं। इन सभी को त्रिपुरा के लोग अपना संरक्षक मानते हैं। पुराने नगर में, इस मन्दिर के अतिरिक्त, त्रिपुर सुन्दरी मन्दिर भी है। वहाँ, ब्रह्मकुण्ड, कमलासागर, सिपाही जाला, अभयारण्य आदि अनेक दर्शनीय स्थल हैं। नवीन नगर में भी अनेक दर्शनीय स्थान हैं, यथा–जगन्नाथ मन्दिर, लक्ष्मी नारायण मन्दिर, उमा–महेश्वरी मन्दिर, वेणुवन विहार, राज्य संग्रहालय, रवीन्द्र कानन तथा महाराज वीर कालेज। यह नगर चार वर्ग मील के क्षेत्र में फैला हुआ है।

अगस्टिन संत–(१) (ई० सन् ३५४–४३०) उत्तरी अफ्रीका में अल्जीरिया के एक शहर हिप्पो के आर्क विशप। इनकी माँ मोनिका ईसाई थीं, लेकिन इनके पिता अन्य धर्मावलम्बी थे। सम्भवतः इसीलिए प्रारम्भ में उनमें किसी धर्म के प्रति निष्ठा नहीं दिखाई देती। इन्होंने अपनी आत्मकथा लिखी है, 'आत्मस्वीकृति (कन्फेसन्स)'। उसे पढ़ने से ज्ञात होता है कि इन्होंने बड़ा स्वच्छन्द जीवन व्यतीत किया था। प्रारम्भ में इन्होंने एक अर्द्धईसाई सम्प्रदाय की सदस्यता ग्रहण की; लेकिन कुछ समय बाद ही नव्य प्लेटोवाद के अनुयायी हो गये। अपने युवा जीवन के प्रारम्भिक नौ वर्ष इन्होंने कारथेज में बिताये। वहाँ से फिर ईस्वी सन् ३८३ में रोम आ गये, और वहाँ काव्यशास्त्र का अध्यापन करने लगे। लगभग एक वर्ष वहाँ रहने के बाद वे मिलॉन चले आये, और वहाँ भी इसी विषय के अध्यापन कार्य में लगे रहे। इस व्यवस्थित कार्य ने उनके जीवन को भी व्यवस्थित किया। उनका वहाँ के बिशप अम्ब्रोज से परिचय हुआ और इससे ईसाई धर्म के प्रति उन्हें समुचित जानकारी हुई। कुछ वर्षों तक उनके मन में स्वच्छन्द और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मनिष्ठ जीवन के प्रति संघर्ष चला। अन्ततः ईस्वी सन् ३८७ में इन्होंने ईसाई धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। इस समय तक उनके पिता का निधन हो चुका था; अतः उनकी माता उनके पास आकर रहने लगी थीं। उनका पुत्र भी उनके साथ ही रहता था। ईसाई धर्म में दीक्षा ग्रहण करने के बाद उन्होंने निश्चय किया कि अब वे अपनी मातृभूमि लौटकर वहाँ धर्मप्रचार के कार्य में लगेंगे। इसी निश्चय के साथ वे अपने पुत्र, अपनी माता और कुछ मित्रों को लेकर अल्जीरिया के लिए चल पड़े। इस यात्रा में उनकी माता का निधन हो गया। उनकी धार्मिक निष्ठा ने इस दुर्योग में उन्हें संबल दिया, और वे स्वदेश पहुँच कर ईसाई धर्म के प्रचार–प्रसार में लग गये। एक वर्ष बाद उन्हें फिर एक बड़ा कष्ट देखने को मिला। उनका पुत्र १७ वर्ष की आयु में इस दुनिया से चला गया। उन्होंने अपने को सम्भाला तथा और भी अधिक मनोयोग से धार्मिक कार्य में संलग्न हो गये। उनकी धार्मिक निष्ठा और प्रचार कार्य से प्रभावित होकर ईसाई धर्माधिष्ठाताओं ने उन्हें फादर (पादरी) बना दिया। उसके चार साल बाद उन्हें हिप्पो का बिशप बना दिया गया, और उसके बाद वे जीवन–पर्यन्त (ईस्वी सन् ४३० तक) बिशप के उत्तरदायित्व का ही निर्वाह करते रहे। संत अगस्तिन ने अपनी आत्मकथा के अतिरिक्त और भी अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। आत्मकथा में उन्होंने अपने उच्छृंखल जीवन से मुक्त होकर ईसाई धर्म में दीक्षा ग्रहण करने की कहानी लिखी है। उन्होंने लिखा है कि उनके जीवन में यह परिवर्तन वस्तुतः भगवद्–अनुकम्पा से ही आया। यह आत्मकथा उन्होंने ईस्वी सन् ४०० में लिखी थी। सन् ४१० में उनका एक और ग्रन्थ प्रकाश में आया, 'दे सेविताते तेई' (दि सिटी ऑफ गॉड : भगवान् का साम्राज्य)। इस ग्रन्थ की रचना उन्होंने तब की थी जब रोम को लुटेरों ने पूरी तरह से लूट लिया और विनष्ट कर दिया था। उन्होंने इतिहास का एक नया दृष्टिकोण दिया है। रोम के साथ इस दुर्योग का घटित होना, वस्तुतः कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है; सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हम यह समझें कि भगवान् के अनुशासन में रहकर ही हम जीवन के वास्तविक सुख को प्राप्त कर सकते हैं।

सन्त अगस्तिन ने और भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं; जिनकी संख्या २३० बतायी जाती है। उनके बहुत से प्रवचनों के आलेख भी सुरक्षित हैं। समय–समय पर लिखे गये उनके २२० पत्र भी मिलते हैं। ये सभी रचनाएँ लातिनी भाषा में हैं। उन्हें इस भाषा के महानतम लेखकों में गिना जाता है। थोड़े से शब्दों में बहुत कुछ कह देना, इनकी रचना शैली की बहुत बड़ी विशेषता है। अपने धार्मिक विचारों और दार्शनिक चिन्तन को इन्होंने बड़े ही भावनात्मक शब्दों में वाणी दी है। ईसाई धर्म परम्परा में इन्हें सन्त पॉल के बाद का सबसे बड़ा विचारक माना जाता है। उनकी विचारधारा को लेकर साधु एवं संन्यासियों की एक परम्परा अब तक चली आ रही है। प्रतिवर्ष २८ अगस्त को उनका स्मृति–दिवस बड़ी निष्ठा के साथ मनाया जाता है।

अगस्टिन संत–(२) (निधन सन् ६०४ ई०) कैण्टरबरी के पहले आर्कबिशप : पहले ये इटली में संत बेनेदिक्त द्वारा प्रवर्तित ईसाई सम्प्रदाय के एक चर्च के अधिष्ठाता थे। पोप ग्रेगोरी ने उनकी धर्मनिष्ठा तथा व्यावहारिक कौशल से प्रभावित होकर उन्हें इंग्लैण्ड में ईसाई मत के पुनः प्रचार का कार्य–भार सौंपा। उनके साथ चालीस और ईसाई श्रमण कर दिये गये थे। वे लोग जब फ्रान्स में पहुँचे तो इंग्लैण्ड में ईसाई संतों के साथ, इंग्लैण्ड के शासकों की अत्याचार की कहानियों को सुनकर वापस लौट आये। पीछे वे फिर साहस करके अपने साथियों के साथ ईस्वी सन् ५६७ में केण्ट के थानेट द्वीप में पहुँचे।

उन दिनों एथेलबर्ट केण्ट के राजा थे। वे स्वयं तो अन्य धर्मावलम्बी थे, लेकिन उनकी पत्नी बर्था, ईसाई थीं। उनके लिए उन्होंने कैण्टरबरी के संत मार्तिन गिरजाघर को सुव्यवस्थित कराया था। उदारमना एथेलबर्ट ने सन्त अगस्तिन् और उनके साथियों का स्वागत ही नहीं किया, उन्हें संत अगस्तिन के गिरजाघर का अधिष्ठाता भी बना दिया। संत मार्तिन चाँदी का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सलीब हाथ में लिये हुए अपने साथियों के साथ प्रार्थनाएँ गाते हुए उस गिरजाघर की ओर चले। उनकी वाणी में बड़ा सम्मोहन और उनके व्यक्तित्व में बड़ा आकर्षण था। अतः लोगों ने बड़ी रुचि के साथ उन्हें सुना। उनका प्रवचन भी बड़ा प्रभावपूर्ण हुआ करता था। अतः बहुत बड़ी संख्या में लोग उन्हें सुनने के लिए आने लगे। स्वयं सम्राट् एथेलबर्ट भी इस सबसे इतना प्रभावित हुए कि उन्होंने भी ईसाई धर्म में दीक्षा ले ली।

रोम में ग्रेगोरी ने जब यह सब सुना तो उन्हें कैण्टरबरी का आर्कबिशप बना दिया। सन्त अगस्तिन् उसके बाद दक्षिणी भाग के सभी क्षेत्रों में अपने प्रचारकों को भेजने लगे। उनके शिष्यों ने सन्त पीटर और सन्त पॉल नाम के ईसाई आश्रमों की स्थापना की। उन्होंने ही आज जहाँ क्राइस्ट चर्च है, एक भव्य गिरजाघर बना दिया। जब उनकी मृत्यु हुई तब वह बन ही रहा था। सन् १०६७ में भयंकर आग से वह राख हो गया; लेकिन उनकी शिष्य–परम्परा ने जल्दी ही वहाँ एक नया भवन खड़ा कर दिया जो, आज भी है। उनकी समाधि पर उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में थानेट द्वीप में, जहाँ वे अपने साथियों के साथ उतरे थे, पत्थर का एक सलीब तथा एक छोटा आलेख स्मारक के रूप में खड़ा है।

अग्न्याशय अग्न्याशय (पैंक्रिआज़) पाचनतंत्र का एक अंग है। यह उदर की पृष्ठ–भित्ति के ऊपरी भाग के सामने आड़ा स्थित होता है। आकार लगभग १२ x ५ सेन्टीमीटर होता है। इसके दाहिने सिरे की ओर गोलाकार शिर होता है, जिससे निकलकर मुख्य भाग वायीं ओर जाता है। अन्तिम भाग संकीर्ण होता जाता है, जिसे पुच्छ कहते हैं।

यह एक मिश्रित ग्रन्थि है जिसके बहिर्स्रावी और अन्तःस्रावी या नलिकाविहीन भाग होते हैं। बहिर्स्रावी भाग मुख्य भाग होता है। इसमें सर्वाधिक प्रभावशाली पाचक ऐंजाइम उत्पन्न होते हैं। अग्न्याशय की नलिका ग्रसनी (ड्यूडोनिम) में खुलती है, जिसके द्वारा ऐंजाइम वहाँ पहुँचकर भोजन के सभी अंशों–प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट और वसा का पाचन करते हैं।

अन्तःस्रावी भाग पूरे अग्न्याशय में छोटे–छोटे कोशिका समूहों के रूप में छितरे रहते हैं। इन्हें इनके खोजकर्ता के नाम पर लैंगरहैन्स की क्षीपिकाएँ (इनलेट्स) कहते हैं। शरीर के अन्तःस्रावी ग्रन्थितंत्र का यह एक महत्त्वपूर्ण सदस्य है। इससे मुख्य रूप से इंसूलिन और ग्लुकागान नाम के हार्मोन स्रवित होते हैं। इंसूलिन, कार्बोहाइड्रेट के चयपचयन (मेटाबांलिज़्म) का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। इसकी कमी से मधुमेह नामक रोग हो जाता है जिसके कारण रक्त में शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है, और मूत्र में भी शर्करा का उत्सर्जन होने लगता है। ग्लूकामान का प्रभाव इंसूलिन के विपरीत होता है। यह इंसूलिन के स्राव को नियंत्रित रखता है।

अग्न्याशय के रोगों में सबसे प्रमुख मधुमेह ही है। अनियंत्रित और अनुपचारित मधुमेह के बड़े घातक परिणाम होते हैं। इसके उपचार के लिए अनेक औषधियाँ उपलब्ध हैं, जो कि लैंगहैंस क्षीपिकाओं को उत्तेजित कर इंसूलिन का स्राव बढ़ाती हैं। गंभीर दशाओं में इन्सूलिन का प्रयोग होता है। इंसूलिन केवल इंजेक्शन द्वारा ही दी जा सकती है।

मधुमेह के अतिरिक्त अग्न्याशय में अग्न्याशय शोथ (पैंक्रियाटाइटिस), अग्न्याशय ट्यूमर या कैंसर रोग होते हैं। अग्न्याशय शोथ का आघटन प्रतिशत बहुत कम होता है। यह अति गंभीर और कष्टकारी रोग होता है। इसका उपचार प्रतिजीवी औषधियों से होता है। ट्यूमर और कैंसर का उपचार शल्य क्रिया से ही हो सकता है।

अग्नि भारतीय दार्शनिकों के अनुसार सृष्टि के नियामक पाँच भौतिक तत्त्वों–क्षिति (पृथ्वी), जल, अग्नि, वायु और आकाश में से एक है। अग्नि को ही पावक की संज्ञा दी गयी है; क्योंकि उसे विशेष रूप से पवित्र करने वाला माना गया है। वैज्ञानिकों का कहना है कि जीव–जनित पदार्थों के कार्बन तथा अन्य तत्त्वों का, आक्सीजन से कुछ ऐसा योग होता है कि उससे अग्नि अथवा आग उत्पन्न होती है और फिर उसके चारों ओर गर्मी और प्रकाश फैलता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास्तव में अग्नि की हमारे जीवन में बड़ी ही उपयोगिता है। जाड़े में हम उसी से हाथ–पैर सेंकते हैं, उसी से हमारा भोजन पकता है, उसी के प्रयोग से खनिज पदार्थ से विभिन्न प्रकार की धातुएँ निकाली जाती हैं, और उसी से हमारी अनेक छोटी बड़ी मशीनें चलती हैं। पुरातत्त्वविदों का कहना है कि मनुष्य को आदिम काल में ही अग्नि की जानकारी हो गयी थी। उसने सम्भवतः दो पत्थरों के टकराने से उत्पन्न चिनगारियों को देखा होगा, फिर उसी प्रक्रिया से तापने के लिए, भोजन पकाने के लिए और अंधेरे में प्रकाश करने के लिए आग सुलगायी होगी। आज भी देश–विदेश में जो आदिम जातियाँ हैं, वे दो पत्थरों के टकराने अथवा उनको आपस में रगड़ने से आग उत्पन्न करते हैं।

आदिम मनुष्य ने कालान्तर में यह देखा कि उसके चारों ओर जो जंगल हैं, उसमें आँधी–तूफान या अन्य किसी दुर्योग से दो पेड़ों के परस्पर टकरा जाने से आग उत्पन्न हो जाती है। तभी उन्होंने लकड़ी के दो सूखे टुकड़ों को लेकर उन्हें आपस में रगड़ने से आग उत्पन्न करने की विधि विकसित की। इसी विधि को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने लकड़ी के एक छोटे से टुकड़े में छोटा–सा छेद करना और फिर उस छेद में लकड़ी की बनी छड़ी को मथनी की तरह चलाकर उससे आग उत्पन्न करने की विधि विकसित की थी। हमारे प्राचीन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि इस विधि का भारत में विशेष प्रचलन था। लकड़ी के उस टुकड़े को 'अधरा' कहा जाता था, छड़ी के टुकड़े को 'उत्तरा' और पूरे यंत्र को 'अरणी' कहते थे। आग उत्पन्न करने की यह विधि भारत के अतिरिक्त लंका, सुमात्रा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका तथा उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका की अनेक आदिम जातियों में प्रचलित थी। कहा जाता है कि चार्ल्स डार्विन ने भी टाहिटी द्वीप में इसी विधि से आग जलाने का प्रयास किया था; लेकिन उन्हें बड़े परिश्रम के बाद ही सफलता मिली।

अग्नि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में, देश–विदेश में अनेक दंत–कथाएँ प्रचलित हैं। फारसी के प्रसिद्ध महाकाव्य 'शाहनामा' में लिखा है कि हुसैन जब एक भयंकर सर्पाकार राक्षस से युद्ध कर रहे थे, तो उन्होंने उसे मारने के लिए उस पर एक बड़ा सा पत्थर फेंका। वह पत्थर उसे न लगकर एक बड़ी चट्टान से टकराकर चूर–चूर हो गया और उससे आग उत्पन्न हो गयी। आदि काल में मनुष्य को अग्नि का ज्ञान सम्भवतः इसी प्रकार हुआ होगा।

उत्तरी अमेरिका के आदिवासियों की भी ऐसी ही कथा है। एक विशाल भैंसा दौड़ रहा था। उसके खुरों की जो टक्कर रास्ते में पड़े पत्थरों से लगी, तो चिनगारियाँ उत्पन्न हो गयीं, और चारों ओर भयंकर आग भड़क उठी। उस क्षेत्र के लोगों ने इसी विधि से पहली बार आग जलाना सीखा।

अग्नि का एक नाम पावक भी है, जिसका अर्थ होता है, पवित्र करने वाला। संयोग से लैटिन में भी अग्नि के लिए जो 'प्यूरस' शब्द है, वह इसी अर्थ का बोध कराता है। अग्नि वास्तव में अपने सम्पर्क में आने वाली अनेक वस्तुओं के कलुष को जलाकर उसे पवित्र करती है। आर्यों ने सम्भवतः इसीलिए अग्नि की गणना देवताओं में की है। फारस से अपनी सुरक्षा के लिए भारत में भागकर आये पारसी जो विशेष रूप से गुजरात और महाराष्ट्र में रहते हैं, वे अग्नि को अपना देवता मानते हैं और उसकी पूजा करते हैं। मुम्बई में अनेक बस्तियों में अग्नि के मन्दिर हैं, उन्हें 'अगियारी' की संज्ञा दी गयी है।

आदिम मनुष्य अग्नि का उपयोग अपना भोजन पकाने, अपने परिवेश को गरम रखने, अपने चारों ओर प्रकाश बनाये रखने के अतिरिक्त जंगली जानवरों को भगाने और उनसे अपने को सुरक्षित रखने के लिए किया करता था। इसलिए उसने आवश्यक समझा कि अग्नि को एक बार प्रज्वलित करने के बाद उसे निरन्तर बनाये रखे। यूनान के लोग अपने हर एक नगर और गाँव में निरन्तर 'अग्नि' प्रज्वलित रखते थे। प्राचीन फारस में भी इस प्रथा का प्रचलन था। रोम में तो एक मन्दिर के एक भाग में आग बराबर जला कर रखी जाती थी। अगर किसी कारण वह आग बुझ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाती थी, तो समझा जाता था कि कोई बहुत बड़ा दुर्योग आने वाला है। मन्दिर के पुजारी आग को पुनः प्रज्वलित करते थे। भारत के गाँवों में दियासलाई के आगमन से पहले लगभग हर घर में आग को सूखे गोबर के संयोग से प्रत्येक समय जाग्रत रखने की प्रथा थी। फारस, यूनान तथा रोम में अग्नि की पूजा राष्ट्र-देवी के रूप में हुआ करती थी। भारत में अग्नि को देवता माना गया है और उनकी पूजा का विधान है। याज्ञिक कर्मकाण्ड में अग्नि के पूजन की विशेष व्यवस्था है।

आज हम आग उत्पन्न करने की पुरानी विधियों को छोड़कर बहुत आगे निकल आये हैं। सन् १८२७ में एक अंग्रेज जॉन वाकर ने दियासलाई का आविष्कार किया। वह स्टॉक्टन-टीज्म में दवाइयों का व्यापार करता था। डलहमजी काउण्टी में उसने एक दिन जब एक लकड़ी के छोटे टुकड़ों के कोनों को अरबिक गम, एण्टीमोनी सल्फाइड और पोटाश के क्लोरेट के सम्मिश्रण से छुआया तो चिन्गारी उत्पन्न हुई। उसने इस विधि से जो दियासलाई बनायी, वह कुछ कठिनाई से जला करती थी। उन्हें बालू के कागज पर घिसना होता था। कुछ वर्षों बाद एक जर्मन रसायनविद् ने एण्टीमोनी सल्फाइड के स्थान पर फास्फोरस का प्रयोग किया और उससे आग आसानी से उत्पन्न हो गयी। अब फास्फोरस के स्थान पर उसका एक विशेष सम्मिश्रण प्रयोग में लाया जाने लगा है और उसी से दियासलाइयाँ बनती हैं।

आग हमारे पास एक ऐसा साधन है जिसके उपयोग के माध्यम से हम अपने जीवन में प्रायः हर प्रकार की सुख-सुविधा जुटा सकते हैं, लेकिन कभी-कभी हम जान-बूझकर उसका ऐसा उपयोग करते हैं, जो हमारे चारों ओर महाविनाश का दृश्य उपस्थित कर देता है। झुग्गी-झोंपड़ियों की किसी बस्ती पर अधिकार करने के लिए भू-माफिया उसमें आग लगा देते हैं, और फिर लोगों के भाग जाने पर, उस जमीन पर अधिकार कर लेते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय जर्मनी के अनेक स्थानों पर ऐसे बम बरसाये गये थे, जिसमें हजारों मकान और उनमें रहने वाले लाखों लोगों की जानें गयी थीं। अग्नि का सर्वाधिक संहारक रूप तो उसी विश्वयुद्ध के अन्तिम चरण में जापान के हिरोशिमा और नागासाकी शहरों पर अणुबम गिराये जाने से हुआ था।

आग कभी-कभी अनजाने में बड़ा ही महासंहारक दृश्य उपस्थित कर देती है। सन् १६६६ में लन्दन शहर के एक भाग में आग लगी थी और वह तीन दिनों तक लगातार जलती रही थी। यह आग दो बजे उस कारखाने में लगी थी, जिसमें राज परिवार के लिए बिस्कुट बना करते थे। इस भयंकर आग में सेन्ट पॉल का बड़ा गिरजाघर, अनेक छोटे गिरजाघर, बहुत से सरकारी भवन, अस्पताल, पुस्तकालय, कारागार और १३ हजार मकान जल गये थे। पत्थर के चार पुल भी पूरी तरह विनष्ट हो गये थे। सन् १६४४ में मुम्बई के बन्दरगाह में खड़े एक जहाज में भयंकर विस्फोट हुआ था, जिससे समुद्र-तट के बहुत सारे मकान जल गये थे। भारत में इस प्रकार की आग छोटे-बड़े शहरों में अक्सर लगती रहती है। शहरों में जो आग लग जाया करती है, उसे तो थोड़ा बहुत और कालान्तर में पूरी तरह दबाया भी जा सकता है; लेकिन जो आग जंगलों में लगती है, उसे दबाना सम्भव नहीं हो पाता। मीलों तक जंगल वीरान हो जाते हैं। पहाड़ के जंगलों में लगने वाली आग तो और भी अधिक विनाशकारी होती है। इस आग को दावानल कहते हैं। भारतीय पुराण साहित्य में तीन प्रकार की महा-अग्नियों का वर्णन है। जंगलों में लगी हुई आग को 'दावानल', समुद्र की आग को 'बड़वानल' तथा पेट की आग को 'जठरानल' कहते हैं। ये नाम इस कारण हैं कि समुद्र में नदी-नालों का कितना भी पानी जाये, सब समा जाता है। उसी प्रकार पेट में कितना भी अन्न जाता है, सारा पचकर शरीर को पुष्ट करता है।

अग्नि के भयंकर विनाशकारी स्वरूप को देखकर मनुष्य ने उससे बचने के लिए अनेक उपाय किये हैं। भारत, ग्राम प्रधान देश है और वहाँ अक्सर फूस की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'बड़वानल' तथा पेट की आग को 'जठरानल' कहते हैं। ये नाम इस कारण हैं कि समुद्र में नदी–नालों का कितना भी पानी जाये, सब समा जाता है। उसी प्रकार पेट में कितना भी अन्न जाता है, सारा पचकर शरीर को पुष्ट करता है।

अग्नि के भयंकर विनाशकारी स्वरूप को देखकर मनुष्य ने उससे बचने के लिए अनेक उपाय किये हैं। भारत, ग्राम प्रधान देश है और वहाँ अक्सर फूस की बनी झोपड़ियाँ देखी जाती हैं। उन्हीं भवनों में खाना बनता है, और अक्सर चूल्हे से कोई लपट निकलकर उस झोपड़ी को जलाने लगती है। आग में तेजी से फैलने का स्वभाव है, इसलिए जल्दी ही पास की झोंपड़ियाँ भी जल उठती हैं और पूरी बस्ती राख हो जाती है। इसलिए अब यह आवश्यक हो गया है कि फूस के भवनों के निर्माण की व्यवस्था बन्द की जाये।

आग तो कभी–कभी ईंट और पत्थर के बने हुए मकानों में भी लग जाती है। भारत की स्त्रियों में बटलोई, भगौना या कड़ाही को आँचल से पकड़कर आँच से उतारने की आदत होती है। स्टोव की लौ से भी कभी–कभी आग लग जाया करती है। इधर गैस के सिलिण्डरों का विशेष रूप से प्रचलन हुआ है। अगर उसके साथ विशेष सावधानी न रखी जाये तो उससे लगी आग पूरे भवन को ही विनष्ट कर देती है। अब बड़े–बड़े शहरों में अपार्टमेण्ट्स की परम्परा चली है: एक अपार्टमेण्ट में लगी आग, भवनों की पूरी शृंखला को ही धराशायी कर देती है। इस दुर्योग से बचने के लिए वास्तु–अभियन्ताओं ने अग्नि–सह्यभवनों के निर्माण की विधि खोज निकाली है, लेकिन अभी तक उसका समुचित प्रचलन नहीं हुआ है। आग लग जाने पर उसके शमन के भी अनेक उपाय खोजे गये हैं। इस सन्दर्भ में देखिए 'अग्निशमन'।

बीमा कम्पनियों ने मकानों, दुकानों, कारखानों आदि की आग की बीमा की भी व्यवस्था की है। इसमें भी नियमानुसार समय–समय पर बीमा कम्पनी में सुनिश्चित राशि जमा करनी होती है, और जब कोई दुर्योग घटित होता है, तो क्षतिपूर्ति के लिए समुचित धन की व्यवस्था की जाती है। पश्चिम के देशों में तो ऐसी भी बीमा कम्पनियाँ हैं, जो अग्निशमन की भी व्यवस्था रखती हैं और दुर्योग के अवसर पर अपने कार्यकर्ताओं के साथ उपस्थित हो जाती हैं और आग बुझाने में हर प्रकार की मदद करती हैं।

अग्नि देवता अग्नि देवता की पूजा का विधान विश्व के अनेक देशों में आदि–काल से ही रहा है। वैदिक वाङ्मय में देवमण्डल में अग्नि की गणना होती है। प्राचीन आर्यान् (ईरान) में अग्नि को परम–सत्ता का पर्याय माना जाता था। किन्हीं विशेष कारणों से मध्ययुग में वहाँ से भाग कर आये पारसी जो मुम्बई और महाराष्ट्र के अन्य नगरों में बसे हैं, आज भी अग्नि की पूजा करते हैं। यूनान में अग्नि की पूजा राष्ट्र–देवी के रूप में हुआ करती थी। रोम में अग्नि को देवी के रूप में पूजा जाता था। रोम के प्रसिद्ध कवि ओविद ने लिखा है कि अग्नि इतनी सूक्ष्म और उदात्त देवी है कि किसी बाह्य प्रतिकृति के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती है। सम्भवतः इसीलिए रोम के मन्दिरों में अग्नि की कोई मूर्ति नहीं बनायी जाती थी; मात्र अग्नि को प्रज्वलित रखा जाता था और उसी की पूजा होती थी। रोम में अग्नि को 'वेस्तादेवी' कहा गया है। लगता है ईरान के 'अवेस्ता' धर्मग्रन्थ के प्रभाव से वहाँ अग्नि–पूजा का प्रचलन हुआ। अग्नि की विशेष उपासना का अधिकार वहाँ मात्र पवित्र जीवन व्यतीत करने वाली केवल श्वेतांगना कुमारियों को ही था।

भारतीय वाङ्मय में, देवमण्डल में इन्द्र के बाद अग्नि को स्थान दिया गया है। अग्नि को लेकर लगभग दो–सौ सूक्त लिखे गये। उनमें उनके पार्थिव स्वरूप ज्वाला, प्रकाश आदि का अभिनन्दन किया गया है। इन स्तुतियों में अग्नि की तुलना वृहद् ऊर्जा से परिपूर्ण पशुओं से की गयी है। प्रज्वलित अग्नि को वृषभ की भाँति गर्जनशील कहा गया है। जलती हुई अग्नि के उठने वाले स्वर को मेघों की गम्भीर गर्जना के समान कहा गया है। अग्नि से उठने वाली किरणों, ज्वाला और प्रकाश की तुलना, उषा की प्रभा से की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गयी है तथा बिजली से उत्पन्न होने वाली कौंध जैसा भी बताया गया है। प्रज्वलित अग्नि से धूम–शिखा उठती है, इसलिए उसे धूमकेतु की संज्ञा भी दी गयी है। अग्नि से उत्पन्न प्रकाश हमें अपने चारों ओर की वस्तुस्थिति से परिचित कराता है। सम्भवतः इसीलिए उसे 'जातवेदा' भी कहा गया है। अग्नि को कभी द्यावापृथ्वी और कभी द्यौः का पुत्र भी कहा गया है। वेदों में अग्नि का जन्म कभी स्वर्ग, पृथ्वी तथा जल तथा कभी जल के स्थान पर वायु से भी बताया गया है। यज्ञों में अग्नि के पूजन का विशेष विधान है। यज्ञीय अग्नि के तीन प्रकार : गार्हिपत्य, आह्वनीय और दक्षिण माने गये हैं।

भारत के अतिरिक्त अग्नि–पूजा का विधान, प्राचीन ईरान में विशेष रूप से था। प्राचीन ईरान के धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' की रचना जरथुस्त्र ने की थी। उन्होंने अग्नि को 'अहुरमज़्द' अर्थात् परम सत्ता का पर्याय कहा है। वेदों में अग्निपूजक ऋत्विक को अध्वर्यु कहा गया है। 'अवेस्ता' में उसे अथ्रवन् संज्ञा दी गयी है। अवेस्ता में अग्नि की पूजा के जो मंत्र हैं, उनके भावार्थ वैदिक मंत्रों से बहुत मिलते–जुलते हैं। भारतीयों की तुलना में प्राचीन ईरानी, अग्नि को सर्वथा पवित्र रखने पर विश्वास करते थे, इसीलिए उन्होंने अग्नि का प्रयोग शवदाह के लिए कभी नहीं किया। आज भी हमारे देश में रहने वाले पारसी समुदाय के लोग अग्नि को दिव्य प्रकाश का पार्थिव स्वरूप मानते हैं। वह वस्तुतः अहुरमज़्द का ही रूप है जिससे जरथुस्त्र का पुत्र के रूप में ज ı हुआ था। भारत में रहने वाले पारसी अपने मन्दिरों ं प्रज्वलित अग्नि की ही पूजा करते हैं; जिसे 'अगियारी' कहते हैं।

अग्नि के धरती पर अवतरण को लेकर भारतीय और यूनानी विवरण बड़े मिलते–जुलते हैं। भारतीय वाङ्मय में कहा गया है कि अग्नि का जन्म स्वर्ग में हुआ था, जहाँ से मातरिश्वा इस धरती के कल्याण के लिए इसे भूतल पर ले आये थे। यूनान का पौराणिक आख्यान है कि प्रॉमिथियस ने पहले देवरूप में मनुष्य की रचना की थी, उन्हें जीवन–यापन के लिए सूर्य– प्रकाश और फिर अग्नि प्रदान की; उसके फलस्वरूप इस धरती का जीवन चल पड़ा। एक वरिष्ठ देवता ज़ीयस ने इसे बहुत बड़ा अपराध माना और उसके लिए प्रॉमिथियस को बन्दी बना लिया। यूनान में इस प्रसंग को लेकर एइस्किलस ने एक नाटक भी लिखा है 'प्रॉमिथियस बाउण्ड'। कालान्तर में अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि शेली ने इस कथा को रूपान्तरित कर 'प्रॉमिथियस अनबाउण्ड' नाटक लिखा था।

अग्नि को लेकर भारतीय पुराणों में और भी बहुत सी कथाएँ मिलती हैं। एक पुराण का तो नाम ही 'अग्निपुराण' है, लेकिन उसमें अन्य पुराणों की भाँति अग्नि से कहीं अधिक सृष्टि की उत्पत्ति, विकास और ज्ञान, विज्ञान के विभिन्न स्वरूपों की चर्चा है। आधुनिक काल में महर्षि दयानन्द ने जब से यज्ञों की प्रक्रिया फिर से प्रचलित की है, अग्नि का पूजन फिर से चल पड़ा है। यज्ञ की प्रक्रिया में अग्नि–पूजन के साथ 'स्वाहा' उच्चारण करते हैं। पुराणों में 'स्वाहा' को अग्नि की अर्धांगिनी कहा गया है। अग्नि के तीन पुत्र भी बताये गये हैं, पावक; पवमान और शुचि। अग्नि का उपयोग आज हम पूजा के अतिरिक्त उपयोगी और संहारक दोनों ही प्रकार की ऊर्जाओं में करते हैं।

अग्नि–परीक्षा अग्नि–परीक्षा के माध्यम से अपराधी के पहचान की प्रथा, विश्व के अनेक देशों में प्रचलित रही है। जब किसी पर अपराध का सन्देह होता था, तो उसे जलती आग पर चलाया जाता था, इस विश्वास के साथ कि अगर उसने अपराध नहीं किया है तो वह बिल्कुल जलेगा नहीं। कुछ स्थानों पर तो फसल अच्छी हो, इसके लिए पवित्रमना पुजारी जलते हुए अंगारों पर चलकर भगवान् से उसके लिए प्रार्थना करते थे। फीजी में तो पवित्रमना लोगों के आग पर चलकर क्रीड़ा करने की प्रथा का भी प्रचलन है। आग पर चलने की यह प्रथा फीजी के अतिरिक्त ताहिती, जापान, बुल्गारिया और ट्रिनिडाड में भी मिलती है।

विद्वानों ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि जलते अंगारों पर चलने का यह प्रचलन, धार्मिक अनुष्ठान,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपराधी की पहचान और क्रीड़ामात्र के लिए बौद्धिक दृष्टि से किसी प्रकार व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। सम्भवतः पवित्रमना लोग, मनोविज्ञान के सहारे अपने को ऐसी मनःस्थिति में पहुँचा देते हैं कि नीचे जलते हुए अंगारों का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

डॉ० बलदेव उपाध्याय ने स्मृति–ग्रन्थों के आधार पर अग्नि–परीक्षा की प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार उपस्थित किया है:

"पश्चिम से पूर्व की ओर गाय के गौबर से नौ मण्डल बनाये जाते थे, उनमें अग्नि, वरुण, वायु, यम, इन्द्र, कुबेर, सोम, सविता तथा विश्वदेव की प्रतिष्ठा की जाती थी। प्रत्येक मण्डल, सोलह अंगुल के अर्धव्यास का होता था; और दो मण्डलों के बीच का अन्तर सोलह अंगुलों का होता था। प्रत्येक मण्डल को कुश से ढका जाता था और परीक्षार्थी को उन पर पैर रखकर चलना होता था। परीक्षक, पुरोहित या न्यायाधीश परीक्षार्थी के हाथ पर पीपल के सात पत्ते रखता था और उनके ऊपर अक्षत तथा दही लगाकर उन पत्तों को डोरों से बाँध दिया जाता था। उसके बाद लुहार आठ अंगुल लम्बे लोहे के पिण्ड को सँडसी से उसके दोनों हाथों पर रखता था। परीक्षार्थी फिर पहले मण्डल से लेकर आठवें मण्डल तक धीरे–धीरे चलकर नवम् मण्डल में पहुँचने पर उसे वहाँ फेंक देता था। अगर उसके हाथों पर न तो किसी प्रकार की जलन हो और न फफोला ही उठे, तो वह निर्दोष घोषित किया जाता था।" अंग्रेजी में इस प्रक्रिया को 'आर्डियल' कहा जाता है, सम्भवतः इसलिए कि देखने में यह वास्तव में बड़ी ही कष्टप्रद हुआ करती थी। अंग्रेजी के शब्दकोष में लिखा है कि अपराधी की परीक्षा कभी–कभी खौलते पानी में हाथ डलवाकर भी करायी जाती थी। अगर उसका हाथ बिना किसी प्रकार का प्रभाव ग्रहण किये बाहर निकल आता था तो उसे निर्दोष मान लिया जाता था।

अग्निष्टोम वैदिक युग में वसन्त–ऋतु का एक यज्ञीय अनुष्ठान। इसे अग्निष्टुत्/अग्निष्टुभ् भी कहा जाता है। इसे एक दीर्घकालिक संस्कार ज्योतिष्टोम का एक आवश्यक अंग भी कहा गया है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में इस याज्ञिक प्रक्रिया का वर्णन मिलता है। राजसूय और अश्वमेध यज्ञों के साथ इस यज्ञ का विधान आवश्यक माना गया है। वाजपेय यज्ञ की भाँति इसे भी बड़ा महत्त्वपूर्ण माना गया है। यह वैदिक युग का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण यज्ञ था; अतः प्राचीन अभिलेखों में भी इसका उल्लेख मिलता है। वैदिक वाङ्मय में कुछ स्थलों पर, इसकी कालावधि पाँच दिन की बतायी गयी है।

अग्निशमन आग बुझाना या आग को काबू में करने को अग्निशमन कहते हैं। आग लगने की दुर्घटनाएँ तो गाँवों और शहरों में पहले भी हुआ करती थीं; लेकिन जब से बिजली का प्रयोग आरम्भ हुआ है, उनकी संख्या बहुत बढ़ गयी है। शहरों के विशाल भवन जिनमें अनेक परिवार रहते हैं, किसी भी भाग में अगर बिजली का चक्र खण्डित (शार्ट सर्किट) हो जाता है, तो आग तेजी से बड़ा ही भयंकर रूप धारण कर लेती है। बड़े–बड़े कल–कारखानों में भी इस प्रकार के दुर्योग अक्सर होते रहते हैं। इन्हीं सब कारणों से प्रायः प्रत्येक शहर में अब अग्निशमन की व्यवस्था होने लगी है।

जब किसी छोटे–बड़े भवन या कारखाने में आग लग जाती है तो तुरन्त अग्निशमन विभाग को सूचना दी जाती है। वह तत्काल अपने प्रशिक्षित लोगों को दल के साथ अपनी विशिष्ट गाड़ियों को भेज देता है, जिनमे आग बुझाने के छोटे–बड़े यंत्रों के साथ एक गाड़ी में पानी की बहुत बड़ी टंकी होती है। वे जब वहाँ पहुँचते हैं, तो सबसे पहले उनका यह प्रयास होता है कि जो लोग उस भवन के भीतर फँसे हुए हैं, उन्हें बाहर निकाला जाये। उनका दूसरा प्रयास होता है, उस स्थान की खोज जहाँ से वह आग आरम्भ हुई है। यह वास्तव में बड़ा ही कठिन होता है, क्योंकि सारा ही स्थान धुएँ से भरा होता है। अग्निशमन–दल के लोग भवन को बिना बहुत नुकसान पहुँचाये अपने उपकरणों के सहारे आग बुझाने में जुट जाते हैं।

आग बुझाना आरम्भ करते हुए उनका सबसे पहला प्रयास यह होता है कि आग उस कमरे या भवन

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से, जहाँ वह लगी है, आगे न फैलने पाये। इस दिशा में उनकी सबसे पहली कोशिश होती है कि उस क्षेत्र को चारों ओर से, ऊपर नीचे भी, घेर लिया जाये। अगर पूरे ही भवन में आग लगी होती है, तो उनका प्रयास यह होता है कि उस पूरे भवन को ही घेर लिया जाये, जिससे यह अन्य निकट की इमारतों में न फैलने पाये। इसी बीच उस दल के अन्य लोग बचाव का कार्य करते रहते हैं : भवन में फँसे लोगों को निकालने, सम्पत्ति को बचाने और पाइपों के सहारे पानी डालकर आग को बुझाने का कार्य करते रहते हैं।

पाश्चात्य देशों में अग्निशमन के लिए जो यान आते हैं, उनमें एक यान में आग में फँसे हुए लोगों को निकालने की विशेष व्यवस्था होती है। बचाव की व्यवस्था की इस गाड़ी में कई ऐसी सीढ़ियाँ होती हैं, जो फैलकर बहुत लम्बी हो जाती हैं। जब वह गाड़ी जलते हुए भवन के पास पहुँचती है, तो वे सीढ़ियाँ जमीन पर उतार दी जाती हैं और उन्हें जलते हुए भवन की दीवाल से लगाकर पहिया घुमाकर ऊपर उठाया जाता है। साथ लगी हुई सभी सीढ़ियाँ जुड़कर कोई पन्द्रह मीटर उठ जाती हैं। जहाँ यह सीढ़ी नही लगायी जा सकती, वहाँ ऐसी सीढ़ी का प्रयोग होता है, जिनका ऊपर का भाग भवन की खिड़की की देहली से फँस जाता है और फिर आग बुझाने वाले लोग ऊपर चढ़ जाते हैं। बहुत ऊँचे भवनों के लिए वे विशेष प्रकार की सीढ़ियों का प्रयोग करते हैं, जो गाड़ी के ऊपर से उठती है, लगभग तीस मीटर तक जाती है, और जरूरत पड़ने पर उसे अन्य दिशाओं में भी घुमाया जाता है। इस प्रकार की सीढ़ी के सहारे पाइप ऊपर ले जाकर आग बुझाने के साथ–साथ लोगों को बचाने का भी काम किया जाता है। ब्रिटेन में इस प्रकार की सीढ़ियों का विशेष प्रचलन है। भारत में दिल्ली, मुम्बई, कोलकाता जैसे बड़े शहरों में इनका प्रयोग होने लगा है।

सामान्यतः आग पानी से बुझाई जाती है। अग्निशमन गाड़ियों में एक पानी की टंकी भी होती है, लेकिन उस टंकी के पानी से तो थोड़ी–बहुत ही आग बुझाई जा सकती है। अग्निशमन–दल तब भवनों में पानी की सम्पूर्ति के लिए जो नलों की व्यवस्था होती है, उनका सहारा लेते हैं। जब उन्हें और भी अधिक पानी की जरूरत होती है, तो सड़कों के नीचे जल–विभाग से जो पाइप आ रहे हैं, उनसे वे अपनी टंकी को जोड़ देते हैं और फिर वे टंकी से जुड़े नल, आग बुझाने का कार्य करते रहते हैं। अगर आग किसी ग्रामीण क्षेत्र में लगती है, तो अग्निशमन दल के लोग तालाबों और अगर पास में कोई नदी हो तो उसके द्वारा आग बुझाते हैं।

अग्निशमन–दल आग बुझाने के लिए अपने साथ और भी अनेक उपकरण लेकर चलता हैं। जब उस दल का एक व्यक्ति किसी जलते हुए भवन में प्रवेश करता है, यह खोजने के लिए कि आग कहाँ लगी है, तो वह अपने साथ एक या दो लाल सिलिण्डर लेकर चलता है, जिसे अग्निशमन (फ़ायर एक्सटिंग्विशर) कहते हैं। कभी–कभी तो इन सिलिण्डरों से जो रासायनिक धारा प्रवाहित होती है, उसी से आग दबा दी जाती है। जरूरत पड़ने पर वे एक से अधिक सिलिण्डरों का उपयोग करते हैं, और अगर उससे भी काम नहीं चलता, तो अन्य उपायों का सहारा लेते हैं।

आग लगने के कुछ स्थल ऐसे भी होते हैं जहाँ अग्निशमन–दल जमीनी रास्ते से नहीं पहुँच सकता; विशेष रूप से नदी के तटों अथवा बन्दरगाहों में खड़े जहाजों में जब आग लग जाती है, उस समय तेज चलने वाली नावों पर अपने यंत्रों को लादकर काम चलाया जाता है। समुद्र तट के शहरों में इस प्रकार की आग के लिए विशेष प्रकार की व्यवस्थाएँ होती हैं। विशेष रूप से पानी की बन्दूकों की व्यवस्था, जिन्हें मॉनीटर कहा जाता है।

अभियांत्रिकी के कुशल प्रयोग के द्वारा आग को अधिक फैलने से रोकने की व्यवस्था की जाने लगी है। पानी भरे पाइप, भवन के भीतर डाल दिये जाते हैं, और वे अपने फुहार छोड़ने वाले मुखों से थोड़ी–थोड़ी देर में विस्तृत क्षेत्र में पानी डालते रहते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। पाइप के हर मुख पर मूलतः प्लग लगा होता है, जो कि भवन का तापमान बढ़ने से पिघल कर अपने आप खुल जाता है और फिर बड़ी शक्ति के साथ उससे पानी निकलने लगता है। इनमें से हर एक मुख लगभग दस वर्ग मीटर के क्षेत्र पर पानी बरसाता है। इसके अतिरिक्त ऊपर उठाये जाने पर छत को भी तर कर देता है। इस प्रक्रिया में पाइपों से जैसे ही पानी निकलने लगता है, भवन के बाहर सूचना देने के लिएं घण्टी बजने लगती है। आग बुझाने की इस प्रणाली को छिड़काव व्यवस्था (स्प्रिक्लर सिस्टेम) कहा जाता है।

आग बुझाने के लिए कभी–कभी पानी का प्रयोग सहायक सिद्ध नहीं होता। आग में जलने वाली कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिन पर पानी का छिड़काव आग को और भड़का देता है। तेल के ऊपर लगी हुई आग में प्रायः ऐसा ही होता है, क्योंकि तब तेल पानी को नीचे डालकर ऊपर आ जाता है, और जलता रहता है। पानी भी नीचे पहुँचकर गर्मी के कारण भाप बनने लगता है, और वह जलते हुए तेल को टंकी के बाहर फेंकने लगता है। इस प्रकार की परिस्थिति में आग बुझाने वाले लोग हवा में ऑक्सीजन के प्रवाह को, जलती हुई वस्तुओं पर झाग या गैस डालकर उसे ढकने की कोशिश करते हैं। वे जलती हुई वस्तुएँ ऑक्सीजन न पाने के कारण बुझ जाती हैं।

अग्निशमन–दल के लोग, जब कहीं तेल में आग लगती है तो पानी में कुछ ऐसे रसायन मिला देते हैं जो झाग बना देते हैं: वह बिल्कुल साबुन से बनने वाले घने फेन जैसा होता है। वह झाग तब तक जलते हुए तेल पर डाला या बहाया जाता रहता है, जब तक कि पूरे स्थल को ढक न ले। आग ऑक्सीजन न मिलने के कारण बुझ जाती है। तेल में लगने वाली आग बड़ी ही खतरनाक होती है और उसे अग्निशमन–दल बड़ी युक्ति से दबाता है।

जब किसी मोटर–गाड़ी के इञ्जन में आग लग जाती है, तो एक विशेष यंत्र का प्रयोग किया जाता है, जिसमें एक विशेष प्रकार का रसायन, जिसे क्लोरोब्रोमो–मिथेन कहा जाता है, भरा होता है। वह पानी की भाँति विद्युत का सञ्चार नहीं करता। जब यह तरल रसायन तेजी के साथ बाहर निकलता है, तो गैस बन जाता है, जो आग को चारों ओर से घेर लेती है, जिससे कि लपटों तक ऑक्सीजन पहुँचना बन्द हो जाती है, और आग बुझ जाती है।

आग लगने पर उसे बुझाने की व्यवस्था भारत में आदि काल से ही कुछ न कुछ अवश्य थी; लेकिन आज हम जिन यंत्रों का प्रयोग करते हैं, वे विशेष रूप से पाश्चात्य देशों से आये हैं। पश्चिम में भी आग बुझाने की सुव्यवस्थित प्रणाली का विकास सन् १६६६ में लंदन में लगी भयंकर आग से प्रारम्भ हुआ था। उस समय एक ऐसा यंत्र था, जो केवल हाथों से चलाया जा सकता था और अत्यन्त निकट के स्थान पर ही पानी डाल सकता था। इस इञ्जन को आग के बहुत पास ले जाना पड़ता था, जिससे कभी–कभी उसमें ही आग लग जाती थी। उसके बहुत समय के बाद १६वीं शताब्दी के मध्य भाग में कुछ ऐसे इञ्जन बने जो भाप से चलते थे और फिर पम्पों के सहारे पानी डालते थे। इन इंजनों को भी या तो आदमी या घोड़े आग लगने वाली जगह ले जाते थे। बीसवीं शताब्दी में अग्निशामक मोटर गाड़ियाँ बनीं, जो अपने आप ले जायी जा सकती थीं। उसी के बाद बड़े–बड़े शहरों और गाँवों में अग्निशमन–दलों की व्यवस्था हुई। दूसरे विश्वयुद्ध के समय जब अग्निबम बरसाये जाते थे, तो इसी प्रकार की अनेक छोटी–बड़ी गाड़ियाँ मिलकर आग बुझाने का प्रयत्न करती थीं। अब तो बहुत बड़े–बड़े अग्निशामक–दल बन गये हैं और बड़े तथा छोटे शहरों तथा गाँवों में भी अग्निशामक स्टेशनों की व्यवस्था हैं।

प्रायः प्रत्येक शहर में अग्निशमन–दलों के अपने अलग स्टेशन होते हैं। महानगरों में तो इस प्रकार के अनेक स्टेशनों की व्यवस्था होती है। इन स्टेशनों में आग बुझाने के अनेक यंत्र तथा पानी की टंकी सँभाले अनेक गाड़ियाँ खड़ी रहती हैं। उस स्टेशन के दफ्तर में, जैसे ही टेलीफोन से या और

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी प्रकार, कहीं आग लगने की सूचना पहुँचती है, तो अग्निशामक–दल, अपनी गाड़ियों को लेकर, तुरन्त निकल पड़ता है। उन गाड़ियों के साथ लगी बड़ी–बड़ी घंटियाँ तेजी के साथ बजने लगती हैं, जिससे सूचना मिलती है कि कहीं आग लगी है, रास्ता छोड़ो और तेजी के साथ वहाँ जाने दो। अगर आग का प्रकोप बहुत अधिक होता है तो फिर अधिक संख्या में आग बुझाने वाली गाड़ियाँ भेजी जाती हैं। अगर जरूरत होती है, तो और स्टेशनों से भी वहाँ गाड़ियाँ भेज दी जाती हैं।

अग्निशमन–दल का जो विशेष अधिकारी होता है, उसके पास ऐसा प्रबन्ध होता है कि उस स्थान पर जहाँ आग लगी है, जरूरत के मुताबिक और सामान तथा गाड़ियाँ मँगवायी जा सके। पहले यह कार्य बेतार के तार (वायरलेस) के माध्यम से हो जाया करता था, या वाकी–टाकी का प्रयोग होता था; अब तो मोबाइल फोन से काम चलाया जाने लगा है।

अग्निशमन–दल में कार्य करने वाले लोगों को विशेष प्रशिक्षण लेना पड़ता है। पहले उनकी शारीरिक परीक्षा होती है, और जब वे पर्याप्त स्वस्थ पाये जाते हैं; तभी उन्हें प्रशिक्षण शिविर में प्रवेश मिलता है। वहाँ उन्हें अनेक प्रकार के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक प्रशिक्षण दिये जाते हैं, लेकिन उनका वास्तविक प्रशिक्षण तो आग के प्रकोप को शान्त करने के प्रयास में ही होता है। वस्तुतः वह लगातार कुछ न कुछ सीखता ही रहता है, क्योंकि प्रत्येक अग्निकाण्ड कुछ अलग ही ढंग का होता है। अग्निशामक स्टेशनों पर कुछ लोग तो बराबर रहते हैं; शेष कर्मचारियों को सूचित करने के लिए विशेष प्रकार की व्यवस्था होती है। वे सो रहे हों, या खाना खा रहे हों; उन्हें तुरन्त निकलना पड़ता है। पश्चिम के शहरों में तो स्थायी कर्मचारियों के अतिरिक्त शहर के बहुत से मुहल्लों के लोग, अस्थायी रूप से कार्य करने का प्रशिक्षण ग्रहण करते हैं।

अग्निसह ईंट वह ईंट, जो आग की तेज आँच में भी न तो पिघलती है, न चटकती है और न जिसका आकार ही बिगड़ता है। यह ईंट अग्निसह मिट्टी से बनायी जाती है। अग्निसह मिट्टी खोदकर उसे रोलरों से बहुत महीन पीसा जाता है। फिर उसे पानी में सानकर साँचे में भरकर ईंट का उचित आकार दिया जाता है। वह जब सूख जाती है, तो भट्टी में उसे पकाया जाता है। यह आग के प्रभाव से अपने को बचाने में समर्थ होती है; और चिमनी, अँगीठी, भट्ठी आदि बनाने के काम में लायी जाती है।

अच्छी अग्निसह ईंट, ढाई हजार से लेकर तीन हज़ार सेन्टीग्रेड तक के ताप को सह लेती है; इसीलिए बड़े–बड़े कारखानों की बड़ी–बड़ी भट्ठियों के निर्माण में, इसका प्रयोग होता है। लोहा बनाने के ब्लास्ट फर्नेस बनाने में भी इसी का प्रयोग होता है। छोटी–मोटी भट्ठियों में सामान्य ईंट के ऊपर अग्निसह मिट्टी का लेप लगाकर काम चलाया जाता है। अग्निसह ईंट का प्रयोग, अग्निसह भवनों के निर्माण के लिए भी किया जाता है।

अग्निसह भवन उन भवनों को कहा गया है, जो अपने भीतर रखे गये सामान अथवा बाहर रखी किसी सामग्री में आग लग जाने से जलते नहीं। भारत में भवनों का निर्माण सामान्यतः अग्निसह ईंटों से ही होता है; अतः उनमें प्राय वहीं आग लगती है, जहाँ लकड़ी तथा अन्य ज्वलनशील पदार्थ लगे होते हैं। लेकिन भारत के पहाड़ी क्षेत्रों में तो प्रायः फर्श, छत और दीवारें भी लकड़ी की बनी होती हैं; इसीलिए वहाँ थोड़ी सी असावधानी से अक्सर आग लग जाया करती है। पश्चिम के ठण्डे देशों में, भवनों के निर्माण में विशेष रूप से लकड़ी का ही प्रयोग होता है, इसीलिए वहाँ अक्सर आग लग जाया करती है। कुछ भवनों को विशेष सामग्री का प्रयोग करके उन्हें अग्निसह बनाने का प्रयास किया गया था, लेकिन उसमें भी उन्हें सफलता नहीं मिली; इसीलिए अब वहाँ अग्निसह भवनों के निर्माण के प्रयास चल रहे हैं।

अग्निसह भवनों के निर्माण के लिए, अग्निसह सामग्री की विशेष अपेक्षा होती है। सामान्यतः जब किसी भवन में आग लगती है तो ताप की मात्रा ७०० से लेकर ९०० डिग्री सेन्टीग्रेड तक रहती है। इसीलिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह निश्चय किया गया कि भवन–निर्माण में ऐसी वस्तुएँ लगायी जायें, जिन पर इस मात्रा के ताप का प्रभाव न पड़े। इस प्रकार की सामग्री अग्निसह ईंट, री–इनफोर्स कंक्रीट, पकायी हुई या कच्ची मिट्टी होती है। इन्हीं के प्रयोग से भवनों को यथासंभव अग्निसह बनाने का प्रयास किया जाता है।

सामान्यतः यह समझा जाता है कि लोहा गरम तो हो जाता है, लेकिन आग फैलाता नहीं। वास्तविकता यह है कि आग के प्रभाव से वह फैलता है, कुछ नरम हो जाता है और फिर झुक भी जाता है। अतः वह भी आग लगने पर घर के स्वरूप को बिगाड़ने में मदद करता है। फिर भी यह देखा गया है कि अगर लोहा कॉंक्रीट में अथवा पुनः अर्जित कंक्रीट में दबा हो तो अपना स्वरूप बनाये रखता है; इसीलिए भवनों के निर्माण में जब लोहे का प्रयोग होता है तो उसे कांक्रीट से या पुनः अर्जित कांक्रीट से ढकना आवश्यक हो जाता है।

लकड़ी बड़े सहज रूप में जल उठती है, अतः अग्निसह भवन बनाने के लिए उसका उपयोग कम से कम किया जाना चाहिए। जो थोड़ी बहुत लकड़ी भवनों में लगानी पड़ती है, उसे अनेक वैज्ञानिक प्रयासों से अग्निसह बनाने की रीतियाँ खोजी गयी हैं :

१. सौ किलोग्राम अमोनियम सल्फेट, दस किलोग्राम बोरिक एसिड, एक हज़ार लीटर पानी में घोलकर, उसमें लकड़ी डुबाने से वह थोड़ी–बहुत अग्निसह हो जाती है।

२. तरल सोडियम सिलिकेट एक हज़ार भाग, सफेदा पाँच सौ भाग, सरेस एक हज़ार भाग को मिलाकर बने लेप से, लकड़ी पर लीपने पर, वह कुछ अग्निसह हो जाती है।

३. एल्यूमिनियम सल्फेट बीस भाग, एक हज़ार भाग पानी में मिलाकर और फिर सोडियम सल्फेट पचास भाग को एक हज़ार भाग पानी में मिलाकर, इन दोनों घोलों को फिर मिलाकर लकड़ी पर लगाने से, वह अग्निसह हो जाती है।

४. सोडियम सल्फेट ३५० भाग और बारीक एस्बेस्टस ३५० भाग, एक हज़ार भाग पानी में मिलाने से बने लेप को लकड़ी पर लगाने से भी वह अग्निसहन में समर्थ हो जाती है।

५. लकड़ी पर चूने की पुताई कर देने से भी वह थोड़ी–बहुत अग्निसह हो जाती है।

लकड़ी के छोटे–मोटे भागों को अग्निसह बनाने के लिए, सामान्यतः उपर्युक्त विधियाँ अपनायी जाती हैं; लेकिन जब लकड़ी की दीवार खड़ी करनी पड़ती है, तो उसे अग्निसह बनाने के लिए विशेष प्रयास करना पड़ता है। खड़िया नब्बे भाग, सफेद डेक्स्ट्रीन ११ भाग, प्लास्टर ऑफ पेरिस ११ भाग, फिटकरी ४ भाग, खाने वाला सोडा २ भाग, इन सभी को बारीक पीसकर उन्हें अच्छी तरह मिलाना चाहिए और फिर उसके ४ भाग को, ३ भाग खौलते पानी में मिलाने से जो लेप तैयार होगा, उसे दीवार पर पोतना चाहिए। उससे वह लकड़ी की दीवार केवल आग ही नहीं वरन् पानी के प्रभाव से भी बहुत कुछ बची रहेगी।

पहाड़ी प्रदेशों में और पश्चिम के ठण्डे देशों में अक्सर छत भी लकड़ी की बनानी होती है। उसे अग्निसह बनाने के लिए महीन बालू एक भाग, छानी हुई लकड़ी की राख २ भाग को, ३ भाग चूने में मिलाकर और फिर उसे तेल में फेंटकर, उसका लेप लकड़ी की छत पर करना चाहिए। यह लेप उस छत को यथासम्भव अग्निसहन में समर्थ बना देता है।

भवन को अग्निसह बनाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उसमें फूस, कपड़ा, कैनवस, लकड़ी तथा अन्य ऐसी चीजों का प्रयोग न किया जाये, जो आसानी से जल उठती हैं। लोहे का प्रयोग यदि किया जाये तो उसे पुनः अर्जित कांक्रीट से ढक देना चाहिए। यह अधिक अच्छा होगा कि पुनः अर्जित ईंटों पर, डॉट बनायी जाये। पत्थर के प्रयोग से भी यथासम्भव बचना चाहिए; क्योंकि वह गरम होने के बाद, जब ठण्डा हो जाता है या पानी डालकर ठण्डा किया जाता है, तो चिटक जाता है। यह नितान्त

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक है कि भवन में जहाँ अँगीठी हो, चूल्हा बना हो, अथवा भट्ठी बनी हो, वहाँ अग्निसह मिट्टी या उससे बनी अग्निसह ईंटों का प्रयोग किया जाये।

अग्निहोत्र अग्निहोत्र का अर्थ अग्नि को स्थापित करना और उसमें आहुति देना है। यह धार्मिक प्रक्रिया वैदिक युग में आरम्भ हुई। उस युग में शुल्व सूत्र अर्थात् ज्यामिति के नियमों के अनुसार, यज्ञ की वेदी का निर्माण होता था; और फिर उसमें जंगल से समिधा लाकर उसे प्रज्वलित किया जाता था। इस धार्मिक अनुष्ठान के साथ अनेक वैदिक मंत्रों का पाठ भी होता था। यह कर्मकाण्ड, प्रातःकालीन और सायंकालीन दोनों ही संध्याओं के साथ सम्पन्न होता था। वैदिक युग से अग्निहोत्र की यह परम्परा चली आ रही है। महर्षि दयानन्द ने जब 'आर्यसमाज' की स्थापना की और वैदिक वाङ्मय को प्रतिदिन पढ़ने और उसके साथ यज्ञ करने की प्रथा चलायी, जो आर्यसमाजियों के बीच विशेष रूप से चल रही है। सनातनधर्मी भी अब यदा–कदा अपने अनुष्ठानों में अग्निहोत्र करते हैं।

अग्रवाल चतुर्वर्णों में वैश्य वर्ण के अन्तर्गत एक बहुत बड़े समुदाय का नाम। जनश्रुति के अनुसार इस जाति के आदि पुरुष महाराज अग्रसेन थे। उनकी राजधानी अग्रोदक में थी, जिसे आज अग्रोहा कहते हैं। इस क्षेत्र में पुरातत्त्व विभाग ने जो खुदाई की है, उसमें कुछ ताँबे के सिक्के मिले हैं। उन पर लिखा है 'अर्गोदके अगाच जनपदम्', अर्थात् अंग्रोदक प्रदेश में अगाच जनपद की मुद्राएँ। अंग्रोदक को विद्वानों ने संस्कृत के अंग्रोदक का प्राकृत रूप माना है। अग्रोहा की उत्पत्ति अंग्रोदक और अगाच दोनों से ही सम्भव है; लेकिन जनपद का नाम अगाच है; अतः उसी से अग्रोहा बनने की सम्भावना अधिक प्रतीत होती है। यह अग्रोहा आज हरियाणा प्रदेश के हिसार जिले में फतेहाबाद से सिरसा जाने वाली सड़क पर स्थित है। इस क्षेत्र में दूर तक पुराने टीले फैले हुए हैं। उससे लगता है कि वहीं कहीं महाराज अग्रसेन का क़िला और राजमहल रहे होंगे।

महाराज अग्रसेन जनश्रुति के अनुसार क्षत्रिय थे, अतः उनके वंशज आरम्भ में शस्त्रोपजीवी ही रहे होंगे। कालान्तर में उन्होंने वाणिज्य में रुचि ली। सम्भवतः वाणिज्य व्यवसाय के प्रसार के लिए ही अग्रवाल जाति के लोग अग्रोदक से राजस्थान गये और फिर मध्य प्रदेश में अपने व्यवसाय का सम्प्रसार किया। राजस्थान के मारवाड़ क्षेत्र में बसने के कारण अग्रवालों की वह शाखा मारवाड़ी कहलायी। मारवाड़ के अग्रवालों ने कालान्तर में सारे देश में फैलकर अपने वाणिज्य का सम्प्रसार किया और उद्योग–धन्धे खड़े किये।

कहा जाता है, अग्रवाल जाति के अग्रपुरुष महाराज अग्रसेन के १८ पुत्र थे। उन्हीं से अग्रवाल जाति के १८ गोत्रों का विकास हुआ। आज अग्रवालों की बस्तियाँ विशेष रूप से हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और राजस्थान में हैं। अग्रवालों का मूल स्थान अग्रोहा ही है; और मूलतः शस्त्रोपजीवी यह जाति, वाणिज्य व्यवसाय में रुचि लेने के कारण वैसे ही वैश्य मान ली गयी, जैसे कुछ क्षत्रिय जाति के लोग अपना मूल व्यवसाय छोड़ देने के कारण खत्री बन गये। हमारे देश के व्यावसायिक और औद्योगिक विकास में अग्रवाल जाति के लोगों की बड़ी ही विशिष्ट भूमिका रही है, और इस क्षेत्र में उनके मारवाड़ी समुदाय का आज भी बड़ा महत्त्व है।

अज कोसल प्रदेश के परम यशस्वी सम्राट्। कालिदास ने 'रघुवंश' में इनका बड़ा विस्तृत परिचय दिया है। इक्ष्वाकु के वंश में अतुल पराक्रमी और महामना ककुत्स्थ नाम के एक राजा हुए थे, जिनके कारण उनके बाद उत्तर कोसल के सभी राजाओं ने अपने को काकुत्स्थ कहा। इसी परम प्रतापी वंश में आगे चलकर दिलीप राजा हुए। वे ९९ यज्ञ करके, इसलिए चुप बैठ गये कि कहीं सौ यज्ञ हो जाने पर इन्द्र को उनके लिए अपना सिंहासन न छोड़ना पड़े। उनके बाद उनके सुपुत्र रघु राजा हुए, जिन्होंने अपने विजय–अभियान में अनेक देशों को अपने अधिकार में ले लिया था, लेकिन अन्त में विश्वजित यज्ञ करके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विजय से प्राप्त सारा धन और अपने कोषागार के मणि–माणिक्य आदि भी दान में देकर केवल मिट्टी का एक पात्र अपने पास रखा। अज इन्हीं के सुपुत्र थे, और इन्होंने भी अपने पिता के बाद बड़ी कुशलता से शासन चलाया था।

कालिदास ने अपने 'रघुवंश' महाकाव्य में रघु के प्रारम्भिक जीवन का सामान्य परिचय देने के अनन्तर इन्दुमती के स्वयंवर का बड़ा ही विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि अनेक राजाओं को देखने–सुनने के अनन्तर, जब इन्दुमती राजकुमार अज के पास पहुँची और दोनों ने एक दूसरे को देखा, तो प्रथम दृष्टि से ही प्रणय की भावना से ओतःप्रोत हो गये। इन्दुमती ने अज को ही जयमाला पहनायी और फिर विदर्भराज ने दोनों का विवाह कर दिया। जब अज नवपरिणीता इन्दुमती को लेकर चलने लगे, तो अपनी उपेक्षा से विक्षुब्ध स्वयंवर के लिए आये अनेक राजाओं ने, जिनमें अनेक अतुल पराक्रमी भी थे, उनका मार्ग अवरुद्ध कर दिया। अज ने इन्दुमती को सुरक्षित स्थान पर बैठाकर महाभयंकर युद्ध किया, जिसमें उनकी विजय हुई। अज जब इन्दुमती को लेकर अयोध्या पहुँचे, उसके पहले ही रघु को सारी सूचनाएँ मिल चुकी थीं। रघु ने यह सोचकर कि उनका सुपुत्र अब पर्याप्त समर्थ हो गया है, शासन–भार भली प्रकार संभाल लेगा, उसे शासन सौंपने का निश्चय किया। अज के बहुत समझाने–बुझाने पर भी वे माने नहीं और उसे राज्य भार सौंपकर वानप्रस्थी हो गये।

अज ने अपनी वंश–परम्परा के अनुसार विजय–अभियान चलाया और मगध, अंग, अनूप, मथुरा आदि के राजाओं को युद्ध में पराजित किया था। उनके पुत्र दशरथ थे। कालान्तर में यही दशरथ, राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न के पिता हुए।

अजगर (पायथन) अजगर मुख्यतः एशिया, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के जंगलों में पाये जाते हैं। अफ्रीका और भारत में पाये जाने वाले अजगर ६ मीटर से अधिक लम्बे होते हैं। मलाया में पाये जाने वाले अजगर के शरीर पर जालिकावत् चिह्न होने के कारण, इसे पायथन रेटीकुलस के नाम से जाना जाता है। इसकी लम्बाई लगभग ६ मीटर होती है।

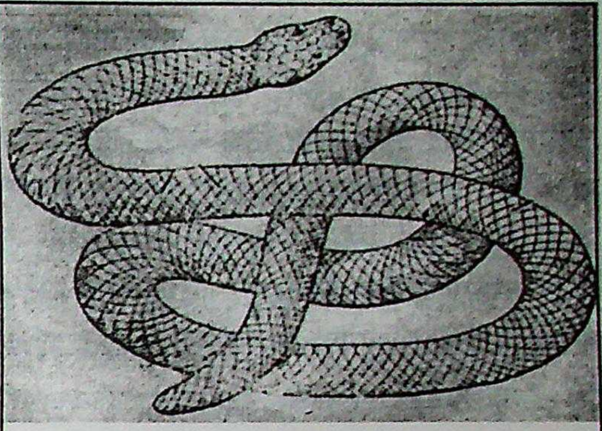

अजगर

अजगर एक विषहीन सर्प है। इसमें बोआ की तरह कुंडलित होने के लक्षण पाये जाते हैं, जिससे ये उष्ण–रुधिर जन्तुओं को चारों ओर से लपेटकर उन्हें कसकर बाँध देते हैं, जिससे उनका दम घुटने से उसकी मृत्यु हो जाती है। ये भेड़, बकरी, हिरन शेर और बाघ तक को समूचा निगल जाते हैं।

मादा अजगर एक बार में ६० से लेकर १०० तक अंडे देती है। इसके अण्डे टेनिस की गेंद के आकार के होते हैं। मादा अजगर अंडों को सेती हैं। नवजात अजगर में एक छोटा तीक्ष्ण (Chisel) आकार का दाँत होता है, जिसकी सहायता से वह अंडे के खोल को चीरकर बाहर आता है। यह दाँत कुछ दिनों में विलुप्त हो जाता है।

आस्ट्रेलिया में ३.५ मीटर लम्बे कार्पेट अजगर, घरों में चूहों और दूसरे कीड़ों को पकड़ने के लिए पाले जाते हैं।

अजवाइन औषधि तथा मसाले के रूप में प्रयोग आने वाला एक वनस्पति। अजवाइन नाम से तीन विभिन्न पौधों–सामान्य अजवाइन (ट्रैकीस्पर्मम एम्माई, या कैरम काप्टिकम), दूसरी जंगली अजवाइन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(सेसेली इन्डिका) और तीसरी खुरासानी अजवाइन (हायोसाइमस एलबस, हायो० म्यूटीकस, हायो० नाईजर) है। परन्तु ये पौधे अजवाइन के प्रकार नहीं हैं।

सामान्य रूप से प्रयोग में आने वाली अजवाइन (ट्रैकीस्पर्मम एम्माई) की खेती पूरी भारतवर्ष में विशेष रूप से बंगाल में होती है। इसके अतिरिक्त अफगानिस्तान, ईरान तथा मिस्र में भी यह पैदा की जाती है। यह सामान्यतः अक्टूबर, नवम्बर में बोयी जाता है। इसका पौधा २–३ फीट ऊँचा होता है। इसमें लगभग अंजीर के आकार के जो फल होते हैं उनके बीजों का उपयोग ही मसालों तथा दवाई के रूप में होता है।

आयुर्वेद में अजवान को पाचक, तीक्ष्ण, गरम और पित्तवर्धक कहा गया है। स्वाद में यह कुछ चरफरी होती है। इसका उपयोग पेट के शूल, वात के प्रकोप, उदर में गुल्म, प्लीहा, बवासीर, कफ की वृद्धि, कृमि के विनाश के लिए किया जाता है। पेट में अफारा होने पर भी इसके उपयोग से लाभ होता है। इसे विशेष रूप से वायु–नाशक और अग्नि–दीपक माना गया है। इससे तेल निकाला जाता है।

अजवाइन को पानी में उबालकर और फिर उसे छानकर, बोतल में भरकर पाचन के लिए उपयोग किया जाता है। अजवाइन के सत के साथ सामान मात्रा में पिपरमेन्ट का सत मिलाकर और फिर उसमें, दूनी मात्रा में कपूर के साथ, शीशी में काग (काक) से बन्द करके रख देने पर कुछ देर में ही द्रव बन जाता है। इस द्रव का उपयोग फिर हैजा, उदरशूल, सिर, दाढ़, पसली, छाती, कमर और घुटने, आदि के दर्द में किया जाता है। बिच्छू, भौंरा, बर्र, मधुमक्खी आदि के दंश पर इस द्रव के लगाने से भी लाभ होता है।

अजन्ता भारत के महाराष्ट्र राज्य के औरंगाबाद जिले के जलगाँव स्टेशन से लगभग ३६ मील की दूरी पर सह्याद्रि पर्वतमाला में, बौद्ध चैत्यों और विहारों की गुफाओं की जो श्रृंखला है, उसे अजन्ता के नाम से जाना जाता है। सन् १८१६ में मद्रास की अंग्रेजी सेना के एक अधिकारी, कप्तान मार्गन जब उस क्षेत्र में शिकार खेलने के लिए गये थे, तब एक ग्रामीण नवयुवक उन्हें उन गुफाओं में यह कहकर ले गया था कि यहाँ एक चीता रहता है। वहाँ उन्हें चीता अथवा अन्य कोई जंगली जानवर तो नहीं मिला, लेकिन गुफाओं के भित्ति–चित्रों को देखकर वे अत्यन्त प्रभावित हुए। उनके भेजे गये विवरण के

अजन्ता

आधार पर, सन् १८२२ में विलियम एर्सकिन ने 'बाम्बे लिटरेरी सोसाइटी' की एक बैठक में एक लेख पढ़ा। उन्होंने लिखा था कि अजन्ता घाटी–मार्ग के पास पुरातात्त्विक महत्त्व की गुफाएँ मिली हैं, मार्ग की कठिनाइयों के कारण जिन्हें अब तक कम ही लोगों ने देखा है; किन्तु वे अब तक पर्याप्त सुरक्षित अवस्था में हैं। वह लेख सन् १८२६ में प्रकाशित हुआ और फिर उसके बाद उस क्षेत्र में पर्यटकों का आना–जाना बढ़ गया। उनके इस लेख का ही परिणाम था कि अनेक देशी और विदेशी पर्यटक, वहाँ जाने लगे। कुछ पर्यटक इन भित्ति–चित्रों को प्लास्टर सहित उखाड़कर स्मारक चिह्न के रूप में साथ ले गये। सन्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१६२२ में लन्दन में एक फुट वर्गाकार के प्लास्टर की, जिस पर पाँच पुरुषों के मुख अंकित थे, नीलामी हुई थी। आज वह भित्ति–चित्र अमेरिका में बोस्टन शहर में ललितकला संग्रहालय में है।

सन् १८२४ में एक अन्य अंग्रेज सैनिक अधिकारी जेम्स ई० अलेक्जेण्डर ने उस क्षेत्र की यात्रा की और उन गुफाओं के कलात्मक वैभव पर एक विस्तृत विवरण लिखकर 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' की एक पत्रिका में प्रकाशन के लिए भेजा।

सह्याद्रि पर्वतमाला की नैसर्गिक शोभा से परिपूर्ण परिवेश में अजन्ता की गुफाएँ अपने विलक्षण वास्तु–विधान और चित्र–दीर्घाओं से हमें मोह लेती हैं। इन गुफाओं में १ से १८ तक दक्षिणमुखी और शेष सभी पूर्वमुखी हैं। इनमें ६, १०, ११, १६ और २६ तो चैत्य गुफाएँ हैं, जिनमें बुद्ध, उनके जीवन और उनकी विचार–धारा से सम्बन्धित भित्ति–चित्रों की माला है। अनेक चित्रों में जातक–कथाएँ अर्थात् बुद्ध के पूर्व जन्म के आख्यान चित्रित किये गये हैं। चैत्य गुहा १० और उसके साथ की १२ एवं १३ गुफाएँ ई० पू० की हैं। उन दिनों वह केन्द्र बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा के प्रभाव में था। उसके दो शताब्दी बाद, गुप्त–वाकाटक युग में वह क्षेत्र, महायान शाखा के प्रभाव में आया, और फिर निर्माण–कार्य त्वरा के साथ चल पड़ा। उस दौर में बुद्ध की मूर्ति को केन्द्र में रखकर उसके चारों ओर भित्ति–चित्रों की श्रृंखला बनायी गयी। यह निर्माण–कार्य सातवीं शताब्दी तक चलता रहा। चैत्य गुहा १६ और विहार गुफाएँ १५, १६, १७, १८ का निर्माण पाँचवी शती के उत्तरार्द्ध में हुआ। उस समय तक ६, ७ और ११ विहार–गुफाएँ निर्मित हो चुकी थीं। विहार गुहा १६ में प्राप्त भित्ति–लेख से यह ज्ञात होता है कि १६वीं गुफा वाकाटक नरेश हरिषेन (ई० सन् ४७५–५००) के अमात्य वराहदेव ने बनवायी थी। विहार गुहा १७ भी उसी काल की है। गुहा १६ को गन्धकुटी कहा गया है। विहार गुफाओं २१ से लेकर २५ और चैत्य गुहा–२६ का निर्माण छठी शताब्दी के अन्तिम भाग में हुआ था। पहली और दूसरी विहार–गुफाएँ, सातवीं शती के प्रारम्भिक काल में निर्मित हुई थीं। यह निर्माण कार्य पुलकेशिन द्वितीय के शासन काल में हुआ था। ई० सन् ६४२ में नरसिंह देव वर्मन ने पुलकेशिन को पराजित कर दिया था। उस दुर्योग के कारण उस क्षेत्र में चैत्यों और गुफाओं का निर्माण कार्य रुक गया और कुछ तो अधूरे ही रह गये थे। उसके बाद लगता है वह क्षेत्र उपेक्षित रह गया।

गुफाओं का वास्तु–विधान एवं शिल्पः– संख्या ६ और १० चैत्य गुफाएँ हैं, जिनके आगे के भाग आयताकार और पीछे की ओर अर्द्धवृत्ताकार हैं। उनके बीच में मण्डप है और दोनों ओर प्रदक्षिणा मार्ग। महायान युग की १६ और २६ गुहाओं में, जिनका विन्यास चैत्य मन्दिर का है, उनमें बुद्ध की अनेक मूर्तियाँ हैं, और भित्ति चित्रों में उनके जीवन की अनेक घटनाएं प्रदर्शित की गयी हैं। गुहा–१६ का मुख–द्वार बड़ा ही भव्य है। उसका कीर्ति–मुख अर्थात् चैत्य–वातायन, बड़ा ही विशाल और विलक्षण अलंकरणों से युक्त है।

गवाक्षों के वास्तु–विधान में, स्त्री–पुरुषों के मस्तकों की झाँकती हुई शोभा–पट्टिकाएँ हैं। विहार गुफाओं का अपना अलग वास्तु–विधान है। वे वस्तुतः बौद्ध भिक्षुओं के रहने के लिए बनाये गये संघाराम थे। उनमें चारों ओर कोठरियाँ बनी हुई हैं और बीच में विशाल मण्डप। इन गुफाओं की छतें, अनेक प्रकार के अलंकरणों से विभूषित स्तम्भों पर स्थित हैं।

अजन्ता की इन गुफाओं का निर्माण, यद्यपि बौद्ध धर्मावलम्बी, शासकों एवं राजकीय अधिकारियों ने कराया था; किन्तु आज वे जिस रूप में उपलब्ध हैं, वे प्राचीन भारत के सम्भ्रान्त और सामान्य दोनों ही कोटियों के जीवन के स्वरूपों को उजागर करती हैं। अपने राज–भवनों में बैठते–उठते राजा और राजकुमार, अपनी सेविकाओं के साथ विचरण करती राजमहिषियाँ, सुसज्जित और रत्नाभूषणों से अलंकृत हाथियों तथा घोड़ों की पंक्तियाँ, स्नेह–क्रीड़ा, स्त्रियाँ और पुरुष, शिकार के परिदृश्य, वाणिज्य और व्यवसाय के परिसर, श्रमिक, आश्रमों में घूमते–फिरते श्रमण, खेती में संलग्न किसान, भीख माँगते लोग, और भी न जाने कितने प्रकार के जन समुदाय का चित्रण वहाँ देखने को

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलता है। वृक्षों, लताओं और फूलों के पौधों का भी वहाँ विशाल संभार है। इस सब के बीच अनेक प्रकार के पशु-पक्षी भी वहाँ विचरते हुए दिखाई देते हैं।

अजन्ता का यह विलक्षण कलात्मक वैभव, केवल कलाकारों या विशेषज्ञों को ही नहीं, वरन् देश और विदेश के सामान्य जनों को भी प्रभावित करता है। अगर हम भारत के अतीत को पढ़ना चाहते हैं, तो अजन्ता के इन भित्ति-चित्रों का भली प्रकार अनुशीलन परमावश्यक है।

सन् १८३६ में तत्कालीन पुरातत्त्व विशेषज्ञ जेम्स फर्गूसन ने अपनी पुस्तक 'दि रॉक-कट टेम्पिल्स ऑफ इण्डिया' पर कार्य करते हुए उस क्षेत्र की यात्रा की और फिर अंग्रेज प्रशासनिक अधिकारियों को विस्तृत पत्र लिखा कि वे अत्यधिक पुरातात्त्विक महत्त्व की गुफाओं की सुरक्षा की तुरन्त व्यवस्था करें और उन्हें विनष्ट होने से बचायें। उन्होंने यह भी आग्रह किया था कि किसी ऐसे व्यक्ति को नियुक्त किया जाये, जो इन भित्ति-चित्रों के, जो जाने या अनजाने विनष्ट हो रहे या विनष्ट किये जा रहे हैं, के रेखांकन बनायें। इस हेतु एक ख्याति प्राप्त चित्रकार राबर्ट गिल की नियुक्ति हुई। वे सन् १८४४ में वहाँ पहुँचे और वह कार्य उन्हें इतना रुचिकर लगा कि वे पूरे २७ वर्षों तक उन भित्ति-चित्रों के रेखांकन और रंगीन प्रतिकृतियाँ तैयार करते रहे। उनके बनाये बहुत से चित्र, लन्दन स्थित साइडेनहम के क्रिस्टल पैलेस में उधार स्वरूप गये थे। दुर्योग से उसी वर्ष वहाँ लगी भयंकर आग में वे जलकर स्वाहा हो गये। गिल इस दुर्योग की सूचना पाकर हताश नहीं हुए, वरन् अपने कार्य में बराबर लगे रहे। सन् १८७१ में वे भयंकर रूप से बीमार पड़े। अजन्ता के समीप भुसावल शहर में उनका निधन हो गया।

सन् १८८१ में जॉर्ज ग्रिफिट्स ने कार्यभार सँभाला। वे बम्बई (मुम्बई) के कला विद्यालय के छात्रों को लेकर वहाँ पहुँचे और अपने निर्देशन में उन्होंने उन भित्ति-चित्रों की १२५ प्रतिकृतियाँ तैयार करायीं। वे प्रतिकृतियाँ लन्दन के साउथ केनिंग्टन संग्राहलय को भेज दी गयीं। वहाँ सन् १८८५ में आग लगी और उसमें ८७ रेखांकन पूर्णतः विनष्ट हो गये। ग्रिफिट्स अपने विद्यार्थियों के साथ फिर भी कार्य करते रहे और बड़े परिश्रम से नष्ट हुई सारी प्रतिकृतियाँ फिर से तैयार करा ली गयीं। सन् १८९६-९७ में उन्होंने अपनी पुस्तक 'दि पेन्टिंग्स इन दि बुद्धिस्ट केव टेम्पुल्स ऑफ अजन्ता' प्रकाशित की। सन् १९१५ में लेडी हेरिन्घम ने जलरंगों में उन भित्ति-चित्रों की प्रतिकृतियाँ, 'अजन्ता फ्रेस्कोज़' के नाम से प्रकाशित कीं। सन् १९२०-२१ में इटली के दो विशेषज्ञों, आर्सिनी और सेकोनी ने इन भित्ति-चित्रों को यथासम्भव अपना प्रारम्भिक रूप देने का प्रयास किया। हैदराबाद की सरकार ने ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस के सहयोग से सभी भित्ति-चित्रों का एक संकलन चार खण्डों में प्रकाशित किया। उसके बाद डॉ० मनजीत सिंह वर्षों तक उन भित्ति-चित्रों पर कार्य करते रहे, और सन् १९९५ में उनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'दि केव पेन्टिंग्स ऑफ़ अजन्ता' प्रकाशित हुआ। लन्दन के थेम्स और हडसन ने उसे प्रकाशित किया। एदिता ल्यू साने ने उसे आकार दिया और वह स्विट्जरलैण्ड में मुद्रित हुआ।

अजन्ता की इन गुफाओं के भित्ति-चित्रों ने, राष्ट्रीय स्वाभिमान जगाने के साथ-साथ, आधुनिक चित्रकला को भी प्रभावित किया है। वहाँ फ्रेस्को तथा म्यूरल दोनों ही विधियों से चित्रों की रचना की गयी थी। विषय वस्तु की विविधता, रेखाओं का लालित्य, कल्पना का वैभव, अभिव्यक्ति की सम्पन्नता, अभिव्यञ्जना का कौशल, अभिप्रायों की सजीवता, यथार्थ और आदर्श का समन्वय, इन सबको लेकर ये भित्ति-चित्र, भारतीय कला के उच्चतम विकास को हमारे सामने उपस्थित करते हैं। यहाँ की गुफा संख्या १७ के गौतम बुद्ध के जन्म, उनके महाभिनिष्क्रमण और महापरिनिर्वाण के प्रसंगों के भित्ति-चित्र, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माने गये हैं। इसी प्रकार गुफा संख्या १७ का मरणासन्न राजकुमारी का चित्र, अपने मार्मिक प्रभाव से हमें अभिभूत करता है।

अजन्ता के चित्रों की एक विशेषता यह भी है कि उनमें कई विदेशियों की उपस्थिति दिखाई गयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, जिससे प्रमाणित होता है कि भारतीय संस्कृति प्राचीन काल से ही विदेशियों के प्रति सहिष्णु एवं उदार रही है।

अजमेर राजस्थान का एक प्रसिद्ध नगर, जो अरावली पर्वत की तारागढ़ पहाड़ी की ढाल पर स्थित है। अजय पाल नाम के चौहान शासक ने १०४५ में इसकी स्थापना की थी। लगता है, इसीलिए अपने संस्थापक के नाम पर इस नगर का नाम 'अजय मेरु' रखा गया था, जो आज अजमेर हो गया है। कालान्तर में वहाँ एक बड़ा ही भव्य जैन मन्दिर खड़ा किया गया था। आज वह बड़े ही टूटे–फूटे रूप में है। फिर भी उसके ४० स्तम्भ सुरक्षित हैं, जिनमें प्रत्येक में अलग प्रकार की पच्चीकारी है। कहा जाता है कि सन् १२०० के लगभग, इस मन्दिर के कुछ भाग को मस्जिद में परिवर्तित कर दिया गया था। कालान्तर में सूफी सन्त ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती ने इस नगर में अपना डेरा डाला था; और आज उनके दरगाह के लिए यह नगर विश्व प्रसिद्ध है। यहाँ प्रति वर्ष ख्वाजा का उर्स आयोजित होता है, जो मेले का रूप ले लेता है। देश–विदेश से लोग उस मेले में भाग लेने के लिए आते रहते हैं।

यह नगर, राजपूत काल में चौहान वंश के शासकों की राजधानी था। पृथ्वीराज चौहान, जिसका मुहम्मद गोरी के साथ युद्ध हुआ था, यहाँ के ही शासक रहे थे। सन् १२०६ में दिल्ली का गुलाम–वंश का शासक, कुतुबुद्दीन ऐबक यहाँ आया था और तभी उसकी यात्रा की यादगार के रूप में 'अढ़ाई दिन का झोपड़ा' नाम की इमारत बनी थी। उसके बाद ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती यहाँ आकर बस गये थे और फिर यह एक धार्मिक स्थल बन गया था। सन् १२३५ में उनके निधन के बाद, उनकी दरगाह बन जाने पर, इस क्षेत्र की और अधिक प्रसिद्ध हुई। सन् १२६२ में मुगल सम्राट् अकबर भी, १३ फरवरी को यहाँ जियारत करने आया था।

आज का अजमेर नगर २६.२७° उत्तरी अक्षांश तथा ७४.४२° पूर्वी देशान्तर पर स्थित है। अंग्रेजों के अधिकार में आ जाने पर, उन्होने शासन की सुविधा के लिए, पड़ोस के मारवाड़ से मिलाकर इसे अजमेर–मारवाड़ नाम दे दिया था। अजमेर का क्षेत्र तो मैदानी है; लेकिन मारवाड़ पहाड़ियों का समूह है। यहाँ की जलवायु गर्मियों में विशेष गरम, और जाड़े में बड़ी ठण्डी रहती है। यहाँ वर्ष भर में लगभग २० इंच वर्षा होती है। खेती स्वयं बने तथा बनाये गये तालाबों के किनारे होती है। मुख्य फसलें ज्वार, बाजरा, मक्का, जौ तथा सरसों की हैं। कपास भी पर्याप्त मात्रा में उगायी जाती है; इसीलिए यहाँ रूई के भी अनेक कारखाने हैं। भू–स्वामित्व तो राजपूतों का है, लेकिन जाट और गूजर, खेती–किसानी करते हैं। १ नवम्बर १६५६ को इसे भारतीय गणराज्य में सम्मिलित कर लिया गया था, और फिर अजमेर शहर को ही जिला–मुख्यालय बनाया गया था।

अज़र्बेजान मध्य एशिया के पश्चिमी भाग का एक स्वाधीन प्रजातंत्र। सन् १६६१ की पहली दिसम्बर तक यह सोवियत गणराज्य का एक प्रान्त था। इस क्षेत्र को १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रूस ने फ़ारस (ईरान) से ले लिया था। आज भी अज़रबेज़ान का अरक्स नदी के नीचे का भाग ईरान के ही अधिकार में है। सन् १६१८ में इस क्षेत्र ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया था। लेकिन जल्दी ही वह सोवियत संघ से सम्बद्ध प्रजातंत्र बन गया। सन् १६३६ में उसे एक अलग प्रजातंत्र बना दिया गया था। सन् १६६१ में सोवियत संघ के टूटने के बाद वह एक पूर्णतः स्वतंत्र राज्य बन गया और फिर संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य भी बन गया। सन् १६६३ में क्षेत्रीय समस्या को लेकर उसका आरमीनिया के साथ युद्ध हुआ।

अज़र्बेज़ान मुख्यतः पठारी प्रदेश है। समुद्र तट से उसकी ऊँचाई ४००० फुट से कुछ ऊपर है। तेल उत्पन्न करने वाले प्रारम्भिक देशों में उसकी गणना होती है। तेल और गैस ही उसके मुख्य उद्योग हैं। उनके साथ अब रसायन उद्योग भी खड़ा हो गया है। इसकी भूमि बड़ी ही उपजाऊ है और यहाँ कपास, तम्बाकू, अंगूर तथा कुछ अन्य फल उपजाये जाते हैं। अंगूर से शराब भी बनाई जाने लगी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह मुस्लिमबहुल देश है। इसका कुल क्षेत्रफल (८६६०० वर्ग कि०मी०) है। सन् २००३ में इसकी जनसंख्या ८२.३५ लाख थी। बाकू, अजर्बेजान की राजधानी है। कोरा तथा अरक्स प्रमुख नदियाँ हैं। सबसे ऊँचा स्थान बाजार दयूजी है। समुद्र तट से उसकी ऊँचाई ४४८० मीटर है। यहाँ की मुद्रा मानट है। अधिकांश निवासी शिया मुसलमान हैं, जो तुर्की भाषा बोलते हैं।

अजातशत्रु यह संज्ञा एक महामहिम व्यक्तित्व का बोध कराती है, जिसका कोई शत्रु उत्पन्न न हुआ हो; तथा जिसमें किसी के भी प्रति शत्रुता की भावना न हो। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में मगध के सम्राट् बिम्बसार ने बड़ी आशा और विश्वास के साथ अपने पुत्र को अजातशत्रु नाम दिया था। लेकिन उसने अपने पिता के साथ चरम शत्रुता का व्यवहार किया। इतिहास कहता है कि अपने पिता की हत्या करके वह सम्राट् बना। उसे भी अपने परिणतवय में अपने पुत्र के हाथों मरना पड़ा। किसी नामकरण के ऐसे विलोम प्रायः कम ही देखने को मिलते हैं।

अजातशत्रु ने ई०पू० ५४३ से ४६१ तक राज्य किया। मगध का शासन–भार संभालने के अनन्तर अपनी महत्वाकांक्षा को लेकर अपने पड़ोसी राज्यों पर अधिकार करना आरम्भ किया। उसके इस अभियान में उसके अमात्य वस्सकार ने विशेष योग दिया। वह बड़ा कुशल राजनीतिज्ञ था। उसने पहले लिच्छिवियों में फूट डालकर उनके कोसल और वैशाली राज्यों पर अधिकार किया। कोसल के राजा प्रसेनजित पर उसने विजय प्राप्त करने के अनन्तर, उनकी पुत्री वाजिरा से विवाह भी किया था। काशी का जनपद इस प्रकार उसने प्राप्त कर लिया, कहा गया है कि अपनी विजिगीषु नीति से वह अपने समय का बड़ा ही शक्तिशाली सम्राट् बन गया था। यह भी लिखा गया है कि अपने युद्ध–अभियान में उसने रथ–मूसल और महाशिला–कण्टक नाम के दो विशिष्ट हथियारों का उपयोग किया था।

अजातशत्रु, बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक गौतम बुद्ध का समकालीन था। सम्भवतः उसके मन में बुद्ध के प्रति विशेष श्रद्धा की भावना थी। ईसा पूर्व ४६४ में जब बुद्ध का महानिर्वाण हुआ, तो उसने भी उनके फूल प्राप्त किये थे और फिर राजगृह में पहाड़ी पर उसका स्तूप बनवाया था। उसी के शासनकाल में राजगृह में वैभार पर्वत की सप्तपर्णी गुफा में बौद्ध श्रमणों की प्रथम संगति हुई थी, जिसमें बौद्ध धर्म के सूत्रों को एकत्र कर उनके सम्पादन का निश्चय हुआ था। वह कार्य फिर 'सुत्तपिटक' और 'विनय पिटक' के नाम से सम्पादित होकर सामने आया।

अजातशत्रु ने ५२ वर्ष मगध पर शासन किया। उसके पुत्र उदाथिन ने उसकी हत्या करके मगध का साम्राज्य अपने हाथों में ले लिया था।

अजामिल पुराणों में वर्णित कान्यकुब्ज प्रदेश का एक लोकप्रसिद्ध पापकर्मों में लिप्त रहने वाला ब्राह्मण। संत और भक्त कवियों ने भगवान् के द्वारा उसके उद्धार की कथा बार–बार उद्धृत की है : कहा जाता है कि उसने अपने पुत्र का नाम नारायण रखा था। जब वह अन्तिम साँसें ले रहा था, तो उसने 'नारायण' कहकर अपने पुत्र को बुलाया; और इस नाम का प्रताप यह हुआ कि भगवान् ने उसे सद्गति प्रदान कर दी। तुलसीदास जी ने लिखा है : 'भाव–कुभाव अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ।।' भक्ति के क्षेत्र में नामस्मरण की महिमा के लिए अजामिल को एक सशक्त उदाहरण के रूप में उपस्थित किया जाता है।

अजितकेश कम्बली अक्रियावादी दर्शन के एक समर्थ प्रवक्ता। इन्हें महावीर वर्द्धमान् और गौतमबुद्ध का समकालीन कहा जाता है। उनका मूल नाम तो अजित था, लेकिन अपने जीवन–दर्शन के अनुरूप, अपने केशों को बढ़ाकर उसे कम्बल का रूप प्रदान कर दिया था, इसलिए उन्हें केशकम्बली कहा जाने लगा था। उन्हें भौतिक सत्ता के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व मान्य नहीं था। किसी भी कर्म को वे न तो पुण्य मानते थे और न पाप। कर्म के आधार पर पुनर्जन्म की अवधारणा को वे सर्वथा निरर्थक मानते थे। उनका कहना था कि मृत्यु के बाद जब शरीर जला दिया जाता है, तो सब कुछ महाभूतों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने–अपने तत्त्वों में विलीन हो जाता है। कविवर हीरानन्द सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने उनके इस जीवन–दर्शन का अभिनन्दन करते हुए मुक्त छन्द की बड़ी ही लम्बी कविता लिखी है।

अजीव भारतीय जैन दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द, जिसे चैतन्य के विरोध में अचेतन पदार्थों के लिए प्रयुक्त किया जाता है। अजीव के चार प्रकार– आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल माने गये हैं। इनमें से पहले तीन रूप, जीव अर्थात् चैतन्य के साथ भी देखने को मिलते हैं। लेकिन चौथा स्वरूप पुद्गल पूर्णतया भौतिक माना गया है और वह सूक्ष्म एवं स्थूल दोनों ही रूपों में दृष्टिगत होता है। पुद्गल को अणुरूप माना गया है, जो कि सनातन है; लेकिन साथ ही साथ परिवर्तित और विकसित भी होता रहता है।

बौद्ध दार्शनिकों ने भी अचेतन पदार्थों के लिए इस 'अजीव' संज्ञा का प्रयोग किया है; और उसे जीवन की निरन्तर परिवर्तनशीलता, अनित्यता एवं क्षणभंगुरता का प्रमाण माना है।

अजीविका बौद्ध और जैन दर्शनों के उत्थान के समय भारतवर्ष में प्रचलित तपोनिष्ठ अथवा सन्यासी जीवन की एक विशिष्ट प्रणाली। उसे अक्रियावादी दर्शन से जोड़ा जाता है। घोषाल मस्करीपुत्र को उसका प्रवर्त्तक कहा जाता है। घोषाल का कहना था कि इस विश्व में जीवन, कर्म के सिद्धान्तों के आधार पर नहीं, वरन् नियति के रहस्यमय नियमों के आधार पर चलता है। अगर प्रयत्न भी किया जाये, तो भी नियति के नियमों का उल्लंघन सम्भव नहीं है। घोषाल का कहना था कि मैं जो यह त्यागमय जीवन व्यतीत कर रहा हूँ, यह किसी उद्देश्य की संप्राप्ति के लिए नहीं है, वरन् नियति का आदेश है, अथवा भाग्य का लेखा है, जिससे मैं ऐसे जी रहा हूँ।

घोषाल के इस नियतिवादी जीवन–दर्शन का मौर्यों के शासनकाल, ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में विशेष प्रचार हुआ था। कालान्तर में उन्हें एक दिव्य पुरुष के रूप में माना जाने लगा, और उनके अनुयायी यह मानने लगे–'भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्'। ईस्वी सन् की चौथी शताब्दी तक यह विचारधारा थोड़ी बहुत चलती रही।

अर्जेन्टिना औपारिक नाम अर्जेन्टिना रिपब्लिक दक्षिण अमेरिका का ब्राजील के बाद का सबसे बड़ा राज्य। उसका क्षेत्रफल २७,८००,६२ वर्ग किलोमीटर है; और २००४ की जनंसख्या ३६८४६००० है। यह राज्य महाद्वीप के दक्षिणी भाग को लगभग पूरी तरह से घेरे हुए हैं। पश्चिम में आनडे पर्वतमाला है और पूर्व में अतलांत महासागर है। ब्योनस आयर्स इसकी राजधानी है।

अर्जेन्टिना के भौगोलिक दृष्टि से चार बड़े क्षेत्र हैं– आनडे, पाम्पस, उत्तरी भाग और पाथागोनिया। आन डे क्षेत्र की पर्वतमाला चिली को छूती हुई दक्षिण तक चली गयी है। उबड़–खाबड़ पर्वतमाला में पश्चिमी गोलार्ध की सबसे ऊँची चोटियां है जिनमें से कुछ ज्वालामुखी भी है। एकोनकागुआ, समुद्र तल से २२८३४ फीट ऊपर उठती हुई सबसे ऊँची चोटी है। बोनेते (२२५४६ फीट) और ओजोस डेल सलादो (२२५३६ फीट) उसके बाद की चोटियाँ है। उत्तर में दक्षिण की ओर बढ़ता हुआ १०००० से १३००० फीट ऊँचा रेगिस्तान जैसा पठार है जो दक्षिण में बुलीविया तक जाता है। दक्षिण में निर्जल क्षेत्र, जिसमें बीच–बीच में कुंड तथा पर्वत श्रृंखलाएँ हैं, जिनमें मुख्य सेरास दे कॉर्बोडा है। आनडे पर्वतमाला का दक्षिणी भाग तुलनात्मक दृष्टि से नीचा है जिसमें जंगल हैं तथा अनेक जलाशय भी हैं। सबसे ऊँची चोटियाँ हिमाच्छादित है।

अर्जेन्टिना के उत्तरी प्रदेश गरम हैं और वहाँ चावल, गन्ना, कपास तथा उष्णकटिबन्धीय क्षेत्र की और फसलें होती हैं। पूर्व तथा मध्य भाग के क्षेत्र पाम्पस में पानी की बहुतायत है और इसलिए ठन्डक भी रहती है। उस क्षेत्र में वृक्षों की संख्या थोडी हैं और वहाँ जानवरों का पालन–पोषण होता है तथा अनाज उगाये जाते हैं। पश्चिम में आनडे पर्वतमाला के क्षेत्र में जल धाराओं के पास अंगूर, आडू तथा और पहाड़ी फल उगाये जाते हैं। उससे दक्षिण भाग में बड़ा ही सुन्दर झीलों का क्षेत्र है, एन्जियन पहाड़ियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बीच में बारीलोच नगर है। ध्रुव दक्षिण में पांतागोनिया प्रदेश है जहाँ कभी ठन्डक तो कभी गर्मी रहती है : बड़े–बड़े चारागाह है जहाँ भेड़ों का पालन होता है। पातागोनिया के उत्तर भाग में रियो नेग्रो घाटी में शीतोष्ण जलवायु हैं और वहाँ सेब, नाशपाती और आलूचे के बगान हैं।

अर्जेन्टिना में दक्षिण तथा पूर्व की ओर बहने वाले तीन नदी समुदाय है, सभी अतलांत महासागर में समाहित होते हैं। उनमें सबसे बड़ा उत्तर का रियोडे लाप्लाटा समुदाय है, जिसमें पराना, परागोय और पुरोगोय नदियाँ हैं। इन तीनों ही नदियों में जहाज काफी दूर तक जाते हैं। चिली के सीमान्त की हिमाच्छादित पर्वतमालाओं से जल मिलता है।

दक्षिण अमेरिका महाद्वीप का सबसे नीचे का भाग मैगेलन जल डमरू मध्य से, दे से सर्वथा अलग है, जिसे टियारडेल फ्यूगो द्वीप कहते हैं। इस द्वीप का दो तिहाई भाग चिली का और एक तिहाई भाग अर्जेन्टिना का है। यहाँ बराबर ठन्डक रहती है तथा जल भरे तूफान बराबर चलते रहते हैं। पूर्व में फ़ाकलैंड द्वीपसमूह हैं जो अंग्रेजों के शासन में है और अर्जेन्टिना के लोग उस पर अपने अधिकार की मांग बराबर करते रहते हैं।

भौगोलिक दृष्टि से अर्जेन्टिना के विभिन्न प्रकार के क्षेत्रों में अपने अलग–अलग प्रकार के पेड़–पौधे और जानवर हैं। उत्तर पूर्व के शीतोष्ण और वर्षा के कारण जल भरे दलदली क्षेत्र में हुहआते बन्दर, बड़े–बड़े चीटींखोर, जगुवार, जलाशयों के हिरन और क्वायपू रहते हैं। घास के मैदानों में भेड़िये, आर्माडिलो, स्कन्क और पूमा पाये जाते हैं। अर्जेन्टिना में संसार की सबसे बड़ी शिकारी चिड़िया कॉन्डॉर मिलती है। शर्तुमुर्ग जैसी एक चिड़िया रहिया और तन्दूरी पक्षी जो दलदल में अपना घोसला बनाता है, भी मिलते हैं। जलाशयों में अनेक प्रकार के जानवर तथा बड़ी ही सुन्दर मछलियाँ भी पायी जाती है।

अर्जेन्टिना में अनेक यूरोपीय देशों से आये हुए लोग रहते हैं। अधिकांश लोग १८५८ से १६३० के बीच स्पेन और इटली से आये थे। इनके अतिरिक्त वहाँ ब्रिटिश द्वीप समूह, जर्मनी, मध्य यूरोपीय देशों तथा भूमध्य सागर तट के प्रदेशों से आये हुए लोग भी रहते हैं। आदिवासी जिन्हें इन्डियन कहा जाता है अधिकांश में समाप्त कर दिये गये हैं; बस थोड़े से ही लोग रह गये हैं जो अपने को इन्डियन मूल का कहते हैं। पाता–गोनिया में ब्रिटेन के वेल्स प्रदेश के आये हुए लोगों की एक बड़ी बस्ती है, जो भेड़ों के पालन का व्यवसाय करते हैं।

अर्जेन्टिना के अधिकांश लोग रोमन कैथोलिक हैं। राजभाषा स्पैनिश हैं, जिससे इटली भी के थोड़े बहुत शब्द आ गये है देश के मूल उत्पाद गेहूँ और मक्का हैं। उनके अतिरिक्त कपास और गन्ने की भी खेती होती है। यरबा माते नाम की एक चाय भी उगायी जाती हैं। भेड़–बकरियों का पालन भी व्यवसाय के रूप में होता है। एक विशेष वृक्ष, क्यूबरा चो की छाल से जिसमें टैनिन होता है, रंग भी बनाया जाता है। इधर पेट्रोलियम का उत्पादन भी होने लगा है। प्रशीतित मांस, आटा, कपड़े, जानवरों की खाल, रसायन तथा द्रुतिगतित गाड़ियों के कारखाने हैं। ब्योनस आयर्स, रोजारियों, कॉरडोबा, लप्लाटा, दुकोमान, सांता फे, माडेल प्लाटा महत्वपूर्ण शहर है। शिक्षा छः से लेकर चौदह वर्ष तक के बच्चों के लिए अनिवार्य है। सबसे लोकप्रिय खेल फुटबॉल है, उसके अतिरिक्त लोग तैराकी, नौकायन आदि में भी रूचि लेते हैं।

अर्जेन्टिना का सबसे महत्वपूर्ण बन्दरगाह और नौ–सैनिक केन्द्र बाहिया ब्लांका है। मेन्डोजा, आनडे पर्वत माला की तराई में बड़ा समृद्ध औद्योगिक नगर है। जहाँ शराब के कारखाने हैं तथा फलों का व्यवसाय होता है। कार्डोबा शहर पहाड़ों पर बसा है और वहाँ मोटर सायकिल और कार के कारखाने है। उच्च शिक्षा के लिए यहाँ विश्वविद्यालय भी हैं।

यूरोपीय देशों में सबसे पहले स्पेन के लोग अर्जेन्टिना आये थे। जुआन डियाज़ डे सोली (श) १५१६ में जहाज से प्लाटा के चौड़े मुहाने पर पहुँचे थे, और उसे उन्होंने फ्रेशवाटर सी कहा था। उन्होंने अपने थोड़े से साथियों के साथ स्पेन के सम्राट के नाम पर उस क्षेत्र पर अधिकार किया था लेकिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जल्दी ही आदिवासी इन्डियनों ने उन पर हमला किया था, उनके अनेक साथियों को मार डाला था और फिर उन्हें स्पेन वापस लौटना पड़ा था।

ग्यारह साल बाद जेनोआ के प्रसिद्ध खोजी डॉन कैबॉट के पुत्र सेबेस्टिन कैबॉट ने फिर उसी प्लाटा मुहाने पर पहुँचे थे। वह बड़ी ही दलदली और भूरे जल की नदी है, लेकिन उन्होंने उसे रियोडेल प्लाटा (चाँदी की नदी) नाम दिया था। यह नाम उन्होंने इसलिए दिया था क्योंकि उन्होंने स्थानीय कहानियों में सुना था कि इस नदी के ऊपर के भाग के तटों पर चाँदी बहुतायत से पायी जाती है। स्पेन के लोग उस समय चाँदी की ही खोज में निकले थे; इसलिए वे ल प्लाटा क्षेत्र में उप–निवेश बनाने के स्थान पर पेरू की ओर चाँदी इकट्ठी करने के लिए आगे बढ़े। उन्होंने यह कल्पना भी नहीं की थी कि जहाँ वे उतरे हैं, उस क्षेत्र में मवेशी पाले जा सकते हैं और अनाज भी बहुतायत से उगाये जा सकते हैं।

कोई नौ वर्ष बाद फेड्रो डे मेन्डोजा अपने देश की बहुत से लोगों को लेकर अर्जेन्टिना में अपना उपनिवेश बसाया, एक किला खड़ा किया और ब्योनस आयर्स शहर की शुरुआत की। आदिवासियों ने उन पर कई बार हमले किये और फिर उपनिवेश के लोग अपने घरों और जानवरों को छोड़कर भीतर की ओर असुन सियान चले गये, जो आज परागुये की राजधानी हैं। ब्योनस आयर्स का एक स्थायी शहर के रूप में स्थापना १५८० में हुई। इस बीच नदी के तट पर पहले की उपनिवेश के लोग जो जानवर छोड़ गये थे, उनकी संख्या बहुत बढ़ गयी थी और फिर वहीं आगे चलकर आधुनिक अर्जेन्टिना की सम्पत्ति बनी। वे लोग जिन्होंने इन जानवरों को इकट्ठा किया वे १६वीं शताब्दी के मध्य तक भोले–भाले चरवाहों के रूप में रहते रहे। उसके बाद ही जानवरों की घेराबंदी हुई, बाड़े बने और व्यवस्थित रूप से पशुपालन की शुरुआत हुई।

स्पेन की सरकार ने अपने यहाँ से गये हुए लोगों की उपेक्षा ही की थी। उन लोगों के मन में जिनकी अनेक पीढ़ियाँ वहीं पैदा हुई थी अपने मूल देश के सरकार के प्रति बड़ी नाराजी थी। १६वीं शताब्दी के आरम्भ में अंग्रेजों ने, जिनका स्पेन के साथ युद्ध चल रहा था, अपनी दो सैनिक टुकड़ियाँ ब्योनस आयर्स भेजी। लेकिन उन्हें आदिवासियों ने खदेड़ दिया और अपना स्वशासन चलाते रहे।

जब १८०८ में नेपोलियन ने स्पेन पर आक्रमण किया और उसके सम्राट को बन्दी बना लिया तो अर्जेन्टिना के आदिवासियों ने विद्रोह किया। ब्योनस आयर्स में उनका सम्मेलन हुआ और फिर उन्होंने स्पेन के सम्राट के प्रतिनिधि हो हटाकर, उसके स्थान पर अपनी स्वतंत्र सरकार बना ली। मई २५, १८१० को सम्राट के प्रतिनिधि ने औपचारिक रूप से त्याग–पत्र दे दिया और आदिवासियों का परिषद ने पूर्णतः शासन भार संभाल लिया। अर्जेन्टिना की स्वतंत्रता का आरम्भ उसी दिन से माना जाता है फिर भी वहाँ का शासन नाममात्र के लिए स्पेन के सम्राट के साथ अपना सम्बन्ध बनाये हुए हैं।

स्पेन से आये हुए लोगों की जो सन्तान अब अर्जेन्टिना में रहती है, वे लोग अपने को क्रिओलो कहते हैं। पेरू में बसे हुए स्पेन के लोगों ने कई बार अपनी सेनाएँ भेजकर इस क्षेत्र को अपने अधिकार में लेना चाहा है लेकिन क्रिओलो को अपना एक बड़ा ही व्यवहार कुशल सैनिक नेता जोशे दे सान मार्टिल मिल गया, जिसे आज अर्जेन्टिना का राष्ट्र नायक कहा जाता है। वह यह समझता था कि उसका देश तब तक सुरक्षित नहीं रह सकेगा जब तक कि चिली और पेरू, दोनों से ही स्पेन की सेनाओं को खदेड़ नहीं दिया जाता। वह १८१७ में अपने सेना को लेकर पर्वत श्रृंखलाओं को पारकर चिली में पहुँचा और उसने उस देश को स्पेन के शासन से आजाद कर दिया। उसके बाद उसने अंग्रेल जल सेनानी लॉर्ड कोचरन की सहायता से अपना नौ–सैनिक बेड़ा बनाया और फिर प्रशान्त सागर के तट पर पेरू की राजधानी लीमा तक पहुँच गया। तभी उत्तर की ओर से आकर सीमोन बोलीवर ने पेरू को भी स्पेन के शासन से आजाद कर दिया। इस प्रकार दक्षिणी अमेरिका १८२५ में पूरी तरह से स्पेन से आजाद हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पेन से आजाद होने के बाद अर्जेन्टिना में बड़ा जबरदस्त गृह–युद्ध छिड़ गया। विभिन्न प्रदेशों के स्थानीय नेताओं ने कानून अपने हाथ में ले लिया और अर्जेन्टिना लगभग पूरी तरह से टुकड़ों में बंट गया। ब्योनस आयर्स का शासन भार वहाँ के सशक्त नेता जुऑन मैलबिन डे रोजा ने १६२६ में राज्यपाल के रूप में सँभाला : उन्होंने स्थानीय नेताओं की शक्ति तोड़ी और अर्जेन्टिना फिर लगभग संयुक्त देश बन गया लेकिन १८५२ में उसके विरुद्ध हुआ और लगभग दस वर्ष तक लड़ाई–झगड़े चलते रहे। उसके बाद जनरल पार्टी लो ने मित्रे प्रेसीडेन्ट चुने गये। वे बड़े कुशल सेनानायक विद्वान और शासन विद् थे; अतः उन्होंने शीघ्र ही देश में एकता स्थापित कर ली।

अर्जेन्टिना ने पहले और दूसरे विश्व युद्धों में भाग नहीं लिया। जुआन डो मिन्गो फेरॉन १६४६ में राष्ट्रपति चुने गये और उन्होंने देश की शासन व्यवस्था में अनेक सुधार किये। उनको देश के सर्वहारा वर्ग का समर्थन था और उनकी भलाई के लिए उन्होंने अनेक काम किये, लेकिन धीरे–धीरे वे तानाशाह बन गये; इसलिये १६५५ में उन्हें अपने पद से हटा दिया गया और उन्हें देश छोड़ना पड़ा। उनके बाद जो सरकारें बनी वे विशेष रूप से सैनिक अधिकारियों के सहारे चलीं। सैनिक नेताओं ने १६६६ में देश को पूरी तरह से अपने अधिकार में ले लिया।

हैक्टार कैम्पोरा १६७३ में राष्ट्रपति चुने गये; लेकिन जल्दी ही पेरो वापस आये और उन्होंने शासन भार फिर पेरो को ही सौंप दिया। इस बार वे देश को सुव्यवस्था की ओर नहीं ले जा सके। कुछ ही महीनों बाद उनकी मृत्यु हो गयी और फिर उनकी पत्नी मार्या स्टेला मार्टिनेज ने शासन भार ग्रहण कर दिया। किन्तु धीरे–धीरे उनकी शक्ति कम होती गयी और १६७६ में सेना ने फिर अपना शासन स्थापित कर लिया।

सैनिक शासन की अध्यक्षता जार्ज रफेल वीडेला ने की। उन्होंने प्रयास किया कि हिंसा का प्रकोप समाप्त हो और शान्ति की स्थापना हो। उन्होंने आर्थिक व्यवस्था को भी पटरी पर लाने की व्यवस्था की। लेकिन १६८१ में लेफ्टिनेंट जनरल राबर्टो वीयोला ने उनका स्थान ले लिया। उसी वर्ष दिसम्बर महीने में जनरल लीयोपोल्डो गैरटियरी राष्ट्रपति बन गये। उन्होंने २ अप्रैल १६८२ को फाकलैण्ड द्वीप–समूह पर, जिस पर ब्रिटेन का अधिकार था हमला कर दिया। अर्जेन्टिना के लोग उस द्वीप–समूह को अपना मानते थे और उसे आइसलस माल विनास कहते थे। उसके बाद ब्रिटेन ने अपने नौ–सैनिक बेड़े, हवाई जहाजों और थल सेना के सहारे उस पर फिर से अपना अधिकार कर लिया। इस पराजय के कारण गैरटियरी को त्याग–पत्र देना पड़ा और अक्टूबर १६८३ में राटिल अलफोन्सिन राष्ट्रपति चुने गये और सैनिक शासन समाप्त हुआ। उनके बाद १६८६ में चुनाव के फलस्वरूप कार्डोस साउल मेनेम राष्ट्रपति बने। मेनेम फेरोनवादी पार्टी ने नेता थे। उन्होंने जुलाई में अधिकार ग्रहण करने के बाद मुद्रास्फीति को समाप्त करने के लिए अपने आर्थिक कार्यक्रम चलाया। उनके प्रयास से १६६० के आरम्भ में ही मुद्रास्फीति की दर काफी गिर गयी। उन्होंने स्टील के कारखाने और अन्य उद्योगों को निजी हाथों में देना आरम्भ किया। यह प्रक्रिया १६६५ तक चलती रही। मेनेम बड़ी उदार वृत्ति के परन्तु बड़े ही कुशल शासक थे। उन्होंने १६८५–८६ में जो पहले के अनेक राष्ट्रपतियों तथा सैनिक अधिकारियों को उनकी क्रूरताओं के लिए दण्डित किया गया था और सजा हुई थी, उन्हें अपना अपराध स्वीकार कर लेने तथा पश्चाताप प्रकट करने पर उन्हें क्षमादान दे दिया। उन्होंने उसके बाद सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए संविधान में संशोधन का आन्दोलन चलाया। वे चाहते थे कि राष्ट्रपति को चुनाव के आधार पर दूसरा सत्र मिलने का अधिकार मिले। अक्टूबर में जो चुनाव हुए थे उसमें जो प्रतिनिधि चुने गये थे उनमें उनके समर्थ तो बहुसंख्यक थे, लेकिन फिर भी उन्हें संविधान में संशोधन के लिए रैडिकल पार्टी के समर्थन की अपेक्षा थी। अन्ततः उन्होंने पूर्व राष्ट्रपति एफॉन्सिन को संशोधन का समर्थन करने के लिए राजी कर लिया। इस समझौते के फलस्वरूप १६४४ में संविधान में संशोधन हुआ जिसमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रपति के दोबार चुने जाने की सुविधा के अतिरिक्त कुछ और भी परिवर्तन किये गये थे।

मेनिम ने १९९५ में निर्णयात्मक रूप से चुनाव दोबार जीत लिया। चार वर्षों के उस नये सत्र के आरम्भ में मैक्सिको की मुद्रा पीसो के अचानक अवमूल्यन के कारण, जिसे 'तेक्विला संकट' कहा जाता है, उन्हें विशेष परेशानी झेलनी पड़ी। अपने अर्थव्यवस्था के मंत्री कैवेलो के साथ उनके मतभेद बढ़ते गये। उनकी सरकार की लोकप्रियता, बढ़ती बेकारी और भ्रष्टाचार के आरोपों के कारण, तेजी से घटने लगी; फिर भी राजनीतिक व्यवस्था पर उनका नियंत्रण बना रहा। उन्होंने अन्ततः जुलाई १९९६ में कैवेलो को बर्खास्त कर दिया। फिर भी आर्थिक व्यवस्था में विशेष सुधार नहीं हुआ। उनके विदेशी मंत्री गोइडो डी टेला ने चिली के प्रशासकों के साथ अपने देश की दक्षिणी सीमाओं के निर्धारण के सम्बन्ध में बातचीत की। अक्टूबर १९९८ में मेनिम ने ब्रिटेन की राजकीय यात्रा की। उसके फलस्वरूप १९९९ में फाकलैण्ड और अर्जेन्टीना की मूल भूमि के साथ व्यापारिक हवाई यातायात फिर से चल पड़ा। उसी वर्ष के अन्त में फेरोवादी विरोधी राजनीतिक दलों संगठन के नेता फर्नाण्डो डेला रुआ राष्ट्रपति चुने गयें

अर्जेन्टिना की आर्थिक स्थिति बिगड़ती ही गयी; और उसके कारण फर्नेण्डो डेला रुआ को दिसम्बर २००१ में त्याग देना पड़ा। अन्तरिम राष्ट्रपति एडाल्फो रोजविगुए सा को भी त्याग पत्र देना पड़ा; और एजुवर्डो दुहाल्दे पहली जनवरी को दोनों सदनों के संयुक्त सत्र में १० दिसम्बर, २००३ तक के लिए अन्तरिम राष्ट्रपति चुना गया। दुहाल्हे ने २ जनवरी को पदभार ग्रहण किया और तब उन्हें अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। उन्हें उन सामाजिक तनावों को कम करना था, जिनके कारण रुआ को त्यागपत्र देना पड़ा था। इसके अतिरिक्त उन्हें निवेशकों और उपभोक्ताओं में विश्वास जगाना था। सबसे गम्भीर समस्या रुआ के अर्थमंत्री कैवेलो के शासन काल में आर्थिक व्यवस्था में जो संकट उत्पन्न हुए थे उन्हें सुधारना था।

दुहाल्दे ने पहले तीन महीनों में आर्थिक व्यवस्था को सुधारने के लिए डालर के बैंक खाते के स्थान पर चिली की मुद्रा पेसो के खातों को लागू किया। इसके साथ ही उन्होंने बैंक खातों को कुछ समय के लिए पूर्णतः रोक दिया। उनका दूसरा महत्वपूर्ण कार्य पेसो के अवमूल्यन को लेकर विनिमय के नियम को समाप्त करना था, जिसका परिवर्तन मूल्य अक्टूबर में डॉलर के साथ १.४ के स्थान पर ३.७ हो गया था। इन दो आर्थिक परिवर्तनों का परिणाम यह हुआ था कि लगभग एक करोड़ बचत खातेदारों या साविधिक निवेशकों की धनराशि का मूल्य ६० प्रतिशत और ७० प्रतिशत घट गया था। इसके साथ ही सभी नागरिकों तथा व्यावसायिक संस्थानों को जिनकी ऊपर डॉलर मान के ऋण थे उन्हें वापस करना लगभग असम्भव सा हो गया था। देश की सारी अर्थव्यवस्था तथा संसार की आर्थिक स्थिति भी इस तरह पूरी तरह से टूट गयी थी। व्यावसायिक संस्थानों तथा व्यक्तियों को भी बहुत ही ऊँची ब्याज–दर के बिना कुछ भी उधार लेना असम्भव हो गया था। सरकार को मजबूर होकर २ दिसम्बर २००२ को सभी बैंक खातों से अवरोध का प्रतिबन्ध उठाना पड़ा था।

दुहाल्दे को वर्ष २००२ की पूरी कालावधि में इन्टरनेशलन मानीटरी फन्ड के अधिकारियों के साथ इस उद्देश्यों से बातचीत जारी रखनी पड़ी कि एक ऐसा समझौता हो जाए कि जिससे अर्जेन्टिना की आर्थिक स्थिति की सुधार के लिए ऋण की वापसी तथा नवीन अनुदान के लिए कोई व्यवस्था बन सके। कोई भी समझौता नहीं हो पाया इसलिए दुहाल्दे को मजबूर होकर मार्च २००३ के लिए नये चुनाव की घोषण करनी पड़ी।

अज्ञेय, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय का जन्म ७ मार्च, १९११ को प्रख्यात पुरातत्त्ववेत्ता डॉ० हीरानन्द शास्त्री वात्स्यायन के पुत्र के रूप में कुशीनगर (उत्तर प्रदेश) में हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा मौखिक परम्परा से ही हुई और इसी प्रकार उन्होंने संस्कृत, हिन्दी और

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेजी का ज्ञान अर्जित किया। मैट्रिक परीक्षा इन्होंने पंजाब से उत्तीर्ण की। इण्टरमीडिएट की पढ़ाई रसायन, भौतिकी और गणित के साथ मद्रास में पूरी हुई। उसके बाद लाहौर से बी०एस–सी० किया। अंग्रेजी में एम०ए० करने के लिए दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया; किन्तु राजनीतिक गतिविधियों में, विशेष रूप से क्रान्तिकारी आन्दोलन में भाग लेने के कारण, इनकी गिरफ्तारी हुई; मुकदमा चला; और फिर पाँच–छह वर्षों तक उन्हें पहले जेल में और फिर नज़रबन्दी में रहना पड़ा। क्रान्तिकारी आन्दोलन में इनका प्रवेश भगवतीचरण बोहरा, चन्द्रशेखर आजाद आदि के सम्पर्क से हुआ था।

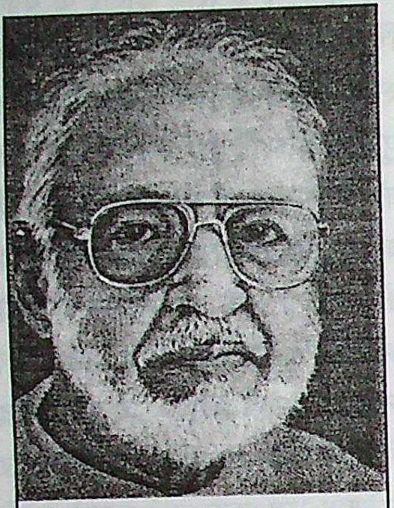

अज्ञेय

अज्ञेय का लेखकीय जीवन जेल में आरम्भ हुआ। पहले इन्होंने अंग्रेजी भाषा में कविताएँ लिखीं। अंग्रेजी में उनकी कविताओं का संकलन 'प्रिज़नहोल एण्ड अदर पोएम्स' प्रकाशित हुआ। जेल में ही इन्होंने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' की मूल प्रति तैयार की थी। गिरफ्तारी के समय इन्हें डर लगा कि जो आरोप इन पर लगाये गये हैं, उनके आधार पर इन्हें फाँसी की सजा हो सकती है। इसी चेतना के साथ इस उपन्यास में लेखक अपने जीवन का सिंहावलोकन करता है और जो कुछ उसने किया है, उसके आधार पर अपने जीवन का अर्थ तलाशता है। वह अपने बचपन, कैशोर्य और युवावस्था के जीवन को युग संपृक्ति के साथ व्याख्यायित करता है, विशेष रूप से मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करता है, जो बनता है उपन्यास 'शेखर एक जीवनी'। मनोजगत् के चेतना–प्रवाह को विशेष रूप से अभिव्यक्ति देता यह उपन्यास, हिन्दी कथा–साहित्य के विकास में एक मील का पत्थर बन गया; और आज छह दशक के बाद भी उसकी अर्थवत्ता बनी हुई है।

इस उपन्यास की पांडुलिपि को प्रकाशन के योग्य बनाने में, जेल से छूटने के बाद, अज्ञेय जी को कई वर्ष लग गये; और उसके पहले खण्ड का प्रकाशन सन् १९४१ में सम्भव हुआ।

अज्ञेय जी ने कारावास के दिनों में ही कहानी लिखने की भी शुरूआत की थी। संयोग से जेल में ही अज्ञेय जी की मुलाकात जैनेन्द्र कुमार से हुई और उन्होंने फिर जैनेन्द्र को अपनी कहानियाँ प्रकाशन के लिए दीं। जैनेन्द्र ने उन्हें प्रेमचन्द जी को 'हंस' और 'जागरण' में प्रकाशन के लिए दिया। प्रेमचन्द जी को वे कहानियाँ पसन्द आयीं और उन्होंने पूछा कि लेखक का नाम क्या दिया जाये ? जैनेन्द्र ने कहा कि वे तो जेल में हैं, अतः उनका मूल नाम नहीं दिया जा सकता। प्रेमचन्द ने तब उन्हें 'अज्ञेय' नाम से प्रकाशित किया और फिर उसके बाद उनका यही नाम चल पड़ा।

अज्ञेय बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी रहे हैं। सन् १९३६ में उन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में कदम रखा और आगरा से प्रकाशित 'सैनिक' के सम्पादक हुए। 'सैनिक' के स्वामी प्रसिद्ध राजनेता श्रीकृष्णदत्त पालीवाल थे और उनसे उनकी बनी नहीं। अतः उन्होंने उसे छोड़कर कोलकाता जाकर 'विशाल भारत' मासिक पत्रिका का सम्पादन–भार ग्रहण किया। सन् १९३६ तक उसका सम्पादन करने के बाद 'बिजली' के सम्पादन के लिए पटना आ गये। सन् १९४० से १९४२ तक 'आकाशवाणी' के समाचार प्रभाग में रहे। उसके बाद कुछ वर्षों तक स्वच्छन्द लेखन और सेना में कार्य के अनन्तर इलाहाबाद से सन् १९४६ से 'प्रतीक' का प्रकाशन आरम्भ किया, जो १९५२ तक चलता रहा। सन् १९५० में उन्हें फिर 'आकाशवाणी' के समाचार प्रभाग में बुला लिया गया। सन् १९५५ तक 'आकाशवाणी' में कार्य करने के अनन्तर, वे फिर स्वच्छन्द लेखन की ओर आ गये। सन् १९५८ से १९५९ तक उन्होंने अंग्रेजी पत्रिका 'वाक्' का सम्पादन किया। उसके बाद दिल्ली से ही प्रकाशित अंग्रेजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्र 'थॉट' के सम्पादक रहे।

सन् १९६४ में 'नवभारत टाइम्स' के निमंत्रण पर उन्होंने वैचारिक पत्र 'दिनमान' का सम्पादन किया। इस पत्र में विभिन्न प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि विषयों को लेकर जो टिप्पणियाँ और लेख प्रकाशित हुआ करते थे, उनका स्तर अंग्रेजी में प्रकाशित इस प्रकार के पत्रों से कहीं ऊँचा होता था। सन् १९७० में उसे छोड़ने के बाद कुछ समय तक स्वतंत्र लेखन और फिर 'नया प्रतीक' का सम्पादन किया। सन् १९७७ में उन्हें 'नवभारत टाइम्स' के दिल्ली से प्रकाशित हिन्दी संस्करण के सम्पादन का कार्य मिला। हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में अज्ञेय जी का योगदान विशेष रूप से स्मरणीय है।

अज्ञेय जी अपनी अन्तःप्रेरणा एवं स्वतंत्र चेतना को लेकर, लीक से हटकर भी कार्य करने में रुचि लेते रहे। पश्चिम में जब नात्ज़ी और फ़ासिस्टवादी शक्तियों ने अपनी प्रभुसत्ता के विस्तार के लिए, दूसरा विश्व युद्ध आरम्भ किया, तो अज्ञेय जी को लगा कि उनके विरुद्ध संघर्ष के लिए सन्नद्ध होना चाहिए। तभी उन्होंने भारत की अंग्रेज सरकार के सामने प्रस्ताव रखा कि वे सेना में भर्ती होना चाहेंगे। जब जापान फ़ासिस्टवादी शक्तियों के समर्थन में द्रुतगति के साथ आगे बढ़ने लगा, तो सारकार ने उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और १९४३ में वे फौज में भर्ती हो गये। उन्हें लड़ाई के मोर्चे पर युद्ध में शामिल नहीं होना था, वरन् जनता में प्रतिरोध की भावना जगानी थी।

अज्ञेय जी का साहित्यिक कृतित्व अनेक विधाओं में सक्रिय देखने को मिलता है। वे जितने बड़े कवि थे, उतने ही बड़े उपन्यासकार, उसी स्तर के कहानीकार। समालोचना के क्षेत्र में भी उन्होंने बड़ा ही स्तरीय कार्य किया है। 'उत्तर प्रियदर्शी' के रूप में उन्होंने एक नाटकीय प्रयोग भी प्रस्तुत किया था। स्वातंत्र्योतर निबन्धकार के रूप में भी उन्होंने विशेष ख्याति अर्जित की थी। 'शाश्वती', 'भवन्ति' और 'अन्तरा' में हम उन्हें एक नयी विधा का सूत्रपात करते हुए देखते हैं। अपने इन ग्रन्थों में उन्होंने अपनी मनःक्रियाओं को बड़ी प्रभावपूर्ण वाणी प्रदान की है। 'कुट्टिचातन' नाम से लिखी गयी उनकी रचनाएँ उन्हें बड़े प्रबुद्ध गद्यकार के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं।

अज्ञेय जी अपने कवि रूप को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। सन् १९३१ से उन्होंने कविताएँ लिखना आरम्भ किया था और अपने अन्तिम क्षण १९८७ तक अविराम काव्य-रचना में संलग्न रहे। उनके इस पचास वर्ष से अधिक के कवि जीवन में कहीं आवृत्ति नहीं मिलती। उनकी काव्य-संवेदना निरन्तर प्रवहमान और विकासशील रही है। उनका पहला काव्य-संग्रह 'भग्नदूत' १९३३ में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद 'चिन्ता' (१९४२), 'इत्यलम्' (१९४६), 'हरी घास पर क्षण भर' (१९४९), 'बावरा अहेरी' (१९५४), 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' (१९५७), 'अरी ओ करुणा प्रभामय' (१९५९), 'आँगन के पार द्वार' (१९६१), 'सुनहले शैवाल' (१९६५), 'कितनी नावों में कितनी बार' (१९६७), 'क्योंकि मैं जानता हूँ' (१९६९), 'सागरमुद्रा' (१९७०), 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ' (१९७४), 'ठौर और ठिकाने' (१९७६), 'महावृक्ष के नीचे' (१९७७), 'नदी की बाँध पर छाया' (१९८१), 'ऐसा कोई घर आपने देखा है' (१९८६)। १९८१ में उन्होंने 'नीलाम्बरी' (कविता) अंग्रेजी में प्रकाशित की थी। 'सदानीरा' (१९८५) में उनकी तब तक की सारी कविताएँ संकलित हैं।

अज्ञेय जी की प्रारम्भिक काव्य रचनाओं में हम छायावाद का, भावना का शील विशेष रूप से देखते हैं। उसके बाद उनका व्यष्टि-बोध, उनके चिन्तन-मनन के साथ, अभिव्यक्त होना आरम्भ करता है। तभी हम उन्हें जीवन की बदली हुई परिस्थितियों को नयी शब्दावली में अभिव्यंजना के नये विधानों के साथ अभिव्यक्त करते हुए देखते हैं। उनमें कहीं प्रणयानुभूति की अभिव्यक्ति है; कहीं सौन्दर्य चेतना को वाणी मिली है; कहीं प्रकृति में सुन्दर और असुन्दर को उजागर किया गया है; कहीं स्वाधीनता-बोध है। परिणत वय में हम उन्हें लोकोत्तर भाव की तलाश करते हुए देखते हैं : लगता है जैसे आध्यात्मिक अनुभूतियों को प्रकाशित किया जा रहा हो। अज्ञेय

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जी की काव्य रचनाओं की भाषिक संरचना बड़ी ही विलक्षण है।

अज्ञेय को सर्वाधिक प्रतिष्ठा उनके उपन्यास– 'शेखर : एक ज़ीवनी' (१९४१) के लिए मिली थी। उसका पहला खण्ड, १९४१ में प्रकाशित हुआ था और उसका दूसरा खण्ड सन् १९४४ में प्रकाशित हुआ, जिनमें उनकी युवावस्था के जीवन का समीक्षात्मक विवरण है। उनका दूसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' सन् १९५२ में मुद्रित हुआ। वह शेखर से भिन्न संवेदना का उपन्यास है। यह घटना प्रधान एवं युगीन जीवन की गतिविधियों को लेकर चलते हुए भी वस्तुतः प्रेमाख्यान है।

अज्ञेय का तीसरा उपन्यास 'अपने अपने अजनबी' १९६१ में प्रकाशित हुआ। उसकी संरचना तथा अन्तर्वस्तु, दोनों ही पहले के उपन्यासों से सर्वथा अलग हैं। आकार में यह छोटा है और केवल दो चरित्रों सेल्मा और योके को लेकर कथा–चक्र आगे बढ़ा है। योके जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, विदेशी महिला है, जो अपने मित्र पाल के साथ, यूरोप के उत्तरी प्रदेश में पर्वत शिखरों पर घूमने जाती है और वहीं बर्फ गिरने से एक अजनबी वृद्धा सेल्मा के साथ एक छोटे से भवन में बन्द हो जाती है। योके और सेल्मा, सामने खड़ी मृत्यु के साक्षात्कार को अलग–अलग ढंग से झेलते हैं। दोनों की ही अपनी–अपनी अनुभूतियाँ रहीं हैं और अपना अलग–अलग चिन्तन–मनन भी रहा है। पहले दो खण्डों के बाद, तीसरे खण्ड में वस्तुस्थिति बदलती है। बर्फ पिघलती है और फिर दोनों सृजनात्मक विश्वास के साथ बाहर निकलतीं हैं। इस प्रकार आरम्भ में मृत्यु के साथ साक्षात्कार और फिर जीवन का वास्तविक अर्थ खोजने का प्रयास, इस उपन्यास में बड़े प्रभावपूर्ण रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। नाम और स्थान विदेशी होते हुए भी मूल–दृष्टि भारतीय ही रही है।

कहानीकार के रूप में भी अज्ञेय ने अपना स्थान सर्वथा अलग बनाया है। प्रारम्भिक कहानियों में उनके क्रान्तिकारी जीवन के अनुभव छनकर आये हैं। 'विपथगा' में ऐसी ही कहानियाँ संकलित हैं। उसके बाद उन्होंने अपने फौजी जीवन के अनुभवों से कथासूत्र लिए हैं : 'मेजर चौधरी की वापसी' और 'जयडोल' ऐसी ही कहानियाँ हैं। भारत विभाजन की पृष्ठभूमि पर भी उन्होंने अनेक कहानियाँ लिखी हैं। अज्ञेय जी मूलतः आस्था और संस्कारिता के कथाकार रहे हैं। इस संदर्भ में 'शरणदाता', 'नारंगियाँ', 'साँप', 'हिलीबोन की बत्तखें', उनकी उल्लेखनीय कहानियाँ हैं। असाधारण चरित्रों की सृष्टि उनकी कहानियों की बहुत बड़ी विशेषता रही है : 'जयडोल' की जसमति, 'सिगनेलर' का बलराज, 'खितिन बाबू' के खितिन के नाम लिये जा सकते हैं। १९६५ के बाद उन्होंने कहानियाँ लिखना छोड़ दिया था। अपनी सम्पूर्ण कहानियों को उन्होंने 'छोड़ा हुआ रास्ता' और 'लौटती हुई पगडण्डियाँ' दो संकलनों में प्रकाशित किया।

अज्ञेय जी ने समय–समय पर अपने साहित्य–दर्शन, जीवन–दृष्टि एवं चिन्तन–मनन को स्पष्ट करने के लिए गद्य में भी लिखा था। इस प्रसंग में 'त्रिशंकु' (१९४५), 'आत्मनेपद' (१९६०), 'सबरंग और कुछ राग' (१९६६), 'लिखि कागद कोरे' (१९७२), 'आत्मपरक' (१९८३) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'सर्जना और संदर्भ (१९५८) में हम उनके साहित्य–दर्शन की विस्तृत विवेचना मिलती हैं। कुट्टिचातन के नाम से लिखित 'सबरंग' (१९४६) में उनकी व्यंग्य रचनाएँ संकलित हैं। उनकी पुस्तक 'संवत्सर' (१९७८) अपने ढंग की हिन्दी की अकेली पुस्तक है, जिसमें काल को अनुभव के रूप में देखने का प्रयास किया गया है।

अज्ञेय जी ने समय–समय पर कुछ ग्रन्थों का सम्पादन भी किया था। इस सम्बन्ध में १९४३ में 'तार सप्तक' का सम्पादन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि उससे हिन्दी कविता में प्रयोग–युग का आरम्भ माना जाता है। इस ग्रन्थ में सात नवोदित कवियों की रचनाएँ संकलित थीं। अज्ञेय जी ने स्वयं लिखा है कि ये कवि (गजानन माधव मुक्ति–बोध, नेमिचन्द्र, भारत–भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, राम विलास शर्मा तथा सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय') विचारधारा एक न होते हुए भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन की बदली हुई परिस्थितियों को अनुभूतियों के साथ अभिव्यक्त करने के लिए आतुर हैं। यही उन सभी के सामने पहली समस्या थी, जो उन्हें प्रयोग के लिए ललकारती थी। इसी प्रयोगशीलता के कारण उस आन्दोलन को प्रयोगवाद का नाम दिया गया। अज्ञेय ने यद्यपि यह कहा कि प्रयोग का कोई वाद नहीं होता, तथापि जब यह नाम चल पड़ा था, तो फिर चलता ही रहा। अज्ञेय ने बाद में 'दूसरा सप्तक' (१९५१), 'तीसरा सप्तक' (१९५९), 'चौथा सप्तक' (१९७८) नये–नये कवियों को लेकर प्रकाशित किये।

अज्ञेय ने उसके बाद भी नये एकांकी, कभी 'प्रतिनिधि कहानियाँ', तथा प्रकृति परक कविताओं आदि का सम्पादन किया। 'नये साहित्य–स्रष्टा' माला में उन्होंने रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, शान्ति मेहरोत्रा और अजित कुमार की रचनाओं का सम्पादन किया। अन्य कई सज्जनों के साथ १९४९ में उन्होंने 'नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ' का भी सम्पादन किया था।

अज्ञेय ने अंग्रेजी में अपनी तथा कुछ अन्य लोगों की रचनाएँ भी अनुवादित की थीं। शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय के 'श्रीकान्त' के अनुवाद को उन्होंने १९४४ में प्रकाशित किया था। उसके बाद जैनेन्द्र कुमार के 'त्याग–पत्र' को 'द रेज़िग्नेशन' (१९४६), अपने उपन्यास 'अपने–अपने अज़नबी' को 'टू हिज़ स्ट्रेंज़र' (१९६७) के रूप में प्रकाशित कराया था। कुछ चुनी हुई कविताओं के अनुवाद 'फर्स्ट पर्सन सेकेन्ड पर्सन' (१९७१), 'साउण्ड एण्ड सायलेंस' (१९७६) रेनाल्ड बैथेन के सहयोग से प्रकाश में आयी थीं। अपनी कविताओं का एक संकलन 'ठौर–ठिकाने' (१९७७) हिन्दी और जर्मन, द्वैभाषिक रूप में उन्होंने प्रस्तुत किया था। अपने उपन्यास 'नदी के द्वीप' को उन्होंने 'आईलैण्ड्स इन द स्ट्रीम' नाम से रूपान्तरित किया था।

अज्ञेय जी के अंग्रेजी के ये प्रकाशन पश्चिम में बड़ी रुचि के साथ पढ़े गये थे। तभी उन्हें पहले व्याख्यान और फिर अध्यापन के लिए निमंत्रित किया गया था। शिकागो विश्वविद्यालय में उन्होंने 'भाषा और अस्मिता तथा आख्यान (नैरेटिव) में काल की समस्या' विषय पर व्याख्यान दिया था। रेज़ीडेंट प्रोफेसर के पद से उन्होंने 'श्रव्य कविता से दृश्य कविता तक' पर सोदाहरण वार्ता दी थी। कैलिफोर्निया और बर्कले विश्वविद्यालयों में कई बार उन्होंने अतिथि प्रोफेसर के रूप में पढ़ाया भी था। उन्हें जोधपुर विश्वविद्यालय में अध्यापन के लिए निमंत्रित किया गया था। उन्होंने अपने लिए 'तुलनात्मक साहित्य' विषय चुना था; और उसके लिए विश्वविद्यालय ने स्वतंत्र व्यवस्था की थी।

सन् १९७८ में अज्ञेय जी के काव्य संकलन 'कितनी नावों में कितनी बार' पर भारतीय ज्ञानपीठ ने उन्हें सारस्वत सम्मान प्रदान किया था। उस पुरस्कार से जो धनराशि मिली थी, उसे उन्होंने अपने व्यक्तिगत उपयोग में न लाकर 'वत्सल निधि' नाम की एक संस्था की स्थापना की थी। उनका विचार था कि इस न्यास के माध्यम से साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की गतिविधियों की एक शृंखला चलायी जाये। वह संस्था वर्षों से सही अर्थों में सांस्कृतिक और साहित्यिक चेतना को जगाये रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है। सन् १९८३ में यूगोस्लाविया के स्त्रूगा के अन्तर्राष्ट्रीय काव्य–समारोह में उन्हें 'स्वर्णमाल पुरस्कार' से अभिनन्दित किया गया। इस शुभ अवसर पर एक बड़ा ही विलक्षण आयोजन हुआ था : विभिन्न भाषाओं के कवियों ने क्रमशः एक–एक पंक्ति जोड़कर, एक कविता की रचना की थी। यह 'स्वर्णमाल पुरस्कार' भारतीय लेखकों में, अब तक एकमात्र अज्ञेय जी को ही मिला है; और वह लगभग 'नोबेल पुरस्कार' के स्तर का ही माना जाता है।

'वत्सल निधि' के न्यास को अज्ञेय ने बड़े सुनियोजित और दूरगामी दृष्टि से अनेक कार्यक्रमों के साथ जोड़ दिया था। उन्होंने वर्ष में दो बार व्याख्यान मालाओं की व्यवस्था की थी– एक 'हीरानन्द शास्त्री व्याख्यान माला', जिसमें भारतीय संस्कृति, पुरातत्त्व आदि के विशिष्टतम व्यक्तियों को आमंत्रित किया जाता था; और दूसरा 'रायकृष्ण दास व्याख्यान माला', जिसमें भारतीय सांस्कृतिक चेतना के विभिन्न विषयों पर विचार–विमर्श होता था। उस न्यास के तत्त्वावधान में प्रतिवर्ष एक साहित्यिक शिविर भी

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आयोजित होता था, जिसमें सुधी विद्वान्, चिन्तक एवं लेखक, पूर्व–निर्धारित विषयों पर विचार–विमर्श करते थे। नये लेखकों को भी उन शिविरों में भाग लेने का अवसर दिया जाता था। साथ में कविता, कहानी आदि की गोष्ठियाँ भी चलती रहती थीं। दोनों ही कार्यक्रमों के व्याख्यानों को बड़ी सावधानी के साथ पुस्तकाकार प्रकाशित किया जाता था। उन्होंने अपनी इस संस्था के तत्वावधान में तीसरा कार्यक्रम सांस्कृतिक यात्राओं का भी रखा था। पहली यात्रा, 'जानकी जीवन यात्रा' के नाम से मिथिला से चित्रकूट तक सम्पन्न हुई थी। यात्रा राम एवं जानकी से सम्बद्ध स्थानों के साथ, बुद्ध के महाप्रयाण के स्थल कुशीनगर और सुमित्रानन्दन पन्त की साधना–भूमि काला काँकर में भी ठहरी थी। दूसरी यात्रा 'वृन्दावन से द्वारिका तक' की रही। इन यात्राओं में जिन लोगों ने भाग लिया था, उनके मन में भारतीय सांस्कृतिक परंपरा के प्रति अपार निष्ठा थी तथा पारंपरिक पुरागाथाओं में लोक–चेतना की पहचान भी थी। यह संस्था शासकीय और पूँजीतंत्र से सर्वथा मुक्त, आज भी जीवन्त है और उस पर लेखन और चिन्तन के क्षेत्रों से जुड़े लोगों का ही वर्चस् है।

अपने बहुमुखी कृतित्व को लेकर अज्ञेय रबीन्द्र नाथ ठाकुर और कन्हैयालाल माणिक लाल मुन्शी की कोटि में आते हैं। अपनी प्रयोगशीलता को उन्होंने अपने अन्तिम क्षणों तक जागरूक रखा था। उनके विलक्षण व्यक्तित्व का बड़ा स्पष्ट आभास डॉ० राम कमल राय की दो पुस्तकों, 'अज्ञेयः सृजन की समग्रता' और 'शिखर से सागर तक' से होता है।

अज्ञेयवाद (एगनास्टीसिज़्म)

पश्चिम का एक दार्शनिक सिद्धान्त, जिसके अनुसार उस परम सत्ता के अस्तित्व को जानना, समझना एवं प्रदर्शित करना या तो असम्भव है, अथवा उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध कर पाना सम्भव नहीं है कि वही इस जगत् का मूल कारण है। इस विचारधारा का नामकरण सर्वप्रथम इंग्लैण्ड के तर्कवादी दार्शनिक टॉमस हक्सले ने सन् १८६६ में किया था। विद्वानों का कहना है कि इस अज्ञेयवादी विचारधारा का जन्म यूनान में ही हो गया था। आधुनिक काल में सर्वप्रथम जर्मन दार्शनिक काण्ट (१७२४–१८०४) ने इस विचारधारा का प्रतिपादन किया। काण्ट का कहना है कि यह व्यवहार जगत्, बुद्धि अथवा प्रज्ञा से व्याख्यायित किया जा सकता हैं, अतः ज्ञेय है; लेकिन परमार्थ जगत्, ईश्वर, आत्मा, अमरता आदि, ज्ञेय नहीं हैं। उनकी स्पष्ट मानना है कि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान किसी प्रकार सम्भव नहीं है। यही विचार फ्रांस के दार्शनिक ऑगस्ट कॉम्प्टे (१७६८–१८५७) ने भी अपने प्रत्यक्षवादी सिद्धान्त के आधार पर प्रस्तुत किया है। उसका कहना है कि मनुष्य केवल इस गोचर–जगत् को ही जान सकता है। इसी विचार–परम्परा को आगे बढ़ाते हुए सर विलियम हैमिंगटन (१७८८–१८५६) तथा उनके शिष्य हेनरी लांग्यूनिल मैसेल (१८२०–१८७१) ने लिखा है कि मनुष्य केवल किन्हीं निश्चित उपायों द्वारा उत्पादित पदार्थों को जान सकता है; लेकिन जो कुछ भी उपाय हो, वे निरपेक्ष और असीम है, उनकी कोई व्याख्या नहीं की जा सकती।

अज्ञेयवादी विचारकों में हर्बर्ट स्पेन्सर का अपना अलग स्थान है। उनका मानना है कि ज्ञान सर्वथा सम्बन्ध मूलक अथवा सापेक्ष होता है। इस आधार पर केवल सीमित वस्तुओं का ही ज्ञान सम्भव है; असीम तत्त्व, असम्बद्ध एवं निरपेक्ष है, इसीलिए उसे जान पाना सम्भव नहीं है। यह सब कहते हुए भी उन्होंने उस असीम शक्ति, परम–सत्ता पर अपना विश्वास प्रकट किया है। इसी आधार पर उन्होंने कहा है कि अगोचर जगत् वास्तव में उस परम सत्ता द्वारा ही उत्क्षिप्त है। हमें जो ससीम का बोध है, वही उस असीम सत्ता का प्रमाण है।

भारतीय दर्शन में कोई अज्ञेयवादी विचारधारा नहीं है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने इस विचारधारा को जो स्वरूप दिया है, उस पर भारत के आस्थावादी दर्शन का प्रभाव माना जाता है।

अटलांटा संयुक्त राज्य अमेरिका के जार्जिया राज्य की राजधानी। यह अपालाचियन पर्वत श्रृंखला की तलहटी में स्थित है। भौगोलिक दृष्टि से यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३३.४५° उत्तरी अक्षांश तथा ८४.२१° पश्चिमी देशान्तर पर है। सन् १८३७ में इसकी स्थापना हुई थी। सन् १८६४ में, गृहयुद्ध के समय उत्तर से आये जनरल शेरू ने, इसे अन्ततः विनष्ट कर दिया था। अब यह संयुक्त राज्य के दक्षिण–पूर्वी क्षेत्र का औद्योगिक, सांस्कृतिक, प्रशासनिक और परिवहन केन्द्र है। यहाँ वायुयान, मशीनों, कपड़ों, रसायन और कपास के बीजों से तेल–निकालने के उद्योग–धन्धे हैं। सन् १९९१ में इसे ओलम्पिक खेलों के लिए चुना गया था; और १९९६ में १६ जुलाई से ४ अगस्त तक यहाँ ग्रीष्म कालीन ओलम्पिक खेलों का आयोजन हुआ था। सन् १९९० में इसकी जनसंख्या ३,९४,०१७ थी।

अणु (मालिक्यूल) तत्त्व अथवा यौगिक का छोटे से छोटा कण जो स्वतंत्र अवस्था में रह सकता है, अणु (मालिक्यूल) कहलाता है।

किसी एक तत्त्व के अणु एक ही प्रकार के परमाणुओं से मिलकर बनते हैं। नियॉन आदि अक्रिय गैसों के अणु; द्विपरमाणुक (डाई–एटमिक) जैसे आक्सीजन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन आदि गैसों के अणु; या बहुपरमाणुक (पोली–एटमिक) जैसे–फॉस्फोरस सल्फर आदि के अणु होते हैं।

यौगिक का अणु, भिन्न–भिन्न प्रकार के तत्त्वों के परमाणुओं से बनता है, जैसे– कार्बन का एक परमाणु ऑक्सीजन के दो परमाणुओं से मिलकर, कार्बन डाइ–आक्साइड यौगिक का एक अणु बनाता है। जल अमोनिया, सल्फर डाइआक्साइड आदि यौगिक अणुओं के अन्य उदाहरण हैं।

इस प्रकार तत्त्वों के अणु सम–परमाणुक (होमो–एटमिक) तथा यौगिकों के अणु विषम–परमाणुक (हेटरो–एटमिक) होते हैं।

तत्त्वों अथवा यौगिकों में उपस्थित परमाणु रासायनिक बन्ध, जिन्हें विद्युत संयोजकता (इलेक्ट्रोवेलेंसी), सह–संयोजकता (को–वेलेंसी) तथा उप–सहसंयोजकता (कोआरडिनेट वेलेंसी) के नाम से जाना जाता है, एक दूसरे से बँधे रहते हैं। यह संयोजकता के इलेक्ट्रॉन सिद्धान्त (इलेक्ट्रॉनिक थिअरी आफ वेलेंसी) पर आधारित है।

विद्युत संयोजक बन्ध (इलेक्ट्रोवेलेंट बाण्ड) संयोजी, तत्त्वों के परमाणुओं द्वारा इलेक्ट्रॉनों के परस्पर आदान–प्रदान के कारण होते हैं। यौगिक बनाने में तत्त्व का परमाणु जितने इलेक्ट्रॉनों का आदान–प्रदान करता है, इलेक्ट्रॉनों की वह संख्या, उस तत्त्व की विद्युत संयोजकता कहलाती है। विद्युत संयोजक यौगिक जल में विलेय परन्तु कार्बनिक विलयकों में अविलेय होते हैं। ये सदा विद्युत अपघट्य (इलेक्ट्रोलाइट्स) होते हैं। इन यौगिकों का क्वथनांक (ब्वाइलिंग प्वाइन्ट) और गलनांक (मेल्टिंग प्वाइन्ट) काफी अधिक होता है। ये पिछली अवस्था में या जल में घुलित अवस्था में विद्युत के सुचालक होते हैं।

सहसंयोजक बन्ध (कोवैलेन्ट बाण्ड) दो परमाणुओं के बीच इलेक्ट्रानों के परस्पर साझे के फलस्वरूप इलेक्ट्रॉन युग्मों के बनने से होता है। अणु के निर्माण में किसी तत्त्व का एक परमाणु साझा के लिए जितने इलेक्ट्रॉन देता है, इलेक्ट्रॉनों की वह संख्या उस तत्त्व की सहसंयोजकता कहलाती है। सहसंयोजक यौगिक जल में कम विलेय होते हैं, परन्तु कार्बनिक विलायकों में अधिक विलेय होते हैं। इनका आयतन नहीं होता। इन यौगिकों का क्वथनांक तथा गलनांक विद्युत संयोजक यौगिकों की अपेक्षा कम होता है। ये विद्युत के कुचालक होते हैं।

उपसहसंयोजक–बन्ध, एक ही परमाणु द्वारा दोनों इलेक्ट्रॉन दिये जाने के कारण बनता है। किसी तत्व का एक परमाणु उपसहसंयोजक–बन्ध बनाने के लिए जितने युग्म इलेक्ट्रॉन का साझा करता है, वह संख्या उस तत्त्व की उपसहसंयोजकता कहलाती है। उपसहसंयोजक यौगिक जल में थोड़ी मात्रा में विलेय होते हैं तथा इनका भी आयतन नहीं होता। इनके क्वथनांक व गलनांक, विद्युत संयोजी यौगिकों की उपेक्षा कम तथा सहयोगी यौगिकों की उपेक्षा अधिक होते हैं। ये विद्युत के कुचालक होते हैं।

अणु ऊर्जा अणु ऊर्जा विश्व में लगातार घटते पारम्परिक ऊर्जा स्रोतों का सशक्त विकल्प है। यह ऊर्जा नाभिकीय अभिक्रियाओं का परिणाम है। ये अभिक्रियाएँ हैं : नाभिकीय विखण्डन और नाभिकीय संलयन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१. नाभिकीय विखण्डन (Nuclear Fission): नाभिकीय विखण्डन में एक सापेक्षतः भारी तत्त्व का नाभिक स्वतः ही अथवा न्यूट्रान के टकराने के फलस्वरूप दो खण्डों में (कभी–कभी तीन खण्डों में) विभक्त होता है। प्रत्येक विखण्डन के साथ काफी अधिक मात्रा में ऊर्जा उत्सर्जित होती है, जो उत्पादित नाभिकों की गतिज ऊर्जा, ऊष्मा और रेडियोऐक्टिवता की ऊर्जा के रूप में प्रकट होती है। उदाहरण के लिए $_{92}U^{235}$ के न्यूट्रान द्वारा विखण्डन में उत्सर्जित ऊर्जा का परिकलन आइन्सटीन के द्रव्यमान–ऊर्जा समीकरण ($E = MC^2$) की सहायता से किया जा सकता है –

$$_{92}U^{235} + {}_0n^1 \rightarrow {}_{56}Ba^{141} + {}_{56}Kr^{92} + 3{}_0n^1 + \text{ऊर्जा}$$

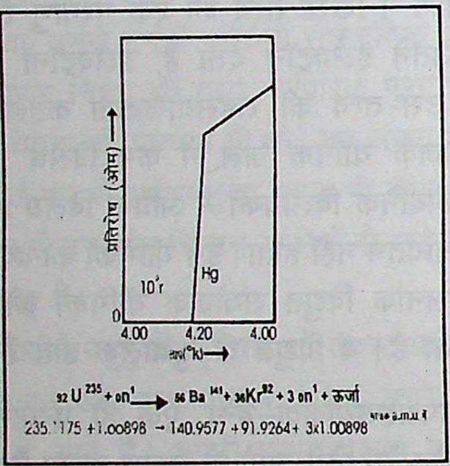

235.1175 + 1.00898 → 140.9577 + 91.9264 + 3 x 1.00898 मात्रक a.m.u. में

द्रव्यमान में अन्तर = 236.1264 - 235.911 ≈ 0.2154 a.m.u.

समतुल्य ऊर्जा = 0.2154 x 931 = 200 Mer ≅ 3.2 X 10-4 ergs

द्रव्यमान में यह अन्तर, नाभिक के कुल द्रव्यमान तथा उसके अवयव कणों के सम्मिलित द्रव्यमान से कम होने के कारण होता है तथा इसके समतुल्य ऊर्जा (= Δmc^2) नाभिक की बन्धन ऊर्जा कहलाती है।

इस क्रिया में उत्सर्जित न्यूट्रान अन्य $_{92}U^{235}$ के नाभिकों को विखण्डित करते हैं। इस प्रकार यह क्रिया तेजी से आगे बढ़ती जाती है जिसे नाभिकीय शृंखला अभिक्रिया कहते हैं। एक किलोग्राम $_{92}U^{235}$ के विखण्डन में 10^{-8} सेकेण्ड का समय लगता है। अणुबम वस्तुतः बहुत तेजी से बढ़ने वाली नाभिकीय शृंखला–अभिक्रिया है, जो अभिनियंत्रित होती है तथा भयंकर विस्फोट के साथ विनाशकारी रूप ले लेती है। अणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण उपयोग के लिए नाभिकीय शृंखला अभिक्रिया को नियंत्रित किया जाता है।

२. नाभिकीय संलयन (Nuclear Fusion): सिद्धान्ततः संलयन की प्रक्रिया दो हल्के नाभिकों के संलयन का परिणाम हैं। इस प्रक्रिया में काफी मात्रा में ऊर्जा उत्सर्जित होती है, क्योंकि संलयन में प्राप्त ऊर्जा सापेक्षतः भारी नाभिक के लिए बन्धन ऊर्जा प्रति न्यूक्लिऑन की अपेक्षा अत्यन्त कठिन है। नाभिकीय संलयन की क्रिया नाभिकीय विखण्डन की अपेक्षा अत्यन्त कठिन है, क्योंकि नाभिक पर घन आवेश होने के कारण उनके आस–पास आने पर उनमें प्रतिकर्षण होता है। सभी संलयन अभिक्रियाओं में ऊर्जा उत्सर्जन द्रव्यमान में कमी के कारण होता है। सभी तारों और सूर्य में भी ऊर्जा का स्रोत नाभिकीय संलयन अभिक्रियाएँ ही मानी जाती हैं। इस प्रक्रिया से प्राप्त अभियंत्रित ऊर्जा को हाइड्रोजन बम का नाम दिया गया है।

अणुव्रत जैन धर्म का एक पारिभाषिक शब्द। जैन धर्म में दो प्रकार के व्रत माने गये हैं – अणुव्रत और महाव्रत। 'अणु' शब्द का प्रयोग यहाँ लघु या छोटे के रूप में हुआ है। जैन श्रावक, जो सामान्य जीवन व्यतीत करते हैं, उनके लिए अणुव्रत अर्थात् लघुव्रत का विधान है। जैन साधुओं के लिए महाव्रतों का निर्देश है। महाव्रतों में सर्वस्व त्याग की अपेक्षा होती है। जैन साधु, जो महाव्रत ग्रहण करते हैं, वे कभी तो मात्र श्वेतवस्त्र धारण करते हैं, और इसलिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्वेताम्बर कहलाते हैं; कुछ वस्त्रों का पूर्णतः परित्याग कर देते हैं और दिगम्बर हो जाते हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर साधुओं को अनेक और बड़े ही जटिल नियमों का पालन करना होता है।

श्रावकों के लिए माने गये अणुव्रत ५ हैं, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। अहिंसा में सभी प्रकार की हिंसा से बचने का निर्देश दिया गया है। ये अणुव्रत जब जैन साधुओं के साथ जुड़ते हैं, तो बड़ी ही जटिलताएँ ग्रहण कर लेते हैं। जैन साधु, श्वास लेने की प्रक्रिया में वातावरण में फैले कोई जीवधारी मुख में प्रविष्ट न हो जायें, उससे बचने के लिए, अपने मुख पर चलते–फिरते एक आवरण धारण करते हैं।

अतलांत महासागर (अंग्रेजी में अटलांटिक ओशन) उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका तथा यूरोप एवं अफ्रीका के बीच के महासागर का नाम। पहले सम्भवतः मिथक द्वीप अतलांतिस के आधार पर पश्चिमी अफ्रीका के तट के सागर को ही यह नाम दिया गया था। प्रशान्त महासागर के बाद आकार की दृष्टि से यह दूसरे नम्बर का महासागर है। यह लगभग १६००० कि०मी० लम्बा और ५००० कि०मी० चौड़ा है। कोलम्बस आदि अनेक साहसिक जल–यात्रियों के पहले, यह अमेरिका को यूरोप से अलग करता था; लेकिन आज यह सबसे बड़ा जलमार्ग है। पानी के जहाज़ इसे एक सप्ताह में पार करते हैं; लेकिन हवाई जहाज़ मात्र कुछ घंटों में ही दूसरी ओर पहुँच जाते हैं। टेलीफोन से बातचीत तो तत्काल ही होती रहती है। आकाशवाणी और दूरदर्शन के कार्यक्रम भी तत्काल ही देखे–सुने जा सकते हैं।

अतलांत महासागर की जलधाराएँ, अनेक तलों पर तथा अनेक क्षेत्रों में अनेक तरह की मिलती हैं। भूमध्य रेखा के पास का ऊपरी तल का गरम जल, सामान्यतः उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुवों की ओर बहता है, लेकिन गहरे तल का जल ठण्डा होता है और धीमी गति से विरोधी दिशाओं की ओर बहता है। उत्तर की ओर जाता हुआ कुछ गरम जल, ग्रीनलैण्ड और आइसलैण्ड की ठण्डक को कुछ कम करता है, और फिर पूरब की ओर घूमकर ब्रिटिश द्वीपों तथा नार्वे को कुछ गर्मी प्रदान करता है। ग्रीनलैण्ड की ओर से जो लैबराडोर धारा बहती है, उसमें बड़े भयंकर हिमशैल प्रवाहित होते हैं। इन्हीं हिमशैलों ने सन् १६१२ में इंग्लैण्ड से अमेरिका की ओर जाते हुए टाइटेनिक नामक जहाज को उसकी पहली यात्रा में ही डुबो दिया था। (देखिए टाइटेनिक)। यह ठण्डी लैबराडोर जलधारा, जब अतलांत महासागर के ऊपरी तल के गरम जल से मिलती है, तो न्यू फाउण्डलैण्ड द्वीप के पास बड़ा ही गहरा कोहरा उत्पन्न हो जाता है।

अतलांत महासागर में उठती इन गरम तथा ठण्डी जलधाराओं के कारण, उत्तरी ध्रुव से समान दूरी के अनेक स्थलों की वायु, बड़ी ही अलग–अलग प्रकार की है। ग्रीनलैण्ड यद्यपि ब्रिटिश द्वीप समूह से अधिक उत्तर की ओर नहीं है; लेकिन वहाँ की शीत ऋतु, बड़ी लम्बी होती है, और वहाँ का सामान्य तापमान शून्य से नीचे ही रहता है। ग्रीनलैण्ड सदा बर्फ से आच्छादित रहता है; लेकिन उसी अक्षांश के नार्वे में ग्रीष्म ऋतु में गर्मी हो जाती है और सूर्य भी दिखाई देता है।

उत्तरी अतलांत की जलधाराएँ, धीरे–धीरे बड़ा–सा वृत्त बनाती हैं, जिनके बीच बड़ा ही शान्त क्षेत्र है, जिसे सारगासो सागर कहते हैं। इस सागर की चौड़ाई कहीं तो १५०० कि०मी० तक है, और कहीं–कहीं उसके शान्त क्षेत्र में बहुत बड़ी राशि में शैवाल इकट्ठे होते रहते हैं। शैवाल के एक विशेष प्रजाति को सगसिम कहा जाता है। सर्वप्रथम कोलम्बस ने इस सागर के विषय में बताया था। उसके बाद तो शैवालों में फँसकर, अनेक जहाज़ों के डूब जाने की अनेक झूठी–सच्ची कहानियाँ चल पड़ीं।

अतलांत महासागर में बड़ी–बड़ी व्हेलों के अतिरिक्त छोटी–छोटी सील मछलियाँ, ऊपर की सतह में मिलती हैं। बहुत नीचे ठण्डे क्षेत्र में बड़े ही छोटे–छोटे जीवधारी पाये जाते हैं। तट के छिछले पानी में, कॉड, हेरिंग्स, हेडॉक, हालीवट आदि अनेक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार की मछलियाँ पायी जाती हैं। ये सभी दुकानों पर सामान्यतः देखने को मिलती हैं। लोग इन्हें अनेक रूपों में खाते हैं और इस प्रकार सागर भोजन की प्रचुर व्यवस्था करता है।

समुद्र–वैज्ञानिकों ने सागर के गहरे तलों से उठती ध्वनियों के आधार पर सागर तल के मानचित्र बनाए हैं। तटीय क्षेत्र को, जहाँ जल उथला होता है, उसे सागर पुलिन कहते हैं, उसके बाद धीरे–धीरे ढलान आरम्भ होती है, जो १८० मीटर से भी अधिक गहराई तक जाती है। उसके बाद बड़ी–बड़ी घाटियाँ प्रारम्भ हो जाती हैं, जो अनेक टुकड़ों में बँटकर, हज़ारों मीटर की गहराई तक उतरती हैं।

अतलांत महासागर के नीचे का तल प्रायः भूतल जैसा है। कुछ स्थानों पर तो वह बिल्कुल मैदान जैसा है। लेकिन अन्य स्थलों पर ऊँचे पहाड़ों जैसा उठा हुआ है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पर्वत शृंखला महासागर के मध्य में उत्तर से दक्षिण तक जाती है। कुछ स्थलों पर तो वह सतह के ऊपर उठकर द्वीप का रूप ग्रहण कर लेती है, यथा – अजोर, अस्केनशन, त्रिस्टन, दा कुन्हा, आदि। लेकिन अधिकांश में यह पर्वतमाला, सागर की सतह से औसतन १.५ मीटर नीचे है। सबसे गहरी घाटी सतह से कोई ८ कि० मी० नीचे है।

अतिचालकता (Super Conductivity) डच भौतिक शास्त्री केमरलिंग औन्स ने सन् १९११ में पता लगाया कि परम शून्य ताप (क्रान्तिक ताप) के समीप कई धातुओं, यौगिकों, मिश्र धातुओं और अर्द्धचालकों की दिष्टधारा के लिए वैद्युत प्रतिरोधकता, असम्बद्ध ढंग से, एकाएक शून्य हो जाती है, जिसके कारण इस ताप के समीप इस प्रकार की धातुओं के छल्लों में विद्युत धारा अनन्तकाल तक बिना ह्रास के प्रवाहित हो सकती है। डॉ० ऑन्स ने इस असाधारण घटना को अतिचालकता की संज्ञा प्रदान की।

सन् १९५७ में डॉ० जॉन बार्डीन, डॉ० लिओन एन० कूपर और डॉ० जॉन आर० शाइफर ने सम्मिलित रूप से अतिचालकता की व्याख्या के लिए बी०सी०एस० सिद्धान्त जो कि अतिचालक अवस्था के अधिकांश गुणों की व्याख्या करता है, प्रस्तुत किया, जिसके लिए सन् १९७२ में इन तीनों वैज्ञानिकों को सम्मिलित रूप से भौतिकी का नोबल पुरस्कार दिया गया।

प्रायोगिक अभिमुखता : विद्युत प्रतिरोध, क्रिस्टल जालक (Crystal lattice) में परमाणुओं के तापीय कम्पनों अर्थात् जालक कम्पनों से, चालन इलेक्ट्रानों के प्रकीर्णन के कारण उत्पन्न होता है। एक शुद्ध धातु का प्रतिरोध ताप में गिरावट के साथ कम होता जाता है और अन्त में एक विशेष ताप (परम शून्य) पर लगभग शून्य हो जाता है, जिसका कारण इस ताप पर जालक कम्पनों का समाप्त होना है। माटिसेन के नियम से इसका कारण इस ताप पर जालक कम्पनों का समाप्त होना है। माटिसेन के नियम से:–

$$p=p^0+p(T0)$$

जहाँ p^0= अशुद्धियों के कारण प्रतिरोधकता तथा p(T)= प्रतिरोधकता का ताप पर निर्भर रहने वाला भाग। शुद्ध पारे के साथ प्रयोग में सन् १९११ में डा० केमरलिंग ऑन्स ने पाया कि पारे का ताप लगभग 4.2^0 K तक घटाने पर इसका वैद्युत प्रतिरोध असम्बद्ध रूप से एकाएक शून्य हो जाता है जो 4.2^0 K ताप के नीचे भी प्रभावी रूप से शून्य बना रहता है। इन असाधारण वैद्युत गुणों के कारण पारे की इस अवस्था को अतिचालक अवस्था कहा गया है। ऑन्स ने पारे में पर्याप्त अशुद्धियों को मिलाकर प्रयोग को दोहराया तो पाया कि प्रतिरोध के शून्य मान को प्राप्त करना अपद्रव्यता से प्रभावित नहीं होता।

अतिचालकता का पदार्थ के गुणों पर प्रभावः

१. **एकदिश धारा प्रतिरोध** : अतिचालक अवस्था में एकदिश धारा प्रतिरोध का असम्बद्ध रूप से पूर्ण ह्रास हो जाता है जो संभवतया पदार्थ के इलेक्ट्रानिक या परमाणु संरचना में आधारभूत परिवर्तन के कारण होता है।

२. **विशिष्ट ऊष्मा** : अतिचालक अवस्था में विशिष्ट ऊष्मा परमताप के घन के समानुपाती (KXT3) होती है जबकि साधारण अवस्था में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल परमताप के (KXT3) समानुपाती होती है।

३. **ताप वैद्युत प्रभाव :** क्रान्तिक ताप पर सभी ताप वैद्युत प्रभाव एकाएक अदृश्य (disappear) हो जाते हैं।

४. **ऊष्मा चालकता :** क्रान्तिक ताप पर अतिचालक की ऊष्मा चालकता में एकाएक परिवर्तन होता है। कुछ अतिचालकों में ताप में कमी के साथ ऊष्मा चालकता में भी कमी होती है, जबकि अन्यों में ताप में कमी के साथ ऊष्मा चालकता में वृद्धि होती है।

अतिचालकों के उपयोग : अतिचालकता अब केवल सैद्धान्तिक रुचि का विषय ही नहीं रही परन्तु इसके अनेक उपयोग जैसे अतिचालक ऊष्मा वाल्व, परिकलन यंत्रों में स्विचन तत्त्वों के रूप में क्रायोटॉनों का उपयोग, अतिचालक तेजमापी, निम्नतापी इलेक्ट्रानिकी के क्षेत्र में इनके उपयोग होने लगे हैं।

वैज्ञानिक अब ऐसे पदार्थों की खोज में लगे हैं जो कमरे के ताप पर अतिचालकता प्रदर्शित कर सकें। यदि इसमें सफलता मिली तो ऐसे अतिचालकों के उपयोग से अत्यन्त सुचारु विद्युत इंजन और जनित्र विकसित किये जा सकेंगे जिनसे इनका महत्त्व और भी अधिक बढ़ जायेगा।

अतियथार्थवाद (Surrealism)

पश्चिम का यह कला–सिद्धान्त जैसा कि संज्ञा से ही स्पष्ट है, यथार्थवाद अर्थात् जीवन की प्रत्यक्ष यथार्थता का अतिक्रमण कर यथार्थ को अति की सीमा तक ले जाने की बात कहता है। यथार्थवाद तो दृश्यमान अर्थात् बाहर दिखाई देने वाली वास्तविकता का वर्णन करता है; अतियथार्थवाद उससे आगे बढ़कर जो अदृश्यमान अर्थात् आन्तरिक यथार्थ है, उसका भी वर्णन करता है। जीवन के अति यथार्थ का यह वर्णन प्रकृतिवाद या प्राकृतवाद से भी परे है जो जिन्दगी की केवल बाहरी यथार्थता को ही नहीं, वरन् मनुष्य की प्राकृतिक प्रवृत्तियों और नैसर्गिक वृत्तियों के उद्घाटन में रुचि लेता है। अतियथार्थवाद में मनुष्य के आन्तरिक यथार्थ, उसके स्वप्नों, दिवास्वप्नों, मन की स्वच्छन्द उड़ानों, अतिरञ्जित संकल्पनाओं को अभिव्यक्ति मिलती है। फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त के इस विचार का प्रभाव कि मनुष्य का जीवन उसके अचेतन मन की अतृप्त इच्छाओं और खण्डित स्वप्नों, दिवास्वप्नों से विशेष रूप से परिचालित होता है, अतियथार्थवादी लेखकों और कलाकारों पर विशेष रूप से पड़ा है। इसीलिए अतियथार्थवादी रचनाओं में मानव जीवन की विकृतियों, मनुष्य की खण्डित इच्छाओं–आकांक्षाओं का ही उद्घाटन होता रहा है।

हर्बर्ट रीड ने अतियथार्थवाद को स्वच्छन्दतावाद का स्वाभाविक और अनिवार्य प्रतिफल कहा है। कुछ अन्य आलोचकों के अनुसार अतियथार्थवाद स्वच्छन्दतावाद का, जो कि मनोजगत् की भावनाओं, कल्पनाओं, संकल्पनाओं और स्वप्नों को अभिव्यक्त करने में रुचि लेता है, उसका अनर्गलता की सीमा तक बढ़ा हुआ चरण है। इन दोनों कला सिद्धान्तों में किसी हद तक समानता है; दोनों ही मनोजगत् के यथार्थ को भाषा देते हैं। स्वच्छन्दतावाद का उदय उस समय हुआ था जब हम वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप उत्पादन के नये–नये साधनों को लेकर एक नये संसार की ओर अग्रसर थे। अतियथार्थवाद का जन्म प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हुआ था जब पश्चिम के लोग अपने चारों ओर महानाश का दृश्य देख रहे थे; जीवनमूल्यों का जबरदस्त ह्रास हो रहा था और ज़िन्दगी सर्वथा तर्कहीन और अनर्गल दृष्टिगत हो रही थी। पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि उन्हीं त्रासद परिस्थितियों में फ्रायड, हीगल और मार्क्स के विचारों से प्रेरणा लेकर इस अतियथार्थवाद के कला दर्शन का जन्म हुआ।

अतियथार्थवाद के इस आन्दोलन का जनक फ्रान्स के 'दादावादी' आन्दोलन को कहा गया है, जिसकी शुरूआत सन् १९१६ में ट्रिस्टन ज़ारा ने की थी। यह 'दादा' संज्ञा वैसे ही उठा ली गयी थी और उसे आचार के सभी प्रतिमानों या अभिरुचियों के विनाश के लिए खड़ा कर दिया गया था। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आन्दोलन के क्रिया–कलाप में साहित्यिक चेतना का व्यापक रूप में अभाव रहता था; उसकी सभाएँ, उसके भाषण, नीचे लटकते शिरस्त्राणों, घण्टियों की घनघनाहट के बीच और त्रासजन्य कक्षों में दिये जाते थे। इस विचार धारा के लोगों के साथ रहकर, भविष्य के अनेक अतियथार्थवादियों में कला और समाज के लिए तिरस्कार का भाव उत्पन्न हुआ था। फिर भी उन्हें, नये जीवन मूल्यों और कला के नये विधान के खोज की इच्छा थी, जिनके प्रति वे निष्ठा के साथ अपने को समर्पित कर सकें।

अतियथार्थवाद के जीवन दर्शन का निर्माण एक तो फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त को लेकर हुआ था जिसने अचेतन मन को मनुष्य के समस्त आचार–विचार का उत्प्रेरक कहा है। हीगल से विनाश और निर्माण के सामञ्जस्य की विचारधारा ग्रहण की गयी थी। मार्क्स से जहाँ तत्कालीन जीवनमूल्यों के प्रति घृणा की भावना सतर्क रूप में ग्रहण की गयी थी, वहाँ भविष्य के लिए एक राजनीतिक कार्ययोजना भी प्राप्त हुई थी।

विद्वानों का कहना है कि मार्क्सवाद ने नये जीवनमूल्यों के साथ स्वसंचालित लेखन की एक नयी कला को भी संप्रेरित किया था। सन् १९२० में आंद्रे ब्रेटन ने मनोविज्ञान का प्रशिक्षण लेने के अनन्तर फिलिप सोऊपॉल के साथ सम्मोहन की अवस्था में लेखन के प्रयोगों की परम्परा चलायी थी। इन दोनों ने सहयोगी संरचना के भी प्रयास किये थे। अतियथार्थवाद का आरम्भ उनकी इन्हीं रचनाओं से माना जाता है। ब्रेटन ने सन् १९२४ में इस आन्दोलन का पहला घोषणा–पत्र भी प्रकाशित किया था। आगे चलकर इस आन्दोलन की कलादृष्टि की कुछ विस्तृत व्याख्या हर्बर्ट रीड ने प्रस्तुत की।

ब्रेटन ने स्वचालित लेखन की जिस परम्परा का सूत्रपात किया था उसे लेकर अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गयीं। हर्बर्ट रीड ने लिखा है कि कुछ लोगों को भगवद् प्रेरणा का भान होता है और वे उसी को लेकर लिखते हैं। कुछ लोगों ने प्लैनचेट का प्रयोग करके दिवंगत आत्माओं के सन्देशों को लिपिबद्ध करने की कोशिश भी की। उनका लेखन सम्मोहन की अवस्था का माना जाता है। अतियथार्थवाद के स्वचालित लेखन में मन अनूभूति से परिपूर्ण होकर तत्काल एवं नैसर्गिक रूप में लेखन अथवा अन्य किसी प्रकार की कला की सर्जना में तत्पर हो उठता है। इस आन्दोलन के प्रवर्त्तक ब्रेटन ने स्वचालित लेखन को सम्मोहन से उद्भूत बताया था, लेकिन हर्बर्ट रीड उसे वर्ड्सवर्थ की भाँति मन के भावावेगों की सहज अभिव्यक्ति बताते हैं।

अतियथार्थवाद के आन्दोलन का पहला चरण सन् १९२० से २४ तक का माना जाता है। इस काल में एक तो उसकी कला–दृष्टि का निर्माण हुआ था; और दूसरे उपचेतन के प्रचुर प्रयोग के लिए अनेक प्रकार के रचनाशिल्प विकसित हुए थे। राजनीतिक स्तर पर एक सकारात्मक दृष्टिकोण की खोज का प्रयास हुआ था और योजनाबद्ध रूप में कार्य करने का निश्चय हुआ था।

अतियथार्थवाद के विकास का दूसरा चरण सन् १९२४–२५ से आरम्भ हुआ और सन् १९३० तक चलता रहा। इस काल में अतियथार्थवादी लेखकों और कलाकारों ने मार्क्सवाद की प्रतिष्ठा के लिए तत्पर संस्था 'कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल' के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया था। उनका जीवन–दर्शन तो मार्क्सवादी हो गया था, लेकिन लेखन में वही स्वचालन की पद्धति चलती रही थी।

सन् १९३० से तीसरे चरण का आरम्भ होता है जब इस आन्दोलन से सम्बद्ध कवियों, नाट्यकारों तथा अन्य कलाकारों ने अपने को मार्क्सवाद के राजनीतिक प्रभाव से मुक्त कर लिया था। उनके मन में तब स्वदेशानुराग, धर्म और परिवार के संस्थानों के प्रति तिरस्कार की भावना उत्पन्न हो गयी थी। इस आन्दोलन की कला–दृष्टि में भी विस्तार हुआ था और स्वचालित लेखन के साथ सचेतन लेखन भी चल पड़ा था। यह विस्तार तीन सूत्रों के लेखन में प्रयोग को लेकर संभव हुआ था : एक सविभ्रम पद्धति, दूसरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुगत सांयोगिकता और तीसरे स्याह चिड़चिड़ाहट।

पहले सूत्र **सविभ्रम लेखन** को अपशक्ति की संरचना भी कहा गया है : उसमें वास्तविकता की एक नयी दृष्टि की संरचना के लिए कलाकृति के कुछ रूपों में उन्माद या विक्षिप्तता को भी समाहित किया जाता है। उसके साथ जब वस्तुगत सांयोगिकता या आकस्मिकता जोड़ी जाती थी, तो जीवन के जिस स्वरूप का चित्रण किया जाता था, उसके बाहरी और भीतरी दोनों ही रूपों में आकस्मिकता अवतरित की जाती थी, जो कारणों के अभाव से मिलने वाले संकेतों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होती थी। तीसरे सूत्र 'ब्लैक वाइल' या स्याह चिड़चिड़ाहट में, घोर निराशा या गम्भीर त्रासद अनुभूति को लेकर उत्पन्न होती है; वह अतियथार्थवादी रचनाओं में क्रूर भावनाओं को लेकर विडम्बनाओं की सृष्टि करती है।

अतियथार्थवाद; साहित्य जगत् के इस आन्दोलन का आरम्भ फ्रांस में हुआ था। आंद्रे ब्रेतन ने फिलिप्स और पॉल के साथ सम्मोहन की अवस्था में स्वचालित लेखन से उसकी शुरूआत की थी। प्रारम्भ में, 'लितरे त्यारे' इसका मुखपत्र बना था। सन् १६२४ में 'रिवॉल्यूशन सुररियलिस्ते' का प्रकाशन हुआ और वह सन् १६३० तक चलता रहा। सन् १६२८ में इस आन्दोलन के कलाकारों ने, मार्तिन चाकोर्स के उस ग्रन्थ की पचासवीं जयन्ती मनायी, जिसमें उन्होंने उन्माद के मनोविज्ञान का अध्ययन किया था। उसके बाद की रचनाओं में हम उन्माद के प्रभाव से उत्पन्न मानसिक विकृतियों का चित्रण, इस आन्दोलन की रचनाओं में विशेष रूप से देखते हैं। उस काल के लेखकों में लुई अरागो, जार्जी ह्यूने, रेने कैकल, पॉल, एलूआर के नाम लिये जाते हैं। धीरे–धीरे यह आन्दोलन फ्रांस से निकलकर, अन्य यूरोपीय देशों में भी अपना प्रभाव उत्पन्न कर रहा था।

सन् १६३६ में लन्दन में अतियथार्थवादी कलाकारों की रचनाओं की एक बड़ी प्रदर्शनी हुई थी। प्रसिद्ध सौन्दर्यवादी हर्बर्ट रीड, ने जो वर्षों पहले से इस आन्दोलन के समर्थक रहे थे, उस प्रदर्शनी का उद्घाटन किया था। उन्होंने अपने भाषण में अतियथार्थवादी कलादृष्टि की विवेचना की थी और उसके ऊपर जो आरोप लगाये गये थे, उनका उत्तर भी दिया था। इस आयोजन के बाद अतियथार्थवादी विचारधारा का प्रभाव, संयुक्त राज्य अमेरिका की साहित्यिक रचनाओं में भी दिखाई देने लगा था। कालान्तर में वह दक्षिण अमेरिका में भी पहुँच गया।

स्पष्ट है कि इस कलादृष्टि में निरन्तर परिवर्तन उपस्थित होते रहे हैं। प्रयोगशीलता की भावना, इस विचारधारा को लेकर पाँचवें, छठे तथा सातवें दशक की रचनाओं में हम विशेष रूप से देखते हैं। इस सन्दर्भ में सन् १६४७ में प्रकाशित रेमण्ड चूएनीएयू की रचना 'एक्सरसाइज़ेज़ इन स्टाइल' (शैली के प्रयोग) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने दस सॉनेट लिखे थे, जिनकी एक–एक पंक्ति की उन्होंने अलग–अलग पट्टियाँ बनायी थीं, जिन्हें क्रमचय और संचय की पद्धति से रखकर, बहुत से रूप प्रदान किये गये थे; और उन्हें १६५ अलग–अलग शैलियों में व्यवस्थित किया गया था। कुछ–कुछ इसी प्रकार की शैली का प्रयोग कालान्तर में मार्क सपोटा ने पृष्ठों को आगे–पीछे करके रचे गये उपन्यास में भी किया था।

अतियथार्थवाद की प्रयोगशीलता आगे चलकर रेमण्ड राउसेल की रचना 'इम्प्रेशन्स द अफ्रीक्यू' (१६६३) में दिखती है। उसमें उन्होंने कल्पना–विलास और मन की स्वच्छन्द उड़ानों को वास्तविक और सामान्य यथार्थ बनाकर उपस्थित किया था।

अतलांतिस एक काल्पनिक द्वीप, जिसके सम्बन्ध में अनेक मिथक आख्यान हैं। यूनान के प्लेटो तथा प्लीनी ने इसके सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। प्लीनी का कहना है कि उन्होंने इसके विषय में अपने पूर्वज सोलोन से सुना था। सोलोन ने उसकी कहानी, मिस्र के पुरोहितों से सुनी थी। सोलोन के जन्म के कोई ६००० वर्ष पहले अतलांतिस एक बड़ा ही प्रभावपूर्ण राज्य बताया जाता है।

प्लेटो ने लिखा है कि अतलांतिस वस्तुतः एक दूसरे के भीतर अनेक द्वीपों का समूह था। मध्य में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक द्वीप था, जिसके चारों ओर मुद्रिकाकार जल था। उसके बाद मुद्रिकाकार थल भाग, और फिर चारों ओर जल और फिर उसके बाद फिर थल भाग। कुल मिलाकर थल और जल की ६–६ मुद्रिकाएँ थीं। मिथक आख्यान है कि अतलांतिस यूनान के जल देवता नेपच्यून को मिला था और वहाँ वह अपनी प्रिया क्लीटो के साथ रहता था। उन्हें पाँच बार जुड़वाँ पुत्र अर्थात् कुल दस पुत्र मिले थे। एक पुत्र का नाम एटलस था और यह सबसे बीच के द्वीप का राजा बना। शेष नौ अन्य मुद्रिकाकार नौ भूमियों के शासक बनें। उन्हीं से फिर उन द्वीपों के अन्य शासकों की परम्परा चली।

उन सभी द्वीपों में बहुत सारे फलों के और बिना फल के वृक्ष थे। ताँबा भी पर्याप्त मात्रा में पाया जाता था। सभी द्वीपों में बड़े–बड़े बन्दरगाह थे, जिनसे अतलांत महासागर के तट के देशों के साथ व्यापार होता था। व्यावसायिक दृष्टि से केन्द्रीय द्वीप तक पहुँचने के लिए सभी द्वीपों में जल–मार्ग बनाये गये थे। कुछ द्वीपों को पुल बनाकर भी एक दूसरे से जोड़ा गया था।

अतलांतिस शहर के भवन लाल और काले पत्थरों से बनाये गये थे, जो उसी द्वीप में मिलते थे। उनकी छतें लाल ताँबे से बनाई गयी थीं, जो सूर्य की किरणों से चमक उठती थीं। सबसे बीच का द्वीप अपने दो, शानदार मंदिरों के साथ स्वप्नों से परे धन–धान्य से सम्पन्न था। एक मन्दिर नेपच्यून और क्लीटो को समर्पित था और उसके चारों ओर सोने की दीवाल थी। दूसरे मन्दिर में केवल नेपच्यून की प्रतिमा थी और उसकी दीवालें चाँदी की थीं, शिखर चाँदी के थे और छत पर हाथी दाँत, ताँबा, चाँदी और सोना जड़े हुए थे। नेपच्यून की एक बहुत बड़ी मूर्त्ति भी थी; छह पंख वाले घोड़ों को हाँकते हुए। द्वीप की भूमि में चारों ओर दौड़ने का मार्ग भी था।

अतलांतिस को लेकर इधर एक नया विचार बना है कि वह द्वीप वस्तुतः एजियन सागर में क्रीट के उत्तर में था : आज उसे सेन्तोरिन द्वीप कहते हैं। ईसा के लगभग १५०० वर्ष पहले उस पर बड़ा ही भयंकर ज्वालामुखी का विस्फोट हुआ था। अगर सोलोन से उस द्वीप का समय बताने में भूल न हुई हो तो अतलांतिस पृथ्वी के कांस्य युग में पास के क्रीट के समान एक द्वीप रहा होगा।

अति–सूक्ष्म रसायन

(अल्ट्रा–माइक्रो केमिस्ट्री) उन रासायनिक विधियों को कहते हैं जिनके द्वारा रासायनिक विश्लेषण तथा अन्य क्रियाएँ पदार्थों की अति सूक्ष्म मात्रा से सम्पन्न की जा सकती हैं। साधारण रासायनिक विश्लेषण के लिए पदार्थ की १/१० ग्राम मात्रा पर्याप्त मानी जाती है। सूक्ष्म रसायन में द्रव्य के १/१०० ग्राम से काम चल जाता है। अतिसूक्ष्म रसायन की शरण तब लेनी पड़ती है जब पदार्थ का केवल माइक्रोग्राम (१/१०,००,००० ग्राम) उपलब्ध होता है।

अतिसूक्ष्म रसायन का शुभारम्भ सन् १६३० में कोपेनहेगन की कार्ल्सबुर्ग प्रयोगशाला में हुआ था। वहाँ के० लिंडरस्ट्रांग लैंग तथा सहयोगियों ने इसका उपयोग एनजाइमों, जीवप्रेरकों और पौधों तथा पशुओं से प्राप्त पदार्थों की अतिसूक्ष्म मात्रा के विश्लेषण में किया था। अतिसूक्ष्म रसायन में मुख्यतः निम्नलिखित विधियों का उपयोग किया जाता है :–

(अ) **द्रवों की अनुभावन विधि :** अति सूक्ष्म रसायन में सर्वप्रथम, आयतनों के मापन पर आधारित विधियों का ही उपयोग किया गया। इन क्रियाओं में प्रयोग किये जाने वाले सभी उपकरण, जैसे परीक्षण नलियाँ, बीकर, पिपेट तथा ब्यूरेट, केश–नलिकाओं (कपिलरीज) से ही बनाये जाते हैं और इनकी सहायता से (10^{-4}) लेकर (10^{-8}) लिटर तक के आयतन, सुगमता से नापे जा सकते हैं। इन विधियों का सबसे पहले जीवरसायन में उपयोग किया गया। उदाहरणार्थ प्रायः रोगग्रस्त व्यक्ति के रक्त का परीक्षण एक सूक्ष्म बूँद से ही करना पड़ता है। इसके लिए रक्त के सूक्ष्म आयतन को नापने, उससे प्रोटीन पृथक् करके उबालने तथा अकार्बनिक तत्त्वों को पृथक् करने की समस्त पद्धतियों को अतिसूक्ष्म परिमाण में ही करना पड़ता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ब) **गैसमितीय विधियाँ** : इन विधियों का उपयोग अतिसूक्ष्म रसायन में मुख्यतः जीवकोषों या सूक्ष्मजीवों की श्वासगति या उससे सम्बन्धित क्रियाओं के अध्ययन में होता है। कर्क और कनिंघम के बाद, शोलेंदर तथा उनके सहयोगियों ने द्वितीय विश्वयुद्ध के समय इस विधि को इतना उन्नत किया कि अब गैसीय मिश्रणों के माइक्रो–लिटर आयतनों को भी पूर्णतया विश्लेषित करना संभव हो गया है।

(स) **भारमापन विधियाँ** : बीसवीं शताब्दी में कर्क, रोडरिक क्रेग तथा गुलबर्ग नामक वैज्ञानिकों द्वारा, १९४२ में क्वार्ट्ज तुला की खोज से इस ओर विशेष प्रगति हुई है। इस नयी तुला की सहायता से ०.००५ माइक्रोग्राम के अन्तर को भी सुगमता से नापा जा सकता है।

(द) **अन्य विधियाँ** : अतिसूक्ष्म मात्राओं के साथ कार्य करने के लिए अन्य सभी कार्यविधियों में परिवर्तन आवश्यक हो जाता है, उदाहरण के लिए छानने के स्थान पर अपकेन्द्रण (सेन्ट्रीफ्यूगेशन) विधि का उपयोग किया जाता है। प्रायः सम्पूर्ण रासायनिक क्रिया, सूक्ष्मदर्शी के ही नीचे सम्पन्न की जाती है, जिससे सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तन भी देखा जा सकता है। इन सूक्ष्म मात्राओं के लिए उपयोगी विश्लेषण पद्धतियों में, वर्णक्रमीय (स्पेक्ट्रॉस्कापीय) पद्धतियाँ विशेषतया उल्लेखनीय हैं और आधुनिक रेडियो रसायन की पद्धितियों ने तो विश्लेषण की इस चरम सीमा को सहस्रों गुना सूक्ष्म कर दिया है। आज प्रयोगशाला में संश्लेषित नवीन तत्त्वों के कुछ इने–गिने परमाणुओं को इनके द्वारा पहचाना ही नहीं वरन् उनके तथा यौगिकों के गुणों का अध्ययन भी, इन सूक्ष्म मात्राओं से संभव हो रहा है, भले ही पदार्थ की कुल उपलब्ध मात्रा 10^{-20} ग्राम के लगभग ही हो।

अत्रि एक ऋषि जो अनेक वैदिक मंत्रों के द्रष्टा कहे गये हैं। उनकी गणना प्रजापतियों में होती है; और सप्तऋषियों में भी उनका नाम आता है। उन्होंने एक संहिता भी लिखी थी, जो उन्हीं के नाम से जानी जाती है। राम के समय में उनका उल्लेख मिलता है। चित्रकूट में उनका आश्रम था, जो आज भी उनकी पत्नी अनसूया के नाम से जाना जाता है। पुराणों में इन्हें सोम, दत्तात्रेय और दुर्वासा का पिता कहा गया है। भरत जब राम को अयोध्या वापस ले जाने के लिए चित्रकूट आये थे और उसे लेकर जो वाद–विवाद हुआ था, उस सभा में भी वे उपस्थित थे। तुलसीदास जी ने 'मानस' में इन्हें बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया है।

अथर्ववेद चार वेदों में ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद के साथ अथर्ववेद है। इस वेद को अथर्वांगिरस वेद, भृग्वांगिरस वेद अथवा ब्रह्मवेद भी कहा जाता है। इस वेद के अधिकतर सूक्तों के ऋषि अथर्वा हैं, जो अंगिरावंशीय थे। भृगु ऋषि अंगिरा ऋषि के शिष्य थे।

प्राचीन काल में अथर्ववेद की ९ शाखाएँ प्रचलित थीं, किन्तु अब केवल दो शाखाओं के ही ग्रन्थ मिलते हैं– शौनकीय तथा पैप्पलाद। शौनकीय शाखा में बीस काण्ड हैं, जिनमें ६३ सूक्त, १११ अनुवाक् तथा कुल ५९८७ मंत्र हैं। पैप्पलाद शाखा में भी २० खण्ड हैं। यह शारदा लिपि में है। शौनकीय शाखा से इस शाखा में कतिपय पाठ–भेद हैं तथा दो अंश बिल्कुल भिन्न हैं।

शौनकीय शाखा का अथर्ववेद चार भागों में है। प्रथम भाग में १ से ६ काण्ड तक, द्वितीय भाग में ८ से १२ काण्ड तक, तृतीय भाग में १३ से १८ काण्ड तक तथा चतुर्थ में १९ व २० काण्ड हैं। अथर्ववेद के वर्ण्य विषयों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इस वेद के मंत्र तीन प्रमुख विषयों का प्रतिपादन करते हैं– (१) भेषज– रोग दूर करने वाली औषधियों का प्रतिपादन, (२) अमृत तथा मृत्यु को दूर करने के साधन, तथा (३) सर्वश्रेष्ठ ज्ञान का प्रतिपादन। प्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्य ने अथर्ववेद में वर्ण्य विषयों को १४ विभागों में बाँटा है। (१) यज्ञानुष्ठान एवं संस्कार, (२) पौष्टिक कर्म, (३) अनिष्ट निवारण एवं शान्ति कर्म, (४) समृद्धि प्राप्ति के उपाय, (५) राजव्यवस्था,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६) अभ्युदय एवं अभीष्ट सिद्धि, (७) शिक्षा, (८) सामंजस्य अथवा ऐक्य–भाव, (६) भैषज्य, (१०) आभिचारिक प्रयोग, (११) स्त्री कल्याण, (१२) गृह–सज्जा, (१४) प्रायश्चित विधान, तथा (१४) भविष्य कथन। इन विषयों के अतिरिक्त ग्राम, नगर एवं कृषि का संवर्द्धन, क्षत्रबल, सैन्य परिरक्षण, भेदनीति, जय–पराजय, राजा की स्थापना, वृष्टि प्रयोग, वाणिज्य कर्म, ऋण विमोचन, आयुष्य कर्म इत्यादि, अनेक अवान्तर विषयों पर भी इस वेद में अनेक मंत्र हैं। वास्तव में यह वेद समग्रता से जीवन–यापन करने हेतु बाधाओं को निरस्त करने, रोगों और पापों से रक्षा प्राप्त करने तथा ब्रक्त–ज्ञान ब्रह्म, सुख–शान्तिमय जीवन की परिकल्पना संजोये हुए है।

भारत के प्राचीन चिकित्सा–विज्ञान आयुर्वेद का स्रोत अथर्ववेद ही है। इसमें अनेक प्रकार के रोगों के निवारण के लिए औषधियों एवं वनस्पतियों का उल्लेख है। अनेक मणियों का भी प्रयोग बताया गया है, जिनके प्राप्त करने, तैयार करने तथा धारण करने की विधियाँ भी बतायी गयी हैं। कुछ मणियों का निर्माण, वनस्पतियों एवं औषधियों से भी किये जाने का उल्लेख है। जिस मनोवैज्ञानिक ढंग से विश्वास पूर्वक अनेक दुःसाध्य रोगों जैसे यक्ष्मा, पीलिया, कुष्ठ, आनुवांशिक, कृमिजनित तथा विभिन्न प्रकार के ज्वरों इत्यादि के उपचार का वर्णन इस वेद के मंत्रों में है, वह अद्भुत है। दुर्भाग्य की बात है कि जिन औषधियों एवं मणियों के नाम इस वेद में दिये हुए हैं, उनमें से अधिकतर का अब ठीक से पता नहीं चलता। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि आयुर्वेद का विकास अथर्ववेद के इंगित भेषज्य से हुआ। अग्नि, जल, वायु, सूर्य से रोगों के उपचार का वर्णन सशक्त प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति का द्योतक है।

अथर्ववेद में बाधाओं से बचने तथा दुष्टों के दमन के लिए कुछ रहस्यात्मक प्रयोगों का भी उल्लेख है, जिसे विदेशी लेखकों ने जादू–टोना समझा है। किन्तु वास्तव में वह प्राण तथा मंत्र की सूक्ष्म–धाराओं द्वारा रोगों की चिकित्सा एवं विषम परिस्थितियों से निवृत्ति के लिए मेस्मेरिज़्म, हिप्नाटिज़्म अथवा प्राणिक हीलिंग जैसे उपचारों के सदृश है। इस प्रकार के अनेक मंत्रों का अर्थ अब स्पष्ट भी नहीं हो रहा है। अतः उनमें इंगित प्रक्रिया दुरूह हो गयी है। फिर भी इस वेद के अनेकों मंत्र, आत्म–विश्वास उत्पन्न करके जीवन को रोग मुक्त तथा भय–मुक्त बनाने की प्रेरणा देते हैं।

अथर्ववेद के दो ब्राह्मण ग्रन्थ हैं– गोपथ तथा पिप्पलाद। उपलब्ध गोपथ ब्राह्मण दो भागों में है। पहले इसमें एक सौ प्रापाठक थे, किन्तु अब केवल ११ प्रापाठक– पाँच पूर्व भाग में तथा छह उत्तर भाग में मिलते हैं। अथर्ववेद से सम्बद्ध ३२ उपनिषद् बताये जाते हैं, जिनमें अधिक प्रसिद्ध एवं प्राचीन उपनिषद् प्रश्न, मुण्डक तथा माण्डूक्य हैं।

छांदोग्य उपनिषद् के अनुसार इतिहास एवं पुराण अथर्ववेद के पुष्प हैं, जिनसे यश, तेज, इन्द्रियशक्ति, स्वास्थ्य एवं समृद्धि प्राप्त होती है। अथर्ववेद के आत्मविद्या के सूक्तों में आध्यात्मिक ज्ञान की सूक्ष्म विवेचना है। वास्तव में इस वेद में पदार्थ विज्ञान, मनोविज्ञान एवं चेतना विज्ञान का अनूठा सामंजस्य है।

अद्भुत रामायण एक बड़े ही विलक्षण प्रसंग को लेकर संस्कृत में लिखित एक राम–काव्य। कुछ लोग इसे महर्षि वाल्मीकि की ही रचना मानते हैं; लेकिन इसकी शब्दावली, भाषिक संरचना और कथा–प्रसंग, इसे किसी परवर्ती कवि की रचना सिद्ध करते हैं। इस काव्य ग्रन्थ की रामकथा, राज्याभिषेक से आरम्भ होती है। उस सुअवसर पर जब चारण, बन्दीजन आदि रावण पर विजय के सन्दर्भ में राम के शौर्य की प्रशंसा कर रहे हैं, तो सीताजी के मुख पर मुस्कान की रेखाएँ प्रकट हो जाती हैं। राम जब उनसे उनकी मुस्कान का कारण पूछते हैं, तो वे कहती हैं, 'आपने दशानन का वध तो कर दिया, लेकिन उसका भाई सहस्रानन तो अभी जीवित है। जब तक आप उसका वध नहीं कर लेते, तब तक आपके साहस और शौर्य की यह सराहना अनर्गल है।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राम यह सुनकर अपनी सेना को तैयार होने के लिए कहते हैं; और फिर विभीषण, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, हनुमान्‌जी आदि को साथ लेकर लंका की ओर चल पड़ते हैं। इस अभियान में सीता जी उनके साथ जाती हैं। राम जब लंका पहुँचते हैं, तो सहस्रानन मात्र अपने एक ही बाण से समस्त सेना को अयोध्या की ओर भागने के लिए मजबूर कर देता है। राम, अयोध्या तो वापस नहीं जाते तो लेकिन अचेत होकर घरती पर गिर पड़ते हैं। सीता तब अपनी आत्मशक्ति को जाग्रत करती हैं, काली का रूप धारण करती हैं; और फिर युद्ध में सहस्रानन को पराजित कर उसका वध कर देती हैं।

'अद्‌भुत रामायण' के इस विलक्षण आख्यान को लेकर हिन्दी में अनेक कथा–काव्य लिखे गये : उन्हें या तो 'अद्‌भुत रामायण' अथवा 'जानकी–विजय' का नाम दिया गया। सर्वप्रथम सन् १७७३ में पं० शिवप्रसाद ने इस विचित्र प्रसंग को लेकर एक कथा–काव्य की रचना की थी। बाद में सन् १७८६ में रामभट्ट ने दूसरा काव्य–ग्रन्थ लिखा। उसके कुछ वर्षों बाद बेनीराम, सन् १८०० में भवानी लाल, १८३४ में नवल सिंह और फिर उसी वर्ष बल्देव राज ने इस कथानक को लेकर काव्य–रचनाएँ उपस्थित कीं। जानकी के अतुल पराक्रम का अभिनन्दन करने वाले इन कथाकाव्यों को देखकर लगता है कि ये कवि राम से कहीं अधिक सीता के भक्त हैं, इसीलिए उन्होंने उनके शौर्य और पराक्रम का अभिनन्दन किया है।

अदन दक्षिणी यमन की राजधानी और महत्त्वपूर्ण औद्योगिक नगर। यह १२.५०° उत्तरी अक्षांश तथा ४५.०३° पूर्वी देशान्तर पर स्थित है। यह अदन की खाड़ी के तट पर बसा है, जो पूर्व में हिन्द–महासागर और पश्चिम में लाल सागर को छूती है। सन् १८३६ में अंग्रेजों ने इस पर, अधिकार कर लिया था। सन् १८६६ में स्वेज़ नहर का मार्ग बन जाने पर, यह हिन्दुस्तान जाने के लिए जहाजों में कोयला लेने का महत्त्वपूर्ण स्टेशन बन गया था। सन् १९६३ में यह सऊदी अरेबिया के संघ राज्य का भाग बन गया था। उसके बाद कई वर्षों तक वह परस्पर विरोधी जातियों का युद्ध क्षेत्र बना रहा। सन् १९६८ में यह दक्षिण यमन के स्वतंत्र गणराज्य की राजधानी बन गया। सन् १९९० में उत्तरी और दक्षिणी यमनों के मिल जाने पर यह दोनों की आर्थिक राजधानी बन गया। सन् १९६७–७५ के बीच, इस क्षेत्र में युद्ध के कारण, स्वेज़ नहर बन्द हो जाने पर उसे बड़ी आर्थिक हानि उठानी पड़ी। अब वह तेल के परिशोधन का बहुत बड़ा केन्द्र है; लेकिन सर्वाधिक अर्थ–लाभ इसे बड़े ही व्यस्त बन्दरगाह से होता है। इस नगर की जनसंख्या छह लाख के ऊपर है।

अदरक संस्कृत, आर्द्रक। औषधि तथा मसाले के रूप में प्रयोग में आने वाली बारहमासी वनस्पति। इसका पौधा सरकण्डे की तरह करीब एक मीटर ऊँचा होता है। पत्तियाँ एक इंच चौड़ी और छह से बारह इंच तक लम्बी होती हैं। इसके फूल छोटे सघन और कोणाकार होते हैं। रंग कुछ हरा पीला, बीच में लम्बी जीभ, जिसमें बैंगनी चित्तियाँ होती हैं और किनारे पीले। इसमें कोई फल नहीं होता। नीचे जमीन में जड़ों का पुंज होता है। ऊपर का भाग सूख जाने पर उसे ही निकाला जाता है और फिर खाने–पीने की चीजों को सुस्वादु बनाने तथा अनेक प्रकार के औषधियों के निर्माण में प्रयोग में आता है।

अदरक ज़िंज़ीवरेशी कुल का पौधा है। इसका वानस्पतिक नाम ज़िन्नज़ीबर आफ़ी सिनेल है। यह मूलतः तो उष्ण तथा शीतोष्ण कटिबन्धों के क्षेत्रों का पौधा है, लेकिन अब इसे अन्य भौगोलिक क्षेत्रों में भी उगाया जाने लगा है। मूलतः यह हिन्द–चीन, मलाया, भारत, चीन, जापान तथा प्रशान्त महासागर के द्वीपों की उपज है; लेकिन अब इसकी अनेक प्रकार की उपयोगिता देखकर इसे अन्य भू–भागों में भी उत्पन्न किया जाने लगा है। हमारे देश में यह कुमायूँ और गढ़वाल के प्रदेशों, सिरमौर, पंजाब, दार्जिलिंग, बंगाल तथा तमिलनाडु में विशेष रूप से उगाया जाता है।

अदरक का प्रयोग हम विभिन्न प्रकार के व्यंजनों में मसाले के रूप में तो करते ही हैं, आयुर्वेद में इसके

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोगों से अनेक रोगों का उपचार बताया गया है। उसे विशेष रूप से रक्त–शोधक और ज्वर–नाशक, शीत–नाशक, पित्त–नाशक, श्वासहर माना गया है। उसे पीसकर लगाने से सूजन भी कम होती है। अग्निमांद्य, अजीर्ण, कोष्ठबद्धता, उदरशूल, कामला, अर्श आदि में इसका विशेष रूप से प्रयोग होता है। बाजीकारक योगों में इसका चूर्ण बनाकर शुण्ठीपाक बनाते हैं। उष्ण एवं तीक्ष्ण होने के कारण पथरी, रक्तपित्त, व्रण आदि में इसका प्रयोग वर्जित है। इसी दृष्टि से गर्मी के दिनों में इसका प्रयोग न करने की सलाह दी जाती है।

अदरक का प्रयोग ज्वर, श्वास आदि में उसका रस निकालकर और उसमें सम भाग में पान का रस मिलाकर शहद के साथ दिया जाता है। पाचन की व्यवस्था को सुचारू रूप में लाने के लिए, हरी अदरक को छोटे–छोटे टुकड़ों में काटकर और फिर उसे नींबू के रस में भिगोकर लिया जाता है। इस प्रयोग से अदरक का रंग हल्का गुलाबी हो जाता है, और उसकी उपचार की शक्ति कई गुना बढ़ जाती है। भूख कम लगने, पेट में अफारा होने तथा गैस बनने पर नींबू के रस में डूबे अदरक के टुकड़ों को भोजन के पूर्व चबाने से लाभ होता है। इस प्रकार से कण्ठ का बलगम तथा पेट एवं आँतों में जमा विजातीय तत्त्व भी बाहर निकल जाते हैं।

आयुर्वेद में अदरक के सूखे रूप सोंठ को अनेक रूपों में उपयोगी माना गया है। सामान्य शारीरिक विकारों को दूर करने के लिए सोंठ के लड्डू बनाकर उपयोग किया जाता है। सोंठ, पीपल और कालीमिर्च को मिलाकर त्रिकुटी नाम की औषधि बनती है, जिसका उपयोग अनेक रोगों के उपचार के लिए किया जाता है।

पाश्चात्य देशों में अदरक से एक विशेष प्रकार का पेय बनाया जाता है जिसे जिंजर कहते हैं। इस पेय का इतना प्रचलन है कि अदरक को ही वहाँ जिंजर कहा जाने लगा है। इस पेय जिंजर का प्रयोग हमारे यहाँ भी होने लगा है। सूप बनाने के लिए २० ग्राम अदरक को अच्छी तरह छीलकर, २०० ग्राम पानी में खौलाया जाता है; और फिर दो–तीन बार उबालकर उसमें नींबू का रस निचोड़कर, अपनी रुचि के अनुसार काला नमक तथा कालीमिर्च मिलाकर चाय की तरह गर्म पानी मिलाकर पिया जाता है। अदरक के काढ़े के साथ, थोड़ी–सी अजवाइन और सौंफ मिला देने से, उसकी औपचारिक शक्ति और बढ़ जाती है। अदरक को पीसकर और उसकी पिट्ठी को दूध में पकाकर, हलुवा भी बनाया जाता है। उसे खाने से जुकाम, खाँसी और दमा में लाभ होता है। इस हलवे के प्रयोग से पेट के कीड़े मर जाते हैं। अदरक के हरे तथा सूखे रूपों के प्रयोग से और भी न जाने कितने रोगों का उपचार माना गया है। उसकी इसी उपयोगिता को देखकर, अफ्रीका, उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका, पश्चिमी द्वीप समूहों में भी इसकी खेती विशेष रूप से होने लगी है। ज़माइका और प्यूर्टोरिको की अदरक सबसे अच्छी मानी जाती है, लेकिन सूखी अदरक चीन की सबसे अच्छी मानी गयी है।

अदालत मूलतः अरबी भाषा का शब्द है और उसके स्थान पर हिन्दी भाषा में, संस्कृत परम्परा के न्यायालय शब्द का प्रयोग करते है। कभी–कभी अदालत के स्थान पर कचहरी शब्द का भी प्रयोग कर दिया जाता हैं; लेकिन वास्तव में कचहरी संज्ञा उस कार्यालय परिसर की है, जहाँ जिलाधिकारी और उनके अन्तर्गत कार्य करने वाले विभिन्न विभागों के दफ्तर होते हैं। उस भवन को जहाँ न्याय की व्यवस्था होती है, न्यायालय या अदालत कहते हैं।

अदालतें सामान्य रूप में दो प्रकार की मानी गयी हैं; एक दीवानी और दूसरी फौजदारी। इन नामों से ही स्पष्ट है अस्त्र–शस्त्रों के माध्यम से लड़ाई–झगड़े तथा अपराधों के मामले फौजदारी अदालत और शेष दीवानी अदालत में निपटाये जाते हैं। ये दोनों प्रकार की अदालतें वस्तुतः मुग़ल–काल की 'सदर दीवानी अदालत' और 'सदर निज़ाम–ए–अदालत' की परम्परा में आती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज की भारतीय न्याय–व्यवस्था वस्तुतः अंग्रेज शासकों की देन है। सन् १८५७ के स्वाधीनता–संग्राम के विफल होने पर, जब इंग्लैण्ड की क्वीन विक्टोरिया ने हमारे देश का शासन–सूत्र अपने हाथ में लिया था, तबसे यही व्यवस्था चली आ रही है। जिला–न्यायालय में मुंसिफ, नागर न्यायाधीश (सिविल–जज) और फिर जिला–न्यायाधीश की व्यवस्था होती है। कभी–कभी मुंसिफ एक से अधिक होते हैं, इसी प्रकार नागर न्यायाधीश की संख्या भी अधिक हो जाती है। इन न्यायालयों के अतिरिक्त कचहरी के परिसर में मैजिस्ट्रेट, आनरेरी मैजिस्ट्रेट आदि की भी अदालतें होती हैं।

भारत में प्राचीन काल से ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायत–अदालतों की परम्परा चली आ रही है। पंचों के न्याय पर जनसाधारण को इतना विश्वास था कि 'पंच परमेश्वर' का प्रयोग चल पड़ा था। कालान्तर में यह व्यवस्था खण्डित हो गयी थी। अब फिर देश के प्रायः सभी प्रदेशों में पंचायती–अदालतों की स्थापना हो गयी है।

अंग्रेजी शासन के युग में छोटी अदालत द्वारा दिये गये निर्णय पर बड़ी अदालत फिर से विचार करती थी। जिला–न्यायाधीश के निर्णय पर उच्च न्यायालय का कोई न्यायाधीश विचार करता था। उसके निर्णय पर दो–तीन या पाँच न्यायाधीश मिलकर विचार करते थे। यह जरूरी नहीं था कि सभी न्यायाधीश एक ही निर्णय दें। लेकिन बहुमत का निर्णय मान्य होता था। उच्च न्यायालय के निर्णय पर इसी प्रकार फेडरल न्यायालय के एक–दो या अधिक न्यायाधीश बैठकर विचार करते थे। उस निर्णय पर फिर लन्दन में बैठी हुई प्रिवी–कौन्सिल के न्यायाधीश विचार करते थे। अब आजादी के बाद उच्चतम न्यायालय का निर्णय अन्तिम रूप से मान्य होता है।

इधर देश में कुछ विशेष न्यायालयों की भी व्यवस्था हुई है। राजस्व सम्बन्धी मामलों पर राजस्व–परिषद् विचार करती है। सरकारी सेवाओं के सम्बन्ध में विचार–विमर्श के लिए अलग से न्यायाधिकरण की व्यवस्था की जाती है। इसी प्रकार किसी विशिष्ट महत्त्वपूर्ण मामले पर विशेष अदालतें भी बनायी जाती हैं, जिनमें निश्चित तिथि के भीतर न्यायिक प्रक्रिया की जटिलताओं को छोड़कर, त्वरित निर्णय किया जाता है।

अदिति अदिति का शाब्दिक अर्थ तो अखंड, असीम और अनन्त है। भारतीय वाङ्मय में इन्हें महाराज दक्ष की कन्या और महर्षि कश्यप की पत्नी कहा गया है। इन्हें अनेक देवताओं की माता कहा जाता है; और इन्हीं के नाम के आधार उन सभी को सम्मिलित रूप से आदित्य की भी संज्ञा दी गयी है। पौराणिक आख्यान के अनुसार विष्णु का वामन स्वरूप भी इन्हीं के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। पौराणिक साहित्य में अदिति का व्यक्तित्व इतना महामहिम है कि वे आकाश को सहारा देती हैं; समस्त अस्तित्व को सुरक्षा प्रदान करती हैं और इस पृथ्वी के प्राणियों का भरण–पोषण भी करती हैं। सम्भवतः इसीलिए इन्हें गाय के रूप में भी स्मरण किया जाता है। अदिति को पृथ्वी, वाणी तथा गाय का पर्याय भी माना जाता है।

अदीलेड आस्ट्रेलिया के दक्षिण भाग की राजधानी। यह ३५.५६° दक्षिणी अक्षांश और १३८.३६° पूर्वी देशान्तर पर स्थित है। टोरेन्स नदी के तट पर बसे इस शहर की स्थापना, सन् १८३७ में हुई थी। उपनगरों से अलग करते हुए यहाँ चौड़ी सड़कें तथा बड़े–बड़े पार्क बनाये गये थे। सन् १८७४ में यहाँ विश्वविद्यालय की स्थापना हुई थी और १८८९ में तकनीकी संस्थान बना था। आज यह बहुत बड़ा औद्योगिक और व्यावसायिक नगर है। यहाँ कार, कपड़े, तेल परिशोधन और इलेक्ट्रॉनिक्स के बड़े–बड़े कारखाने हैं। समुद्र तट से संलग्न होने के कारण यहाँ बड़े अच्छे बन्दरगाह की भी व्यवस्था है। दिसम्बर, जनवरी तथा फरवरी में जब सूर्य दक्षिणायन होता है, तो यहाँ बड़ी गर्मी होती है और जुलाई, अगस्त में जब सूर्य उत्तरायण हो जाता है तो बड़ी ठण्डक पड़ती है।

अदीलेड शहर का सबसे आकर्षक स्थल, उसका उत्सव केन्द्र है, जिसकी सन् १९६० में स्थापना हुई

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी, और जो प्रति दो वर्ष बाद कला–महोत्सव का आयोजन करता है। यहाँ के अन्य दर्शनीय स्थल हैं, प्राकृतिक इतिहास संग्रहालय, दक्षिणी आस्ट्रेलिया की राष्ट्रीय दीर्घा, सेंटपीटर और सेन्ट फ्रांसिस–जेबियर के गिरजाघर : पहला एंग्लिकन और दूसरा रोमन कैथलिक ईसाईमत से सम्बद्ध है। राजकीय प्रशासकीय भवन भी बड़ा ही दर्शनीय है। इसकी जनसंख्या दस लाख से ऊपर है।

अद्वैत दर्शन आठवीं शती ईस्वीं में आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित वेदान्त दर्शन को अद्वैत दर्शन के नाम से जाना जाता है। वेदान्त दर्शन 'उत्तर मीमांसा' के नाम से भी प्रसिद्ध है। भारतीय दर्शन शास्त्र में छह आस्तिक दर्शन (षड्दर्शन) माने हैं– न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा या वेदान्त। कभी–कभी 'वेदान्त' शब्द से केवल 'उपनिषद्' का अर्थ भी ग्रहण होता है; क्योंकि उसका मूल आधार उपनिषद् है; उपनिषदों के मूल वाक्यों के आधार पर ही बादरायण ने अद्वैत के प्रतिपादन के लिए 'ब्रह्मसूत्र' बनाये। इस प्रकार अद्वैत दर्शन के सूत्र मूलतः वेद से प्राप्त हैं। ब्रह्मसूत्र की अनेक टीकाएँ हुई हैं, जिनमें सबसे प्राचीन टीका जो उपलब्ध है, वह आचार्य शंकर की है।

दर्शन में सत् (सत्ता) की खोज की जाती है। इसी को अन्तिम सत्ता, सत्य अथवा परमतत्त्व कहते हैं। यह सत्ता एक है अथवा अनेक, इसी प्रश्न पर विचार करने के लिए सृष्टि के प्रारम्भ से मनुष्य प्रयत्नशील है। इस सत्ता में जो लोग अनेकत्व देखते हैं, उन्हें द्वैतवादी, अनेकत्ववादी, वैपुल्यवादी या बहुत्ववादी कहते हैं। इसके विपरीत अद्वैतवादी सत् को न एक मानते हैं न अनेक। वे उसे अगम, अगोचर, अचिन्त्य, अलक्षण तथा अनिर्वचनीय मानते है। अद्वैत इस कारण कहा जाता है कि इसके द्वारा द्वैत या बहुत्व का निषेध किया जाता है।

शंकर वेदान्त में ब्रह्म को छोड़कर अन्य सभी पदार्थ असत् हैं। उन सभी पदार्थों का आरोप ब्रह्म पर होता है अथवा ब्रह्म सभी आरोपों का अधिष्ठान है। माया की विक्षेप शक्ति के कारण, जो सृष्टि होती है, वह केवल भ्रान्ति है। ब्रह्म को अधिष्ठान मानकर ही जगत् में समस्त क्रियाएँ होती हैः अथवा समस्त जगत् ब्रह्म का विवर्त है। तत्त्व में अतत्त्वों के दर्शन को ही विवर्त कहते हैं। विवर्त में सभी वस्तुएँ जल के ऊपर बुदबुदों के समान मिथ्या हैं। अवस्तुओं का वस्तु में आरोप 'मिथ्या ज्ञान' है। उसी को अध्यास भी कहते हैं; जैसे शरीर तथा इन्द्रियों को आत्मा मानना, रज्जु (रस्सी) को भ्रान्तिवश सर्प मान लेने की भ्रान्ति, अध्यास है।

'ब्रह्म' निर्विशेष तत्त्व है। यह सर्वव्यापी और चेतन है। इसकी सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं सिद्ध है, स्वप्रकाश है; किन्तु अनादि अज्ञान से मुग्ध जीव इसे नहीं देखता; प्रत्युत अनेक प्रकार की भ्रान्ति, इस जीव को घेरे रहती है। इस भ्रान्ति को दूर करना ही वेदान्त का प्रयोजन है। 'अज्ञान', 'अविद्या', 'माया' आदि एक ही हैं। यह अज्ञान सत् भी है तथा असत् भी। सत् इस कारण कि इसकी प्रतीति होती है; असत् इस कारण कि रस्सी में सर्प की भ्रान्ति की भाँति है। इसी कारण इसे 'अनिर्वचनीय' कहा जाता है। तत्त्वज्ञान होने से इस माया का नाश होता है। माया इतनी अधिक शक्तिशाली है कि यह व्यक्ति की बुद्धि को आच्छादित कर देती है; और वह शुद्ध चैतन्य आत्मा को नहीं देख पाता : जैसे मेघ का एक तुच्छ टुकड़ा अपने से करोड़ों गुना बड़े सूर्य को ढक लेता है और पृथ्वी पर खड़ा व्यक्ति सूर्य को नहीं देख पाता।

समस्त अज्ञानों से अवछिन्न चैतन्य को 'ईश्वर' कहते हैं। वह ईश्वर समस्त अज्ञानों को प्रकाशित करता है; इस कारण सर्वज्ञ है। वह सभी जीवों को उनके कर्मानुसार फल देता है, इस कारण 'सर्वेश्वर' है। सभी जीवों को अपने–अपने कर्मों में नियन्त्रित करता है, इस कारण 'सर्वनियन्ता' है। किसी भी प्रमाण से जानने योग्य न होने के कारण 'अव्यक्त' है। सभी जीवों के अन्तर्हृदय में स्थित होने के कारण 'अन्तर्यामी' है तथा समस्त चराचर जगत् का विवर्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप में अधिष्ठान होने के कारण, यह 'जगत् का कारण' है। इतना सब कुछ होने पर भी 'ईश्वर' केवल लीला के लिए, बिना किसी प्रयोजन के अनायास सृष्टि–कर्म में प्रवृत्त होता है।

आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी में जगत् के इन पञ्च महाभूतों से स्थूल शरीरों जरायुज (मनुष्य, पशु आदि), अण्डज (पक्षी आदि), स्वेदज (जूँ, लीख आदि) तथा उद्भिज (वृक्ष, लता आदि) की उत्पत्ति होती है। यह जड़ प्रकृति है। इनमें जो चैतन्य है, वह इनका 'सूक्ष्म शरीर' है; तथा इन सब में जो ईश्वरत्व है, वह 'कारण शरीर' है। यह स्थूल, सूक्ष्म और कारण उपाधि भेद से ही भिन्न हैं, जिनके मूल में अविद्या है। इनके साथ ही सभी उपाधियों से रहित एक निर्विशेष चैतन्य है, जिसे 'तुरीय चैतन्य' भी कहते हैं। अविद्या अथवा अज्ञान के कारण, सभी स्वरूप भिन्न–भिन्न मालूम होते हैं। वस्तुतः सर्वत्र एकमात्र चैतन्य, एक ही रूप में विद्यमान है। इसी कारण श्रुतिवाक्य है– 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्य उपनिषद ३–१४–१) अर्थात् निश्चित रूप से सब ब्रह्म ही है।

यथार्थ तत्त्व को माया के आवरण के कारण सही रूप में न देख पाना ही अध्यास है। अद्वैत दर्शन के आचार्य जीवात्मा तथा परमात्मा में भेद नहीं मानते। भेद तो अध्यास के कारण हैं। इसीलिए श्रुतिवाक्य है– 'तत्त्वमसि' अर्थात् तुम (जीव) वह (परमात्मा) हो; तुम सीमित न होकर असीमित हो। जब यह निश्चित हो गया कि जीव परमात्मा है, तब श्रुति का तीसरा वाक्य है– 'अहं ब्रह्मास्मि'। अहं (मैं) ब्रह्म (ब्रह्म) अस्मि (हूँ)। अथवा सोऽहं ब्रह्म (मैं वही ब्रह्म हूँ)।

जब अज्ञान का पूर्णतया नाश होकर जीव और ब्रह्म एकाकार हो जाते हैं, वही ब्रह्म साक्षात्कार कहलाता है। उस अवस्था को प्राप्त करने के लिए ही, 'अष्टांगयोग' का अभ्यास किया जाता है। ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने पर, ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं बचता– यही अद्वैत है – इसी को मुक्ति कहते हैं।

इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर, जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं रह जाता, यह परमानन्द की अवस्था है। उस आनन्द का साक्षी भी वही है, जो परमानन्द है। इसी कारण इसे 'अवाङ्.मनसगोचर' (मन तथा वाक् से न जानने योग्य) कहा गया है। ब्रह्म ही अद्वैत तत्त्व है। वह माया से आछन्न है। माया न सत् है न असत्, वह अनिर्वचनीय है। मुक्ति अथवा मोक्ष प्राप्त कर लेने पर माया नहीं रहती, केवल अद्वितीय अथवा अद्वैत ब्रह्म ही रहता है।

कर्मों के क्षय के बिना मुक्ति नहीं मिलती। इसीलिए शंकर द्वारा प्रतिपादित मत के अनुसार संचित (पूर्वजन्म कृत) कर्म तथा क्रियमाण (इस जन्म के कृत) कर्म का नाश साधना के द्वारा कर लेने पर तथा जीवित अवस्था में तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध (भाग्यवश) कर्मों के क्षय के उपरान्त, जीवनमुक्ति प्राप्त हो सकती है, चाहे शरीर का क्षय हो अथवा न हो। सम्पूर्ण प्रारब्ध कर्मों के क्षय होने पर शरीर का पतन हो जायेगा तथा जीव सर्वथा मुक्त हो जायेगा।

भारतीय चिन्तन में अद्वैतवाद अत्यन्त प्राचीन है। आचार्य शंकर ने उसको अधुनातन स्वरूप में परिभाषित किया है। शंकर के परमगुरु गौड़पाद भी अद्वैतवादी थे। इनके पूर्व, बौद्ध दर्शन में विज्ञानवादी तथा शून्यवादी अद्वैतमत के ही प्रतिपादक थे। शाक्त तथा शैव मत में भी अद्वैत का ही प्राधान्य है। जैन दर्शन में भी अद्वैत का उल्लेख है। अद्वैत सत् को शून्यवादी (बौद्ध) 'शून्य', विज्ञानवादी (बौद्ध) 'विज्ञान', शब्दवादी (वैयाकरण) 'शब्द', शक्तिवादी 'शक्ति', शैवमत वाले 'शिव' तथा अद्वैत वेदान्ती (शांकर मत वाले) 'आत्मा' मानते हैं। भारत के मध्यकालीन सन्तों में नानक के 'अकालपुरुष', कबीर के 'राम', मीरा के 'कृष्ण' अथवा 'हरि' तथा अन्य सन्तों के 'सत्य', 'सत्त' या 'सत्', गोरखनाथ के 'नाथ' अथवा 'शिव', अद्वैत परमात्मा के ही परिचायक हैं। बौद्धों तथा औपनिषदों के भारत के बाहर अन्य देशों में जाने के कारण अद्वैत दर्शन का प्रसार ईरान, अरब, मिस्र तथा यूरोप के देशों में भी हुआ। मुसलमान सन्तों का सूफी मत, अद्वैत का ही प्रतिपादन करता है। उनका महावाक्य 'अनलहक'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(जिसके उच्चारण के लिए मंसूर को प्राणदण्ड भोगना पड़ा), 'अहं ब्रह्मास्मि' का ही अरबी रूपान्तर है। यूरोप के दार्शनिकों में से फ़िश्टे, शेलिंग, हीगेल, ग्रीन तथा ब्रैडले आदि अद्वैत का ही प्रतिपादन करते हैं। आधुनिक भारत में स्वामी रामतीर्थ, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द आदि दार्शनिक अद्वैत के ही प्रतिपादक हैं।

अधिवक्ता मूलतः इसका अर्थ है, आधिकारिक वक्ता; लेकिन इसका प्रयोग आज विशेष रूप से एडवोकेट के लिए होता है जो उच्च अथवा उच्चतम न्यायालय में अपने वादी या प्रतिवादी के पक्ष की पैरवी करता है। यह कार्य, जिला अथवा छोटे न्यायालयों में जो लोग करते है उन्हें वकील कहा जाता है। वकील या अधिवक्ता बनने के लिए स्नातक स्तर की न्यायिक उपाधि का होना आवश्यक है। सन् १६४७ में प्राप्त स्वतंत्रता के पहले, न्यायालय में आधिकारिक रूप से कार्य के लिए एक छोटी उपाधि की व्यवस्था थी, उन्हें मुख़्त्यार कहा जाता था। न्याय की स्नातक उपाधि प्राप्त करने के अनन्तर, प्रदेश का उच्च न्यायालय, भारतीय बार काउन्सिल, के नियमानुसार समुचित आवेदन–पत्र और उसमें अर्हताएँ देखने के अनन्तर व्यक्ति को उच्च न्यायालय में अधिवक्ता के रूप में कार्य करने का लाइसेन्स अर्थात् अधिकार–पत्र देता है। इसी प्रकार देश का उच्चतम न्यायालय, न्याय के किसी स्नातक को अपनी अदालत में कार्य करने का अधिकार–पत्र प्रदान करता है। यह अधिकार–पत्र किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में यथा, न्यायालय के नियमों की अवहेलना अथवा दुराचार के कारण, छीना भी जा सकता है।

अधिवक्ता अपने पास आये वादी या प्रतिवादी की बातों को बड़े ध्यान से सुनता है, और फिर उच्च या उच्चतम न्यायालय में न्यायिक दृष्टि से उसका पक्ष उपस्थित करता है। इस सम्बन्ध में वह वादी अथवा प्रतिवादी से, उनके लिए बातचीत करने का अधिकार लेकर, न्यायिक आधार पर उनके पक्ष में अपनी तर्क–परम्परा बनाता है और न्यायिक अभिलेख तैयार करता है। एक अच्छे अधिवक्ता की तैयारी, एक बड़े ही कुशल अनुसंधान–कर्त्ता जैसी होती है, और उसी के आधार पर वह न्यायाधीश के सामने अपने मुवक्किल का पक्ष उपस्थित करता है।

अधिवक्ता केवल न्यायालय में ही कार्य नहीं करता, वरन् अपने मुवक्किल के विभिन्न प्रकार के न्यायिक अभिलेख, यथा वसीयतनामा, अनुबन्ध–पत्र अर्थात् इकरारनामा आदि भी तैयार करता है। कुछ अधिवक्ता ऐसे भी होते है; जो मात्र यही कार्य करते हैं। कुछ इन कार्यों के साथ, न्यायिक परामर्श भी देते हैं। अब तो न्यायिक कार्यों को देखने के लिए अनेक व्यावसायिक तथा अव्यावसायिक संस्थाएँ, बैंक आदि भी अपने यहाँ न्यायिक अधिकारी रखने लगे हैं।

न्याय की अपेक्षा आज, जीवन के अनेकानेक पक्षों में मानी जाने लगी है। कुछ अधिवक्ता मात्र नागरिक न्यायालयों में ही कार्य करते हैं; कुछ फौजदारी के मुकदमें लेते हैं; कुछ आयकर की व्यवस्था देखते हैं; कुछ बिक्रीकर को यथासम्भव नियमानुसार लागू करने का कार्य देखते हैं। कुछ राजस्व परिषद् के सामने जाते हैं तथा कुछ और इसी प्रकार के अन्य न्यायालयों में कार्य करते हैं।

पश्चिम में एडवोकेट के अतिरिक्त कुछ और संज्ञाओं का भी प्रयोग होता है, यथा अटार्नी, बैरिस्टर, सॉलीसिटर आदि। एडवोकेट या अधिवक्ता शब्द का प्रयोग विशेष रूप से तो उच्च एवं उच्चतम न्यायालयों में वादी या प्रतिवादी का पक्ष उपस्थित करने वाले व्यक्ति के लिए होता है; लेकिन अब इसका प्रयोग जिला न्यायालयों में कार्य करने वाले व्यक्तियों के लिए भी चल पड़ा है।

अधिहृषता (एलर्जी) या प्रत्यूर्जता

शरीर में जीवाणु संक्रमण के विरुद्ध अपनी रक्षा करने की शक्ति होती है। रक्षात्मक उपक्रमों का सामान्य नाम, रोग प्रतिरोधक क्षमता (इम्यूनिटी) है। जीवाणुओं (बैक्टीरिया या वाइरस) के शरीर में विद्यमान प्रोटीन अंश जब मानव रक्त के सम्पर्क में आता है, तो उसमें उपस्थित श्वेतरक्त कोशिकाओं के सम्पर्क से प्रतिक्रिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है और फलस्वरूप श्वेतरक्त कोशिकाएँ, प्रतिपिण्डों (एन्टीबॉडीज) का निर्माण करती हैं। जीवाणु–प्रोटीन अंश को प्रतिजन (ऐण्टीजन) कहते हैं। जब उसी जीवाणु का संक्रमण दूसरी बार होता है, तो पहिले से विद्यमान प्रतिपिण्ड, प्रतिजनों से प्रतिक्रिया करके जीवाणुओं को नष्ट कर देते हैं, या उनके प्रभाव को बहुत कम कर देते हैं। विभिन्न रोगों के जीवाणुओं के प्रथम संक्रमण से उनके जीवाणु के प्रति विशिष्ट प्रकार के प्रतिपिण्ड उत्पन्न होते हैं। दुबारा कभी भी संक्रमण होने पर, प्रतिजन–प्रतिपिण्ड, प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उन जीवाणुओं से लड़ने की क्षमता शरीर को प्राप्त हो जाती है। इसी प्रक्रिया को रोग प्रतिरोधक क्षमता या इम्यूनिटी कहते है।

जीवाणु प्रोटीन के अतिरिक्त अन्य कोई भी बाह्य–प्रोटीन, शरीर में प्रवेश कर, प्रतिजन का कार्य कर सकती है।

रोग प्रतिरोधक क्षमता के विकास के दौरान कभी–कभी कुछ भिन्न प्रकार की प्रक्रियाएँ घटित हो सकती हैं, उन्हें अति संवेदनशीलता (हाइपर सेंसिटिविटी) या परिवर्तित रोग प्रतिरोधक क्षमता (आल्टर्ड इम्यूनिटी) भी कहते हैं। यही अतिसंवेदनशीलता या परिवर्तित रोगक्षमता एलर्जी (प्रत्यूर्जता) या अधिहृषता कहलाती है।

प्रतिजन प्रतिपिण्ड प्रक्रिया के फलस्वरूप रक्त में हिस्टामिन नामक द्रव्य उत्पन्न होता है, जो विभिन्न प्रकार के लक्षण यथा खुजली, पित्ती इत्यादि उत्पन्न करता है। ये लक्षण, शरीर के किसी एक भाग में स्थानीय एलर्जी या पूरे शरीर में व्यापक रूप से हो सकते हैं।

एलर्जी का एक गंभीर प्रकार होता है 'तीव्रग्राहिता' या तीव्र संवेदनशीलता (ऐनाफिलाक्सिस), जिसके अन्तर्गत धमनियों या श्वसन–तंत्र की पेशियों का तीव्र संकुचन होता है। फलस्वरूप गंभीर दशाएँ उत्पन्न होती हैं।

विभिन्न व्यक्तियों में बाह्य–प्रोटीन या प्रतिजन कम या अधिक गंभीर प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करते हैं। कोई एक व्यक्ति किसी एक प्रकार के पदार्थ से संवेदनशील हो सकता है, जबकि अधिकतर लोगों में उनकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। इसीलिए किसी एक व्यक्ति को, किसी विशिष्ट पदार्थ या दवा से एलर्जी हो सकती है, सभी को नहीं।

स्थानीय एलर्जी शरीर के किसी एक भाग में हो सकती है। साधारणतया यह नाक, कान, गला या नेत्र–श्लेष्मा (कन्जक्टाइवा ऑफ़ आई) के शोथ के रूप में होती है। कृत्रिम धागों जैसे कि नायलॉन या टेरीकाट के वस्त्र पहिनने से सम्पर्कत्वक अधिहृषता (कांटेक्ट डरमेटाइटिस) हो जाती है। जठरान्त्र अधिहृषता (गैस्ट्रो एण्टेस्टाइनल एलर्जी) के कारण पेट में तीव्र दर्द और मितली–उलटी जैसे लक्षण होते हैं। यह विशेष प्रकार की प्रोटीन युक्त खाद्य पदार्थ से होती है, जैसे कि अंडा या मछली।

कुछ व्यक्तियों को बसन्त ऋतु में, हवा में उड़ने वाले पुष्पों के पराग से एलर्जी होती है। इसे परागज एलर्जी कहते हैं। इसी के फलस्वरूप आँखें लाल होने को बासन्ती अभिष्यन्द (स्प्रिंग कैटरा) कहते हैं। परागज एलर्जी दमा के रूप में भी हो सकती है।

एलर्जी के उपचार के लिए ऐसी औषधियों का प्रयोग किया जाता है जो हिस्टामिन के प्रभाव को कम करें या रोक दें अर्थात् प्रतिहिस्टामिनिक औषधियाँ यथा एविल, ट्रेक्सिल, ऐलेग्रा व कार्टिसोन इत्यादि।

अध्यात्म रामायण आध्यात्मिक दृष्टिकोण, विशेष रूप से अद्वैत–दर्शन को लेकर लिखा गया रामकाव्य। संस्कृत के इस काव्य–ग्रन्थ को 'अध्यात्म रामचरित्' तथा 'आध्यात्मिक रामसंहिता' भी कहा गया है। इस काव्य–ग्रन्थ में रामकथा उमा–महेश्वर संवाद के रूप में उपस्थित की गयी है। सम्पूर्ण रामचरित्, सात काण्डों तथा ६५ अध्यायों में उपस्थित किया गया है। इस कथा–काव्य को 'ब्रह्माण्ड पुराण के उत्तर खण्ड का एक अंश कहा जाता है; लेकिन वह इस पुराण के किसी भी संस्करण में उपलब्ध नहीं है। पौराणिक साहित्य से जोड़कर इसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यासदेव की रचना भी कहा जाता है; लेकिन 'भविष्य पुराण' के प्रतिसर्ग पर्व के अनुसार इसकी रचना राम शर्मन् नामक व्यक्ति ने की थी। राम शर्मन् को कुछ विद्वान् रामानन्द जी से जोड़ देते हैं, लेकिन अन्य विद्वान् इसे अस्वीकार करते हैं।

'अध्यात्म रामायण' में राम को विष्णु का अवतार माना गया है। उन्हें परब्रह्म का प्रतीक भी कहा गया है, और इस दृष्टि से सीता को योगमाया की संज्ञा दी गयी है। पतंजलि के 'योगदर्शन' का भी इस पर प्रभाव दृष्टिगत होता है। यदा–कदा तांत्रिक प्रभाव भी दिखाई देता है। वाल्मीकि ने अपने आदिकाव्य में राम को एक ऐतिहासिक चरित्र के रूप में लिया था। गोस्वामी तुलसीदास जी के 'रामचरित् मानस' में इस ग्रन्थ का पर्याप्त प्रभाव है।

अध्वर्यु वैदिक वाङ्मय का एक पारिभाषिक शब्द। इसके पर्यायवाची हैं– ऋत्विक्, पुरोहित, होत्रि, उद्गातृ आदि। सामान्य अर्थ है – यज्ञ करने वाला। यह यज्ञकर्ता मंत्रों का पाठ करने के साथ–साथ, अपने हाथ से विभिन्न याज्ञिक प्रक्रियाएँ भी करता जाता था।

अनसूया (अनसुइया) महर्षि अत्रि की अर्धांगिनी। दक्ष प्रजापति की सुपुत्री; अतः ये महादेव शंकर की प्रथम पत्नी सती की बहिन थीं। राम जब सीता और लक्ष्मण के साथ वनवास के दिनों में चित्रकूट पधारे थे तो इन्होंने अपने पति के साथ उनका स्वागत किया था। सीता जी को इन्होंने पातिव्रत धर्म का उपदेश दिया था और एक विशिष्ट औषधि भी प्रदान की थी। इन्हें पुराणों में सोम, दत्तात्रेय और दुर्वासा की माता कहा गया है। किम्वदन्ति है कि चित्रकूट क्षेत्र में जलाभाव के कारण अकाल जैसी स्थिति उत्पन्न हो गयी थी, तो प्राणिमात्र की रक्षा के लिए अपने आश्रम के पास से इन्होंने मन्दाकिनी प्रवाहित की थी, जो आज भी प्रवहमान है।

अनन्तनाग जम्मू–कश्मीर राज्य का श्रीनगर के दक्षिण–पूर्व की ओर ५० किलोमीटर पर स्थित झेलम के तट पर बसा एक नगर। यह पीर पंजाल शिखर के उत्तर की ओर स्थित है। यहाँ एक बड़े विशाल झरने के साथ शिव का बड़ा ही भव्य मन्दिर है। मन्दिर के बाहर के परिसर में बहुत बड़ा बाजार है। नगर के चारों ओर के गाँवों में खेती होती है। इन गाँवों में अनेक छोटे–बड़े झरने हैं। कुछ दूरी पर कुकरनाग है, जहाँ का गन्धक का झरना, अपने औषधीय गुणों के कारण पर्यटकों को विशेष रूप से आकर्षित करता है। झेलम नदी में नौकायन की भी व्यवस्था है, जो श्रीनगर की डल झील तक जाती है।

अनन्नास वनस्पति जगत् में बहुत से फल ऐसे भी हैं जो कि एक अण्डाशय से न बनकर अण्डाशयों के समूह से बनते हैं। इसी क्रम में अनन्नास भी आता है।

अनन्नास का अंग्रेजी नाम 'पाइनएपल' तथा वानस्पतिक नाम अनानास कॉस्मॉस, प्रजाति अनानास, जाति का कॉस्मॉस और कुल ब्रोमीलिएसी है। इसका उत्पत्ति स्थान दक्षिण अमेरिका का ब्राजील देश है। यह एक बीज–पत्ती कुल का पौधा है तथा स्वादिष्ट फलों में इसका विशेष स्थान है। इसकी खेती के लिए हवाई द्वीप, क्वींसलैण्ड तथा मलाया विशेष प्रसिद्ध हैं। भारत में इसकी खेती मद्रास, मैसूर, ट्रावनकोर, आसाम, बंगाल तथा उत्तर प्रदेश के तराई वाले भागों में होती है। इस फल का विश्लेषण करने पर चीनी १२ प्रतिशत, अमलत्व ०.६ प्रतिशत होता है। इसमें विटामिन ए बी तथा सी अच्छी मात्रा में पायी जाती हैं। कैल्सियम, फास्फोरस, लोहा इत्यादि पर्याप्त मात्रा में रहते है, तथा ब्रोमेलीन नामक किण्वज (एनज़ाइम) भी होता है, जो प्रोटीन को पचाता है। इसका शर्बत, कैण्डी और मार्मलेड बनता है। इसको डिब्बे में बन्दकर के संरक्षित भी करते हैं। यह फल स्वादिष्ट, सुंगधमय, कुछ खट्टापन लिए हुए पीले गूदे वाला मीठा होता है।

अनन्नास उष्ण कटिबंध का पौधा है। इसकी खेती के लिए तापमान ६०° तथा ९०° फा० के बीच उपयुक्त है। इसके लिए आर्द्र वातावरण चाहिए। तीक्ष्ण धूप तथा घनी छाया हानिप्रद है। यह बलुई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोमट मिट्टी में आसानी से पनपता है। जलोत्सारण का प्रबन्ध अच्छा होना चाहिए। यह अम्लिक मिट्टी में अच्छा उत्पन्न होता है। इसकी अनेक जातियाँ होती हैं पर क्वीन, मारीशस, स्मूथकेयने प्रमुख हैं। इसका वर्धन वानस्पतिक विधियों, जैसे क्राउन, डिस्क तथा रिलप्स द्वारा होता है, परन्तु मुख्य रूप से वर्धन का स्रोत सकर्स है अर्थात् पुराने पौधों की जड़ों से निकले छोटे–छोटे पौधे अलग कर रोपण हेतु नये पौधे तैयार किए जाते हैं। वर्षा ऋतु में पेडों पर २×५ फुट की दूरी पर, भूस्तारी लगाते हैं। एक बार का लगाया पौधा २०–२५ वर्ष तक फल देता है; परन्तु तीन या चार फसल लेने के बाद नये पौधे लगाना ही अच्छा होता है। प्रतिवर्ष लगभग १६० कु० प्रति एकड़ सड़े गोबर की खाद या कम्पोस्ट अवश्य देना चाहिए। जाड़े में तीन–चार बार तथा ग्रीष्म ऋतु में प्रति सप्ताह सिंचाई करनी चाहिए। एक एकड़ में लगभग ४० से ८० कु० फल की उपज होती है।

अनित्य सामान्यतः सम्पूर्ण भारतीय दर्शन तथा विशेष रूप से बौद्ध दर्शन का एक आधारभूत सूत्र, जो इस जगत् को अनित्य घोषित करता है। बौद्ध दर्शन यह भी कहता है कि इस जगत् की सभी वस्तुएँ नाशवान हैं, अर्थात् क्षणभंगुर हैं। इस जगत् का तीसरा लक्षण, जीवन का सदा दुःखमय होना है। यह दुःख सकारण है। अगर इन कारणों को दूर कर दिया जाये, तो मनुष्य दुःख से मुक्त हो सकता है। उसके लिए करुणा पर बल दिया गया है। करुणा के परिव्याप्त रूप को महाकरुणा कहा गया है। इस जगत् की अनित्यता को प्रमाणित करने के लिए यहाँ क्षण–क्षण बदलते जड़ चेतन विधान की चर्चा, की गयी है। यह जगत् क्षण–क्षण परिवर्तनशील है। यह सिद्ध करने के लिए यह कहा गया है कि मनुष्य जन्म लेता है, पहले शिशु, फिर बालक, उसके बाद युवक और धीरे–धीरे वृद्धावस्था में पहुँचकर, इस संसार से विदा लेता है। इस अनित्यता से अपने को और इस जगत् को मुक्त करना, यही बौद्ध साधना का चरम लक्ष्य है। बुद्ध के बताये हुए मार्ग पर चलकर मनुष्य, प्रबुद्ध होकर अपने जीवन को सार्थकता प्रदान कर सकता है।

अनिषेक जनन अधिकांश जंतुओं में प्रजनन की क्रिया के लिये संसेचन (वीर्य का अण्डे से मिलना) अनिवार्य है, परंतु कुछ ऐसे भी जंतु हैं, जिनमें बिना संसेचन के प्रचनन हो जाता है, इसको अनिषेक जनन कहते हैं। कुछ मछलियों को छोड़कर किसी भी पृष्ठवंशी में अनिषेक जनन नहीं पाया जाता और कुछ बड़े–बड़े कीटगण, जैसे व्याध्पतंगगण (ओडोनेटा) तथा भिन्पक्षानुगण (हेटरोप्टरा) में। कुछ ऐसे भी जन्तु हैं जिनमें प्रजनन सर्वथा (अथवा लगभग सर्वथा) अनिषेक जनन द्वारा ही होता है, जैसे द्विजनिकविद्वपत्रा (डाइजेनेटिक ट्रेमैडोड्स), किरीट–वर्ग (रोटिफर्स), जल–पिंशु (वाटर–फ़्ली) तथा द्रुयूका (ऐफिड) में। शलिफपक्षा (लेपिडोप्टरा) में अनिषेक जनन बिरले ही मिलता है, किंतु स्यूनशलभ–वंश (सिकिड्स) की कई एक जातियों में पाया जाता है। घुनों के कुछ अनुवंशों में भी अनिषेक जनन प्रायः पाया जाता है।

प्रजनन, लिंगनिश्चयन, तथा कोशिकातत्व (साइटॉलोजी) की दृष्टि से कई प्रकार के अनिषेक जनतंत्र पहचाने जा सकते हैं। प्रजनन की दृष्टि से अनिषेक जनन का निम्नलिखित वर्गीकरण हो सकता है।

अ. आकस्मिक अनिषेक जनन में असंसिक्त अण्डा कभी कभी विकसित हो जाता है।

आ. सामान्य अनिषेक जनन निम्नलिखित प्रकारों का होता है :

१. अनिवार्य अनिषेक जनन में अण्डा सर्वदा बिना संसेचन के विकसित होता है :

क. पूर्ण अनिषेक जनन में सब पीढ़ी के व्यक्तियों में अनिषेक जनन पाया जाता है।

ख. चक्रिक अनिषेक जनन में एक अथवा अधिक अनिषेक जनित पीढ़ियों के बाद एक द्विलिंग पीढ़ी आती रहती है।

२. वैकल्पिक अनिषेक जनन में अण्डा या तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संसिक्त होकर विकसित होता है या अनिषेक जनन द्वारा।

लिंगनिश्चिय के विचार से अनिषेक जनन तीन प्रकार के होते हैं :

क. पुंजनन (ऐरिनॉटोकी) में असंसिक्त अंडे अनिषेक जनन द्वारा विकसित होकर नर जंतु बनते हैं। संसिक्त अंडे मादा जंतु बनते हैं।

ख. स्त्रीजनन (थेलिओटोकी) में असंसिक्त अंडे विकसित होकर मादा जंतु बनते हैं।

ग. उभयजनन (डेंटरोटोकी, ऐंफिटोकी) में असंसिक्त अंडे विकसित होकर कुछ नर और कुछ मादा बनते हैं।

कोशिकातत्व की दृष्टि से अनिषेक जनन कई प्रकार का होता है :

क. अर्धक अनिषेक जनन में अनिषेक जनन द्वारा उत्पन्न जंतु उन अंडों से विकसित होते है जिनमें केन्द्रक सूत्रों (क्रोमोसोमो) का ह्रास होता और केन्द्रक सूत्रों की मात्रा आधी हो जाती है।

ख. तनू अनिषेक जनन में अनिषेक जनन द्वारा उत्पन्न जंतुओं में केन्द्रक सूत्रों की संख्या द्विगुण अथवा बहुगुण होती हैं। यह दो विधि से होता है :

(१) स्वतस्संचेक (ऑटोमिक्टिक) अनिषेक जनन में नियमित रूप से केन्द्रक सूत्रों का युग्मानुबंध (सिनैप्सि) तथा ह्रास होता है और केन्द्रक सूत्रों की संख्या अंडों में आधी हो जाती है। परंतु केन्द्रक सूत्रों की मात्रा, दो अर्धकेंद्रकों (न्यूक्लिआइ) संमेलन (फ़्यूज़्हन) से, पुनः स्थापित (रेस्टिट्यूड) केन्द्रक के निर्माण अथवा अंतभार्जन (एंडोमाइनोटिस) द्वारा, पुनः बढ़ जाती है।

(२) अमैथुनी (ऐपोमिक्टिक) अनिषेक जनन में न तो केंद्रक सूत्रों की मात्रा में ह्रास होता है और न अर्धक अनिषेक जनन में अंडों में केन्द्रक सूत्रो का युग्मानुबंध और ह्रास होता है। ऐसे अंडों का यदि संसेचन होता है तो वे विकसित होकर मादा बन जाते हैं और यदि संसेचन नहीं होता तो वे नर बनते हैं। इस कारण एक ही मादा के अंडे विकसित होकर नर भी बन जाते हैं और मादा भी। अर्धक अनिषेक जनन का फल इस कारण सदा ही वैकल्पिक एवं पुंजनन (ऐरिनॉटोकस) होता है।

अनीश्वरवाद दर्शन का वह सिद्धांत, जो जगत् की सृष्टि करने वाले एवं संचालन और नियंत्रण करने वाले किसी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता (दे० ईश्वरवाद)। अनीश्वरवाद के अनुसार जगत् स्वयं संचालित और स्वयंशक्तिमान है। ईश्वरवादी ईश्वर के अस्तित्व के लिए जो प्रमाण देते हैं, अनीश्वरवादी उन सबकी आलोचना करके उनको काट देते हैं, और संसारगत दोषों को बतलाकर, तर्कों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि ऐसे संसार का रचनेवाला ईश्वर नहीं हो सकता। ईश्वरवादी कहते हैं कि मनुष्य के मन में ईश्वरप्रत्यय जन्म से ही है और वह स्वयंसिद्ध एवं अनिवार्य है। यह ईश्वर के अस्तित्व का द्योतक है। इसके उत्तर में अनीश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वरभावना सभी मनुष्यों में अनिवार्य रूप से नहीं पाई जाती और यदि पायी भी जाती हो तो केवल मन की भावना से बाहरी वस्तुओं का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। मन की बहुत–सी धारणाओं को विज्ञान ने असिद्ध प्रमाणित कर दिया है।

जगत् में सभी वस्तुओं का कारण होता है। बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। कारण दो प्रकार के होते हैं– एक उपादान, जिसके द्वारा कोई वस्तु बनती है, और दूसरा निमित्त, जो उसको बनाता है। ईश्वरवादी कहते हैं कि घट, पट और घड़ी की भाँति, समस्त जगत् भी एक कार्य (कृत घटना) है; अतएव उसके भी उपादान और निमित्त कारण होने चाहिए। कुछ लोग ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण और कुछ लोग निमित्त और उपादान दोनों ही कारण मानते हैं। इस युक्ति के उत्तर में अनीश्वरवादी कहते हैं कि इसका हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि घट, पट और घड़ी की भाँति, समस्त जगत् भी किसी समय उत्पन्न और आरंभ हुआ था। इसका प्रवाह अनादि है, अतः इसके स्रष्टा और उपादान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण को ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है। यदि जगत् का स्रष्टा कोई ईश्वर मान लिया जाये, तो अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा; यथा, उसका सृष्टि करने में क्या प्रयोजन था ? भौतिक सृष्टि केवल मानसिक अथवा आध्यात्मिक सत्ता कैसे कर सकती है– कैसे इसका उपादान हो सकती है ? यदि इसका उपादान कोई भौतिक पदार्थ मान भी लिया जाये, तो वह उसका नियंत्रण कैसे कर सकता है ? वह स्वयं भौतिक शरीर अथवा उपकरणों की सहायता से कार्य करता है अथवा बिना उसकी सहायता के? सृष्टि के हुए बिना वे उपकरण और भौतिक शरीर कहाँ से आये ? ऐसी सृष्टि रचने से ईश्वर का, जिसको उसके भक्त सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और कल्याणकारी मानते हैं, क्या प्रयोजन है, जिसमें जीवन का अंत मरण में, सुख का अंत दुःख में, संयोग का वियोग में और उन्नति का अवनति में हो ? इस दुःखमय सृष्टि को बनाकर, जहाँ जीव को खाकर जीव जीता है और जहाँ सब प्राणी एक दूसरे के शत्रु हैं और आपस में सब प्राणियों में संघर्ष होता है, भला क्या लाभ हुआ है ? इस जगत् की दुर्दशा का वर्णन 'योगवासिष्ठ' के एक श्लोक में मिलता है, जिसका आशय निम्नलिखित है––

कौन सा ऐसा ज्ञान है, जिसमें त्रुटियाँ न हों, कौन सी ऐसी दिशा है, जहाँ दुःखों की अग्नि प्रज्वलित न हो, कौन सी ऐसी वस्तु उत्पन्न होती है, जो नष्ट होनेवाली न हो, कौन सा ऐसा व्यवहार है जो छलकपट से रहित हो ? ऐसे संसार का रचनेवाला सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और कल्याणकारी ईश्वर कैसे हो सकता है ?

ईश्वरवादी एक युक्ति यह दिया करते हैं कि इस भौतिक संसार में सभी वस्तुओं के अन्तर्गत, और समस्त सृष्टि में, नियम, उद्देश्य और सार्थकता पायी जाती है। यह बात इसकी द्योतक है कि इसका संचालन करनेवाला कोई बुद्धिमान् ईश्वर है। इस युक्ति का अनीश्वरवाद इस प्रकार खंडन करता है कि संसार में बहुत सी घटनाएँ ऐसी भी होती हैं, जिनका कोई उद्देश्य, अथवा कल्याणकारी प्रयोजन नहीं जान पड़ता, यथा अतिवृष्टि, अकाल, बाढ़, आग लग जाना, अकाल मृत्यु, जरा, व्याधियाँ और बहुत से हिंसक और दुष्ट प्राणी। संसार में जितने नियम और ऐक्य दृष्टिगोचर होते हैं, उतनी ही अनियमितता और विरोध भी दिखाई पड़ते हैं। इनका कारण ढूँढ़ना उतना ही आवश्यक है जितना नियमों और ऐक्य का। समाज में जैसे सभी लोगों को राजा या राज्यप्रबंध, एक के दूसरे के प्रति व्यवहार को नियंत्रित रखता है, वैसे ही संसार के सभी प्राणियों के ऊपर शासन करने वाले और उनको पाप और पुण्य के लिये यातना, दंड और पुरस्कार देनेवाले ईश्वर की आवश्यकता है। इसके उत्तर में अनीश्वरवादी यह कहता है कि संसार में प्राकृतिक नियमों के अतिरिक्त और कोई नियम नहीं दिखाई पड़ता। पाप और पुण्य का भेद मिथ्या है, जो मनुष्य ने अपने मन से बना लिया है। यहाँ पर सब क्रियाओं की प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं, और सब कामों का लेखा–जोखा बराबर हो जाता है। इसके लिए किसी और नियामक तथा शासक की आवश्यकता नहीं है। यदि पाप और पुण्य के लिए दंड और पुरस्कार का प्रबंध होता तथा उनको रोकने और करने वाला कोई ईश्वर होता; और पुण्यात्माओं की रक्षा हुआ करती तथा पापात्माओं को दंड मिला करता, तो ईसामसीह और गांधी जैसे पुण्यात्माओं की नृशंस हत्या न हो पाती।

इस प्रकार अनीश्वरवाद, ईश्वरवादी सूक्तियों का खंडन करता है और यहाँ तक कह देता है कि ऐसे संसार की सृष्टि करनेवाला यदि कोई माना जाय तो बुद्धिमान् और कल्याणकारी ईश्वर को नहीं, दुष्ट और मूर्ख शैतान को ही मानना पड़ेगा।

पाश्चात्य दार्शनिकों में अनेक अनीश्वरवादी हो गये हैं। भारत में जैन, बौद्ध और चार्वाक् दर्शन, अनीश्वरवादी दर्शन हैं। इन दर्शनों में दी गयी युक्तियों का संकलन, हरिभद्र सूरि लिखित 'षड्दर्शन समुच्चय' के ऊपर गुणरत्न के लिखे हुए भाष्य, कुमारिलभट्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के 'श्लोकवार्तिक', और रामानुजाचार्य के ब्रह्मसूत्र पर लिखे गए 'श्रीभाष्य' में पाया जाता है।

अनीस, मीर बबर अली (१८०३–७४) उर्दू के मरसिया विधा के सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि। इनका जन्म फैजाबाद में हुआ था। इनके पूर्वजों में छह–सात पीढ़ियों से काव्य रचना का अभ्यास चल रहा था। इनके पिता ने इनके लिए अरबी और फारसी प्रशिक्षण की व्यवस्था की थी। प्रारम्भ में इन्होंने गज़लें लिखी थीं और अपने पिता से इसलाह करायी थी। उनके पिता ने सलाह दी थी कि वे लीक से हटकर इस प्रकार के विषयों पर लिखें, जिन पर खुदा प्रसन्न हो। उन्होंने तब कर्बला में इमाम हुसैन के साथ जो दुर्योग हुआ था, उस पर बड़ी लम्बी कविता लिखी। उन दिनों अवध में शिया नवाबों का शासन था जो शोकपूर्ण रचनाओं में विशेष रुचि लेते थे; इसलिए मरसिया विधा को विशेष प्रतिष्ठा मिल रही थी। फैज़ाबाद से जब वे लखनऊ आ गये, तो उनकी काव्य प्रतिभा को विशेष प्रोत्साहन मिला। कर्बला के प्रसंग को लेकर उन्होंने जो काव्यग्रन्थ लिखा था, उसमें युद्ध का प्रसंग होने के कारण वीर भावना की भी अभिव्यक्ति हुई थी। घुड़सवारी और शस्त्रविद्या से परिचित होने के कारण उन्होंने मरसिया को वीर रसात्मक और महाकाव्यात्मक विन्यास भी प्रदान कर दिया था।

मीर की मरसिया शैली की रचनाएँ पाँच संग्रहों में प्रकाशित हैं। उनकी अन्य शैलियों की रचनाओं के भी दो संकलन हैं, अनीस के कलाम, अनीस की रुबाइयाँ। सन् १८५७ के विद्रोह के बाद जब नवाबी पूर्णतः समाप्त हो गयी तो उन्होंने इलाहाबाद, बनारस, पटना और हैदराबाद की यात्राएँ कीं। इन सभी स्थानों पर उनकी शायरी को विशेष सराहना मिली और उन्हें विशेष रूप से सम्मानित किया गया। सन् १८७४ में लखनऊ में ही उनका देहावसान हुआ। उनकी गणना उर्दू के वरिष्ठ कवियों में होती है; और मरसिया शैली का तो उन्हें सर्वश्रेष्ठ कवि कहा जाता है।

अनुभववाद (Experiencialism) वह सिद्धान्त, जिसमें इन्द्रियानुभव को ही ज्ञान का एकमात्र स्रोत माना जाता है। फ्रांसिस बेकन, हॉब्स, लॉक तथा फ्रांस के १८वीं शताब्दी के भौतिकवादी दार्शनिक, वस्तुगत रूप से अस्तित्ववान् इस जगत्–अनुभव को ही, एकमात्र सत्य स्वीकार करते हैं। इसी विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए प्रत्ययवादी, यथा बर्कले, ह्यूम, मॉर्क्स, आवेनार्युस, बाग्दानोव, जिन्हें तार्किक अनुभववादी भी कहा जाता है, अनुभव की संवेदनाओं के कुल योग को, वास्तविक सत्य स्वीकार, करते हैं। लेकिन कुछ तार्किक अनुभववादी यथा हॉब्स और ह्यूम कालान्तर में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मात्र इन्द्रियानुभव, ज्ञान में कोई आवश्यक तथा सामान्य अर्थ का समावेश करने में सक्षम नहीं है। बाग्दानोव ने भी आगे चलकर अपने को इस विचारधारा से अलग कर लिया था। उन्होंने कहा कि मात्र भौतिक अनुभव से ही काम नहीं चलेगा, उसके साथ मानसिक अनुभव भी जोड़ा जाना चाहिए। उनके इस विचार को आलोचनात्मक अनुभववाद की भी संज्ञा दी गयी है। ब्लादिमीर ई० लेनिन ने अपने ग्रन्थ 'भौतिकवाद तथा आलोचनात्मक भौतिकवाद' में इस दर्शन की आलोचना की है।

अनुभववाद का इधर समाजशास्त्रीय अध्ययनों में भी प्रचलन हुआ है। अध्ययन की इस विधा का प्रयोग, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका में ए० लाण्डबेर्ग, एस० डाड, मेयो आदि ने विशेष रूप से किया है। इधर उनकी कार्य–पद्धति की विशेष आलोचना हुई है। कहा जाता है कि ये समाजशास्त्री सामाजिक परिघटनाओं का यांत्रिक एकीकरण करते हैं। प्रश्नावलियाँ, भेंटवार्ताओं, सांख्यकीय सामग्री, गणितीय कार्य–यंत्र का उपयोग किया जाता है; लेकिन इन सभी विधियों में विश्वसनीय आधारभूत समग्र की उपलब्धि नहीं होती। इस आलोचना को स्वीकार करते हुए, कुछ प्रबुद्ध सिद्धान्तकार इन सीमाओं से बाहर निकलकर व्यापक समाजशास्त्रीय अध्ययन की विधाओं को प्रयोग में लाने लगे हैं, जिससे कि वर्तमान काल में उठने वाले प्रश्नों के समुचित उत्तर दिये जा सकें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेकान्त दर्शन यह दर्शन वस्तु स्वरूप का निर्णय करने वाले जैन दर्शन का एक सुनिश्चित सिद्धान्त है। 'अनेके अन्ताः यस्मिन सोऽनेकान्त', हरवस्तु अनेकान्त धर्मात्मक है, उसके अनेक पहलू हैं। एक ही वस्तु में सत्, असत्, एक, अनेक, भेद, अभेद, नित्य, अनित्य आदि अनेक धर्म पाये जाते हैं। एकान्तवाद वस्तु को सर्वथा सत् या असत्, नित्य या अनित्य ही मानता है। किन्तु अनेकान्त नयविवक्षा से वस्तु के सभी धर्मों को स्वीकार करता है। एक ही वस्तु अपने द्रव्य–क्षेत्र, काल–भाव (स्वचतुष्टय) की अपेक्षा सत् है किन्तु पर द्रव्य–क्षेत्र, काल–भाव की अपेक्षा असत् है। घट घट की अपेक्षा सत् है, किन्तु पर की अपेक्षा असत् है। समुदाय की अपेक्षा वस्तु एक रूप होने पर भी, गुण–पर्याय की अपेक्षा अनेक रूप हो सकती है। द्रव्य की अपेक्षा, वस्तु नित्य होने पर भी, पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। अनेकान्त दृष्टि से प्रत्येक वस्तु, उत्पाद, व्यय और ध्रौन्व्यगुण से युक्त है। सुवर्ण के कड़े को गलाकर उसका कुंडल बनाने पर, कड़े का विनाश होता है, कुंडल की उत्पत्ति होती है, किन्तु स्वर्ण ज्यों का त्यों रहता है। एक ही व्यक्ति बाल्यावस्था से युवावस्था को और युवावस्था से वृद्धावस्था को प्राप्त होता है, तो उसकी पर्याय बदल जाती है; किन्तु व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व ज्यों का त्यों रहता है। एक ही व्यक्ति अपने पिता का पुत्र और अपने पुत्र का पिता भी होता है। वही किसी का चाचा, किसी का ताऊ, किसी का भतीजा, किसी का फूफा, किसी का मामा, किसी का नाना और किसी का दादा भी हो सकता है। एक ही वस्तु अपने से छोटी वस्तु की अपेक्षा बड़ी, और बड़ी की अपेक्षा छोटी भी हो सकती है। ऐसी स्थिति में किसी एक धर्म या गुण के कथन से वस्तु का समग्र स्वरूप प्रतिपादित नहीं हो सकता। वस्तु के समग्र स्वरूप का प्रामाणिक प्रतिपादन करने के लिए, नयविवक्षा स्वीकार की गयी है। इसके द्वारा एक समय में वस्तु के एकधर्म का कथन करते हुए भी अन्य धर्मों को गौणरूप से स्वीकार किया जाता है। अनेकान्तवाद वस्तु के विवक्षित धर्म का कथन करते समय, अन्य धर्मों का निषेध नहीं करता।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन का सापेक्षवाद, इसी अनेकान्त दर्शन का समर्थक है। मानव बुद्धि, वस्तु स्वरूप को जानने में समर्थ तो है, किन्तु पूर्णज्ञान (सर्वज्ञता) प्राप्त किये बिना वह उसे पूर्णरूप से नहीं जान सकती। क्षायोपशमिक ज्ञान (आंशिक ज्ञान) प्राप्त व्यक्ति, दूसरों के ज्ञान का निषेध नहीं कर सकता। अतः दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास न कर, किसी भी व्यक्ति का यह कहना कि मेरा ही दृष्टिकोण सही है, मेरा ही कथन सही है, उचित नहीं है।

जैसे कुछ नेत्रहीन व्यक्ति हाथी के पृथक्–पृथक् अवयवों का स्पर्श करके सम्पूर्ण हाथी के आकार को न जान सकने के कारण परस्पर वाद–विवाद करते हैं, कोई हाथी के पैरों का स्पर्श करके उसे खम्भे के समान बताता है, कोई कान का स्पर्श करके उसे सूप के समान कहता है, तो कोई पीठ का स्पर्श कर उसे कछुए के समान घोषित करता है, किन्तु नेत्रवान् व्यक्ति, हाथी के सम्पूर्ण अंगों को देखकर, उसका सम्यक् विवेचन करता है। उसी प्रकार एकान्तवाद, वस्तु के अनेक धर्मों में से, किसी एक ही धर्म का कथन करता है; किन्तु अनेकान्तवाद नयविवक्षा से सभी धर्मों का समीचीन कथन करता है। यह सत्य, अहिंसा, वैचारिक सहिष्णुता तथा सर्वधर्मसमभाव से अनुप्रमाणित तीर्थंकर महावीर का एक सार्वभौमिक सिद्धान्त है। जैनाचार्यों ने इसे सभी शास्त्रों का प्राण कहा है।

अन्नकूट कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को, दीपावली के दूसरे दिन मनाया जाने वाला एक विशेष पर्व। इस पर्व पर कुछ अन्नों को एकत्र करके उन्हें कूट पीसकर फिर एक साथ पकाया जाता है। भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रदेशों में थोड़े–बहुत अन्तर के साथ, विभिन्न प्रकार के अन्नों को एकत्र कर उनके पूजन, उन्हें एकसाथ पकाने और फिर उन्हें प्रसाद के रूप में वितरित करने के विधान हैं।

अन्नपूर्णा–(१) हिमालय की एक पर्वत–श्रेणी; जो नेपाल के उत्तर–मध्य भाग में स्थित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। यह शिखर माला काली गण्डक और मरस्यान्दी नदियों के बीच लगभग ४८ कि०मी० लम्बाई तक फैली हुई है। इस अन्नपूर्णा पर्वतमाला के चार मुख्य शिखर हैं : अन्नपूर्णा–I ८०९१ मीटर, अन्नपूर्णा–II ७६३७ मीटर ऊँचे। इनमें पहला पश्चिम और दूसरा पूर्वी सीमा पर है; बीच में अन्नपूर्णा–III ७५५५ मीटर और अन्नपूर्णा–IV ७५२५ मीटर ऊँचे हैं। नेपाल के उत्तर में एवरेस्ट शिखर, जो ८५८० मीटर ऊँचा हैं, संसार का सबसे ऊँचा शिखर है। उसके बाद अन्नपूर्णा–I शिखर का नाम आता है। सन् १८५० में मॉरिस हेज़्जाग़ के नेतृत्व में फ्रांसीसी अभियान–दल ने सर्वप्रथम उस पर चढ़ाई की थी। हेज़्जाग़ अपने साथी लुई लचेनल के साथ, ३ जून को वहाँ पहुँचा था। अन्नपूर्णा–IV पर ३० मई १९५५ को एच० बिलर, एच० स्टीनमेट्ज़ और जे० वेलेनकॉम पहुँचे थे। सन् १९६० की १७ मई को जेम्स ओ० एम० रॉबर्ट्स के नेतृत्व में, आर०एच० ग्रान्ट और सी० जे० बेनिंग्टन ने अन्नपूर्णा–II पर चढ़ाई की थी। सन् १९७० में जापान के एक महिला मण्डल ने अन्नपूर्णा–III को विजित किया था। अन्नपूर्णा शिखर इस प्रकार आरोहियों को अभियान के लिए आमंत्रित करते रहे हैं।

अन्नपूर्णा–(२) भारतीय देवमण्डल में धन धान्य प्रदान करने वाली देवी का नाम। इनका भण्डार सर्वथा अक्षय रहता है। इन्हें पौराणिक आख्यानों में दुर्गा का कोमलकान्त, स्नेहशील और वात्सल्यमय स्वरूप कहा गया है। अन्नकूट के अवसर पर जो कार्तिक प्रतिपदा को पड़ता है, अन्नपूर्णा की विशेष रूप से पूजा की जाती है।

अपभ्रंश भाषा मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल १५०० ई० पूर्व से ५०० ई० पूर्व तक माना जाता है। इस काल को तीन भाषाओं में विभक्त किया गया है – (क) पालि (५०० ई० पूर्व से १ ई० तक), (ख) प्राकृत (१ ई० से ५०० ई० तक), तथा (ग) अपभ्रंश (५०० ई० से १००० ई० तक)। अपभ्रंश के अनेक रूप हैं। उनके नाम, स्वरूप और संख्या के बारे में विद्वान् एकमत नहीं हैं। संस्कृत वैयाकरणों ने संस्कृत के अतिरिक्त सभी भाषाओं को अवहट्ट कहा हैं। अपभ्रंश को अवहंस, अपभ्रष्ट, अपहट्ट भी कहते रहे हैं। मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृत सर्वस्व' में अपभ्रंश के सत्ताईस भेद किये हैं, जैसे – ब्राचड़, लाट, वैदर्भ, उपनागर, नागर, बार्बर, अवन्त्य, पांचाल, टक्क, मालव, कैकय, गौड, औड्र, वैवपाश्चात्य, पाण्ड्य, कौन्तल, सैंहल, कालिंग्य, प्राच्य, कर्णाट, कांच्य, द्राविड, गौर्जर, आभीर, मध्यदेशीय, वैताल आदि। लेकिन इन सभी अपभ्रंशों के साहित्य उपलब्ध नहीं है। नामिसाधु ने 'काव्यालंकार' की टीका में अपभ्रंश के तीन भेद किये हैं – नागर, आभीर और ग्राम्य। मार्कण्डेय ने भी तीन ही भेद किये हैं, किन्तु नाम दिये हैं – नागर, उपनागर और ब्राचड़।

आधुनिक विद्वानों में डॉ० याकोबी ने 'सनत्कुमार चरिउ' की भूमिका में अपभ्रंश के चार भेद किये हैं – पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी और उत्तरी। डॉ० तगारे ने 'हिस्टारिकल ग्रामर ऑफ़ अपभ्रंश' की भूमिका में तीन भेद किये हैं – पूर्वी, पश्चिमी, और दक्षिणी। डॉ० नामवर सिंह ने 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' में अपभ्रंश के दो ही भेद माने हैं – पश्चिमी और पूर्वी। डॉ० भोलानाथ तिवारी ने 'हिन्दी भाषा' में अपभ्रंश की सात बोलियों का उल्लेख किया है – ब्राचड़, कैकय, टक्क, शौरसेनी, महाराष्ट्री, अर्धमागधी और मागधी। अन्यत्र उन्होंने शौरसेनी और मागधी के पश्चिमी और पूर्वी दो–दो भेद करते हुए अपभ्रंश की नौ बोलियों का निर्धारण किया है, तथा उन्हें आधुनिक भाषाओं और बोली रूपों को इस प्रकार जोड़ा है :– १. ब्राचड़ > सिन्धी; २. कैकय > लहँदा; ३. टक्क > पंजाबी; ४. पश्चिमी शौरसेनी > गुजराती, राजस्थानी, पहाड़ी; ५. पूर्वी शौरसेनी > पश्चिमी हिन्दी; ६. अर्धमागधी > पूर्वी हिन्दी; ७. पश्चिमी मागधी > बिहारी; ८. पूर्वी मागधी > बंगला, असमिया, उड़िया; ९. महाराष्ट्री > मराठी।

वस्तुतः डॉ० भोलानाथ तिवारी ने अपभ्रंश के उक्त भेद शुद्ध क्षेत्रीय आधार पर किये हैं, डॉ० याकोबी, डॉ० तगारे तथा डॉ० नामवर सिंह ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो भेद किये हैं, वे साहित्यिक अपभ्रंशों के आधार पर किये हैं। साहित्यिक अपभ्रंशों के डॉ० तिवारी ने चार भेद माने हैं – पश्चिमी, मध्यवर्ती, पूर्वी तथा दक्षिणी।

अपभ्रंश साहित्य अपभ्रंश मध्यकालीन और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के बीच की कड़ी है। अपभ्रंश का साहित्य संस्कृत और प्राकृत साहित्य के समान ही विशाल है। इस साहित्य में वे ही जीवन–तत्त्व विद्यमान हैं, जो उक्त दोनों भाषाओं के साहित्य में हैं। भारतीय और यूरोपीय विद्वानों के परिश्रम के फलस्वरूप अपभ्रंश–साहित्य की विपुलता का पता, बीसवीं शती के प्रथम दशक के बाद चला। अपभ्रंश–साहित्य के प्रति विद्वानों की उपेक्षात्मक भावना को देखकर, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है– 'इधर जैन अपभ्रंश चरितकाव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई, वह सिर्फ धार्मिक सम्प्रदाय के मुहर लगाने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है। स्वयंभू, चतुर्मुख, पुष्पदन्त और धनपाल जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्य क्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते।'

मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृत–सर्वस्व' में नागर, उपनागर और ब्राचड़ के अतिरिक्त सत्ताईस भेदों की चर्चा की है, किन्तु विद्वानों ने अपभ्रंश–साहित्य का विवेचन दो भेदों के आधार पर ही किया है – पश्चिमी अपभ्रंश और पूर्वी अपभ्रंश।

पश्चिमी अपभ्रंश साहित्य

जैन साहित्य पश्चिमी अपभ्रंश–साहित्य को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है – जैन और जैनेतर। जैन–साहित्य में प्रबन्धात्मक और मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। प्रबन्धात्मक साहित्य में पुराण साहित्य, चरितकाव्य तथा कथाकाव्य मिलते हैं। प्रबन्धात्मक काव्यों में आठवीं–नवीं शती के स्वयंभू के दो ग्रन्थ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं – 'पउमचरिउ' तथा 'रिट्ठणेमिपरिउ' या 'हरिवंश पुराण'।

पउमचरिउ पउमचरिउ या पद्मचरित ६० संधियों एवं १२ हजार पद्यों में विभक्त है। इसमें पाँच काण्ड हैं। प्रथम काण्ड में २०, द्वितीय काण्ड में २२, तृतीय में १४, चतुर्थ में २१, और पंचम में १३ संधियाँ हैं। इस ग्रन्थ की ६० संधियों में से ८३ ही स्वयंभू के द्वारा लिखी गयी हैं। अन्तिम शेष सात उनके पुत्र त्रिभुवन द्वारा जोड़ी गयी हैं।

रिठणेमिचरिउ इसे 'हरिवंश पुराण' भी कहा जाता है। इसमें कवि ने अपने पूर्ववर्ती शास्त्रकारों एवं कवियों का नामोल्लेख करते हुए कृतज्ञता ज्ञापित की है। इसमें ११२ संधियाँ ८ हजार पद्यों में विभक्त हैं, इनमें से ६२ संधियों की रचना स्वयंभू ने की है और शेष की उनके पुत्र त्रिभुवन ने। राहुल जी के अनुसार स्वयंभू भारत के एक दर्जन अमर कवियों में से एक थे। स्वयंभू का कवित्व उच्चकोटि का है। उसकी कल्पना, भावप्रवणता, शैली की नवीनता और सौन्दर्यवर्णन अमर रहेंगे।

स्वयंभू के बाद पुष्पदन्त का स्थान आता है। दसवीं शताब्दी के इस कवि की रचना 'महापुराण' अपभ्रंश–साहित्य की बहुमूल्य कृति है।

तिसट्टि महापुरिस गुणालंकार या महापुराण : पुष्पदन्त के इस ग्रन्थ में आदिपुराण और उत्तर पुराण दो भाग हैं। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का वर्णन ३६ संधियों में, रामचरित ११ संधियों में तथा कृष्णचरित १३ संधियों में वर्णित है।

इनके अतिरिक्त पुराण ग्रन्थों में दसवीं शताब्दी के पद्मकीर्ति का 'पासणाह चरिउ', दसवीं–ग्यारहवीं शताब्दी के धवल का 'रिठणेमि चरिउ', ग्यारहवीं–बारहवीं शताब्दी के धाहिल का 'पउम सिरि चरिउ', बारहवीं शताब्दी के हरिभद्र का 'णेमिणाह चरिउ' तथा तेरहवीं शताब्दी के श्रीधर का 'पासणाह चरिउ' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जैनों के उपर्युक्त पुराण ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक चरितकाव्य मिलते हैं। यद्यपि पुराण ग्रन्थों में भी चरितों का वर्णन रहता है पर उसके प्रमुख पात्र महत्तम और उसका विषय व्यापक होता है। चरितकाव्यों में णायकुमार चरिउ, जसहर चरिउ तथा करकंडु चरिउ अधिक प्रसिद्ध हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

णायकुमार चरिउ इसके लेखक पुष्पदन्त के शिष्यों ने तथा महामात्य नन्न ने श्रुतपंचमी की कथा सुनने का आग्रह किया तब पुष्पदन्त ने यह चरितकाव्य लिखा।

जसहर चरिउ यह भी पुष्पदन्त की रचना है। यह चार संधियों का एक खण्डकाव्य हैं। इसमें भी जैनधर्म की महत्ता बतायी गयी है। एक बालक यशोधर और उसके साथ रहने वाली एक बालिका है, जो पूर्वजन्म में उसकी माँ थी। इन दोनों ने अपने पूर्वजन्म की कथा यौधेय नरेश को सुनायी।

करकंडु चरिउ इसके लेखक मुनि कनकामर हैं। इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी है। जैन–बौद्ध परम्परा के अनुसार करकंडु नरेश प्रत्यकबुद्ध नाम से प्रसिद्ध हैं। युवावस्था में इन्होंने अनेक लड़ाइयाँ लड़ीं।

उक्त चरित्काव्यों के अतिरिक्त ग्यारहवीं शताब्दी के नयनंदि का 'सुदंसण चरिउ', श्रीधर का 'सुकमाल चरिउ', हरिभद्र का 'संणकुमार चरिउ', पन्द्रहवीं शताब्दी के रईघू का 'श्रीपाल चरिउ' भी प्रसिद्ध हैं।

पुराण और चरितकाव्यों के अतिरिक्त पश्चिमी अपभ्रंश–साहित्य में कुछ कथाकाव्य भी प्राप्त होते हैं। इन कथाओं के माध्यम से कवियों ने व्रत, उपवास आदि जैनधर्म से सम्बन्धित आचरणों की शिक्षा दी है। इस प्रकार के जैन ग्रन्थों में पंचतंत्र, कथासरित्सागर एवं बौद्ध जातक कथाओं की भाँति जन्मान्तर की कहानियाँ मिलती हैं। इनमें 'भविसयत्त कहा' जैन सम्प्रदाय के प्रचार के लिए एक प्रमुख कथाकाव्य है।

भविसयत्त कहा इसको 'सुयपंचमी' भी कहा गया है। यह कथा दसवीं शताब्दी के णनपाल की कृति है। जर्मन विद्वान् डॉ० हारमन याकोबी, भारतीय विद्वान् चमनलाल डाह्याभाई दलाल एवं पांडुरंग गुणे के परिश्रम से यह ग्रन्थ प्रकाश में आया। यह २२ संधियों का कथाकाव्य है। इसमें भविष्यदत्त नामक एक ऐसे वणिक्पुत्र की कथा है, जो विदेश में सौतेले भाई के द्वारा पीड़ित किये जाने पर भी पंचमी कथा की महिमा से बच जाता है।

इसके अतिरिक्त श्रीधर की 'भविसयत्त पंचमी कहा', यश कीर्ति की 'जिनरन्ति कहा' और रविवउ कहा', रइघू की 'अणथमी कहा', और 'पुण्यासव कहा' भी लोकजीवन से सम्बन्ध रखने वाली उपदेशात्मक एवं रसात्मक कथाएँ हैं।

इनके अतिरिक्त जैन अपभ्रंश–साहित्य में रास या रासा ग्रन्थ भी हैं, जिनकी परम्परा गुजराती या राजस्थानी में अधिक है।

जैनेतर साहित्य पश्चिमी अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों के अतिरिक्त जैनेतर काव्य भी मिलते हैं। इनमें शुद्ध लौकिक श्रृंगारिक रचनाओं में 'संदेश रासक' का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

संदेश रासक ग्यारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के बीच के विद्वान् अद्दहमाण का शुद्धनाम अब्दुल रहमान था। वे जाति के जुलाहे थे। 'संदेश रासक' इन्हीं की रचना है। इस काव्य की तुलना 'मेघदूत' से की जाती है। इसकी कहानी तीन प्रक्रमों में समाप्त हुई है। इसमें कुल २२३ छन्द हैं, जिनमें रड्डा, दोहा, डोमलिय, गाहा आदि कई प्रकार के छन्द हैं। इस काव्य में विजयनगर की कोई प्रोषितपतिका मार्ग में जाते हुए पथिक के द्वारा अपने पति के पास सन्देश भेजती है।

प्रबन्ध काव्यों के अतिरिक्त पश्चिमी अपभ्रंश में मुक्तक काव्य भी मिलते हैं, जिन्हें हम पुनः दो भागों में विभाजित कर सकते हैं – जैनियों द्वारा लिखित तथा जैनेतर लौकिक श्रृंगारिक। जैनसिद्ध कवियों द्वारा लिखित साहित्य में दसवीं शताब्दी के जोइंदू के 'परमाप्य पयास' तथा 'योगसार', ग्यारहवीं शताब्दी के मुनि राम सिंह का 'पाहुड़ दोहा' अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त सुप्रभाचार्य का 'वैराग्यसागर', देवसेन का 'सावयधम्म दोहा', मुनि हेमचन्द्र का 'दोहापाहुड़', आनन्द का 'आनन्दानन्द स्तोत्र', जिनदत्त सूरि का 'कालस्वरूपकुलक' आदि मुक्तक रचनाएँ हैं। 'प्रबन्ध चिन्तामणि', 'प्रबन्धकोश', 'सरस्वती कण्ठाभरण' आदि में भी मुक्तक प्राप्त होते हैं। सरह और कण्ह जैसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बौद्ध सिद्धों के दोहों को भी कई विद्वान् पश्चिमी अपभ्रंश की रचनाएँ मानते हैं।

पूर्वी अपभ्रंश

पूर्वी अपभ्रंश में पश्चिमी अपभ्रंश के समान वृहद् प्रबन्धात्मक काव्य नहीं मिलते। फिर भी प्रबन्ध रचनाएँ उपलब्ध हैं। पूर्वी अपभ्रंश में मुक्तक रचनाएँ अधिक हैं।

कीर्तिलता चौदहवीं शताब्दी के विद्यापति की 'कीर्तिलता' एक विशुद्ध लौकिक प्रबन्धकाव्य है। यह परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट की रचना मानी जाती है।

इसकी कथा चार पल्लवों में विभक्त है। भृंग और भृंगी के संवादों से इसकी कथा प्रारम्भ होती है। इसमें ओइनीवंश में उत्पन्न गणेश्वर के पुत्र वीरसिंह के छोटे भाई कीर्तिसिंह का चरित वर्णन है। इस आख्यायिका में कीर्तिसिंह और वीरसिंह की जौनपुर यात्रा, जौनपुर के बाजार का वर्णन, वेश्याओं का वर्णन, सेनाप्रयाण और युद्धवर्णन कुशलता और सुन्दरता के साथ किया गया है। कवि को अपनी भाषा पर गर्व है। दोहा, रड्डा आदि छंदों का प्रयोग किया गया है।

कीर्तिपताका यह भी विद्यापति की रचना है, जिसमें मैथिली अपभ्रंश के नमूने 'वर्णरत्नाकर' के समान प्राप्त होते हैं। यह शुद्ध साहित्यिक और लौकिक कृति है, जो अपने आश्रयदाता से सम्बन्धित है।

वर्णरत्नाकर ज्योतिरीश्वर ठक्कुर का एक वर्ण कोश है।

उक्ति–व्यक्ति–प्रकरण 'उक्ति–व्यक्ति–प्रकरण' दामोदर पंडित की रचना, जो भाषा जानने के लिए महत्त्वपूर्ण है। साहित्यिक दृष्टि से इसका उतना मूल्य नहीं है।

प्राकृत पैंगलम् इस ग्रन्थ में भी कुछ छंद हैं, जिन्हें पूर्वी अपभ्रंश कहा जाता है।

बौद्धसिद्ध कवियों के चर्यापद और गीतिपद भी पूर्वी अपभ्रंश के उदाहरण हैं। पूर्वी अपभ्रंश की प्रमुख मुक्तक रचनाएँ 'बौद्ध गान ओ दोहा' में संग्रहीत हैं। राहुल जी ने 'पुरातत्त्व निबंधावली' में चौरासी बौद्ध सिद्धों पर विचार किया और 'हिन्दी काव्यधारा' में भी उनमें से कइयों को स्थान दिया। सरह का 'दोहाकोश' भी पूर्वी अपभ्रंश की रचना है। राहुल जी सरह को पहले हिन्दी का प्रथम कवि मानते थे, बाद में अपभ्रंश का मानने लगे थे। धर्मवीर भारती ने अपने 'सिद्ध साहित्य' में पूर्वी अपभ्रंश की सामग्री पर विशेष रूप से विचार किया है।

अपराध का अर्थ, वह कार्य जो किसी व्यक्ति, समुदाय अथवा समाज को कष्ट दे, दुखी करे। इस प्रकार के व्यवहार का उद्भव तो आदिम काल में ही हो गया था : कोई भी कार्य, जो तत्कालीन मान्यता के विपरीत होता था, किसी व्यक्ति या समुदाय को दुखी करता था, उसे अपराध कहा जाता था। कालान्तर में, विश्व के अलग–अलग समुदायों ने, अपनी अपेक्षानुसार नियम बनाये और उनकी अवहेलना अपराध कही जाने लगी। जब राज्य–व्यवस्था विकसित हुई, तो राजकीय नियम बनने लगे। आज उन नियमों अथवा आचार–संहिता ने संविधान तथा कानून का रूप ले लिया है; लेकिन विश्व के सभी देशों का कोई सार्वभौमिक संविधान अथवा विधि–संहिता नहीं है। सभी के अपने–अपने विधान हैं, और वे उनके अनुसार निर्धारित है।

भारतीय चिन्तनधारा के प्रारम्भ में आचार–संहिता को 'धर्मशास्त्र' की संज्ञा दी गयी थी। 'धर्मशास्त्र' के नियम, सदा स्मरणीय समझे जाते थे, इसलिए उन्हें 'स्मृति–ग्रन्थ' कहा जाता था। 'याज्ञवल्क्य स्मृति', 'मनुस्मृति' आदि ग्रन्थ, इसी कोटि में आते हैं। इन ग्रन्थों में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि, सभी प्रकार के नियम बताये गये हैं। भारतीय धर्मशास्त्रों में उन नियमों के उल्लंघन को लेकर, सामान्य रूप से ३२ प्रकार के अपराध बताये गये हैं। यह संख्या, देशकाल और सामाजिक मान्यताओं के अनुसार, घटती, बढ़ती रही है; इसलिए अलग–अलग स्मृति–ग्रन्थों में अपराधों की संख्या और उनके दण्ड के विधान अलग–अलग हैं। इस सम्बन्ध में नारद, बृहस्पति,

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाराशर, याज्ञवल्क्य, मनु, कात्यायन आदि के ग्रन्थ अवलोकनीय हैं।

पश्चिम में भी अपराध को लेकर समय–समय पर विचार–विमर्श होता आया है। सार्जेण्ट स्टीफ़ेन्स ने कहा है कि किसी समुदाय या समाज का बहुमत, जिसे सही समझता है, उसके विपरीत आचरण अपराध है। ब्लैकस्टन लिखते हैं कि किसी समुदाय के प्रति, व्यक्ति के जो कर्तव्य एवं अधिकार हैं, उनकी अवहेलना करने वाला कार्य अपराध है। सदरलैण्ड के अनुसार किसी समाज की जो आचार–संहिता है, उसके किसी नियम की उपेक्षा अपराध है। माइकल एडलर का कहना है कि समाज विशेष की न्यायिक–व्यवस्था का उल्लंघन अपराध है। इन विचारों के अनुसार किसी राज्य द्वारा निर्धारित विधि–व्यवस्था की उपेक्षा अपराध है।

अपराध के मूलतः दो प्रकार माने गये हैं, एक तो व्यक्तिगत जिन्हें 'टार्ट' कहा गया है, और दूसरे वे, जो किसी समुदाय, राज्य एवं समाज के प्रति किये जाते हैं। अगर कोई किसी व्यक्ति को हानि पहुँचाता है, तो उस पर दीवानी अदालत में विचार होता है। लेकिन इस प्रकार के अपराध में अगर किसी हथियार का प्रयोग किया गया हो, तो विचार फौज़दारी अदालत में होता है। किसी समुदाय, समाज या राज्य के प्रति किये गये अपराध पर, उसके प्रकार के आधार पर, दोनों में से किसी भी अदालत में विचार होता है। एक तीसरे प्रकार के अपराध वे हैं जिसमें किसी नियम को तोड़ना अनुचित समझा जाता है, यथा 'सड़क का नियम'। भारत में सड़क पर बायीं ओर चलने का नियम है; लेकिन कुछ देशों यथा– पाकिस्तान में दाहिनी ओर चलना ठीक माना जाता है। सड़क के इस नियम के आधार पर ही, यातायात नियंत्रित होता है। अगर इस नियम का पालन न हो, तो अनेक प्रकार की छोटी–बड़ी दुर्घटनाएँ हो जाती हैं; इसीलिए सड़क के नियम की उपेक्षा भी दण्डनीय है। इसी प्रकार अलग–अलग क्षेत्रों में वाहनों की गति के नियम भी होते हैं, उनकी अवहेलना अपराध समझी जाती है।

अपराध के दो प्रकार और माने गये हैं, सामान्य दुराचार और क्रूर कर्म, जैसे हत्या इत्यादि। पश्चिम में १७वीं शताब्दी तक क्रूर–अपराधों को बड़ी गम्भीरता के साथ लिया जाता था; और उनके लिए प्राणदण्ड की सजा दी जाती थी। उसके बाद दण्ड–विधान में कुछ लचीलापन आया है; और केवल अत्यन्त बड़े ही गम्भीर अपराध पर प्राणदण्ड की व्यवस्था की गयी है। दुराचार और क्रूर–कर्म के बीच का अन्तर १९६७ से समाप्त कर दिया गया है। क्रूर–अपराधों के अन्तर्गत केवल वे अपराध आते हैं, जिनमें बिना वारण्ट के भी गिरफ़्तारी की जा सकती है। अपराध के दो अन्य प्रकार, एक सामान्य अपराध, जिस पर संक्षेप में विचार कर लिया जाता है; और दूसरे अध्यारोपीय (इंडिक्टेबुल) अपराध। सामान्य अपराधों पर मजिस्ट्रेट बिना परामर्श–मंडल (जूरी) के विचार कर लेता है; लेकिन अध्यारोपीय अपराधों पर, परामर्श–मंडल को लेकर विचार होता है।

पाश्चात्य साहित्य में ग्रीस के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात को उनके स्पष्ट कथन के लिए अपराधी समझा गया था। उनके शिष्य प्लेटो ने अपने 'एपॉलॉजी' संवाद में लिखा है कि सुकरात को नवयुवकों को बिगाड़ने तथा राज्य द्वारा स्वीकृत देवताओं को नकार कर, नये देवताओं को प्रतिष्ठित करने का अपराधी घोषित किया गया था; और उसके लिए उन्हें प्राण–दण्ड भोगना पड़ा था। प्राचीन ईरान के प्रसिद्ध सन्त मंसूर को अपनी आध्यात्मिक चेतना के आधार पर 'अनल हक़' (मैं ही ब्रह्म हूँ) कहने के लिए, शूली पर चढ़ा दिया गया था। विश्व के इतिहास में और भी अनेक ऐसे महापुरुष मिलते हैं, जिन्हें इसी प्रकार बिना अच्छी तरह सोचे–विचारे मृत्यु का दण्ड भोगना पड़ा था।

पश्चिम में अपराध को लेकर, पिछली दो–तीन शताब्दियों में बड़ा चिन्तन–मनन चलता रहा है, और ज्ञान की एक नयी शाखा विकसित हुई है, जिसे क्रिमिनोलॉजी (अपराध विज्ञान) कहते हैं। उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्गत अपराध के कारणों, उनकी प्रकृति, विभिन्न प्रकार, उन्हें रोकने के उपायों आदि पर विचार किया गया है। १६वीं शताब्दी तक अपराध को सामान्यतः अनैतिक आचरण मात्र समझा जाता था। इटली के सेसरे लायब्रोसो ने १८७६ में यह लिखा कि अपराधी जन्मजात होते हैं; और उन्हें उनकी शारीरिक संरचना से पहचाना जा सकता है। उनका माथा, प्रायः कुछ भीतर की ओर धँसा होता है। यद्यपि यह विचार अब मान्य नहीं है तथापि यह कहा जाता है कि कुछ शारीरिक विकृतियाँ, मनुष्य के अपराधी होने की ओर संकेत देती हैं। इधर गरीबी, माता–पिता की उपेक्षा, विभिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक दबावों को अपराध का मूल कारण माना जाने लगा है, फिर भी यह अक्सर देखने को मिलता है कि किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में रहने वाला एक व्यक्ति तो अपराधी हो जाता है, लेकिन दूसरा सही रास्ते पर चलता रहता है।

अपराध के दो और रूपों की चर्चा इधर चल रही है, एकल और संगठित अपराध। संगठित अपराध के अन्तर्गत विशेष रूप से माफ़िया गिरोहों की चर्चा होती है। इस सम्बन्ध में एक बड़ा प्रसिद्ध उपन्यास भी है 'दि गॉड फ़ादर', जिसमें इटली से अमेरिका आये एक व्यक्ति की, परिस्थितियों की प्रेरणा से माफ़िया गिरोह खड़ा करने की कहानी है। इस उपन्यास पर फिल्म भी बनी, जो बड़ी लोकप्रिय हुई है। कुछ माफ़िया गिरोह केवल देश की सीमा के भीतर ही नहीं, अन्य देशों में भी अपना जाल फैलाये हुए हैं। उन्हें पकड़ने के लिए 'इन्टरपोल' (इन्टरनेशनल क्रिमिनल पुलिस आर्गेनाइज़ेशन) की स्थापना सन् १९२३ में हुई थी। यह संस्था सोना, चाँदी, नशीले पदार्थों आदि की तस्करी के साथ, आतंकवादी गिरोहों को पकड़ने में सहायक सिद्ध हो रही है।

पश्चिम में इधर अपराध विज्ञान (क्रिमिनोलॉजी) की जो एक नयी शाखा विकसित हो रही है, हिन्दी में भी इस दिशा में परिपूर्णानन्द वर्मा ने विशेष कार्य किया है। उनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। सी०के० गांधीराजन ने, जो तमिलनाडु में भारतीय पुलिस सेवा के वरिष्ठ अधिकारी हैं, बड़ी अनुसन्धानशील मनोवृत्ति को लेकर, संगठित अपराध पर 'आर्गेनाइज्ड क्राइम' नाम की पुस्तक लिखी है।

अपरिग्रह इस शब्द का अर्थ है, परिग्रह (ग्रहण) या संचय न करना। सामर्थ्य होते हुए भी, अपनी आवश्यकता से अधिक अर्जन – इकट्ठा न करना। इस प्रकार परिग्रह अर्थात् संचय निषिद्ध तो नहीं है, लेकिन देश या विश्व के जनसामान्य की आर्थिक दशा को देखते हुए, आत्म–संयम के रूप में अपरिग्रह को आवश्यक माना गया है। अर्जन करने में समर्थ होते हुए भी, आवश्यकता को न्यूनतम रखते हुए, केवल जीवित, रहने के लिए अर्जन करना और उसका सदुपयोग करना चाहिए। विशेषतः अपने चारों ओर की विपन्नता, निर्धनता और बेकारी के ताण्डव को देखते हुए, अपनी सुख–सुविधा और भोग–विलास के लिए संग्रह करना, नैतिक, मानवीय, धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से नितान्त अनुचित है। इसी जीवन–दृष्टि को अपरिग्रह माना गया है। इसे सभी धर्मों के अन्तर्गत स्वीकृति मिली है। इस परम्परागत जीवनमूल्य को साम्यवाद में भी मान्यता मिली है, जहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति को चोरी माना गया है। चोरी केवल अंधेरे में नहीं होती; स्वार्थ–सिद्धि के लिए, अपनी क्षमता से दूसरों की विवशता का दुरुपयोग करते हुए, अनावश्यक सम्पत्ति अर्जन करना भी चोरी ही है। जहाँ अधिसंख्यक या अल्पसंख्यक दोनों ही, बेकारी–भूख से संतप्त हो, वहाँ अपनी शक्ति के बल पर अधिक अर्जन करना वास्तव में दूसरों का हिस्सा छीनना है। अतः अपरिग्रह न केवल सामाजिक व्यवस्था के लिए अनिवार्य है, अपितु भोग–विलास के विनाशक दुष्परिणाम से बचने के लिए, संयमपूर्ण जीवन बिताने के लिए भी नितान्त आवश्यक है। समाज में सन्तुलन बनाये रखने के लिए अपरिग्रह अनिवार्य है, क्योंकि इसके अभाव में अशान्ति, असन्तोष और उपद्रव, भड़कते रहते हैं। कबीर, नानक, रैदास आदि सन्त कवियों ने सहज जीवन यापन के दर्शन का प्रतिपादन कर,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपरिग्रह का विशेष रूप से आग्रह किया है। कविवर रहीम ने तो इस संदर्भ में एक दोहा लिखा है :

रहिमन इतना दीजिये, जामे कुटुम समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय।।

परिग्रह से बचने की यह सम्यक् सलाह है।

अपस्मार (मिरगी) अपस्मार मस्तिष्क के किसी एक भाग की कार्य प्रणाली में विकृति के फलस्वरूप उत्पन्न रोग हैं। शरीर का प्रत्येक कार्य मस्तिष्क के एक विशेष स्थान से संचालित होता है। उदाहरण के लिए हमें बाहु या जंघा को गतिशील करना हो, तो व्यक्ति की इच्छानुसार मस्तिष्क के स्थान विशेष की कोशिकाएँ (ब्रेन सेल्स), जो उसी कार्य के लिए नियुक्त होती हैं, उत्तेजित होती हैं और वहाँ से तंत्रिकाओं (नर्व्स) द्वारा विद्युत् प्रवाह के रूप में बाहु या जांघ की मांसपेशियों को संचालित करने का आदेश होता है। मस्तिष्क के उस भाग में उत्तेजना यदि असामान्य संवेग के रूप में हो, तो संबंधित अंग का परिचालन असामान्य रूप से बिना व्यक्ति की इच्छा के होने लगेगा अर्थात् उसे झटकों के दौरे आने लगेंगे और यह अपस्मार का एक रूप होगा। मूल रूप से इसमें मस्तिष्क–कोशिकाओं से विद्युत् प्रसार असामान्य रूप से अधिक मात्रा में होने लगता है।

सर्वाधिक दशाओं में अपस्मार का जो प्रकार देखने को मिलता है, उसमें व्यक्ति चेतनाशून्य हो जाता है। शरीर के किसी एक तरफ के हाथ–पैर में झटके आने लगते हैं। झटके रुक–रुक कर कई बार आते हैं। गरदन में तनाव आ जाता है और वह एक ओर घूम जाती है। मुँह से झाग निकलता है और जीभ दाँतों से कट सकती है। गिरने से चोट भी लग सकती है। कभी–कभी अनैच्छिक रूप से मल–मूत्र त्याग हो सकता है। इस प्रकार के अपस्मार को 'गुरु अपस्मार–अभिग्रहण' कहते हैं। इसके अतिरिक्त अपस्मार के अनेक छोटे–बड़े प्रकार होते हैं।

अपस्मार का कारण मस्तिष्क के स्थान विशेष में असामान्य उत्तेजना उत्पन्न होना है, जिसका कारण ज्ञात नहीं है, इसलिए इसे अज्ञात हेतुक अपस्मार कहते हैं। कुछ ज्ञात कारणों से भी अपस्मार जैसे लक्षण प्रकट होते हैं, इन्हें द्वितीयक अपस्मार कहते हैं। इस अवस्था में सर्वाधिक रोगी क्षय रोग के कारण, मस्तिष्क संक्रमण से ग्रसित होते हैं। इसके बाद कुछ दशाओं में मस्तिष्क में एक परजीवी कृमि (टेपवर्म) के लार्वा द्वारा प्रतिक्रमण से न्यूरोस्टिसर्कोसिस नाम की बीमारी हो जाती है जिसके कारण भी द्वितीयक अपस्मार हो जाती है।

इसी प्रकार की उत्तेजना यदि मस्तिष्क के अन्य भागों में हो तो उस भाग के कार्य के अनुसार दौरे आते हैं। उदाहरण के लिए मस्तिष्क का जो भाग स्पर्श, वेदना, ताप या शीत आदि संवेदनाएँ महसूस करने का कार्य करता है, उसके प्रभावित होने पर शरीर के किसी भाग में विचित्र प्रकार की संवेदनाओं का आभास होगा, जैसे कि जलन होने या दर्द महसूस करने के दौरे। इस प्रकार के दौरों को जैक्सोनियन अपस्मार कहते हैं।

अन्य कुछ विशेष अपस्मार प्रकारों के लक्षण नीचे दिये जा रहे हैं :–

१. पेटी माल अपस्मार या विकार स्थायी अपस्मार

इसमें व्यक्ति बहुत ही अल्प समय यथा आधे मिनट या और कम समय के लिए चेतनाशून्य हो जाता है। वह जो भी कार्य कर रहा होता है, यथा चलना या किसी से बात करना, वह कुछ क्षणों के लिए अचानक थम जाता है, और पुनः सामान्य रूप से काम करने लगता है। यह क्षणिक अन्धता (ब्लैक आउट) के समान होती है, तथा बच्चों में अधिक होता है।

२. आन्तराग्र मस्तिष्कीय अपस्मार (डायनसेफलिक)

यह मस्तिष्क के एक भाग, आन्तर अग्रमस्तिष्क (डायनसेफलान) के विकार से होता है। मस्तिष्क का यह भाग शरीर की अनैच्छिक क्रियाओं का संचालन करता है। इसके प्रभाव से व्यक्ति को एकाएक उत्तेजना का दौरा आता है, साथ ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्यधिक पसीना आना, आँसू आना, लार बहना और हृदय की घड़कन बढ़ जाना इत्यादि लक्षण होते हैं।

३. उदरीय अपस्मार

इसमें पेट से सम्बन्धित लक्षण होते हैं, जो कि दौरों के रूप में आते हैं, जैसे कि उदरशूल, मितली, वमन और पतले दस्तों के दौरे।

४. मद्यपान अपस्मार

अत्यधिक मद्यपान से भी अपस्मार जैसे लक्षण उत्पन्न होते हैं। मद्यपान के आदी व्यक्तियों में मद्यपान छोड़ने की अवस्था में भी दौरे आ सकते हैं।

५. हिस्टीरिया अपस्मार

यह अधिकतर स्त्रियों में होता है। यह वास्तविक अपस्मार नहीं है। रोगी अनैच्छिक रूप से अवसंज्ञा की अवस्था में अपस्मार दौरे जैसी हरकतें करता है। इसमें अपस्मार के कुछ आवश्यक लक्षण नहीं होते, जैसे कि कुछ चेतनाशून्यता, जीभ कटना या और कोई चोट लगना या दौरे के बाद शिथिलता और सिरदर्द इत्यादि।

अपस्मार के उपचार के लिए उन औषधियों का प्रयोग किया जाता है, जो मस्तिष्क की असामान्य उत्तेजना को शान्त करती हैं, जैसे गार्डेनाल, डायजेयाम, फेनट्वाइन, सोडियम वाल्प्रोएट इत्यादि। उपचार २ से ५ वर्ष तक होता है। सिनेमा व टी०वी देखना, अधिक जागना जैसे कार्य जिनसे मस्तिष्क पर अतिरिक्त उत्तेजक प्रभाव पड़ता है, वर्जित होते हैं।

अपेलिज यूनान (ग्रीस) का प्राचीन काल का एक वरिष्ठ चित्रकार, जिसे सिकन्दर महान् का मित्र कहा गया है। रेखांकन में उसे विशेष रुचि थी, यदि वह कुछ खचित नहीं कर लेता था, तो वह समझता था कि उनका दिन बेकार चला गया। आज उसका और उसके समकालीन यूनान के किसी भी चित्रकार का कोई भी चित्र उपलब्ध नहीं है। इसका कारण है कि उन्होंने अपने चित्र कुछ ऐसी वस्तु पर बनाये थे, जो इतनी मजबूत नहीं थी कि काल के प्रवाह में चल सकें। फिर इधर से उधर ले जाये जाने के कारण भी वे विनष्ट हो गये; लेकिन वे बड़े ही जीवन्त हुआ करते थे। समकालीन लेखकों ने जिऊकिस्स के विषय में लिखा है कि उसने एक ऐसा चित्र बनाया था कि जिसमें एक लड़के को अंगूरों का गुच्छा ले जाते हुए दिखाया गया था। यह चित्र इतना जीवनमय था कि अंगूरों को सचमुच का मानकर, चिड़ियाँ उस पर चोंच मारती थी। उसकी प्रतिद्वन्दिता में पारसियस ने एक ऐसा चित्र बनाया था, जिस पर मात्र परदा पड़ा दिखाई देता था। जब उससे कहा गया कि परदा हटाओ तो तुम्हारा चित्र देखा जाए। उसने कहा था कि उसने परदे का ही चित्र बनाया है। जिऊकिस्स ने तो चिड़ियों को ही भ्रम में डाला था, तुम सभी तो मेरे चित्र को देखकर भ्रम में पड़ गये; इसलिए वह जिऊकिस्स से बड़ा चित्रकार है।

स्वभावतः उन यूनानी चित्रकारों के सम्बन्ध में कुछ और जानने की इच्छा होती है। संयोग से उन्होंने कुछ छोटे–बड़े पात्रों पर भी चित्रांकन किया था। उनमें से कुछ पात्र आज भी उपलब्ध हैं। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि जॉन कीट्स (१७९५–१८२१) ने एक यूनानी पात्र पर बनी चित्रावली को देखा था। उसमें विस्तृत हरीतिमा और रंग–बिरंगे फूलों के बीच एक प्रेमी युगल को स्नेहालाप करते दिखाया गया था। कीट्स ने लिखा है कि वे फूल और पौधे मुरझा गये होंगे, वे प्रेमी और प्रेमिका भी नहीं रहे; लेकिन इस पात्र पर उस रमणीय परिवेश में वे आज भी जीवित लगते हैं। इस प्रकार की कला को वास–चित्रांकन की संज्ञा दी गयी है।

अपेलिज को अपने युग का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार कहा गया है। उसके बनाये दो व्यक्ति–चित्रों यथा लहरों से ऊपर उठती एफ़्रोडाइट और यूनान के देवता जीयस के रूप में सिकन्दर के चित्रण को विशेष प्रसिद्धि मिली थी। एफ़्रोडाइट को यूनानी पुराख्यानों में प्रेम की देवी कहा गया है: रोम में उन्हें 'वीनस' की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संज्ञा दी गयी है। कवि होमर ने उन्हें जीयस की सुपुत्री कहा है। जीयस को आकाश और ऋतुओं का देवता कहा गया है। अपेलिज के व्यक्ति–चित्रों का अनुकरण उसके २०० वर्षों बाद तक होता रहा।

अपोलो ग्रीस के देवताओं में अपोलो एक प्रधान देवता है, जो सौन्दर्य, तरुणाई और युद्ध का अधिष्ठाता है। अपोलो का पिता देवराज ज्यूस तथा माता लेतो थी। उसने शक्ति, सत्य, न्याय, पवित्रता जैसे नैतिक गुणों की प्रतिष्ठा की। विशेषकर देल्फी नगर में उसका विशाल मन्दिर बना। यह लोकप्रिय देवता था, जिसकी प्राचीनकाल में हजारों मूर्तियाँ बनीं। सिसली में, सीरिया में, भारत के प्राचीन गान्धार (आधुनिक कन्दहार) प्रदेश में, ग्रीक जहाँ–जहाँ गये, वहीं ग्रीक कलाकारों ने अपोलो की मूर्तियों को उकेरा। अपोलो की नयनाभिराम आकर्षक और सर्वोत्तम कलात्मक मूर्तियाँ आज रोम तथा वैटिकन के संग्रहालयों की शोभा बढ़ा रही हैं।

अफ़गानिस्तान पश्चिम–दक्षिण एशिया के इस देश के उत्तर में तुर्कमान, उजबेक और ताज़िक गणतन्त्र हैं। पूर्व में चीन, जम्मू–कश्मीर (भारत) और पाकिस्तान; दक्षिण में पाकिस्तान का बलूचिस्तान प्रदेश; और पश्चिम में ईरान। यह देश लगभग अण्डाकार है। उत्तर से दक्षिण तक लगभग १४५० किलोमीटर तथा पश्चिम और पूर्व सीमाओं के बीच ७५० किलोमीटर तक इसका विस्तार है। इसका क्षेत्रफल ६,४५,८०७ वर्ग किलोमीटर है, इसका आकार संयुंक्त राज्य अमेरिका के टेक्सास राज्य के लगभग समान है, और भौगोलिक दृष्टि से वह उसी के अक्षांशों में स्थित है।

अफ़गानिस्तान का लगभग तीन चौथाई भूभाग पर्वतीय तथा पठारी है। उत्तर के भाग में नदियों की घाटियों की भूमि तथा दक्षिण और दक्षिण–पश्चिम की रेगिस्तानी भूमि ही नीची है। हिन्दुकुश इस देश की प्रधान पर्वत–शृंखला है। उत्तर पूर्व में पामीर से लेकर पश्चिम में इसका विस्तार कोई ६६५ किलोमीटर है। हिन्दुकुश की औसतन ऊँचाई ४२७० मीटर है और इसकी कुछ चोटियाँ तो ७६२० मीटर तक उठी हुई हैं। इस पर्वतमाला में देश और विदेशों में आवागमन के लिए अनेक दर्रे हैं। सबसे नीचा दर्रा २६८७ मीटर ऊँचाई पर है। यह काबुल क्षेत्र को देश के उत्तरी भाग से जोड़ता है। सबसे प्रसिद्ध पूर्व का खैबर दर्रा है, जिससे सुलेमान पर्वत को पार कर पाकिस्तान में प्रवेश मिलता है। अफ़गानिस्तान की मुख्य नदियाँ हैं, अमू दरिया, जो उत्तरी सीमा को छूती हुई बहती है; काबुल, जो सिन्धु नदी में मिल जाती है; हेलमण्ड,

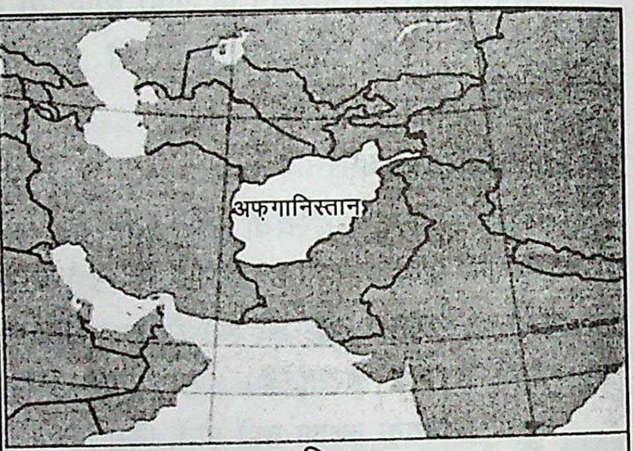

अफ़गानिस्तान

दक्षिणी भाग में बहती है और सबसे अधिक लम्बी है; और हरीरूद जो पश्चिमी भूभाग में बहती है। काबुल को छोड़कर शेष सभी नदियाँ, झीलों अथवा झाबरों में समाप्त हो जाती हैं।

अधिकांश पर्वतीय क्षेत्रों, थोड़े बहुत घास के मैदानों और रेगिस्तान के कारण जलवायु अलग–अलग ऋतुओं में ही क्या, दैनिक आधार पर बदलती रहती है। कुछ क्षेत्रों में तो सुबह के समय बर्फीली ठण्ड होती है और फिर दोपहर में तापमान १०० डिग्री फ़ारेनहाइट तक उठ जाता है। ग्रीष्म ऋतु में उत्तर की घाटियों का तापमान १२० डिग्री फ़ारेनहाइट तक उठ जाता है। हिन्दुकुश पर्वत शृंखला की १६८० मीटर की ऊँचाइयों पर तापमान १५ डिग्री फारेनहाइट तक उतर जाता है। काबुल शहर जो लगभग १८३० मीटर की ऊँचाई पर बसा है, जाड़ों में बड़ा ही ठण्डा रहता है; लेकिन ग्रीष्म ऋतु में मौसम बड़ा ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुहावना हो जाता है। कंधार (ऊँचाई लगभग १०७० मीटर) की जलवायु बड़ी ही मृदुल है।

अफ़गानिस्तान में औसतन प्रतिवर्ष मात्र ३०५ मिलीमीटर (१२ इञ्च) वर्षा होती है : इस तरह उसे शुष्क क्षेत्र ही कहना चाहिए। अक्टूबर और अप्रैल के बीच ही थोड़ी–बहुत वर्षा होती है। रेगिस्तानी क्षेत्र में तथा निर्जन मैदानों में भी अक्सर बालू के तूफ़ान उठते रहते हैं।

जलवायु की दृष्टि से सूखा होते हुए भी पहाड़ों की तराइयों में खेती होती है, तथा फलों के बाग हैं। यही वहाँ का मुख्य व्यवसाय है। खनिज़ की दृष्टि से यहाँ की भूमि अत्यन्त समृद्ध है, लेकिन स्थानीय लोगों द्वारा तकनीक की जानकारी न होने के कारण तथा सामान भेजने के लिए यातायात के समुचित साधन न होने से उत्खनन का कार्य बाधित रहा है। उत्तरी क्षेत्र में प्राकृतिक गैस के बड़े भण्डार हैं। यहाँ की धरती में क्रच्चा तेल भी पर्याप्त मात्रा में है।

अफ़गानिस्तान का पेड़–पौधों का संसार, तिब्बत तथा हिमालय के अनेक क्षेत्रों से मिलता–जुलता है। पहाड़ी प्रदेश में देवदार, चीड़ तथा उनके जैसे वनस्पति विशेष रूप से मिलते हैं। लगभग १८३० और ३६६० मीटरों के ऊँचाई के भाग में, इनके जैसे और भी शंकु वृक्ष मिलते हैं। अत्यधिक कटाई के कारण मात्र ३ प्रतिशत भूमि में ही जंगल रह गये हैं। पहाड़ों के समतल क्षेत्रों में बसन्त ऋतु में अनेक प्रकार के जंगली फूल खिलते हैं। अखरोट, सेब, बादाम, नाशपाती, खुबानी, खजूर आदि फल दक्षिण के भाग में बहुतायत से होते हैं। कन्धार के निकट अनार और नीबू प्रचुर मात्रा में उगाये जाते हैं। जलालाबाद में अंगूर और तरबूज बड़े ही अच्छे किस्म के पाये जाते हैं।

अफ़गानिस्तान के निवासी अधिकांश में ग्रामीण हैं और वहाँ मुख्यतः चार कबीलों के लोग मिलते हैं। पठान लगभग ५० प्रतिशत हैं, और उनके दो उपसमुदाय हैं, दुर्रानी और चिलजयी। ईरानियों तथा ताजिकों की संख्या लगभग २५ प्रतिशत है, ६ प्रतिशत उजबेक और लगभग इतने ही हजारा जाति के लोग हैं। सन् १६५० के बाद, इन सभी जातियों के लोग अपने निवास क्षेत्र बदलते रहे हैं। सन् १६६५ में तालिबानों के प्रभाव के फलस्वरूप धार्मिक कट्टरता बढ़ी और स्त्रियों को विशेष रूप से घरों में बन्द रहना पड़ा। परन्तु सन् २००१ में अमेरिका द्वारा घोषित आतंक विरोधी युद्ध में तालिबान का वर्चस्व अफ़गानिस्तान पर से समाप्त हुआ। तालिबान का शासन समाप्त होते ही उनके द्वारा लगायी गयी अधिकांश पाबन्दियों को लोगों ने नकार दिया। सम्प्रति स्त्रियों ने विभिन्न सरकारी तथा गैर–सरकारी पद सम्भाल लिये जो उनके पास छह वर्ष पूर्व थे।

प्रशासनिक दृष्टि से अफ़गानिस्तान २६ प्रदेशों में बँटा हुआ है : बदफ़साँ, बादघी, बल्ख, बामियान, परंहा, फर्याफ, ग़ज़नी, गोस, हेलमण्ड, हेरात, ज़उजजॉन, काबुल, कन्धार, कपीसा, कोनार, कुन्दूज, लकमान, लोगार, नन्गरहार, निरसूज़, पाकतिका, परवान, पत्या, समनगन, कथार, उरूज़्ग़ान, वारलक और जबूल।

अफ़गानिस्तान की राजधानी काबुल (जहाँ से अनेक पहाड़ी दर्रो को रास्ते जाते हैं) के अतिरिक्त अन्य बड़े शहर कंधार, हेरात और मज़ार–ए–शरीफ़ हैं, जिनमें पुरानी मस्जिदें, राजमहल तथा अन्य पुरातात्त्विक महत्त्व के स्थल हैं। बामियान शहर आदिकाल में बौद्ध धर्म का बड़ा महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा था, जहाँ एक पहाड़ पर बड़े ही विराट् आकार की बुद्ध मूर्ति थी। सन् १६६६ में कट्टरपंथी तालिबानों ने उसे नष्ट कर दिया।

अफ़गानिस्तान की अनुमानित जनसंख्या सन् २००३ में २८,७१७,००० के लोग ६६ प्रतिशत मुसलमान हैं, मुख्यतः सुन्नी सम्प्रदाय के। शेष में से अधिकांश शिया सम्प्रदाय के हैं। कुछ शहरों में इधर–उधर, यहूदी, हिन्दू और पारसियों की छोटी–छोटी बस्तियाँ हैं। मज़ार–ए–शरीफ़ सबसे बड़ा धार्मिक शहर है।

पश्तो और फ़ारसी (दारी) बहाँ की राजकीय भाषाएँ हैं। इनके अतिरिक्त कुछ छोटे–छोटे क्षेत्रों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईरान की बोलियाँ बोली जाती हैं। राजकीय कार्यों, व्यापार और सांस्कृतिक विचार–विमर्श के लिए फ़ारसी का प्रयोग होता है। कुछ सीमान्त क्षेत्रों में तुर्की–उज़बेक, तुर्कोमान और किरगीज़ बोलियाँ बोली जाती हैं।

यद्यपि प्राथमिक शिक्षा ५ से ११ वर्ष तक के बच्चों के लिए अनिवार्य हैं; लेकिन १५ वर्ष की आयु से लेकर उससे बड़ी अवस्था के लोग मात्र २० प्रतिशत ही सुशिक्षित हैं। सन् १६६२–६३ में तालिबानों के अधिकार में आ जाने के बाद स्त्रियों की शिक्षा तो पूरी तरह से रोक दी गयी थी। उत्तरी संगठन की सेनाओं के विजय के अनन्तर फिर उनके शिक्षण का कार्य चलने लगा है। काबुल विश्वविद्यालय की स्थापना सन् १६३२ में हुई थी और वह आज भी देश का सबसे बड़ा उच्च शिक्षण–संस्थान है। सन् १६६२ में एक और छोटा विश्वविद्यालय नाऩगरहर, जलालाबाद में स्थापित हुआ था। काबुल में वाणिज्य व्यवसाय का विद्यालय, पॉलिटेक्नीक और औद्योगिक प्रबन्ध संस्थान भी हैं। काबुल में अनेक बड़े–बड़े पुस्तकालय भी हैं। वहाँ देश का सबसे बड़ा संग्रहालय भी था, जहाँ बौद्ध धर्म से सम्बन्धित बहुत सी पुरातात्त्विक सामग्री थी। तालिबान शासन के समय बुद्ध से सम्बन्धित सभी पुरातात्त्विक सामग्री नष्ट कर दी गयी।

समुचित शिक्षा के अभाव के कारण, कहानियाँ कहने और सुनने की प्राचीन प्रथा आज भी प्रचलित है। 'अफ़गानिस्तान ऐतिहासिक संस्थान' और 'पश्तो अकादमी' अनेक साहित्यिक पत्रिकाएँ प्रकाशित करती है, और नये लेखकों को प्रोत्साहन देती है।

अफ़गानिस्तान के सांस्कृतिक जीवन में पारम्परिक कलाओं का विशेष महत्त्व है। सोने–चाँदी के आभूषण, पारसी शैली के कालीन और चमड़े की विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के घरेलू उद्योग, भली प्रकार चल रहे हैं। संगीत, लोकगीतों और गाथाओं के रूप में प्रचलित है। अतान्त, पारम्परिक राष्ट्रीय नृत्य है। वह एक बड़े वृत्त में प्रदर्शित किया जाता है। उसमें संगीत की लय के साथ, पैर विशेष रूप से गतिशील होते हैं; और लोग तालियाँ बजाकर नाचते हैं। पोलो, कुश्ती और बुज़काशी, वहाँ के प्रचलित खेल हैं। अन्तिम खेल, में छोटे या बड़े गेंद का नहीं वरन् किसी जानवर के अस्थि पंजर का प्रयोग होता है।

खेती लोगों का मुख्य व्यवसाय है। खाने–पीने की सामग्री प्रचुरता से होती है और कुछ निर्यात भी की जाती हैं। गेहूँ, मक्का, चावल, जौ, विभिन्न प्रकार की सब्जियाँ और फल, बादाम, अखरोट मुख्य फसलें हैं। औद्योगिक फसलें हैं एरण्ड की फलियाँ, मंजिष्ठा, हींग, तम्बाकू, कपास और चुकन्दर। भेड़ पालन, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रामीण उद्योग है। भेड़ का मांस, चर्बी और ऊन के घरेलू उद्योग है। ऊन और जानवरों की खालों का निर्यात भी होता है। कराकुल जाति की भेड़ों की खाल, जिनकी पूँछ बहुत चौड़ी होती है, मूल्यवान होती है। ये भेड़ें देश के उत्तरी भाग में विशेष रूप से पायी जाती हैं। अन्य जानवरों में ऊँट, घोड़ों, गधों, बकरियों, गाय, बैलों तथा मुर्गा, मुर्गियों का भी निर्यात होता है। पहाड़ी क्षेत्रों में आदिकाल से ही सोना, चाँदी, ताँबा, वैदूर्य और लाजवर्द की खुदाई थोड़ी बहुत होने लगी थी। नमक वहाँ काफी मात्रा में पाया जाता है और घरेलू जरूरतों को पूरा कर देता है। कोयले के भी बड़े भण्डार हैं और १६८० के वर्ष तक वह १,७०,००० मैट्रिक टन प्रतिवर्ष खोदा जाने लगा था। उसी समय रूस के सहयोग से प्राकृतिक गैस भी बहुत बड़ी मात्रा में प्राप्त की जाने लगी थी। सोवियत संघ के गणराज्यों में तो वह १६७० से ही आने लगी थी। अन्य खनिजों में कच्चा लोहा, क्रोम, गंधक, जिंक और यूरेनियम हैं; लेकिन अभी उनका व्यावसायिक रूप से उत्खनन प्रारम्भ नहीं हुआ है।

वर्ष १६६० और १६७० के बीच कारखानों की संख्या विशेष रूप से बढ़ी थी। सन् १६६५ में पश्चिमी जर्मनी ने वहाँ एक ऊन का बड़ा कारखाना लगाया था, जिससे ऊनी कपड़ों का उत्पादन दूना हो गया था। काबुल में कपड़ा, सीमेन्ट, कोयले की ईंटों और फलों से बनने वाली अनेक वस्तुओं के कारखाने हैं। गाँवों में सबसे बड़ा उद्योग कम्बल बनाने का है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अफ़गानिस्तान को लगभग ७५ प्रतिशत बिजली जलविद्युत सुविधाओं से मिलती है, शेष अधिकांश थर्मल प्लांटों से उत्पन्न की जाती है, जिनमें कोयले या पेट्रोलियम पदार्थों का उपयोग होता है। बड़ी जलविद्युत परियोजनाएँ हेलमण्ड और काबुल में हैं। सन् १९८० में वहाँ वर्ष भर में एक अरब किलोवाट बिजली पैदा की जाती थी।

अफ़गानिस्तान की मूल मुद्रा अफ़गानी हैं, जो पल्सों में विभाजित है। सन् १९८७ में ५०.६ अफ़गानी संयुक्त राज्य अमेरिका के एक डॉलर के बराबर होते थे। अफ़गानिस्तान का सेंट्रल बैंक सभी प्रकार के नोट जारी करता है, सरकारी लेन–देन चलाता है, तथा शहरों और अन्य बैंकों को धन उधार देता है। सन् १९७५ में अफ़गानिस्तान के सारे बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो गया था।

अफ़गानिस्तान का सारा यातायात बड़े ही ऊबड़–खाबड़ रास्तों का है। वहाँ अब तक रेलमार्ग नहीं बना है। सभी नदियों का बहाव तेज है; इसलिए उनमें नौकायन की विशेष व्यवस्था नहीं है। नदियों से मात्र लकड़ी लायी जाती है। ऊँटों तथा अन्य सामान ढोने वाले जानवरों का उपयोग यहाँ–वहाँ चीजें ले जाने के लिए होता है। पूरे देश में सड़कों का विस्तार लगभग २१,००० किलोमीटर है जिनमें केवल २००० किलोमीटर पक्की हैं। अधिकांश बड़े मार्ग काबुल को अन्य भागों से जोड़ते हैं। बसन्त के दिनों में वहाँ विशेष रूप से बाढ़ें आती हैं, इसलिए सड़कों को व्यवस्थित रखने की निरन्तर समस्या रहती है। 'आरयाना अफ़गान एयर लाइन' बड़े शहरों के बीच चलती है और पड़ोसी देशों को भी जाती है। उसकी कुछ उड़ानें यूरोपीय देशों को भी जाती हैं। 'बख्तार अफ़गान एयर लाइन्स', काबुल को देश के दूर–दूर के शहरों से जोड़ती है।

संचार माध्यमों, टेलीफोन और तार की व्यवस्था सरकार के नियंत्रण में है। तार की व्यवस्था बड़े–बड़े शहरों को जोड़ती है तथा काबुल से पेशावर सन्देश ले जाने का कार्य करती है।

इतिहास

भारतीय साहित्य में अफ़गानिस्तान का संदर्भ, सर्वप्रथम महाभारत में मिलता है। धृतराष्ट्र की अर्धांगिनी और कौरवों की माँ गान्धारी, गन्धार (कन्धार) की राजकुमारी थीं। उनके भाई शकुनि ने भी कौरवों और पांडवों के द्वन्द्व के बीच बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया था। उन दिनों वहाँ आर्य जाति के लोगों का ही निवास था। अभिलिखित इतिहास में अफ़गानिस्तान का उल्लेख सर्वप्रथम ईसा पूर्व ५७६ में मिलता है, जब पारस (फ़ारस) के सम्राट् साइरस महान् ने उस पर अधिकार कर लिया था। उसके बाद ईसा पूर्व ३३४–३३३ तक पारसी सम्राटों के अधिकार में ही रहा। उसी वर्ष विश्व विजेता यूनान के सिकन्दर महान् ने उस पर अधिकार कर लिया। ईसा पूर्व ३२३ में सिकन्दर के निधन के अनन्तर उसके सैनिक अधिकारियों सेल्यूकस और निकेतस ने वहाँ शासन किया, लेकिन जल्दी ही भारतीय सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने यूनानियों को पराजित कर उसे अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। ईसा पूर्व २४६ में यूनानियों ने फिर उस क्षेत्र के उत्तरी भाग में अपना राज्य स्थापित कर लिया था। ईसा पूर्व १३० में ईरान के यायावरों (शक और कुषाण जातियों) ने इस क्षेत्र पर अधिकार कर लिया; और बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। कुषाण शासन काल में ही बामियान के पहाड़ी क्षेत्र पर बुद्ध की विशाल प्रतिमा बनी, जिसे १९९९ में कट्टरपंथी तालिबानों ने विनष्ट कर दिया था। ईसा की तीसरी–चौथी शताब्दी में पारस के सासानियों ने पश्चिम से इस क्षेत्र पर आक्रमण किया। अफ़गानिस्तान के अधिकांश क्षेत्र पर उन दिनों श्वेत हूणों का राज्य था। सातवीं शताब्दी के मध्य भाग में, अरब के लोगों ने उस पर अधिकार किया।

अन्य विदेशी आक्रमणकारियों की तुलना में अरब के मुसलमान आक्रमणकारियों ने अफ़गानिस्तान पर अपना सर्वाधिक प्रभाव छोड़ा है। उन्हीं के शासन काल में इस्लाम का प्रचार हुआ और धीरे–धीरे इस्लाम वहाँ प्रधान धर्म हो गया। अरबों के बाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस्लाम के ही अनुयायी ईरानियों और तुर्कों ने अपने–अपने राज्यों की स्थापना की। दसवीं शताब्दी तक सम्पूर्ण क्षेत्र पर तुर्कों का शासन हो गया। सुल्तान महमूद गज़नवी ने भारत पर अनेक आक्रमण किये और सन् १०२५ में वह गुजरात तक पहुँच गया। उसी ने प्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर को विनष्ट किया था; और अपार सम्पत्ति लेकर गज़नी लौटा था। उसके वंशजों के बाद गोर वंश का साम्राज्य वहाँ स्थापित हुआ था। उसी वंश के मुईनुद्दीन मोहम्मद गोरी ने भारतवर्ष पर अनेक बार आक्रमण किये थे। सन् ११९१ में उसने भटिण्डा के किले पर अधिकार किया और फिर अज़मेर तथा दिल्ली के सम्राट् पृथ्वीराज चौहान पर आक्रमण किया, लेकिन उसकी पराजय हुई और वह वापस चला गया। एक वर्ष बाद फिर उसने पृथ्वीराज पर आक्रमण किया; और इस बार उसकी विजय हुई। उसके बाद उसने सन् ११९३ में कन्नौज और ग्वालियर पर भी विजय प्राप्त की। इस वंश का शासन सन् १२२० तक चलता रहा। इसके बाद उत्तर से आये मंगोल चंगेज खाँ ने, यह क्षेत्र अपने शासन में ले लिया। चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में एक और मुगल आक्रमणकारी तैमूर लंग ने उत्तरी अफ़गानिस्तान को अपने अधिकार में ले लिया। जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर इसी मुगल वंश का था, जिसने १५०४ में काबुल को जीता था, और फिर आगे बढ़कर भारतवर्ष पर आक्रमण करके मुगल साम्राज्य की स्थापना की थी। ईरानी और बाबर के वंशजों के मुगल शासन के समय में, अफ़गान निरंतर स्वशासन के लिए संघर्ष करते रहे थे।

सत्रहवीं शताब्दी में अफ़गानों के विभिन्न कबीले अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील हो उठे। सन् १७२२ में अफ़गानों के घिलजायी कबीले ने ईरान की राजधानी इस्फहान पर भी अधिकार कर लिया। कालान्तर में ईरान के नादिरशाह ने प्रत्याक्रमण किया था और सन् १७३८ में लगभग पूरे अफ़गानिस्तान पर अधिकार कर लिया था। सन् १७४७ में नादिरशाह की हत्या कर दी गयी थी; और फिर अफ़गान कबीलों के मुखियों ने अब्दाली कबीले के एक वरिष्ठ सैनिक अधिकारी अहमद शाह को अपना शासक चुन लिया था। अहमद शाह ने उसके बाद बड़े पराक्रम से पूर्वी ईरान, बलूचिस्तान, कश्मीर और पंजाब के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया था। उसकी वंश परम्परा के शासक, उसके जैसे योग्य नहीं थे; अतः १८१८ में उनका शासन छिन्न–भिन्न हो गया। उसके बाद लगभग सात–आठ वर्षों तक अफ़गानिस्तान में अराजकता रही। सन् १८२६ में एक प्रतिष्ठित अफ़गान परिवार के सदस्य दोस्त मुहम्मद खान ने अफ़गानिस्तान के पूर्वी भाग में अपना अधिकार कर लिया। सन् १८३५ में उसने अमीर की उपाधि ग्रहण की। इसी बीच उसने भारतवर्ष के अंग्रेज शासकों से यह आग्रह किया कि पंजाब के भूभाग पर उसके अधिकार के दावे को स्थापित कराने में उसकी मदद करें। जब अंग्रेजों ने उसकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी तो उसने रूस से मदद करने के लिए कहा।

अफ़गानिस्तान के शासकों को इसके बाद हम रूस और भारतवर्ष के अंग्रेज शासकों, दोनों के दबावों को झेलते देखते हैं। रूस एक ओर उत्तर–पश्चिम में आमू दरिया तक आ गया; और दूसरी ओर दक्षिण पूर्व में अंग्रेज खैबर तक पहुँच गये। सन् १८३६ में भारतीय ब्रिटिश सेना ने कंधार, गज़नी और काबुल को अपने कब्जे में ले लिया। अंग्रेजों ने फिर दोस्त मुहम्मद को हटाकर उसके स्थान पर शाहशुजा को शासक बना दिया। अफ़गानियों को यह स्वीकार नहीं हुआ और उन्होंने शाहसुजा तथा अनेक अंग्रेज अधिकारियों की हत्या कर दी। सन् १८४२ में भारतवर्ष की राजनीतिक स्थिति को डाँवाडोल देखकर, अंग्रेजों ने दोस्त मुहम्मद को फिर से अमीर मान लिया और अफ़गानिस्तान से बाहर निकल आये। सन् १८६३ में दोस्त मुहम्मद ने हैरात को ईरानियों से छीन लिया। उसके तीसरे बेटे शेरअली ने १८६३ में उसके निधन के बाद शासन–भार सँभाला। उसने कुछ समय बाद रूस से सन्धि कर ली और ब्रिटिश प्रतिनिधि को अपने यहाँ रखने से मना कर दिया। इस पर सन् १८७८ में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय अंग्रेजी सेना ने उस पर आक्रमण कर दिया। शेर अली को भागना पड़ा और उसकी मौत हो गयी। उसके बेटे याकूब खान ने अंग्रेजों से सन्धि कर ली। उसे खैबर दर्रा और उसके साथ लगे कई प्रदेशों को अंग्रेजों को सौंपना पड़ा। उसे अंग्रेजों को अपने देश के वैदेशिक सम्बन्धों को नियन्त्रित करने की स्वीकृति देनी पड़ी। उसके इस आचरण से क्षुब्ध होकर, अफ़गानियों ने उसे गद्दी से उतार दिया और अंग्रेज रेजीडेन्ट की भी हत्या कर दी। अंग्रेजों ने दोस्त मुहम्मद के पौत्र अब्दुल रहमान खाँ को अमीर स्वीकार किया।

अब्दुल रहमान बड़ा ही कुशल योद्धा था। उसने कंधार, हिरात और उसके बाद कारिस्तान तक अपना राज्य बढ़ा लिया। उसने विभिन्न कबीलों के सरदारों के सहयोग से बड़ा सुदृढ़ केन्द्रीय शासन स्थापित किया; स्थायी और सुशिक्षित सेना संगठित की तथा अफ़गानिस्तान को एक आधुनिक राष्ट्र जैसा स्वरूप देने का कार्य आरम्भ किया। सन् १६०१ में उसके बेटे हबीब उल्ला खाँ ने शासन भार सँभाला और काबुल में बिजली की व्यवस्था करने के साथ, समाचार–पत्रों और टेलीफोन प्रणाली की शुरूआत की। उसी के समय में अफ़गानिस्तान में मोटरकारों का प्रचलन हुआ।

सन् १६१६ में हबीबुल्ला खाँ के भतीजे अमानुल्ला खाँ ने शासन भार सँभाला। उसने अफ़गानिस्तान को पूर्णतया स्वतंत्र राज्य घोषित किया और अंग्रेजों से लड़ाई छेड़ दी। उसके बाद जो सन्धि हुई उसमें अफ़गानिस्तान को पूर्णतया स्वतंत्र राज्य मान लिया गया; लेकिन खैबर दर्रा और उसके साथ लगे सीमान्त प्रदेशों पर अंग्रेजों का अधिकार बना रहा।

अमानुल्ला खाँ ने उसके बाद अमीर के स्थान पर बादशाह की उपाधि ली। उसके बाद उसने अफ़गानिस्तान के आधुनिकीकरण के अनेक कार्यक्रम आरम्भ किये। मुल्लाओं और कबाइली सरदारों को यह अच्छा नहीं लगा और उन्होंने विद्रोह कर दिया। अमानुल्ला खाँ को स्वदेश छोड़कर भागना पड़ा; लेकिन जल्दी ही एक कुशल योद्धा नादिर खाँ ने शासन–सूत्र अपने हाथों में सँभाल लिया और वह नादिरशाह के नाम से राज्य करने लगा। सन् १६३३ में उसकी हत्या कर दी गयी। उसके बाद मोहम्मद जहीर शाह ने शासन भार सँभाला और जुलाई १६७३ तक शासन करते रहे।

जहीर शाह ने जब शासन भार सँभाला तब उनकी आयु मात्र १६ वर्ष थी, इसलिए उनके चाचा तथा उनके चचरे भाई मुहम्मद दाउद खाँ, जो बाद में उनके साले भी बन गये, उनके कार्य में दखलंदाजी करते रहे। फिर भी जहीर शाह ने शासन को आधुनिक रूप देने का कार्य चलाया तथा जर्मनी, इटली और जापान से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये। सन् १६४१ में दूसरा विश्व युद्ध आरम्भ होने पर, पहले उन्होंने तटस्थ रहने का निश्चय किया; लेकिन कालान्तर में अंग्रेजों तथा सोवियत संघ के आग्रह पर उन्होंने लगभग २०० जर्मनी और इटली के लोगों को अपने देश से निर्वासित कर दिया। सन् १६४२ में संयुक्त राज्य अमेरिका ने अफ़गानिस्तान से राजनयिक सम्बन्ध स्थापित किये। नवम्बर १६४६ में अफ़गानिस्तान, संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य भी हो गया।

सन् १६४७ में भारत और पाकिस्तान के स्वतंत्र राष्ट्र बनने पर, जहीर शाह ने वस्तुस्थिति को बड़ी बारीकी से समझने की कोशिश की। जहीर शाह के लिए पाकिस्तान का पश्चिमोत्तर प्रदेश विशेष चिन्ता का विषय था, क्योंकि वहाँ अधिकांश अफ़गानी कबीलों के लोग ही रहते थे। उन कबीलों ने खान अब्दुल गफ्फार खाँ के नेतृत्व में यह भी चाहा कि उनके सम्बन्ध में जनमत के आधार पर निर्णय किया जाय; लेकिन पाकिस्तान ने उसे नकार दिया। इसी आधार पर उन्होंने सन् १६४७ में पाकिस्तान के संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनने का विरोध किया। अगले कई वर्षों तक इसीलिए दोनों राष्ट्रों के बीच संघर्ष चलता रहा। सन् १६४६ के बाद पठान कबीलों ने अफ़गान सरकार के समर्थन के साथ अपने स्वतंत्र राज्य की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थापना, पख्तूनिस्तान या पठानिस्तान के लिए आन्दोलन भी आरम्भ किया।

सन् १९५४ में संयुक्त राज्य अमेरिका ने जब पाकिस्तान के साथ सैन्य सहायता की सन्धि की, तो अफ़गानिस्तान ने अपनी नाराजगी जाहिर की। अगले ही वर्ष सोवियत संघ के प्रधानमंत्री निकोलोई ए० बुलगानिन ने अफ़गानिस्तान की यात्रा की और पख्तूनिस्तान की स्थापना का समर्थन किया। उसके बाद सोवियत संघ और अफ़गानिस्तान ने शान्तिमय सहअस्तित्व, समस्त विश्व के निःशस्त्रीकरण तथा चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनाने के लिए, सम्मिलित वक्तव्य जारी किया। सोवियत सरकार ने इसके साथ ही अफ़गानिस्तान को तकनीकी सहायता के लिए ऋण देने की भी घोषणा की। सन् १९६१ में पख्तूनिस्तान की समस्या विशेष रूप से भड़क उठी और उसके कारण पाकिस्तान से राजनीतिक सम्बन्ध और भी बिगड़ गये।

सन् १९६३ में जहीर शाह ने अपने चचेरे भाई और साले मुहम्मद दाउद को, जो सन् १९५३ से प्रधानमंत्री का कार्य कर रहे थे, हटा दिया और शासन का पूरा नियंत्रण अपने हाथों में ले लिया। अगले ही वर्ष उन्होंने नया संविधान लागू किया, जिसमें उदार शासन की व्यवस्था थी। सितम्बर १९६५ में इसी संविधान के अधीन पहली विधान सभा के लिए चुनाव हुए।

सन् १९६० में अफ़गानिस्तान में बड़ा आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया था। लगभग तीन वर्षों तक सूखे के कारण भयंकर अकाल की स्थिति रही थी। इस दुर्योग में लगभग ८०,००० लोगों की मौत हो गयी थी। सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमेरिका और चीन ने इस संकट से मुक्ति के लिए सहायता की थी।

सन् १९६८ में जहीर शाह ने दाउद से समझौता कर लिया और उसकी शासन में हिस्सेदारी कर ली। दाउद ने धीरे–धीरे अपनी शक्ति बढ़ाकर जुलाई १९७३ में जहीर शाह को अपदस्थ कर सारा शासन अपने हाथों में ले लिया। जहीर शाह को स्वदेश छोड़ना पड़ा और दाउद ने अफ़गानिस्तान को प्रजातंत्र घोषित कर दिया। सन् १९७७ के आरम्भ में नया संविधान लागू हुआ और दाउद सर्वाधिकार सम्पन्न राष्ट्रपति चुने गये। उन्होंने नागरिक मंत्रिमंडल बनाया और अपने राष्ट्र को तटस्थ रहने की नीति चलायी। लेकिन अप्रैल १९७८ में एक भयंकर गृहयुद्ध के बीच दाउद की हत्या कर दी गयी। उसके बाद जो क्रान्तिकारी परिषद् बनी उसका नेतृत्व पहले नूर मुहम्मद तराकी ने किया और फिर हफीज़ उल्ला अमीन ने। उसने संविधान को निलम्बित कर वैज्ञानिक समाजवाद का कार्यक्रम आरम्भ किया। कट्टरपंथी नेताओं ने पहाड़ी कबीलों की सहायता से इसका विरोध किया। तराकी और अमीन ने सोवियत संघ से सहायता माँगी और वह मिली भी, लेकिन विरोध जारी रहा। सोवियत संघ द्वारा संचालित एक अभियान में अमीन की हत्या हो गयी। सोवियत सेनाओं ने पूरे देश पर अधिकार कर लिया और बाबरक करमाल को राष्ट्रपति के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। करमाल ने यद्यपि विद्रोह को दबाने की कोशिश की; लेकिन गृहयुद्ध से विक्षुब्ध होकर ३ लाख शरणार्थी पाकिस्तान चले गये। नयी सरकार ५–६ वर्षों तक विद्रोहियों को दबाने की कोशिश करती रही; लेकिन उसका अधिकार मात्र बड़े–बड़े शहरों तक ही बना रहा। मई १९८६ में मुहम्मद नजीबुल्ला ने करमाल को हटाकर शासन भार अपने हाथों में ले लिया। मई १९८८ और फरवरी १९८९ के बीच सोवियत संघ ने अपनी सेना अफ़गानिस्तान से हटा ली। उसके बाद गृहयुद्ध और भी तेज हो गया।

वर्ष १९९६ में तालिबान नामक कट्टरपंथी संगठन ने देश के मध्यमार्गी तथा उदार शासक नजीबुल्ला को हटाकर सत्ता हथिया ली। बाद में नजीबुल्ला को सार्वजनिक रूप से फाँसी दे दी गयी। तालिबान को अन्तरराष्ट्रीय चरमपंथी आतंकवादी ओसामा बिन लादिन तथा पाकिस्तान का संरक्षण प्राप्त हुआ। लादिन के चरमपंथी संगठन 'अल कायदा' ने अमेरिका के 'वर्ल्ड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ट्रेड सेन्टर' तथा 'पेंटागन' को, ११ सितम्बर २००१ में ध्वस्त कर दिया। फलस्वरूप अमेरिका ने अफ़गानिस्तान पर आक्रमण कर तालिबानी शासन समाप्त कर दिया और हामिद करजई के नेतृत्व में वर्ष २००२ में एक उदारवादी प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था स्थापित की। जनवरी २००४ में अफ़गानिस्तान में नया संविधान स्वीकार किया गया, जो अधिक उदारवादी तथा प्रजातांत्रिक है। इसके अन्तर्गत स्त्रियों को समान अधिकार दिये गये हैं तथा किसी प्रकार के भेदभाव का उल्लेख नहीं है। हिन्दू और सिखों इत्यादि अल्पसंख्यकों को अपने धर्म के अनुसार चलने की छूट दी गयी है और उनके प्रति किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया गया है। पूर्व शासक जहीर शाह को 'राष्ट्रपिता' माना गया है।

अफ़लातून (प्लेटो) अफ़लातून का जन्म् सन् ४२७ ईस्वी में पूर्व एथेन्स में हुआ। एथेन्स उस समय यूनान का महान्तम नगर–राज्य था। अफ़लातून अभी युवास्था में प्रवेश ही कर रहा था कि एथेन्स में एक क्रांति हुई, जिसने लोकतंत्र को उखाड़ फेंका। वहाँ कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का शासन कायम हो गया। शासन करने वाली मण्डली में अफ़लातून के परिचित और सम्बन्धी शामिल थे। इन लोगों ने सुकरात (साक्रेटीज़) पर यह आरोप लगाया कि वह युवकों को पथभ्रष्ट कर रहा है और उसे प्राणदण्ड दे दिया। उनके इस कृत्य से अफ़लातून बहुत क्षुब्ध हुआ, क्योंकि वह सुकरात को सर्वबुद्धिमान व्यक्ति समझता था। अफ़लातून इस परिणाम पर पहुँचा कि कोई भी राज्य उस समय तक संकटमुक्त नहीं हो सकेगा, जब तक कि वहाँ सच्चे दार्शनिकों का शासन कायम नहीं हो जाता।

अपने सुविख्यात ग्रन्थ 'रिपब्लिक' (गणतंत्र) में अफ़लातून ने यह कहा कि दार्शनिक शासक (फिलॉसफर किंग) ही अपने निजी उत्थान के साथ–साथ समाज को सुरक्षित रख सकता है। 'रिपब्लिक' के अतिरिक्त अफ़लातून की एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति 'द लॉज' है, जिसमें उसने एक नये आदर्श राज्य की रूपरेखा प्रस्तुत की है। अफ़लातून कवि भी था। एरीट्रियन के अपने प्रदेश से निर्वासित हो जाने के बाद, ईरान में बिताये गये दिनों के संबंध में अफ़लातून की कविता यूनानी साहित्य की एक उत्कृष्ट कृति है। उसने संवादों (डाइलॉग्स) के रूप में भी रचनाएँ कीं, जिनमें राजनीतिक और दार्शनिक विषयों को उठाया गया है।

राज्य तथा व्यक्ति अफ़लातून ने राज्य को एक नैतिक संस्था माना है। राज्य एक कृत्रिम संस्था न होकर, एक स्वाभाविक और नैतिक संगठन है। अफ़लातून तो यहाँ तक लिखता है कि राज्य व्यक्ति का ही एक व्यापक रूप है। व्यक्तित्व के तीन प्रधान अंग होते हैं– बुद्धि, साहस तथा क्षुधा। व्यक्ति के मामले में जो स्थान बुद्धि, साहस और क्षुधा का है, राज्य में उसी से मिलते–जुलते ये तीन वर्ग हैं – शासक वर्ग, सैनिक वर्ग तथा उत्पादक वर्ग। अंतिम वर्ग में किसान, व्यापारी, कारीगर और, शिल्पकार शामिल हैं।

अफ़लातून राज्य को एक 'सावयव इकाई' (ऑर्गेनिक यूनिट) मानता है। एक जीवित शरीर में विभिन्न अंगों (आँख, कान, हाथ, पैर अथवा आमाशय आदि) की अपनी कोई पृथक् सत्ता नहीं होती। शरीर की सत्ता पर ही अवयवों की सत्ता आश्रित है। इसी प्रकार व्यक्ति का राज्य से पृथक् अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। व्यक्ति अपने विकास के लिए पूर्णतया राज्य पर निर्भर है।

लोकतान्त्रिक शासन का विरोध व्यक्ति को अपने हितों को पूर्णतया राज्य के अधीन कर देना चाहिए; परंतु राज्य का जो स्वरूप उन दिनों एथेन्स में था सामान्यतः वह व्यक्ति के विकास में सहायक नहीं था। अफ़लातून ने कहा कि राज्य का नेतृत्व उन व्यक्तियों के हाथों में होना चाहिए, जो निजी स्वार्थ के लिए राजसत्ता का दुरुपयोग न करें। चीनी दार्शनिक कन्फ्यूसियस की भाँति अफ़लातून भी 'श्रेष्ठ मानव' (सुपीरियर मैन) के आदर्श से प्रभावित था। श्रेष्ठ राज्य में राजसत्ता दार्शनिकों के हाथ में होनी चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकतंत्र में संख्या को महत्त्व दिया जाता है, गुण को नहीं। परन्तु शासन करना, एक 'कला' है, इसलिए ऐसे व्यक्ति जो विद्या, ज्ञान और चरित्र की दृष्टि से अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हों, शासन के दायित्व का निर्वाह ज्यादा अच्छा कर सकते हैं।

अफ़लातून यह जानता था कि कभी-कभी श्रेष्ठ व्यक्ति भी, श्रेष्ठता से नीचे गिर जाते हैं। शासकों को श्रेष्ठ बनाये रखने के लिए, उसने कुछ व्यवस्थाएँ बतायी हैं। दार्शनिक, राजा और शासक वर्ग एवं सैनिक वर्ग में शामिल सभी व्यक्तियों का शिक्षण निरन्तर जारी रहना चाहिए। शिक्षण के अंतर्गत हर तरह का ज्ञान-विज्ञान शामिल है, जैसे कि गणित-शास्त्र, तर्कशास्त्र, भौतिक-विज्ञान और शरीर-विज्ञान। उन्हें अपनी शारीरिक, सामाजिक और धार्मिक वृत्तियों को वश में रखना पड़ेगा।

अफ़लातून का साम्यवाद अफ़लातून की धारणा थी कि संपत्ति के प्रलोभन तथा स्त्री-बच्चों के मोहवश ही शासक भ्रष्ट और दुराचारी हो जाते हैं। इसलिए उसने शासकों और सैनिकों को परिवार तथा निजी संपत्ति दोनों से वंचित करने का सुझाव दिया। इन दोनों वर्गों की निजी संपत्ति नहीं होगी। संपत्ति और पारिवारिक बंधनों से मुक्त हो जाने पर, कोई चीज ऐसी नहीं होगी, जो शासकों या सैनिकों को अपने दायित्व से विचलित करे। अफ़लातून को प्रथम साम्यवादी विचारक कहा जाता है। उसने एक ऐसे साम्यवाद (कम्युनिज़्म) की कल्पना की है, जो न केवल संपत्ति के न्यायोचित, बँटवारे तक ही सीमित है, बल्कि जिसमें पत्नी और संतान भी शामिल हैं। परन्तु अफ़लातून के साम्यवाद और आधुनिक साम्यवाद में बड़ा अंतर है। अफ़लातून का साम्यवाद आर्थिक व भौतिक न होकर, आध्यात्मिक तथा नैतिक था।

न्याय की अवधारणा अफ़लातून ने अपने ग्रंथ 'रिपब्लिक' में न्याय की अवधारणा पर विस्तार से विचार किया है। उसके मतानुसार एक 'श्रेष्ठ राज्य' (गुड स्टेट) ही 'न्यायी राज्य' (जस्ट स्टेट) कहलायेगा। समाज में दो तरह की खराबियाँ मौजूद हैं। एक तो यह कि जो लोग दूसरों को रास्ता दिखलाने का दावा करते हैं, वे स्वयं बड़े अज्ञानी हैं। दूसरे, समाज में 'राजनीतिक स्वार्थ और कलह' मौजूद हैं। इन दोनों खराबियों से छुटकारा पाने के लिए, न्याय की स्थापना जरूरी है। अफ़लातून के अनुसार न्यायपूर्ण-व्यवस्था उसे कहेंगे, जिसमें दो बातें पायी जायें-'विशेषज्ञता' तथा 'सामञ्जस्य अथवा समरसता'।

'विशेषज्ञता' का अर्थ यह है कि हर व्यक्ति वही करे, जो उसका स्वाभाविक और सहज प्राप्त धर्म है। एक न्यायपूर्ण समाज में, प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने कर्त्तव्य का पालन करता है, वह दूसरों के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता। शासक वर्ग, सैनिक वर्ग और उत्पादक वर्ग, ये तीनों यदि अपने कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करेंगे, तो समाज में न्यायपूर्ण व्यवस्था अपने आप कायम हो जायेगी।

जहाँ तक 'सामञ्जस्य' या समरसता का प्रश्न है, इसके लिए यह जरूरी है कि शासक-वर्ग और सैनिक-वर्ग, दोनों ही स्वयं को निजी स्वार्थ से ऊपर रखें। अफ़लातून ने इसीलिए यह कहा कि इन वर्गों को निजी परिवार बसाने का अधिकार नहीं होगा। उन्हें तो समूचे समाज को ही अपना परिवार मानना होगा।

मूल्यांकन 'दार्शनिक शासक' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले अफ़लातून को कुछ विद्वानों ने फासिज़्म और सर्वसत्तावाद का अग्रदूत माना है। वास्तव में अफ़लातून के दर्शन का मूल्यांकन करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वह एक आदर्श राज्य की स्थापना चाहता था, एक ऐसा राज्य, जिसमें शासक-वर्ग, सैनिक-वर्ग और उत्पादक-वर्ग तीनों ही अपने कार्यों में निपुण हों और वही कार्य करें, जिसमें कि उन्होंने विशेष दक्षता हासिल की है। वैसे अफ़लातून स्वयं यह स्वीकार करता है कि ऐसे राज्य की स्थापना, अभी केवल शब्दों तक ही सीमित है, पृथ्वी पर उसका अस्तित्व कहीं नहीं है। परन्तु साथ ही उसने यह भी कहा कि 'ऐसे राज्य की स्थापना असंभव नहीं है, हालाँकि इस तरह की उपलब्धि बहुत कठिन है।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अफ़लातून का काव्य–दर्शन अफ़लातून आध्यात्मिक अभिरुचि के भाववादी और लोक के प्रति निष्ठावान विचारक थे। उनके मन में इस विश्व के भविष्य का बड़ा ही मनोरम स्वप्न था। उस स्वप्न को साकार करने के प्रयत्न में ही वे जीवन की सार्थकता स्वीकार करते थे। अपने अध्यापन और लेखन के माध्यम से उन्होंने अपने समय के लोगों को उसी दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान की थी। उनके मन में भावना का शील था और वे सहृदय कवि भी थे। इसीलिए उन्होंने जो कुछ कहा या लिखा है उसमें उनके कवि रूप को भी अभिव्यक्ति मिली है। वे अपनी बात, अपनी बुद्धि और मन के स्तर से तो कहते ही हैं, वह उनकी अन्तश्चेतना से भी सहज रूप में प्रवाहित होती है। इसीलिए उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह हमारी बुद्धि और मन को छूने के साथ–साथ, हमारी अन्तरात्मा को भी प्रभावित करता है। प्लेटो के व्यक्तित्व के इन विभिन्न पक्षों को स्वीकार करते हुए भी, उनके कुछ वक्तव्यों के आधार पर उन्हें कविता का विरोधी घोषित कर दिया गया है। यह सही है कि अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' अर्थात् 'गणतंत्र' में उन्होंने कवियों को अपने आदर्श राज्य से बाहर निकाल देने की बात कही है : लेकिन अगर उनके वक्तव्यों को ध्यान के साथ पढ़ा जाये, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि उन्होंने उन कवियों के बहिष्कार की बात नहीं कही है, जो दिव्य–प्रेरणा से काव्य–रचनाओं का निर्माण करते हैं। उन्होंने मात्र उन कवियों का बहिष्कार करने को कहा है जो मनुष्य ही नहीं वरन् देवताओं और उससे भी आगे बढ़कर, स्वयं भगवान् को, दुष्प्रवृत्तियों का प्रदर्शन करते हुए दिखाते हैं। उन्होंने स्पष्टतः जीवन के उदात्त स्वरूप का उद्घाटन करने वाले कवियों को अभिनन्दन के योग्य माना है।

अफ़लातून यूनान के प्रसिद्ध विचारक सुकरात के शिष्य थे, जिन्होंने 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम् को अपने जीवन का आदर्श सूत्र स्वीकार किया था। सुकरात यूनान के जनसाधारण, विशेष रूप से नवयुवकों, के बीच घूम–घूम कर अपनी विशिष्ट प्रश्नोत्तर शैली में अपने लोकनिष्ठ जीवन–दर्शन का प्रचार किया करते थे। अफ़लातून ने योग्य शिष्य के रूप में उन्हीं के संवादों को लिखित रूप दिया है। उनके इस लेखन में उनके महामना, लोकनिष्ठ और बहुमुखी व्यक्तित्व के विभिन्न पक्ष भी उजागर हुए हैं। अपने 'फ़एद्रस' एवं 'आइऑन' जैसे संवादों में काव्य रचना की मूल–प्रेरणा के सम्बन्ध में विशेष विचार किया गया है। उनका सुनिश्चित मत है कि वास्तविक काव्य–रचनाएँ भगवत्–प्रेरणा से ही लिखी जाती हैः

"सब अच्छे कवियों महाकाव्य–रचयिताओं ने जो सुन्दर कविताएँ लिखी हैं, वे कला के कारण नहीं, वरन् इसलिए कि वे दैव प्रेरित थीं और वे आविष्ट होकर लिख रहे थे।" यही विचार आगे चलकर उन्होंने प्रगीतकारों के संबंध में भी प्रकट किये हैं:

"वे अपनी कविताएँ वाग्देवी के उपवनों में बहने वाले मधुस्रोतों से प्राप्त करते हैं और उसी प्रकार लाकर हमें देते हैं जैसे मधुमक्खी हमें मधु देती है। उनके पंख भी होते हैं। कवि का कौशल, सूक्ष्म, पंखयुक्त और पवित्र होता हैः और वह तब तक कविता नहीं कर सकता, जब तक कि वह दैवी–प्रेरणा प्राप्त करके अपनी बुद्धि और विवेक, सब भूल नहीं जाता। वे जो कुछ कहते हैं, वह अपनी कला के कारण नहीं, वरन् दैवी–शक्ति के आधार पर कहते हैं।" अपनी इसी विचारधारा के आधार पर उनका कथन है कि अत्यन्त श्रेष्ठ कवि भी, जब तक दैव–प्रेरित न हो जाये, तब तक श्रेष्ठ काव्य की रचना नहीं कर सकता; लेकिन अत्यन्त दरिद्र कवि भी अगर उसे दिव्य–प्रेरणा मिल जाये तो अत्यन्त उत्कृष्ट काव्य की रचना कर देता है।

अफ़लातून ने अपनी इसी विचारधारा को और भी आगे बढ़ाते हुए यह कहा है कि वास्तविक कवि, इस जगत् में वस्तुतः भगवान् के संदेश वाहक होते हैं। उनका आशय यह है कि भगवान् कवियों के माध्यम से ही हमें यह बताता है कि हमारे लिए क्या अकरणीय और क्या करणीय है। जो वास्तव में कवि हैं वे अपनी रचनाओं के माध्यम से जीवन के परम्

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदात्त–स्वरूपों का चित्रण उपस्थित करते हैं; और उनके द्वारा हमें भी यह प्रेरणा प्रदान करते हैं कि हम सन्मार्ग पर चलें।

अफ़लातून के मन में, इस विश्व के भविष्य का बड़ा ही मनोरम स्वप्न था। उन्होंने एक आदर्श–राज्य की कल्पना की थी और वह कैसे उत्पन्न किया जा सकता है, उसके निर्माण की प्रक्रिया का अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में बड़े विस्तार से विवेचन किया है। वे हमें यथार्थ जीवन की दुर्बलताओं को छोड़कर एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था की ओर ले जाना चाहते हैं। हमारे चारों ओर की जो वास्तविकता है, जिसमें हमारी शक्ति और दुर्बलताएँ, दोनों ही प्रकट होती रहती हैं, उसे यथार्थ कहा जाता है। हमारे मन में जीवन के सर्वोत्तम रूप की जो कल्पना है, उसे आदर्श की संज्ञा दी गयी है। जीवन के इस आदर्श स्वरूप में सद्भावना, सद्विचार एवं सदाचरण की वृत्तियों का ही प्रकाशन देखने को मिलता है। अफ़लातून ने ऐसे ही आदर्श राज्य का शब्द–चित्र उपस्थित किया है और उसके निर्माण में बच्चों की शिक्षा के संबंध में विचार करते हुए साहित्य की क्या भूमिका होनी चाहिए उसकी विवेचना की है।

अफ़लातून ने अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' की तीसरी पुस्तक में बच्चों की शिक्षा पर विचार करते हुए यह लिखा है कि बच्चों का मन बड़ा ही संवेदनशील होता है और वे सहज ही प्रभाव ग्रहण कर लेते हैं; इसलिए उनकी शिक्षा की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। जो काव्य–रचनाएँ उन्हें पढ़ायी जाती हैं, वे निश्चित रूप से ऐसी होनी चाहिए जो उनके व्यक्तित्व को विकास के पथ पर अग्रसर कर दें। लेकिन इस समय जो काव्य–रचनाएँ पढ़ायी जा रही हैं, वे इस प्रयोजन के अनुरूप नहीं हैं; इसलिए वे उपयुक्त नहीं हैं। उनमें ईश्वर को बड़े गलत ढंग से प्रस्तुत किया गया है। ईश्वर सदा पूर्णतः भला ही होता है, इसलिए उसके रूप बदलते नहीं और वह कभी किसी प्रकार की धोखाधड़ी नहीं करता। इसलिए उसे इस प्रकार के अनर्गल कार्य करते हुए कभी दिखाया भी नहीं जाना चाहिए।

अफ़लातून ने बच्चों की शिक्षा के संबंध में कथा–साहित्य पर विशेष विचार किया है। उन्होंने कथा–साहित्य के दो प्रकार– वास्तविक और सर्वथा काल्पनिक माने हैं। वास्तविक साहित्य से उनका तात्पर्य उन रचनाओं से है, जो भगवद्प्रेरणा से लिखी जाती हैं, सद् वृत्तियों का उद्घाटन करती हैं, और भगवान् का संदेश जन–साधारण को सुनाती हैं। लेकिन जो सर्वथा काल्पनिक रचनाएँ हैं, वे मानव–चरित्र की दुर्बलताओं के उद्घाटन में रुचि लेती हैं। वे यह दिखाती हैं कि जो सर्वथा सज्जन लोग हैं उन्हें इस दुनिया में हर प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं; लेकिन जो दुर्जन हैं; उनके ऊपर सर्वदा सुख की ही वर्षा होती रहती है। इन सर्वथा काल्पनिक रचनाओं में, दिव्य–शक्तियों को भी कभी अपने रूप में और कभी रूप बदलकर अनेक प्रकार के दुष्कर्म करते हुए दिखाया जाता है। कभी–कभी तो स्वयं भगवान् को भी मानव–चरित्र की विभिन्न दुर्बलताओं को उद्घाटित करते हुए प्रदर्शित कर दिया जाता है। अफ़लातून का निश्चित विचार है कि इस प्रकार के सर्वथा काल्पनिक चित्रण, प्रतिबन्धित होने चाहिए। इसी प्रकार के साहित्य के रचनाकारों को उन्होंने अपने राज्य से बहिष्कृत कर देने की बात कही है।

अफ़लातून ने इस प्रकार भगवद्प्रेरणा से लिखित मानव–चरित्र के उदात्त–स्वरूप का चित्रण करने वाली, अपने माध्यम से भगवान् का सन्देश जन–साधारण तक पहुँचाने वाली रचनाओं का नहीं, वरन् उन रचनाओं का विरोध किया है, जो अनुकरणशील हैं अर्थात् जीवन जैसा है, उसे उसी रूप में, मनुष्य की शक्ति और दुर्बलताओं का, विशेष रूप से दुर्बलताओं का उद्घाटन करने में रुचि लेती हैं। अफ़लातून ने जो अनुकरणशील साहित्य का विरोध किया है, उसे भली प्रकार समझने के लिए उनके अध्यात्मनिष्ठ जीवन–दर्शन को समझना आवश्यक है।

अफ़लातून अध्यात्मनिष्ठ और भाववादी दार्शनिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। उनकी निश्चित मान्यता थी कि इस विराट् जगत् में एक परिव्याप्त परम सत्ता है। वह अरूप है, भावरूप है और इस जगत् के जड़–चेतन सभी विधान उसमें भाव–रूप में स्थित हैं। बढ़ई जो खाट, मेज, स्टूल आदि बनाता है, वे सभी भाव–रूप में अपने आद्य–रूप में उस परम–सत्ता में स्थित होते हैं। बढ़ई जब खाट बनाने चलता है, तो अपने मन में, उसके आद्य–रूप की भावना करता है। उसके मन का वह भाव–रूप, आद्य–रूप से कुछ अलग रूप का होता है। जब वह अपने मन के भाव–रूप को लकड़ी के सहारे खाट का आकार देता है, तो उसकी वह खाट उसके मन की खाट से कुछ और दूर की होती है। कोई चित्रकार जब उस खाट की आकृति बनाता है, तो वह खाट की आकृति, बढ़ई की बनायी खाट से कुछ अलग किस्म की होती है। उस चरम–सत्ता के मन की खाट के भाव–रूप से चित्रकार की बनायी खाट की दूरी तिगुनी हो जाती है। कवि भी अपनी रचनाओं में इस जगत् की जिन वस्तुओं को रूपायित करता है, वे भी आद्य–भाव रूप से बहुत दूर होती हैं। अनुकरणशील साहित्यकार इस प्रकार, वास्तविक साहित्य का नहीं, मात्र साहित्याभास का, निर्माण करता है। इसी साहित्याभास का जो मानव–चरित्र की दुर्बलताओं के चित्रण में विशेष रुचि लेता है, अफ़लातून ने विरोध किया है।

अफ़लातून ने चित्रकार के कार्य की एक अन्य दृष्टि से भी आलोचना की है। उनका कहना है कि चित्रकार, जिस खाट, रथ, हिरन आदि की आकृति बनाता है, उनके रचना–विधान, उनकी कार्यविधि की उसे कोई जानकारी नहीं होती। वह नहीं जानता कि रथ कैसे बनाया जाता है। वह यह भी नहीं जानता कि रथ को सारथी किस प्रकार चलाता है। इस प्रकार चित्रकार जिन वस्तुओं को बनाता है, उनके विषय में उसको कोई समुचित ज्ञान नहीं होता। कवि भी अपनी रचनाओं में जिन वस्तुओं को रूपायित करता है, उनके विषय में भी उसे, विशेष जानकारी नहीं होती। अनुकरणशीलता को लेकर चलने वाले साहित्य का इस आधार पर अफ़लातून ने विरोध किया है।

अफ़लातून ने अनुकरणशील साहित्य को लेकर, तीन प्रकार की आपत्तियाँ उठायी हैं। उनका कहना है कि अनुकरणशील रचनाएँ सामाजिकों को सत्य से बहुत दूर ले जाती हैं, अर्थात् वे जीवन के वास्तविक नहीं, अवास्तविक अर्थात् असत्य रूप का उद्घाटन करती हैं। दूसरे ये रचनाएँ मानव–चरित्र के दुर्बल पक्षों के उद्घाटन में रुचि लेती हैं अतः वे मनुष्य की दुर्बल–प्रवृत्तियों का दमन नहीं, वरन् उन्हें प्रोत्साहन देती हैं। तीसरे, अनुकरणशील रचनाएँ इस प्रकार मनुष्य को सन्मार्ग से विमुख कर कुमार्ग पर ले जाती हैं। प्लेटो ने इन्हीं तीन आधारों पर उन कवियों और उनकी रचनाओं को, जो मानव चरित्र की दुर्बलताओं का चित्रण करने में रुचि लेती हैं, अपने आदर्श–राज्य में निष्कासित करने की बात कही है। उनका निश्चित विचार था कि कवि या किसी भी कलाकार को सौन्दर्य की प्रतिष्ठा, लोक में मंगल की अवतारणा और परम सत्य के उद्घाटन में तत्पर होना चाहिए। उन्होंने अपनी इसी विचार परम्परा को समेटते हुए लिखा है :

"इसीलिए हमें केवल कवियों को ही यह आदेश नहीं देना चाहिए कि वे अपनी रचनाओं में केवल सज्जनों का ही चरित्र–चित्रण करें, वरन् यह आदेश उन्हें उन सभी कलाकारों में प्रसारित करना चाहिए कि वे दुर्जनों, अनुशासनहीनता, दुष्प्रवृत्तियों अथवा असुन्दरताओं को अपने चित्रों, मूर्त्तियों, वास्तुकला के विधान में तथा अन्य कला–कृतियों में चित्रित न करें। अगर वे इस आदेश का पालन नहीं करते तो उन्हें अपनी कला का अभ्यास न करने दिया जाये।"

यह वक्तव्य निषेधात्मक है; उन्होंने इस सन्दर्भ में स्वीकारात्मक रूप में भी लिखा है :

"हमारे कलाकारों और शिल्पियों में, यह सामर्थ्य होनी चाहिए कि वे जो कुछ सुन्दर है, उसकी वास्तविक प्रकृति को देख सकें, और तब हमारे नवयुवक मानों एक स्वस्थ वातावरण में रहते हुए, सभी कलाकृतियों से जो वे देखेंगे या सुनेंगे उनके प्रभाव का अच्छा ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लाभ उठायेंगे, जैसे कि किसी स्वस्थ प्रदेश से चलने वाली हवा उन्हें भली प्रकार प्रभावित करती है, और जो कुछ तर्क–संगत एवं उचित है उसके प्रति संवेदन शील बनाकर, उनके चरित्र को अनजाने ही नया मोड़ दे देती है।" अफ़लातून के काव्य–दर्शन के इस अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उन्हें कविता मात्र का नहीं वरन् केवल अनुकरणशील कविताओं का ही विरोधी माना जाना चाहिए।

अफ़लातून ने भगवद् प्रेरणा से काव्य रचना में तत्पर कवियों तथा उन कवियों का अभिनन्दन किया है जो मानव–चरित्र के उदात्त स्वरूपों का उद्घाटन करते हैं तथा दिव्य चरित्रों को भी सद्भावना एवं सदाचार की प्रवृत्ति से ओतःप्रोत दिखाते हैं। उनकी यह विचारधारा गोस्वामी तुलसीदास जी से बहुत मिलती–जुलती है। तुलसीदास जी ने भी लिखा है कि प्राकृतजनों का गुणगान करने पर यानी यथार्थवादी दृष्टि से उनकी चरित्रगत दुर्बलताओं के उद्घाटन पर, साहित्य एवं ललित कलाओं की अधिष्ठात्री देवी अपना सिर धुन कर पश्चात्ताप करने लगती हैं कि अरे, यह क्या हो रहा है। तुलसीदास जी ने भी प्लेटो की भाँति दिव्य प्रेरणा से काव्य रचनाओं की सृष्टि स्वीकार की है। तुलसीदास जी ने अफ़लातून की भाँति यह भी कहा है कि वे ही काव्य–रचनाएँ भली समझी जाती हैं, जो गंगा की धारा के समान सभी के लिए कल्याणकर होती हैं।

गोस्वामी तुलसीदास और प्लेटो (अफ़लातून) की विचारधारा में थोड़ा अंतर भी है। अफ़लातून काव्य–रचनाओं में केवल उदात्त–चरित्रों के चित्रण की ही वकालत करते हैं। लेकिन तुलसीदास जी का कहना है कि काव्य–रचनाओं में जीवन के सद् और असद् दोनों ही स्वरूपों का चित्रण होना चाहिए। कवियों को सामाजिकों को यह बताने के साथ, क्या करणीय है, यह भी बताना चाहिए कि क्या अकरणीय है, तभी समाज में वास्तव में लोकमंगल की समुचित रूप में व्यवस्था हो सकती है।

अफ़ीम संस्कृत, अहिफेन। अंग्रेजी, ओपियम। लैटिन, पैपावेर सौम्नीफेरम। एक दवाई जो नशे के लिए तथा जहर के रूप में भी प्रयोग में लायी जाती है। यह पोस्त के पौधे से प्राप्त होती है। पोस्त का पौधा तीन से पाँच फुट तक ऊँचा होता है। इसका फूल कभी सफेद, कभी पीला, होता है और बीच का भाग काला। जब वह फल का रूप ग्रहण करता है, तो लगभग मुर्गी के अंडे का आकार ग्रहण कर लेता है। फल (ढोंढ़ी) को अधपकी अवस्था में बीच में चीर दिया जाता है। उस भाग से जो रस निकलता है, उसे ही हवा में सुखाकर अफ़ीम बनायी जाती है।

अफ़ीम का प्रयोग अनेक शताब्दियों से दर्द से मुक्ति पाने के लिए दवाई के रूप में होता रहा है। अफ़ीम के विशेष रूप से सक्रिय तत्त्व को निकालकर उसी से पहले मॉरफ़ीन (१८०३), कोडीन, पपावरीन आदि औषधियाँ बनीं। उसी से हेरोइन बनायी गयी है, जिसका उपयोग विशेष रूप से नशे के लिए किया जाता है। कुछ स्थानों पर अफ़ीम का प्रयोग तम्बाकू की तरह आग पर तपाकर भी किया जाता है। अफ़ीम के इस रूप को चण्डू कहा गया है। अफ़ीम का प्रयोग उसकी, गोली बनाकर ही विशेष रूप से नशे के लिए किया जाता है।

अफ़ीम की खेती विशेष रूप से भारत, फ़ारस, टर्की, चीन, तथा दक्षिण एशिया के कुछ देशों में कहीं कानूनी, कहीं गैर कानूनी रूप में होती है। अब इसे अनेक यूरोपीय देशों में उगाया जाने लगा है। भारत में इसकी खेती उत्तरांचल तथा तराई के क्षेत्रों में विशेष रूप से होती है। मैदानी क्षेत्रों में बाराबंकी, गाजीपुर आदि में ये विशेष रूप से उगायी जाती है। गाजीपुर में तो इसका एक कारखाना भी है।

उत्तर भारत में अफीम के लिए पोस्त के पौधे विशेष रूप से बड़ी ही उर्वरा भूमि में, नवम्बर में लगाये जाते हैं। इन पौधों में बड़े बड़े सफेद या पीले फूल खिलते हैं, जो जनवरी आने तक गोलाकार फल का रूप ग्रहण कर लेते हैं। उन्हें ही चीरकर जो रस निकलता है उसे सुखाकर फिर उन्हें कारखानों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भेज दिया जाता है और फिर वहाँ उससे अफ़ीम, मॉरफीन, हेरोइन आदि बनाई जाती है।

अफ़ीम का प्रयोग अगर समुचित मात्रा में दवाई के रूप में किया जाये, तो वह दर्द को दूर करती है, तथा अन्य भी कई प्रकार की बीमारियों का उपचार करती है। उससे बनने वाली दवाइयों में मॉरफीन दर्द से मुक्त कर नींद लाने के लिए उपयोग में लायी जाती है। हेरोइन का प्रयोग विशेष रूप से नशे के लिए किया जाता है। नशे के लिए कच्ची अफीम की गोलियों का भी प्रचलन है।

दुर्भाग्य से अफ़ीम तथा उससे बनी वस्तुओं का प्रयोग नशे के लिए कहीं अधिक होता है। अगर कोई नशे के लिए, उसका दो–चार बार प्रयोग करता है, तो वह उसकी आदत बन जाती है। नशे के रूप में प्रयोग आने वाली हेरोईन स्वास्थ्य को हानि पहुँचाती है : शरीर पीला पड़ जाता है, दुबला हो जाता है, बदहजमी हो जाती है और जगह–जगह खुजली सताने लगती है। मनुष्य की जीवनशक्ति क्षीण हो जाती है और उसे आलस्य घेर लेता है। अफ़ीम का प्रयोग आरम्भ में कुछ आनन्दप्रद लगता है; इसीलिए जल्दी ही उसकी आदत पड़ जाती है और वह अधिक मात्रा में ली जाने लगती है। चीन में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, अफ़ीम का विशेष रूप से प्रचलन हो गया था।

चीन के प्रबुद्ध लोगों ने अफीम से होने वाली हानियों को देखकर, उसके प्रयोग को रोकने का भी प्रयत्न किया था। इस प्रयास में चीन के लोगों को अपने देश में अफ़ीम का व्यापार करने वाले अंग्रेजों से लड़ना भी पड़ा था। इस संघर्ष को अफीम युद्ध की संज्ञा दी गयी। यह युद्ध पहली बार १८३६–१८४२ में हुआ था। चीनी सरकार ने कैण्टन में अंग्रेजों के अफ़ीम के गोदाम पर अधिकार भी कर लिया था; लेकिन अन्ततः अंग्रेज फ़ौजों ने चीनियों को पराजित कर दिया था; और फिर जो सन्धि हुई थी उसमें पाँच बन्दरगाहों पर अंग्रेजों को रहने और अफ़ीम का व्यापार करने के अधिकार मिल गये थे। सन् १८५६–६० में दूसरा अफ़ीम युद्ध हुआ था, जिसमें अंग्रेज और फ्रांसीसी सेनाओं ने मिलकर चीनियों को पराजित कर दिया था। उसके बाद पेकिंग का समझौता हुआ था, जिसके फलस्वरूप यह दोनों देश, अपना अफ़ीम का व्यापार जारी रख सके थे। बीसवीं शताब्दी आरम्भ होते–होते अंग्रेजों के साथ फिर संघर्ष हुआ था; और सन् १६०७ में भारत की अंग्रेजी सरकार के साथ यह समझौता हुआ था कि अब यहाँ से अफ़ीम का चीन भेजा जाना बन्द कर दिया जायेगा। लेकिन उसके बाद भी चीन में अंग्रेजों द्वारा अफ़ीम का भेजा जाना जारी रहा। संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी सन् १६०६ से लेकर १६३० तक इस दिशा में अनेक प्रयास किये; लेकिन उनसे कोई सुपरिणाम न निकले। सन् १६४६ में जब चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना हुई तो उसके प्रयास से अफीम के व्यापार पर रोक लगी और फिर जन साधारण में अफ़ीम का प्रयोग पूर्णतः समाप्त हो गया।

अफीम का प्रयोग विभिन्न प्रकार की दवाइयों के रूप में प्रायः विश्व के सभी देशों में प्रचलित है। इंग्लैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका में बीसवीं शताब्दी के मध्य भाग में स्वच्छन्द प्रकृति के नवयुवकों ने 'बीट' और 'बीटिल्स' नाम के जो आन्दोलन खड़े किये थे, उनमें हेरोईन, मॉरफीन आदि का प्रयोग नशे के लिए विशेष रूप से होने लगा। तभी ब्रिटिश शासकों ने अपने यहाँ तथा राष्ट्रमण्डल के देशों में तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में अपने यहाँ दवाई के अतिरिक्त अफीम से बनी अन्य वस्तुओं पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। भारत में भी नवयुवकों में मॉरफीन, हेरोइन आदि का नशे के रूप में प्रयोग चल रहा है। ये नशीली वस्तुएँ पड़ोसी देशों से अवैध रूप से पहुँचायी जा रही हैं।

अफीम का व्यापार व उत्पादन पूर्णतः सरकारी नियन्त्रण में ही किया जाता है; किन्तु राष्ट्रीय व अन्तर–राष्ट्रीय बाज़ारों में इसका अवैध व्यापार (चोरी–छिपे) एक समस्या बना हुआ है।

अफ़्रीका विश्व का दूसरा सबसे बड़ा महाद्वीप। यह उत्तर में भूमध्य सागर, पूर्व में लाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सागर एवं हिन्द महासागर तथा पश्चिम में अतलान्त महासागर से घिरा हुआ है। अपने साथ लगे हुए द्वीपों को लेकर इसका क्षेत्रफल ३,०३,३०,००० वर्ग कि०मी० है, जो विश्व के सम्पूर्ण क्षेत्रफल का लगभग २२ प्रतिशत है; लेकिन यहाँ विश्व की मात्र १२.४ प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है। सभी महाद्वीपों में, अफ्रीका सबसे कम विकसित है; इसलिए पहले इसे 'अँधेरे का महाद्वीप' कहा जाता था। इस महाद्वीप के विभिन्न देश हैं – मिस्र, लीबिया, अल्ज़ीरिया, मोरक्को, सूडान, इथीयोपिया, कीनिया, सोमालिया, नाइज़ीरिया, ज़ाम्बिया, नामीबिया, तंज़ानिया, चाड, अंगोला, घाना, बोत्स्वाना, ज़िम्बाब्वे, यूगाण्डा, जेरे तथा दक्षिण अफ्रीका। समीप के मुख्य द्वीप हैं – मेडागास्कर, ज़ञ्जीबार, पेमाम्बा, मॉरीशस और कोमारो।

प्राकृतिक परिवेश

उत्तरी समुद्रतट और उत्तर पश्चिम की एटलस पर्वतमाला को छोड़कर, अफ्रीका का शेष भाग विस्तृत लुढ़कते हुए पठार की भाँति है, जिसमें अनेक बड़ी–बड़ी तश्तरीनुमा नदियों की घाटियाँ हैं। एटलस पर्वतमाला से लेकर प्रागैतिहासिक काल से चली आ रही आशा अन्तरीप तक, चट्टानों की ढाल है। उस ढाल के पूर्व की ओर अरब का प्रायद्वीप और मेडागास्कर द्वीप हैं; जो कि तीसरे महाकल्प के समय अफ्रीका से अलग हो गये थे। इस प्रागैतिहासिक चट्टानी क्षेत्र में, इस धरती के अत्यधिक आदिम युगीन जीवन के अवशेष जीवाश्म के रूप में मिलते हैं, जिन्हें ३ अरब वर्षों से भी अधिक पुराना कहा जाता है। भूगर्भ विज्ञान की दृष्टि से उत्तरी अफ्रीका की एटलस पर्वतमाला; यूरोप की एटलस पर्वत श्रृंखला और अल्पाइन पहाड़ों से सम्बद्ध मानी जाती है।

भौगोलिक क्षेत्र

भौतिक रचना विधान की दृष्टि से अफ्रीका को उत्तरी पठार, मध्य और दक्षिण के पहाड़ी क्षेत्रों तथा पूर्व के पहाड़ी प्रदेशों में बाँटा जा सकता है। उत्तर से लेकर दक्षिण पूर्व तक, इन पहाड़ी क्षेत्रों की ऊँचाई लगभग ५०० मीटर है। भूमध्य सागर के तट को तथा तज़ानिया के सागर तटीय भूभाग को छोड़कर, शेष भागों में सामान्यतः बड़ा ही पतला मैदानी क्षेत्र है, जो बड़ी तेजी के साथ पठार का रूप ग्रहण कर रहा है।

उत्तरी पठार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग, सहारा का विस्तृत रेगिस्तान है, जो इस महाद्वीप के एक–चौथाई भाग को घेरे हुए है। इस उत्तरी पठार के किनारे कई पहाड़ी क्षेत्र हैं। उत्तर–पश्चिम में एटलस पर्वत–श्रृंखला है, जो मोरक्को से लेकर ट्यूनेशिया तक के पहाड़ी क्षेत्र को छूती है। उत्तर के इस रेगिस्तानी क्षेत्र के बीच में छाद झील की घाटी है।

मध्य और दक्षिण भागों का पठारी क्षेत्र, उत्तर के पठारों से पर्याप्त ऊँचा है। इस पठारी क्षेत्र में अनेक निचले भूभाग भी हैं, जिनमें विशेष उल्लेखनीय है, काँगो नदी का तटीय क्षेत्र और कलाहारी रेगिस्तान। दक्षिण के पठार की ऊँचाई औसतन ६०० मीटर है। दक्षिण–पूर्वी तट पर डार्केन्सबर्ग पर्वत–श्रृंखला है, जो लगभग ११०० किलोमीटर तक जाती है। सबसे दक्षिण में कारो का निर्जल पठार है, जो लगभग २,५६,००० किलोमीटर तक फैला हुआ है।

पूर्व के उच्च क्षेत्र, जो इस महाद्वीप को सबसे ऊँचे भाग हैं, लाल सागर से लेकर दक्षिण में ज़ाम्बेज़ी नदी तक फैले हुए हैं। इस क्षेत्र की औसतन ऊँचाई १५०० मीटर से भी अधिक है। इथीयोपिया के पठार तो ३००० मीटर से भी ऊपर उठ जाते हैं। उत्तरी इथीयोपिया में इस पठार की सबसे ऊँची चोटी, राशदशान ४६२० मीटर ऊँची है। इथीयोपिया के दक्षिण भाग में अनेक ज्वालामुखी चोटियाँ हैं। केनिया के किलीमैंजारो और ऐलगॉन शिखर, उन्हीं के अन्तर्गत आते हैं। पूर्वी पहाड़ी क्षेत्र में रिट घाटी विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जो उत्तर से दक्षिण तक फैली हुई है। उस घाटी के पश्चिम में रूएनजॉन श्रृंखला है, जो सबसे अधिक ५११६ मीटर की ऊँचाई तक उठी हुई है।

अफ्रीका महाद्वीप का अधिकांश भूभाग, लाखों वर्षों से सागरीय जल से अछूता ही रहा है, तथा वहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की भूमि को स्थानीय जलवायु एवं नदियों के अभिसिंचन का ही लाभ मिला है, इसीलिए अफ्रीका की भूमि विशेष उपजाऊ नहीं है। लेकिन खनिज पदार्थ पर्याप्त मात्रा में हैं, जो भारी वर्षा अथवा तापमान के बढ़ने पर ऊपर निकल आते हैं। सर्वाधिक उपजाऊ भूमि पूर्वी अफ्रीका तथा पश्चिम और दक्षिण के कुछ भूभागों की है।

जल–स्रोत

अफ्रीका में छह बड़े जल–स्रोतों का जाल है। छाद झील की घाटी को छोड़कर, शेष सभी समुद्र में समाहित होते हैं। सभी में इतने खड़े प्रपात अथवा तेज़ प्रवाह हैं कि नौकायन सम्भव नहीं है। नील नदी जो ६६५० किलोमीटर तक जाती है, उत्तर पूर्वी अफ्रीका को सींचती है; तथा संसार की सबसे बड़ी नदी कही जाती है। इस नदी को ताना और विक्टोरिया झीलों का अपार जल मिलता है। यह नदी भूमध्य सागर में समाप्त होती है। काँगो नदी का विस्तार कोई ४६७० किलोमीटर है; और वह मध्य अफ्रीका को सिंचित करती है। उसका उद्गम ज़ाम्बिया में है और वह उत्तर तथा पश्चिम क्षेत्रों में बहती हुई, दक्षिण के अतलान्त महासागर में गिरती है। तीसरी बड़ी नदी, निगर, जो पश्चिमी अफ्रीका में बहती है, उसका विस्तार कोई ४१८० किलोमीटर है। वर्षा के महीनों में उसके ऊपरी भाग में नौकायन होता है। यह उत्तर और पूर्वी क्षेत्रों को सिंचित करती हुई गाइना की खाड़ी में गिरती है। चौथी नदी ज़ाम्बोज़ी का विस्तार कोई ३५४० किलोमीटर है; और वह दक्षिणी पूर्वी क्षेत्र को सींचती हुई, हिन्द महासागर में समाहित होती है। इस नदी का प्रवाह बड़ा ही तेज़ है और वह विश्व प्रसिद्ध विक्टोरिया जल प्रपात में अपने सर्वाधिक दर्शनीय रूप में देखी जाती है। दक्षिण अफ्रीका की आरेञ्ज़ नदी, जो वाल नदी के जल को लेती हुई चलती है, उसका विस्तार २१०० किलोमीटर है। इसका उद्भव जाहेन्सबर्ग पर्वतमाला में होता है, और वह पश्चिम में बहकर अतलान्त महासागर में गिरती है। छाद झील जो कि इस महाद्वीप के सर्वाधिक भाग को सींचती है, अनेक नदियों के जल को लेकर ताज़ा पानी देती है; लेकिन वह बड़ी ही छिछली है और उसकी गहराई मात्र १.२ मीटर ही है।

जलवायु

अफ्रीका के विभिन्न क्षेत्रों की जलवायु अन्य महाद्वीपों की तुलना में अपने–अपने रूप में वर्ष भर एक सी रहती है। जलवायु की दृष्टि से यहाँ मुख्य रूप से सात प्रकार के क्षेत्र देखने को मिलते हैं। महाद्वीप का मध्य भाग और मेडागास्कर के पूर्वी तट में उष्णकटिबन्धीय वर्षा की वन्य जलवायु मिलती है। यहाँ वार्षिक औसतन तापमान लगभग २६.७ डिग्री सें०मी० रहता है। साल में औसतन वर्षा कोई १७८० मिलीमीटर होती है। गाइना के तट की जलवायु भूमध्य रेखा की जैसी है; लेकिन वर्षा अधिकांश में एक ऋतु तक ही सीमित रहती है, फिर भी कोई महीना ऐसा नहीं जाता, जबकि कुछ वर्षा न हो। उत्तर और दक्षिण क्षेत्रों में वर्षाजन्य वन्य जलवायु के साथ, उष्णकटिबन्धीय बिना वृक्षों के घास के मैदानों का क्षेत्र है, जो पूरे महाद्वीप के लगभग १/५ क्षेत्र को घेरे हुए है। इन क्षेत्रों में गर्मी के दिनों में वर्षा होती है; और सर्दी के महीने में सूखा पड़ता है। इस क्षेत्र में ५५० मिलीमीटर से लेकर १५५० मिलीमीटर तक वर्षा होती है। भूमध्य रेखा से दूरस्थ उत्तरी और दक्षिणी क्षेत्रों में वर्षा कम होते हुए भी घास के खुले मैदान हैं। यहाँ २५० मिलीमीटर से लेकर ५०० मिलीमीटर तक वर्षा होती है और वह एक ही ऋतु में केन्द्रित रहती है।

अफ्रीका में आनुपातिक दृष्टि से अनुपजाऊ अथवा रेगिस्तान के क्षेत्र बहुत हैं, केवल आस्ट्रेलिया में ही इससे अधिक मरुभूमि है। उत्तर में सहारा रेगिस्तान है, पूर्व में हार्न मरुभूमि और पश्चिम दक्षिण में नामिब रेगिस्तान। इन क्षेत्रों में २५० मिलीमीटर से भी कम वर्षा होती है। सहारा में ऋतुओं के अनुरूप ही क्या, प्रतिदिन भी तापमान में अन्तर देखने को मिलता है। जुलाई में औसतन तापमान ३२.२ डिग्री सें० मी० से अधिक बढ़ जाता है; जबकि जाड़े में रात का तापमान बहुधा हिमांक से भी नीचे गिर जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्यधिक उत्तर–पश्चिम क्षेत्र में, भूमध्य सागरीय जलवायु रहती है; और इसी प्रकार की जलवायु दक्षिण पूर्वी क्षेत्र में भी मिलती है। इन क्षेत्रों में जाड़ों में हल्की वर्षा होती है और गर्मियों में पर्याप्त गर्मी और सूखा रहता है। पूर्वी अफ्रीका के ऊँचे क्षेत्रों में विशेष रूप से केन्या और उगाण्डा में पूरे वर्ष, वर्षा वितरित रहती है और तापमान भी समान रहता है। दक्षिण अफ्रीका में ऊँचे पठारी क्षेत्रों की जलवायु समशीतोष्ण रहती है।

वनस्पति : पेड़–पौधे

अफ्रीका में पेड़–पौधे वर्षा और क्षेत्रीय जलवायु के अनुरूप ही देखने को मिलते हैं। उष्णकटिबन्धीय वर्षाजन्य वन्य क्षेत्रों में, जहाँ लगभग १२७० मिलीमीटर से अधिक वर्षा होती है, भूतल पर घास, झाड़ियाँ और काई फैली रहती है और उनके ऊपर सदाबहार वृक्ष यथा तैलीय–पाम तथा सख्त लकड़ी वाले विभिन्न प्रकार के उष्णकटिबन्धीय वृक्ष होते हैं। कैमरून, अंगोला, पूर्व अफ्रीका तथा इथीयोपिया के कुछ भागों के पहाड़ी क्षेत्रों में, जहाँ वार्षिक वर्षा थोड़ी–सी कम होती है, जंगल मिलते हैं। यहाँ तैलीय–पाम, सख्त लकड़ी वाले वृक्ष और शंकु पेड़ भी उत्पन्न होते हैं। घास वाले वन्य क्षेत्रों में, जहाँ वर्षा ८६० मिलीमीटर से लेकर १४०० मिलीमीटर तक होती है, घास की पट्टी और अग्निरोधक झाड़ियाँ रहती हैं, जिनके ऊपर पतझड़ीय और द्विदलीय वृक्ष मिलते हैं। घास के अधिकांश वृक्षहीन मैदानों में, जहाँ ५०० से लेकर ८६० मिलीमीटर तक वर्षा होती है, छोटी–छोटी घास और झाड़ियों का विस्तार रहता है, और यहाँ–वहाँ छोटे–छोटे पतझड़ीय पेड़ दिखाई देते हैं। कटीली झाड़ियों और इधर–उधर दिखाई देने वाले घास के मैदानों में, जहाँ वर्षा ३०० से लेकर ५१० मिलीमीटर तक होती है, यहाँ–वहाँ कुछ रसीले, कुछ अर्धरसीले पेड़ होते हैं। अर्धरेगिस्तानी क्षेत्र में, जहाँ वर्षा १३० से ३०० मिलीमीटर मात्र होती है, घास की हल्की सी चादर और यहाँ–वहाँ छोटी–छोटी झाड़ियाँ मिलती हैं। रेगिस्तानी क्षेत्रों में जहाँ वर्षा, वर्ष भर में मात्र १३० मिलीमीटर होती है, वहाँ दूर–दूर पर कहीं–कहीं हरियाली, लेकिन अधिकांश में हरियाली–रहित क्षेत्र है।

पशु–पक्षी

अफ्रीका में पशु–पक्षियों की दृष्टि से स्पष्टतः दो अलग–अलग क्षेत्र हैं। उत्तर और उत्तर–पश्चिमी क्षेत्र में सहारा मरुभूमि तथा इथीयोपिया में, यूरेशिया जैसी भेड़, बकरियाँ, घोड़े और ऊँट मिलते हैं। बारबरी भेड़ें, लाल हिरन और दो प्रकार की सींगों वाली बकरियाँ, विशेष रूप से समुद्र तटीय क्षेत्रों में पायी जाती हैं। सहारा में, रेगिस्तानी भेड़िये, खरगोश, छोटे–छोटे हिरन, जरबेवा (खूब उछलने और तेज दाँतो वाला एक छोटा जानवर) भी देखे जाते हैं। इथीयोपिया प्रदेश में अनेक प्रकार के जानवर और चिड़ियाँ मिलती हैं। जंगलों तथा घास के मैदानों में अनेक प्रकार के कृष्णसार मृग, हिरन, ज़ेबरा, जिराफ, भैंसे, हाथी, गैंडे, बबून और अनेक प्रकार के बन्दर पाये जाते हैं। मांसाहारी जानवरों में शेर, तेंदुआ, चीता, लकड़बग्घा और नेवला हैं। भूमध्य रेखा के जंगलों में दुनिया का सबसे बड़ा वानर, बरसाती जंगलों में रहता है; उसके साथ ही वहाँ अनेक प्रकार के बन्दर, उड़ती गिलहरियाँ, चमगादड़ और लीमूर भी पाये जाते हैं।

अफ्रीका के अधिकांश पक्षी पुरानी दुनिया के ही हैं। गाइना मुर्गों का शिकार भी होता है। जलीय चिड़ियाँ पेलिकन, गोलियात, बगुला, हंसावर, सारस, बलाका आदि हैं। इबिस, सारस जैसा एक पक्षी विशेष रूप से नील नदी के तट पर मिलता है। शुतुरमुर्ग विशेष रूप से पूर्वी एवं दक्षिण अफ्रीका में देखे जाते हैं। नदियों में कछुए, घड़ियाल, मगर और बड़े आकार के गिरगिट भी मिलते हैं। ताजे पानी में मछलियाँ तो लगभग २००० तरह की मिलती हैं।

अफ्रीका में ज़हरीले साँप अनेक प्रकार के मिलते हैं। इथीयोपिया में माम्बा नाम का एक विशेष प्रकार का साँप पाया जाता है। अजगर तो विशेष रूप से पश्चिमी अफ्रीका में मिलते हैं। मेडागास्कर में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोआ नाम का एक विशेष प्रकार का अजगर पाया जाता है।

अफ्रीका महाद्वीप में कीड़े–मकोड़े तो अनेक रूप में पाये जाते हैं : विशेष रूप से मच्छर, चीटियाँ, टिड्डीदल, दीमक और टेसे नाम की एक विशेष मक्खी। यह मक्खी जानवरों में तथा आदमियों में भी नींद की बीमारी फैलाती है, जिसे 'गाना' कहा जाता है।

खनिज पदार्थ

खनिजों की दृष्टि से यह महाद्वीप विशेष रूप से समृद्ध है। विश्व के प्रायः सभी प्रकार के खनिज यहाँ पाये जाते हैं। अफ्रीका का सबसे बड़ा व्यवसाय वस्तुतः खनिजों को निकालना और उनका निर्यात है। दक्षिण अफ्रीका इस दृष्टि से अधिक समृद्ध है; और वहाँ इस महाद्वीप के लगभग आधे खनिज मिलते हैं। खनिज की दृष्टि से लीबिया – पेट्रोलियम, नाइज़ीरिया– पेट्रोल, गैस, कोयला, टीन, अल्जीरिया – पेट्रोल, गैस, कच्चा लोहा और ज़ाम्बिया – ताँबा, कोबाल्ट, कोयला, जस्ता और जिंक के क्षेत्र में समृद्ध हैं। पेट्रोल पश्चिमी तट पर भी मिलता है, यथा कांगो, जैरे और अंगोला में। विश्व का कोई एक तिहाई यूरेनियम, विशेष रूप से नाइगर, ज़ैरे, मध्य अफ्रीका, दक्षिण अफ्रीका और गबोन में पाया जाता है। ज़ैरे में विश्व का सर्वाधिक रेडियम प्राप्त होता है। विश्व का कोई २० प्रतिशत ताँबा कांगो में मिलता है। सर्वाधिक ताँबा जाम्बिया, जैरे, दक्षिण अफ्रीका और जिम्बाब्वे में पाया जाता है। विश्व का कोई ६० प्रतिशत कोबाल्ट भी ज़ैरे में ही मिलता है। सीएरालिओन में पेट्रोलियम के अपार भण्डार हैं। विश्व का लगभग तीन–चौथाई सोना इसी महाद्वीप में, दक्षिण अफ्रीका, जिम्बाब्वे, जैरे और घाना में मिलता है। दक्षिण अफ्रीका और ज़ैरे में, वस्तुतः विश्व के सर्वाधिक मणिरत्न मिलते हैं। इसी भूभाग में औद्योगिक हीरे भी पाये जाते हैं। कच्चा लोहा तो इस महाद्वीप के प्रायः सभी क्षेत्रों में पाया जाता है। कुछ वर्षों पहले तक खनिजों के उत्खनन और व्यापार का सारा कार्य बहुराष्ट्रीय कम्पनी के हाथों में था; लेकिन अब जब विभिन्न प्रदेशों में स्वायत्त शासन की स्थापना हो गयी है, तो वे भी अपने–अपने क्षेत्र में साझीदार हो गये हैं।

उद्योग

बहुमूल्य मणियों के उत्खनन तथा पेट्रोलियम के बाहर निकाले जाने से सम्बद्ध उद्योग (संशोधन और पिघलाने के) हैं। ये उद्योग विशेष रूप से उन प्रदेशों में है, जहाँ ऊर्जा समुचित मात्रा में उपलब्ध है। अधिकांश उद्योग दक्षिण अफ्रीका में हैं। धातु उत्पादन, मशीन निर्माण और परिवहन की रचना से सम्बन्धित बड़े उद्योग दक्षिण अफ्रीका में ही हैं। इधर जिम्बाब्वे, मिस्र और अल्ज़ीरिया में भी औद्योगिक विकास हुआ है। उत्खनन एवं उससे सम्बन्धित उद्योग ज़ैरे, जाम्बिया, केन्या, नाइज़ीरिया और आइवरीकोस्ट में बने हैं। कपड़ा, वास्तुकला से सम्बन्धित बड़े तथा छोटे उद्योग इन्हीं क्षेत्रों में हैं। अफ्रीका के शेष भाग में अधिकांश में उपभोक्ता वस्तुएँ जैसे जूते, साइकिल, कपड़े, खाने का सामान तथा पेय पदार्थ बनते हैं।

ऊर्जा

नाइज़ीरिया, लीबिया, अल्ज़ीरिया और अंगोला में पेट्रोलियम का उत्पादन विशेष रूप से होता है। विश्व की यद्यपि ४० प्रतिशत ऊर्जाशक्ति अफ्रीका से ही प्राप्त होती है; तथापि बहुत थोड़ा भाग ही विद्युत ऊर्जा में परिवर्तित हो पाता है : इसका कारण उत्पादन की ऊँची लागत, जलीय स्थलों की अगम्यता एवं बाजारों से उनका दूर होना है। फिर भी १९६० के बाद अनेक बड़े अधिष्ठान खड़े किये गये हैं, यथा नील नदी पर बना ऊँचा आसवान डैम, वोल्टा नदी पर बना वोल्टा डैम तथा ज़ाम्बेदी नदी पर बने कारिबा और काबोरा–बस्सा डैम।

परिवहन

परिवहन व्यवस्था पर्याप्त न होने के कारण, अधिकांश अफ्रीकी राष्ट्रों का आर्थिक विकास बाधित रहा है। अधिकांश क्षेत्रों में पक्की सड़कों का अभाव है और कच्ची सड़कें, वर्षा के दिनों में यातायात के योग्य नहीं रह जातीं। उनमें भी अधिकांश सड़कें अन्तरंग भागों को सागर तट से जोड़ती हैं; लेकिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभिन्न क्षेत्रों को सम्बद्ध नहीं करतीं। यद्यपि अधिकांश अफ्रीकी राष्ट्र, हवाई यातायात के लिए एक दूसरे से जुड़े हुए हैं; लेकिन रेल और जल परिवहन की समुचित सुविधाएँ नहीं हैं।

व्यापार

अधिकांश अफ्रीकी राष्ट्र बस थोड़ी ही चीजों का निर्यात करते हैं। अधिकांश व्यापार विकसित औद्योगिक राष्ट्रों के साथ ही होता है, जो कच्चा माल वहाँ से ले जाते हैं और फिर अपने औद्योगिक तथा उपभोक्ता सामानों को भेजते हैं। अफ्रीकी राष्ट्रों के बीच परस्पर व्यापार सीमा–शुल्क एवं मुद्राओं की विविधता के कारण, बड़ा ही सीमित है। अधिकांश अंग्रेजी उपनिवेशों का व्यापार ब्रिटेन तक ही सीमित है, और उनकी आरक्षित धनराशि लन्दन में ही रहती है। फ्रांसीसी उपनिवेश भी फ्रांस के और वहाँ के मुद्राओं के साथ जुड़े हुए हैं। इन तथा अन्य राष्ट्रों के सम्बन्ध अन्य यूरोपीय राष्ट्रों से भी हैं; और उन्हें सीमा शुल्क में छूट का लाभ मिलता है। इधर कुछ अन्तर–अफ्रीकीय आर्थिक व्यवस्थाएँ बनी हैं; इनमें पश्चिमी अफ्रीका का आर्थिक समुदाय और मध्य अफ्रीकी आर्थिक और व्यापार संघ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

इतिहास

विद्वानों का कहना है कि अफ्रीका में कोई पाँच सहस्त्राब्दि पहले ऐसे जीवधारी की सृष्टि हो गयी थी, जिसे आज के मनुष्य का पूर्व रूप कहा जा सकता है। कोई एक सहस्त्राब्दि पहले वहाँ विभिन्न प्रकार के उपकरण भी बनने लगे थे। वह आदिम मानव जो विभिन्न प्रकार के उपकरणों का प्रयोग करने लगा था, उसकी जानकारी आज से लगभग १,३०,००० वर्ष पहले मिलने लगी थी। ये लोग पत्थर के हथियारों का प्रयोग करते थे और घूमन्तू प्रकृति के थे। कोई १०,००० वर्ष पहले अलग–अलग क्षेत्रों में इनकी अलग–अलग जातियाँ बनने लगी थीं। उत्तर में सहारा से लेकर दक्षिण तक अनेक जातियाँ बन गयी थीं। आज जिन्हें हम नीग्रो कहते हैं, उनका विकास अफ्रीका के पश्चिमी भाग में हुआ था।

इन घूमन्तू जातियों ने अपना स्थायी निवास कोई ५००० वर्ष पहले नील नदी की घाटी में बनाया था। नील नदी के तट की कोमल मिट्टी और उससे मिलने वाले जल के सहारे, इन्होंने खेती–किसानी आरम्भ की। कालान्तर में ईसा से कोई ३००० वर्ष पहले उन लोगों ने राजनैतिक और धार्मिक व्यवस्थाएँ विकसित की थीं। पहले यह व्यवस्थाएँ नील नदी के उत्तरी और दक्षिणी तटों पर अलग–अलग बनीं थीं; लेकिन फिर उन्होंने एक शासक का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था। मिस्त्र के बाद ये सामाजिक व्यवस्थाएँ सूडान में भी पहुँची थीं। ईसा से कोई १००० वर्ष पहले मिस्त्र का प्रभाव काफी घट गया था और सूडान में कुश समुदाय अधिक महत्त्वपूर्ण शक्ति बन गया था। ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी में कुश राज्य का पतन हो गया और अक्सुम ने अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। तब राजकेन्द्र सूडान से हटकर इथीयोपिया हो गया था। तभी इस क्षेत्र में ईसाई धर्म का प्रचार हुआ था। ईसाईयों ने ही कुछ समय बाद, सूडान में भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

ईस्वी सन् की पहली शताब्दी तक, उत्तरी अफ्रीका के सभी स्वतंत्र राज्य, कारथेज के रोमनों द्वारा विजित होकर उनके साम्राज्य के भाग बन गये थे। उत्तरी अफ्रीका इसके बाद रोमन साम्राज्य को अन्न प्रदान करने वाला क्षेत्र बन गया था। सन्त आगेस्टाइन जैसे धर्माधीशों के प्रयास के फलस्वरूप, वहाँ ईसाई धर्म भी प्रतिष्ठित हो गया। ईस्वी सन् की चौथी शताब्दी के अन्त तक, उत्तरी अफ्रीका दो राज्यों में विभाजित हो गया था। लीबिया तक का पश्चिमी क्षेत्र तो रोमनों के अधिकार में बना रहा था; लेकिन उसके पूर्व के भाग पर कस्तुन्तुनिया के बाइज़ेन्टाइन शासकों का अधिकार हो गया था। पाँचवी शताब्दी में जर्मनी की जनजाति वैनडल ने, स्पेन के माध्यम से उत्तरी अफ्रीका में प्रवेश करके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रोमन क्षेत्रों को अपने अंधिकार में ले लिया; लेकिन छठी शताब्दी में बाइज़ेन्टाइन सेनाओं ने उन्हें पराजित कर पूरे क्षेत्र कों अपने राज्य में मिला लिया था।

मुहम्मद साहब के निधन, ईस्वी सन् ६३२ के बाद, अरब के इस्लाम के अनुयाइयों ने बाइज़ेन्टाइन साम्राज्य के मिस्र के भाग को अपने अधिकार में लेना आरम्भ कर दिया था, और ईस्वी सन् ६६०–७० के बीच पूरे क्षेत्र पर काबिज़ हो गये थे। उसके बाद इस्लाम के अनुयाइयों ने भूमध्य सागर के तट के शेष भाग पर अपने कदम बढ़ाने जारी रखे। मुस्लिम सेनाओं ने यद्यपि लीबिया के दक्षिण क्षेत्र तथा मोरक्को के कुछ भाग पर अपनी पहुँच बना ली थी; फिर भी उन्हें बर्बर जाति के आदिम निवासियों से काफी संघर्ष करना पड़ा था। दक्षिण भाग को तो उन्होंने यथासम्भव अपने अधिकार में लाने का प्रयत्न किया था; लेकिन आठवीं शताब्दी तक पूरे मोरक्को पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था और बहुत बड़ी संख्या में ईसाईयों को मुसलमान बनाया जाने लगा था। बर्बर लोगों ने पहाड़ी क्षेत्रों में तथा सहारा के रेगिस्तानी क्षेत्रों में जाकर, यथासम्भव अपने को बचाये रखने की कोशिश की थी। अरब विजेता थोड़े क्षेत्रों में ही कई शताब्दियों तक अपना शासन बनाये रख सके। ११वीं शताब्दी में अरबों का नया अभियान शुरू हुआ था और तब आदिवासी बर्बर पराजित होकर इस्लाम धर्म स्वीकार करने लगे थे। उस जाति के बस थोड़े से लोग ही रेगिस्तानी क्षेत्रों की ओर जाकर अपना अस्तित्व बनाये रख सके थे।

उत्तरी अफ्रीका में इसके बाद अनेक इस्लामी राजवंशों का उद्भव हुआ। आठवीं शताब्दी में उत्तर अफ्रीका के मुसलमानों ने आइबेरियन प्रायद्वीप में प्रवेश प्रारम्भ किया और फिर अनेक शताब्दियों तक ईसाईयों के अधिकार के यूरोपीय क्षेत्रों पर अधिकार करते रहे। उनका यह जेहाद अनेक शताब्दियों तक चलता रहा। सन् १५१७ में ओटोमन तुर्कों ने मिस्र पर आक्रमण किया और फिर कोई ५० वर्षों में उन्होंने उत्तरी अफ्रीका के शेष भागों पर भी थोड़ा–बहुत अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

सातवीं शताब्दी में जब मुसलमानों ने मिस्र पर अधिकार किया था, तो उनकी सेनाएँ पूरब के ईसाई अधिकार के सूडान और इथीयोपिया के क्षेत्रों की ओर बढ़ी थीं; लेकिन ईसाई सैनिकों ने ऐसा जबरदस्त प्रतिरोध खड़ा किया था कि आक्रमणकारियों को सन्धि करनी पड़ी थी और ६०० वर्षों तक उस क्षेत्र में शान्ति रही थी। चौदहवीं शताब्दी में मिस्र की ओर से बढ़ी इस्लामी सेना ने सूडान के ईसाई क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था और फिर तेजी से वहाँ इस्लामीकरण चल पड़ा था। इथीयोपिया के ईसाई कुछ अधिक समय तक अपने को उस जेहाद से बचाये रख सके थे, फिर भी १६वीं शताब्दी के मध्य तुर्कों की सहायता से इस्लाम ने इथीयोपिया के तीन–चौथाई भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

सूडान के पश्चिमी क्षेत्र के इस्लामी शासक, अपनी आर्थिक व्यवस्था सहारा क्षेत्र को इधर से उधर जोड़ने वाले मार्ग के सहारे चलाते थे। कपड़ा, बर्तन और नमक पाने के लिए, उन्हें अपने क्षेत्र के सोना, कोयला, फल और गुलाम भेजने पड़ते थे। यह सारा व्यापार घाना से चलता था। यह घाना राज्य ईस्वी सन् की पाँचवीं शताब्दी में आरम्भ हो गया था। इस क्षेत्र को आज मौरीतानिया कहते हैं। पुरातत्त्वविदों ने इधर उस क्षेत्र की पुरानी राजधानी कुम्बी सलेह की खुदाई से खोज की है। ग्यारहवीं शताब्दी तक लोहे के हथियारों से लैस घाना की सेनाओं ने, उस क्षेत्र से जिसे आज मोरक्को कहा जाता है, पश्चिमी तथा दक्षिणी अफ्रीका के समुद्र तटों तक व्यापार मार्ग पर अधिकार कर लिया था। बर्बर जनजाति के लोग उत्तरी भाग को घाना से जोड़ने का कार्य करते थे। एकबार अरब के मुसलमानों ने उत्तर–पश्चिम के समुद्र तटों पर अपना अधिकार कर लिया, तो वे इन्हीं बर्बर जनजाति के लोगों का अपने लाभ के लिए उपयोग करने लगे। ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही मुसलमान शासकों के प्रतिनिधि घाना के दरबार में पहुँच गये थे; और फिर उनके प्रभाव से अनेक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुसलमान व्यापारी भी वहाँ जाकर बस गये थे। ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में बर्बरों के बीच खड़े किये गये इस्लामी जेहादियों ने सहारा के सारे कारवाँ क्षेत्रों पर अपना अधिकार कर लिया था। यह जेहादी दल जल्दी ही दो भागों में विभाजित हो गया था; जिसमें एक भाग तो मोरक्को पर अधिकार करके उत्तर की ओर स्पेन में बढ़ गया था और दूसरा दक्षिण में घाना की राजधानी की ओर अग्रसर हुआ था। अगली शताब्दी में घाना के मारफत दो जागीरदारों सूसू और फूटा जालोन ने इस क्षेत्र पर अपना अधिकार जमा लिया था, लेकिन सन् १२४० के लगभग माली के लोगों ने, उन्हें पराजित कर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

सम्भवतः ईस्वी सन् की ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य किनीमांडे कबीले के सरदारों ने सेनेगल और निगर नदियों के तट पर, ऊपरी भाग में अपने राज्य की स्थापना कर दी थी। एक परम उत्साही शासक सनदियाता के समय तेरहवीं शताब्दी के मध्य, यह राज्य विकसित होने लगा था। मन्सा (महाराज) मूसा के शासन काल में इस राज्य का वैभव अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया था। मूसा के समय ही इस राज्य का इस्लामीकरण हुआ था; और उसने स्वयं १३२४–२५ में मक्का की यात्रा की थी। उसने ट्यूनिस और मिस्त्र के साथ राजनैतिक सम्बन्ध भी स्थापित किये थे। उसने अनेक मुसलमान विद्वानों, शिल्पकारों आदि को भी आमंत्रित किया था। उसी के शासन काल में यूरोपीय देश माली के महत्त्व को पहचानने लगे थे। सन् १४०० तक राजवंशी संघर्ष के कारण माली का महत्त्व कम हो गया था।

माली के राजनीतिक प्रभुत्व के घटने के साथ, समीप के सोनघई प्रदेश के सरदारों ने अपने को प्रभुता सम्पन्न बना लिया था। सोनघई राज्य का आरम्भ वैसे तो आठवीं शताब्दी में ही हो गया था; लेकिन उसका विस्तार और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण युग सुन्नी अली (१४६४–९२) एवं अस्कीया मोहम्मद (१४९२–१५२८) के शासन कालों में रहा। विषेष रूप से अस्कीया मोहम्मद के समय राजदरबार में इस्लाम की महत्ता बढ़ी। उन्हीं दिनों टिम्बकटू इस्लामी शिक्षा का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया : वहाँ के विश्वविद्यालय की विशेष प्रतिष्ठा बढ़ी और वहाँ से पुस्तकों का प्रचार–प्रसार भी बढ़ा। उस राज्य की आर्थिक समृद्धि से आकर्षित होकर मोरक्को के अलमन्सू (१५७६–१६०३) ने १५९१ में राजधानी गाव पर अधिकार कर लिया। सोनघई के इस प्रकार पतन के बाद उस क्षेत्र में कई छोटे–छोटे राज्य यथा मसीना, गोन्ज, सेगूकारता विकसित हुए। इन राज्यों ने परस्पर संघर्ष करके पश्चिमी सूडान पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहा; लेकिन उनके इस लड़ाई झगड़े से उस क्षेत्र की आर्थिक व्यवस्था बिगड़ती ही चली गयी।

सोनघई के पूर्व में निगर नदी और झील छाद के बीच पहले हौसा नगर राज्य बने और फिर कनेम–बोरनू साम्राज्य की स्थापना हुई। इस क्षेत्र के छोटे–छोटे राज्य यथा विराम, दौरा, कटसिना, ज़ारिया, कानो, रानो और गौबीर, नवीं शताब्दी में ही स्थापित हो गये थे। सोनघई के पतन के बाद सहारा के आर–पार जाने वाला व्यापार पूरब की ओर चल पड़ा था; और कटसिना तथा कानो ने उसे अपने हाथों में ले लिया था। यही नगर तब व्यापार और नागरिक जीवन के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गये थे। हौसा के इन राज्यों में इस्लाम का प्रवेश चौदहवीं शताब्दी में करेम–बोरनू के माध्यम से हुआ था।

करेम–बोरनू राज्य की स्थापना झील छाद के उत्तर पूर्व आठवीं शताब्दी में ही हो गयी थी। उसका आरम्भ तो ज़घावा जाति के यायावर लोगों ने किया था; लेकिन शीघ्र ही सैफावा यायावरों ने उसे अपने हाथों में लेकर अपनी वंश परम्परा चला दी थी। ईस्वी सन् ८०० से १८४६ तक इसी वंश का शासन रहा। ग्यारहवीं शताब्दी में इस वंश के शासकों ने इस्लाम ग्रहण कर लिया था। चौदहवीं शताब्दी में यह राजवंश बोरनू में चला गया था; और करेम का पुराना क्षेत्र बुलाला लोगों के शासन में आ गया था। बोरनू शासकों में माई इदरीश अलोमा (१५८०–१६१७) विशेष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप से उल्लेखनीय हुए, जिन्होंने ओटोमन तुर्कों से आग्नेयास्त्र खरीदकर अपने को महत्त्वपूर्ण बना लिया था। उसके बाद उनका शासन इतना सुदृढ़ हो गया था कि वे पूर्वी सहारा से मिस्र को जाने वाले व्यापार मार्ग पर नियंत्रण रखने लगे थे। लेकिन सत्रहवीं शताब्दी के मध्य भाग तक इनकी शक्ति धीरे-धीरे क्षीण हो गयी थी।

पूर्वी अफ्रीका के राज्य

पूर्वी अफ्रीका के इतिहास का वर्णन सर्वप्रथम 'पेरीप्लस' (ईस्वी सन् १००) में मिलता है। उसमें उस क्षेत्र के व्यापारिक जीवन का विवरण है और यूनान, रोम के साथ उसके सम्बन्ध तथा अरब, फारस और भारतवर्ष के साथ उसके सम्पर्क का उल्लेख है। ईस्वी सन् की पहली सहस्त्राब्दी में कभी हिन्द-चीन के अप्रवासी वहाँ आ गये थे, और अपने साथ बहुत सी खाने-पीने की चीजें तथा केले लाये थे। उसके बाद वे सारी चीजें पूरे महाद्वीप में प्रचलित हो गयी थीं। बन्टू बोलने वाले तथा नीलोटिक लोग, वहाँ पहले से बसे हुए बुशमैनों को अपने में समाहित करते हुए, भीतरी भागों में बसते गये थे। अरब से आये लोगों ने समुद्र तट पर अपनी बस्तियाँ बसायीं, व्यापारिक नगर स्थापित किये और हाथी दाँत, सोना और गुलामों का निर्यात करने लगे। तेरहवीं शताब्दी तक अनेक उल्लेखनीय नगर-राज्य स्थापित हो गये थे, यथा मोगादीशू, लामू, मोम्बाया, केलवा, पाते और सैफाला। उन नगर-राज्यों में अरबों और बन्टू लोगों के सम्मिश्रण से, अरब और स्वाहिली संस्कृति का विकास हुआ। उन नगरों के शासक तो अरब और अफ्रीकी जातियों के सम्मिश्रण थे; लेकिन सामान्य जनता अफ्रीकी ही थी। उन्हीं को गुलाम बनाकर निर्यात किया जाता था। नागरिक जीवन में व्यापार की प्रधानता थी। ये नगर राज्य मुख्यतः समुद्र तटों पर थे; और उनका राजनीतिक प्रभाव भीतरी क्षेत्र में रहने वाले लोगों पर उन्नीसवीं शताब्दी तक बिल्कुल नहीं मिलता।

समुद्र तट से दूरस्थ प्रदेशों में, चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक, एक दूसरे से सम्बन्धित राज्य बनने लगे थे। उनका आरम्भिक इतिहास बहुत ही कम ज्ञात है; लेकिन यह विचार प्रचलित है कि इथीयोपिया के पहाड़ी प्रदेशों से आये लोगों ने उस क्षेत्र में अपने-अपने राज्य स्थापित किये थे। कुश लोगों का सम्बन्ध हिमा, तुतसी और बचवेज़ी जातियों के लोगों से दिखाई देता है। लूओं लोगों ने जो सन् १५०० में दक्षिणी सूडान से आये थे, इन लोगों को अपने क्षेत्रों से भगा दिया था। इन नये अप्रवासी लोगों ने बुनयोरो प्रदेश में बन्टू भाषाएँ अपना ली थीं; लेकिन अटोलीलैण्ड, अलूरलैण्ड और लाँगो प्रदेश में लोगों ने अपनी अलग भाषा बनाये रखी थी। लूओं के आने पर नये राज्य यथा बुनयोरो, अनीकोले, मुगाण्डा और करग्वे राज्य बने थे। इन राज्यों में बुनयोरो सर्वाधिक सशक्त था; और वह अठारहवीं शताब्दी के मध्य-भाग के उत्तरार्ध तक बना रहा। उसके बाद मुगाण्डा अपने को विस्तृत करने लगा और उसकी सेनाओं ने पूरे क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। कबाका (महाराज) ने जिलों और उपजिलों के मुखियाओं की नियुक्ति की और एक बड़ी जटिल केन्द्रीय नौकरशाही चलायी। दक्षिण भाग में रान्डा में पशुपालकों की एक नौकरशाही ने, जिन्हें बचवेजी या बुत्तोसी अथवा हेमा कहा जाता था, बन्टू लोगों पर शासन किया, जो सोलहवीं शताब्दी के बाद भी बहुत समय तक चलता रहा।

मध्य अफ्रीकी राज्य

मध्य अफ्रीकी राज्यों में उष्णकटिबन्धीय जंगलों के दक्षिण-भाग में कांगो सवान्ना राज्य आता है, जिसे बन्टू भाषा बोलने वाले खेतिहरों ने नवीं शताब्दी के आरम्भ में स्थापित किया था। इस क्षेत्र के लोगों ने पूर्वी समुद्र-तट के दूरस्थ क्षेत्रों के साथ ताँबे, हाथी दाँत आदि का व्यापार भी आरम्भ किया था। सम्भवतः १४वीं शताब्दी में कांगो राज्य की स्थापना हुई थी, जिसका विस्तार आज के अंगोला क्षेत्र में, एक ओर कांगो और लोगे नदियों से लेकर कुवांगो नदी और वहाँ से अतलांत महासागर तक फैला हुआ था। वहाँ एक बड़ी विस्तृत राजनीतिक व्यवस्था विकसित हुई थी, जिसमें प्रान्तीय राज्यपाल भी हुआ करते थे और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाराजा का चयन संस्थापक महाराज वेने के वंशजों से हुआ करता था। सन् १५०० के लगभग उत्तरी कासाई और तांगानायिका ताल के बीच के क्षेत्र में कई छोटी–छोटी जागीरों को लेकर; लूवा राज्य की स्थापना हुई थी। उसके संस्थापक कांगोलो ने कई छोटे–छोटे गाँवों के क्षेत्र पर अधिकार करके, उस क्षेत्र को आधार बनाकर आक्रमणों तथा अभियान के सहारे अपने राज्य का विस्तार किया था। उसके वंशजों ने लड़–झगड़ कर अनेक छोटे–छोटे राज्य बना लिये थे। इसी वंश के एक युवा ने यह क्षेत्र छोड़कर लुआण्डा राज्य की स्थापना की थी। उसके वंशजों में फिर बटवारा हुआ था, और उन्होंने बेम्बा, कसांजे और कजेम्बे नाम के नये राज्यों की स्थापना की थी। इन लूवा, लुआण्डा राज्यों में कजेम्बे सर्वाधिक सशक्त हुआ था; और १७५० से १८५० के बीच दक्षिण कटांग और र्होडेशियन पठार के कुछ भागों में उसने अपनी प्रभुता स्थापित कर ली थी। ईस्वी सन् की १०वीं शताब्दी में बंटू बोलने वाले लोगों ने कांगो क्षेत्र में स्थानीय पाषाण युग के लोगों को भी आत्मसात् कर लिया था। बाद के यायावर कलांगा लोग, आज के शोना लोगों के पूर्वज हो सकते हैं। कलांगा लोगों ने जिम्बाब्वे में पत्थर के मकानों का परिसर और राजदरबार बनाया था। उन्होंने मुटापा राज्य की भी स्थापना की थी, जिसने सोने के विस्तृत उत्खनन के सहारे अपने को आर्थिक दृष्टि से समृद्ध बनाया था। १५वीं शताब्दी में इस राज्य ने जाम्बेजी नदी से कलाहारी और हिन्द महासागर तक, जिसके अन्तर्गत निम्पोपो नदी का क्षेत्र भी आ जाता है, अपना विस्तार किया था।

दक्षिण अफ्रीकी राज्य

बंटू बोलने वाले लोगों ने, १६वीं शताब्दी के पहले ही, इस क्षेत्र के पूर्ववासियों, बुशमेन और हाटिनटॉट लोगों को दक्षिण अफ्रीका की ओर खदेड़ दिया था और अनेक स्थानबद्ध राज्यों की स्थापना कर दी थी। लेकिन १६वीं शताब्दी के आरम्भ में ही आबादी के बढ़ते प्रभाव और धरती की भूख के फलस्वरूप, अनेक युद्ध हुए और फिर लोगों का मध्य एवं दक्षिणी क्षेत्रों की ओर स्थानान्तरण भी हुआ। सन् १८१६ के लगभग एक जूलू सरदार शाका ने नयी सैनिक तकनीकों का विकास किया और फिर समीप के क्षेत्रों की ओर अभियान पर निकल पड़ा। उसके अभियान से भागी हुई जातियों ने दक्षिण अफ्रीका के सबसे नीचे के क्षेत्र में अपने को स्थापित किया। वहाँ उन्होंने जूलू सैनिक–पद्धति को कुछ नया रूप देकर, अपना अभियान चलाया। सन् १८३६ में दक्षिण के एक सरदार सोभुजा ने उत्तर की ओर सैनिक अभियान चलाया और फिर स्वाजी साम्राज्य की स्थापना की। नगोनी जाति के लोग भी उत्तर की ओर बढ़े और मोज़ाम्बीक के भीतर होकर मलावी ताल के क्षेत्र तक पहुँच गये। वहाँ उन्होंने पाँच छोटे–छोटे राज्यों की स्थापना की। उसी क्षेत्र का एक और अभियान–दल दक्षिण मोजाम्बीक में जाकर बसा और वहाँ उसने १८३० में गाजा राज्य की स्थापना की। गोलोलो जाति के लोग भी उत्तर की ओर बढ़े और वहाँ उन्होंने लोजी जाति के स्थानीय लोगों को हराकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। नदेवेले जाति के लोग १८२४–३४ में पश्चिम की ओर, और १८३७ में उत्तर की ओर और फिर र्होडेशिया की ओर बढ़े और वहाँ उन्होंने मातावेलेलैण्ड राज्य की स्थापना की।

यूरोपीय उपनिवेशों का युग

यूरोपीय लोगों की अफ्रीका महाद्वीप में अभिरुचि सबसे पहले पुर्तगाल के राजकुमार हेनरी में देखने को मिलती है, जिसके नाम के साथ 'समुद्रयात्रिक' संज्ञा जुड़ी हुई है। सन् १४३४ के बाद अनेक सामुद्रिक अभियान हुए जिनसे अफ्रीका के पश्चिमी समुद्र–तट के क्षेत्रों की जानकारी दक्षिण तक बढ़ती चली गयी। सन् १४९८ में वास्को डि गामा आशा अन्तरीप को पार कर भारत तक पहुँच गया।

पुर्तगालियों की खोज–यात्राएँ अनेक उद्देश्यों को लेकर सम्पन्न हुईं; ये, नये क्षेत्रों को जानने की इच्छा, ईसाई धर्म का प्रचार, इस्लाम के विस्तार के बढ़ते हुए खतरे से सुरक्षा के लिए नये सहयोगियों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खोज और नये तथा लाभप्रद व्यापार मार्गों को पाने की आशा, जिससे अपने को और अधिक समृद्ध बनाया जा सके। पुर्तगालियों के बाद अंग्रेज, फ्रांसीसी और डच लोगों ने भी अपने अभियान चलाये और उन्होंने इधर की व्यापार व्यवस्था, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक प्रणालियों को भी उलट–पलट दिया।

पुर्तगालियों ने पश्चिम में, अफ्रीका के समुद्र तट पर व्यापारिक केन्द्रों की एक शृंखला बनायी। इन व्यापार–केन्द्रों में गोल्डकोस्ट में सन् १४८२ में स्थापित एलमीना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। इस क्षेत्र के अतिरिक्त, कांगो और लुआण्डा प्रदेशों के साथ व्यापार भी विशेष लाभप्रद रहा। पुर्तगालियों ने लोहे के सामान, आग्नेयास्त्र, कपड़े और खाने की सामग्री देकर, अफ्रीकियों से सोना, हाथी दाँत, गुलाम और खाने–पीने की कुछ चीजें प्राप्त कीं। पुर्तगालियों के आर्थिक लाभ को देखकर, अन्य यूरोपीय देशों के व्यापारी भी उस दिशा में बढ़े और उन्होंने १६वीं शताब्दी में अपने व्यापार केन्द्रों की स्थापना कर, पश्चिम अफ्रीका के वाणिज्य व्यवसाय में अपने को प्रभावपूर्ण रूप में स्थापित कर लिया। अब तक यूरोपीय व्यापारी भूमध्य सागर तट के उत्तरी क्षेत्रों तक सीमित रहे थे। अब उन्होंने पूर्वी तट की ओर बढ़ना आरम्भ किया।

अमेरिका के साथ गुलामों का व्यापार जैसे–जैसे बढ़ा, अफ्रीकी व्यापार पर अधिकार का संघर्ष और सघन हो गया। लाखों की संख्या में गुलाम ले जाये गये और इस व्यापार में खुद अफ्रीकियों ने भी अनेक तरह की उपभोक्ता वस्तुओं को लेकर, बहुत अधिक योग दिया। इस व्यापार में सर्वाधिक लाभ पश्चिमी नाइजीरिया के बेनिन ने उठाया, जिसकी स्थापना १५वीं शताब्दी में हुई थी।

यूरोप के लोगों में १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में गुलामों के इस व्यापार के विरुद्ध चेतना जागी। सन् १७७२ में मैन्फील्ड निर्णय के फलस्वरूप ब्रिटेन के सभी गुलाम आज़ाद कर दिये गये; और यह निश्चय किया गया कि मुक्त हुए गुलामों को लेकर पश्चिमी अफ्रीका में एक उपनिवेश बनाया जाय। इस सम्बन्ध में प्रथम प्रयास सन् १७८७–९० के बीच सन्तजॉर्ज खाड़ी के पास 'प्राविन्स ऑफ फ्रीडम' स्थापित करने के प्रयास से हुआ, जो असफल रहा। इस दिशा में दूसरा प्रयास सन् १७९२ में, 'फ़्रीटाउन' की स्थापना के साथ हुआ। १८६० में ब्रिटेन ने गुलामों के व्यापार को गैरकानूनी घोषित किया। 'फ़्रीटाउन' को तब उन्होंने अपनी नौसेना का केन्द्र बनाया। अमेरिकी शासन ने भी इससे प्रेरणा ली और उन्होंने मेसोरादो अन्तरीप के पास 'लिबेरिया' नाम की अपनी कॉलोनी स्थापित की।

अंग्रेजों ने गुलामी की प्रथा समाप्त करने के लिए, अफ्रीका से होने वाले निर्यात को नयी दिशा प्रदान की। उन्होंने ताड़ का तेल तथा इसी प्रकार की और वस्तुएँ लेना आरम्भ किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने ईसाई धर्म के प्रचार का कार्य तेज कर दिया तथा अंग्रेज व्यापारियों द्वारा अर्जित की गयी सम्पत्तियों को राजकीय अधिकार में ले लिया। उनके इस कार्य से स्वभावतः अफ्रीकी राज्यों के साथ संघर्ष हुए और फिर कुछ क्षेत्रों को उन्होंने अपने अधिकार में ले लिया। सन् १८२१ में अंग्रेजी सरकार ने गोल्डकोस्ट के अनेक किलों को अपने अधिकार में ले लिया। उनके इस प्रयास का विरोध हुआ और १८२३ से लेकर १८२६ तक अफ्रीकियों के साथ अनेक लड़ाइयाँ हुईं : इस प्रकार की लड़ाइयाँ लगभग शताब्दी के अन्त तक, बीच–बीच में रुक कर चलती रहीं। सन् १८२८ में अशान्तिलैण्ड को उन्होंने अपने अधिकार से मुक्त कर दिया; लेकिन १८४३ में फिर उस पर अधिकार कर लिया। यह संघर्षों की शृंखला बड़े लम्बे समय तक चलती रही, और सन् १६०० तक ही अंग्रेज वहाँ अपने को दृढ़ता से स्थापित कर पाये।

मध्य तथा पूर्वी अफ्रीका में यूरोपीय प्रभाव के बड़े ही अलग रूप देखने को मिलते हैं। पुर्तगाली १४८० के लगभग कांगो–अंगोला तट पर पहुँचे; और फिर वे जल्दी ही स्थानीय शासकों के साथ कार्य करने लगे : उनमें से कुछ जल्दी ही ईसाई हो गये और फिर अपने राज्य को आधुनिकता प्रदान करने में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लग गये। उसका यह प्रयास घरेलू युद्धों और पुर्तगालियों के गुलामों का व्यापार करने की प्रवृति से रुक गया। पूरे क्षेत्र में संघर्ष चल पड़ा और फिर सोलहवीं शताब्दी में वह राज्य विच्छिन्न हो गया। पुर्तगालियों ने और भी दक्षिण जाकर १५७५ में लुआण्डा की स्थापना की। उसे उन्होंने अंगोला के भीतरी क्षेत्रों में प्रवेश का मार्ग बनाया। यही वह क्षेत्र है जहाँ से अमेरिका में भेजे गये गुलामों में से लगभग आधे भेजे गये। पुर्तगाली जब पूर्वी अफ्रीका के समुद्र तट पर पहुँचे तो उन्होंने, इस्लामी जगत् के साथ इस क्षेत्र के व्यापारिक सम्बन्ध बन्द कर दिये। इस प्रक्रिया में उन्होंने अनेक नगर– राज्य स्थापित कर दिये। कुछ पर अपना अधिकार कर लिया और परिणाम यह हुआ कि पूरा क्षेत्र आर्थिक पतन की ओर चल पड़ा।

पुर्तगालियों के प्रति स्थानीय लोगों में विरोध की भावना उत्पन्न हो गयी और सन् १६६८ तक उन्हें वहाँ से बाहर निकलना पड़ा। तटीय क्षेत्र में तब स्थानीय लोगों के छोटे–छोटे राज्य खड़े हो गये लेकिन १८वीं सदी में ओमान के शासकों ने पूरे क्षेत्र को कहने के लिए अपने शासन में ले लिया। सुल्तान सइयिद (शा० १८०६–५६) ने ओमान से अपनी राजधानी ज़ैन्ज़ीबार में स्थानान्तरित कर दी और वहाँ से वाणिज्य व्यापार के लिए भीतरी क्षेत्रों में प्रवेश करने लगे।

अंग्रेजों ने पूर्वी अफ्रीका में भी अपनी गुलामों के व्यापार के विरोध की नीति को जारी किया और उसके फलस्वरूप १८२२ में एक सन्धि हुई, जिससे ईसाई देशों में गुलामों का खरीदा जाना प्रतिबन्धित हो गया। फिर भी ज़ैन्ज़ीबार में लौंग की खेती के लिए गुलामों का व्यापार और उसके लिए मध्य पूर्वी अफ्रीका में गुलामों के बाजार चलते रहे।

इथीयोपिया में पुर्तगालियों के आने के फलस्वरूप इस्लाम का अभियान रुक गया। सन् १५४३ में स्थानीय लोगों ने पुर्तगालियों के साथ मिलकर मुस्लिम सेना को पराजित कर दिया। इथीयोपिया के लोगों ने इस प्रकार जो क्षेत्र उनके अधिकार से चले गये थे, उन पर पुनः अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। कुछ समय बाद स्थानीय ईसाईयों और पुर्तगाली पादरियों के बीच संघर्ष शुरू हो गया; और फिर सन् १६३२ में पुर्तगालियों को वहाँ से निकाल दिया गया। अट्ठारहवीं शताब्दी आते–आते स्थानीय राजकीय व्यवस्था शिथिल हो गयी और सम्राट्, सशक्त प्रादेशिक सरदारों के नियंत्रण में कार्य करते रहे। यह शासन व्यवस्था थियोडोर द्वितीय (शा० १८५५–६८) के शासन–भार ग्रहण करने पर, अन्य सरदारों के पराजित हो जाने के कारण पूर्णतः उनके नियंत्रण में आ गयी।

दक्षिण अफ्रीका

पुर्तगालियों ने तो इस क्षेत्र की उपेक्षा की; लेकिन उनके प्रतिद्वन्द्वी हालैण्ड और बेल्जियम के लोगों ने हिन्दचीन अथवा पूर्वी द्वीप समूह में जाने के लिए इस क्षेत्र को रास्ते के स्टेशन के रूप में विकसित किया। उन्होंने पहले केपटाउन को अपना उपनिवेश बनाया और वहाँ अपनी संस्कृति को नया रूप देकर, बोर कहे जाने लगे। कालान्तर में राजकीय अवरोध होते हुए भी वे अपने लिए अच्छे क्षेत्र की खोज करते हुए भीतर की ओर बढ़ने लगे। सन् १८१५ के बाद अंग्रेजी सरकार के नियंत्रण से बचने के लिए वे इस दिशा में और आगे बढ़ने लगे। अपने इस प्रयास में उन्हें, जूलू और बन्टू नाम की स्थानीय जातियों के लोगों से संघर्ष करना पड़ा। यूरोपीय लोगों में वस्तुतः ये बोर ही पहले थे जिन्होंने अफ्रीका के भीतरी भागों की खोज की।

अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में वैज्ञानिक अभिरुचि तथा नये बाजारों की खोज के लिए, नये क्षेत्रों की ओर जाने को विशेष प्रोत्साहन मिला। अंग्रेज खोजी जेम्स ब्रूश १७७० में नील नदी के उद्गम स्थल तक पहुँच गये। उसी के देशवासी मूँगो पार्क ने (१७७५ तथा १८०५ में) निगर नदी के प्रवाह की खोज की। जर्मन खोजी हेनरिक पार्थ ने पश्चिमी सूडान के मुसलमान–बहुल क्षेत्रों का विस्तृत सर्वेक्षण किया। स्काटलैण्ड के धार्मिक प्रचारक डेविड लिविंगस्टोन ने ज़ाम्बेज़ी नदी की खोज की और १८५५ में एक बहुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़े झरने को 'विक्टोरिया फ़ाल्स' नाम दिया। सन् १८६३ में दो अंग्रेज अन्वेषकों, हैनिंग स्पेक तथा जेम्स ऑगस्टन ग्रान्ट ने, ऊपर से नीचे उतरते हुए तथा समुअल बाइटबेकर ने ऊपर की ओर यात्रा करते हुए, नील नदी के रहस्य को सुलझाया। कभी इनसे पहले और फिर बाद में ईसाई पादरियों एवं यूरोपीय व्यापारियों ने यह कार्य और आगे बढ़ाया।

यूरोपीय राजनीति

यूरोप के विभिन्न प्रदेशों के लोगों की जैसे–जैसे अफ्रीका में रुचि बढ़ी, उनकी सरकारों ने भी विशेष प्रयत्न आरम्भ कर दिये। फ्रान्स के लोगों ने १८३० में अल्जीरिया और सेनेगल पर अधिकार किया। उष्णकटिबन्धीय अफ्रीका पर विशेष अधिकार तो उस शताब्दी के उत्तरार्ध में ही हुआ। यूरोप के लोगों ने देश के भीतर प्रवेश कर अपना प्रशासन स्थापित करने के जो प्रयास किये, उनमें प्रभुता सम्पन्न लोगों से तो उन्हें संघर्ष करना पड़ा; लेकिन प्रशासित लोगों ने उनका स्वागत किया। सन् १८८० से लेकर १६०५ तक अफ्रीका के विभिन्न क्षेत्रों पर बेल्जियम, फ्रांस, जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, इटली और पुर्तगाल के लोगों का अधिकार हो गया। सन् १८७६ में बेल्जियम के सम्राट् लिओपोर्ड ने एक निजी कम्पनी 'कांगो अन्तरराष्ट्रीय संघ' की स्थापना की जिसका कार्य उस क्षेत्र की खोज करना और वहाँ उपनिवेश बसाना था। सर हेनरी एम० स्टैलिनी ने उनकी ओर से इन कार्यों का संचालन किया। सन् १८८४ तक यूरोपीय देशों की प्रतिद्वन्द्विता इतनी बढ़ गयी थी कि उनके अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में भी समस्याएँ खड़ी होने लगीं। उनके समाधान के लिए बर्लिन में (१८८४ – ८५) यूरोपीय राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। अमेरिका के प्रतिनिधियों ने भी उसमें भाग लिया।

बर्लिन के इस सम्मेलन में विभिन्न यूरोपीय राज्यों ने, अपने प्रभाव के क्षेत्रों को परिभाषित किया तथा भविष्य के लिए भी कार्य की योजना बनायी। इस सम्मेलन में जो प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था, उसमें यह कहा गया था कि भविष्य में जो देश अफ्रीका के किसी नये क्षेत्र पर अधिकार करेगा, वह अन्य राष्ट्रों को उसकी समुचित सूचना देगा। अगले पन्द्रह वर्षों तक जो प्रस्ताव स्वीकृत हुए थे, उनमें परस्पर बातचीत से अनेक प्रकार के बदलाव या संशोधन होते रहे। सन् १८६० में ग्रेट ब्रिटेन ने अपने प्रभाव क्षेत्र निर्धारित किये और उनकी सीमाएँ बनायीं। दूसरी सन्धि में फ्रांस ने अपना प्रभाव सहारा तक सीमित कर दिया और छाद झील तथा निगर नदी के बीच के प्रदेश पर ब्रिटेन का अधिकार स्वीकार कर लिया। सन् १८६१ में इसी प्रकार की सन्धि इटली और ग्रेट ब्रिटेन की हुई। फ्रांस और जर्मनी ने १८६४ में अपनी–अपनी सीमाएँ निर्धारित कीं। सन् १८६६ में ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने अपने–अपने प्रभाव क्षेत्र फिर से निर्धारित किये, और उसके बाद अन्य यूरोपीय राष्ट्रों ने भी अपने–अपने प्रभाव–क्षेत्रों का निर्धारण किया।

अफ्रीकी प्रतिरोध

बर्लिन में यूरोपीय राष्ट्रों का अफ्रीका को लेकर जो सम्मेलन हुआ था, उसमें किसी भी अफ्रीकी प्रदेश के लोग नहीं बुलाये गये थे; इसीलिए उसके निर्णय जब लागू किये जाने लगे तो अफ्रीकियों ने उसका विरोध किया। अल्जीरिया में १८७० में फ्रांस के विरुद्ध विद्रोह हुआ; और सहारा पर अधिकार करने के उनके प्रयास के लिए १८८१ से लेकर १६०५ तक संघर्ष चलता रहा। पश्चिमी सूडान में अहमदू और सैमोरीतूरे ने अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया; लेकिन फ्रांसीसियों ने पहले को १८६३ और दूसरे को उसके पाँच साल बाद पराजित कर दिया। फ्रांसीसियों ने १८६२ में ही दहोमे पर अधिकार कर लिया था; और फिर १६०० में उन्होंने अन्तिम क्षेत्र वादायी को भी अपने अधिकार में ले लिया।

अंग्रेज प्रशासकों को भी दक्षिण अफ्रीका में १८८०–८१ और १८६६–१६०२ में बोरों से युद्ध करना पड़ा। सन् १८६३ में अंग्रेज और बोरों, दोनों ने मिलकर माताबेनेलैण्ड पर अधिकार कर लिया, लेकिन तीन वर्ष बाद उनके विरुद्ध विद्रोह हुआ। विद्रोह की यह हवा अशान्तिलैण्ड १८६३–६४, १८६५–६६ और १६०० में भी पहुँची। सन् १८६७ में सेयरालियोन में भी

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्रोह हुआ। अंग्रेजों ने जब फुलानीहवसा राज्य पर अधिकार करने का प्रयास किया, तो उन्हें १९०१–०३ तक विरोध का सामना करना पड़ा। सन् १९०६ में सोकोटो में भी उनके प्रति विद्रोह हुआ। जर्मनों के विरुद्ध भी इसी प्रकार दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका (१९०४–०८), मांजीमांजी (१९०५– ०७) और टंगानाइका में विरोध का सामना करना पड़ा। सम्राट् मेनेलिक द्वितीय (शासनकाल १८८९–१९११) इथीयोपिया के अकेले ऐसे सम्राट् रहे, जिन्होंने अपने को स्वतंत्र बनाये रखा। इटली की सेनाओं को उन्होंने सन् १८९६ में अदूवा के युद्ध में पूरी तरह पराजित कर दिया।

पश्चिम के राष्ट्रों ने, जिन क्षेत्रों पर अधिकार किया, उनमें अपने वाणिज्य व्यवसाय की अभिवृद्धि के लिए, यातायात व्यवस्थाएँ विकसित कीं; और प्रदेश के भीतरी क्षेत्रों को समुद्र तट के बन्दरगाहों से जोड़ा। उन्होंने कुछ ऐसी कर–व्यवस्था भी चलायी, जिसके दबाव में स्थानीय लोग पैसा दिलाने वाली फ़सलें उगायें। इस आर्थिक व्यवस्था से यायावर श्रमिकों की भी संख्या बढ़ी। यह सब चल रहा था तभी प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया। युद्ध के दौरान पश्चिमी तथा दक्षिण–पश्चिमी अफ्रीका के जर्मनों के अधिकार का क्षेत्र, उन्हें पराजित कर मित्र–शक्तियों ने अपने हाथ में ले लिया। युद्ध की समाप्ति के बाद बने राष्ट्रों के संघ ने उन्हें विभिन्न मित्र शक्तियों को ही दे दिया। अफ्रीका के अनेक जातियों के लोग मित्र राष्ट्रों के साथ युद्ध में लड़े अथवा भार–वाहकों का काम किया। जहाँ तक युद्ध के विरोध की बात है वह एक अफ्रीकी पादरी जॉन चिलम्ब्वे के नेतृत्व में ही, सन् १९१५ में थोड़े समय देखने को मिला। वह अफ्रीकी पादरी न्यासालैण्ड का रहने वाला था, जिसे अब मलाबी कहा जाता है।

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद उपनिवेशों के आर्थिक शोषण की नीति में नरमी आयी और स्थानीय लोगों की शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की सेवाओं में विशेष रुचि ली गयी। उनके जमीनी अधिकारों को भी सुरक्षित रखने के प्रयत्न किये गये। कुछ यूरोपीय कालोनियाँ यथा अल्जीरिया, दक्षिण रोडेशिया (अब जिम्बाब्वे) और केनिया को थोड़ा बहुत आन्तरिक प्रशासन दिया गया। सन् १९२३ में दक्षिणी रोडेशिया को अंग्रेजी साम्राज्य की आन्तरिक रूप से स्वशासित कॉलोनी बना दिया गया; लेकिन अफ्रीकियों को मताधिकार नहीं दिया गया।

कालान्तर में मिस्र और अल्जीरिया में; जहाँ नवीन शिक्षा का प्रसार हो गया था, जनसाधारण के राजनीतिक दल बने, लेकिन पड़ोस में ही इथीयोपिया पर सन् १९३६ में इटालवी सेनाओं ने अधिकार कर लिया। दूसरा विश्व युद्ध आरम्भ होने पर अधिकांश अफ्रीकियों ने मित्र–शक्तियों का समर्थन किया। जहाँ तक महाद्वीप की बात है, यह युद्ध उत्तरी तथा उत्तर–पूर्वी अफ्रीका को भी झेलना पड़ा।

मई १९४३ में दूसरा विश्वयुद्ध समाप्त होने पर यूरोप की उपनिवेशवादी शक्तियाँ, भौतिक और मानसिक दृष्टियों से कमजोर पड़ गयीं। अन्तरराष्ट्रीय शक्ति का सन्तुलन अब, संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच देखने, को मिला। इन दोनों ही शक्तियों की उपनिवेशवाद में कोई रुचि नहीं थी। उत्तर अफ्रीका में फ्रांसीसी शासन का विरोध १९४७ से जोर पकड़ने लगा : अनेक दंगे हुए और आतंकवादी आन्दोलन भी उठ खड़े हुए। अल्जीरिया में स्वतंत्रता का आन्दोलन १९५४ से आरम्भ हुआ और १९६२ तक चलता रहा। उसके छह वर्ष बाद मोरक्को और ट्यूनेशिया भी आजाद हो गये। फ्रांस ने सहारा क्षेत्र की अपनी कालोनियों में स्वतंत्रता आन्दोलन को उभरते हुए देखकर, लोगों को पूर्ण नागरिक अधिकार प्रदान किये और हर क्षेत्र के जन–प्रतिनिधियों को राष्ट्रीय परिसर में बैठने का अधिकार दे दिया; लेकिन स्थानीय लोग गुणात्मक मताधिकार से सन्तुष्ट नहीं हुए।

उन क्षेत्रों में भी, जो ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत थे, जनसाधारण के राजनीतिक दलों का बनना आरम्भ हो गया। सन् १९५४ में सूडान स्वतंत्र हुआ। केन्या में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माऊमाऊ आतंकवादी आन्दोलन और फिर क्वामे नकरूमह के नेतृत्व में जन–आन्दोलन भी चल पड़ा। १६५७ में घाना, और १६५८ में गाइना आजाद हुए। सन् १६६० में सत्रह अफ्रीकी राष्ट्र प्रभुता–सम्पन्न हो गये।

इन राष्ट्रीय गतिविधियों ने पुर्तगाली उपनिवेश के लोगों को भी संघर्ष करने के लिए उत्प्रेरित किया। अनेक वर्षों के उग्र संघर्ष के बाद अंगोला, केपवर्दे, गाइनिया–बसाऊ और मोज़ाम्बीक सन् १६७४–७५ में स्वतंत्र हुए। फ्रांस ने सन् १६७५ में कोमोरो द्वीपों को स्वतंत्रता प्रदान की; और १६७७ में जीबौती को स्वशासन मिला। सन् १६७६ में स्पेन ने अपने अधिकार के सहारा क्षेत्र को आजादी दी, और फिर वहाँ मौरीतानिया तथा मोरक्को दो राज्य बने। इन राज्यों के लोगों को इसके बाद भी अपनी पूर्ण स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करना पड़ा। सन् १६८० में ज़िम्बाब्वे भी संवैधानिक रूप से स्वतंत्र हो गया।

अब केवल दक्षिणी अफ्रीका ही यूरोपीय उपनिवेशवादियों के अधिकार में रह गया था। इस क्षेत्र में हालैण्ड से आकर बसे लोग अपने को अफ्रीकन कहते थे; लेकिन समुद्रतटीय भाग पर विशेष रूप से अंग्रेजों का शासन था। ये दोनों ही उपनिवेशवादी स्थानीय लोगों से अपने को बड़ा समझते थे। दोनों विश्व युद्धों के बीच इस भूभाग पर जे०सी० स्मट्स का शासन रहा था और वे बड़े ही उत्साह से अंग्रेजों का समर्थन करते रहे। लेकिन सन् १६४८ में अफ्रीकी राष्ट्रीय दल ने प्रदेश का शासन अपने हाथों में ले, लिया, और फिर अपने को स्थानीय लोगों से पूर्णतः अलग रहने की नीति दृढ़ता से चलायी। सन् १६५० से पृथक्करण की इस नीति के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा होने लगा। यह संघर्ष अनेक दशकों तक चलता रहा। लेकिन वर्ष १६८३ में पीएटर बोथा ने राष्ट्रपति का भार ग्रहण करने पर संविधान में कुछ संशोधन किये; लेकिन मूल निवासी उन संवैधानिक संशोधनों से सन्तुष्ट नहीं हुए। उनका आन्दोलन सुदृढ़ हुआ, और फिर १६८५ में आपात्स्थिति की घोषणा हुई। उसके विरुद्ध इतना जबरदस्त आन्दोलन खड़ा हुआ कि १६८६ में बोथा को त्यागपत्र देना पड़ा। एफ० डब्ल्यू० डे क्लर्क उसके बाद राष्ट्रपति हुए। सन् १६६० में दक्षिण अफ्रीका के उपनिवेशवादी शासकों ने, समानाधिकार के लिए संघर्ष कर रही 'अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस' को मान्यता प्रदान की, और उसके नेता नेल्सन मंडेला को २६ वर्ष बाद जेल से रिहा किया गया। सन् १६६२ के आरम्भ में वैधानिक रूप से पृथक्करण की नीति को समाप्त किया गया। फरवरी १६६३ में अंग्रेज शासकों और अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस के बीच समझौता हुआ कि अब केवल मात्र यूरोपियनों का शासन समाप्त होगा और राष्ट्रीय एकता की एक सरकार बनेगी। यह समझौता राष्ट्रपति क्लार्क और अफ्रीकी नेता नेल्सन मंडेला के बीच हुआ था; और उसके लिए उन दोनों को सम्मिलित रूप से नोबेल शान्ति पुरस्कार प्रदान किया गया।

सन् १६६४ में बदली हुई राजनीतिक परिस्थिति के अनुरूप नये चुनाव हुए और दक्षिण अफ्रीका में पहली बार स्थानीय लोगों तथा अंग्रेजों की मिली–जुली सरकार बनी। नेल्सन मंडेला राष्ट्रपति चुने गये और सद्भावना की दृष्टि से क्लार्क उपराष्ट्रपति बनाये गये। उसके बाद सम्पूर्ण क्षेत्र को ६ प्रान्तों में विभाजित किया गया। सन् १६६५ में पारस्परिक समन्वय के लिए एक निगम बना, और उसे पृथक्करण की नीति के फलस्वरूप जो राजनीतिक अपराध हुए थे, उनके अन्वेषण का कार्य सौंपा गया। सन् १६६६ तक डे क्लार्क उपराष्ट्रपति रहे।

अब्राहम पूर्व नाम अब्राम। इन्हें यहूदियों का आदिपुरुष कहा गया है। बाइबिल में इन्हें अनेक जातियों का जनक कहा गया है और इतिहास से उसकी सत्यता भी प्रमाणित होती है। ईसाई धर्म के प्रवर्त्तक ईसा इन्हीं के वंशज थे। मुसलमान भी इन्हें इब्राहीम नाम देकर अपना पूर्वज मानते हैं। इनके सम्बन्ध में बाइबिल के उत्पत्ति प्रकरण में अनेक कथाएँ मिलती हैं, लेकिन वे सब जनश्रुति के आधार पर लिखी हुई हैं।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब्राहम को बैबीलॉन के महाराज हम्मूराबी (ईसा पूर्व १७२८–१६८६) का समकालीन माना जाता है। रोम के वंशज तेरह उनके पिता थे। बैबीलॉन के ऊर शहर में उनका जन्म हुआ था और युवा होने पर अपनी अंधी बहिन सराई से इन्होंने विवाह किया था। याहवेह (ईश्वर) ने उनके विषय में घोषणा की थी कि वे एक नये धर्म का प्रवर्त्तन करेंगे। ऊर से वे दिव्य आदेश पाकर अपने भतीजे लॉट और उसके परिवार के साथ हरान चले आये थे। वहाँ से चलकर कुछ समय तक वे यायावर के रूप में कनान रहे। अकाल पड़ने पर वे वहाँ से मिस्र चले गये। मिस्र में उन्होंने महाराज के आगे अपनी पत्नी सराई को अपनी बहिन के रूप में प्रस्तुत किया। वास्तविकता ज्ञात होने पर उन्हें मिस्र छोड़ना पड़ा, लेकिन इस बीच उन्होंने हगार नाम की मिस्री दासी से विवाह कर लिया था और सत्तासी वर्ष की आयु में इन्हें उससे इस्माइल नाम का एक पुत्र भी प्राप्त हुआ था।

कनान आने के बाद लॉट और उसके साथ के लोगों से उनका झगड़ा हो गया। लॉट तो उसके बाद सोडम रहने लगा और अब्राहम ने अपना यायावरी जीवन जारी रखा। यह सूचना पाकर कि लॉट को एलम के महाराज ने बन्दी बना लिया है, इन्होंने उसे मुक्त कराया। उन्हें फिर सलेम के महाराज ने विशेष रूप से सम्मानित किया। तभी उनके लिए ईश्वरीय वाणी हुई कि अपनी पत्नी सराई से उन्हें पुत्र की प्राप्ति होगी और फिर वे एक नये धर्म का प्रवर्त्तन भी करेंगे।

अब्राहम ने जब यहूदी धर्म का प्रवर्त्तन किया, तभी से खतना अर्थात लिंग के अग्र भाग के त्वचा आवरण के काटे ज़ाने की प्रथा आरम्भ हुई, जो इस्लाम के अनुयायियों में आज भी चल रही है। अब्राहम का नाम तभी अब्राहम हो गया था और सराई सरह कही जाने लगी थी। अब्राहम को उसके बाद ही, सौ वर्ष की आयु में अपना पहला न्यायिक वंशज आइजक प्राप्त हुआ। आइजक के सम्बन्ध में बाइबिल में आख्यान है कि ईश्वर ने अब्राहम से अपने इस पुत्र को उनके आगे समर्पित कर देने के लिए कहा था; लेकिन यह मात्र अपने प्रति निष्ठा की परीक्षा के लिए था। अब्राहम तो अपने पुत्र को लेकर बलिदान के स्थल पर पहुँच भी गये थे लेकिन तब वहाँ एक मेमना आ गया था और फिर ईश्वरीय आज्ञा से उसी की बलि चढ़ाई गयी। इसके पश्चात् अब्राहम यहूदी धर्म के प्रवर्त्तक के रूप में एक सम्मानित पुरुष बन गये। कुछ समय बाद सरह का निधन हो गया और तब उन्होंने केतुरह से विवाह किया, जिससे उन्हें छह पुत्र प्राप्त हुए। बाइबिल के अनुसार, अब्राहम का एक सौ पचहत्तर वर्ष की आयु में निधन हुआ था। वे जार्डन की मचपेलह नाम की गुफा में सरह के बगल में दफनाये गये। हेबरान शहर में आज भी वह स्थान पूज्य समझा जाता है, और यहूदी, ईसाई तथा मुसलमान तीनों ही धर्मों के लोग; अब्राहम को अपने आदि पुरुष के रूप में श्रद्धा सुमन समर्पित करते हैं।

अबूबक्र (५७३–६३४ ई०) इस्लाम धर्म के पहले खलीफा। मुहम्मद साहब ने इनकी पुत्री आयशा से विवाह किया था। पैगम्बर मुहम्मद के ये बड़े प्रारम्भिक अनुयायियों में थे, और उनके बड़े ही प्रिय हो गये थे। इनका अपना बड़ा अच्छा व्यापारिक संस्थान था; लेकिन अपनी धार्मिक निष्ठा के कारण उसे छोड़कर ये मुहम्मद साहब के साथ मदीना आ गये थे। इन्हें ८ जून, ६३२ ई० को अपने गुरु के निधन के बाद मदीना के इस्लाम के अनुयायी लोगों ने बड़े लम्बे वादविवाद के अनन्तर, पैगम्बर के उत्तराधिकारी ख़लीफा के पद पर प्रतिष्ठित किया। उस समय इनकी आयु साठ वर्ष की थी। स्वभाव से विनयशील होने के साथ–साथ, ये बड़े ही साहसी और कुशल प्रबन्धक थे; और मात्र दो साल और तीन महीने की ख़िलाफत की अवधि में इन्होंने, अपने धर्म के इतिहास में अपना नाम स्वर्णाक्षरों में लिख दिया था।

ख़िलाफत का कार्यभार संभालते ही उन्होंने देखा कि इस्लाम का प्रभाव मात्र तीन शहरों मक्का, मदीना और ताईफ तक ही सीमित रह गया है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शेषभाग के लोगों ने नियुक्त कर्मचारियों को कर देना बन्द कर दिया है। यह सब इसलिए हुआ था कि तीन और लोग ख़लीफा के पद के लिए उनकी प्रतिद्वन्द्विता में खड़े हो गये थे। उन्होंने ११ सैनिक दस्तों को लेकर पूरे अरब देश की यात्रा की और मात्र एक साल में ही सब कुछ सुव्यवस्थित कर दिया। अरब के अनेक प्रदेशों के आदिवासी इस्लाम धर्म को छोड़कर फिर अपने पुराने धर्म में चले गये थे। उन्होंने उन्हें समझा–बुझाकर पुनः इस्लाम का अनुयायी बनाया। इस्लाम का विधान कहता है कि जो उसे छोड़ देता है, उसे मृत्युदण्ड दिया जाये; लेकिन उन्होंने इस प्रकार के सभी लोगों को क्षमा कर दिया और फिर वे उनके भक्त हो गये।

अबूबक्र ने अपने धर्म का प्रभाव–क्षेत्र और बढ़ाने के लिए अपने शिष्य वलीद के पुत्र ख़ालिद को आज्ञा दी कि वह इराक पर आक्रमण करे। ख़ालिद बड़ा ही कुशल सेनानायक था। उसने एक और कुशल सेनापति मुसन्ना को साथ लेकर सैनिक अभियान आरम्भ किया। उसकी सेनाएँ बाबुल तक पहुँच गयीं, और उस सारे क्षेत्र को उन्होंने अपने अधिकार में ले लिया। ख़ालिद उसके बाद सीरिया की ओर बढ़ा, और फिर उसने बैज़नटाइन सेना को फिलिस्तीन के अजनदेईन स्थान पर ३१ जुलाई ६३४ ई० को पूरी तरह से हरा दिया। उसके कुछ दिनों बाद २३ अगस्त ६३४ ई० को अबूबक्र का निधन हो गया।

अबूबक्र अपने सिद्धान्तों के प्रति सुदृढ़ होते हुए भी, बड़े ही उदारमना और गरीबनवाज़ थे। उन्होंने अपना अलग से कोई राजकोष नहीं बनाया था। उन्हें जो कुछ कर के रूप में प्राप्त होता था, उसे वे अधिकांश में जनसाधारण के लाभ के लिए ही खर्च कर दिया करते थे। अपने भरण–पोषण के लिए वर्ष भर के लिए मात्र ५ हज़ार दिरहम लेते थे। इस प्रकार प्राप्त सम्पूर्ण राशि को उन्होंने अपनी मृत्यु के पूर्व अपनी व्यक्तिगत सम्पति बेचकर वापस कर दिया था। व्यक्तित्व की इसी महानता के कारण ख़लीफ़ाओं में उनका नाम बड़े ही आदर से लिया जाता है।

अबुल कलाम आजाद (१८८८–१९५८) भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सक्रिय सदस्य, अनेक बार उसके अध्यक्ष तथा स्वतंत्र भारत के पहले शिक्षा मंत्री। इनका परिवार बाबर के समय हिरात (अफ़गानिस्तान) से भारत आया था। इनके पूर्वजों में अनेक ख्याति प्राप्त बुद्धिजीवी और प्रशासक रहे थे। सन् १८५७ के प्रथम स्वाधीनता संग्राम के बाद इनके पिता मौलाना खैरुद्दीन मक्का चले गये थे। वहीं कलाम का १८८८ में इनका जन्म हुआ। जन्म के समय इनका नाम फिरोज़ बख़्त रखा गया था। सन् १८९० में इनके पिता सपरिवार कलकत्ता आ गये। उनके पिता का विचार था कि आधुनिक शिक्षा, धर्म–भावना को विनष्ट करती है, अतः उन्होंने अपने पुत्र के लिए पारम्परिक इस्लामी शिक्षा की व्यवस्था की; लेकिन उन्हें किसी मदरसे में नहीं भेजा गया। प्रारम्भ में पिता ने उन्हें स्वयं पढ़ाया और उसके बाद घर पर ही मौलवी रखकर पहले फ़ारसी, फिर अरबी भाषा का प्रशिक्षण दिलाया। अरबी भाषा पर अधिकार हो जाने के बाद, इस्लाम के धर्म–ग्रन्थों के साथ उन्हें अरबी में ही अंकगणित, बीजगणित और ज्योमिति का अभ्यास कराया गया। उसके बाद विभिन्न विषयों पर अलग–अलग अध्यापक रखे गये।

किशोरावस्था में उनका नाम मोइनुद्दीन अहमद रखा गया। उन्हीं दिनों संयोग से उन्हें सर सैय्यद अहमद खाँ की रचनाएँ पढ़ने को मिलीं। उन्हें तब लगा कि आधुनिक शिक्षा ग्रहण करना आवश्यक है; और वह अंग्रेजी के माध्यम से ग्रहण की जा सकती है। तभी उन्होंने मौलवी मुहम्मद यूसुफ जाफ़री से सम्पर्क किया और उनसे अंग्रेजी पढ़ने लगे। अंग्रेजी पर कुछ अधिकार होने के बाद, उन्होंने पहले बाइबिल पढ़ी। फिर शब्द–कोश की सहायता से अंग्रेजी अख़बार पढ़ने लगे। उसके बाद अंग्रेजी में इतिहास और दर्शन की पुस्तकों का उन्होंने अध्ययन किया।

जब वे १२ वर्ष के ही थे, उनकी रुचि पत्रकारिता में हुई और उन्होंने पत्र–पत्रिकाओं में लिखना आरम्भ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया। सन् १६०२ में उन्होंने स्वयं ही अपनी एक साहित्यिक पत्रिका निकाली 'लेसानुस–शिदक'। सन् १६०५ में लखनऊ की प्रसिद्ध पत्रिका 'अल–नदवा' के सम्पादक नियुक्त हुए। दो वर्ष बाद वे अमृतसर चले गये और वहाँ 'वकील' का सम्पादन करने लगे। कलकत्ते वापस आकर १६१२ में उन्होंने अपना साप्ताहिक–पत्र 'अल हिलाल' निकालना आरम्भ किया। उस समय का वह एक उच्च कोटि का साप्ताहिक–पत्र था।

सन् १६०५ में जब बंगाल का विभाजन हुआ था, तो उनकी राजनीतिक चेतना विशेष रूप से जाग्रत हो उठी थी; और अपने पत्र के माध्यम से वे विदेशी शासन के विरुद्ध जनसाधारण में राजनीतिक भावना जगाने लगे। अपने पत्रकारिता जीवन में उन्होंने, अपना नाम अबुल कलाम आज़ाद रख लिया था। सन् १६१५ में स्वातंत्र्य चेतना के संप्रसार के लिए उन्होंने एक और पत्र 'अल बलदा' निकाला। उनकी पत्रकारिता के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर, अंग्रेजी सरकार ने उन्हें भारतीय सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत कलकत्ते से निर्वासित कर दिया। जब बम्बई, पंजाब, दिल्ली एवं संयुक्त प्रान्त की सरकारें, उन्हें अपने यहाँ रखने को राजी न हुईं, तो बिहार के राँची शहर में उन्हें नज़रबन्द कर दिया गया। पहली जनवरी, १६२० तक वे नज़रबन्द रहे। इस कालावधि में उन्होंने अपने पूर्वजों के बारे में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'तजकिरा' लिखी और 'कुरान शरीफ़' का टीका सहित उर्दू अनुवाद आरम्भ किया।

सन् १६२० में नज़रबन्दी से मुक्त होने के बाद उनके राजनीतिक जीवन में और अधिक सक्रियता आयी और उन्होंने स्वाधीनता आन्दोलन में उत्साह के साथ भाग लिया। उन्हें अखिल भारतीय ख़िलाफ़त कमेटी का अध्यक्ष चुना गया। सन् १६२१ के असहयोग आन्दोलन में उन्होंने भाग लिया; और फिर उन्हें पकड़कर अलीपुर सेन्ट्रल जेल भेज दिया गया। सी० आर० दास भी उन्हीं के साथ गिरफ्तार हुए थे। कुछ समय बाद सुभाष चन्द्र बोस भी उनके पास उसी जेल में आ गये थे। पहली जनवरी, १६२३ को उन्हें छोड़ा गया और फिर सितम्बर, १६२३ के कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में उन्हें अध्यक्ष चुना गया। सन् १६२४ में वे दिल्ली में 'यूनिटी कान्फ्रेंस' के अध्यक्ष बनाये गये। सन् १६३० में नमक सत्याग्रह के समय कांग्रेस के अन्य नेताओं के साथ इन्हें फिर गिरफ्तार कर लिया गया। गांधी–इरविन–समझौते के बाद अन्य नेताओं के साथ उन्हें मुक्त किया गया। देश की स्वाधीनता के विषय में विचार–विमर्श के लिए गांधी जी 'राउण्ड टेबिल कांफ्रेंस' में भाग लेने के लिए लन्दन गये; लेकिन उन्हें वहाँ से खाली हाथ ही वापस लौटना पड़ा। गांधी जी को फिर गिरफ्तार कर लिया गया और कांग्रेस के अन्य नेता भी बन्दी बनाये गये। मौलाना आज़ाद को भी एक वर्ष दिल्ली में जेल में रहना पड़ा।

सन् १६३६ में ३ सितम्बर को हिटलर के पोलैण्ड पर आक्रमण के बाद, विश्व राजनीति में और भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में भी विशेष सक्रियता आयी। मौलाना आज़ाद और जवाहरलाल नेहरू का विचार था कि अगर अंग्रेज स्वाधीनता का आश्वासन दें, तो हिटलर की नाज़ी अथवा फासिस्टवादी शक्ति के विरुद्ध उनका समर्थन किया जा सकता है। ये दोनों उस समय अंग्रेजों के विरुद्ध कोई बड़ा आन्दोलन खड़ा करने के विरुद्ध थे। सन् १६४० में मौलाना आज़ाद को फिर कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया। गांधीजी ने उसके बाद व्यक्तिगत सत्याग्रह का आन्दोलन आरम्भ किया। पहला सत्याग्रही उन्होंने बिनोबा भावे को बनाया। कुछ समय बाद मौलाना आजाद भी व्यक्तिगत सत्याग्रह में गिरफ्तार हुए और फिर उन्हें इलाहाबाद के नैनी जेल में रखा गया।

मौलाना आज़ाद तथा कांग्रेस के और बड़े नेता अभी जेल में ही थे कि २२ जून, १६४१ को जर्मन सेनाओं ने सोवियत रूस पर आक्रमण कर दिया। जापान ने ७ दिसम्बर, १६४१ को पर्ल हार्बर पर आक्रमण करके संयुक्त राज्य अमेरिका को भी युद्ध के लिए मजबूर कर दिया। यूरोप में आरम्भ हुआ युद्ध,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार विश्वयुद्ध बन गया। जापानी सेनाएँ बड़ी त्वरा के साथ भारतीय सीमा की ओर अग्रसर हो रही थीं। तभी अंग्रेज शासकों ने यह निश्चय किया कि जवाहरलाल नेहरू को मुक्त कर दिया जाये। मौलाना आज़ाद तथा अन्य नेता भी मुक्त किये गये। गांधी जी उन दिनों बारदोली में थे, इसलिए वहीं कांग्रेस कार्य समिति की बैठक रखी गयी। तभी अमरीका के दबाव से अंग्रेज शासकों ने सर स्टैफोर्ड क्रिप्स को भारतीय नेताओं से बातचीत करने के लिए भेजा। लेकिन विन्स्टन चर्चिल, जो उन दिनों ब्रिटेन के प्रधानमंत्री थे, का विचार था कि वे ब्रिटिश साम्राज्य के इसलिए प्रधानमंत्री नहीं हुए हैं कि उसे समाप्त कर दें। अतः क्रिप्स की यात्रा असफल हुई और फिर गांधी जी ने ९ अगस्त १९४२ से 'अंग्रेजों, भारत छोड़ो' आन्दोलन की घोषणा की। उसके पहले ही कांग्रेस के नेता और मौलाना आज़ाद भी गिरफ्तार कर लिये गये। सभी बड़े–बड़े नेताओं को अहमद नगर किले को जेल में परिवर्तित करके वहाँ रखा गया था। उस किले के जीवन में उन्होंने अपने समय का उपयोग विशेष रूप से लेखन में किया था।

जून, १९४४ से जर्मनी और जापान की सेनाओं के पराजय का क्रम आरम्भ हो गया था। अमरीका के प्रभाव से अंग्रेज शासकों पर भारतीय नेताओं से बातचीत करके समस्या को सुलझाने का दबाव भी बढ़ने लगा था। इसी सन्दर्भ में पहले गांधी जी और फिर अन्य नेताओं को मुक्त कर दिया गया था। मौलाना आज़ाद को पहले बांकुरा ले जाया गया था और फिर वहाँ से मुक्त होकर वे कलकत्ता आ गये थे। कलकत्ते में ही उन्हें यह सूचना मिली कि राजनीतिक समस्या के समाधान के लिए २५ जून, १९४५ को शिमला में एक गोलमेज कान्फ्रेंस बुलायी जा रही है। आज़ाद उन दिनों भी कांग्रेस के अध्यक्ष थे, अतः उन्होंने २१ जून को बम्बई (अब मुम्बई) में कार्य समिति की बैठक बुलायी। अध्यक्ष होने के नाते वायसराय तथा इंग्लैण्ड के संसदीय दल के सदस्यों के से, उन्होंने अन्य नेताओं के साथ मिलकर बातचीत की। परिस्थितियाँ कुछ इस प्रकार विकसित हुईं कि पाकिस्तान बना। हिन्दुस्तान स्वतंत्र हुआ और उसमें जो मंत्रिमंडल बना उसमें मौलाना आज़ाद को शिक्षा मंत्री का पद मिला और फिर सन् १९५८ तक वे भारत के शिक्षा मंत्री रहे।

मौलाना आज़ाद के 'तज़किरा' और कुरान के उर्दू अनुवाद के अतिरिक्त उनके लिखे अन्य ग्रन्थ हैं– 'गुब्बारे ख़ातिर', 'काल फैसल', 'दास्ताने कर्बला', 'इन्सानियत', 'मौत के दरवाजे पर', 'मज़ामीने अल हिलाद', 'मज़ामीने आज़ाद', :खुतवाते आज़ाद' इत्यादि। उनकी ख्याति–प्राप्त रचना 'इंडिया विन्स फ्रीडम' है, जिसका प्रकाशन उनके निधन २२ फरवरी, १९५८ के बाद उनके निजी सचिव डॉ० हुमायूँ कबीर ने किया था। उस ग्रन्थ में उन्होंने अपने समकालीनों तथा कुछ घटनाओं के सम्बन्ध में कुछ तीखी बातें कही थीं, जो उनकी वसीयत के अनुसार उनके इस ग्रन्थ के प्रथम प्रकाशन में छोड़ दी गयी थीं। अक्टूबर, १९८८ में जो दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ, उसमें वे अंश चिह्नित करके दिये गये।

अब्दुल रहमान चुग़ताई ईरानी वंश के भारत में जन्में अब्दुर्रहमान चुग़ताई, बंगाल चित्रशैली के सिद्धहस्त कलाकार थे। बंगाल चित्रशैली के प्रचार के लिए उन्हें मेयो स्कूल ऑफ आर्ट्स, लाहौर भेजा गया था। स्वतंत्रता के पश्चात् वह पाकिस्तान चले गये तथा वहीं उनकी मृत्यु हो गयी। ग़ालिब की गज़लों पर आधारित उनके चित्रों का संग्रह 'मुरक्का–ए– चुग़ताई' १९३०–३२ में प्रकाशित हुआ। १९३६ ई० में उनका दूसरा चित्र–संग्रह 'नक्श–ए–चुग़ताई' प्रकाशित हुआ। चुग़ताई की कलम में भारतीय और फ़ारसी तत्त्वों का अद्भुत सम्मिश्रण था। उन्होंने भारतीय पौराणिक तथा लोक जीवन की गाथाओं से विषयों का चुनाव किया। उनके चित्रों की रेखाओं में लयात्मकता तथा सुकुमारता का संगम है। आकृतियाँ, लम्बी–रेखा प्रधान, कलात्मक तथा कोमलता से भरपूर हैं। राधाकृष्ण, होली, हीरामन तोता, शिव–पार्वती आदि इनके अनेक प्रसिद्ध चित्र हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब्दुल रहीम ख़ाँ ख़ानख़ाना, नवाब बहुमुखी प्रतिभा के धनी, मुगल बादशाह अकबर के नवरत्नों में इनका नाम आता है। बड़े ही प्रबुद्ध राजनीतिज्ञ होने के साथ–साथ, ये बड़े ही कुशल योद्धा भी थे। अनेक बड़ी बड़ी लड़ाइयों में इन्होने विजय पाई थी। कवि के रूप में तो ये कालजयी हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनका अपना विशिष्ट स्थान है। काव्य जगत् में इन्हें, अपने पूरे नाम से नहीं, मात्र रहीम के नाम से जाना जाता है। अपने प्रतिदिन के जीवन में उन्होने, अपने इस नाम को, भली प्रकार सार्थक किया था : इनकी उदारता और दानशीलता की अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं।

ये सम्राट् अकबर के अभिभावक बैरम खाँ के सुपुत्र थे। इनका जन्म लाहौर में, १७ दिसम्बर, सन् १५५६ ईस्वी में हुआ था। जब ये केवल पाँच वर्ष के थे, तभी गुजरात के अभियान में, इनके पिता का निधन हो गया। बालक रहीम को तब अकबर ने स्वयं अपनी सुरक्षा में ले लिया। उनके लिए पढ़ाई–लिखाई की समुचित व्यवस्था की गयी। अपनी सुमेधा और परिश्रम से इन्होने जल्दी ही अनेक भाषाओं यथा तुर्की, फारसी, संस्कृत, हिन्दी आदि पर अधिकार कर लिया। इनके बौद्धिक विकास को देखकर अकबर ने इंन्हें बीस साल की आयु में ही गुजरात का शासक बना दिया। इस पद पर वे पाँच वर्ष तक रहे। इन्हें इसके बाद सलीम का अभिभावक बना दिया गया। सन् १५८३ में फिर इन्हें बड़ी विषम परिस्थितियो में गुजरात भेजा गया। वहाँ कुछ लोग बग़ावत पर खड़े हो गये थे। उनकी चौगुनी सेना को इन्होंने पूर्णतः छिन्न–भिन्न कर दिया। सम्राट् ने इनकी इस वीरता पर प्रसन्न होकर इन्हें पंचहजारी मंसब दिया और ख़ानख़ाना की पदवी भी प्रदान की। सन् १५९२ ईस्वी में इन्हें मुलतान का शासक नियुक्त किया गया। इस पद पर कार्य करते हुए, इन्होंने अपने युद्ध–कौशल का फिर परिचय दिया और सिन्ध तथा ठठ्हा पर विजय प्राप्त की। इनके इस पराक्रम से प्रभावित होकर, सम्राट् ने सन् १५९५ ईस्वी में इन्हें दक्षिण भेजा और वहाँ इन्होंने अहमद नगर पर फिर से अधिकार किया। इसी अभियान में सन् १५९६ ईस्वी में दक्षिण की तीन सुलतानों की सम्मिलित सेनाओं को आप्टी के युद्ध क्षेत्र में अपने रण–कौशल से पराजित किया। सन् १६०० ईस्वी में अहमद नगर पर इन्हें फिर से अधिकार करना पड़ा और उसके बाद इन्हें बरार का शासक बनाया गया।

सन् १६०५ ईस्वी में अकबर का निधन हुआ, और उनके पुत्र सलीम ने जहाँगीर के नाम से शासन भार ग्रहण किया। जहाँगीर के शासन काल में अधिकांश में ये दक्षिण में ही रहे। उन दिनों जहाँगीर के पुत्र शाहजहाँ भी दक्षिण में ही थे। उन्होंने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। रहीम को परिस्थिति के वशीभूत होकर उनका साथ देना पड़ा। इस दुर्योग का परिणाम यह हुआ कि इनके पुत्र और पौत्र मार डाले गये; लेकिन जल्दी ही इन्होंने जहाँगीर के साथ अपना सम्बन्ध फिर से बना लिया। महावत खाँ के विद्रोह करने पर इन्हें उसे पराजित करने के लिए नियुक्त किया गया; लेकिन इस उत्तरदायित्व का निर्वाह करते, इसके पहले ही ये विशेष बीमार पड़ गये और सन् १६२६ में सत्तर वर्ष की आयु में इनका निधन हो गया।

रहीम के राजनीतिक और युद्ध क्षेत्र के जीवन जितने सफल रहे थे, उनका पारिवारिक जीवन उतना ही कष्टमय रहा। वे जब पाँच वर्ष के थे, तभी उनके पिता का निधन हो गया था। यह तो संयोग है कि उन्हें अकबर जैसा अभिभावक मिल गया। जब वे सफलता के सोपानों पर चढ़ ही रहे थे, तो ४२ वर्ष की आयु में उनकी पत्नी का निधन हो गया। उनकी पुत्री विवाह के कुछ साल बाद विधवा हो गयी। उनके तीन पुत्र भी असमय में ही दुर्भाग्य के शिकार हुए थे। जहाँगीर ने अपने पुत्र खुर्रम (शाहजहाँ) के विद्रोह में साथ देने पर उनके बेटों और उनके भी बेटों को मरवा दिया था। ग़ाज तो उनके ऊपर भी गिर सकती थी, लेकिन उनकी दीर्घ–कालीन राजनिष्ठा को देखकर उन्हें क्षमा कर दिया गया था। रहीम ने सभी दुर्योगों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को बड़े शान्त भाव से सहन किया था। जीवन की अत्यधिक दुःखद अनुभूतियों की अभिव्यक्ति, उनकी काव्य रचनाओं में यदा–कदा देखने को मिल जाती है। इन्ही विषम परिस्थितियों ने उन्हें फूँक–फूँक कर चलना सिखा दिया था और विशेष रूप से नीतिवादी बना दिया था। उनके नीति के दोहों में इसीलिए विशेष रूप से प्रभावित करने की शक्ति है।

रहीम ने अकबर के संरक्षण में रहते हुए बड़ी ही रुचि से अध्ययन और अनुशीलन किया था। तुर्की, अरबी, फ़ारसी, संस्कृत और हिन्दी की साहित्यिक भाषा ब्रज और अवधी पर उनका असाधारण अधिकार था। तुर्की से उन्होंने 'बाबरनामा' का 'वाकयात बाबरी' का फ़ारसी में अनुवाद किया था। फारसी में उन्होंने काव्यरचनाएँ भी की थीं, जो 'फारसी दीवान' नाम से मिलती हैं। संस्कृत, फ़ारसी और हिन्दी में लिखा उनका ज्योतिष का एक ग्रन्थ भी मिलता है, 'खेट कौतुक–जातकम्'। उसे पढ़कर लगता है कि भारतीय ज्योतिष का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था; तभी छोटे–छोटे सूत्रों में उन्होंने अनेक नक्षत्रों के प्रभावों को बड़ी ही सरलता के साथ प्रस्तुत कर दिया है। संस्कृत में लिखे उनके कुछ भक्तिपरक श्लोक भी मिलते हैं। कुछ नीतिपरक रचनाएँ भी हैं।

रहीम ने बड़ा ही व्यस्त राजनीतिक जीवन व्यतीत किया था और समय–समय पर अपने युद्ध–कौशल को भी उजागर किया था। उसे देखकर यह विस्मय होता है कि हिन्दी में ब्रज और अवधी दोनों में ही उन्होंने इतना साहित्य कैसे निर्मित कर दिया। उनके समय की इन दोनों ही साहित्यिक भाषाओं में उनकी ५ रचनाएँ उपलब्ध हैं। सबसे पहले उनकी 'दोहावली' आती है, जिसमें ३०० दोहे हैं। इन दोहों में हिन्दू देवी–देवताओं की जिस प्रकार उन्होंने वन्दना की है, वह बड़ा ही विस्मयजनक है। उनके नीतिपरक दोहे उनकी अनुभूतियों के सहज उद्‌गार हैं; और इसीलिए हमें प्रभावित करते हैं। दोहा छन्द में ही उनका एक और ग्रन्थ हैं, जिसमें विभिन्न जातियों की स्त्रियों की अपनी अलग–अलग शृंगारिक प्रवृत्तियों का वर्णन है। इसी विषय पर उनका एक और ग्रन्थ है 'बरवै नायिका भेद'। यह अवधी भाषा में है और अपने विषय का उत्कृष्ट ग्रन्थ माना जाता है। उनका एक और ग्रन्थ 'बरवै' नाम से मिला है। उसमें १०१ छन्द हैं, और उनमें गोपी विरह के प्रसंग को उठाया गया है। उनका एक ग्रन्थ 'मदनाष्टक' भी है, जिसमें मालिनी छन्द में रासलीला का वर्णन है। इन्होंने कुछ सोरठे भी लिखे थे। उनकी इस छन्द की रचनाओं के एक संकलन का उल्लेख मिलता है, लेकिन वह उपलब्ध नहीं है। विद्वानों को उनके मात्र छह सोरठे ही प्राप्त हैं। कहा जाता है कि उन्होंने 'रास पञ्चाध्यायी' नाम के एक ग्रन्थ की भी रचना की थी; लेकिन वह उपलब्ध नहीं है। 'भक्तमाल' में उनके इस विषय के केवल दो ही छन्द मिलते हैं।

रहीम की काव्य रचनाओं में मूल विषय तो शृंगार है : यह प्रवृत्ति सम्भवतः राजसी वातावरण में रहने के कारण आयी है। उन्हें कदम–कदम पर जो संघर्ष करना पड़ा, उसने उन्हें नीतिवादी बना दिया। उनके नीतिपरक दोहे, जीवन यापन का एक स्वस्थ दर्शन प्रदान करते हैं। उनकी रचनाओं में भारतीय जीवन–मूल्यों के प्रति गम्भीर निष्ठा देखने को मिलती है। इन्होंने अपने युग के भक्ति आन्दोलन को भी आत्मसात् किया था। विष्णु और गंगा के प्रति जो भक्ति–भावना इन्होंने प्रकट की है, वह सर्वथा विलक्षण है। इन्हें पढ़कर यह लगता है कि इनका मन, अल्लाह और विष्णु दोनों को ही समान समझता था। इन्हीं जैसे उदारमना लोगों को लेकर यह कहा गया है, 'इन मुसलमान हरि जनन पर कोटिक हिन्दू वारिये।'

रहीम ने दोहा, सोरठा, कवित्त, मालिनी आदि अनेक छन्दों का प्रयोग किया है; लेकिन उनका सर्वाधिक प्रिय छन्द बरवै माना जाता है। उनका ''बरवै नायिका भेद'' अपने ढंग का विलक्षण ग्रन्थ है। उसे पढ़कर लगता है कि भारतीय जनजीवन में कितनी गहराई में उतरकर उन्होंने उसे ग्रहण किया था। कहा जाता है तुलसीदास' जी ने अपनी 'बरवै रामायण' उन्हीं की प्रेरणा से लिखी थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहीम के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि गोस्वामी तुलसीदास जी के प्रति उनके मन में विशेष आत्मीयता थी। गुणी व्यक्तियों का आदर करना, उनका सहज स्वभाव था। उनकी दानशीलता की अनेक कथाएँ, लोक परम्परा से चली आ रही हैं। अपनी बहुमुखी प्रतिभा और व्यक्तित्व की विलक्षणता से इन्होंने अकबर के राजदरबार की शोभा तो बढ़ायी ही थी, अपने राजनीतिक कौशल और शूरवीरता से मुगल साम्राज्य की सुरक्षा और उसके विस्तार में भी योग दिया था। लेकिन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उनकी साहित्य–साधना है, जिसके सहारे इन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपना एक प्रतिष्ठित स्थान बना लिया है।

अब्दुल कलाम भारत के राष्ट्रपति (२२ जुलाई, २००२ से)। पूरा नाम 'अबुल पकिर जैनुल आब्दीन अब्दुल कलाम'। प्रसिद्ध सुरक्षा वैज्ञानिक, जिन्होंने भारत के लिए अनेक प्रक्षेपास्त्र बनाये। इनका जन्म तमिलनाडु प्रदेश के रामेश्वरम् नगर के धनुष्कोटि नामक स्थान पर हुआ था। इनके पिता मछुआरों को नावें किराये पर देकर अपनी जीविका चलाते थे। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा रामेश्वरम् में हुई थी। बाद में उन्होंने तिरुचिरापल्ली के सेन्ट जोज़ेफ कालेज से १२वीं कक्षा पास की। उसके बाद वैज्ञानिक अभियान्त्रिकी पढ़ने के लिए मद्रास के तकनीकी संस्थान में प्रवेश किया। सन् १६५८ में उन्होंने सुरक्षा अनुसंधान और विकास संगठन से अपना व्यावसायिक जीवन आरम्भ किया। कुछ समय बाद ये (दिनांक २० नवम्बर, १६६७) भारतीय अन्तरिक्ष अनुसंधान संस्थान (इसरो) में आ गये। वहाँ इन्होंने उपग्रह प्रक्षेपण यान–III के सहारे उपग्रह रोहिणी–I को अन्तरिक्ष की कक्षा में प्रक्षेपित किया। इस उपग्रह का व्यास मात्र ७५ मिलीमीटर और वजन केवल १० किलोग्राम था। अन्तरिक्ष में यह मात्र ८.२ किलोमीटर की दूरी तक ही गया था। कुछ आलोचकों ने इस प्रयोग को मात्र खिलवाड़ कहा था, लेकिन वस्तुतः थुम्बा से प्रक्षेपित इस उपग्रह ने प्रक्षेपण के आधारभूत सिद्धान्तों और तकनीक का भली प्रकार स्पष्टीकरण कर दिया। अब्दुल कलाम उसके बाद इसरो द्वारा प्रक्षेपित 'रोहिणी', 'आर्यभट्' आदि उपग्रहों के प्रक्षेपण में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे।

इसरो के साथ १६ वर्ष कार्य करने के अनन्तर, भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र के निदेशक डॉ० राजा रमन्ना के आदेश से, वे फिर सुरक्षा अनुसन्धान और विकास संस्थान में आ गये, और प्रक्षेपास्त्रों के निर्माण

अब्दुल कलाम

का कार्य अपने हाथों में ले लिया। मध्यम दूरी तक भयंकर विस्फोट करने वाले 'पृथ्वी' और 'अग्नि' प्रक्षेपास्त्र इन्हीं की देन हैं। आधुनिक प्रक्षेपास्त्रों को अब्दुल कलाम भारतीय सुरक्षा–व्यवस्था का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग मानते हैं।

डॉ० अब्दुल कलाम सुरक्षा अनुसन्धान और विकास संस्थान से मुक्त होकर अनेक वर्षों तक भारत–सरकार के सुरक्षा–सलाहकार रहे। उनकी असाधारण सेवाओं के लिए १६६८ में उन्हें 'भारत–रत्न' उपाधि से विभूषित किया गया। बहुमुखी प्रतिभा के धनी डॉ० कलाम रुद्रवीणा पर संगीत का आनन्द लेते हैं। काव्य–पाठ में भी उनकी विशेष रुचि है। तमिल के प्रसिद्ध कवि सुब्रह्मण्यम् भारती की रचनाएँ उन्हें सर्वाधिक प्रिय हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब्दुल रहीम अप्पा भाई आलमेलकर (१९२०) चित्रकार अब्दुल रहीम अप्पा भाई आलमेलकर का जन्म अहमदाबाद में हुआ था। कला के प्रति गहरी रुचि होने के कारण उन्होंने नवीं कक्षा के बाद पढ़ाई छोड़ दी। आलमेलकर ने पहले कलाविद् के०एन० केलकर के निर्देशन में चित्रकारी का कार्य प्रारम्भ किया। बाद में माता–पिता के प्रोत्साहन से १९३६ में 'नूतन कला मन्दिर' बम्बई में प्रवेश लिया जहाँ श्री दण्डवती मठ ने उन्हें प्रोत्साहित किया। १९४० में इन्होंने 'सर जे० जे० स्कूल ऑफ आर्ट' से डिप्लोमा प्राप्त किया। प्रारम्भ में आलमेलकर ने अत्यन्त कम पारिश्रमिक पर ब्लाक बनाने की फर्म में काम किया। साथ–साथ वह चित्र बनाते रहे तथा प्रदर्शनी करते रहे। १९४८ ई० में उनकी विशाल प्रदर्शनी लगी, जिसमें उन्हें बम्बई सरकार का पुरस्कार प्राप्त हुआ। १९५३ ई० के आसपास उनके घर में आग लग जाने से उनके हज़ारों रेखाचित्र तथा बहुत से चित्र नष्ट हो गये। किन्तु वे हतोत्साहित नहीं हुए, अपितु और अधिक तत्परता से चित्रण कार्य में जुट गये। इसी समय वोल्कार्ट ब्रदर्स ने अपने कैलेंडर के लिए १२ भारतीय पशु–पक्षियों के चित्र बनवाए, जिनसे आलमेलकर की ख्याति देश–विदेश में फैली। १९५६ ई० में उन्हें राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कृत किया गया।

प्रारम्भ में आलमेलकर जलरंग में कार्य करते थे। १९६८ ई० से उन्होंने तैल रंग में कार्य करना प्रारम्भ किया। उनके चित्र भारतीय लघुचित्रों से प्रभावित हैं, तथा उन पर लोक–कला और आंचलिकता की छाप है।

अभिकल्पना किसी निश्चित उद्देश्य के लिए किसी स्थान अथवा किसी वस्तु पर रूपाकृति को व्यवस्थित क्रम से आयोजित करना, अभिकल्पना (डिजाइन) है। वास्तुविद्, चित्रकार तथा मूर्तिकार सभी अभिप्रायों (मोटिफ) के संयोजन से नेत्ररंजक अभिकल्पना की रचना करके, स्थान विशेष को महत्त्व प्रदान करते हैं। अभिकल्पना को मूर्त्त अथवा अमूर्त्त रूपों से प्रस्तुत किया जा सकता है। लयात्मकता, अभिकल्पना का प्रमुख गुण है। सांसारिक रूपों को लय तथा प्रवाह में लाने के लिए उनमें परिवर्तन करने के लिए चित्रकार स्वतंत्र होता है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् (अ०शा०), कालिदासकृत नाटक कतिपय विद्वान् इसे 'अभिज्ञान शकुन्तल' कहते हैं, किन्तु अधिक प्रचलित नाम 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' ही है।

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का मूल स्रोत महाभारत (आदि पर्व, अध्याय ६८–७४) का शकुन्तलोपाख्यान है, जिसकी संक्षिप्त कथा इस प्रकार है– हस्तिनापुर का राजा दुष्यन्त शिकार खेलता हुआ महर्षि कण्व के आश्रम में जा पहुँचता है। महर्षि फल लेने वन में गये हुए हैं। उनकी अनुपस्थिति में उनकी पुत्री शकुन्तला उसका स्वागत करती है। वह बताती है कि मैं कण्व की पालिता पुत्री हूँ, मेरे वास्तविक माता–पिता मेनका और विश्वामित्र हैं। दुष्यन्त, शकुन्तला से गन्धर्व विवाह करने का प्रस्ताव रखता है, जिसे वह इस शर्त के साथ स्वीकार करती है कि मेरा पुत्र ही युवराज और राज्य का उत्तराधिकारी होगा। विवाह हो जाता है। दुष्यन्त, शकुन्तला को यह आश्वासन देकर कि मैं तुम्हें शीघ्र ही अपने पास बुला लूँगा, अपनी राजधानी लौट जाता है। किन्तु विवाह की घटना से वह कण्व से इतना डर जाता है कि शकुन्तला को नहीं बुलाता। वन से लौटने पर कण्व, गन्धर्व विवाह पर सन्तोष व्यक्त करते हैं। कुछ समय बीत जाने पर शकुन्तला एक पुत्र को जन्म देती है, जिसका नाम 'सर्वदमन' रखा जाता है। सर्वदमन छह वर्ष का हो जाता है। कण्व, तपस्वियों की निगरानी में उसे शकुन्तला के साथ दुष्यन्त के पास भेज देते है। शकुन्तला उसे लेकर , दुष्यन्त के सामने उपस्थित होती है। पहले तो दुष्यन्त जानबूझ क्रर उसे पहचानने से मना कर देता है और सर्वदमन को भी स्वीकार नहीं करता; किन्तु बाद में जब आकाशवाणी यह बताती है कि शकुन्तला तुम्हारी पत्नी और सर्वदमन तुम्हारा पुत्र है, वह दोनों को स्वीकार कर लेता है। शकुन्तला महारानी बना ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाती है और आगे चलकर सर्वदमन 'भरत' कहलाता है तथा चक्रवर्ती सम्राट् बनता है।

कालिदास ने उक्त उपाख्यान को नाट्यशैली में ढालकर नाटककारों की प्रथम पंक्ति में अपना नाम अंकित करा लिया है। इस नाटक का इतिवृत्त सात अंकों में समाहित है– मृगया बिहारी राजा दुष्यन्त अपने बाण का लक्ष्य बने आश्रम–मृग को तपस्वी के अनुरोध पर छोड़ देता है। तपस्वी उसे आशीर्वाद देता है कि आपको चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति हो। उसके निवेदन पर वह कण्व के आश्रम में प्रवेश करता है। प्रवेश करते समय वह राजसी वेष त्याग देता है। कण्व, सोमतीर्थ गए हुये हैं, अतः अतिथि सत्कार का दायित्व शकुन्तला पर आ पड़ा है। आश्रम में दुष्यन्त की भेट शकुन्तला और उसकी दो सखियों– अनुसूया और प्रियंवदा से होती है। उसे ज्ञात होता है कि शकुन्तला कण्व की पालिता पुत्री है, वस्तुतः उसकी माँ मेनका और पिता विश्वामित्र हैं। शकुन्तला और दुष्यन्त, मन ही मन एक दूसरे पर आसक्त हो जाते हैं। इसी बीच किसी जंगली हाथी के उत्पात की खबर से शकुन्तला, अपनी सखियों के साथ पर्णशाला में और दुष्यन्त अपनी छावनी में चला जाता है। (प्रथम अंक)।। दुष्यन्त शकुन्तला पर पूरी तरह आसक्त है। वह शिकार से विरत हो गया है तथा विदूषक माधव्य से कहता है कि कोई ऐसा उपाय निकालो, जिससे हम आश्रम में रह सकें। इसी बीच दो ऋषि कुमार आकर दुष्यन्त से निवेदन करते हैं कि कण्व की अनुपस्थिति में आश्रम में राक्षसों का आतंक बढ़ गया हैं, उसके निवारणार्थ कुछ रात आश्रम में आकर रहें। दुष्यन्त 'हाँ' कह देता है। इधर राजधानी से करमक नामक सेवक आता है और दुष्यन्त को बताता है कि राजमाता ने आपको बुलाया है। वह अपनी जगह माधव्य को, दल बल सहित राजधानी भेज देता है। माधव्य की वाचालता से शंकित वह उससे कह देता है कि मेरा शकुन्तला से कोई प्रेम नही हैं, मैं तो तुमसे मजाक कर रहा था कि मैं उसे प्यार करता हूँ। (द्वितीय अंक)।। शकुन्तला को प्यार की लू लग गयी है। वह फूलों की सेज पर लेटी हुई है। सखियाँ परिचर्या में लगी हैं। दुष्यन्त ओट में खड़ा सब कुछ देख रहा है। शकुन्तला सखियों को बताती है कि मैं दुष्यन्त पर आसक्त हूँ। उसके बिना जी नहीं सकती। दुष्यन्त वहीं आ जाता है और उसके प्रति अपना अनुराग प्रकट कर देता है। दोनों सखियाँ बहाना बनाकर वहाँ से चली जाती है। उधर दुष्यन्त छिप जाता है और शकुन्तला गौतमी के साथ चली जाती है। (तृतीय अंक)।। दुष्यन्त का शकुन्तला से गन्धर्व विवाह हो जाता है। वह शकुन्तला को यह आश्वासन देकर कि तुम्हें लिवा लाने के लिए दो चार दिनों में कोई न कोई यहाँ आ जाएगा, आश्रम से अपनी राजधानी लौट जाता है। आश्रम में दुर्वासा ऋषि आते हैं। शकुन्तला दुष्यन्त के ध्यान में डूबी होने से उनकी उपस्थित का संज्ञान नही कर पाती। वे कुपित होकर उसे शाप दे देते हैं कि तू जिसे याद कर रही है, वह तुझे भूल जाएगा। प्रियंवदा के अनुनय–विनय पर वे यह कह कर तिरोहित हो जाते हैं कि अभिज्ञान आभरण दिखाने पर उनका शाप शान्त हो जाएगा। इधर सोमतीर्थ से महर्षि कण्व लौट आये हैं। उन्हें आकाशवाणी से पता चलता है कि शकुन्तला का दुष्यन्त से गान्धर्व विवाह हो गया है और वह गर्भवती है। कण्व शकुन्तला को उसके पति के घर भेज देते हैं। (चतुर्थ अंक)।। शार्गरव, शारद और गौतमी शकुन्तला को लेकर दुष्यन्त के पास पहुँचते हैं। शार्गरव दुष्यन्त को बताता है कि महर्षि कण्व ने आपके और शकुन्तला के गन्धर्व विवाह का अनुमोदन किया है और इसे आपके पास भेजा है। दुर्वासा के शाप के कारण दुष्यन्त शकुन्तला को भूल चुका है। अतः वह गन्धर्व विवाह के प्रति अपनी अनभिज्ञता व्यक्त करता है। प्रमाण के रूप में शकुन्तला दुष्यन्त को वह अंगूठी दिखाना चाहती है, जो आश्रम में आते समय दुष्यन्त ने उसे दी थी। किन्तु अंगूठी गंगा को प्रणाम करते समय उसके हाथ से शचीतीर्थ के जल में गिर गयी थी। अतः दुष्यन्त शकुन्तला को नहीं अपनाता। शार्गरव आदि लौट जाते हैं। शकुन्तला रोती हुई राजमहल से बाहर आ जाती है, जहाँ से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे मेनका उठाकर आकाश की ओर ले जाती है।(पंचम अंक)।। शुक्रावतार ग्राम में रहने वाले किसी धीवर के पास राजा की नामांकित अंगूठी देखकर, उसे रक्षकों ने पकड़ लिया है, वह सफाई देता है कि मुझे यह अंगूठी रोहू मछली के पेट से मिली है। अंगूठी दुष्यन्त को दिखाई जाती है, जिसे देखते ही दुर्वासा का शाप शान्त हो जाता है और दुष्यन्त को शकुन्तला का स्मरण हो आता है और वह उदास रहने लगता है : कभी शकुन्तला का चित्र बनाता है, कभी रोता है और कभी मूर्छित होता है। मेनका की सहचारी अप्सरा सानुमती छिपकर यह सब देखती है और इसकी सूचना मेनका को देने के लिए चली जाती है। दुष्यन्त को सूचना मिलती है कि धनमित्र नामक व्यापारी की नौका दुर्घटना में मृत्यु हो गयी है। निःसन्तान होने से उसका सारा धन राजगामी हो गया है। 'सन्तानहीनता की मार बहुत बुरी होती है, यह विचार दुष्यन्त को हिला देता है। वह सोचने लगता है कि 'मैं भी सन्तानहीन हूँ, अतः मेरे बाद मेरी सम्पत्ति का भी यही हाल होना है।' इसी बीच इन्द्र का सन्देश लेकर स्वर्ग से मातलि आता है और दुष्यन्त को अपने साथ लेकर चला जाता है। (षष्ठ अंक)। दानवों को पराजित कर स्वर्ग से लौटता हुआ दुष्यन्त मार्ग से हेमकूट पर्वत पर स्थित मारीच ऋषि के आश्रम में रुकता है, जहाँ प्रत्याख्यान के बाद शकुन्तला को लेकर मेनका आ गयी थी। मातलि, दुष्यन्त को मारीच से मिलाने का समय पाने के लिए चला जाता है। दुष्यन्त अशोक वृक्ष के नीचे बैठ जाता है, जहाँ उसे कोई पराक्रमी बालक दिखाई देता है। उस बालक के हाथ में चक्रवर्ती राजा के चिह्न हैं। उसकी आकृति दुष्यन्त से मिलती है। फिर यह बताया जाता है कि उसकी माँ को पति ने त्याग दिया है। एक दो ऐसी घटनाएँ घट जाती हैं कि दुष्यन्त को यह जानने में देर नहीं लगती कि यह उसका ही पुत्र है। यहीं पिता और पुत्र का मिलन होता है तथा शकुन्तला भी वहीं आ जाती है। सब मिलकर मारीच के पास पहुँचते हैं। मारीच, दुष्यन्त और शकुन्तला को दुर्वासा–शाप की घटना से अवगत कराते हैं। दुष्यन्त की भ्रान्ति छँट जाती है और शकुन्तला का मन साफ हो जाता है। मारीच उन्हें आशीर्वाद देते हैं और दुष्यन्त, पत्नी शकुन्तला और पुत्र सर्वदमन को लेकर अपनी राजधानी चला जाता है। (सप्तम अंक)।

इस नाटक का मौलिक इतिवृत्त है 'अभिज्ञान' अर्थात् अभिज्ञानकरण, दर्शन, जिसका सम्बन्ध दुर्वासा के शाप से है। इसी पर इसका नामकरण हुआ है। विश्वनाथ का मत है कि नाटक का नाम उसके गर्भितार्थ को प्रकाशित करने वाला होना चाहिए– 'नाम कार्य नाटकस्य गर्भितार्थ प्रकाशनम् (साहित्य दर्पण ६/१४२)। 'अभिज्ञान' ही इस नाटक का गर्भितार्थ है, जिसके इर्द–गिर्द नाटक की कथावस्तु घूमती दिखाई देती है। कालिदास ने कथ्य की उपाख्यान शैली को नाटक शैली में डालने के लिए जो प्रयोग किए हैं, उनसे अभिज्ञान की घटना ही सर्वाधिक जागरूक है। उन्होंने सन्धि–सन्ध्यंगों अर्थोपक्षेपकों, नाट्यधर्मों तथा अन्यान्य नाट्यमर्यादाओं का यथावश्यक परिपालन करते हुए 'महाभारत' के मूल उपाख्यान को, बड़ी सज–धज के साथ नृत्य एवं भव्य नाट्य रूप में प्रस्तुत किया है। नाटक में प्रथम अंक में 'बीज' द्वितीय अंक में 'बिन्दु' तथा तृतीय अंक से छठे अंक तक 'पताका' का निर्वाह हुआ है। सानुमती प्रसंग और मातलि प्रसंग 'प्रकरी' के अन्तर्गत आये हैं। दुष्यन्त को शकुन्तला की प्राप्ति हो जाना 'कार्य' है। इस प्रकार यहाँ पाँचों अर्थप्रकृतियों (बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी एवं कार्य) का यथायोग्य प्रयोग हुआ है। अवस्था पंचक का समायोजन क्रमशः इस प्रकार है। प्रथम अंक में आरंभ, तृतीय अंक की समाप्ति तक यत्न, चतुर्थ और पंचम अंक में प्राप्त्याशा, षष्ठ अंक में नियताप्ति और सप्तम अंक में मूलागम। इसी प्रकार प्रथम अंक में मुखसन्धि, द्वितीय और तृतीय में प्रतिमुख सन्धि, चतुर्थ और पंचम अंक में गर्भसन्धि, षष्ठ अंक में अवमर्श सन्धि और सप्तम अंक में निर्वहण सन्धि; इन पंच सन्धियों का प्रयोग द्रष्टव्य है। पताका–स्थानकों का तृतीय और सप्तम अंक में निवेश हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल कथानक से हटकर, नाटक का कथानक विश्वसनीय, मनोरम एवं सरस है। कवि ने नायक और नायिका के प्रेम को पल्लवित करने के लिए पर्याप्त समय दिया है। दुष्यन्त कुछ रात आश्रम में रहा है। दुर्वासा के शाप की घटना ने नाटक को गति दी है। चतुर्थ अंक के बाद का समस्त संविधानक, इसी पर केन्द्रित है। नाटक के इतिवृत्त में नायक और नायिका के चरित्रशील की रक्षा कर, उन्हें आदर्श पात्रों के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। वस्तुविन्यास इस करीने के साथ हुआ है कि नाटक की कोई भी घटना व्यर्थ प्रतीत नहीं होती। प्रत्येक घटना सार्थक और प्रस्तुतोपयोगी है। मृगया प्रसंग, वैखानस प्रसंग, तपस्वी कण्व का सोमतीर्थ जाना, करमक प्रसंग, दुर्वासा शाप, धीवर प्रसंग, मातलि प्रसंग आदि घटनाओं से उक्त कथन की पुष्टि की जा सकती है। कालिदास ने इस नाटक को जो भव्य रूप दिया है उससे यह संस्कृत नाटकों की सर्वोत्तम कृति बन गया है।

यह श्रृंगार रस प्रधान नाटक है। यहाँ श्रृंगार के संयोग और विप्रलम्भ दोनों रूपों का परिपाक हुआ है। हास्य, करुण, भयानक, अदभुत् और वात्सल्य का अंगरूप में प्रयोग हुआ है। उपमा, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों का नैसर्गिक प्रयोग, प्रसाद गुण और वैदर्भी रीति इस नाटक की अन्य भाषिक विशेषताएँ हैं। इस नाटक में लगभग एक सौ सुन्दर सूक्तियाँ समाविष्ट हैं।

प्राच्य नाट्यालोचना में यह प्रसिद्ध है कि काव्यों में नाटक रमणीय होता है, नाटकों में अभिज्ञानशाकुन्तलम् सर्वाधिक रमणीय है।

अभिनेयता की दृष्टि से अ०शा० एक सशक्त नाटक है।

अभिनय सामान्यतः अभिनय को अनुकरणीय समझ लिया जाता है और कभी-कभी तो नकल भी कह दिया जाता है। यह भ्रान्ति आचार्यों के उन कथनों के कारण हुई है, जिनमें नाटक को मानव जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का अनुकरण कह दिया गया है। भरत ने नाटक को तीनों लोकों में जो कुछ हो रहा है, उसका अनुकरण कहा है। धनञ्जय ने भी नाटक को जीवन की विभिन्न अवस्थाओं की अनुकृति कहा है। लेकिन अनुकरण या अनुकृति से इन आचार्यों का आशय, इस जगत् में जो कुछ जैसे हो रहा है, उसे उसी रूप में प्रस्तुत कर देने से नहीं है। भारतीय मनीषा की आत्मविश्वास से परिपूर्ण सुनिश्चित वाणी है कि हम अंधेरे से प्रकाश की ओर, असत् से सत् की दिशा में, और मृत्यु से अमरता के पथ पर आगे बढ़ रहे हैं। हमारी यह भी आस्था है कि सत्य की जय अवश्य होती है, चाहे उसमें थोड़ा या बहुत समय लग जाये। इसी आशावादी जीवनदृष्टि, को लेकर हमारे नाट्याचार्यों का कहना है कि नाटक के नायक को, जिस उद्देश्य को लेकर वह चलना आरम्भ करता है, अन्त में उसे उसकी उपलब्धि हो जानी चाहिए। अभिनय हमारे यहाँ इस प्रकार जीवन के वास्तविक रूप की अनुकृति नहीं है, वरन् उसके आदर्श की ओर अग्रसर अथवा आदर्शनिष्ठ स्वरूप का प्रदर्शन है।

अभिनय के सम्बन्ध में पाश्चात्य धारणा भी आरम्भ में कुछ इसी प्रकार की थी। अरस्तू ने केवल नाटक को ही नहीं, वरन् सभी कलाओं को अनुकृति मूलक कहा है। लेकिन जब वे अनुकरण के व्यापार की एक कला-सिद्धान्त के रूप में विवेचना करने लगते हैं तो आदर्श के प्रति उनकी निष्ठा उजागर हो जाती है। अपने इसी आदर्शनिष्ठ दृष्टिकोण को लेकर उन्होंने दुःखान्त रचनाओं को मानव स्वरूप के उत्कृष्ट रूप के और भी सम्भाव्य उत्कृष्ट रूप की अनुकृति माना है। यह सही है कि दुखान्त रचनाएँ हमारे मन में जीवन के त्रासद स्वरूप का चित्रण करती हैं; लेकिन अरस्तू के अनुसार उसका उद्देश्य सामाजिकों के मन से भय और करुणा के आवेगों के अनावश्यक स्वरूपों को निकालकर निर्विकार आनन्द प्रदान करना होता है। कॉमुदी रचनाएँ मानव-चरित्र के निकृष्ट स्वरूप के सम्भाव्य और भी निकृष्ट स्वरूप का चित्रण करती हैं; लेकिन उनका उद्देश्य व्यक्ति का, समाज का, लोक जीवन का संस्कार अर्थात् अच्छा बनाना होता है। अरस्तू ने स्पष्ट कहा है कि कला उन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्देश्यों का अनुकरण है, जिनकी ओर विश्व–प्रकृति बढ़ रही है। अनुकरण से अरस्तू का भी आशय इस प्रकार है : कला जगत् में जीवन के आदर्श स्वरूप को उतारने के लिए है। पश्चिम में विशेष रूप से अरस्तू की अवधारणा अभिनय के माध्यम से जीवन के आदर्श स्वरूप की ओर ले जाने की है।

भारतीय आचार्यों ने 'अभिनय' शब्द की रचना–प्रक्रिया पर विचार करते हुए भी उससे इसी अभिप्राय की सिद्धि मानी जाती है। नाट्यकला का यह पारिभाषिक शब्द, 'अभि' उपसर्ग, 'नी' धातु और 'अच', प्रत्यय को लेकर बना है। पूरे शब्द का अर्थ बनता है, वह व्यापार जो हमें एक विशेष दिशा में ले जाता है, और हम उसके साथ चल भी देते हैं। अभिनय से तात्पर्य इस प्रकार उस व्यापार से है, जो हमें अपने चारों ओर के संसार से निकालकर रंगमंच पर बन रहे कलात्मक संसार में पहुँचा देता है। रंगमंच पर अभिनय कौशल से जो कुछ होता है, हमें लगता है कि वह सब हमारी आँखों के आगे हो रहा है; और हम न केवल उसे देख रहे हैं, वरन् हमें उसका अनुभव भी हो रहा है।

भारतीय आचार्यों ने अभिनय के मूलतः चार प्रकार यथा : वाचिक, आंगिक, आहार्य और सात्विक माने हैं। वाचिक अभिनय से आशय वाणी के प्रभावपूर्ण प्रदर्शन से है। वाणी का यह कौशल रंगमञ्च पर अभिनेताओं द्वारा अपनी–अपनी भूमिका के चरित्रों के संवादों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इन संवादों के साथ यह भी जरूरी होता है कि शब्दों में जो कुछ कहा जा रहा है, हमारे मुख की मुद्रा, आँखों की भंगिमा और शरीर के अन्य अंगों की चेष्टाएँ, उसका समर्थन करें। शरीर के इन सभी अंगों की चेष्टाओं को आंगिक अभिनय कहा गया है। अभिनेता को मूलचरित्र की भूमिका ग्रहण करनी होती है और उसके लिए यह जरूरी होता है कि वह उस चरित्र की रूपरेखा तथा वेश–भूषा में प्रकट हो। इस रूप–रचना और वेश–भूषा के धारण को 'आहार्य अभिनय' की संज्ञा दी गयी है। सामान्य जीवन में बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप कुछ चेष्टाएँ हम कोशिश के साथ करते हैं; और कुछ मन की प्रेरणा से बिना किसी कोशिश के ही हो जाती हैं। अभिनेता द्वारा रंगमंच पर मन की प्रेरणा से जो चेष्टाएँ सहज रूप में देखने को मिलती हैं, उन्हें सात्विक अभिनय नाम दिया गया है। भरत ने जब अभिनय के इन चारों प्रकारों की विवेचना कर दी, तो उन्हें लगा कि इन सभी में परस्पर सामञ्जस्य भी तो होना चाहिए। तभी उन्होंने सभी अभिनयों के मिले–जुले रूप सामान्य अभिनय की विवेचना की। उसके बाद उन्हें लगा कि यह मिला–जुला अभिनय दर्शनीय अर्थात चित्रोपम होना चाहिए। इसी दृष्टि से आगे चलकर उन्होंने चित्राभिनय का विधान किया, और फिर उसकी व्याख्या उपस्थित की।

अभिनव गुप्त भरत के 'नाट्यशास्त्र' पर 'अभिनव भारती' और आनन्द वर्धन के 'ध्वन्यालोक' पर टीकाओं के रचयिता अभिनव गुप्त तंत्रविद्या और कौल दर्शन के भी समर्थ व्याख्याता रहे। काश्मीर के शैवाद्वैत सिद्धान्त और प्रत्यभिज्ञा दर्शन का तो उन्हें मूर्द्धन्य विद्वान् कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आधार पर ही उन्होंने भरत के प्रसिद्ध रस–सूत्र, 'विभावानुभाव संचारिन् संयोगाद्रस निष्पात्तिः'. की बड़ी विलक्षण व्याख्या उपस्थित की है।

बहुमुखी अध्ययन और अनुशीलन के धनी अभिनव गुप्त को सामान्यतः काश्मीर का कह दिया जाता है, लेकिन उनके सम्बन्ध में इधर जो प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध हुई है, उससें यह ज्ञात हुआ है कि उनके पूर्वज, कान्यकुब्ज (अब कन्नौज) के निकट, अन्तर्वेद के निवासी थे। उनके जीवन काल के लगभग २०० वर्ष पूर्व काश्मीर के महाराज यशोवर्मा ने इनके पूर्वज अत्रिगुप्त के पाण्डित्य की प्रशंसा सुनकर, उन्हें अपने यहाँ ससम्मान निमंत्रित किया था। उन्होंने अत्रिगुप्त को वितस्ता (व्यास) के तट पर एक भव्य भवन में बसाया था और भरण–पोषण के लिए एक जागीर भी प्रदान की थी। उन्हीं के वंश में आगे चलकर वराह गुप्त हुए, जो अभिनव के पितामह थे। वराह गुप्त के दो पुत्र हुए नरसिंह गुप्त और वामन गुप्त। अभिनव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुप्त, नरसिंह गुप्त के सुपुत्र थे। इनकी माता का नाम विमलकला था। यह पूरा परिवार शिवभक्त था और आगम तथा शास्त्र पर उसका अच्छा अधिकार था। इनकी माता का निधन बाल्यकाल में ही हो गया था और उसके बाद उनके पिता संसार की अनित्यता से विक्षुब्ध होकर घर छोड़कर चले गये थे। अभिनव गुप्त के जीवन में उसके बाद बड़ी ही अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी; लेकिन अपनी स्वाध्याय की वृत्ति से उन्होंने अपने को सँभाल लिया था।

अभिनव गुप्त में ज्ञान की असीम पिपासा थी, और वे सभी प्रकार के विषयों पर अधिकार करना चाहते थे। उनके पिता ने उन्हें व्याकरणशास्त्र की शिक्षा दी थी। उसके बाद उन्होंने शंभुनाथ से तंत्रशास्त्र, भूतिनाथ तनय से शैवाद्वैत सिद्धान्त, लक्ष्मण गुप्त से प्रत्यभिज्ञा दर्शन, त्रिक तथा क्रम, भट्टेन्दुराज से ध्वनि सिद्धान्त, भूतिराज से ब्रह्म–विद्या तथा भट्टतौत से नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया था। इनके अतिरिक्त उन्होंने अपने १३ और गुरुओं के नाम लिये हैं। ज्ञान–लाभ के लिए उन्होंने जालन्धर की भी यात्रा की थी और वहाँ कौलाचार्य शम्भुनाथ से उनकी साधना पद्धति सीखी थी। उन्होंने लिखा है कि इसी साधना–पद्धति से उन्हें मनः शान्ति और सिद्धि का लाभ हुआ था।

अभिनव गुप्त के लिखे ग्रन्थों की संख्या पचास के ऊपर बतायी जाती है; लेकिन वे सभी उपलब्ध नहीं हैं। अपने सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना उन्होंने अपने काव्य–शास्त्र के अध्ययन को लेकर की थी। इनमें उनका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भरत के 'नाट्यशास्त्र' की टीका 'अभिनव भारती' को माना जाता हैं। अपने इस ग्रन्थ में उन्होंने अपने पूर्व के 'नाट्यशास्त्र' के अनेक व्याख्याकारों का उल्लेख किया है। उन्होंने भरत के 'नाट्यशास्त्र' पर उद्भट, भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, मातृगुप्ताचार्य, वार्त्तिककार हर्ष, शकलीगर्भ और भट्टतौत के विचारों का, उनकी समीक्षा के साथ उल्लेख किया है। आज यह सारी सामग्री प्राप्त नहीं है। अधिकांश में उन्हीं के आधार पर आलोचकों ने इन विद्वानों के कार्य की चर्चा की है।

अभिनव गुप्त ने इसके अतिरिक्त, आनन्द वर्धन के 'ध्वन्यालोचन' की बड़ी विस्तृत टीका उपस्थित की है। ध्वनि सिद्धान्त वस्तुतः भारतीय काव्यशास्त्र का सबसे अधिक जटिल सिद्धान्त है। अभिनव गुप्त ने जो उसकी विवेचना की है, उससे उसे समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। उन्होंने अपने गुरु भट्टतौत के ग्रन्थ 'काव्यकौतुक' की भी बड़ी विस्तृत समीक्षा उपस्थित की थी; लेकिन आज न तो मूल ग्रन्थ और न उसकी टीका ही उपलब्ध है। 'अभिनव भारती' में भट्टतौत की तीन सूक्तियाँ अवतरित हैं। उनमें से एक 'कवये नायके श्रोतुः समानो अनुभवस्तया' है, जिसमें काव्यानुशीलन से कवि, नायक और सामाजिक के समान भावभूमि में पहुँचने की बात कही गयी है। काव्य–पाठ अथवा नाट्य–दर्शन के अनुभव का इससे अच्छा कोई और सूत्रबद्ध निरूपण उपलब्ध नहीं है।

अभिनव गुप्त के ग्रन्थों में इसके बाद उनकी दार्शनिक रचनाएँ आती हैं; यथा 'भगवद्गीतार्थ संग्रह', 'परमार्थसार', 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्षिरगी' तथा 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृत्ति विमर्षिरगी'। अन्तिम दोनों ग्रन्थ उत्पलाचार्य द्वारा लिखित 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा की' व्याख्याएँ हैं। पहले ग्रन्थ में तो, मूल ग्रन्थ की केवल कारिकाओं की ही विवेचना की गयी है। कालान्तर में उत्पल ने स्वयं अपने उपयोग के लिए विवृत्ति लिखी थी : दूसरा ग्रन्थ उसी विवृत्ति की विवेचना है। पहले ग्रन्थ में चार सहस्र श्लोक हैं अतः उसे 'चतुः–सहस्री' और दूसरे में अट्ठारह हजार श्लोक हैं इसलिए उसे 'अष्टादश–सहस्री' कहा जाता है। इन दोनों टीकाओं के नाम, उनके आकार के आधार पर 'लघवी' और 'वृहती' भी प्रचलित हैं।

अभिनव गुप्त के ग्रन्थों की तीसरी श्रेणी में उनकी तंत्र–विद्या पर लिखी रचनाएँ आती हैं; यथा 'बोधपंचालिका', 'मालिनी विजय', 'परात्रिशिका विवरण', 'तंत्रालोक', 'तंत्रसार', 'तंत्रोच्चय' तथा 'तंत्रवटधानिका'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनमें 'तंत्रालोक' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है और उसे तंत्र–विद्या का विश्वकोश कहा जाता है। इस विशाल ग्रन्थ में ३७ परिच्छेद हैं और उनमें जन्म–मरण के बन्धन के कारणों, परमार्थ साधना के उपायों, मोक्ष के विभिन्न साधनों, उसके विभिन्न स्वरूपों, शैवाचार की विभिन्न प्रक्रियाओं का निरूपण किया गया है। इसके बाद लिखे गये अपने तीन ग्रन्थों में उन्होंने अपने विचारों को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है।

अभिनव गुप्त बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे, इसीलिए उनके अध्ययन में भी बड़ी विविधता देखने को मिलती है। तंत्र–विद्या, शैवाद्वैत दर्शन और काव्यशास्त्र, जिन तीन क्षेत्रों में उन्होंने कार्य किया है, उन तीनों के ही विशेषज्ञ उन्हें, अपने–अपने क्षेत्र का मूर्द्धन्य विद्वान् मानते हैं। उनके ग्रन्थों के सम्यक् अनुशीलन के आधार पर यह स्वीकार किया जाता है कि वे साधनाजगत् के जटिलतम रहस्यों के ज्ञाता ही नहीं; वरन् उनके कुशल साधक भी रहे थे।

अभियांत्रिकी विज्ञान की उपलब्धियों के आधार पर मनुष्य को सुख–सुविधा प्रदान करने के लिए विकसित तकनीकी पद्धतियों को अभियांत्रिकी कहा जाता है।

पश्चिम में विज्ञान की इन प्रयोगात्मक शाखाओं का विकास सन् १७६० में वाष्प इंजन के निर्माण से माना जाता है; लेकिन आज तो जीवन यापन की प्रत्येक प्रक्रिया किसी न किसी अभियांत्रिकी पर ही निर्भर है। हम जो पानी पीते हैं, जो भोजन करते हैं, जो कपड़े पहनते हैं, जिन भवनों में रहते हैं, जिन सड़कों पर चलते हैं, जिन साइकिलों, स्कूटरों, मोटर साइकिलों, कार, बस, रेलगाड़ी, जलयान, वायुयान आदि पर यात्रा करते हैं, वे सभी किसी न किसी प्रकार की अभियांत्रिकी के आधार पर ही सम्भव होते हैं। हमारे घरों की बिजली, चूल्हे की गैस, गाड़ियों के लिए तेल आदि सभी अभियांत्रिकी पर निर्भर हैं। रेडियो, टेलीविज़न, सिनेमा आदि मनोरंजन के सभी साधन भी अभियांत्रिकी से जुड़े हुए हैं। अभियांत्रिकी इस प्रकार हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में छा गयी है और उसके अनेक प्रकार विकसित हो गये हैं।

अभियांत्रिकी की मूलतः चार शाखाएँ विकसित हुईं थीं– नागर, यांत्रिक, विद्युत और रसायन। इन्हीं से फिर धातु, नाभिकी, आणविक आदि शाखाओं का विकास हुआ। इधर सञ्चार माध्यमों को लेकर अभियांत्रिकी के एक विशेष रूप का विकास हुआ है। कम्प्यूटर का अपना अलग विज्ञान है। खाना कपड़ा, तेल आदि को लेकर अलग–अलग प्रकार की अभियांत्रिकियाँ प्रचलित हुई हैं। पर्यावरण की सुरक्षा को लेकर भी एक नयी अभियांत्रिकी का जन्म हुआ है।

सामान्यतः यह कह दिया जाता है कि अभियांत्रिकी के ये विभिन्न रूप पश्चिम में ज्ञान–विज्ञान के विकास से सम्भव हुए; लेकिन अगर गम्भीर और व्यापक दृष्टि से देखा जाये तो विश्व के पूर्वी देशों में इनसे पहले भी अभियांत्रिकी की अनेक शाखाओं का विकास हुआ था। भारत में ही वास्तु–अभियांत्रिकी का आविर्भाव आदिम युग में ईस्वी सन् की कई शताब्दियों पहले हो गया था। भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में वास्तु–अभियांत्रिकी का नाट्य–मंडप निर्माण के संदर्भ में बड़ा ही विस्तृत निरूपण किया है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई में भवनों की जो विस्तृत शृंखला मिली है, वह सिद्ध करती है कि नागर अभियांत्रिकी का भारत में बहुत पहले विकास हो गया था। इतिहास कहता है कि आन्ध्र प्रदेश के समुद्र तट पर जहाँ आज विशाखापट्टनम है, वहाँ पानी के जहाजों का निर्माण बहुत पहले हुआ करता था। दिल्ली में कुतुबमीनार के पास जो लौह–स्तम्भ है, वह सिद्ध करता है कि भारत में धातु अभियांत्रिकी भी पर्याप्त विकसित हुई थी। भारत में कपड़ा उद्योग भी बड़ा समृद्ध था। ढाका के मलमल की बारीकी की पाश्चात्य देशों में भी जो प्रसिद्धि थी, वह सिद्ध करती है कि वस्त्र अभियांत्रिकी भी हमारे यहाँ पर्याप्त विकसित हुई थी। आयुर्वेद में औषधि निर्माण में जिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपकरणों और विधियों का प्रयोग किया जाता है, आज के रसायन में भी उनका प्रचलन है। मिस्र में जो विशाल पिरामिड मिले हैं, वे सिद्ध करते हैं कि वहाँ भी नागर अभियांत्रिकी का बड़े ही आदिकाल में सूत्रपात् हो गया था। छापे की तकनीक के बारे में तो विश्व प्रसिद्ध है कि वह चीन से पश्चिम को गयी थी।

आधुनिक भारत में अभियांत्रिकी के मूलभूत रूपों के प्रशिक्षण की व्यवस्था, सर्वप्रथम रुड़की में 'थामसन इंजीनियरिंग कॉलेज' की १६ अक्टूबर, १८४७ में स्थापना के साथ हुई थी। अनेक दशकों तक वह भारत का ही नहीं; वरन् सम्पूर्ण एशिया का सर्वोत्कृष्ट अभियांत्रिकी संस्थान रहा है। आज वह विश्वविद्यालय से ऊपर उठकर भारतीय तकनीकी संस्थान (आई०आई०टी०) के रूप में प्रतिष्ठित है। उसके बाद बिड़ला ने पिलानी (राजस्थान) में अभियांत्रिकी संस्थान की स्थापना की। सन् १९६५ में कानपुर, दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई (मद्रास), खड़गपुर और राँची में बड़े राष्ट्रीय स्तर के अभियांत्रिक संस्थान स्थापित किये गये। अब तो देश के लगभग सभी प्रदेशों के अपने अलग-अलग अभियांत्रिकी महाविद्यालय हैं। इधर कुछ वर्षों में निजी क्षेत्र में अनेक छोटे-बड़े अभियांत्रिकी विद्यालय तथा महाविद्यालय बने हैं। संचार अभियांत्रिकी के क्षेत्र में भी भारत बहुत आगे बढ़ गया है। हैदराबाद, बंगलौर, मुम्बई, दिल्ली आदि महानगरों में उसे और विस्तृत करने की योजनाएँ चलायी जा रही हैं।

अभिरंजित काँच साधारणतः यह वही काँच होता है, जो खिड़कियों में लगाया जाता है, विशेषकर जब विविध रंगों के काँच के टुकड़ों को जोड़कर कोई आकृति या चित्र प्रस्तुत किया जाता है। प्राचीन समय में यूरोप के गिरजाघरों में बहुमूल्य अभिरंजित काँच लगाये जाते थे, जिन्हें विभिन्न स्थानों पर आज भी यथावत् सुरक्षित रखा गया है। अभिरंजित काँच का उपयोग प्रायः ऐसी खिड़कियों में होता है जो खुलती नहीं, केवल प्रकाश आने के लिए लगायी जाती हैं। गिरजाघरों में, छोटे-बड़े भवनों में भी अभिरंजित काँच केवल प्रकाश आने के लिए दीवारों या खिड़कियों में लगाये गये हैं। गिरजाघरों में इन काँचों पर अधिकतर ईसाई धर्म से सम्बन्धित चित्र अंकित रहते हैं तथा इन काँचों से होकर जो प्रकाश अन्दर आता है उससे शान्ति और धार्मिक वातावरण उत्पन्न होने में कुछ सहायता मिलती है।

अभिरंजित काँच के निर्माण में तीन प्रकार के काँच प्रयोग में लाये जाते हैं—

१. काँच जो द्रवण के समय ही सर्वत्र रंगीन हो जाता है।
२. इनेमल द्वारा पृष्ठ पर रंगा काँच।
३. रजत, लवण द्वारा पीला रंगा काँच।

अभिरंजित काँच का सर्वप्रथम कहाँ और कब निर्माण हुआ, स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। सम्भावना यह है कि अभिरंजित काँच का आविष्कार भी काँच के साथ ही पश्चिमी एशिया और मिस्र में हुआ। इस कला का विस्तार तथा उन्नति बारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर चौदहवीं शताब्दी में शिखर पर पहुँची। १६वीं शताब्दी के अन्त में इस कला का ह्रास आरम्भ हुआ और धीरे-धीरे यह कला लुप्तप्राय हो गयी।

आरम्भ में उपयुक्त रंगीन काँच के टुकड़े एक नक्शे के अनुसार काट लिये जाते हैं और चौरस सतह पर उन्हें नक्शे के अनुरूप रखा जाता है। फिर जोड़ की रेखाओं में द्रवित सीसा-धातु भर दी जाती है। इस प्रकार विभिन्न टुकड़े एक दूसरे से जुड़कर एक पट्टिका में परिवर्तित हो जाते हैं।

यदि किसी रंग विशेष का काँच उपलब्ध नहीं रहता तो काँच पर इनेमल लगाकर और फिर काँच को गरम करके अनेक प्रकार का रंगा काँच अथवा चित्रकारी उत्पन्न की जाती है। इनेमल लगाने की क्रिया एक से अधिक बार भी की जा सकती है और इस प्रकार रंग को किसी स्थान पर गहरा किया जा सकता है अथवा उस पर दूसरा रंग चढ़ाकर उसका रंग बदला जा सकता है।

रंग-रहित काँच पर रजत, लवण का लेप लगाकर उसको गरम करने से काँच की सतह पीली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से नारंगी रंग तक की हो जाती है। यह रंग स्थायी होने के साथ अति आकर्षक होता है। इस प्रकार के काँच को भी अभिरंजित काँच और इस क्रिया को 'पीत अभिरंजकी' कहा जाता है। नीले काँच पर यह क्रिया करने से काँच हरे रंग का दिखाई पड़ता है।

अभिलेख किसी ऐसे लेख को, जो किसी विशेष महत्त्व के कार्य के लिए लिखा गया हो अथवा किसी विशेष अवसर पर लिखा गया हो, उसे अभिलेख कहते हैं। विज्ञप्ति, राज्यादेश, स्मृति, ऐतिहासिक तथ्यों आदि को अधिक समय तक सुरक्षित रखने के लिए प्रस्तर, धातु अथवा किसी अन्य कठोर वस्तु पर उत्कीर्ण किये गये लेखों की गणना प्रायः अभिलेख के अन्तर्गत की जाती है। कठोर पत्तरों पर लोहे की सलाई से खोदे गये लेख भी अभिलेख कहे जा सकते हैं।

अभिलेख की पहचान उसके महत्त्व तथा स्थायित्व से होती है। अभिलेख सामग्री के रूप में पत्थर, धातु, ईंट, मिट्टी की पट्टी, लकड़ी का पट्ट, ताड़पत्र, कपड़ा, कागज आदि का उपयोग होता रहा है। गुफाओं और मन्दिरों की दीवारों, स्तम्भ, शिलाखण्ड, मूर्तियों की पीठ आदि पर भी अभिलेख खोदे जाते रहे हैं। खुदाई करने के लिए रुखानी, छेनी, नोकीले हथौड़े, लौह–शलाका आदि का उपयोग किया गया है। अभिलेख, व्यापारिक, जादू–टोने से सम्बन्धित, धार्मिक, उपदेशात्मक, दान सम्बन्धी, प्रशासकीय, प्रशस्ति परक, स्मारक, साहित्यिक आदि विषयों से सम्बन्धित होते थे।

अभिलेखागार जो संस्थाएँ व्यक्तिगत, सार्वजनिक, राजकीय तथा महत्त्वपूर्ण संस्थाओं के अत्यधिक महत्त्व के अभिलेखों, मानचित्रों, दस्तावेजों तथा पुस्तकों आदि को व्यवस्थित तथा संरक्षित रखने का कार्य करती हैं, ऐसे भण्डार, अभिलेखागार कहलाते हैं। अभिलेखागार राज्यों, नगरों की संस्थाओं के द्वारा अथवा विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा सुरक्षित भवनों में स्थापित किये जाते रहे हैं। अभिलेखागारों की एक सुनियोजित व्यवस्था होती है। ईसा से पूर्व शताब्दी में असुर बनिपाल ने लाखों ईंटों पर कीलनुमा वस्तु से खुदे हुए अभिलेखों को एकत्र करके अभिलेखागार स्थापित किया था। इंग्लैण्ड और ब्रिटिश राष्ट्र संघ में अभिलेखों तथा अभिलेखागारों का लाक्षणिक नाम 'रेकॉर्ड' तथा 'रेकार्ड ऑफिस' है।

अभिलेखागार (राष्ट्रीय) स्वतंत्रता के बाद भारत में राष्ट्रीय अभिलेखागार स्थापित हुआ। इसका पुराना नाम 'इम्पीरियल रेकॉर्ड डिपार्टमेन्ट' था। यह अभिलेखागार नयी दिल्ली के जनपथ तथा राजपथ के चौक के दक्षिण पूर्व के कोने पर लाल और सफेद पत्थर के विशाल भवन में स्थित है। यहाँ प्रकृति, वातावरण, क्षयकारी कीटों, नमी, फफूँदी आदि से अभिलेखों की सुरक्षा के लिए आधुनिक वैज्ञानिक तकनीकों को काम में लाया जाता है। अभिलेखागार की प्रयोगशाला विभिन्न स्याहियों के नमूनों तथा अस्थायी सामग्री की जाँच करके उन्हें इस प्रकार उपचारित करती है जिससे वे अधिक से अधिक दीर्घजीवी हो सकें। यहाँ समय–समय पर वायुशोधन तथा धूमन किया जाता है। अभिलेखागार की प्रयोगशाला में विभिन्न स्याहियों तथा सामग्रियों को उपचारित करके दीर्घजीवी बनाने का काम किया जाता है।

शोधकर्त्ता यहाँ बैठकर इतिहास, राज्य, देश तथा अन्य महत्त्वपूर्ण सामग्री देख सकते हैं तथा पढ़ सकते हैं। विभिन्न विभागों के ऐसे महत्त्वपूर्ण अभिलेख, जो वर्तमान में विशेष महत्त्व के नहीं होते, यहाँ संरक्षण के लिए भेजे जाते हैं। यहाँ अत्यधिक महत्त्व के तथा ऐसे अभिलेख जिनके क्षय होने का भय होता है, उनकी माईक्रो फिल्म बना ली जाती है।

अभिव्यंजनावाद (१) इस पारिभाषिक शब्द का प्रयोग सन् १६०१ में सर्वप्रथम जर्मनी के आगस्ट हार्वे ने अपने चित्रांकनों के लिए किया था। कला–जगत् में उस समय तक प्रभाववाद की प्रतिष्ठा थी, जिसमें कलाकार बाह्यजगत् के अपने मन पर पड़े हुए विभिन्न प्रभावों का चित्रण करते थे। हार्वे ने इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्द का प्रयोग उस कला–दृष्टि के लिए किया था, जिससे इस चारों ओर के जगत् के यथार्थ को मानस–चक्षुओं से देखकर, उसे प्रदर्शित किया जाता है। कालान्तर में यह कला–दृष्टि अन्य ललित–कलाओं एवं साहित्य में भी अपनायी गयी।

सन् १९०१ के लगभग अभिव्यंजनावाद ने जर्मन नाटककारों जॉर्ज कैसर और अनेर्स्ट टालर की रचनाओं में नया स्वरूप ग्रहण किया। इन नाटककारों की रचनाओं में हम अभिजात सामाजिक व्यवस्था की यांत्रिकता के प्रति विद्रोह की भावना देखते हैं। उनके बाद के जर्मन नाटककारों की रचनाओं में परिवार के बुजुर्गों के प्रति विरोध की भावना का प्रदर्शन देखने को मिलता है। ये नाटककार मूलतः कवि थे और बड़ी ही काव्यात्मक भाषा का प्रयोग करते थे। उनकी रचनाओं की भाषिक संरचना बड़ी ही वैयक्तिक हुआ करती थी। नाटककार का ध्यान केंद्रीय चरित्र अर्थात् नायक पर अवस्थित होता था, और उसी के माध्यम से वह अपने चारों ओर के समाज के प्रति अपने विद्रोहशील विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान करता था। नार्वे के आगस्ट स्ट्रिण्डबर्ग को अभिव्यंजनावाद के इस स्वरूप का पूर्वप्रवर्त्तक कहा गया है।

जर्मनी के नाटककारों में इस आन्दोलन को आगे बढ़ाने वालों में, रेनहार्ट, जोहन, सॉर्जे, वाल्टर हेसेनक्लेवर, अर्नेस्ट वार्लक आदि के नाम लिये जाते हैं। इन नाटककारों ने अपनी रचनाओं में अपनी मानसिक अनुभूतियों को वास्तविक जीवन के विचारों के प्रायः विद्रूप विम्बों में बड़ी ही अस्वाभाविक भाषा में प्रस्तुत किया था। काव्य–आत्मा से अनुप्राणित होने के कारण, यदा–कदा उन्होंने गीतों का भी प्रयोग किया है। इस आन्दोलन की रचनाएँ अपनी विषय–वस्तु और रूपविधान, दोनों में ही बड़ी विद्रोहशील थीं। उनके नाटकों का नायक सामान्यतः बड़ी ही विद्रोही प्रकृति का होता था, और वह अभिजात समाज की मान्यताओं के प्रति अपना प्रबल विरोध प्रकट करता था। यह नाटकीय संघर्ष संवादों की अपेक्षा, चाक्षुष–विम्बों के सहारे उपस्थित किया जाता था। इस आन्दोलन ने नये लेखकों को विशेष रूप से प्रभावित किया था, जो कि यथार्थता के निष्ठा के साथ चित्रण का विरोध करते हुए, प्रचलित परिपाटियों के उल्लंघन में रुचि लेते थे।

अभिव्यंजनावाद के इस नाट्य–दर्शन का प्रभाव संयुक्त राज्य अमेरिका के नाटककारों में भी दिखायी देता है। एल्मर राइस की रचना 'दि एडिंग मशीन' इसी विचारधारा का एक सशक्त उदाहरण है। इयोजीन, ओ' नील ने अपने नाटक 'दि एम्परर जोन्स' (१९२०), में अभिव्यंजनावादी दृष्टि कोण को बड़े प्रभावशाली रूप में उपस्थित किया है। इस सम्बन्ध में उनका लम्बा नाटक 'स्ट्रेन्ज इन्टरल्यूड' (१९२८) विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसमें प्रारम्भ से अन्त तक, दोहरी सम्वाद योजना हैः प्रत्येक चरित्र प्रकट रूप में कुछ कहता है और फिर मन ही मन अपनी आन्तरिक प्रतिक्रिया को वाणी देता है। अभिव्यंजना के इस विलक्षण विधान को लेकर नाट्य–जगत् की यह सबसे अनोखी रचना है। अभिव्यंजनावादी इसे इसलिए माना जाना चाहिए, क्योंकि हर चरित्र ने इसमें अपने चारों ओर के घटनाक्रम पर अपनी मानसिक प्रतिक्रिया को अभिव्यक्त किया हैः जॉर्ज हार्वे ने इसी प्रणाली को अभिव्यंजनावाद की संज्ञा दी थी।

अभिव्यंजनावाद (२) इटली के प्रसिद्ध विचारक बेनेडेटो क्रोचे (१८६६–१९२२) ने जो दार्शनिक मनीषी होने के साथ–साथ सौन्दर्यशास्त्री भी थे, अभिव्यंजनावाद का प्रयोग बिल्कुल नये ही अर्थ में किया। उनका कहना है कि मानव आत्मा के दो व्यापार हैं; सैद्धान्तिक और व्यावहारिक। सैद्धान्तिक व्यापार से वह ज्ञान–लाभ करता है; और दूसरी प्रक्रिया उसके बाहरी जीवन को निर्धारित करती है। सैद्धान्तिक व्यापार की भी उन्होंने दो प्रक्रियाएँ बतायीं, एक प्रातिभ प्रक्रिया, या अंतःस्फुरण अथवा स्वयं प्रकाश्यज्ञान; और दूसरी बौद्धिक प्रक्रिया, जिसमें चिन्तन और मनन से ज्ञान–लाभ होता है। व्यावहारिक व्यापार के भी उन्होंने दो प्रकार, आर्थिक और नैतिक बताये थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने प्रातिभ प्रक्रिया को विभिन्न कलाओं का जनक माना है। उन्होंने कला–सृजन की प्रक्रिया में चार व्यापार माने हैं : (१) यह बाह्य–जगत् हमारी मनोभूमि पर अविराम प्रतिच्छायित होता रहता है; (२) उन प्रतिच्छायाओं को जो हमारे मन को रुचिकर लगती हैं; उन्हें वह अपने भावों विचारों और कल्पनाओं से अभिरंजित कर देना आरम्भ कर देता है, (३) इस अभिरंजन के द्वारा जो स्वरूप निर्मित होता है, वही अभिव्यंजना है, वही सहजज्ञान है, और वही वास्तविक कला भी है; (४) उस वास्तविक कला–सृष्टि को जब शब्दों, रेखाओं, रंगों, पेरिस–प्लास्टर आदि से बाहर प्रस्तुत किया जाता है और जिसे सामान्यतः कला–कृति समझा जाता है, वह वास्तव में कला–कृति नहीं है, वरन् आन्तरिक कला–कृति का बाहरी प्रदर्शन मात्र है।

क्रोचे ने अपना यह अभिनव कला–दर्शन अपने ग्रन्थ 'एस्थेटिक्स' (सौन्दर्यशास्त्र) और फिर अपनी चारखण्डीय रचना 'फिलासफी ऑफ़ दि माइण्ड ' (मनः दर्शन) में बड़े विस्तार के साथ उपस्थित किया है। उन्हें मूलतः सौन्दर्यवादी माना जाता है। उनका कहना है कि प्रायः हम सभी कलाकार होते हैं; क्योंकि हम सभी का मन बाहरी जगत् के आचार–व्यवहार का प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है, और फिर उसे अपनी भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं से अनुरंजित करके, उसे नया रूप देता है। यह नया–रूप ही अभिव्यंजना है। यही वास्तविक कला–कृति है, और जो अपने में सुन्दर भी होती है। हममें से कोई–कोई ही ऐसे होते हैं, जो उस आंतरिक कलाकृति को बाहरी साधनों के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि बाहरी अभिव्यञ्जना को वास्तविक कलाकृति नहीं माना जाना चाहिए।

क्रोचे ने 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में भी अपने इस कला–सिद्धान्त की विवेचना की है। उन्होंने लिखा है– 'अनुभूति पूर्णतः बिम्बों में परिवर्त्तित हो जाती है; बिम्बों में संश्लिष्ट होकर यह स्वयं अपने को अतिक्रमित कर जाती है।' उन्होंने इसी को प्रातिभ प्रक्रिया से प्रसूत सहजानुभूति, अभिव्यंजना और वास्तविक कलाकृति कहा है, जो निश्चयात्मक रूप से सुन्दर भी होती है। उन्होंने यह भी कहा है कि आन्तरिक अभिव्यंजना अखण्ड, अविभाज्य और एकतान होती है। उस आन्तरिक अभिव्यंजना को सर्गों में, अध्यायों में, अनेक प्रकार के दृश्यों में, विभिन्न विधाओं में भी नहीं बाँटा जा सकता। उनके अनुसार कला इस प्रकार एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है और किसी बाहरी मानदण्ड के आधार पर उसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। लेकिन वह जब विभिन्न साधनों के माध्यम से बाहर रूप ग्रहण करती है, तो उसके मूल्यांकन के लिए हमें बाहरी आदर्श अपनाने ही होंगे।

अभिषेक सामान्य अर्थ जल छिड़कना, स्नान करना आदि। विशिष्ट अर्थ में भारतवर्ष में यह प्राचीन काल से एक धार्मिक संस्कार रहा है। राजतिलक के समय अथवा सिंहासन पर बैठने के पुण्य–अवसर पर राजपुरुष को स्वदेश की अनेक नदियों के जल से अभिषिक्त, अर्थात् नहलाया जाता था। राज्याभिषेक के अवसर पर भी इसी प्रकार का अभिषेक होता था। सम्भवतः इसीलिए सिंहासनारोहण को राज्याभिषेक की संज्ञा दे दी गयी थी।

अभिषेक का यह धार्मिक संस्कार धार्मिक पुरुषों तथा उनकी मूर्त्तियों के साथ भी संपन्न होता था। यह परम्परा आज तक चली आयी है। कर्नाटक में जैनियों के २४वें तीर्थंकर महावीर के सुपुत्र बाहुवली की जो विशाल मूर्त्ति मिली है, उसका प्रतिवर्ष विशेष अवसर पर मस्तकाभिषेक होता है।

बौद्ध धर्म के तांत्रिक संप्रदाय में भी अभिषेक का यह संस्कार प्रचलित है। इस सम्प्रदाय में धार्मिक दृष्टि से विशेष दीक्षा देते समय अभिषेक की प्रक्रिया सम्पन्न होती है; उसके बाद ही उस व्यक्ति विशेष को तांत्रिक–साधना के रहस्यमय पथ पर आगे बढ़ने का अधिकार मिलता है।

वैष्णव तथा शैव मतानुयायी प्राण–प्रतिष्ठित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूर्त्ति का अभिषेक प्रतिदिन करते हैं। प्रतिष्ठित मूर्त्ति की पूजा में भी स्नान अथवा अभिषेक का विधान है।

अमरकोश संस्कृत का सर्वाधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय शब्दकोश। संस्कृत के प्राचीन शब्दकोश प्रायः छन्दोबद्ध हैं। सम्भवतः छन्द का यह विधान इसलिए अपनाया जाता था कि उसे सरलता से कण्ठस्थ किया जा सकता है, और फिर उसे सरलता से याद भी रखा जा सकता है। 'हलायुध' और धनंजय के शब्दकोश इसीलिए छन्द के विधान में हैं; और अमरसिंह ने भी यही विधा अपनायी है।

अमरसिंह ने अपने शब्दकोश को 'नामलिंगानुशासन' नाम दिया है, 'अमरकोश' संज्ञा तो उसे विद्वत् परम्परा से मिली है। वह वस्तुतः नामों का संकलन है, जिन्हें लिंग के अनुशासन में उपस्थित किया गया है। 'हलायुध'–कार ने अपने ग्रन्थ को 'कविकण्ठविभूषणार्थम् रचित' कहा है। इसी प्रकार धनञ्जय ने भी अपने कोश को 'कवीनां हितकाम्यया' लिखा है। अमरसिंह ने भी सम्भवतः इसी दृष्टिकोण से अपने इस ग्रन्थ की रचना की होगी।

अमरसिंह ने अपने इस शब्दकोश में प्रचलित संज्ञाओं के साथ अप्रचलित, असाधारण संज्ञाओं का भी संकलन किया है, यथा 'देवद्रयंग', 'विश्वद्रयंग' आदि। उन्होंने अपने समय में प्रचलित कुछ प्राकृत संज्ञाओं को भी सम्मिलित कर लिया है, जैसे क्षुरिका, ढक्का, गर्गरी आदि। 'मेदिनी', 'हलायुध' कोशों में शब्दों की संख्या क्रमशः चार हज़ार और आठ हज़ार ही है, लेकिन 'अमरकोश' में दस हज़ार संज्ञाएँ हैं। इसीलिए इसे अधिक उपयोगी माना जाता है। मध्यकालीन कृष्णभक्त कवि नन्ददास ने 'अमरकोश' का अनुसरण करते हुए अपने 'नाममाला' शब्दकोश की रचना की थी।

अमरकण्टक मध्य प्रदेश का एक पहाड़ी क्षेत्र, जो सतपुड़ा पर्वत माला का एक भाग है तथा पूर्व की ओर बिहार के छोटा नागपुर तक जाता है। समुद्रतल से इसकी ऊँचाई १०६६ मीटर है। इस पठार क्षेत्र के एक विशाल कुण्ड से नर्मदा आरम्भ होती है। शोणभद्र का उद्‌गम भी इसके पास ही है। मध्य प्रदेश और बिहार, दो भूभागों का सिञ्चन करने वाली इन नदियों का जन्मस्थल होने के कारण इसे एक तीर्थ की महिमा मिली है। इस पहाड़ी क्षेत्र में कई पुराने और नये मन्दिर हैं, जिनमें पूजा–पाठ के लिए पूरे वर्ष लाखों लोग जाते रहते हैं। इस पर्वतीय प्रदेश में अनेक छोटे–बड़े झरने भी हैं, जिन्होंने इस क्षेत्र को और भी सुरम्य बना दिया है; अतः नैसर्गिक शोभा के दर्शन के भी लिए यहाँ लोग बड़ी संख्या में जाते रहते हैं। इस क्षेत्र की जलवायु भी बड़ी मनोरम है, इसलिए स्वास्थ्य लाभ के लिए भी लोगों का यहाँ आना–जाना लगा रहता है। करवी और विलासपुर के बीच रेलमार्ग पर अमरकण्टक स्टेशन है। अधिकांश सैलानी रेलगाड़ियों से ही यहाँ आते–जाते हैं। मध्यप्रदेश शासन ने अमरकण्टक को एक पर्यटन–स्थल बनाया है।

अमर्त्य सेन अक्टूबर १४ सन् १९९८ को अर्थशास्त्र के क्षेत्र में अपने विशिष्ट योगदान के लिए नोबेल पुरस्कार से सम्मानित डॉ० अमर्त्य सेन का जन्म ३ नवम्बर सन् १९३३ को रवीन्द्रनाथ टैगोर के शान्ति निकेतन, बोलपुर (पश्चिम बंगाल) में हुआ था। उनके पिता श्री टी० ए० सेन वहाँ प्राध्यापक थे। उनकी माता थीं, श्रीमती अमिता सेन। स्वयं टैगोर ने उनका नामकरण किया था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा शान्ति निकेतन में हुई। सन् १९५३ में उन्होंने प्रेसीडेन्सी कॉलेज कलकत्ता से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। कलकत्ता विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर उपाधि लेने के बाद, वे जादवपुर विश्वविद्यालय में अध्यापक हो गये। उसके बाद वे 'दिल्ली स्कूल ऑफ़ इकॉनामिक्स' तथा 'लन्दन स्कूल ऑफ़ इकॉनामिक्स' में अध्यापक रहे। उनके अध्ययन एवं अनुशीलन की गुणवत्ता से प्रभावित होकर सन् १९६८ में उन्हें लन्दन के ट्रिनिटी कॉलेज के सर्वाधिक सम्मानित मास्टर पद पर नामित किया गया, जहाँ वे आज भी कार्यरत हैं।

प्रो० सेन अध्ययन के साथ–साथ अनुसंधान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा लेखन कार्य में भी बराबर संलग्न रहे हैं। उन्होंने वर्ष १९४३ का बंगाल का भयंकर अकाल देखा था। अकाल की पीड़ा का बोध आज भी उनके मन पर है, और उसने उनके मनन्, चिन्तन् और लेखन को विशेष रूप से प्रभावित किया है। उनका पहला शोधकार्य उसी को लेकर था,– ('च्वाइस ऑफ़ टैक्निक इन रेफरेन्स ऑफ़ पावर्टी एण्ड फेमीन्स' – (गरीबी और दुर्भिक्ष के सन्दर्भ में तकनीक का चयन)। वर्ष १९७० में उनका दूसरा ग्रन्थ 'कलेक्टिव च्वाएस एण्ड सोशल वेलफेयर' (सामूहिक विकल्प और समाज कल्याण) प्रकाशित हुआ। वर्ष १९७३ में उनकी एक और पुस्तक 'ऑन इकॉनामिक इनईक्वेलिटी' (आर्थिक असमानता पर) प्रकाश में आयी। वर्ष १९८१ में उनकी सर्वाधिक चर्चित पुस्तक 'पावर्टी एण्ड फ़ेमीन्स – एन एस्से ऑन एनटाइटिलमेन्ट एण्ड डिप्राइवेशन' (गरीबी और दुर्भिक्ष के सन्दर्भ में अधिकार और वंचना)। उसके बाद उनके अन्य ग्रन्थ हैं, 'इण्डिया–इकॉनामिक डेवलेपमेन्ट एण्ड सोशल अपार्चुनिटीज' (भारत–आर्थिक विकास और सामाजिक सुअवसर), 'रिसोर्सेज, वैल्यूज एण्ड इकॉनामिक्स' (नैतिकता और अर्थशास्त्र), 'इनईक्वेलिटी : रीकन्सिडर्ड' (विषमता पर पुनः विचार), 'हंगर एण्ड गवर्नमेन्ट एफर्ट्स' (भूख और सरकारी कार्यवाही)। प्रो० सेन ने उसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघ के लिए मनुष्य के भावी विकास की एक परियोजना भी बनायी है।

अमर्त्य सेन

डॉ० सेन में समाज के सम्भ्रान्त वर्ग की उपेक्षा और अत्याचार से पीड़ित जन–साधारण के प्रति बड़ी सहानुभूति है। बंगाल के अकाल की दुःखद परिस्थितियों का अनुशीलन करते हुए उन्होंने उसके कारणों का ही नहीं, वरन् ऐसे उपायों को भी खोजने का प्रयास किया है, जिनसे इस प्रकार की परिस्थिति फिर से उत्पन्न न हो। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि अकाल के कारण, वस्तुतः खाद्यान्न की कमी नहीं वरन् सामान्य व्यक्ति में क्रय–शक्ति का अभाव एवं वितरण की गलत प्रणाली है। प्रो० सेन इस प्रकार मात्र एक अर्थशास्त्री ही नहीं, वरन् एक समाजशास्त्री भी हैं। अपने इस द्विधा स्वरूप में समन्वय स्थापित करके वे लोक–मंगल की प्रतिष्ठा में तत्पर दिखाई देते हैं। अपनी इसी मानवतावादी अर्थदृष्टि के आधार पर उनका कहना है कि हमारा आर्थिक विकास, समृद्धि से नहीं वरन् मानव क्षमताओं के विकास से लिया जाना चाहिए। आधुनिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में उनके इस विचार को उन्हीं के नाम से 'सेन कैपेबिलिटी नोशन' अर्थात् 'सेन की क्षमता के विकास की अवधारणा' कहा जाता है।

डॉ० सेन ने आर्थिक विकास के सम्बन्ध में तीन सूत्र दिये हैं: १. आर्थिक उन्नति के साथ, जब मनुष्य की क्षमता की अभिवृद्धि होगी, तो उसकी औसत आयु में भी वृद्धि होनी चाहिए; २. उसका शिक्षा का स्तर भी ऊपर उठना चाहिए, और ३. उसकी सामाजिक क्षमताएँ भी और अधिक बढ़नी चाहिए। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जो आर्थिक विकास मनुष्य की क्षमताओं में वृद्धि नहीं करता, वह वास्तव में सच्चा आर्थिक विकास नहीं है।

भारत के वर्तमान भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में उनका कहना है कि इस दिशा में सुधार करना चाहिए। उनका आशय यह है कि भूमि का मानवीय दृष्टि से समुचित वितरण होना चाहिए और साथ ही जनसाधारण की शिक्षा व्यवस्था में भी सुधार होना चाहिए। ज्ञान–विज्ञान का अर्जन वस्तुतः सभी को सहज रूप में उपलब्ध होना चाहिए। परिवार कल्याण की योजना भी सुचारु रूप से चलायी जानी चाहिए। इस दृष्टि से जनसंख्या की वृद्धि पर नहीं, वरन् जनसंख्या की गुणवत्ता के विकास पर कार्य किया जाना चाहिए। जनस्वास्थ्य की योजनाओं पर समुचित ध्यान दिये जाने पर भी वे ज़ोर देते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० सेन ने संयुक्त राष्ट्र संघ के लिए सन् १९९५ में भावी विकास का जो कार्यक्रम बनाया था, उसमें उन्होंने यह रेखांकित किया कि मानव विकास की धारा को, यदि सचमुच सार्थक बनाना है, तो नारी शिक्षा, उसकी सामाजिक स्थिति और उसकी आर्थिक एवं राजनीतिक भागीदारी पर बल दिया जाना चाहिए।

प्रो० सेन ने अर्थशास्त्र और सामाजिक विकास के क्षेत्र में जो कार्य किया है, उसे निम्नलिखित पाँच चरणों में बाँटा जा सकता है :

१. उन्होंने गरीबी और दुर्भिक्ष के कारणों का अध्ययन करते हुए, मानवीय क्षमता के विकास पर बल दिया है और उसके लिए तकनीक के चयन का आकलन किया है।

२. दूसरे चरण में उन्होंने सामाजिक चुनाव को अपना विषय बनाया और अर्थशास्त्र को कल्याणकारी स्वरूप देने का आग्रह किया है।

३. तीसरे चरण में उन्होंने सामाजिक असमानता को दूर करके सम्पूर्ण समाज को एक साथ ऊपर उठाने के उपायों का निरूपण किया है।

४. चौथे चरण में उन्होंने अर्थशास्त्र और राजनीति दोनों ही क्षेत्रों में नैतिकता पर बल दिया है।

५. पाँचवे चरण में उनका आग्रह नारी को सम्मान देकर सामाजिक विकास में उसकी भूमिका को स्वीकार करने पर है।

डॉ० सेन ने अर्थशास्त्र के मानवतावादी स्वरूप की प्रतिष्ठा की है, जिसके आधार पर उन्हें नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया, और उसके बाद भारत आने पर उन्हें 'भारत–रत्न' की उपाधि से विभूषित किया गया।

अमरदास सिख धर्म के तीसरे गुरु। इनका जन्म अमृतसर के निकट बासर में सन् १४७६ में हुआ था। पिता का नाम तेजमान और माता सुलक्खिणी थीं। गुरु परम्परा से उन्हें यह ज्ञात हुआ था कि बाबर ने अपने आक्रमण के समय उस क्षेत्र को अपने अधिकार में ले लिया था। उन्हें यह भी ज्ञात हुआ था कि 'महाभारत' काल में वहाँ एक तीर्थस्थल था, जहाँ 'सुधासर' नाम का जलाशय था। उस ऐतिहासिक महत्त्व के पावन तीर्थस्थल पर विदेशियों और विधर्मियों का अधिकार, उन्हें बिल्कुल सहन नहीं था। गुरु पद प्राप्त करने के बाद उन्होंने संकल्प लिया कि इस क्षेत्र को वे फिर से अपने अधिकार में लेकर रहेंगे।

अमरदास जी के सम्बन्ध में यह प्रसिद्धि है कि वे युवा होने के अनन्तर, अपना काम–धन्धा, घर–घाट, बीबी–बच्चे, सब छोड़कर व्यास नदी से तीन कोस पर स्थित गुरु अंगद के आवास–स्थल पर आ गये थे। प्रतिदिन आधी रात के बाद ही वे व्यास नदी की ओर चल देते थे। व्यास में स्नान के बाद गुरु के नहाने के लिए घड़ा भर कर लाना उनका रोज का नियम था। सर्दी के दिनों में वे उस पानी को गरम भी कर देते थे। फिर लंगर के काम में जुट जाते थे। झाड़ू लगाना, बर्तन माँजना जैसे काम भी वे बड़ी रुचि के साथ करते थे। रात को गुरु के पास जाकर उनके पैर भी दबाते थे; और उनके सो जाने पर ही वहाँ से उठते थे। उनकी यह सेवा दस–बारह वर्षों से अनवरत चल रही थी।

अंगद देव जी अपने लिए एक योग्य उत्तराधिकारी की खोज कर रहे थे, तभी उन्होंने एक दिन सुना कि उनके स्नान के लिए घड़ा भरकर जल लाते–लाते उनका एक सेवक अपने आश्रम के सामने की जुलाहों की बस्ती में फिसलकर गिर गया है, गाँव वालों ने उसके गिरने की आवाज को सुनकर समझा कि कोई चोर आ गया है; लेकिन एक जुलाहिन ने जो उन्हें पहचानती थी, कहा कि यह चोर नहीं, निथामा (बेसहारा) अमरू है, जो दिन–रात गुरु की सेवा में लगा रहता है। गुरु जी ने जब यह सुना तो उन्हें लगा कि अपने बाद उन्हें उनकी गद्दी सँभालने वाला बड़ा सुयोग्य व्यक्ति मिल गया है। गुरु जी ने अमरदास के पास आने पर उन्हें अपने गले से लगा लिया और फिर यह घोषणा की कि मेरे बाद यही गुरुपद ग्रहण करेगा। उसके बाद अंगद देव जी की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज्ञा के अनुसार अमरदास जी गोइन्दवाल चले गये, और वहीं 'एक ओंकार' के ध्यान में निमग्न होकर तपस्वी का जीवन व्यतीत करने लगे। सन् १५५२ में अपने गुरु के निधन के अनन्तर वे सिक्खों के तीसरे गुरु बने।

अमरदास जी स्वभाव से तो बड़े ही कोमल थे, लेकिन नियमों का पालन बड़ी दृढ़ता से करते थे, और औरों से भी करवाते थे। उन्होंने यह नियम बना लिया था कि जो भी व्यक्ति उनसे मिलने आयेगा, वह पंगत में बैठकर पहले प्रसाद ग्रहण करेगा, तभी उसे उनके पास आकर बैठने और बातचीत करने का अधिकार मिलेगा। कहा जाता है कि उनकी धर्मनिष्ठा, सेवाभावना और वाणी के वर्चस् की प्रशंसा सुनकर एक बार जब बादशाह अकबर उनसे मिलने गोइन्दवाल आये, तो उसे भी पहले पंगत में बैठकर प्रसाद ग्रहण करना पड़ा, तभी उन्होंने उनसे बातचीत की।

बादशाह अकबर के साथ बातचीत के प्रसंग में वंश–परम्परा के गाँवों की बात तो उठनी ही थी। अकबर ने सारा प्रसंग सुनने के बाद राजकीय आवास में पहुँचने पर उन गाँवों के सम्बन्ध में कागज–पत्रों की जाँच करायी, और यह जान लेने पर कि शासन का उन पर अवैध अधिकार है, उन्हें फिर से अमरदास जी को वापस करने का निर्देश दिया। उन गाँवों की भूमि को फिर गुरु अमरदास जी के नाम कर दिया गया। कालान्तर में फिर उनके जामाता रामदास ने, जिन्हें उनके बाद गुरु–पद मिला, वहाँ 'गुरु का चक्क' नामक नगर बसाया, जो आज अमृतसर के नाम से जाना जाता है।

गुरु अमरदास वृद्धावस्था तक आत्मानुशासन का पालन करते हुए लोक सेवा में तत्पर रहे। वे तारों के अस्त होने के पहले ही उठ जाते थे, स्नान करते थे और 'जपुजी साहिब' का पाठ करते थे। उसके बाद लंगर की देखभाल करते और फिर अपना दरबार लगाते। पहले संगीत–कीर्त्तन और फिर उपदेशामृत; फिर पीड़ितों–प्रताड़ितों की सेवा में लग जाते थे। दुःखकातर अमरदास जी लूले–लँगड़े, बहरे–गूंगे, सभी प्रकार के पीड़ितों और प्रताड़ितों की बड़ी आत्मीयता के साथ सेवा करते थे। उनके सम्बन्ध में यह प्रसिद्धि हो गयी थी कि रोग–व्याधि की बात क्या, वे मुर्दे को भी जीवित करु सकते हैं। इसी अगाध विश्वास के कारण लोग उनके पास आते थे, और उनकी सेवा से उन्हें यथासंभव लाभ भी होता था। कहा जाता है कि एक बार कुछ साधु–सन्तों ने उनसे कहा कि, इस वृद्धावस्था में इतना परिश्रम नहीं करना चाहिए। उन्होंने उत्तर में कहा था, 'मुझे यह पद सेवा, और कठोर तप के जिस व्रत के कारण मिला है, भला उस व्रत को मैं कैसे छोड़ दूँ।'

अमरदास जी ने अपने धर्म–प्रचार के कार्य को सुव्यवस्थित रूप देने के लिए अनेक कार्य अपने हाथों में लिये थे। उनका पहला कार्य था, मंजियों की स्थापना। पंजाबी भाषा में मंजी का अर्थ होता है चारपाई। उपदेशक तो चारपाई पर बैठता था, और सुनने आये लोग जमीन पर बैठकर उसके भाषण को सुनते थे। गुरु जी ने ऐसी बाइस मंजियों अर्थात् प्रचार–केन्द्रों की स्थापना की। वे इस प्रकार से 'उपगुरु' की गद्दियाँ बन गयीं। उन्होंने बाइस स्थलों का चयन किया और हर एक स्थान में अपने एक शिष्य को उपदेश देने के लिए नियुक्त किया।

उनका दूसरा कार्य था, बैशाखी के शुभ अवसर पर मेले का आयोजन। पहला मेला सन् १५७१ में उन्होंने गोइन्दवाल में आयोजित किया था। उसके बाद यह सम्मेलन अनेक स्थलों पर बड़े उत्साह और सुव्यवस्था से आयोजित होता रहा। सिख धर्म के प्रचार–प्रसार में इन मेलों की बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। सिखों की संख्या उनके इस प्रयास से निरन्तर बढ़ती गयी।

अमरदास जी का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य मुग़ल बादशाह अकबर से अपनी वंश–परम्परा के बीस ग्रामों को फिर से प्राप्त करना था। जहाँ पहले 'गुरु का चक्क', फिर अमरदास नाम का एक नगर बसा, जो कालान्तर में 'अमृतसर' नाम से विख्यात हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमरदास जी ने ६१ वर्ष की प्रौढ़ आयु में गुरु का पद ग्रहण किया था। उसके बाद २२ साल तक वे सिख धर्म के प्रचार और लोकसेवा के कार्यों में संलग्न रहे। उन्हें गुरु–परम्परा में सरलता, लोकसेवा और निष्काम भावना की प्रतिमूर्त्ति कहा जा सकता है। प्रभुभक्ति उनका गुरुमंत्र था। धार्मिक चेतना का प्रचार–प्रसार उनका व्यवसाय और लोकसेवा उनका मुख्य धर्म था। गुरु–पद पर बड़ी कर्मठता के साथ जीवन व्यतीत करते हुए, ६५ वर्ष की आयु में उन्होंने महाप्रयाण किया।

अमरबेल इस का नाम अमरबेल शायद इसलिये रखा गया है कि इसके पास स्वयं जीवन के साधन पर्याप्त न होने पर भी, यह जीवित रहती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि यह एक पूर्ण परोपजीवी पौधा है, जो दूसरे पौधों के आहार पर निर्भर है। यह पौधा कस्कुटेसी कुल का सदस्य है और इसका वानस्पतिक नाम कस्कुटा रिफ्लेक्सा।

यह पीले तने वाला, कमजोर तथा पत्तियों से रहित होता है। इसमें न तो सामान्य जड़ें होती हैं और न ही पर्णहरित। इसमें जड़ों के स्थान पर 'हास्टोरिया' होते हैं, जो कि संरक्षण देने वाले तने के कैम्बियम ऊतक तक पहुँचते हैं तथा जड़ों के स्थान पर प्रचूषण का कार्य करते हैं। इसमें सफेद या गुलाबी पुष्प झुण्ड में रहते हैं। फल 'कैप्सूल' प्रकार का होता है जिसमें अन्दर तीन भाग होते हैं। इनमें पीले तथा चिकने बीज होते हैं। यह बेल अनेक प्रकार के पौधों पर परजीवी के रूप में चढ़ी रहती है, जैसे नीम, शीशम, केशिया, बबूल आदि। कभी–कभी यह आश्रय देने वाले पौधे पर इतनी सघनता से फैलती है कि दूर से पीली चादर होने का एहसास होता है तथा आश्रयदाता पौधे को अपने प्रभाव से मार देती है।

इसके पूरे पौधे का किसी न क़िसी रूप में प्रयोग होता है। इसकी रासायनिक रचना में कस्कुटीन, टेनिन एवं रेज़िन नामक पदार्थ पाये जाते हैं। इसका रासायनिक प्रभाव दस्तावर होता है। इसके द्वारा तैयार तरल को तरल तथा शुष्क दोनों ही रूपों में प्रयोग किया जाता है। इसका प्रयोग होम्योपैथी की दवाओं के रूप में भी होता है।

साहित्यकार भी इसके विशेष स्वभाव से आकर्षित हुए हैं और कहा है कि 'अमरबेल बिन मूल की प्रतिपालत है ताहि। रहिमन ऐसे प्रभुहिं तजि खोजत फिरिये काहि।।

अमरसिंह संस्कृत के प्रसिद्ध शब्दकोश 'अमरकोश' के रचयिता। अमरसिंह के जीवन–काल के विषय में सुनिश्चित प्रकार से कुछ कह पाना सम्भव नहीं। लेकिन इनके सम्बन्ध में यह प्रसिद्धि है कि ये विक्रमादित्य के दरबार में नवरत्नों में थे। अतः यह कहा जा सकता है कि ये कालिदास के समकालीन थे। कालिदास को गुप्तवंश के सम्राट् कुमारगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन राजकवि माना जाता है। इसलिए इन्हें ईस्वी सन् की चौथी शताब्दी का माना जा सकता है। व्यूलर ने इन्हें बंगाल के महाराज लक्ष्मण सेन के समय का माना है, लेकिन अधिकांश विद्वान् उन्हें विक्रमादित्य के समय का ही मानते हैं।

अमरावती (१) आन्ध्र प्रदेश के गुंटूर जिले में अमरेश्वर शिव के नाम पर बसा एक प्राचीन नगर। यह कृष्णा नदी के दक्षिण तट पर स्थित है। इसके पश्चिम में गुंटूर से कोई १८ मील की दूरी पर सातवाहनों की राजधानी धान्यकटक थी। यहाँ सातवाहन युग का एक बौद्ध स्तूप है। इसका निर्माण सम्भवतः ईसा पूर्व २०० में हुआ था। मूल स्तूप के अतिरिक्त कुछ और भी स्तूप हैं; जो कुषाणकालीन माने जाते हैं। पहले स्तूप के चारों ओर संगमरमर की चहार–दीवारी है और उस पर बड़ी ही भव्य मूर्तियाँ देखने को मिलती हैं। इन मूर्तियों की रचना शैली भरहुत तथा अजन्ता जैसी है। कुषाण कालीन भवनों में मथुरा कालीन कला का प्रयोग देखने को मिलता है। उसके बाद के भी कुछ भवन हैं; और उनमें उच्चकोटि का रचना–कौशल देखने को मिलता है। इन बौद्ध स्तूपों में बुद्ध के जीवन के प्रसंगों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा उनके पूर्वजन्म की जातक कथाओं का अंकन किया गया है। ये सभी आकृतियाँ पत्थर को गहरे खोदकर बनायी गयी हैं। पुरुषों तथा स्त्रियों की आकृति में मांसलता है। उनके शरीर लम्बे, छरहरे तथा गतिशील हैं। यहाँ की मूर्त्ति–संरचना में यथार्थ और आदर्श का अद्भुत सम्मिश्रण देखने को मिलता है। कुछ विशिष्ट चित्रांकन हैं : बुद्ध का धर्मोपदेश, उनका धर्म–चक्र प्रवर्त्तन, स्तूप–पूजन, छद्दन्त जातक, शिवि जातक, राजभवन का परित्याग, अंगुलिमाल की कथा, मार कथा आदि। स्तूप में कमल आदि पुष्पों का भी बड़ा ही सुन्दर अंकन है। यहाँ की कुछ सुन्दर मूर्त्तियाँ मद्रास के संग्रहालय में हैं; और कुछ लन्दन के ब्रिटिश म्यूज़ियम में।

अमरावती (२) महाराष्ट्र के बरार क्षेत्र के उत्तर–पूर्वी भाग के पठार पर बसा जनपद। अमरावती जिला उत्तर में २१ डिग्री ४६ अक्षांश से २० डिग्री ३२ अक्षांश तक तथा ७३ डिग्री ३८ पूर्व देशान्तर से ७८ डिग्री २७ पूर्व देशान्तर तक फैला हुआ है। भौगोलिक दृष्टि से इस ज़िले को विभाजित किया जा सकता है: (१) पैन घाट की समतल और उपजाऊ घाटी, जो समुद्र–तट से लगभग ८०० फीट ऊँचाई पर है; और (२) उत्तरी बरार का पहाड़ी भाग, जो सतपुड़ा पहाड़ी का एक अंश है। उत्तर पश्चिम की ओर ताप्ती, बीच में पूर्णा, तथा पूर्व में वार्धा नदियाँ बहती हैं। ५० प्रतिशत भूभाग में कपास की खेती होती है। शेष क्षेत्र में अन्य फसलें उगायी जाती हैं। जिले का क्षेत्रफल १२,२१० कि०मी० है।

अमरावती का शहरी भाग समुद्र तल से ११,०१८ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। १८वीं शताब्दी में रघु जी भोंसला ने इसकी स्थापना की थी। शहर में दो स्थान विशेष रूप से दर्शनीय माने जाते हैं– एक महाराज विसेन चंदा की हवेली, जिसके साथ अनेक प्रसंग जुड़े हैं और दूसरे शहर के चारों ओर की दीवार। यह दीवार निज़ाम–सरकार ने इस क्षेत्र के लोगों की पिण्डारियों से सुरक्षा के लिए सन् १८०४ में बनवायी थी। इस चहार दीवारी में पाँच फाटक और चार खिड़कियाँ हैं। इनमें से एक खिड़की को खूनखारी कहा जाता है। सन् १८१६ में इसी खिड़की के पास ७००० व्यक्तियों की हत्या की गयी थी।

अमरावती नगर पुराने और नये दो भागों में विभाजित है। पुराना भाग चहार–दीवारी के भीतर स्थित है। उसकी आबादी बड़ी ही घनी, रास्ते बड़े ही सँकरे, और जल निकास की व्यवस्था बड़ी ही ख़राब है। नयी अमरावती में बड़े ही भव्य भवन हैं। यातायात की सुव्यवस्था है और सफाई का भी अच्छा इंतज़ाम है।

अमरावती में हिन्दुओं और जैनों के अनेक मन्दिर हैं। अम्बा देवी का मन्दिर लगभग एक हज़ार वर्ष पुराना माना जाता है। उसी के आधार पर, अमरावती नामकरण की भी बात कही जाती है; लेकिन कुछ विद्वान् उसे अस्वीकार करते हैं।

अमरावती जिले में मालटेकरी नाम का एक पहाड़ भी है। कहा जाता है कि पिण्डारियों ने यहाँ अपना बहुत सा धन गाड़ा था।

अमरावती शहर का जल वाडाली नामक एक वृहद् जलाशय से आता है, जो लगभग दो वर्ग मील की भूमि से पानी इकट्‌ठा करता है और फिर वही पूरे शहर को वितरित किया जाता है। अमरावती शहर में रुई का व्यापार होता है, और तेल निकालने के कई कारख़ाने हैं।

अमरावती (३) पौराणिक आख्यानों के अनुसार अमरावती सुमेरु पर्वत पर स्थित देवताओं का एक नगर है, जहाँ वे जरा, मृत्यु, दुःख, शोक, ताप आदि से मुक्त होकर आनन्दमय जीवन व्यतीत करते हैं। यह भी कहा जाता है कि इस प्रकार की अमरावती मध्य एशिया में ऑक्सस नदी के तट पर कभी स्थित थी।

अमरावती स्तूप आन्ध्र प्रदेश में कृष्णा नदी के तट पर अमरावती नामक स्थान में ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी में इस बौद्ध–स्तूप की स्थापना हुई थी। कभी यह स्तूप बड़ा ही विशाल था, उसके परिसर में अनेक बिहार थे, और एक विश्वविद्यालय भी स्थित था। केवल भारतवर्ष ही नहीं सुदूर देशों के नवयुवक भी वहाँ पढ़ने आया करते थे। सातवाहनों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासनकाल में ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी तक यहाँ स्थापत्य–कला अपने बड़े ही भव्य रूप में विकसित होती रही थी। स्थापत्य का आशय मूर्त्तिकला के उस विधान से है, जिसमें पत्थरों पर खोदकर आकृतियाँ बनायी जाती थीं। अमरावती के बौद्ध–स्तूप पर विश्व की सर्वाधिक सुन्दर कलात्मक स्थापत्य कला के उदाहरण देखे जाते हैं। लेकिन इन कलात्मक भित्ति–मूर्त्तियों के अधिकांश पटल चेन्नई संग्रहालय और लन्दन के ब्रिटिश म्यूज़ियम में है।

अमरावती के ये स्थापत्य–पटल कुछ हरीतिमा लिये हुए सफेद चूना–पत्थरों पर हैं। उनमें गौतम बुद्ध के पूर्व जन्म के आख्यानों के साथ उनके जन्म की अनेक कथाएँ अंकित हैं। कुछ ऐसे पटल भी हैं जिनमें उनका बैठा हुआ एवं खड़ा स्वरूप अंकित है। यद्यपि यह स्तूप अब मात्र खण्डित ही रह गया है, फिर भी उसकी दीवालों पर और चहार–दीवारियों पर अनेक व्यक्तिगत एवं कथापरक पटल देखे जाते हैं। इसीलिए आज भी वह एक पर्यटन–केन्द्र हैं।

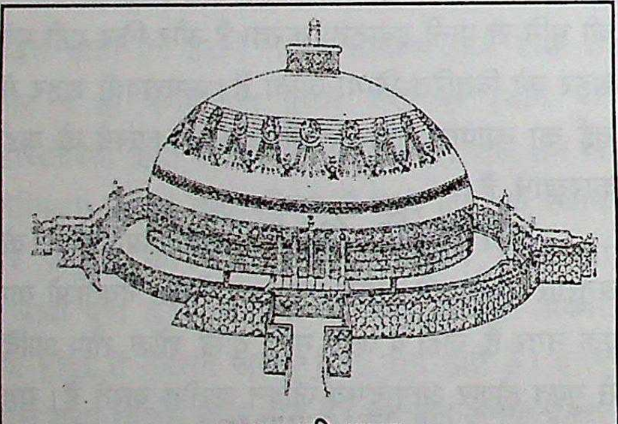

अमरावती स्तूप

अमरुक शतक संस्कृत भाषा में शृंगारी मुक्तकों का रचना संग्रह, जिसे लगभग सातवीं शती ईस्वी में अमरुक या अमरक नामक कवि ने लिखा। नाम से ही जैसा प्रकेट है, इसमें मुक्तक छन्द संग्रहीत हैं। यह संस्कृत भाषा में अपने ढंग का अद्भुत ग्रन्थ है, जिसमें नायक–नायिका के संयोग तथा विप्रलम्भ शृंगार का चार चरणों के मुक्तकों में वर्णन है। किंवदन्ती यह भी है कि इसके रचयिता आदि शंकराचार्य थे। यह ग्रन्थ उन्होंने मंडन मिश्र की पत्नी भारती देवी से कामशास्त्र में शास्त्रार्थ करने हेतु अमरक या अमरुक नामक एक मृत राजा के शरीर में प्रविष्ट होकर तथा कामशास्त्र का विधिवत् अध्ययन करने के पश्चात् लिखा था।

हिन्दी के रीतिकालीन कवियों में बिहारी, पद्माकर आदि ने भी अमरुक के अनेक छन्दों के भाव के आधार पर छन्द रचे हैं। इनके अतिरिक्त ब्रजभाषा के अन्य कवियों ने भी अमरुक से प्रेरणा ग्रहण की है।

अमरुक शतक काम विज्ञान का ग्रन्थ नहीं है, वरन् यह दाम्पत्य प्रेम के सरस और आवेगपूर्ण क्षणों को कम से कम शब्दों में सरल ढँग से निबद्ध करने का प्रयास है। यही कारण है कि इसमें न कोई निश्चित क्रम योजना है, न अष्टयाम विधान है, न नायिका–भेद का विशद् विवरण है, न ही प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं का क्रमिक उपन्यास है। सभी कुछ प्रसंगवश है। तथापि अमरुक के मुक्तकों का प्रबन्ध के समान ही सम्मान है।

'अमरुक शतक' पर अनेक टीकाएँ रची गयी हैं। इनमें चौदह टीकाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें भी सर्वाधिक उत्कृष्ट टीका अर्जुनवर्मा की है, जिन्होंने तेरहवीं शताब्दी में अपनी टीका लिखी थी। सम्प्रति साहित्यिक हिन्दी में डॉ० विद्यानिवास मिश्र की टीका पठनीय है।

अमरुद सामान्य जन के लिए बड़ा ही उपयोगी फल देने वाला वृक्ष है। अंग्रेजी में सामान्यतः इसे 'गुवावा' कहा जाता है। इसके वानस्पतिक भाषा में साइडियम गुवावा कहते हैं, और यह मिर्टेसी कुल का है। यह उपोष्ण (सबट्रॉपिकल) जलवायु का पौधा है। फल–विशेषज्ञों का विचार है कि अमरुद मूलतः अमेरिका के उष्ण–कटिबन्धीय क्षेत्र तथा पश्चिमी द्वीप समूह का फल था। उसके बाद इसकी खेती मिलती–जुलती अन्य जलवायु के क्षेत्रों में भी की जाने लगी। भारत में इसका आगमन १७वीं शताब्दी में माना जाता है। भारत की जलवायु में इसकी उपज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़े व्यापक रूप में होने लगी। सहिष्णु होने के कारण इसकी खेती हर प्रकार की मिट्टी में हो जाती है। जाड़े के दिनों में इसकी पैदावार बहुतायत में होती है और इतना सस्ता हो जाता है कि निर्धन जनता का यह बड़ा प्रिय फल बन जाता है।

अमरुद की पैदावार के लिए गरम तथा शुष्क जलवायु सबसे उपयुक्त मानी गयी है। यह गर्मी और पाला दोनों को ही भली प्रकार सह लेता है। केवल छोटे पौधें ही इन प्राकृतिक प्रकोपों से प्रभावित होते हैं। यद्यपि यह फल हर प्रकार की मिट्टी में उत्पन्न हो जाता है; लेकिन बलुई दोमट को इसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त माना गया है। अमरुद की खेती सामान्यतः बीजों द्वारा की जाती है; लेकिन अच्छी खेती को बढ़ावा देने के लिए, भेंट–कलम पद्धति का भी उपयोग होता है। इसके बीज मार्च से लेकर जुलाई तक बो दिये जाते हैं; लेकिन सबसे अधिक फलदायक अगस्त में लगाये गये पौधें होते हैं। फल–वैज्ञानिकों का कहना है कि इसके पौधे ६–६ मीटर की दूरी तक लगाये जाने चाहिए। अच्छी पैदावार के लिए गर्मी में तीन बार और जाड़ों में दो बार पानी दिया जाना चाहिए। खाद के रूप में सड़े हुए गोबर या कम्पोस्ट को उपयुक्त कहा गया है। पेड़ सुन्दर और स्वस्थ दिखाई दें, इसलिए डालियों की छँटाई (प्रूनिंग) करते रहना चाहिए। पुरानी डालियों में जो नयी डालियाँ निकलती हैं, उन्हीं में अच्छे फूल और फल मिलते हैं। अमरुद का पेड़ वर्षा ऋतु में फूलता है और फिर जाड़े में हमें अच्छे फल प्राप्त होते हैं। वर्षा ऋतु में भी अक्सर फल मिल जाया करते हैं, लेकिन उनमें प्रायः कीड़े हो जाते हैं। एक पेड़ की आयु लगभग ३० वर्ष होती है।

भारत में इलाहाबाद के अमरुद सर्वाधिक अच्छे माने जाते हैं। इलाहाबादी अमरुद की कई किस्में, यथा सफेदा, लाल–गूदे वाला, चित्तीदार, बेदाना और करेला माने गये हैं। अलीगढ़ के अमरुद भी बड़े प्रसिद्ध हैं।

अमरुद को जनसाधारण का सेब कहा गया है। आयुर्वेदाचार्यों ने इसे स्वाद में खटमिट्ठा, कसैला, गुण में ठण्डा, पचने में भारी, कफ तथा वीर्यवर्द्धक रुचिकारक पित्त दोषनाशक एवं हृदय के लिए हितकर बताया है। उन्होंने उसे मूर्च्छा और भ्रान्तिनाशक तथा कृमि, शोथ तथा जलन दूर करने वाला भी बताया है, इसका एक नाम जामफल भी है, और इसे गर्मी के तमाम रोगों में लाभप्रद माना जाता है। यह शक्तिदायक, बुद्धिवर्द्धक तथा सत्तवगुणी भी कहा गया है। अतः बुद्धिजीवियों के लिए यह विशेष रूप से लाभप्रद होता है। भोजन के एक–दो घण्टे बाद इसे खाने से कब्ज़ियत, अफ़ारा आदि की शिकायते दूर होती हैं। सुबह के समय खाली पेट अमरुद खाना भी हितकर होता है। खाने के लिए पक्के अमरुद ही लाभप्रद माने गये हैं। कच्चे अमरुदों का प्रयोग सब्जी के रूप में किया जा सकता है। अमरुद खाने के दो–तीन घण्टे बाद ही दूध लिया जाना चाहिए।

आयुर्वेदाचार्यों ने अमरुद के खाने के सन्दर्भ में कुछ सावधानियाँ भी बतायी हैं। अमरुद खाते समय इन बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि उसके बीज अच्छी प्रकार से चबा लिये जाये; अगर उसके साबुत बीज पेट में चले गये तो आन्त्रपुच्छ में जाकर फँस सकते है और उससे आँतों का शोथ (अपेण्डिसाइटिस) हो सकता है। अमरुद कुछ अधिक खा लेने से मन्दाग्नि, वायु, दस्त तथा बुख़ार भी हो जाया करता है। पाचन–शक्ति जिनकी कमजोर हो उन्हें भी अमरुद नहीं खाना चाहिए।

अमरुद के पौधे या वृक्ष और फल में प्रायः अनेक प्रकार के रोग हो जाया करते हैं। केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान (सेन्ट्रल इंस्टीट्यूट फॉर सबट्रॉपिकल हॉर्टीकल्चर), लखनऊ के वैज्ञानिकों ने अमरुद की पैदावार की बढ़ोत्तरी तथा उसके रोगों के उपचार के लिए, विशेष रूप से कार्य किया है। उन्होंने अनुसंधान से अमरुद को लगने वाले लगभग १७७ रोग बताये हैं; और उनके उपचार के लिए भी अनेक परामर्श दिये हैं। उनके परामर्श से, गरीबों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेष रूप से प्रचलित इस फल के पैदावार में विशेष रूप से लाभ हो सकता है।

अमलताश इसका वैज्ञानिक नाम कैसिया फिस्चुला है। अन्य भाषाओं में इसे सुवर्णा (संस्कृत), सुन्दली (बंगाली), गरमाला (गुजराती), कोनी (तमिल), काके (कन्नड़) नाम से जाना जाता है।

यह पेड़ औसतन ५ मीटर की ऊँचाई तथा १ मीटर की तने की परिधि वाला है। इसके तने का व्यास ५०–७० सेमी० होता है। यह सर्व प्रथम अफ्रीका में वातावरण अनुकूलित कराया गया। अप्रैल से जून तक इसमें पीले फूलों का समूह दिखता है, जो कि सुन्दर भीनी खुशबू से युक्त होते हैं। जब लू के थपेड़ों से आहत व्यक्ति कहीं दूर पर भी इसका खिला पेड़ देखता है, तो वह मानसिक शान्ति का अनुभव करता है। फल, गोल २५–५० से०मी० लम्बे तथा २ से ४ सेमी० व्यास वाले होते हैं, पकने पर फल काले हो जाते हैं और उसके अन्दर बीज विभिन्न पर्तों के बीच–बीच में रहते हैं। तने तथा शाखा की छाल से रंग बनाया जाता है।

इससे महत्त्वपूर्ण किस्म की लकड़ी प्राप्त होती है। इसकी बाहरी लकड़ी (सैप वुड) सफेद या हल्की पीली सफेद होती है। अन्दर की लकड़ी (हार्ट वुड) लाल भूरी, जिसमें कि गहरी धारियाँ होती हैं। इसकी लकड़ी का प्रयोग कई तरह से करते हैं। मौसम की प्रतिकूलता से बचाने के लिए इसकी गर्डिलिंग करते हैं, जिससे लकड़ी की गुणवत्ता बढ़ जाती है।

भारत में इसके वृक्ष प्रायः सब प्रदेशों में मिलते हैं। तने की परिधि ६० से १५० सेमी० तक होती है, किन्तु वृक्ष बहुत ऊँचे नहीं होते। शीतकाल में इसकी १.५ फीट के करीब लम्बी बेलनाकार काले रंग की फलियाँ, जिन्हें लोमेन्टम कहते हैं, पकने पर होती हैं। इन फलियों के अन्दर कई कक्ष होते हैं, जिनमें काला लसदार पदार्थ भरा रहता है। वृक्ष की शाखाओं को छीलने से उनमें से भी लाल रंग का रस निकलता है, जो जमकर गोंद के समान हो जाता है। फलियों से मधुर गंधयुक्त, पीले कलझवे रंग का उड़नशील तेल मिलता है। इसके फूल गर्मी में पीले रंग के लम्बी लटकती हुई शाखाओं से निकलते हैं, जिनकी भीनी खुशबू से वातावरण सुगन्धित हो जाता है। हरी पत्तियों के बीच पीले फूलों की लटकती झालरें अतीव सुन्दरता का दृश्य उपस्थित करती हैं।

इस पेड़ के प्रत्येक भाग से औषधीय गुण प्राप्त होते है, जिनका लाभ लिया जा सकता है। पत्ते मल को ढीला करते हैं और कफ को दूर करते हैं। फूल कफ और पित्त को नष्ट करते हैं। फली व उसका गूदा पित्त निवारक, कफ़नाशक, विरेचक तथा वातनाशक है। फली के गूदे का आमाशय के ऊपर मृदु प्रभाव होता है। इसलिए दुर्बल मनुष्यों तथा गर्भवती स्त्रियों को भी विरेचक औषधि के रूप में यह दिया जा सकता है।

यह पेड़ लेग्यूमिनोसी कुल के उपकुल सिजलपिनोइडी में वर्गीकृत किया जाता है।

अमिताभ शाब्दिक अर्थ है अमित अर्थात् अनन्त आभा वाला। गौतम बुद्ध के बोधिसत्त्व अर्थात् पूर्वावतार के अनन्त आभामय स्वरूप की एक संज्ञा। महायान संप्रदाय के लोग इन्हें वर्त्तमान जगत् का अभिभावक और अधीश्वर मानते हैं। इस सम्प्रदाय के लोगों का कहना है कि स्वयं आदि बुद्ध ने, ध्यानावस्थित अवस्था में अपनी पाँच मुद्राओं से जिन पाँच ध्यानी बुद्धों को उत्पन्न किया था, अमिताभ उन्हीं में से एक है। संस्कृत के ग्रन्थ 'सुखावती–व्यूह–सूत्र' में आख्यान है कि धर्म का नाम का एक बौद्ध साधु हुआ था। उसने अनेक प्रतिज्ञाएँ की थीं; जिनमें १५ वीं प्रतिज्ञा में यह कहा गया है कि जब वह बुद्धत्व प्राप्त कर लेगा, तो जो भी उसका नाम लेंगे एवं उसका अनुसरण करेंगे, वे एक दिव्य क्षेत्र में, जिसका नाम सुखावती होगा, जन्म ग्रहण करेंगे और फिर निर्वाण पाने तक उसके साथ आनन्दमय जीवन व्यतीत करेंगे। जब उसकी यह प्रतिज्ञा पूरी होगी, तब वह अमिताभ बुद्ध के नाम से जाना जायेगा; और सभी के निर्वाण पाने तक वह सुखावती क्षेत्र पर शासन करेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृत के इस 'सुखावती–व्यूह–सूत्र' के वृहद् स्वरूप के चीनी भाषा में आज १२ अनुवाद पाये जाते हैं : इनमें सबसे पहला अनुवाद ईस्वी सन् १४७–१८६ में हुआ था। इसके लघु संस्करण का चीनी अनुवाद कुमार जीव ने पाँचवीं शताब्दी में किया था; और उसके बाद ह्वेन त्सांग ने सातवीं शताब्दी में इसका दूसरा अनुवाद किया था।

बुद्ध के अमिताभ स्वरूप की उपासना विशेष रूप से चीन में होती है, उन्हें 'एभीतुओ' कहा जाता है। १२वीं, १३वीं शताब्दी में अमिताभ की पूजा का प्रचार जापान में भी चल पड़ा था। जापानी भाषा में उन्हें 'अमिदा' कहा जाता हैं। जापान में बुद्ध के अमिताभ स्वरूप की पूजा के प्रचलन के पूर्व, ईस्वी सन् के ८६७ से लेकर ११८५ तक रायगो चित्रांकन–प्रणाली में अमिताभ के पृथ्वी पर अवतरण का आख्यान प्रदर्शित होने लगा था।

बुद्ध के इस आलोकमय स्वरूप का निरूपण 'भारतीय देवी–देवता में बड़े विस्तार से मिलता है। वहाँ उनके बीज, कुल, स्थान, स्वरूप मंत्र आदि की विस्तार से विवेचना है। बुद्ध के इस स्वरूप का वर्ण लाल, वाहन मयूर, मुद्रा समाधि और प्रतीक पद्म माने गये हैं।

अमेज़न दक्षिणी अमेरिका की एक बहुत बड़ी नदी, जो विस्तार में बस मिस्र की नील नदी से छोटी है। लेकिन वह विश्व की सबसे सबल नदी है। उसमें परिमाण की दृष्टि से सबसे अधिक जल प्रवाहित होता है और उससे अभिसिंचित क्षेत्र भी सबसे बड़ा है। प्रशान्त महासागर के तट के पेरू राज्य की अन्दे पर्वत शृंखला के हिम शिखरों से उसका आरम्भ होता है। वह पूर्व की ओर अनेक नदियों के जल को ग्रहण करती हुई, ब्राज़ील के आर–पार बहती है। अनेक बड़ी–बड़ी नदियों के जल को लेकर बड़ी बृहदाकार होकर, वह भूमध्य रेखा पर अतलान्त महासागर में मिलती है। महासागर में कोई ३२० कि०मी० तक बस फिर उसका ही जल दिखाई पड़ता है। उसका विस्तार कुल ६४३७ कि०मी० है और वह दक्षिणी अमेरिका के लगभग एक तिहाई क्षेत्र को सिंचित करती है।

अमेज़न नदी जब सागर में मिलती है, तो वह लगभग २७० कि०मी० चौड़ी होती है, इंगलिश चैनल की चौड़ाई से लगभग छः गुनी और उस पर बराबर कुहासा उठता रहता है। यह कुहासा, इतना सघन होता है कि पानी के जहाजों को, जब वे तट के पास होते हैं, तो भी तट दिखाई नहीं देता। इसीलिए जहाज पारा नदी के मुहाने से होकर, अमेज़न नदी के भीतर की ओर बने हुए बन्दरगाह पर पहुँचते हैं, जहाँ पानी का छिछला और पथरीला क्षेत्र है। उस बन्दरगाह को जाने वाले जहाज, पहले बेलेम बन्दरगाह पर जाते हैं, जो पारा नदी के मुहाने पर स्थित है, और जिसे पहले पारा ही कहा जाता था।

कुछ घण्टे अमेज़न में ऊपर की ओर चलने के बाद, जहाज हजारों टापूओं के क्षेत्र में पहुँचता है, जहाँ दोनों ओर तट को छूते हुए जंगल दिखाई देते हैं। इस जंगल में पाम, बड़े ही चौड़े पत्तों की मैगलेनिया, रबड़, काष्ठफलों आदि के वृक्ष हैं। उनमें सबसे ऊँचा पेड़ तो कोई ६० मीटर तक पहुँचता है– लन्दन के नैल्सन स्मारक स्तम्भ से भी कहीं अधिक ऊँचा है। इसकी छत्रछाया में अनेक झाड़ियाँ, लताएँ और पौधे हैं। वहाँ बड़े विलक्षण आर्किड भी हैं, जिन्हें सुरु की लताएँ, अर्धांश में अच्छादित किये रहती हैं। अनेक प्रकार के कैक्टसों के बीच बेगोनिया तथा अन्य पौधे अपना स्थान बनाने के लिए संघर्ष करते रहते हैं। कुछ वृक्ष, जैसे पनामा हैट धारण किये हुए, उन्हें अपनी छाया प्रदान करते रहते हैं। जेस्मिन के पीले फूलों का भी बड़ा विस्तृत क्षेत्र है, जिससे बड़ी मीठी सुगन्ध तो उठती है, लेकिन अगर उन्हें कोई छुए तो उनका ज़हर पकड़ लेता है।

यह नदी भूमध्य रेखा के पास बहती है, इसलिए तट की जमीन हमेशा नमी लिये होते हुए भी, गर्म रहती है; इसीलिए वहाँ पूरे वर्ष पौधे, लताएँ और वृक्ष उगते रहते हैं। जंगल इतना सघन और गुँथा हुआ है कि उसके बीच रास्ता बनाने के लिए बड़े भारी हँसिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की जरूरत होती है। इस तैयारी के साथ जाने पर भी, नदी तट से कुछ मीटर आगे बढ़ते ही, मनुष्य बड़े ही घने अँधेरे में खो जाता है। इस घने जंगल में रास्ते बहुत ही कम हैं, यद्यपि कुछ स्थानों पर वृक्षों को काटकर खेती होने लगी है। इस जंगल के बीच जब सड़कें नहीं बनायी जा सकीं, तो रेलमार्ग तो प्रायः बिलकुल ही नहीं हैं। वस्तुतः अमेज़न में दाँये–बांयें जो विभिन्न धाराएँ मिलती हैं, केवल उनमें ही यातायात सम्भव होता है। यह जंगल का क्षेत्र, उत्तरी अमेरिका के संयुक्त राज्य से कहीं अधिक विस्तृत है; इसलिए दूरस्थ क्षेत्रों में जाने के लिए थोड़ी बहुत हवाई–जहाज की भी व्यवस्था की गयी है।

अमेज़न नदी में कभी बर्फ के पिघलने, अधिक वर्षा या सागर की ऊँची उठती लहरों के कारण बाढ़ भी आती रहती है, जो कि तट के निचले क्षेत्रों को आप्लावित कर देती है। उस बाढ़ के प्रकोप से उस क्षेत्र के सारे पेड़–पौधे नष्ट हो जाते हैं। जल के उतर जाने के बाद, कुछ महीनों में फिर हरियाली हो जाती है।

अमेज़न नदी अपने मुहाने पर प्रति सेकेण्ड १,१३,००० क्यूबिक मीटर पानी निकालती है; और प्रतिदिन इतना सघन चिकटा कीचड़ निकालती है कि अगर वह एक स्थान पर इकट्ठा हो जाये तो १८० मीटर ऊँचा, और लगभग उतना ही चौड़ा पहाड़ बन सकता है। पानी के जहाज पर यात्रा करते लोग अक्सर यह देखते है कि उनके पीछे से जो ज्वार उठता है, उसकी लहरें नदी में ३०० कि०मी० के भी आगे चली जाती हैं। उस क्षेत्र के आदिवासी ज्वार के उस वेग को 'अमेज़ीना' अर्थात नाव–विनाशक कहते हैं। सम्भतः इसी आधार पर उस नदी को अमेजन कहा गया है।

अमेज़न के नामकरण के सम्बन्ध में एक और भी विचार प्रस्तुत किया गया है। सन् १५४१ में स्पेन के फ्रेंसिस्को डे ओरेलेना ने उस नदी का सर्वप्रथम सर्वेक्षण किया था। उसने कहा था कि इस प्रयास में उस क्षेत्र की आदिवासी महिला योद्धाओं ने उस पर आक्रमण किया थाः उन्हें देखकर उसे यूनान के पौराणिक आख्यान के उन अमेज़नों की याद हो आयी थी, जो शस्त्रधारी और युद्धप्रिय स्त्रियों की एक जाति थी, उसी ने फिर उस नदी को अमेज़न का नाम दिया था। बाद में दो अन्य अंग्रेजों एच०डब्लू० बेइस और ए०आर० वैलेस ने उसका पर्यवेक्षण किया था और अपनी यात्रा को लेकर पुस्तकें भी लिखी थीं।

अमेज़न नदी के बहुत भीतर के भाग में दोनों तटों पर कीचड़ और लकड़ी के लट्ठों से बनायी गयी, झोंपड़ियाँ हैं। उनमें रहने वाले आदिवासी पेड़ों के तनों को खोदकर बनाई गयी नावों में नदी में विचरते हैं। अपने कुछ निवास उन्होंने नदी में खम्भे गाड़कर, उन पर पटरे डालकर भी बनाये हैं। उस क्षेत्र के आदिवासियों की संख्या, लगभग ३०,००,००० है। वे लोग सामान्यतः बड़े ही मिलनसार हैं। लेकिन नदी में और ऊपर जाने पर तथा घने जंगलों में, ऐसे आदिम जाति के लोग रहते हैं, जो सिर पर चोट करके आनन्दित होते हैं। उन्होंने अब तक श्वेत जाति के लोगों को कम ही देखा है। वे बड़े ही विषाक्त बरछे लिये हुए होते हैं और विभिन्न जीवधारियों के सिरों को कुचलने का अभ्यास करते हैं। मनुष्य के सिरों को भी अपने बरछे की चोट से छोटे बन्दरों के मुख जैसा बना देते हैं और सिर को फिर अलग कर शरीर के शेष भाग को गरम बालू में दबा देते हैं।

नदी तट के जंगल, विभिन्न प्रकार की पशु–पक्षियों की आवाजों से गुंजायमान होते हैं। वृक्षों की शाखाओं पर विभिन्न आकारों के बन्दर उल्टे लटककर शोर मचाते रहते हैं। जमीन पर पौधों और झाड़ियों के बीच बड़े–बड़े गिरगिट, बिच्छू, चींटी–खोर आदि घूमते रहते हैं। नदी तट के छिछले भाग में जल के साँप, कछुए, घड़ियाल आदि देखे जाते हैं। बड़े–बड़े लिली फूलों के बीच, अनेक मछलियाँ दिखाई पड़ती हैं। कुछ मछलियाँ तो इतनी सुन्दर हैं कि उन्हें घरों में विशेष व्यवस्था करके सजावट के लिए रखा जा सकता है।

सूर्यास्त होते ही सारा परिवेश अनेक प्रकार के और कुछ–कुछ रहस्यमय स्वरों से भर उठता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी पक्षी के स्वर में शिकायत, तो किसी के कंठ–स्वर से मधुमयी वाणी प्रवाहित होने लगती है। लाल मुँह के बन्दर वृक्षों की शाखाओं पर बैठे, शोर मचाते रहते हैं। रक्त चूसने वाले चमगादड़ इधर–उधर उड़ते रहते हैं। जल के ऊपर जुगनू अपना नाच दिखाते हैं। आकाश में कभी–कभी एक प्रकार का विद्युत्–आवेग दिखाई देता है, जिसमें किसी प्रकार की गर्जना नहीं होती।

सागर से कोई १६०० किमी० की दूरी पर मनौस नाम का बन्दरगाह है, दक्षिणी अमेरिका महाद्वीप के बिल्कुल बीच। अठाराहवीं शताब्दी में यह रबड़ के व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था। सर हेनरी विखम नाम का एक अंग्रेज यहाँ से कुछ रबड़ के पौधे और उनके बीज लन्दन के 'क्यू' उद्यान में ले गया था। वहाँ से फिर वे दूर–दूर के देशों, मलाया, लंका और दक्षिणी भारत भेज दिये गये थे। सन् १६१५ से ये सभी देश ब्राजील से रबड़ के व्यापार में प्रतिद्वन्द्विता करने लगे। ब्राज़ील के लोगों ने तब, अमेज़न के जंगलीय क्षेत्र से, लकड़ी, काष्ठफलों, कुनैन आदि का व्यापार आरम्भ किया। कुनैन, सिंकोना वृक्ष की छाल से बनायी जाती है। ब्राज़ील इसी क्षेत्र से प्राप्त लौंग, अदरख, तथा चिरायता का व्यापार करने लगा है। इधर संयुक्त राज्य के अनेक वैज्ञानिकों तथा विशेषज्ञों की सहायता से ब्राज़ील के लोग नये तरीकों से रबड़ उगाने लगे हैं। जमीन बढ़िया न होने के कारण, इससे विशेष लाभ तो नहीं हुआ है; लेकिन पिपरामूल की उपज बहुत बढ़ गयी है। तटीय क्षेत्रों में उत्खनन का कार्य भी आरम्भ हो गया है।

अमेज़न का उद्गम, जहाँ पेरू के अन्दे पर्वतमाला से हुआ था, वहाँ कोई ६०० मीटर गहरी, घाटी या खड्ड है। इस क्षेत्र में नदी का नाम मेरेनॉन है। सागर तट से ब्राज़ील के अन्य भूभाग से होते हुए, कुछ छोटे–छोटे स्टीमर पेरू के इक्विटों नगर तक पहुँचते हैं। उसके बाद बस नावों से ही यात्रा की जा सकती है। अमेज़न नदी अपने स्वयं के विस्तार और दोनों तटों पर खड़े जंगलों के कारण विश्व की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नदी मानी जाती है।

अमेज़न्स् यूनान (ग्रीस) के पुराख्यानों के अनुसार, अस्त्र–शस्त्रों के संचालन में कुशल स्त्रियों की एक विशेष जाति, जो काला–सागर के सन्निकट, पोंतस में रहती थी। उनके क्षेत्र में पुरुषों का प्रवेश वर्जित था। वे अपनी वंश परम्परा बनाये रखने के लिए, पड़ोसी प्रदेश के पुरुषों से सम्पर्क कर लेती थीं। उन्हें जो पुत्र प्राप्त होते उन्हें या तो मार डालती थीं, अथवा उसके पिता के पास भेज देती थीं। पुत्रियों का पालन–पोषण, वे स्वयं करती थीं; और उन्हें शस्त्रविद्या सिखाती थीं। धनुष के संचालन में उन्हें अपने दाहिने स्तन से असुविधा होती थी, इसीलिए वह काट दिया जाता था। यूनान के लोगों ने उनकी इसी स्तनहीनता को देखकर अपनी भाषा में उन्हें, यही अर्थ प्रकट करने वाली 'अमेज़न्स्' संज्ञा दी थी। पुराख्यानों के अनुसार इनकी सेनाओं ने स्कीलिया, स्लेस, पश्चिमी एशिया तथा एजियन सागर के अनेक द्वीपों पर आक्रमण किये थे। कालान्तर में इनकी सेनाएँ मिस्र, सीरिया और अरब में भी पहुँच गयी थीं। यूनान से तो उनका, कई बार युद्ध हुआ था। उनके दम्भ को चूर करने के लिए, प्रसिद्ध योद्धा हरक्युलिस से कहा गया था कि वह, उनकी रानी हिप्पोलिटा की करधनी उतार कर लाये। कुछ समय बाद उन युद्ध प्रिय स्त्रियों ने एथेन्स के महाराज थीसियस पर आक्रमण किया था। एक अन्य कथा में यह कहा गया है कि थीसियस ने उन्हें पराजित कर दिया था, और उनकी रानी हिप्पोलिटा, को बन्दी बनाकर उससे विवाह कर लिया था। एक और कथा है कि यूनान के लोगों ने जब ट्रॉय पर आक्रमण किया था, तो अमेज़नों की रानी हिप्पोलिटा, ट्रोजनों की सहायता के लिए आयी थीं; और फिर यूनान के योद्धा ऐलिटस ने युद्ध में उसकी हत्या कर दी थी।

पश्चिम में, खेल–कूद में भाग लेने वाली सुगठित शरीर की स्त्री को, कभी–कभी अमेज़न कह देते हैं।

अमेरिका सामान्यतः मात्र संयुक्त राज्य अमेरिका को ही अमेरिका समझ लिया जाता है; लेकिन वस्तुतः पश्चिमी गोलार्द्ध में उत्तर से लेकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दक्षिण तक फैले हुए विस्तृत क्षेत्र के उत्तरी, मध्य तथा दक्षिण के भाग, जिसके अन्तर्गत उत्तरी अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका तथा उनके निकट के अनेक छोटे–बड़े द्वीप, सभी आ जाते हैं, उन्हें सम्मिलित रूप से अमेरिका नाम दिया गया है। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि इस विशाल क्षेत्र को यह नाम कैसे मिला?

आधुनिक अनुसंधानों के अनुसार विकींग्स पहला व्यक्ति कहा जाता है, जिसने ईस्वी सन् १००० में उत्तरी अमेरिका की यात्रा की थी। वह नार्वे का था और सम्भवतः उसके बाद उस देश के और लोगों ने भी वहाँ की यात्रा की होगी। लेकिन सामान्यतः जेनोआ के क्रिस्टोफर कोलम्बस को, जो १२ अक्टूबर १४६२ ईस्वी में अमेरिका पहुँचा था, उस महाद्वीप की खोज का श्रेय दिया जाता है। वह सर्वप्रथम पश्चिमी द्वीप समूह के बैटलिंग द्वीप में पहुँचा था। उसकी धारणा थी कि वह वस्तुतः भारत (इण्डिया) पहुँच गया है, और इसीलिए उसने इस नई भूमि को, 'इण्डिीज' कहकर उसका अभिनन्दन किया था। इस खोज की अभी समुचित जानकारी भी नहीं थी कि इटली के अमेरिगो वेस्पूसी ने दक्षिण अमेरिका की अपनी यात्रा का विवरण १४६६ ईस्वी में प्रकाशित किया। उसी के यात्रा विवरण को पढ़कर, जिसे अमेरिगो ने नयी दुनिया कहा था जर्मनी के मार्टिन वाल्डसेम्यीलर ने एक मानचित्र बनाया और अमेरिगो के नाम को लैटिन रूप अमेरिकस देकर, उस भूभाग का नाम 'अमेरिका' रखा। कालान्तर में यही संज्ञा पश्चिमी गोलार्द्ध के आर्कटिक से लेकर ऐण्टार्कटिका अर्थात उत्तरी ध्रुव से लेकर दक्षिणी ध्रुव तक के विशाल क्षेत्र के लिए प्रचलित हो गयी। इसी आधार पर उत्तरी महाद्वीप को उत्तरी अमेरिका और दक्षिणी महाद्वीप को दक्षिणी अमेरिका कहा जाता है। उनके पास जो द्वीप हैं उन्हें भी अमेरिका ही समझा जाता है।

कोलम्बस ने १४६२ ईस्वी में इस क्षेत्र की पहली बार यात्रा की थी। उसके बाद १५०४ ईस्वी तक उन्होंने उस क्षेत्र की दो बार और यात्राएँ की थीं। कोलम्बस ने अपनी इन यात्राओं में पश्चिमी द्वीप समूह के प्रायः सभी द्वीपों का भ्रमण किया था और वे ओरिनिको नदी के उद्गम तक पहुँचे थे। सन् १४६७ में जेनोआ का एक और निवासी जॉन कैबट, इंग्लैण्ड के लोगों की सहायता से न्यू फाउण्डलैण्ड और उत्तरी अमेरिका के भूभाग पर भी पहुँचा था। सन् १५०० से १५०३ के बीच कोर्टेरियल नाम के एक पुर्तगीज परिवार के लोगों ने उत्तरी अमेरिका के समुद्र तट के भूभाग की यात्रा की थी। उसके बाद अन्य यूरोपीय देशों के लोग भी उधर जाने लगे थे। स्पेन के लोगों ने १५०६ ईस्वी तक, उस महाद्वीप में अनेक स्थानों पर अपनी बस्तियाँ बसा ली थीं। सन् १५२० के लगभग फर्डिनैन्ड मैग्लीन ने दक्षिण अमेरिका के दक्षिण के समुद्र को पार करते हुए प्रशान्त महासागर तक की यात्रा की थी। इस प्रकार स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस, इंग्लैण्ड, इटली, हालैण्ड आदि अनेक यूरोपीय देशों के लोगों ने, उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका में अपने उपनिवेश बना लिए थे। यह क्रम उसके बाद निरंतर चलता रहा और इस प्रकार उत्तरी अमेरिका में आज अनेक यूरोपीय देशों के लोग, परस्पर मिल जुलकर रहते हैं। यहाँ–वहाँ कुछ आदिवासियों की भी बस्तियाँ मिल जाती हैं। यूरोपीय लोग अपनी सेवा–सुश्रुषा के लिए अनेक अफ्रीकी देशों के लोगों को गुलाम बना कर लाये। आज अमेरिका में ये अफ्रीकी लोग भी बहुत बड़ी संख्या में हैं और गुलामी की समाप्ति के बाद स्वतंत्र जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

अमेरिका का मुख्य भूक्षेत्र उत्तर से लेकर दक्षिण तक १४५०० कि०मी० लम्बा है। उत्तरी भाग को उत्तरी अमेरिका और दक्षिणी भाग को दक्षिणी अमेरिका कहते हैं। उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका दोनों ही लगभग त्रिकोणाकार हैं। इन दोनों ही महाद्वीपों का उत्तरी भाग विस्तृत है और नीचे के भाग की चौड़ाई कम होती चली गयी है। दोनों के ही उत्तरी भाग लगभग ५००० किलोमीटर चौड़े हैं। उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, जहाँ मिलते हैं, उस भूभाग को मध्य–अमेरिका कहा जाता है। दोनों महाद्वीप जहाँ मिलते हैं उसे पनामा का भूडमरूमध्य कहा जाता है। उस स्थल का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विस्तार लगभग ५० किलोमीटर है। उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों ही अमेरिकाओं के पश्चिमी भाग में हिमाच्छादित पर्वत श्रृंखलाएँ हैं। पूर्व की ओर पठार है और दोनों के बीच का भाग विस्तृत मैदानी क्षेत्र हैं। इन महाद्वीपों के पूर्व की ओर तथा मध्य अमेरिका में और उस ओर के पश्चिमी द्वीप समूहों में भी अनेक सक्रिय और निष्क्रिय ज्वालामुखी हैं।

उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका में जलवायु की दृष्टि से बहुत अधिक अन्तर देखने को मिलते हैं। उत्तरी अमेरिका का उत्तर भाग उत्तरी ध्रुव के निकट है और आर्कटिक महासागर को छूता है, अतः जाड़े के दिनों में उत्तरी भाग में बड़ी ठण्डक पड़ती है। उत्तरी अमेरिका के उत्तर भाग में कनाडा के विस्तृत क्षेत्र में इधर से लेकर उधर तक शंकुधर वृक्षों के जंगल हैं। दक्षिणी अमेरिका का भूभाग भौगोलिक दृष्टि से ऊष्ण कटिबन्ध क्षेत्र में आता है अतः वहाँ विशेष रूप से गर्मी रहती है। दक्षिणी अमेरिका में अमेज़न नाम का बड़ा ही घना जंगल है। वैसी सघनता उत्तरी अमेरिका में कहीं देखने को नहीं मिलती। उत्तरी अमेरिका का अधिकांश भाग विषुवत् अथवा भूमध्य–रेखा के ऊपर पड़ता है, अतः सूर्य जब उत्तरायण होता है, तो वहाँ गर्मी होती है और जब दक्षिणायण होता है, तो सर्दी पड़ती है। दक्षिणी अमेरिका में ठीक इसके विपरीत सूर्य के दक्षिणायण होने पर गर्मी और उत्तरायण होने पर ठण्डक होती है।

यूरोपीय देशों के लोग जब सर्वप्रथम इन महाद्वीपों में आये थे तो उन्होंने समझ लिया था कि वे दुनिया का चक्कर लगाकर एशिया महाद्वीप के भारतीय भाग में पहुँच गये हैं; इसीलिए उन्होंने उस क्षेत्र के आदिवासियों को 'इण्डियन' कहा था और उनका यही नाम आज भी चल रहा है। उन्हें भारतीयों से अलग करने के लिए उनके कुछ लाल वर्ण के कारण 'रेड–इण्डियन्स' कह दिया जाता है। पश्चिमी द्वीपसमूह के आदिम जातियों के लोग, अब लगभग समाप्त हो गये हैं। दक्षिणी अमेरिका में बहुत सी आदिम जातियाँ थीं, उनमें से बहुत सी जातियों के लोग आज भी लगभग वैसे–ही रह रहे हैं। लेकिन पेरू के 'इन्का–इण्डियन्स' सभ्यता की दृष्टि से बहुत आगे बढे हुए थे।

स्पेन के लोगों ने सोलहवीं शताब्दी में दक्षिणी और मध्य अमेरिका के अनेक भूभागों पर अधिकार किया था; और वहाँ अपनी बस्तियाँ बसायी थीं। पश्चिमी द्वीप समूह के अनेक द्वीपों पर भी उन्होंने अधिकार किया था और अपने प्रभाव के पूरे क्षेत्र में अपनी भाषा को ही सामान्य व्यवहार की भाषा बना दिया था। केवल ब्राज़ील ही ऐसा क्षेत्र बचा था, जहाँ पुर्तगाल के लोगों ने अपने उपनिवेश नहीं बसाए थे। दक्षिणी अमेरिका के अधिकांश भाग में स्पेन का अधिकार था और उन्हीं की भाषा चलती थी। स्पेन के लोग लातिनी जाति के हैं और उनकी भाषा भी लैटिन से विकसित हुई है। इसी भाषा के प्रचलन के कारण, मध्य और दक्षिणी अमेरिका को लैटिन अमेरिका भी कहा जाता है। इस विस्तृत भूभाग में अब स्पेन का अधिकार नहीं है, और श्वेत, श्याम तथा आदिवासियों के बीच परस्पर विवाहों के कारण वहाँ बहुत अधिक जातीय सम्मिश्रण मिलता है।

उत्तरी अमेरिका में कैनाडा और पास के ग्रीनलैण्ड द्वीप में आदिवासी एस्किमों जाति के लोग मिलते हैं। उससे दक्षिण के भाग में यहाँ–वहाँ 'रेड इन्डियन्स' की बस्तियाँ मिल जाती हैं। उससे भी दक्षिण जाने पर मैक्सिको और पास के क्षेत्र में अज़टेक इन्डियन्स मिलते हैं ? उत्तरी अमेरिका के उत्तर से लेकर दक्षिण तक अनेक यूरोपीय जातियों के लोग मिल–जुलकर रहते हैं। दक्षिण भाग में अफ्रीका से गुलाम बनाकर लाये गये काले लोगों की भी बहुत बड़ी संख्या है। सम्पूर्ण उत्तरी अमेरिका में प्रभुत्व विशेष रूप से गोरे लोगों का ही है।

अमीबा अमीबा अत्यन्त सरल प्रकार का सूक्ष्म, स्वतन्त्र व एककोशीय 'प्रथम जन्तु' (प्रोटोजोआ) है। इसकी खोज रसेल वान रोसेनहॉफ ने १७५५ ई० में की थी। अमीबा की अनेक जातियाँ ज्ञात हैं, जिनमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अमीबा प्रोटियस' सबसे अधिक पायी जाती है। अमीबा को 'अमर प्राणी' की संज्ञा दी गई है।

इसकी विभिन्न जातियाँ समुद्र, अलवणीय जल या गीली मिट्टी में पायी जाती हैं। यह संसार भर में तालाबों, पोखरों, नालों, व झीलों आदि में, प्रायः तल और सतह पर की काई एवं तल की कीचड़ में धीरे–धीरे रेंगता रहता है।

इसका व्यास ०.२ से०.५ मिमी० तक होता है। सूक्ष्मदर्शी में यह अनियमित, रंगहीन परन्तु चमकीले व जेलीनुमा जीवद्रव्य की बूँद जैसा दिखायी देता है।

इसकी सतह पर जीवद्रव्य के प्रवर्त्त बनते और विलीन होते रहते हैं, जिसके कारण इसकी आकृति लगातार बदलती रहती है। इन प्रवर्त्तों को 'पादाभ' या 'कूटपाद' कहते हैं। इनके बनते रहने से गमन होता है तथा ये भोजन ग्रहण करने में भी सहायता करते हैं।

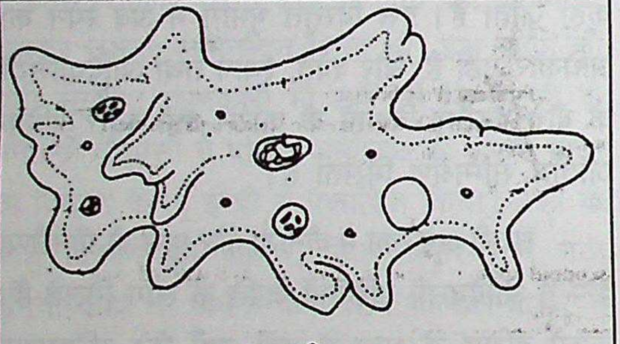

अमीबा

अमीबा के एककोशीय शरीर में तीन प्रमुख भाग होते हैं:–

(१) जीवकला, (२) कोशाद्रव्य, (३) केन्द्रक

अमीबा का शरीर महीन प्लाज़्मा झिल्ली से ढका रहता है जिसे 'जीवकला' या 'प्लाज़्मालेमा' कहते हैं। प्लाज़्मालेमा से घिरा हुआ आधारभूत तरल पदार्थ 'कोशाद्रव्य' कहलाता है। कोशाद्रव्य, दो स्पष्ट भागों में बँटा होता है – बाहरी, स्वच्छ, पतला, बल्कलीय स्तर 'वाह्यप्रद्रव्य' या 'एक्टोप्लाज़्म' तथा भीतरी पिण्ड–'अन्तःप्रद्रव्य' या 'एण्डोप्लाज़्म' । वाह्यप्रद्रव्य स्वच्छ, कणरहित, काँच जैसा गाढ़ा, चिपचिपा जैली जैसा सुदृढ़ 'प्लाज़्माजेल' स्तर है तथा अन्तःप्रद्रव्य तरल धूसरित, कणयुक्त जीवद्रव्य का केन्द्रीय पिण्ड होता है इसे, 'प्लाज़्मासॉल' भी कहते हैं।

कोशाद्रव्य के अन्दर एक केन्द्रक व तीन प्रकार की रिक्तिकाएँ पायी जाती हैं : 'जल रिक्तिकाएँ'; 'खाद्य रिक्तिकाएँ' एवं 'कुंचनशील रिक्तिकाएँ', छोटी छोटी, रंगहीन व पारदर्शक अकुंचनशील रिक्तिकाएँ जल से भरी होती हैं। 'खाद्य रिक्तिकाएँ' भोजन अन्तर्ग्रहण के फलस्वरूप बनती हैं तथा भोजन के पाचन में सहायक होती हैं। 'कुंचनशील रिक्तिकाएँ', शरीर में परासरण नियन्त्रण करती हैं। इनके चारों ओर प्लाज़्मालेमा जैसी महीन झिल्ली का आवरण होता है। यह कोशाद्रव्य से जल की अनावश्यक मात्रा को एकत्रित करके बाहर निकालती रहती है। इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी से देखने पर अमीबा के अन्तःप्रद्रव्य में अन्तःप्रद्रव्यी जालिका, माइटोकॉण्ड्रिया, गॉल्जी समूह, लाइसोसोम व राइबोसोम आदि विभिन्न कोश अंगकों की उपस्थिति का पता चलता हैं।

अमीबा में सभी जैव क्रियाएँ जैसे गमन, पोषण, श्वसन, उत्सर्जन, उपापचय, व प्रजनन आदि होती है।

अमीबा में गमन, कूटपादों द्वारा होता है। कूटपाद, शरीर की सतह पर कहीं भी बन सकते हैं। कूटपाद बनने की दिशा में ही गमन होता है। गमन के सन्दर्भ में, 'सॉलजेल मत' सर्वमान्य है। इस मतानुसार गमन में चार प्रमुख क्रियाएँ होती हैं। (१) गमन की दिशा में प्लाज़्मालेमा आधारतल से चिपक जाती है तथा प्लाज़्माजेल महीन व कमजोर हो जाता है। (२) कमजोर प्लाज़्माजेल स्तर को फोड़कर प्लाज़्मासॉल आगे बढ़ जाता है तथा सॉल जेल में बदल जाता है। (३) शरीर के पार्श्व भाग में जेल सॉल में बदल जाता है। (४) प्लाज़्माजेल में संकुचन होता है, फलस्वरूप गमन् होता है।

अमीबा जन्तुसमभोजी एवं सर्वाहारी है। सामान्यतः बैक्टीरिया, डाइटम्स, अन्य प्रोटोज़ोआ व शैवाल आदि, इसका भोजन होते हैं। भोजन ग्रहण करने के लिए अमीबा में मुख या निर्दिष्ट स्थान नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता। यह प्रायः शरीर के बाहरी सतह से विभिन्न विधियों द्वारा भोजन ग्रहण करता है। प्रमुख विधि में यह भोजन कणों को, कूटपादों से घेर लेता है, जो पहले सिरों पर तथा बाद में पार्श्वों से परस्पर जुड़कर खाद्य रिक्तिका बना लेता है। इस प्रकार भोजन कण कोशाद्रव्य में चला जाता है। जहाँ खाद्य रिक्तिका में पहले अम्लीय व फिर क्षारीय पाचक रसों का स्राव होता है। पाचन के बाद अपाच्य भाग शरीर के पिछले भाग में पहुँचता है और फिर उसका परित्याग हो जाता है।

श्वसन व उत्सर्जन की क्रियाएँ भी बाह्य तल से प्रायः सभी स्थानों से होती है। वृद्धि एवं ऊर्जा–उत्पादन हेतु अमीबा में, रासायनिक प्रतिक्रियाओं का चक्र अर्थात् 'उपापचय' निरन्तर चलता रहता है।

अमीबा में अलैंगिक प्रजनन होता है। इसकी चार विधियाँ हैः–

(१) द्विविभाजन (२) बीजाणुकजनन
(३) बहुविभाजन (४) पुनरुद्भवन

इनमें द्विविभाजन की क्रिया प्रमुख है। इसमें सर्वप्रथम अमीबा गोल हो जाता है; इस पर छोटे–छोटे कूटपाद बन जाते हैं, केन्द्रक दो भागों में बँट जाता है तथा जीवद्रव्य भी विभाजित होकर दो सन्तति अमीबी में बँट जाता है। प्रत्येक सन्तति अमीबा में एक सन्तति केन्द्रक होता है। प्रतिकूल परिस्थिति में अमीबा सिकुड़कर अपने चारों ओर एक सुदृढ़ कोष्ठ बना लेता है। इसका केन्द्रक बार–बार विभाजित होकर सन्तति केन्द्रकों में बँट जाता है। प्रत्येक केन्द्रक के चारों ओर कोशाद्रव्य एकत्र होकर, नन्हीं अमीबी को जन्म देता है। अनुकूल परिस्थिति आने पर कोष्ठ की दीवार, जल सोखकर फट जाती और स्वतन्त्र अमीबी बन जाती हैं।

कुछ अमीबा मानव शरीर में परजीवी के रूप में भी रहते हैं। ये मानव शरीर से भोजन प्राप्त करते हैं और रोग भी उत्पन्न करते हैं। इन्हें 'रोगजनक परजीवी' कहते हैं जैसे– 'एण्टैमीबा हिस्टोलिटिका' मनुष्य की बड़ी आँत का परजीवी है तथा यह 'पेचिश' का रोग उत्पन्न करता है। 'एण्टैमीबा जिन्जिवेलिस मनुष्य की दाँत की जड़ों व मसूड़ों का परजीवी है, इसके संक्रमण से 'पायरिया' रोग हो जाता है।

अमीर खुसरो इनका नाम खड़ी बोली हिन्दी के प्रारम्भिक कवियों में आता है। उनके पिता अमीर सैफुद्दीन तुर्कों के लाचीन कबीले के थे। चंगेज खाँ की आक्रामक मनोवृत्ति से पीड़ित होकर ये हिन्दुस्तान भाग आये थे और उत्तर भारत के जिला एटा में गंगा के किनारे बसे पटियाली कस्बे में आकर रहने लगे थे। यह कस्बा दिल्ली से पास ही है, अतः जीवन निर्वाह के लिए उन्होंने दिल्ली के तात्कालिक शासक शमसुद्दीन अल्तुतमिश से सम्पर्क किया। बादशाह ने उनके प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व को देखकर उन्हें अपनी सेना में एक सम्मानित पद दिया। इसी पद पर बड़ी योग्यता से कार्य करते हुए उनका सम्पर्क बादशाह के एक वरिष्ठ विश्वस्त अधिकारी समादुलमुल्क से हुआ। उन्हें सैफुद्दीन कुछ ऐसे अच्छे लगे कि उन्होंने अपनी बेटी का विवाह उनके साथ कर दिया। सैफुद्दीन सपरिवार मुख्यतः पटियाली ही रहते थे; वहीं सन् १२५६ ईस्वी में अमीर खुसरो का जन्म हुआ।

अमीर खुसरो प्रारम्भ से ही बड़ी विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न थे। उनके पिता उन्हें शिक्षा–दीक्षा के लिए दिल्ली लाये और बड़े ही अच्छे शिक्षकों के साथ रख दिया। वे धार्मिक प्रवृत्ति के भी थे, अतः उन्होंने अपने सुपुत्र को ख्वाजा निजामुद्दीन औलिया के आगे उपस्थित कर उनका शिष्य भी बना दिया। गुरु के आशीर्वाद से वे उसके बाद निरंतर सफलता के पथ पर अग्रसर रहे।

अभी उनकी पढ़ाई चल ही रही थी कि सात वर्ष की आयु में ही उनके पिता का निधन हो गया। लेकिन अपने नाना के निरीक्षण में उनके पढ़ाई–लिखाई का क्रम सुचारु रूप से चलता रहा। किशोरावस्था तक पहुँचते–पहुँचते उन्होंने कविताएँ लिखना भी आरम्भ कर दिया। जब वे बीस वर्ष की अवस्था में थे, तभी उनकी गणना अच्छे कवियों में होने लगी। भावना के शील और कल्पना के कौशल से अनुप्राणित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते हुए भी वे बड़े ही व्यावहारिक बुद्धि के थे। अतः अपने समय के निरंतर बदलते राजनीतिक माहौल में भी वे भली प्रकार जीवन यापन करते रहे।

मध्य युग की सामन्तवादी व्यवस्था में कवि और कलाकारों के लिए राजाश्रय खोजने के अतिरिक्त जीवन यापन का कोई और मार्ग नही था। इसीलिए उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन, कभी किसी सुलतान और कभी राजपरिवार के किसी व्यक्ति के संरक्षण में व्यतीत किया। प्रारम्भ में उन्होंने गुलाम वंश के शासकों के साथ कार्य किया। उसके बाद खिलजियों के साथ और अन्त में तुगलक वंश के शासकों के साथ। उन्होंने इस प्रकार अनेक राजघरानों के उत्थान और पतन देखे थे, और कुल ग्यारह सुलतानों के साथ रहकर अपनी जीविका चलायी थी। शेख निज़ामुद्दीन औलिया के साथ रहकर उन्होंने जो धार्मिक दृष्टिकोण ग्रहण किया था, उससे वे राजनीतिक छल–छन्द से सर्वथा मुक्त रहे। उन्होंने किसी भी राजनीतिक षड्यन्त्र से अपने को अलग रखा था; फलस्वरूप जो भी सही या गलत तरीके से शासन भार ग्रहण करता था, वह इन्हें अपनी सेवा में स्वीकार कर लेता था।

खुसरो जब सोलह वर्ष के ही थे, तभी सुल्तान गयासुद्दीन बलबन के भतीजे अलाउद्दीन मोहम्मद कुलिश खाँ ने, जिन्हें सामान्यतः लोग मलिकछज्जू कहा करते थे, अपने आश्रय में स्थान दिया। संयोग से एक दिन उन्होंने मलिकछज्जू के सामने, बलबन के द्वितीय पुत्र नसीरुद्दीन गुगरा खाँ पर एक प्रशंसात्मक कसीदा पढ़ दिया। उसका नतीजा यह हुआ कि उन्हें वह आश्रय छोड़ना और फिर गुगरा खाँ के साथ रहना पड़ा। वह उन दिनों लखनौती के हाकिम थे। लेकिन वहाँ की आबोहवा रुचिकर न पाकर वे दिल्ली आ गये; और बलबन के ज्येष्ठ पुत्र सुलतान मोहम्मद ने उन्हें अपने आश्रय में ले लिया। सुलतान मोहम्मद के साथ मुगलों के आक्रमण को रोकने के लिए उन्हें मुलतान भी जाना पड़ा। इस अभियान में मोहम्मद की सेना पराजित हुई, उनकी हत्या कर दी गयी, और खुसरो को भी बन्दी बना लिया गया। लेकिन अपनी बुद्धि–चातुर्य से इन्होंने अपने को मुक्त करा लिया, और पटियाली आकर रहने लगे। लेकिन फिर जल्दी ही दिल्ली आ गये और गुलाम वंश के अन्तिम सम्राट् मुइज़ुद्दीन कैकुवाद के साथ रहने लगे। तभी उन्होंने सन् १२८६ ई० में 'मसनवी किरानुससादैन' लिखी ।

गुलाम वंश के पतन के बाद जलालुद्दीन खिलजी दिल्ली का सुलतान हुआ; और तब खुसरो उसके दरबार में शामिल हो गये। अपने इस नये संरक्षक की प्रशंसा में उन्होंने फारसी में 'मिफ़तोलफ तह' नाम का ग्रन्थ लिखा। उससे प्रसन्न होकर बादशाह ने उन्हें 'अमीर' की उपाधि प्रदान की। इस प्रसंग से यह लगता है कि अब तक ये खुसरो के नाम से जाने जाते थे, अमीर खुसरो तो अब बने। इस सुयोग के बाद बहुत बड़ा दुर्योग घटित हुआ। अलाउद्दीन ने अपने चाचा की हत्या करके शासन भार अपने हाथ में ले लिया। अलाउद्दीन ने भी खुसरो को संरक्षण देना जारी रखा और उन्हें अपना राजकवि भी बना दिया। अलाउद्दीन के शासन काल में ही अमीर खुसरो ने फारसी में अनेक ग्रन्थों की रचना की। अलाउद्दीन के बाद उनके छोटे बेटे कुतुबुद्दीन मुबारक शाह ने शासन भार सँभाला और वे भी खुसरो को संरक्षण प्रदान करते रहे। उसके शासन काल में उन्होने 'नूहसिपहर' ग्रन्थ लिखा, जिसमें उस समय का विवरण है।

खिलजी वंश के पतन के बाद गयासुद्दीन तुगलक ने शासन भार सँभाला। अमीर खुसरो को उन्होंने भी संरक्षण प्रदान किया। वे उन्हें अपने साथ बंगाल के अभियान में ले गये थे। जब वे इस अभियान में थे, तभी उन्हें सूचना मिली कि उनके गुरु निजामुद्दीन औलिया का निधन हो गया है। इस सूचना ने उन्हें अत्यधिक विक्षुब्ध कर दिया। वे दिल्ली लौट आये और छह महीने के भीतर ही उन्होंने सदा के लिए आँखें मूँद लीं। उनके गुरु की समाधि के समीप ही उन्हें भी दफ़नाया गया और उनकी भी समाधि बनी।

अमीर खुसरो मूल रूप से फारसी के कवि थे। उन्हें इस भाषा के फिरदौसी, शेख़ सादिक, निज़ामी आदि के स्तर का कवि माना जाता है। उनके फारसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य को विद्वानों ने चार वर्गों में विभाजित किया है, यथा ऐतिहासिक, मसनवी, रोमानी मसनवी, दीवान और गद्य रचनाएँ।

अमीर खुसरो की ख्याति आज उनकी फारसी रचनाओं से अधिक, हिन्दवी रचनाओं पर आधारित है। उन्हें अपने हिन्दवी के ज्ञान पर गर्व भी था। उन्होंने स्वयं कहा है कि अगर तुम वास्तव में मुझसे कुछ जानना चाहते हो, तो हिन्दवी में बात करो। मैं तुम्हें बड़ी अनोखी बातें बताऊँगा। उन्होंने अपने को 'हिन्दुस्तान की तूती' भी कहा है। अपनी मसनवी 'नूह सिपिह' में उन्होंने अपने देश की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में अनेक तर्क दिये हैं। उन्होंने हिन्दुस्तान को अन्य देशों से बड़ा विद्या का देश कहा है। उन्होंने यह भी लिखा है कि गणित में भारतीय ब्राह्मणों ने ही शून्य की खोज की है। गणित, मृदंग और शतरंज, ये तीनों ही हिन्दुस्तान के घर–घर के दीप हैं; लोक–संगीत हिन्दुस्तान जैसा किसी और देश में नहीं है; संगीत की साधना भी हिन्दुस्तान जैसी और कहीं नहीं मिलती। अन्त में उन्होंने यह भी कहा है कि अमीर खुसरो जैसा कवि इस संसार में और कहीं नहीं है। इतिहास कहता है कि मृदंग को बीच से विभाजित कर उन्होंने ही उसे तबले का रूप दिया था।

अमीर खुसरो ने अपनी फारसी रचनाएँ तो अपने पास ही रखी थीं; लेकिन हिन्दवी की रचनाओं को उन्होंने अपने मित्रों में वितरित कर दिया था। उनके मित्रों के माध्यम से उनकी रचनाएँ लोकवाणी में तो पहुँच गयीं; लेकिन आज उनकी कोई पांडुलिपि उपलब्ध नहीं है। उनकी साहित्यिक महत्त्व की रचनाएँ थोड़ी ही मानी जाती हैं, कुछ दोहे और एक गज़ल। एक दोहा देखिये:

'गोरी सोयी सेज पर मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने रैन भई चहुँ देस।।'

आप इसके भाव विन्यास से भ्रमित न हों, यह आध्यात्मिक चेतना का काव्य है। खुसरो ने जो गज़ल लिखी है वह द्विभाषी है : यथा

'ज हाले मिस्की' मकुन तग़ाफुल दुर आय नैना बनाय बतियाँ।
कि ताबे हिज्रां न दारम् ऐ दिल न लीहू काहे लगाय छतियाँ।।'

इस गज़ल में इसी प्रकार की आठ और पंक्तियाँ हैं। इसकी चर्चा सर्वप्रथम डॉ० स्प्रिंगर ने सन् १८५० ई० में अपने एक लेख में की थी। अमीर खुसरो की हिन्दी शायरी पर लिखते हुए श्री सफदर 'आह' ने लिखा है कि उनके पास ११३४ ईस्वी का एक हस्तलिखित ग्रन्थ है, जिसमें यह गज़ल अमीर खुसरो के नाम से अवतरित है।

लोकवाणी से अमीर खुसरो की जो रचनाएँ मिली हैं, उनमें कुछ पहेलियाँ हैं, कुछ मुकरियाँ हैं और कुछ में अनेक भाषाओं की शब्द–क्रीड़ा मिलती है। 'पहेली' उस रचना को कहा गया है, जिसमें किसी वस्तु अथवा विषय का ऐसा गूढ़ वर्णन, हो जिसके आधार पर उत्तर देने में उस वस्तु या विषय का नाम बताने में कुछ सोच–विचार करना पड़े। सामान्य भाषा में 'पहेली' को बुझव्वल भी कहा जाता है। एक पहेली देखिये :

'आगे–आगे भेना आयी, पीछे–पीछे भैया,
दाँत निकाले बाबा आये, बुर्का ओढ़े मैया।,

ये पंक्तियाँ भुट्टे को लेकर हैं। 'मुकरी' उस रचना को कहा जाता है : जिसमें पहले कही हुई बात से मुकरते हुए, कुछ और ही बात कही जाती है, यथा :

'सगरी रैन मोरे संग जागा,।
भोर भयी तो बिछुड़न लागा,।
वाके बिछड़े फाटत हीया,।
ऐ सखि साजन ? ना सदी दिया।

खुसरो की बहुभाषी रचना का एक उदाहरण भी देखिये:

"फारसी बोली आई ना, (आइना)
तुर्की बोली पाई ना, (पाइना)
हिन्दी बोलो आरसी आवे, (आरसी)
कहे 'खुसरो' कोई बतलावे।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमीर खुसरो की इन तीनों प्रकार की रचनाओं की लोकप्रियता को देखकर और बहुत सी रचनाएँ भी लिखी गयीं, इसलिए यह बड़ा जरूरी है कि खुसरो के समय के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को लेकर लिखी गयी रचनाओं को ही उनका माना जाये।

खुसरो की सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'खालिक–बारी' है। यह वस्तुतः छन्दोबद्ध रूप में फारसी और हिन्दी का शब्दकोश है। उनके बाद के ६०० वर्षों में बहुत से लेखकों ने उसे सजाया और सँवारा। अतः मूलतः उसका रूप क्या रहा होगा, यह कह पाना सम्भव नहीं है। इधर दस वर्षों में उसके अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं और लोगों ने बड़ी रुचि के साथ उन्हें पढ़ा है।

अमृत सामान्य अर्थ, जो मरता नहीं, अमर, अविनाशी, अनश्वर। उसके पर्याय हैं; सुधा, पीयूष, दूध अथवा कोई भी सुस्वाद मीठा आहार तथा परब्रह्म। पौराणिक आख्यान है कि आदि काल में देवों और असुरों ने मिलकर जब समुद्र–मन्थन किया था तो उससे जो चौदह वस्तुएँ मिली थीं उनमें एक अमृत भी था। अमृत से आशय इस प्रकार उस रसायन से है, जो अमरता प्रदान करता है। उस रसायन के मिलने पर उसे पाने के लिए जब देवताओं और असुरों में झगड़ा होने लगा, तो विष्णु ने मोहिनी का रूप धारण कर उसे बाँटने का कार्य अपने हाथों में लिया। उन्होंने पहले देवताओं की पंक्ति में बाँटना आरम्भ किया। असुर राहु ने यह सोचकर कि कहीं देवताओं में ही सारा अमृत न बँट जाये, देवताओं के बीच जाकर बैठ गया। जब यह ज्ञात हुआ कि वह तो असुर है, और उसे अमृत मिल गया है, तो उसका बध करने के लिए उसे बीच से खण्डित कर दिया गया। लेकिन उसने अमृत पी लिया था, इसीलिए उसके दोनों ही भाग जीवित रहे। इसीलिए भारतीय ज्योतिष के नवग्रहों में राहु और केतु की गणना होती है; और दोनों ही जीवन को प्रभावित करते हैं। समुद्र मंथन से प्राप्त चौदह रत्नों को स्मरण रखने के लिए निम्नलिखित दोहा उपयोगी है : श्री (लक्ष्मी जी) मणि (कौस्तुभ) रम्भा (अप्सराएँ), वारुणी (मदिरा), अमिय (अमृत) शंख, गजराज (ऐरावत)। कल्पद्रुम, शशि, धेनु (कामधेनु) धनु (शार्ङ्ग), धन्वन्तरि, विष (कालकूट) बाजि (उच्चैःश्रवा)।

भारतीय दर्शन में जीवन के विभिन्न लक्ष्यों में, अमरता की संप्राप्ति को एक विशिष्ट लक्ष्य माना गया है। 'वृहदारण्यक् उपनिषद् में 'असतो मा सद्गमय', और 'तमसो मा ज्योतिर्गमय'; के साथ 'मृत्योर्मामृतं गमय' भी कहा गया है। भारतीय ग्रन्थों में चन्द्रमा को अमृतमय कहा जाता है। साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद को अमृतमय बताया जाता है। हठयोग साधना में भी अमृत की कल्पना की गयी है, जो शिरोभाग के ब्रह्मरंध्र (गगन–गुहा) से झरता है तथा योगी जिसका पान करते हैं। भक्त कवियों ने राम एवं कृष्ण के नाम को ही अमृत माना है। पाश्चात्य साहित्य में इस रसायन को 'इलेक्सीर ऑफ लाइफ़', जीवन को अमरता प्रदान करने वाला तत्त्व कहा गया है। उसे पाने के प्रसंग को लेकर अनेक लोक–कथाएँ भी हैं।

भारतीय ज्योतिष के ग्रन्थों में 'अमृत–योग' का उल्लेख है। मनुष्य को आनन्द प्रदान करने वाले अट्ठाइस योग माने गये हैं, उनमें इसे इक्कीसवाँ योग कहा गया है। सप्ताह के सातों ही दिनों, रविवार, सोमवार, मंगलवार, वृहस्पतिवार, शुक्रवार और शनिवार को विशेष पूजा के विधान से क्रमशः उत्तराषाढ़ा, शतमिषा, अश्विनी, मृगशिरा, आश्लेषा, हस्त और अनुराधा नक्षत्रों में उसे प्राप्त किया जा सकता है। इस योग में यात्रा समारोह आदि कार्य शुभ माने गये हैं।

अमृतलाल नागर हिन्दी के वरिष्ठ साहित्य–मनीषी, कथा–शिल्पी, उपन्यासकार, नाट्य–लेखक, नाट्य–निर्देशक, अनेक फिल्मों में कथासूत्र, दृश्यालेख, संवाद आदि के रचयिता, आकाशवाणी के कुशल प्रस्तोता मूलतः गुजरात के याज्ञिक ब्राह्मण थे। उनके पूर्व–पुरुष कभी आकर सहारनपुर में बस गये थे। वहाँ से उनके पितामह पं० शिवराम जी इलाहाबाद बैंक की लखनऊ की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौक शाखा के सहायक प्रबन्धक होकर लखनऊ आये और फिर चौक में ही मकान लेकर वहीं रहने लगे। उनके पिता राजाराम जी को लखनऊ के ही पोस्ट मास्टर जनरल के कार्यालय में कार्य मिला। उनका विवाह आगरा के गोकुलपुरा मोहल्ले में हुआ था, और वहीं अमृतलाल जी का जन्म अपने ननिहाल में १७ अगस्त, १६१६ को हुआ था। उनकी शिक्षा–दीक्षा लखनऊ में हुई थी; और लखनऊ की तहज़ीब, उसकी नफ़ासत और नज़ाकत, बोलचाल का बड़ा ही शालीन लहजा, उन्होंने उसे आत्मसात किये थे, कि लोग उन्हें लखनऊ का ही समझने लगे।

अमृतलाल नागर

नागर जी को साहित्य में अभिरूचि अपने पितामह से प्राप्त हुई थी। पं० शिवनाथ शर्मा (हास्य व्यंग्य के लेखक तथा 'दैनिक आनन्द' के सम्पादक), माधव शुक्ल (यशस्वी कवि और नाट्ककार), बाबू श्याम सुन्दर दास, (वरिष्ठ आलोचक और स्थानीय कालीचरण स्कूल के प्रधानाचार्य) रूपनारायण जी पाण्डेय (सम्पादक 'माधुरी') आदि उनके पिमामह के बड़े आत्मीय थे और उनके घर बराबर आते–जाते बने रहते थे। इन्हीं सबके सम्पर्क से बालक अमृतलाल ने अक्षरों को अपना मित्र बना लिया था।

नागर जी के पिता जी, राजकीय सेवा में होते भी, देश स्वातंत्र्य–आन्दोलन में यथासम्भव सहयोग देते रहते थे। सन् १६१६ में जब नागर जी का जन्म हुआ था, तो कांग्रेस वरिष्ठ नेता बाल गंगाधर जी तिलक, लखनऊ पधारे थे, और राजाराम जी उन नवयुवकों में में थे, जिन्होंने उनकी फिटन से घोड़ा हटाकर, उनकी गाड़ी खींची थी। अपने पिताश्री से जो राष्ट्रीय चेतना का पाठ पढ़ा था, उसी का प्रभाव था कि सन् १६२६ में साइमन कमीशन के विरोध में जो विराट जुलूस निकाला था, बारह–तेहर वर्ष के अमृतलाल उसमें शामिल हुए थे। उन्होंने पं० जवाहरलाल नेहरू और गोविन्द वल्लभ पन्त पर लाठियाँ बरसते स्वयं देखा था। उसी प्रसंग को लेकर उनकी रचनात्मक प्रतिभा जागी थी, और उन्होंने एक कविता लिखी थी : उसकी पहली दो पंक्तियाँ थीं, 'कब लौं कहौ लाठी खाया करे। कब लौं कहौ जेल सहा करिये।' उनकी यह कविता 'दैनिक आनन्द' में प्रकाशित भी हुई थी। उसके बाद दो–तीन कविताएं उन्होंने और भी लिखी थीं, लेकिन फिर उनका रुझान कहानी लेखन की ओर हो गया था।

किशोर नागर जी ने जब आठ–दस कहानियाँ लिख लीं, तो उन्हें लेकर पं० रुपनारायण पाण्डेय के पास पहुंचे। पाण्डेय जी ने एक–दो दिन बाद उनकी कहानियाँ पढ़कर उनसे कहा, 'तुम शैली दिखाने के चक्कर में उलझ गये हो। कहानी के प्लॉट पर तुम्हारा ध्यान नहीं है। पहले प्लॉट बनाओ, फिर लिखो। शैली तो अपने आप बनेगी।' अपने मित्र ज्ञानचन्द्र जैन के साथ उन्होंने प्लॉट के विन्यास को थोड़ा–बहुत समझा; लेकिन इस सम्बन्ध में सम्यक् जानकारी के लिए उन्होंने कलकत्ता जाकर शरद्चन्द्र चट्टोपाध्याय जी से मिलने का निश्चत किया। उनके दादा जी ने उनकी उत्कट इच्छा को देखकर, उन्हें जाने की अनुमति दे दी। मात्र चौदह–पन्द्रह वर्ष की आयु में वे कलकत्ता गये और शरद् बाबू से मिले। शरद जी ने उनको सलाह दी, 'जो लिखो, अपने अनुभव से लिखो।' वापस लौटकर नागर जी ने पाण्डेय जी और शरद् बाबू से मिले सूत्रों के आधार पर कुछ कहानियाँ लिखीं, और उन्हें पुस्तकाकार १६३५ में 'वाटिका' नाम से प्रकाशित भी कराया। अपनी वह पुस्तक उन्होंने प्रेमचन्द्र जी के पास भेजी। प्रेमचन्द्र जी ने उन्हें लिखा कि उन्हें अपने अनुभव के आधार पर यथार्थनिष्ठ कहानियाँ लिखना चाहिए।

नवयुवक नागर जी ने इन तीनों साहित्यिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनीषियों से मिले निर्देशों के आधार पर लिखना आरम्भ ही किया था कि अचानक १९३५ की फरवरी में उनके पिता का निधन हो गया। पितामह तो पहले ही जा चुके थे। मात्र साढ़े अठारह वर्ष की आयु में, उनके ऊपर एक बड़े परिवार को चलाने का भार आ गया। अंधी दादी, विधवा माँ, पत्नी और दो छोटे भाइयों, इन सभी का पालन–पोषण उन्हें करना था। एक मित्र के प्रयास से उन्हें 'यूनाइटेड एन्श्योरेंस कम्पनी' में डिस्पैचर का कार्य मिला। अठारह दिन तो जैसे–तैसे निकल गये, लेकिन उन्नीसवें दिन, बॉस के ज़रा–सी झिड़की पर, नागर जी का स्वाभिमान जाग उठा और वे इस्तीफ़ा देकर घर चले आये। उन्होंने फिर अहद् किया कि अब नौकरी नहीं करेंगे। उनके दादाजी और पिताजी, कोई बहुत बड़ी रकम और जायदाद नहीं छोड़ गये थेः जो कुछ था वह उधार में दे दिया गया था। उसे उगाहने के चक्कर में वे पहले बैंकर बने। फिर 'विद्यामन्दिर' नाम की एक प्रकाशन संस्था खोली। उसके न चल पाने पर उन्होंने 'नागर ब्रदर्स, इम्पोर्टर्स एण्ड एक्सपोर्टर्स' नाम की संस्था खोलकर स्टेशनरी का धन्धा आरम्भ किया; लेकिन उनका यह प्रयोग भी सफल नहीं हुआ।

नागर जी के एक सुपिरिचत सज्जन पुरुषोत्तम लाल दवे बनारस में हास्य–व्यंग का एक साप्ताहिक 'खुदा की राह पर' चला रहे थे। उनसे प्रेरणा लेकर नागर जी ने 'अल्लाह दे' नाम का एक हास्य साप्ताहिक २० दिसम्बर, १९३७ से निकालना आरम्भ किया। उनका यह पत्र चल निकला था, लेकिन उन्हें उसका यह नाम अच्छा नहीं लग रहा था, अतः तीसरे अंग में उन्होंने उस का नाम 'चकल्लस' रख दिया। उनके उस पत्र में डॉ० रामविलास शर्मा और नरोत्म नागर जी ने भी योग दिया था। ये तीनों ही मित्र अनेक उपनाम रखकर 'चकल्लस' को दो वर्षों तक चलाते रहे। 'चकल्लस' के 'होलिकांक' 'अप्रैल फूल अंक' और 'भाभी अंक' बड़े ही लोकप्रिय हुए थे। नागर जी को अपने इस पत्र से, ख्याति तो बहुत मिली थी; लेकिन अपने बड़े परिवार को चलाने के लिए पर्याप्त धनराशि नहीं मिली रही थी। अतः उन्होंने १९३९ में 'चकल्लस' को बन्द करके बम्बई जाकर फिल्म–जगत् में अपना भाग्य आज़माने का निर्णय लिया।

रचनात्मक प्रतिभा के धनी नागर जी को बम्बई पहुँचने पर संवाद और सिनेरियो लेखन के कार्य मिले। पहले उन्होंने किशोर साहू की 'कुँवारा बाप' के लिए संवाद लिखे। सन् १९४१ में वह प्रदर्शित हुई, और उसके संवादों ने धूम मचा दी। उसके बाद उन्होंने एन.आर. आचार्य की फिल्म 'उलझन' (१९४२) के संवाद लिखे। उनके लिखे संवादों को लेकर किशोर साहू ने 'राजा' (१९४३) फिल्म बनायी। वह भी खूब चली। किशोर साहू जी ने उसके बाद 'बहूरानी' में भी उनका सहयोग लिया। उनकी अब इतनी ख्याति हो गयी थी कि प्रसिद्ध निर्देशक नीतिन बोस, वीरेन देसाई, मास्टर विनायक आदि ने भी उनसे दृश्यालेख और संवाद लिखवाये। प्रसिद्ध अभिनेत्री लीला चिटणीस जब निर्माता बनीं; तो उन्होंने भी 'किसी से न कहना' फिल्म में उनके लेखन–कौशल का ही सहारा लिया। नागर जी के लेखन की प्रभविष्णुता को देखकर, बम्बई के लगभग सभी फिल्म निर्माता उन्हीं के पास आने लगे थे। कभी–कभी तो उन्हें रात–रात भर जाग–जाग कर लिखना होता था। और तब उन्हें लगता था कि और दूसरे लेखक लड़ाई पर भेज दिये गये हैं। (उन दिनों दूसरा विश्वयुद्ध चल रहा था और वे ही बस अकेले फिल्मों में लेखन के लिए बचे हुए हैं।)

नागर जी को फिल्मी लेखन से आदमनी तो अच्छी हो रही थीं, लेकिन उन्हें लगता था कि वे अपनी कलम से वेश्यावृत्ति करा रहे हैं। यह सोचकर उन्हें बड़ी मानसिक यंत्रणा होती थी। उस मानसिक पीड़ा से बचने के लिए, उन्होंने रचनात्मक–लेखन आरम्भ किया; और उनका 'सेठ बाँकेमल' हास्य–उपन्यास प्रकाशित हुआ। सन् १९४३ के बंगाल के अकाल के आधार पर एक उपन्यास लिखने की भी उनकी इच्छा हुई। उस परिदृश्य को देखने और उसकी पीड़ा की गहराई को महसूस करने के लिए वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक फिल्म–यूनिट के सदस्य होकर, कलकत्ता गये। उस भयंकर विभीषका को देखकर उन्होंने 'महाकाल' उपन्यास लिखा। सन् १९४७ में वह प्रकाशित हुआ। उस समय वे नृत्य सम्राट उदयशंकर की फिल्म 'कल्पना' के लिए कार्य कर रहे थे। स्वर साम्राज्ञी एम. एस. सुब्बु लक्ष्मी की फिल्म मीरा के भाषान्तर का भी कार्य चल रहा था। इन दोनों उत्तरदायित्वों को पूरा करने के अनन्तर सन् १९४८ में नागर जी, सूरदास की इस पंक्ति को चरितार्थ करते हुए, 'जैसे उड़ि जहाज की पंछी पुनि जहाज पै आवै', फिल्मी दुनिया को प्रणाम कर, वापस अपने शहर लखनऊ आ गये। स्वेच्छा से उन्होंने लेखन की फ़कीरी बड़े आत्मविश्वास के साथ स्वीकार कर ली थी।

लखनऊ आने से पहले 'वाटिका' के बाद उनके तीन कहानी–संग्रह, अवशेष (१९३७), तुलाराम (१९४१), आदमी, नहीं! नहीं! (१९४७) प्रकाशित हो चुके थे। यहाँ आने पर उनकी पहले की लिखी हुई कहानियों का पाँचवाँ संग्रह 'पाँचवाँ दस्ता' प्रकाशित हुआ। उसके बाद उनका कहानी–लेखन का कार्य चल पड़ा। उनकी रचनात्मक प्रतिभा और फिल्मी लेखन से प्रभावित होकर सन् १९५३ में 'आकाशवाणी' लखनऊ ने उन्हें ड्रामा प्रोड्यूसर के पद पर नियुक्त कर दिया। सन् १९५६ तक वे इसी पद पर कार्य करते रहे। लेकिन उन्हें फिर लगा कि इससे उनकी साहित्य–साधन में व्याघात आ रहा है : इसीलिए उन्होंने फिर स्वच्छन्द लेखन का मार्ग अपनाया।

सन् १९५५ में उनकी कहानियों का छठा संग्रह 'एक दिल हजार दास्ताँ' और १९५६ में उनकी कहानियों का सातवाँ संकलन 'एटम बम' प्रकाशित हुए। इसी वर्ष उनका कालजयी उपन्यास 'बूँद और समुद्र' भी प्रकाश में आया। इस उपन्यास में लखनऊ के एक विशिष्ट क्षेत्र चौक मोहल्ले का बड़ा ही रोचक विवरण है। नागर जी की मान्यता थी कि जो कुछ भी लिखा जाये वह सर्वथा प्रामाणिक होना चाहिए। इसीलिए उन्होंने बंगाल के अक़ाल की व्यथा–कथा लिखने के लिए कलकत्ते की यात्रा की थी। 'बूँद और समुद्र' में हम उनकी इसी प्रवृत्ति का विकास देखते हैं। अपने इस उपन्यास के लेखक के लिए उन्होंने अपने मोहल्ले के रीति–रिवाजों बुढ़िया पुराण के किस्से–कहानियों और छोटी–बड़ी गलियों में किये जाने वाले टोने–टोटके के बारे में नोट्स लिये थे। अपने इन रजिस्टरों को उन्होंने जू–म्यूज़ियम का नाम दिया था। इसी अनुसंधान के शील को लेकर उनका यह उपन्यास महाकाव्यात्मक विन्यास धारण किये हुए हैं। काशी–नागरी–प्रचारिणी–सभा ने उन्हें बटुक प्रसार पुरस्कार एवं सुधाकर पदक दिया था। उसके बाद तो 'शतरंज के मोहरे' (१९५९), उत्तर प्रदेश शासन का प्रेमचन्द्र पुरस्कार (१९६२–६७) मिला। 'अमृत और विष' (१९६६) के लिए उन्हें सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार (१९७०) प्राप्त हुआ। 'मानस का हंस' (१९६८) के लिए मध्य प्रदेश साहित्य परिषद ने उन्हें अखिल भारतीय वीरसिंह देव पुरस्कार से सम्मानित किया। नागर जी के इस उपन्यास के लिए उत्तर प्रदेश शासन ने भी उन्हें १९७३–७४ का राज्य साहित्यिक पुरस्कार दिया। इसी रचना पर उन्हें १९७८ का श्रीरामकृष्ण हजारीमल डालमिया पुरस्कार मिला। 'खञ्जन नयन' (१९८१) के लिए भारतीय भाषा परिषद कलकत्ता ने उन्हें नथमल मुदालका पुरस्कार (१९८४) से सम्मानित किया।

नागर जी ने इन पुरस्कृत उपन्यासों के अतिरिक्त 'सात घूंघट वाला मुखड़ा' (१९६८), 'एकदा नैमिषारण्ये' (१९७८), 'बिखरे तिनके' (१९८२), 'अनगर्भा' (१९८३), 'करवट' (१९८५), पीढ़ियाँ (१९९०) भी प्रकाशित हुए हैं। उनकी सभी रचनाओं में उनकी अनुसंधान की मनोवृत्ति देखने को मिलती है। कुछ समय बाद उन्होंने रजिस्टर बनाना तो छोड़ दिया था। साक्षात्कार एवं जानकारियों से प्राप्त सामग्री के लिए डायरी का प्रयोग करने लगे थे। उनकी डायरियाँ सन्दर्भों का अथाह सागर है। 'मानस का हंस', 'नाच्यो बहुत गोपाल', 'वे कोठेवालियाँ', और 'एकदा नैमिषारण्ये' की डायरियाँ उनके उस श्रम की गवाही देती है, जिन्होंने उनकी रचनाओं को कालजयी बनाया है।

नागर जी उपन्यास–लेखन के बीच–बीच

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहानियाँ भी लिखते रहे। उनके बाद के संकलन हैं 'पीपल की परी' (१६६३), 'कालदण्ड की चोरी' (१६६३), 'भारत पुत्र नौरंगी लाल' (१६७२), 'सिकन्दर हार गया' (१६८४) हैं। इसी बीच उनके प्रकाशित कहानी–संग्रहों के और संस्करण भी प्रकाशित होते रहे।

नागर जी समय–समय पर नाटक भी लिखते रहे। उनका पहला नाटक था 'परित्याग' (१६५४), उसके बाद, 'युगावतार' (१६५६) प्रकाशित हुआ। जिसमें भारतेन्द्र हरिश्चन्द्र के जीवन का बड़ा ही रोचक विवरण है, यह उनका पहला रंगमंचीय नाटक था। उसके बाद वे आकाशवाणी के लए एकांकी नाटक लिखने लगे। उनकी इन रचनाओं के चार संकलन 'बात की बात' (१६७४), 'चन्दन वन' (१६७६), 'चक्करदार सीढ़ियाँ और अंधेरा' (१६७७) और 'उतार–चढ़ाव' (१६७७) प्रकाशित हुए हैं। सन् १६८१ में उनका एक और रंगमंचीय नाटक 'नुक्कड़ पर' प्रकाशित हुआ था। 'चढ़त न दूजो रंग' (१६८२) की रचना उन्होंने दूरदर्शन के लिए की थी। समय–समय पर उन्होंने रंगमंच पर प्रदर्शन के लिए नाटकों का निर्देशन भी किया था। प्रसाद जी का 'स्कन्द गुप्त' लखनऊ विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में सन् १६५२ में भारतीय हिन्दी परिषद और ओरियंटल कॉन्फ्रेन्स के संयुक्त वार्षिक अधिवेशन के समय उनके निर्देशन में प्रदर्शित हुआ था। सन्. १६५३ में प्रेमचन्द्र की कहानी 'ईदगाह' के रज़िया सज्जाद ज़हीर कृत नाट्य रूपान्तर का उन्होंने मंचन किया था। उस पर उत्तर प्रदेश शासन ने परफार्मेन्स एक्ट (१८७६) के तहत मुकदमा चलाया था। न्यायमूर्ति पं० आनन्द नारायण मुल्ला ने उस मुकदमें को ख़ारिज किया था। और उस एक्ट को निरस्त करने का फैसला दिया था। उसके बाद उन्होंने स्वलिखित नाटक 'परित्याग' का १६५४ में तथा 'युगावतार' का १६५५ में मञ्चन किया। समय–समय पर उन्होंने अन्य लेखकों के नाटकों, यथा सर्वदानन्द के 'चेतसिंह' (१६५६), भगवती चरण वर्मा के 'रुपया तुम्हें खा गया' (१६६३), को भी निर्देशित किया। सन् १६५३ में प्रेमचन्द्र के 'गोदान' के नाट्य रूपान्तर का भी निर्देशन किया था।

नागरजी ने अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में हास्य–व्यंग के लेखन में जो रुचि ली थी उसका उपयोग वे उसके बाद भी यदा–कदा करते रहे। इस क्षेत्र में उनकी रचनाएँ 'नवाबी मसनद' (१६३६), 'सेठ बाँकेमल' (१६४४), कृपया बाये चलिए, 'हम फ़िदाये लखनऊ' है। उनकी उपलब्ध सभी स्फुट हास्य–व्यंग रचनाओं का संकलन १६८६ में 'चकल्लस' नाम से प्रकाशित हुआ।

नागर जी ने समय–समय पर साहित्य की अन्य विधाओं में भी लिखा था। उनके 'गदर के फूल' १६५७ में १८५७ के विद्रोह से सम्बन्धित सर्वेक्षण से प्राप्त सामग्री का संकलन है। 'ये कोठे वालियाँ' १६६० में वेश्याओं के जीवन के सम्बन्ध में किये गये सर्वेक्षण को संकलित किया गया है, 'जिनके साथ जिया' (१६७३) में अपने समकालीन साहित्यकारों के संस्मरण उन्होंने लिखे हैं। 'चैतन्य महाप्रभु' (१६७८) में भक्तप्रवर के जीवन का अख्यान हैं। 'टुकड़े–टुकड़े दास्तान' (१६८६) में उनके आत्मपरक निबन्ध मिलते हैं। 'साहित्य और संस्कृति' (१६८६) में उनके साहित्यिक एवं ललित निबन्ध संग्रहीत हैं।

नागर जी को समय–समय पर उनकी साहित्यक रचनाओं के अतिरिक्त उनकी बहुमुखी रचनात्मक प्रतिभा को लेकर सम्मान प्रदान किये गये थे। उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी ने १६७०–७१ में उन्हें रंगमंच की विशिष्ट सेवा हेतु पुरस्कृत किया था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने १६७२ में उन्हें साहित्य–वारिधि की उपाधि दी थी। आकाशवाणी १६७७ में अपनी स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर विशेष रूप से सम्मानित किया था। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्था ने १६७६–८० में उन्हें विशिष्ट पुरस्कार प्रदान किया था। सन् १६८१ में उन्हें पद्मभूषण उपाधि से अलंकृत किया गया था। सन् १६८६ के लखनऊ महोत्सव ने उन्हें 'अवध गौरव' का सम्मान दिया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिल्म राइटर्स एसोसिएशन मुम्बई ने १९८७ में उन्हें सम्मानित करने के साथ अपनी मानक सदस्यता प्रदान की थी। राजभाषा परिषद बिहार ने १९८७ में उन्हें डॉ० राजेन्द्र प्रसाद शिखर सम्मान दिया था। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ ने १९८५ में उन्हें भारत–भारती पुरस्कार तथा साहित्य अकादमी (केन्द्रीय) ने उन्हें १८८६ में अपनी महत्तर सदस्यता से सम्मानित किया था। उत्तर प्रदेश हिन्दी–उर्दू एवार्ड सीमित ने १९८६ में उनके साहित्यिक कृतित्व के लिए उनका अभिनन्दन किया था।

नागर जी अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक साहित्य साधना में संलग्न रहे। केन्द्रीय शासन के संचार विभाग ने उनके जीवन के अन्तिम दशक में उन्हें प्रोड्यूसर एमेरिटस नियुक्त किया था। 'आकाशवाणी' लखनऊ से उनके पास १६ फरवरी १९९० की वार्ता के लिए पत्र आया था। लेकिन उन दिनों वे विशेष अस्वस्थ थे। इसलिए कुछ लिख नहीं सके थे और २३ फरवरी १९९० को उन्होंने आँखे मूँद ली थीं। लेकिन उनका कालजयी स्वरूप, उनकी रचनाएँ आज भी हमारे साथ हैं और सदा रहेंगी।

अमृता शेरगिल अमृता के पिता उमरावसिंह शेरगिल पंजाब के तथा माँ मारिया आन्त्वानेत हंगरी की थीं। अमृता का जन्म ३० जनवरी, १९०३ को हंगरी की राजधानी बुदापेस्त में हुआ। अमृता का बचपन हंगरी में बीता। आठ वर्ष की आयु में वह भारत आयीं। यहाँ उनकी कलात्मक प्रतिभा को विकसित होने का पूर्ण अवसर मिला। १९२६ में वे पेरिस पहुँचीं। १९३० में उन्होंने तैल–चित्रण प्रारम्भ किया। १९३४ में भारतवर्ष लौटकर शिमला के निकट समरहिल में अपने पैतृक निवास में रहकर अधिकतर जीवन व्यतीत किया। अमृता शेरगिल भारतीय जनजीवन से अत्यधिक प्रभावित थीं। यद्यपि उनकी तकनीक यूरोपीय थी और उन्होंने नग्न मॉडलों के भी चित्र बनाये। किन्तु उनकी ख्याति उनके भारतीय जनजीवन के चित्रों से हुई। उनके प्रसिद्ध चित्रों में तीन कन्याएँ, ब्रह्मचारी, वधू का शृंगार, झूला आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। ५ दिसम्बर १९४१ को केवल २९ वर्ष की आयु में उनका स्वर्गवास हो गया।

अमृता की कला मानवाकृति प्रधान थी। यूरोपीय चित्रकार गोगाँ, वानगॉग तथा सेजान से वह सर्वाधिक प्रभावित थीं। अमृता की कला में पूर्व और पश्चिम की कला का समन्वय हुआ। उनकी आकृतियों में सरलता होती थी। लाल रंग उनका प्रिय रंग था।

अमृतसर पंजाब का एक सर्वाधिक प्रसिद्ध जिला और शहर। यह जालन्धर कमिश्नरी के अन्तर्गत आता है। रावी नदी इसकी पश्चिमोत्तर और व्यास दक्षिण पूर्व सीमा पर बहती है। साकी नदी इसकी उत्तर–पश्चिम सीमा में बहती है, और फिर रावी में मिल जाती हैं। अमृतसर जनपद पूर्णतः मैदानी क्षेत्र है। गर्मी के दिनों में यहाँ काफी गर्मी और ठंडक के दिनों में काफी ठंड रहती है। यहाँ की औसत वर्षा लगभग ५३ सेमी० है। अपर रावी दोआब नहर सिंचाई की भी सुविधा प्रदान करती है। ग्रामीण क्षेत्र का मुख्य व्यवसाय खेती है। गेहूँ, मक्का, ज्वार, बाजरा, दालें, गन्ना पैदा किये जाते हैं।

भौगोलिक दृष्टि से जनपद ३१:४ से ३२ डिग्री ३ उत्तर अक्षांश तक ७४ डिग्री २६ से ७५ डिग्री २४ पूर्व देशान्तर तक स्थित है। पूरा क्षेत्रफल १९९२ वर्ग मील है।

अमृतसर नगर ३१ डिग्री ३८ उत्तर अक्षांश से ७४ डिग्री ५३ पूर्व देशान्तर तक स्थित है। यह सिखों का प्रधान नगर तथा तीर्थ–स्थल है। इस नगर की नींव सिखों के चौथे गुरु रामदास जी ने सन् १५७७ में डाली थी। वे वहाँ एक सुन्दर मन्दिर बनाना चाहते थे, जो एक जलाशय के बीच स्थित हो। अभी उन्होंने जलाशय खुदवाना आरम्भ ही किया था कि उनका निधन हो गया। उनके सुपुत्र अर्जुनदेव ने जो पाँचवें गुरु हुए, उस जलाशय को पूरा कराया और फिर उसके बीच 'गुरुग्रन्थ साहब' का मन्दिर बनवाया। उसी मन्दिर के चारों ओर उसी जलाशय अमृतसर के नाम पर शहर बना। महाराज रणजीतसिंह ने उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्दिर को और शोभामय बनाने के लिए उसे स्वर्णमंडित कराया; इसीलिए वह स्वर्णमन्दिर के नाम से विख्यात है।

अमृतसर नगर आज वाणिज्य व्यवसाय का बहुत बड़ा केन्द्र है। यहाँ सूती, ऊनी और रेशमी कपड़े, शाल, दरी आदि बनते हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ बिजली के पंखे, अनेक प्रकार की मशीनों, लोहे की चादरों, प्लास्टिक के सामान, रासायनिक द्रव्यों आदि के कारखाने हैं।

अमृतसर नगर शिक्षा का भी बहुत बड़ा केन्द्र है। १८६३ में वहाँ खालसा कालेज खोला गया था। स्वाधीनता प्राप्ति के अनन्तर गुरु नानक विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। इन दोनों के अतिरिक्त वहाँ और भी बड़े–बड़े शिक्षा–संस्थान हैं।

अमृतसर शहर में स्वर्णमंदिर से ही कुछ दूरी पर हिन्दुओं का दुर्ग्याणा मन्दिर है। स्वर्णमन्दिर से कोई आधी किलोमीटर की दूरी पर प्रसिद्ध जलियाँ वाला बाग है। सन् १६१६ की १३ अप्रैल को जनरल डायर ने यहाँ हो रही एक सार्वजनिक सभा पर गोली चलवायी थी, जिसमें सैकड़ों की संख्या में लोग मारे गये थे और हज़ारों घायल हुए थे। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने उसी दुर्योग से विक्षुब्ध होकर अपनी 'सर' की उपाधि अंग्रेज सरकार को लौटा दी थी।

अमृतसर आज के पंजाब का धार्मिक, सांस्कृतिक और व्यापारिक दृष्टि से सर्वाधिक प्रसिद्ध शहर है। रेलमार्ग से दिल्ली से उसकी दूरी ४२६कि.मी., कोलकाता से १६६६ कि.मी. तथा मुम्बई से २०१६ कि.मी. है। पाकिस्तान की सीमा से मिला होने के कारण सैनिक दृष्टि से भी इस जनपद का विशेष महत्त्व है।

अमोनिया यह एक विशेष प्रकार की तीव्र एवं तीक्ष्ण गंध वाली गैस है। इसके कुछ यौगिक, विशेषकर नौसादर (अमोनियम क्लोराइड), बहुत पहले से ही ज्ञात थे तथा उपयोग किये जाते थे। परन्तु स्वतंत्र अमोनिया गैस के अस्तित्व के बारे में सम्यक् ज्ञान १७७४ ई० में जे० प्रीस्टली द्वारा इसे तैयार किये जाने पर हुआ। इस गैस का नाम उन्होंने 'एल्कलाइन एयर' रखा। १७७७ ई० में सी० डब्ल्यू० शेले ने इस गैस में नाइट्रोजन की उपस्थिति बतायी। १७८५ ई० में सी० एल० बेरटोले ने विद्युत चिनगारी द्वारा इसे विघटित कर इसमें नाइट्रोजन तथा हाइड्रोजन की मात्राएँ ज्ञात कीं।

अमोनिया कई विधियों से स्वतः बनती है और बनायी जा सकती है। सूक्ष्म मात्रा में अमोनिया, वायु तथा वर्षा के जल में पाई जाती है। नदी, तालाब और समुद्र के जल में भी यह अल्प मात्रा में मिलती है (समुद्र जल में लगभग ०.१ मिलीग्राम प्रति लिटर की मात्रा में)। पशुओं के शरीर तथा पौधों के सड़ने से अमोनिया एवं अमोनिया लवण बनते हैं (नाइट्रोजन मुक्त कार्बनिक पदार्थों के विघटन द्वारा)। अमोनिया के कुछ यौगिक मिट्टी में, खनिजों में और फलों के रस या पौधों के अन्य भागों में भी पाये जाते हैं।

अमोनिया बनाने की विधियाँ सामान्यतः दो प्रकार की हैं– नाइट्रोजन और हाइड्रोजन तत्त्वों के सीधे संयोग द्वारा अथवा नाइट्रोजन या अमोनिया के यौगिकों से। नाइट्रोजन और हाइड्रोजन के गैसीय मिश्रण में विद्युत चिनगारी (इलेक्ट्रिकल डिस्चार्ज) उत्पन्न करने से अमोनिया बनती है, जिसका रासायनिक समीकरण है– $ना_2 + हा_2 = २नाहा_3$ (यहाँ ना – नाइट्रोजन का और हा – हाइड्रोजन का संकेत है)। यह क्रिया उत्प्रेरक की अनुपस्थिति में अल्प मात्रा में होती है। इस प्रत्यावर्ती अभिक्रिया के रासायनिक संतुलन के विशिष्ट अध्ययन से हाबर ने ज्ञात किया कि अमोनिया की मात्रा गैसीय मिश्रण के दाब और ताप पर विशेष रूप से निर्भर होती है।

अमोनिया का औद्योगिक उत्पादन हाबर की अथवा कई अन्य संशोधित विधियों (जैसे कैसले, क्लाउड आदि) द्वारा किया जाता है। इन विधियों में गैस के दाब, ताप, उत्प्रेरक के चयन तथा अमोनिया के अलग करने के ढंग में विशेष भिन्नता होती है। साधारणतया २००–१००० वायुमण्डलीय दाब, ४००–६०० सेन्टीग्रेड ताप, लोहा, टाइटेनियम,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोलिडिनम, टंग्सटन, आस्मियम, यूरेनियम इत्यादि जैसे उत्प्रेरक तथा अल्कालाइन आक्साइड (जैसे सोडियम या पोटेशियम आक्साइड) के साथ उसके समर्थक (प्रोमोटर) जैसे एल्यूमिनियम, सिलिकन अथवा जिरकोनियम आदि के आक्साइड का उपयोग किया जाता है।

नाइट्रोजन के आक्साइड, नाइट्रिक अम्ल तथा नाइट्रेट के अवकरण से भी अमोनिया प्राप्त की जा सकती है। उदाहरणार्थ, हाइड्रोजन के साथ नाइट्रिक आक्साइड गरम प्लैटिनम–स्पांज अथवा प्लैटिनाइज्ड–ऐरबेस्टस पर प्रवाहित करने से अमोनिया बनती है। नाइट्रेट तथा नाइट्राइट का अवकरण जीवाणुओं द्वारा भी होता है। नाइट्रोजन के कुछ यौगिक जैसे फ़ास्फाइड, सल्फाइड, क्लोराइड या आयोडाइड पर कुछ धातुओं जैसे लिथियम, मैग्नीशियम, कैल्सियम के नाइट्राइड पर पानी की क्रिया से अमोनिया बनती है। कई साइनाइड भी अति तप्त भाप द्वारा अमोनिया बनाते हैं।

नाइट्रोजन युक्त कुछ कार्बनिक यौगिकों से भी अमोनिया प्राप्त होती है। साधारण मूत्र में २० से २५ ग्राम प्रति लीटर यूरिया होती है जो सड़ने पर अमोनिया कार्बोनेट में परिवर्तित हो जाती है। चमड़ा, सींग, बाल तथा पशुओं के अन्य भागों को बंद बर्तनों में गर्म करने पर अमोनिया तथा काला तेल जैसा पदार्थ जिसे डिपेल आयल कहते हैं, प्राप्त होता है और जांतव कोयला या ऐनिमल चारकोल बच जाता है। कोल गैस, जलाने वाला कोयला में प्राप्त गैस, प्रोड्यूसर गैस तथा ब्लास्ट फरनेस गैस से भी अमोनिया उपजात के रूप में मिलती है।

प्रयोगशाला में प्रायः नौसादर को तीव्र या बुझाये सूखे चूने के साथ गरम करके अमोनिया गैस तैयार की जाती है।

अमोनिया रंगहीन गैस है। इसे सहसा सूँघने पर आँखों में आँसू आ जाते हैं। अधिक मात्रा से घुटन उत्पन्न होती है तथा इस गैस में बंद करने से जीवधारी की मृत्यु हो जाती है। इस गैस का घनत्व ०.७७१० ग्राम प्रतिलीटर (०° संन्टीग्रेड, ७६० मिलीमीटर दाब पर) होता है। अमोनिया गैस सरलता से रंगहीन तरल तथा बर्फ सदृश ठोस में प्रवर्तित की जा सकती है। क्रान्तिक (क्रिटिकल) ताप १३२.४° सें०, दाब १११.५ वायुमण्डल तथा तरल का घनत्व ०.२३५ ग्राम प्रतिघन सेन्टीमीटर है। अमोनिया का द्रवणांक ७७.७° सें० तथा क्वथनांक ३३.३५° सें० है।

पानी, ऐल्कोहल तथा कुछ अन्य द्रवों में अमोनिया घुलनशील है। पानी में इसकी विलेयता अत्यधिक है। ०° सें० तथा ७६० मिलीमीटर दाब पर पानी अपने आयतन के सहस्र गुने से भी अधिक अमोनिया घोल लेता है। यह क्रिया ताप उत्पन्न करती है। ठंडे घोल को गरम करने से अमोनिया अंशतः या पूर्णतः बाहर निकाली जा सकती है।

अमोनिया गैस आक्सीजन में जलती है, जिससे नाइट्रोजन, जल एवं अल्प मात्रा में अमोनियम नाइट्रेट तथा नाइट्रोजन पराक्साइड बनते हैं। उत्प्रेरक (जैसे लोहा, ताँबा, निकल और प्लेटिनम) की उपस्थिति में गरम नली में आक्सीजन के साथ अमोनिया प्रवाहित करने से नाइट्रोजन के आक्साइड बनते हैं। अमोनिया से शोरे का अम्ल (नाइट्रिक अम्ल) बनाने की ऑस्टवाल्ट विधि इसी पर आधारित है।

क्लोरीन में अमोनिया गैस शीघ्रता से जलती है। इस क्रिया में अमोनियम क्लोराइड तथा नाइट्रोजन बनते हैं। ब्रोमीन और आयोडीन के साथ भी क्रिया होने पर समान यौगिक बनते हैं। वाष्पीय गंधक को अमोनिया के साथ गरम नली में प्रवाहित करने पर अमोनियम मोनो तथा पॉली–सल्फाइड प्राप्त होते हैं। गरम कार्बन पर अमोनिया की क्रिया से साइनाइड बनता है। कुछ धातुओं (जैसे मैग्नीशियम, जस्ता, टाईटेनियम, आदि) को अमोनिया में गरम करने पर सम्बन्धित नाइट्राइड बनते हैं। इसी तरह गरम ऐल्कनी धातु सूखी अमोनिया से अमाइड बनाते हैं जैसे सोडियम अमाइड।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गरम करने अथवा विद्युत् चिनगारी से अमोनिया स्वतः नाइट्रोजन तथा हाइड्रोजन में विघटित होती है। इस क्रिया की गति ताप, स्पर्श पृष्ठ की प्रकृति एवं उत्प्रेरक की उपस्थिति पर निर्भर होती है।

द्रव अमोनिया अच्छा विलायक है। इसमें बहुत सी धातुएँ, लवण और अन्य यौगिक घुल जाते हैं। कुछ लवण जो पानी में सूक्ष्म मात्रा में विलेय होते हैं, अमोनिया में अच्छी तरह घुल जाते हैं जैसे सिल्वर आयोडाइड। बहुत से कार्बनिक यौगिक भी अमोनिया में घुलनशील होते हैं। विलायक के रूप में अमोनिया में यौगिकों की संगत (ऐसोसिएशन) करने अथवा विलेय के साथ यौगिक बनाने की प्रवृत्ति होती है।

अमोनिया की पहचान उसकी विशिष्ट गंध या गीले लाल लिटमस को नीला करने या नेसलर रीएजेन्ट में भूरा रंग उत्पन्न करने से की जाती है।

अमोनकर, किशोरी भारतीय संगीत की शास्त्रीय परम्परा की जयपुर घराने की एक वरिष्ठ गायिका। लब्धप्रतिष्ठ गायिका मोघूबाई कोछीकर इनकी माँ थीं, और उनके अतिरिक्त इन्होंने उस्ताद अल्लाहदिया खाँ से गायन का प्रशिक्षण लिया था। जयपुर घराने की संगीत–पद्धति पर समुचित अधिकार करने के साथ–साथ, इन्होंने अपनी रचनात्मक प्रतिभा को स्वतंत्र रूप में भी विकसित किया और प्रयोगशील मनोवृत्ति को लेकर, अपने गायन में अनेक नयी प्रवृत्तियाँ जोड़ी हैं। इसीलिए उनके गायन में बड़ी विविधता है; और अनेक पारम्परिक राग–रागिनियों के साथ वे ठुमरी, ख़याल और भजन भी गाती हैं। इन्होंने संगीतशास्त्र के प्राचीन तथा नवीन ग्रन्थों का भली प्रकार अध्ययन किया है। इनके गायन में विविधता के साथ बड़ी जीवन्तता और गरिमा देखने को मिलती है।

अम्बपाली यह प्राचीन नगर वैशाली की नगरवधू कही गयी है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने उसके जीवन की सामान्य और विलक्षण घटनाओं को लेकर एक उपन्यास भी लिखा है। कहा जाता है कि वैसे तो वह अभिजात कुल की कन्या थी; लेकिन अनुपम सुन्दरी होने के कारण उसे नगरवधू का जीवन स्वीकार करना पड़ा था। महाराज बिम्बसार भी उसके रूप–लावण्य से मोहित हो गये थे, और उससे उनका एक पुत्र भी हुआ था। महात्मा बुद्ध जब एक बार वैशाली में ठहरे हुए थे तो अम्बपाली ने उनसे भेंट कर उनसे अपने यहाँ आतिथ्य–ग्रहण करने की प्रार्थना की थी। उन्होंने उसका निमंत्रण स्वीकार तो कर लिया था; लेकिन कहा था कि फिर कभी जब सुअवसर मिलेगा और उन्हें लगेगा कि अम्बपाली को अब वास्तव में उनकी अपेक्षा है, तो वे आयेंगे। इस भेंट से लौटते हुए अम्बपाली ने अपना रथ लिच्छवि राजकुमारों के समकक्ष ही रखा था और उससे राजपुत्रों ने अपने को बहुत अपमानित समझा था।

अम्बपाली, जिसका नाम आम्रपाली भी मिलता है, जब परिणत वय में थी, और उसका रूप–वैभव सब समाप्त हो गया था, तो तथागत ने उसके आम्रकुञ्ज में उसका आतिथ्य स्वीकार किया था। अम्बपाली ने जब बौद्ध धर्म में दीक्षा ली थी, तो अपना आम्रकुञ्ज संघ को समर्पित कर दिया था और पवित्र मन से फिर अर्हत् का जीवन व्यतीत करने लगी थी। अम्बपाली के जीवन के इन सभी प्रसंगों को लेकर रामवृक्ष बेनीपुरी जी ने बड़ा प्रभावपूर्ण नाटक भी लिखा है।

अम्बा महाभारत कालीन काशिराज इन्द्रद्युम्न की ज्येष्ठ कन्या। इसकी छोटी बहनें अम्बिका और अम्बालिका थीं। यह राजा शाल्व के साथ विवाह करना चाहती थी, लेकिन इसी बीच भीष्म ने काशिराज से उनकी तीनों कन्याओं को अपने सौतेले भाई विचित्रवीर्य के साथ विवाह के लिए ले लिया। हस्तिनापुर लौटने पर उन्होंने अम्बिका और अम्बालिका का विचित्रवीर्य के साथ विवाह कर दिया। वे स्वयं तो अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा कर चुके थे, अतः उन्होंने अम्बा से कहा कि वह अपने प्रिय शाल्व के पास चली जाये। शाल्व ने इसे ग्रहण करने से मना कर दिया। तब उसने निश्चय किया कि वह भीष्म पितामह से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बदला लेगी। उसने शिव की तपस्या आरम्भ की और उनसे वर लिया कि वह भीष्म से बदला लेने में समर्थ हो। कथा कहती है कि वही अगले जन्म में शिखण्डी हुई थी और उसी ने फिर भीष्म के निधन की भूमिका बनायी थी।

अम्बालिका महाभारत कालीन काशी के महाराज इन्द्रद्युम्न की सबसे छोटी कन्या। अम्बा और अम्बिका उसकी बड़ी बहनें थीं। भीष्म, स्वयंवर में उन्हें जीतकर अपने साथ ले आये थे और फिर अम्बालिका का विवाह उन्होंने अपने सौतेले भाई विचित्रवीर्य के साथ कर दिया था। विचित्रवीर्य का थोड़े ही दिनों बाद निधन हो गया था और तब राजमाता सत्यवती के आग्रह पर महर्षि व्यास से नियोग द्वारा अम्बिका ने पाण्डु को उत्पन्न किया था, कालान्तर में जो पाण्डवों के पिता हुए।

अम्बिका महाभारत काल के काशी के महाराज इन्द्रद्युम्न की मझली कन्या। भीष्म स्वयंवर में जीतकर तीनों बहनों को अपने साथ ले आये थे। अम्बालिका के साथ अम्बिका का विवाह भी उन्होंने अपने सौतेले भाई विचित्रवीर्य से कर दिया था। राजमाता सत्यवती के कहने पर महर्षि व्यास से नियोग द्वारा वह धृतराष्ट्र की माता बनी थी। 'महाभारत' में लिखा है कि संयोग के समय अम्बिका ने आँखें मूँद ली थीं, इसीलिए उनके पुत्र धृतराष्ट्र जन्म से ही अन्धे थे। यही धृतराष्ट्र कालान्तर में कौरवों के पिता हुए।

अम्बेदकर, भीमराव बाबा साहब डॉ० भीमराव रामजी अम्बेदकर (१४ अप्रैल, १८९१ – ६ दिसम्बर, १९५६ ई०) भारत की अनुसूचित जातियों, विशेष रूप से दलित जातियों के प्रमुख नेता रहे। इनके पूर्वज महाराष्ट्र के रत्नागिरि जिले की महार जाति के थे। इनके बाबा का नाम मालोजी सकपाल तथा पिता का नाम रामजी अम्बावदेकर था। यह अपने माता–पिता की चौदहवीं सन्तान थे। पिताजी अंग्रेजी सेना में सूबेदार–मेज़र के पद से अवकाश प्राप्त करके सैनिक स्कूल में प्रशिक्षक के पद पर नियुक्त हो गये। इनका स्कूल का प्रारम्भिक नाम भीमा रावजी अम्बावदेकर था। स्कूल के एक अध्यापक ने जो कि उनसे बहुत प्रभावित थे, अपना उपनाम इन्हें दे दिया। तब से वे अम्बावदेकर के स्थान पर अम्बेदकर कहे जाने लगे। अपने विद्यार्थी जीवन के प्रारम्भिक दिनों में अम्बेदकर को भारतीय समाज में अस्पृश्यता का अमानवीय रूप देखने को मिला। भीमराव इसके विरोध में जीवन भर संघर्ष करते रहे तथा हिन्दू समाज में अस्पृश्य कहे जाने वाले समुदाय को उसका यथोचित अधिकार दिलाने में प्रमुख भूमिका निभायी। जब वह मात्र चौदह वर्ष के थे तथा पाँचवीं कक्षा में पढ़ते थे, उनका विवाह रमाबाई से हो गया, जो स्वयं उस समय नौ वर्ष की थी। वर्ष १९१२ में उन्होंने स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण की तथा बड़ौदा राज्य सेवा में नियुक्त हो गए। अगले ही वर्ष अर्थात् १९१३ में वह गायकवाड़ छात्रवृत्ति पर उच्च अध्ययन के लिए अमेरिका चले गये। जून १९१६ में उन्होंने पीएच०डी० की उपाधि प्राप्त की। वर्ष १९१७ में वह फिर से बड़ौदा राज्य की सेवा में आ गये और राजनीति में प्रमुख भूमिका निभाने लगे। वर्ष १९२३ में उन्हें डी०लिट्० की उपाधि प्राप्त हुई।

अम्बेदकर के मन पर तीन भारतीय मनीषियों का सर्वाधिक प्रभाव था – कबीर, ज्योतिबा फुले तथा गौतम बुद्ध। भीमराव ने अपने जीवन से अपने अनुयायियों को जो शिक्षा दी उसका सार तत्त्व था 'योग्यता' न कि जाति विशेष में जन्म। उन्होंने सदैव ही विचारों और क्रियमाण में सन्तुलन बनाये रखने का प्रयत्न किया तथा परिवर्तन को जीवन का सिद्धान्त मानते रहे। उनके प्रयत्नों से दलित जनसमूह को मन्दिरों में प्रवेश, राजनैतिक क्षेत्र में सम्मानजनक तथा समानता का अधिकार मिला। सवर्ण हिन्दुओं के मनोवैज्ञानिक परिवर्तन के वे बड़े कारक सिद्ध हुए। वर्ष १९२८ में बम्बई लेजिस्लेटिव कौंसिल से लेकर वर्ष १९४६ में कांस्टीट्यूएन्ट असेम्बली (भारतीय संविधान निर्मात्री सभा) तक उनका जीवन एक व्यस्त तथा कुशल राजनीतिज्ञ का रहा। वे संविधान लेखन समिति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्यक्ष रहे। वर्ष १९४७ में वे स्वतंत्र भारत के कानून मंत्री बनाये गये। वर्ष १९५२ में वह राज्य सभा के सदस्य चुने गये।

धर्म के विषय में अम्बेदकर का स्पष्ट मत था कि सनातन धर्म, व्यक्तिगत विषय है, जबकि बौद्ध धर्म एक सामाजिक विचारधारा। बुद्ध के विचारों से वे इतना अधिक प्रभावित थे कि वर्ष १९५६ में उन्होंने सार्वजनिक रूप से बौद्ध धर्म स्वीकार किया और अपने असंख्य अनुयायियों को इसके लिए प्रेरित भी किया। वह बुद्ध के बोधिसत्त्व स्वरूप से अत्यन्त प्रभावित थे। स्वाधीनता को वह दो भिन्न दृष्टिकोणों से देखते थे – राष्ट्र की स्वाधीनता तथा व्यक्तिगत स्वाधीनता। यदि राष्ट्र स्वाधीन है, किन्तु उसके सभी नागरिकों को पूर्ण स्वाधीनता नहीं है तथा एक विशेष वर्ग को अन्य वर्गों के सापेक्ष विशेषाधिकार प्राप्त है, तो यह पूर्ण स्वाधीनता नहीं कहला सकती। ऐसी परिस्थिति में राष्ट्र की स्वाधीनता अर्थहीन है, क्योंकि एक मुट्ठी भर लोग शेष जनता को मात्र गुलाम बनाकर रखते हैं। डॉ० अम्बेदकर का सम्पूर्ण जीवन राष्ट्र के नागरिकों को इसी स्वाधीनता को दिलाने हेतु समर्पित रहा।

अम्ल कुछ सुनिश्चित समानगुण धर्म प्रदर्शित करने वाले रासायनिक यौगिकों के समूह को अम्ल कहा जाता है। अम्लों के विलयन स्वाद में खट्टे होते हैं तथा त्वचा के संसर्ग में आते ही दहन (जलन) संवेदन उत्पन्न करते हैं। ये बहुत सी धातुओं को घोलने में समर्थ होते हैं तथा नीले लिटमस पेपर को लाल कर देते हैं। क्षार कहे जाने वाले रासायनिक यौगिक अम्लों को उदासीन कर देते हैं।

बहुत से अम्ल, प्रकृति में पाये जाते हैं, जिनमें से कुछ मानव जीवन के लिए आवश्यक होते हैं। उदाहरणार्थ हाइड्रोक्लोरिक अम्ल (Hcl) मानव आमाशय में उत्पन्न होता है तथा पाचन प्रक्रिया में सहायता करता है। उद्योगों में अम्लों का उपयोग भारी मात्रा में होता है। बड़ी संख्या में खाद्यों तथा पेय पदार्थों में अम्लों का प्रयोग किया जाता है। बहुत से अम्ल विषाक्त होते हैं एवं प्रबल अम्ल, गम्भीर दहन का कारण बन सकते हैं।

रसायनज्ञों ने अम्लों के चरित्र को विभिन्न परिभाषाओं द्वारा वर्णित किया है। जल के विलायक होने पर, जो यौगिक जल में घुलकर विलयन में हाइड्रोजन आयन (H^+) उत्पन्न करते हैं, अम्ल कहे जाते हैं। हाइड्रोजन परमाणु में धन आवेशयुक्त एक प्रोटोन तथा ऋण आवेशयुक्त एक इलेक्ट्रॉन होता है। हाइड्रोजन आयन एक प्रोटॉन होता है जो हाइड्रोजन परमाणु द्वारा इलेक्ट्रॉन मुक्त कर दिये जाने पर बनता है। जलीय विलयन में प्रोटॉन (H^+) विलायक के अणुओं के साथ निकटता से सम्बद्ध होकर, हाइड्रोनियम आयन (H_3o^+) बनाता है ($H^+ + H_2o \rightarrow H_3o^+$)।

अम्ल को प्रोटॉन दाता के रूप में भी परिभाषित किया गया है, अर्थात् अम्ल वह पदार्थ है जो किसी अन्य पदार्थ को सहजता के साथ प्रोटान दे देता है। इस परिभाषा के अन्तर्गत अम्ल का हाइड्रोजन परमाणु युक्त होना आवश्यक है। अतः एक अन्य विस्तृत परिभाषा के अनुसार इलेक्ट्रॉन युग्म स्वीकार करने वाले पदार्थों को अम्ल कहा गया है। इस परिभाषा के अन्तर्गत सभी अम्ल आ जाते हैं, भले ही उनमें हाइड्रोजन परमाणु हो या न हो अथवा वह प्रोटॉन दाता के रूप में कार्य करे या न करे। चूँकि इस परिभाषा के अनुसार अम्ल किसी अन्य अणु अथवा परमाणु से इलेक्ट्रॉन युग्म स्वीकार करता है इसलिए इस प्रकार की अभिक्रियाओं में अम्ल और इलेक्ट्रॉन युग्म दाता, परस्पर मिलकर एक नवीन अणु, परमाणु अथवा आयन को उत्पन्न करते हैं जिसमें वे परस्पर इलेक्ट्रॉन युग्म का साझा करते हैं।

किसी अम्ल की प्रबलता इस बात पर निर्भर करती है कि विलयन में अम्ल किस अंश तक वियोजित होकर हाइड्रोजन आयन उत्पन्न करता है। जलीय विलयन में हाइड्रोजन क्लोराइड (HCl) का अणु हाइड्रोजन आयन मुक्त करता है, इसीलिये वह एक प्रबल अम्ल है। एसीटिक अम्ल (CH_3CooH) जलीय विलयन में कम अंश तक वियोजित होकर कुछ ही आयन उत्पन्न करता है अतः दुर्बल अम्ल है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अम्ल दो प्रकार के होते हैं : कार्बनिक तथा अकार्बनिक। अकार्बनिक अम्लों में सामान्यः कार्बन परमाणु नहीं होते। ये अन्य रसायनों, विस्फोटकों, उर्वरकों, धातुओं, प्रलेपों, प्लैस्टिकों, कृत्रिम तन्तुओं तथा पेट्रोलियम के परिशोधन में प्रयोग किये जाते हैं। सल्फ्यूरिक अम्ल (H_2So_4) एक प्रबल अकार्बनिक अम्ल है तथा अत्यधिक प्रयोग किये जाने वाले रसायनों में से एक है। मोटर गाड़ियों की बैटरियों में तरल के रूप में सल्फ्यूरिक अम्ल का उपयोग जन परिचित है। महत्त्वपूर्ण अकार्बनिक अम्लों में हाइड्रोक्लोरिक (HCl), फास्फोरिक (H_3Po_4) तथा नाइट्रिक अम्ल (HNo_3) आते हैं।

कार्बनिक अम्लों में कार्बन परमाणु होते हैं। अम्लों का उपयोग पेयों, प्रसाधन सामग्रियों, अपमार्जकों, औषधियों, खाद्यों, साबुन तथा प्लैस्टिकों में किया जाता है। सामान्य कार्बनिक अम्लों में सिट्रिक अम्ल ($C_6H_8o_7$), जो सिट्रस फलों (नींबू, संतरा आदि) में पाया जाता है, ऐस्कार्बिक अम्ल ($C_6H_8o_6$) अथवा विटामिन सी; तथा ऐसीटोन सेलिसिलिक अम्ल ($C_9H_8o_4$) अथवा ऐस्पिरिन आदि पाये जाते हैं। ऐमीनो अम्ल जिनमें नाइट्रोजन परमाणु होते हैं, भी कार्बनिक अम्ल होते हैं। ऐमिनो अम्ल प्रोटीनों के इमारती खण्ड होते हैं और उनमें कुछ मानव जीवन के लिए आवश्यक होते हैं।

अयोध्या हमारे देश की सात बड़ी प्राचीन और पवित्र नगरियों में इसकी गणना होती है। उत्तर भारत में सरयू नदी के तट पर मध्यकालीन नगर फैजाबाद के पास आज भी वह स्थित है। यह प्राचीन काल में इक्ष्वाकु वंश के कोसल राज्य की राजधानी थी। अयोध्या शब्द का अर्थ बनता है – 'वह जिसके साथ युद्ध न किया जा सके'। यह नामकरण इस दृष्टि से सार्थक प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में अयोध्या पर आक्रमण का कोई प्रसंग नहीं मिलता। सम्भवतः अयोध्या की इसी अजेयता से प्रभावित होकर कालिदास ने यहाँ के राजाओं को लेकर 'रघुवंश' महाकाव्य की रचना की थी। राम, जिनके परम उदात्त चरित्र को लेकर वाल्मीकि ने आदिकाव्य की रचना की थी, रघुकुल के सम्राट् महाराज दशरथ के पुत्र थे। अयोध्या में ही राम का जन्म हुआ था और यहीं उन्होंने चौदह वर्ष के बनवास और अपने युग की सबसे प्रबल दानवी शक्ति रावण को पराजित करने के बाद, आदर्श राज्य की स्थापना की थी। ऐतिहासिक युग में सम्राट् समुद्रगुप्त ने इसे अपनी दूसरी राजधानी बनाया था। ईस्वी सन् की सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग ने इस नगर की यात्रा की थी। उसने लिखा है कि उस समय वहाँ २० बौद्ध मन्दिर और विहार थे, जिनमें कोई ३००० भिक्षु रहते थे। अयोध्या में कुछ जैन–मन्दिर भी मिले हैं, उन्हें देखकर लगता है कि कभी जैन धर्मावलम्बियों ने भी इसे अपने धार्मिक प्रचार का केन्द्र बनाया था। इस प्राचीन नगर में अब वैष्णव, बौद्ध और जैन धार्मिक–स्थलों के खण्डहर ही शेष रह गये हैं।

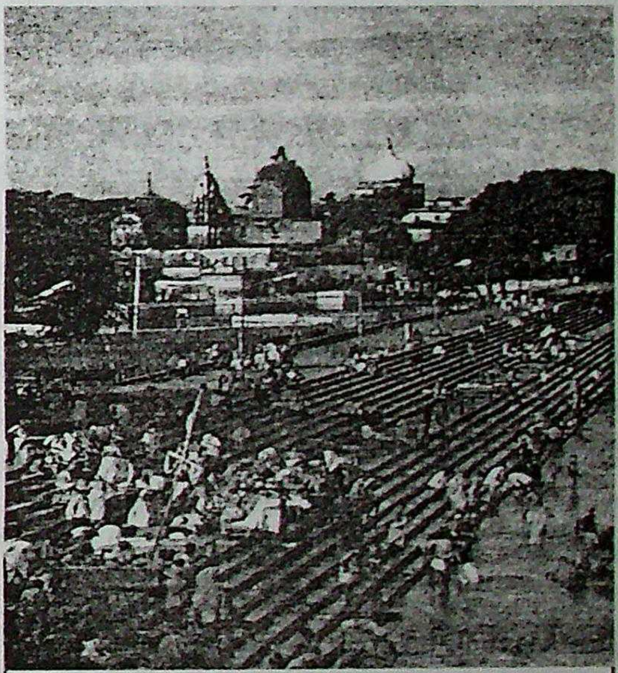

अयोध्या

वर्तमान अयोध्या के मन्दिरों में भी 'सीता रसोई' तथा 'हनुमान् गढ़ी' को सर्वाधिक प्राचीन कहा जाता है। अयोध्या के ही किसी मंदिर में बैठकर गोस्वामी तुलसीदास ने अपने कालजयी ग्रन्थ 'रामचरित्मानस' की रचना आरम्भ की थी। उन्होंने ही वहाँ रामलीला की परम्परा भी चलायी थी, जो आज तक चली आ रही है। इस नगर की इतनी प्रसिद्धि थी कि पहले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुग़ल सम्राट् बाबर के सिपहसालार मीर बाक़ी ने एक मस्ज़िद का निर्माण कराया था। उस स्थान के सम्बन्ध में शताब्दियों से यह विवाद चला आ रहा है कि वहाँ राम की जन्मभूमि थी और उसके स्मारक के रूप में वहाँ मन्दिर बना हुआ था, जिसे ध्वस्त करके मस्जिद बनायी गयी थी। सन् १६६२ में उस विवादित ढाँचे को विनष्ट कर दिया गया था और उसके स्थान पर मन्दिर निर्माण करने का प्रयास चल रहा है।

अयोध्या में आज विशेष रूप से जो सम्मानित मन्दिर हैं; यथा 'कनक भवन', 'नागेश्वरनाथ' और 'दर्शनसिंह' मन्दिर १८वीं और १६वीं शताब्दी के बताये जाते हैं। इस नगर में वर्ष में तीन बार मार्च–अप्रैल, जुलाई–अगस्त तथा अक्टूबर–नवम्बर के महीनों में मेले लगते हैं। रामनवमी, विजयदशमी और दीपावली के दिनों बहुत बड़ी संख्या में लोग यहाँ यात्रा के लिए आते हैं। अब यह नगर एक तीर्थ स्थान के रूप में ही जाना जाता है।

अरण्य तुलसी (ओसिमम ग्रेटिसिमम) : इसे वन तुलसी, रामतुलसी तथा वनजीरी भी कहते हैं। ये बहुवर्षीय झाड़ी जो कि १–२.५ मीटर तक ऊँची होती है, देश के हर भाग में पायी जाती है। इसमें फूल लम्बी बाली के रूप में पीले रंग की हरीतिमा लिये हुए होते हैं। इसमें अन्य किस्मों से अधिक खुशबू पायी जाती है तथा इसमें मच्छरों को भगाने के लिए अधिक क्षमता होती है। इसका तेल कान तथा दाँत की बीमारी में प्रयोग किया जाता है। इसके बीज भी खाये जाते हैं तथा सिर दर्द तथा दस्त में दिये जाते हैं। इसका तेल ऊपर लिखित बीमारियों के अलावा बैक्टीरिया की क्रियाशीलता एवं जहरीले प्रभाव को कम करने के काम आता है। जोड़ों पर सूजन में १ अनुपात १०० में प्रयोग करने पर आराम होता है। इसको लेबियेटी कुल में रखा जाता है।

अरब दक्षिण–पश्चिम एशिया का विशाल प्रायद्वीप। भौगोलिक दृष्टि से देशान्तर तक फैला हुआ है। यह पूरा क्षेत्र अधिकांश में रेगिस्तानी या पठारी है। इस क्षेत्र की औसतन चौड़ाई १२०० कि.मी. तथा लम्बाई १६२० कि.मी. मील है। क्षेत्रफल है १६३२४८० वर्गकि.मी.। पूर्व में फारस और ओमान की खाडियाँ हैं। दक्षिण में अरब सागर और अदन की खाड़ी है। पश्चिम में लाल सागर है।

अरब का यह प्रायद्वीप पूर्व की ओर धीरे–धीरे उतरता हुआ, पहाड़ी क्षेत्र है। यह उतार लाल सागर के तट की पर्वतमाला से आरम्भ होता है। इस पर्वत शृंखला की ऊँचाई यमन (साना) में १२००० फीट से भी ऊँची है। इस सम्पूर्ण क्षेत्र में बड़े लम्बे–चौड़े रेगिस्तानी फैलाव हैं, जहाँ निरन्तर सूखा और अत्यधिक गर्मी रहती है। इसीलिए अधिकांश क्षेत्रों में निर्जनता है।

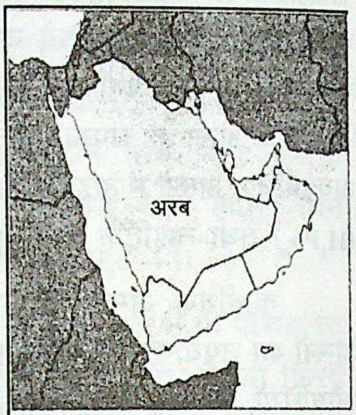

अरब

राजनीतिक दृष्टि से अरब अनेक छोटे–छोटे राज्यों में विभाजित है; यथा कुवैत, ओमान, कत़र, सऊदी अरेबिया, संयुक्त अरब अमीरात, अमन (अदन), यमन (साना) तथा बहरीन (फ़ारस की खाड़ी का द्वीप)।

अरब के दक्षिणी भाग में जो पुरातात्त्विक खोजें हुई हैं उनसे यह ज्ञात होता है कि ईसा के कोई १२०० वर्ष पूर्व वह क्षेत्र खेती, उद्योग तथा व्यापार की दृष्टि से बड़ा ही समृद्ध था। इस क्षेत्र में मिले आसुरी शिलालेखों के अतिरिक्त बाइबिल के प्राचीन पाठ तथा अन्य पुराने ग्रन्थों से भी इस विचार की पुष्टि होती है। सबसे पहले इस दक्षिणी भूभाग में माइन राजकुल का उल्लेख मिलता है। उसके २५ राजाओं के नाम ज्ञात होते हैं। उसके बाद सबा का उल्लेख है। सबा की राजमहिषी शेबा का उल्लेख तो बाइबिल में भी मिलता है; जिसने ई०पू० ६५० में सम्राट् सुलेमान से भेंट की थी। सबा के लोग मिस्र और भूमध्य सागर के देशों से, लोबान, मसालों तथा सुगन्धित द्रव्यों का व्यापार किया करते थे। सबा की राजधानी मारिब से प्रायः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभी दिशाओं में रास्ते जाते थे और उनसे व्यापारी कारवाँओं के सहारे अपना सामान विदेश ले जाते थे।

ई०पू० चौथी शताब्दी में नबेता जाति के लोगों ने पैत्रा (आज के जॉर्डन के पास) एक नये राज्य की स्थापना की, और फिर उसे वाणिज्य व्यवसाय का केन्द्र बनाया। इन्हीं लोगों ने ई०पू० २४ में रोमन लोगों के सबा पर आक्रमण में सहायता दी। वहाँ उस समय हज़्रभीत वंश का राज्य था और उसने उन आक्रमणकारियों को पराजित कर दिया, और ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी में पेत्रा पर अधिकार कर लिया और फिर उस क्षेत्र का सारा वाणिज्य व्यवसाय अपने हाथों में ले लिया। रोमन लोगों ने लाल सागर और भारतीय महासागर में अपने जहाजों से व्यापार करना आरम्भ किया और उसका नतीजा यह हुआ कि अरब के लोग अनेक शताब्दियों के लिए अन्धकार युग में चले गये। ईस्वी सन् की सातवीं शताब्दी में मुहम्मद साहब के अभ्युदय और इनके द्वारा इस्लाम धर्म के प्रवर्तन के साथ, अरब के लोगों में फिर जागरूकता आयी। मुहम्मद साहब ने पहले मदीना, मक्का और हेजाज़ के शहरों को अपने नये धर्म में दीक्षित किया। सन् ६३३ तक प्रायद्वीप के सभी क्षेत्रों में इस्लाम का प्रचार हो गया और फिर उन्होंने अरब से बाहर निकलना आरम्भ किया। ईस्वी सन् ६२२ में मुहम्मद साहब का निधन हुआ; और उसके बाद मदीना से उनके उत्तराधिकारी, जिन्हें खलीफा कहा जाता था, राज्य करते रहे। सन् ६६१ में ही तत्कालीन खलीफा ने डैमस्कस को अपनी राजधानी बनाया और उसका नतीजा यह हुआ कि इस प्रायद्वीप का राजनीतिक महत्त्व घटने लगा। सन् ७६२ में बग़दाद के, इस्लाम की राजधानी बन जाने के बाद, अरब क्षेत्र का महत्त्व और भी अधिक घट गया।

मूल क्षेत्र से खिलाफत के दूर चले जाने के बाद, अरबों की एकता टूटने लगी। लाल सागर के पश्चिमोत्तर तटीय भाग पर मिस्र ने अधिकार कर लिया। दक्षिण क्षेत्र में अनेक स्थानीय राजवंश खड़े हुए। एक क्रान्तिकारी मुस्लिम सम्प्रदाय करामाती ने १८६६ में फारस की खाड़ी के क्षेत्र में एक राज्य की स्थापना कर ली, और फिर मध्य प्रायद्वीप पर अधिकार कर लिया। ११वीं शताब्दि में तुर्की भाषा बोलने वाले आक्रमणकारियों ने मध्यपूर्व में आकर सम्पूर्ण उत्तरी सीमाक्षेत्र पर अधिकार कर लिया। पश्चिमी क्षेत्र पर सन् १२५० से मिस्र के तुर्कों ने अपना राज्य बना लिया। सन् १५१७ में प्रायः पूरे प्रायद्वीप के क्षेत्र पर ओटोमन तुर्कों का अधिकार हो गया। कुछ भीतरी क्षेत्र मात्र ही स्थानीय जातीय सरदारों के हाथों में रह गये।

सोलहवीं शताब्दी में पुर्तगाल के लोगों ने दक्षिण–पूर्वी और पूर्वी समुद्रतटों पर अपने व्यापार केन्द्र स्थापित किये; लेकिन जल्दी ही उन्हें यह लगा कि यह क्षेत्र उनके लिए विशेष रुचि का नहीं है। अठारहवीं शताब्दी में फारस की घाटी का वह तटीय क्षेत्र, जिसे आज संयुक्त अरब अमीरात कहते हैं, जल–दस्युओं का अड्डा बन गया।

सन् १८२० में अंग्रेजों ने कुछ दक्षिण–तटीय क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। सामरिक महत्त्व की दृष्टि से सन् १८३६ में उन्होंने अदन पर अधिकार किया और अपने संरक्षण में कुछ अरबी राज्य स्थापित किये। सन् १६०५ में आटोमन साम्राज्य से समझौता करके उन्होंने लाल सागर से लेकर फारस की खाड़ी तक सम्पूर्ण तटीय क्षेत्र को अपने नियंत्रण में ले लिया।

अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मुसलमानों के एक बहावी सम्प्रदाय ने एक सऊदी परिवार के नेतृत्व में नेज्द में एक सशक्त राज्य की स्थापना की। कुछ समय बाद ओटोमन तुर्कों ने उस पर अधिकार कर लिया; लेकिन १८७० में उस वंश के लोगों ने फिर उसे स्वतंत्र कर लिया। सन् १८६० में तुर्कों की सहायता से एक अन्य अरबी परिवार ने उस पर अपना शासन बना लिया। बीसवीं सदी के आरम्भ में वह क्षेत्र, इब्नसौद ने अपने हाथों में ले लिया। सन् १६२५ में उसने हेज़ाज़ के राज्य को भी अपने नियंत्रण में ले लिया। सन् १६३२ में उसने उस सम्पूर्ण क्षेत्र को एक नाम 'सऊदी अरब' प्रदान किया। ओटोमन तुर्क यद्यपि मुसलमान ही थे, तथापि स्थानीय मुसलमानों के मन में उनके विरोध की तीव्र भावना थी। सन्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१६१६ में हेज़ाज़ ने सबसे पहला विद्रोह किया, और एक अंग्रेज सैनिक अधिकारी डी०ई० लारेन्स के नेतृत्व में अपने को तुर्कों से सर्वथा स्वतंत्र कर लिया। प्रथम विश्व–युद्ध के बाद यमन के साना क्षेत्र ने भी अपने को आज़ाद कर लिया।

सन् १६३० में अरब प्रायद्वीप की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना घटित हुई : फारस की खाड़ी के अनेक तटीय क्षेत्रों में तेल पाया गया। बहरीन, सऊदी अरब, कुवैत और कतर में तेल को निकालने के कारखाने बने। संयुक्त राज्य अमेरिका और अंग्रेजों ने अपनी–अपनी कम्पनियाँ स्थापित करके तेल–उत्पादन में योग दिया। इस नये व्यवसाय से प्रायः सभी अरब राज्य समृद्धि की दिशा में चल पड़े।

अरब प्रायद्वीप के येरूशलम के निकट के क्षेत्र में कभी मिस्र से आकर यहूदियों ने अपनी बस्तियाँ बसायी थीं। इस्लाम के प्रचार और प्रसार के साथ यहूदियों का इस क्षेत्र में रहना बड़ा दूभर हो गया था। इसीलिए उन्हें इस क्षेत्र को छोड़कर अनेक यूरोपीय देशों में जाना पड़ा; लेकिन उन्हें वहाँ भी उनकी अर्थ–लाभ की प्रवृत्ति के कारण स्थानीय लोगों का विरोध झेलना पड़ा। हिटलर ने तो जर्मनी में उन्हें पकड़–पकड़ कर सामूहिक रूप में नर–संहार कराया था। दुनिया भर के यहूदियों में सामान्यतः यह इच्छा थी कि उन्हें अपना मूल क्षेत्र वापस मिलना चाहिए।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सन् १६४७ में संयुक्त राष्ट्र संघ ने फिलिस्तीन का बँटवारा कर वहाँ एक यहूदी राज्य स्थापित करने का प्रस्ताव स्वीकार किया। सन् १६४८ की १८ मई को फिलिस्तीन में यहूदी राज्य की स्थापना हुई। उसका परिणाम यह हुआ कि उस क्षेत्र के मुसलमान पास के मुस्लिम राज्यों मिस्र, इराक, जार्डन, लेबनान और सीरिया चले गये। तभी से फिलिस्तीनों और यहूदियों के बीच, जिनके राज्य का नाम 'इज़राइल' है, बराबर संघर्ष चल रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रस्ताव के आधार पर १६६४ में गाज़ा पट्टी पर यद्यपि फिलिस्तीनों के स्वतंत्र राज्य की स्थापना हो गयी है, लेकिन फिलिस्तीनियों और यहूदियों के बीच, राजनीतिक अधिकार को लेकर संघर्ष जारी है। अरब के तेल–उत्पादक मुस्लिम राज्य आज भी संयुक्त राज्य अमेरिका और अंग्रेजों के संरक्षण में अपने तेल व्यवसाय से अपार धन अर्जित कर रहे हैं। लेकिन अब उन अरबों के सामने सवाल उठने लगा है कि तेल के भण्डार, जो धीरे–धीरे खाली हो रहे हैं, उनके समाप्त हो जाने के बाद उनकी क्या स्थिति होगी ?

अरब सागर अरब प्रायद्वीप और भारतवर्ष के बीच फैला विशाल समुद्र : इसे हिन्द महासागर का एक लम्बा हाथ ही कहा जाता है। यह सागर पूर्व से पश्चिम तक ३०४० कि.मी., तथा उत्तर से दक्षिण तक २००० कि.मी. फैला हुआ है। इस सागर में शरद और बसन्त की ऋतुओं में बड़े भयंकर तूफान उठते हैं; और वर्षा के दिनों में मानसूनी हवाएँ उठती हैं, जिसमें उमड़े हुए बादल, विशेष रूप से पूर्वी तटीय क्षेत्रों को अपनी वर्षा से हरा–भरा कर देते हैं

अरब सागर से दो प्रवेश मार्ग जाते हैं; एक अदन की खाड़ी से लेकर लाल सागर होता हुआ स्वेज नहर तक जाता है; और दूसरा ओमान की खाड़ी से फारस की खाड़ी तक ले जाता है। उत्तर भारत में उत्पन्न होकर और पाकिस्तान के सम्पूर्ण प्रदेश को अभिसिञ्चित करती हुई सिंधु ही एकमात्र ऐसी बड़ी नदी है, जो इस सागर में समाहित होती है। अरब सागर पर अदन, कराची और मुम्बई तीन बड़े ही व्यस्त बन्दरगाह हैं।

अरब सागर में द्वीपों की संख्या बहुत ही कम है, यथा कुरिया मुरिया, सोकोत्रा और लकादिव द्वीपसमूह। ये द्वीपसमूह समुद्रान्तर पर्वत मालाओं के द्योतक हैं। यह द्वीप–शृंखला हिन्द महासागर के मालदीव और चागोज द्वीप समूहों तक जाती है। यही समुद्रान्तर द्वीप शृंखला भारतवर्ष के पश्चिमी घाट की पर्वतमाला तक जाती है। अरावली पर्वतमाला को भी इसी शृंखला का विस्तार कहा जाता है। यह पूरी पर्वत शृंखला पूर्णतः प्रवाल द्वारा रचित है और वह हमें बड़े ही उच्च कोटि के प्रवाल (मूंगे) प्रदान करती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अरबी भाषा इस भाषा की विशेषता या प्रधानगुण उसकी व्याकरण की सम्पूर्णता है। उसके नियम अत्यन्त परिश्रम से और सोच–विचार कर निर्धारित किये गये हैं, जो अपनी जगह पर अटल हैं; और अगर कहीं उसमें बदलाव आया है, तो उसको वहीं स्पष्ट कर दिया गया है। संस्कृत के समान बिना व्याकरण के ज्ञान के इसका अध्ययन नहीं किया जा सकता। साधारणतः इसके व्याकरण के दो भाग हैं, एक सर्फ और दूसरा नहु।

अरबी भाषा संसार की कुछ ही भाषाओं में एक ऐसी भाषा है, जिसमें शब्दों की ध्वनियों को संकेतों के द्वारा प्रगट किया जाता है। यह उस भाषा के विस्तृत, शिष्ट और स्पष्ट होने के प्रमाण हैं। अतः बोलने वाले अक्षर को न बदल कर, उसके लिए एराबों का प्रयोग करते हैं। इसके लिये ज़बर, ज़ेर और पेश के चिह्न हैं। इससे लाभ यह है कि लिखने के अक्षर कम हो जाते हैं।

अरबी भाषा में कोई आशय अस्पष्ट नहीं रहता। जैसे दिन के हर पहर और घंटे के लिए अलग–अलग नाम हैं और चाँदनी रात के विभिन्न सोपानों के अलग–अलग नाम हैं। इस भाषा का शब्द भण्डार बहुत बड़ा है।

अरबी लिपि अरबी लिपि विश्व की बहु प्रचलित लिपियों में से एक है। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में अधिक मतभेद नहीं है। प्राचीन काल में एक पुरानी सामी लिपि थी, जिसकी आगे चलकर दो शाखाएँ हो गयीं। एक उत्तरी सामी लिपि, दूसरी दक्षिणी सामी लिपि। बाद में उत्तरी सामी लिपि से आर्मेइक तथा फ़ोनेशियन लिपियाँ विकसित हुईं। इसी आर्मेइक ने विश्व की बहुत सी लिपियों को जन्म दिया, जिसमें हिब्रू, पहलवी तथा नेवतेन आदि प्रधान हैं। नेवतेन से सेनेतिक और सेनेतिक से पुरानी अरबी लिपि का जन्म हुआ। यह जन्म कब और कहाँ हुआ, इसके प्रमाणों का अभाव है। अरबी का प्राचीनतम अभिलेख ५१२ ई० का है। अतः इससे पूर्व अरबी का जन्म हो चुका था। अरबी लिपि का विकास मक्का, मदीना, बसरा, कूफा, दमश्क आदि नगरों में हुआ। इनमें अधिकांश की अपनी–अपनी शैली तथा विशेषताएँ विकसित हो गयीं, जिनमें प्रमुख दो थीं– (१) कूफ़ी– मैसोपोटामिया के कूफा नगर में विकसित, (२) नस्खी– मक्काए मदरना में विकसित। इनमें कूफ़ी का विकास ७वीं सदी के अन्तिम चरण में हुआ। यह कलात्मक लिपि थी और स्थायी मूल्य के अभिलेखों के प्रयोग में आती थी। नस्खी का विकास बाद में हुआ और इसका प्रयोग सामान्य कार्यों एवं त्वरालेखन में होता था। अरबी लिपि दायें से वाये लिखी जाती है। इसमें कुल २८ अक्षर हैं।

अरबी लिपि को यूरोप, एशिया तथा अफ़्रीका के कई देशों ने अपना लिया, जिनमें तुर्की, फ़ारस, अफ़गानिस्तान तथा हिन्दुस्तान प्रधान हैं। इन विभिन्न देशों में जाकर इस लिपि के कुछ चिह्नों तथा अक्षरों की संख्या में परिवर्तन भी आये। उदहारणार्थ फ़ारसी में 'रे' तथा 'जे' कुछ परिवर्तित ढंग से लिखे जाने लगे तथा उस भाषा में २८ ध्वनियों के बजाय अक्षरों की संख्या ३२ हो गयी। भारत में उर्दू तथा कश्मीरी आदि के लिए अरबी लिपि का प्रयोग किया जाता है। फ़ारस ने भी यह लिपि स्वीकार कर ली थी और उसके कुछ लिपि चिह्न और बढ़ा लिये थे। इन बढ़े अक्षरों में ध्वनि की दृष्टि से केवल तीन–टे, डाल, ड़े ही हैं।

तुर्की, पश्तो तथा मलय आदि भाषा–भाषियों ने भी अरबी में अपनी आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन–परिवर्द्धन कर लिये हैं। अरबी तथा उससे निकली सभी लिपियाँ पुरानी सामी की भाँति व्यंजन प्रधान हैं। स्वरों के लिए ज़ेर, ज़बर, पेश तथा मद का सहारा लेकर पूर्ण अंकन का प्रयास किया जाता है। पर वह उतना वैज्ञानिक नहीं है, जितनी नागरी तथा रोमन लिपियाँ हैं। इस दृष्टि से अरबी तथा उससे निकली अन्य सभी लिपियों में सुधार अपेक्षित है।

अरबी साहित्य विश्व की प्रायः सभी भाषाओं की भाँति अरबी साहित्य का आरम्भ भी गेय रूप में ही हुआ था, पहले गेय गद्य और फिर छन्द के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधान में कविताएँ। ये दोनों ही प्रकार की रचनाएँ शताब्दियों तक मौखिक परम्परा से ही चलती रही थीं। अरब के दक्षिण क्षेत्र में तो स्थायी बस्तियाँ बन गयी थीं; लेकिन उत्तर के लोग कबीलों में बँटे हुए अपने विशाल देश के विस्तृत रेगिस्तान में जहाँ कहीं पानी मिलता था, वहाँ जाते–आते रहते थे। इन कबीलों में परस्पर संघर्ष भी चलते रहते थे। उन संघर्षों को लेकर काव्य–प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति कविताएँ लिखते और उन्हें सुनाते रहते थे। उनकी रचनाएँ वीर–रसात्मक होती थीं। उनकी वाणी के कौशल से प्रभावित होकर सामान्य–जन उन्हें अपना नेता भी मानते थे। यदा–कदा वे प्रेम–भावना की रचनाएँ लिखकर भी जन–साधारण का मनोरंजन करते थे।

विद्वानों ने लयात्मक गद्य में कहे गये भगवत प्रेरणा से प्रसूत वचनों और भविष्य–वक्ताओं (नजोमियों) के वक्तव्यों से अरबी साहित्य का आरम्भ माना है। कालान्तर में मुहम्मद साहब के 'कुरान' में भी हम इसी अभिव्यंजना प्रणाली का प्रयोग हुआ है। उसके बाद ऊँट के सवारों के गीत आते हैं, जिनकी शब्दावली ऊँटों के पद–गति से नियंत्रित हुआ करती थी। अरबी में ऊँट सवार की संज्ञा 'साईक' का पर्यायवाची शब्द 'हादी', गायक का अर्थ देता है। उसी से 'रजाज' नामक छन्द विधान का विकास हुआ था, जिसमें चार अथवा छः पदों की संयोजना हुआ करती थी।

अरबी साहित्य के उस आदिम काल में चन्द्रमा की गतिविधि से वर्ष का निर्धारण होता था और पहले तीन महीने बसन्त की ऋतु में, युद्ध सर्वथा वर्जित था और मेलों का आयोजन हुआ करता था। इन मेलों के अवसर पर कवि सम्मेलन भी हुआ करते थे। कवि बड़े उत्साह से परिपूर्ण होकर अपनी रचनाएँ सुनाते थे और उन्हें फिर सम्मानित भी किया जाता था। पहला कवि जिसे सम्मानित किया गया था 'इम्राउक कैश' (ईसवी सन् ५४०), उसकी रचना का नाम 'उकाज़' था। कालान्तर में इन वार्षिक अधिवेशनों में पुरस्कृत रचनाओं को लेकर 'सात मूअल्लक़ात' संकलन बना था। इन रचनाओं को आठवीं शताब्दी के मध्य में लिपिबद्ध किया गया था। यह संकलन बाद में यूरोप की अनेक भाषाओं में अनुवादित हुआ।

वार्षिक मेलों के अवसर पर पढ़ी गयी ये सभी रचनाएँ, वीर–भावना से ओतःप्रोत थी, इसलिए उस युग को वीरकाव्य का काल कहा गया है। इन सभी रचनाओं के रूप विन्यास को 'क़सीदा' का नाम दिया गया है। इन क़सीदों के सुगठित स्वरूप को देखकर इनके पीछे एक लम्बी काव्य–परम्परा प्रतीत होती है। इनमें बड़ा ही रूढ़िबद्ध आरम्भ है, सामान्य विशेषणों का प्रयोग हैः एक जैसी अलंकार योजना है; लगभग एक जैसी ही विषय–वस्तु है और भावोन्मेष से अनुप्राणित प्रभावपूर्ण सुगठित शब्दावली है।

अरब के उन कसीदाकार कवियों को काव्य–रचना की प्रेरणा विशेष रूप से तब मिलती थी, जब वे किसी पहले देखे–सुने स्थान पर पहुँचते थे। तब उन्हें अपने व्यक्तिगत जीवन तथा कबीले के कुछ प्रसंग याद हो आते थे। उन प्रसंगों में प्रेम–भावना के दोनों ही रूपों तथा कबीले के संघर्ष एवम् सन्धि के प्रसंगों की चित्रावली उनके मनोजगत में उपस्थित हो जाती थीं। उनमें कुछ मार्मिक प्रसंगों को लेकर काव्यधारा प्रवाहित हो उठती थी। उनके कसीदों में प्रेम और युद्ध के प्रसंगों के अतिरिक्त उस क्षेत्र की उबड़–खाबड़ भूमि, रेतीले भू–भागों, टीले–पहाड़ों तथा अन्य प्राकृतिक दृश्यों के विवरण होते थे। वे अपने घोड़ों या ऊँट की चाल, उनके डील–डौल का प्रशंसात्मक वर्णन करते थे। उनकी चाल की उपमा शुतुर्मुर्ग, जंगली बैल आदि से करते हुए, अपनी यात्रा, दैनिक जीवन, युद्ध आदि के बड़े ही जीवन्त वर्णन उपस्थित करते थे। अपने इन विवरणों के माध्यम से समाज में उदात्त मूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रयास भी रहता था। उन कसीदों का विन्यास कुछ अलग–अलग प्रकार की मनकों की माला जैसा होता था, जिनमें से किसी–किसी का उपयोग वे अपनी दूसरी काव्य–रचना में भी कर लिया करते थे। उन रचनाओं के सम्बन्ध में यह किम्वदन्ति चल पड़ी थी, 'अल शेर दीवानुल अरब' अर्थात यह कविता अरब (जीवन के विभिन्न रूपों, मान्यताओं, मूल्यों) का भण्डार है। अरबी के इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काल के काव्यकारों में कैस के अतिरिक्त जुबैर, तरफ़ः, लबीद, अल–बिन–कुल्सुम, अतरह, नाविगह, हारिश–बिन–हिलिज्जा, आयशः आदि के नाम आते हैं।

इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मुहम्मद साहब की रचना 'कुरान' के साथ अरबी साहित्य का दूसरा युग आरम्भ होता है। मुहम्मद साहब ने आध्यात्मिक चेतना के क्षणों में उस परम सत्ता अल्लाह का क़लाम सुना था। यह क़लाम उन्हें अनेक खण्डों में सन् ६३२ में प्राप्त हुआ था। उसके बाद वह तेईस–चौबीस वर्षों तक मौखिक परम्परा में ही चलता रहा। सन् ६५६ में तीसरे खलीफ़ा उस्मान ने उसे लिपिबद्ध कराया। इस धर्मग्रन्थ में ११७ सूरा (अध्याय) हैं। आरम्भ के अध्याय बड़े और बाद के अध्याय छोटे हैं। इस्लाम के अनुयाइयों से कहा गया है कि उस परम सत्ता के रूप में केवल एक अल्लाह पर विश्वास करें और उसकी उपासना में ही अपने जीवन को लगा दें। इसके अतिरिक्त उसमें व्यावहारिक जीवन के लिए एक सुव्यवस्थित आचार–संहिता भी है, जिसका पालन सर्वथा अनिवार्य है।

मुहम्मद साहब (ईस्वी सन् ५७०–६३२) के बाद चार खलीफा हुए। उन सभी के अनुशासन में केवल धर्म चर्चा ही हुई। कविता के प्रति उपेक्षा का भाव ही बना रहा। अब तक जो साहित्य लिखा गया था, उसमें विभिन्न कबीलों के बीच संघर्ष के ही आख्यान थे। संभवतः इसीलिए उन्हें जहालिया रचनाएँ कहा गया। उस युग की जो थोड़ी–बहुत कविताएँ भी मिलती हैं, उनमें रसूल्लाह अर्थात मुहम्मद साहब की प्रशंसा की गयी है; और उनके बताये हुए जीवन के सूत्रों का पूरे निष्ठा के साथ पालन करने का निर्देश दिया गया है। उस युग के कवियों में हस्सान–बिन–साबित का नाम ही विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसकी रचनाओं में धार्मिक भावना के अतिरिक्त, मानव जीवन की अन्य प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है।

सन् ६६१ में दमिश्क में अमैय्या राजवंश की स्थापना के साथ कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं कि इस्लाम के जन्म के पहले की काव्य–प्रवृत्तियाँ फिर से सजग हो उठीं। इस राजवंश ने पक्षपात की मनोवृत्ति अपनायी थी; इसलिए अरब के लोग फिर अलग–अलग फिरकों में बँट गये और उन्होंने अपने–अपने कवियों को प्रोत्साहन देना आरम्भ किया। कवि फिर अपने–अपने फिरकों की बात कहने लगे। काव्य–प्रतिद्वन्द्विता का माहौल फिर से खड़ा हो गया। दो दलों के बीच जब युद्ध होते थे तो सैनिक अपने–अपने पक्ष के कवियों की कविताओं का पाठ कर अपने भीतर उत्साह जगाते थे। उन कविताओं में अपने पक्ष के वीरों की प्रशंसा और दूसरे पक्ष के लोगों की निन्दा हुआ करती थी। इस प्रवृत्ति के कवियों में फ़रज्दक और जहीर की काव्य–प्रतिद्वन्द्विता विशेष रूप से प्रसिद्ध हुई थी। अख़्तल को इस द्वन्द्वात्मक मनोवृत्ति का श्रेष्ठ कवि माना जाता है।

वीर रसात्मक भावनाओं के उस दौर में प्रेम भावना की कविताएँ भी बहुत लिखी गयीं। गज़लिया शायरी खूब लिखी गयी और उस क्षेत्र में उमर–बिन–अबी रबीया ने विशेष ख्याति अर्जित की। कुछ कवियों ने अपनी विशिष्ट प्रेमिकाओं को लेकर भी काव्य–रचनाएँ लिखीं, यथा जमील ने जुमैना और मजनू (कैस) ने लैला को लेकर। इन आत्मकथात्मक प्रेमाख्यानों में सौंदर्य अनुभूति के साथ प्रेम–भावना के पूर्व–राग तथा संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों को बड़ी ही प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति मिली है।

पूर्व परम्परा की इन रचनाओं के अतिरिक्त खलीफाओं के सरंक्षण में भी काव्य सृजन का कार्य चलता रहा था। उन कवियों से यह आशा की जाती थी कि वे खलीफाओं की प्रशंसा करते हुए कविताएँ लिखें, साथ ही उन्हें इस्लाम धर्म की गरिमा का भी वर्णन करना होता था। इन रचनाओं में सरसता कुछ कम ही है। काव्य रचनाओं के अतिरिक्त उस काल में इस्लाम के न्याय–विधान और आचार–संहिता को लेकर भी रचनाएँ लिखी गयीं थीं।

अरबी साहित्य की इस धारा के कवियों में सबसे पहले बस्शार इब्न बुर्त का नाम आता है, जो मूलतः फारस के थे तथा दृष्टिहीन भी। उन्हें अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस दृष्टिहीनता का कोई दुःख नहीं था, वरन् उस अल्लाह को धन्यवाद देते हुए उन्होंने कहा था कि उसने उन्हें उसे देखने से बचा लिया है, जिससे वे घृणा करते हैं। लेकिन जो कविताएँ उन्होंने लिखीं, उसके लिए उन्हें अल–यहदी के शासन में मृत्यु–दण्ड भोगना पड़ा। उन्हें यह दुर्योग सम्भवतः इसलिए भोगना पड़ा, क्योंकि उनकी रचनाओं में पारसी धर्म की कुछ झलक थी और उन्होंने वज़ीर पर कुछ व्यंग्य किया था।

इस काल के दूसरे कवि अबु–नुआस भी अर्ध–फारसी उद्‌गम के थे। स्नेह भावना को उन्होंने बड़ी गरिमामयी शब्दावली में अभिव्यक्ति दी है। गीत काव्यकारों में उन्हें अरबी का सर्वोत्तम कवि कहा जाता है। उनकी गज़लें फारसी के कवियों की परम्परा में हैं और आज भी वे बड़ी रुचि के साथ पढ़ी जाती हैं। यदा–कदा उनकी रचनाओं में व्यंग्य और विनोद की भावनाएँ भी अभिव्यक्त हुई हैं।

अबु–नुआस के समकालीन कवि अबु–अल–अतहिया (७४८–८२८), मूलतः तो कुम्हार थे, लेकिन विस्तृत चिन्तन के साथ, नैतिक आदर्शों को अभिव्यक्त करने वाली काव्य रचनाएँ लिखते थे, जो धार्मिक मनोवृत्ति के सामान्यजनों को बड़ी रुचिकर लगती थीं।

सामान्य–जन की चेतना से ओतःप्रोत इस कवि की आत्मा बग़दाद के संभ्रान्त लोगों की ओछी प्रवृत्तियों के प्रति विद्रोह करती थी, फिर भी हारुन ने उन्हें पचास हजार दिरहम का वज़ीफा दिया था। उन्होंने तब दरवेश का रूप ग्रहण कर लिया था और धार्मिक तथा वैराग्य की भावनाओं की कविताएँ लिखने लगे थे। उन्हें अरब के धार्मिक काव्य का जनक कहा जाता है।

सीरिया में इसी कालावधि में अनेक प्रथम श्रेणी के अरबी कवि मिलते हैं, जिनमें अबु–अल–अला तथा अबु–तम्माम के नाम आते हैं जो वस्तुतः पिता–पुत्र थे और दमिश्क में अपनी शराब की दुकान चलाते थे। कालान्तर में अबु–तम्माम बग़दाद के राजकवि हो गये थे। उन्हें अपने 'दीवान' तथा 'दीवान–अल हमाशा' के लिए विशेष प्रसिद्धि मिली। दीवान की रचनाओं को अरबी काव्य के रत्न माना जाता है। 'हमाशा' में उनकी युद्ध से सम्बन्धित रचनाएँ संकलित हैं तथा कुछ रचनाएँ अन्य दरबारी कवि अल–बहुतोरी (८२०–६७) की भी हैं।

अब्बासी खलीफाओं और प्रशासकों के संरक्षण में और भी बहुत से कवि हुए; लेकिन उनमें आश्रयदाताओं की प्रशंसा और शब्दाडम्बर मात्र है। इसीलिए वे विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं।

अरबी साहित्य में इसके बाद ललित साहित्य की काव्य रचनाओं का युग आता है। इन रचनाओं में अदब अर्थात उदात्त सांस्कृतिक चेतना को अभिव्यक्ति मिली है। इतिहासकारों ने इसे अरबी साहित्य का स्वर्ण–युग कहा है। केवल साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि से ही नहीं, जीवन के हर क्षेत्र में हमें उदात्त जीवन–मूल्यों की प्रतिष्ठता देखने को मिलती है। इस संदर्भ में सर्वप्रथम बसरा के शेख़ का नाम आता है, जिन्होंने 'अल–जाहीज़' (८६८–६६) की रचना की थी। उनके बाद के कवियों में बादी–अल–ज़मान अल–हमधानी (६६६–१००८), अल–था–अलीबी (६६१–१०३८) तथा अल–हरीरी (१०५४–११२२) के नाम आते हैं। इस काल की गद्य–रचनाओं में फारसी प्रभाव को लेकर प्रदर्शनात्मक अलंकारिक प्रवृत्ति देखने को मिलती है। पहले के दिनों की सहज अभिव्यंजना अब समाप्त हो चुकी थी और उसके स्थान पर सादृश्यमूलक अलंकारों से अभिरंजित लयात्मक अभिव्यंजना प्रणाली आ गयी। इसमें बौद्धिक–चिन्तन का तो अभाव है, लेकिन सामान्य–जनों को छूने वाली मानवीय भावनाएँ मुखर हो उठी हैं। उस युग के रचनाकार अधिकांश में सर्वहारा मनोवृत्ति के थे और अपने भरण–पोषण के लिए धनी व्यक्तियों का संरक्षण खोजते रहते थे। फिर भी इस युग में एक नई साहित्यिक विधा 'मुकामह' का सूत्रपात 'बादी–अल–जमान' (युग के परम विस्मय),

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अल–हमधानी ने किया। इस विधा में नाटकीय उपाख्यान मिलता है, जिसमें विषय–वस्तु से अधिक अभिव्यंजना का कौशल प्रदर्शित होता है। लेखक अपनी काव्य–प्रतिभा, विभिन्न विषयों के ज्ञान और वाणी के वर्चस् का प्रदर्शन करता है। यह वस्तुतः पहले से चली आ रही लयात्मक गद्य और अलंकारिक शब्द योजना का विकास था। हमधानी ने जो आदर्श प्रस्तुत किया, हरीरी ने उसी को और उत्कृष्ट रूप प्रदान किया। हरीरी के 'मुकामात' को शताब्दियों तक 'कुरान' के बाद की महत्त्वपूर्ण रचना माना गया है। साहित्य की इस नई विधा में कहने के ढंग तथा ज्ञान–विज्ञान के अतिरिक्त एक विदूषक जैसे चरित्र की अवधारणा मिलती है, जो उपस्थित विसंगतियों पर व्यंग्य करने के साथ–साथ नैतिक आदर्शों की भी प्रतिष्ठा करता चलता है। अरबी साहित्य में नाटकीय रचनाओं के अभाव के कारण, इस नाटकीय उपाख्यान का विशेष महत्त्व है।

अरबी साहित्य के उस महत्त्वपूर्ण युग में अल–इस्फहान (८६७–९६७) एक महान साहित्यिक इतिहासकार के रूप में दृष्टिगत होते हैं। इसी कालावधि में अबुल–अल–फराज़ ने अपने गीतों का संकलन 'किताब अल–अघानी' प्रस्तुत किया। उनके उस ग्रन्थ को काव्य–सौष्ठव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानने के साथ–साथ, इस्लामी सभ्यता के अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। इस्ल खलदून के 'मुक़द्दमा' को अरबों का रजिस्टर और छात्रों के लिए ललित साहित्य का महत्वपूर्ण श्रोत कहा है। उनके अभिभावक सैफ–अल–द्वाला, हमधानी ने उनके इस गीति संग्रह के लिए, उन्हें हज़ार सोने की मोहरें इनाम के रूप में दी थीं। इतनी ही राशि उन्हें अल–हाकित द्वितीय से मिली थी। एक वज़ीर तो तीस ऊँटों पर लादकर बहुत सारी पुस्तकें लेकर उनके पास गये थे और उन्हें देकर उनका गीत–संकलन ले आये थे।

दशवीं शताब्दी के मध्य उस विश्वविख्यात ग्रन्थ का पहला संस्करण जिसे 'अलिफ लैला' अथवा 'अरब की एक हजार एक रातें', कहा जाता है, की रचना हुई थी। अल–जहाशियारी ने इराक़ में सन् ९४२ में फारसी के एक ग्रन्थ 'हजार अफसाना' के आधार पर इसे तैयार किया था, जिसमें भारतीय उद्‌गम की भी अनेक कहानियाँ कही गयी हैं। जहाशियारी ने उसमें कई स्थानीय कहानियाँ भी जोड़ दी थीं। 'अफसाना' से केवल कथा–सूत्र ही नहीं, उनका रचना–विधान तथा प्रमुख नायक और नायिकाओं की नामावली भी मिली थी। शताब्दियों तक उसमें यूनानी, यहूदी, मिस्री, भारतीय तथा अन्य क्षेत्रों की कहानियाँ जोड़ी जाती रहीं। हारून–अल–रशीद के शासन काल के भी अनेक हास्य, व्यंग्य तथा प्रेम–प्रसंग उसमें जोड़े गये और फिर मिस्र में मामलूक काल में उसका अन्तिम रूप प्रकाश में आया। कालान्तर में फ्रांसीसी, अंग्रेजी आदि में भी इस ग्रन्थ के भाषान्तर प्रकाशित हुए। (देखिए 'अलिफ लैला')

उइफ–अल–दवाला ने ज्ञान के संप्रसार और साहित्यकारों को संरक्षण देने में विशेष ख्याति अर्जित की। हमधानी का साहित्यिक–मण्डल जो स्वयं भी उत्कृष्ट कवि थे, राशिद और मामून के दिनों की साहित्यिक गतिविधियों की याद दिलाता है। प्रसिद्ध दार्शनिक और संगीतकार अल–फराबी भी उसी मण्डल के थे, जिनकी थोड़ी सी आवश्यकताएँ, राजकीय खजाने से मिलने वाले चार दिरहम के वज़ीफे से पूरी होती थीं। साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासकार अल–इस्बहानी ने अपने कालजयी ग्रन्थ 'अगहानी' की पाण्डुलिपि अपने संरक्षक को समर्पित की थी और उसके लिए उन्हें एक हज़ार सोने की मुद्राओं का पुरस्कार मिला था। राज–दरबार के प्रभावशील धार्मिक वक्ता इब्न–नोबाता के लयात्मक गद्य में दिये गये प्रवचन, सामान्य जनों को मुग्ध कर लेते थे। राजकवि अला–मुतानब्बी (९१५–६५) अपनी प्रभावपूर्ण, अलंकृत एवं रूपकात्मक संयोजनाओं के कारण आज भी लोकप्रिय हैं और उनकी सूक्तियाँ समय–समय पर उद्धृत की जाती हैं। अल–मुता–नाबीर (नजुमीः भविष्य वक्ता) जिन्हें कूफा के जलवाहक का बेटा कहा जाता है, एक उत्कृष्ट कवि थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीरिया में थोड़े समय के लिए जो सांस्कृतिक पुनरुत्थान हुआ था, उसमें अबु–अल–अला –अल–मआरी (९७३–१०९७) ने अपनी निराशा और वैराग्य की भावनाओं को अभिव्यक्त करती हुई जो रचनाएँ लिखी थीं, उसके लिए उन्हें कवियों का दार्शनिक एवं दार्शनिकों का कवि कहा जाता है। सन् १००९ में वे बग़दाद चले गये थे और वहाँ एक साल सात महीनों के निवास में इख़वान अल–सफ़ा तथा भारतवर्ष से आये कुछ लोगों के प्रभाव आत्मसात किये थे। वहाँ से लौटने पर वे शाकाहारी और एकान्तप्रिय हो गये थे। उन्हीं दिनों उन्होंने 'लुजुमियात' और 'रिसालाद अल गुफ़रान' की रचना की, जिनमें उन्होंने तर्क के आधार पर जीवन को नियंत्रित करने, वैराग्य की भावना जगाने तथा क्षमाशील होने की सलाह दी थी। अरब के एक इतिहासकार फीलिक के हित्ती जो मूलतः लेबनान के थे और अमेरिका के कोलम्बिया तथा प्रिंसटन विश्वविद्यालयों में इस्लामिक साहित्य का अध्यापन किया था, लिखा है कि दान्ते की 'डिवाइन कामेडी' पर रिसाला का प्रभाव दिखाई देता है। फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि उमर ख़य्याम की रुबाइयों पर भी इस ग्रन्थ के प्रभाव की उन्होंने चर्चा की है।

अरब के लोग आठवीं शताब्दी में भूमध्य सागर के विभिन्न देशों पर अधिकार करते–करते स्पेन तक पहुँच गये थे और फिर इस विस्तृत भू–भाग में अपनी सभ्यता और संस्कृति फैलाई। स्पेन के कार्डोवा नगर में उन्होंने अपना विश्वविद्यालय भी स्थापित किया था। अब्द–अल–रहमान के राजसभा के प्रतिष्ठित साहित्यकार इब्न–अब्द–रब्बी (८६०–९४०) ने एक विविधा संकलन 'अल–इक्द–फरीद' (विलक्षण हार) की रचना की थी, जिसे अरबी साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण माना जाता है। लेकिन स्पेन के अरबी लेखकों में अली–इज्म–हज्म (९९४–१०९४) को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। अपनी युवावस्था में वे अब्द–अल–रहमान के वजीर भी रहे थे। लेकिन जब उनकी वंश–परम्परा का शासन विखण्डित हो गया, तो वे एकान्त में रहकर साहित्य साधना में संलग्न हो गये थे। उन्होंने इतिहास, धर्मशास्त्र, पारम्परिक ज्ञान, तर्क–विद्या तथा अन्य सम्बन्धित विषयों के अतिरिक्त कविताएँ भी लिखी थीं। उनकी काव्य रचनाओं में 'तौक–अल–हमदमा' (फ़ाख़्ता का द्वार) में उनकी प्रेम कविताएँ संकलित हैं, जिनमें प्रेम के बड़े ही उदात्त रूप को अभिव्यक्ति मिली है। उनकी सर्वाधिक महत्त्पूर्ण रचना 'अल–फ़ज्ल फी अल–मीलम उ–अल–निहाल' मानी जाती है, जिसमें धर्म का तुलनात्मक विवेचन है।

कार्डोवा के अरबी शासकों में भी अनेक स्वयं भी कवि थे, जिन्होंने अपने दरबार में कवियों को भी स्थान दिया। वे उन कवियों को अपने साथ अपनी यात्राओं और युद्ध–अभियानों में भी ले जाते थे। उनकी रचनाएँ मनोरम शब्दावली और स्वर–माधुरी के कारण लोकप्रिय हुईं। कार्डोवा जब राजनगर नहीं रह गया था, तो भी वहाँ लोक–कवियों की परम्परा चलती रही। इसी परम्परा में बारहवीं शताब्दी के आरम्भ में अबु–अक्र–इब्न–कुज़मान नाम का एक चारण कवि हुआ था, जिसने गज़ल नाम की विधा में विशेष ख्याति अर्जित की थी।

अरबी कबीलों में परस्पर संघर्ष के कारण कार्डोवा के स्थान पर मिले, टोलेडो और ग्रानडा में राज्य केन्द्रों की स्थापना हुई। इन अरबी शासकों ने भी अपनी भाषा के साहित्य को विशेष प्रोत्साहन दिया और उसके माध्यम से अपनी सभ्यता और संस्कृति को विशेष रूप से प्रसारित किया। उनके संरक्षण में विशेष रूप से गद्य कथाओं, उपाख्यानों तथा नैतिक प्रसंगों की रचना हुई। उनके माध्यम से भारतीय और फारसी उद्गम की कहानियाँ भी यूरोपीय देशों में पहुँची। उन कहानियों ने स्वच्छन्द कल्पनाशीलता की मनोवृत्ति जगायी थी। स्पेनिश भाषा की कालजयी रचना सर्वेन्टीज की 'डॉन क्विकजोट' की स्वच्छन्द उड़ान उसी से प्रभावित मानी जाती है। उसने स्वयं कहा है कि उसका मूल संस्करण अरबी में था।

कार्डोवा के अबु–बक्र–इब्न–कुज़मान ने विभिन्न स्थानों पर घूम–घूम कर गायन की जो परम्परा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलायी थी, उसमें उनकी चलायी गज़ल के साथ कालान्तर में 'मुवाशा' नाम के लोकगीतों का क्रम चला। इस विधा के गायकों में तुदेला के एक अन्धे कवि अब्बास–अल–तूतीली का नाम आता है, जिसने सेवीके के शासक के सुपुत्र अली के गुणों के गायन में विशेष ख्याति अर्जित की थी। अरबी की इन कविताओं को ईसाई भी बड़ी रुचि के साथ सुनाते थे। इन गीतों ने ईसाईयों के छः पदों के छन्द–विधान के विकास में विशेष भूमिका निबाही थी। इन लोकगीतों के अतिरिक्त आदर्श प्रेम की भावना को अभिव्यक्त करने वाले प्रेमगीतों ने भी, केवल स्पेन के कवियों को ही नहीं, फ्रांस के कवियों को भी प्रभावित किया था। इस्लाम के प्रभाव के ही फलस्वरूप, यूरोप के उस भूभाग में चारण–काव्य का विकास हुआ था। 'चान्सन दे रोला (द)' को इस दिशा की बड़ी उदात्त रचना मानी जाती है।

स्पेन में जब अरबों के प्रभाव से विशेष साहित्यिक गतिविधि चल रही थी, तभी मिस्र में भी ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में विशेष सक्रियता देखने को मिलती है। मिस्र के शासकों में इब्न किल्ली को अध्ययन एवं अनुशीलन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संरक्षक माना ज़ाता है। उसने एक अकादमी की स्थापना की थी, जिसमें अनेक विषयों के विद्वान कार्य करते थे। इस संस्था के संचालन के लिए वह प्रतिमास एक हज़ार दिनार खर्च करता था। उसी परम्परा में अल–अज़ीज नाम का एक शासक हुआ, जो स्वयं भी कवि था। उसने अजहर मस्ज़िद को अकादमी का रूप दिया था, जिसमें इतिहासकार, न्यायविद तथा अन्य अनेक विषयों के विद्वानों के साथ कुछ, कवि भी कार्य करते थे। इसी वंश परम्परा के संरक्षण में अल–हकीम ने १००५ में दार–अल–इल्म ने ज्ञान एवं विज्ञान का सभागार स्थापित किया था, जिसमें धार्मिक विषयों के साथ चिकित्सा एवं ज्योतिर्विज्ञान भी पढ़ाये जाते थे। अल–हाकिम की ज्योतिर्विज्ञान में विशेष रुचि थी और उस दिशा में अध्ययन के लिए उसने एक वेधशाला भी बनवाई थी। अली इब्न यूनूस को उसके दरबार का ही नहीं, मिस्र का सबसे बड़ा ज्योतिर्विज्ञानी कहा जाता है। अल–हकीम के संरक्षण में गणित और नेत्र–चिकित्सा के सम्बन्ध में भी बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य हुए थे। साहित्य के ललित और वैज्ञानिक रूपों के अतिरिक्त मिस्र में उन दिनों कला के विभिन्न रूपों, विशेष रूप से वास्तुकला के क्षेत्र में बड़े ही स्थायी महत्व के कार्य हुए थे।

अरबी में, ज्योतिष, गणित, चिकित्सा–विज्ञान आदि पर लेखन का क्रम उसके बाद भी चलता रहा। तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ से समाज–विज्ञान के क्षेत्र में भी कार्य आरम्भ हुआ, विशेष रूप से जीवनियाँ और इतिहास ग्रन्थ लिखे गये। इस क्षेत्र में अहमद–इब्न–मोहम्मद, इब्न–खलिका, जिन्हें शम्स्–अल् दीन (दीन का सूरज) कहा जाता है, उन्होंने 'वफायात अल आ याँ व– अन्बा अब्ना अल ज़मा' लिखी थी जिसमें कुछ वरिष्ठ पुरुषों को श्रद्धांजलियाँ तथा समकालीन ऐतिहासिक महत्त्व के व्यक्तियों की जीवनियाँ थीं। उसे ऐतिहासिक महत्त्व का अरबी का पहला जीवनी–कोश कहा जाता है। वह ८६५ व्यक्तियों के जीवन–वृत्तों का संकलन है। इस काल में इतिहास ग्रन्थ भी बहुत लिखे गये। जिनमें तकी–अल–दीन–अहमद अल–मकरीज़ी (१३६४–१४४२) की रचना 'अल–यावा–इज़ व–अल–आई' तिबार फी धिक अल–खितात व अल अतिहार' को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसी युग में अरबी में दो एन्साइक्लोपीडिया भी लिखे गये, 'निहायत अल–अरब फी हुनून अल अदब' (१३३२) और 'सुबह अल–अ'स' (१४१८)। इनमें से पहले के लेखक अहमद अल–नुआयरी और दूसरे के अहमद अल क़ल क़सान्दी थे।

ललित साहित्य के क्षेत्र में तेरहवीं शताब्दी में शराफ–अल–दीन मोहम्मद–अल–बुशीरी (१२१३–१२६६) का नाम आता है जिन्होंने 'अल–बुरादह' नाम की लम्बी कविता लिखी थी। 'अल–बुरादह' का अर्थ है मसीहा का लबादा और कहा गया है, कि उन्होंने यह रचना तब लिखी थी, जब उन्हें फ़ालिज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार गया था और तभी उन्हें लगा था कि किन्हीं आध्यात्मिक चेतना के क्षणों में मुहम्मद साहब ने अपना लबादा ओढ़ाकर उन्हें स्वस्थ कर दिया है। अरबी भाषा की इसे सबसे महत्त्वपूर्ण लम्बी रचना कहा जाता है और फारसी, तुर्की, जर्मन, फ्रांसीसी और इतालवी भाषाओं में इसके अनुवाद हुए हैं। इसी युग में आतर और बैवर के दो रोमानी आख्यान जो अब तक सामान्य जनों के बीच सुने जाते रहे थे, अपने परिपक्व रूप में लिखे गये। 'अलिफ लैला' की तुलना में उन आख्यानों का बड़ा प्रचलन था और तत्कालीन लोक जीवन की चित्रावली, उनमें देखने को मिलती है।

तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में छाया–नाटक के लिखित रूप भी मिलते हैं। मुहम्मद–इब्न–दानियाल अल–खुजा' इ अल मौवसिली जो मूलतः चिकित्सक थे, ने इस दिशा में विशेष कार्य किया था। उनकी रचना, 'तयाफ–अल–खयाल फी म' रेफाक खयाल अल–जिल्ल' ऐतिहासिक महत्त्व की मानी जाती है, जिसमें छाया नाटक के रूप के अनेक स्वच्छन्द कल्पना के छायाभास संकलित हैं। विद्वानों का कहना है कि यह नाट्य–रूप सुदूर पूर्व से आया था। उन्नीसवीं शताब्दी में अरब के कथावाचकों ने इसी प्रेरणा से अपनी जातीय हास्य–व्यंग्य कथाएँ विकसित की थीं। बारहवीं शताब्दी में उन्हीं को लेकर पुतुल–नाटकों का जन्म हुआ था। स्पेन में इब्न–हज़्म ने एक अलंकार में 'खयाल अल–जिल्ल' का संदर्भ दिया था। पश्चिम एशिया और मिस्र से ये नाटकीय रचनाएँ कस्तनतूनिया पहुँची थीं, जहाँ करागोज़ नाम के काली आँख वाले चरित्र का उद्भव हुआ था और फिर वह रंगविधा पूर्वी यूरोप के विभिन्न देशों में गयी थी। तुर्की के पुतुल–नाटकों के इस विलक्षण चरित्र करागोज़ ने सम्भवतः प्रसिद्ध हास्य–अभिनेता चार्ली चैपलिन को भी प्रभावित किया था, ऐसा कुछ विद्वानों का कहना है।

तेरहवीं शताब्दी समाप्त होते–होते मिस्र, सीरिया और इराक़ का महत्त्व समाप्त हो गया और तुर्कों के शासन की स्थापना हो गयी। तुर्कों के अधिकार में उत्तरी अफ्रीका के अनेक क्षेत्र भी थे, इसलिए उसे ओटोमन साम्राज्य कहा जाता है। अरबी भाषा–भाषी क्षेत्रों में उन दिनों धार्मिक रूढ़िवाद का प्रसार हो गया था, जिनमें वैज्ञानिक जीवन–दृष्टि और भौतिक जीवन को लेकर चिन्तन–मनन की प्रवृत्ति को कुंठित कर दिया था। इसीलिए उस काल में वृहद ग्रन्थों के संक्षेपीकरण और उन पर टीकाएँ लिखने के कार्य हुए। अरबी में लिखने वाले तुर्कों में हाज़ी ख़लीफ़ा का नाम आता है, जिसे कातिब चल्लेबी (युवा लेखक) कहा गया है। उसकी रचना 'कशु अल जुनून–अन अल–आसामी व अल–फुनून' को अरबी की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नामानुक्रमणिका एवं एन्साइक्लोपीडिया कहा जाता है।

मिस्र के साहित्यकारों में उन दिनों अब्द–अल–वहाब–अल–स'रानी का नाम आता है, जो रहस्यवादी थे। उनकी रचनाओं में सूफी विचारों के साथ 'कुरान' का भी प्रभाव मिलता है। यह प्रभाव होते हुए भी उनकी रचनाओं में फ़रिश्तों और मसीहों से बातचीत के विवरण हैं, इसलिए कट्टरपंथी धार्मिकों ने उन पर बड़े आरोप लगाये हैं। उनकी रचनाएँ विशेष मौलिक तो नहीं थीं, लेकिन लोकप्रिय बहुत हुई थीं। उनकी रचना 'अल–तबाकात–अलकुबरा' जिसमें कुछ प्रसिद्ध रहस्यवादियों के जीवन–चरित्र हैं, सर्वोत्कृष्ट मानी जाती हैं। मिस्र में ही उन दिनों 'अल–सई–मुर्तदा अल ज़बीदी ने 'ताल अल अरूस' नाम के शब्दकोश का निर्माण किया था। कहा जाता है कि वे पश्चिमोत्तर भारत से आये थे और उन्होंने 'अल–गजाली–इह्या' पर बड़ी विस्तृत टीका लिखी थी। मिस्र में इसी काल में अब्द अल–रहमान–इब्न–अल–जब्राती ने इतिहास लेखन का कार्य किया था। वे अज़हर विश्वविद्यालय में ज्योर्तिविज्ञान विभाग के अध्यक्ष थे। नेपोलियन ने उन्हें अपनी मंत्रिपरिषद का सदस्य भी बनाया था। उनकी रचना 'अजा इब अल–अतहर फी अल तराजिम' व अल 'अखबार' में कुछ पुरावशेषों, अनेक सम्भ्रान्त सज्जनों एवं कई महत्त्वपूर्ण घटनाओं के विवरण हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक अरबी साहित्य का प्रारम्भ पश्चिम के देशों के साथ सम्पर्क से माना जाता है। जुलाई १७६८ में नेपोलियन ने अलेक्ज़ेंड्रिया पर अधिकार किया था और मिस्र के उत्तरी भाग पर अपना शासन स्थापित कर लिया था। उसके बाद अंग्रेज उस क्षेत्र में आये। मिस्र में उन दिनों पुनरूत्थान का दौर चल रहा था। पश्चिम के सम्पर्क से अरबों को पहले मुद्रण–कला का ज्ञान हुआ और फिर पत्र–पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होने लगीं। सम्भवतः इससे ऐतिहासिक गतिविधियों में तीव्रता आयी। मिस्र से यह नवीनता की लहर जल्दी ही सीरिया, इराक़ आदि में पहुँची; और फिर कहानी, उपन्यास, निबन्ध आदि नई विधाओं के प्रयोग चल पड़े।

अरबी भाषा के नई चेतना से परिपूर्ण लेखकों में सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम ताहा हुसैन का है, जिन्होंने कविता, कथा–साहित्य, आत्माख्यान तथा आलोचनाएँ भी लिखीं थीं। कहानी लेखकों में महमूद तैमूर ने विशेष ख्याति अर्जित की। खलील जिब्रान (१८८३–१९३१) सर्वाधिक प्रसिद्ध लेखक हुए, जिनकी रचनाओं के अनुवाद विश्व के प्रायः सभी भाषाओं में हुए हैं। उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'दि प्रोफेट' (मसीहा) मानी जाती है। उनकी रचनाओं में हम सामान्य मानवीय धर्म भावना और मानवतावादी जीवन दर्शन की बड़ी प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति देखते हैं।

अरब देशों के बाहर रहकर भी अरबी भाषा में अनेक साहित्यकार हुए, इनमें लेबनान के ईसाई लेखक भी आते हैं, जिन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्राजील आदि देशों में रहकर साहित्यिक रचनाएँ लिखीं। अमीर अल रिहानी ने यात्रा के वृत्तान्त लिखे। मोरक्को, लीबिया, अल्जीरिया आदि में भी अरबी भाषा में अनेक विधाओं की साहित्यिक रचनाएँ लिखी गयीं।

ईराक के साहित्यकारों में मारूफ अल जुसाफी को स्वातंत्र्य चेतना का कवि कहा जाता है। सिदक़ी अज लहाबी की रचना 'दोजख में विद्राह' को विशेष प्रसिद्धि मिली है।

आधुनिक चेतना से परिपूर्ण लेखकों में मिस्र के नगीब महफ़ूज़ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिन्होंने कथा–साहित्य, नाटकीय रचनाएँ, और फिल्मों के लिए पटकथाएँ आदि लिखी थीं। उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'कैरोट्रियोलोजी' (तीन खण्डों का उपन्यास) सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। उनकी बहुमुखी रचनात्मक प्रतिभा के लिए १६८८ में नोबेल पुरस्कार भी प्रदान किया गया था। उनके बाद के साहित्यकारों में मुहम्मद हुसैन हैकल को विशेष प्रसिद्धि मिली। तौफीक अल हाकिम की रचना 'डायरी ऑफ ए कन्ट्री जज' में मिस्र के सामाजिक जीवन की बड़ी ही प्रभावपूर्ण चित्रावली है।

अरबी भाषा में इधर अनेक महिला लेखिकाएँ भी सामने आयी हैं, उनमें मिस्र की फातिहा अल अस्सल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने रंगमंच के क्षेत्र में विशेष कार्य किया है। उनके नाटक 'विमेन विदआउट मास्क्स' (स्त्रियाँ बिना मुखौटों के) नाटक को विशेष महत्त्वपूर्ण माना गया है। विश्व रंगमंच दिवस २७ मार्च २००४ को अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच संस्थान ने उन्हीं का सन्देश प्रसारित किया था। उन्होंने अपने सन्देश में विशेष रूप से तीन बातें कही हैं – (१) साहित्यकारों को जीवन की यर्थाथता का पूरी ईमानदारी से उद्घाटन करना चाहिए; (२) उन्हें न्याय की प्रतिष्ठा में संलग्न होना चाहिए; और (३) जन साधारण के साथ पूर्ण एकात्मकता अनुभव करना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा है कि पुरुष प्रधान समाज में स्त्री वस्तुनिष्ठ, व्यावहारिक और ठोस धरातल में अपने को अभिव्यक्त करने में अक्षम है, लेकिन वास्तविकता यह है कि स्त्री जो नौ मास तक नया जीवन रचने की क्षमता रखती है, वह सशक्त साहित्यिक रचना प्रभावपूर्ण नाटक भी लिख सकती है। इस वक्तव्य के आधार पर कहा जा सकता है कि अरब के साहित्यकार जागरूक हैं और अपने लिए विश्व साहित्य में प्रतिष्ठित स्थान बना रहे हैं।

अरविन्द, श्री अरविन्दो, श्री अरविन्द घोष (१८७२–१९५०ई०) महान् देशभक्त, क्रांतिकारी, उच्च कोटि के ज्ञानी, सिद्ध योगी तथा उत्कृष्ट कवि तथा साहित्यकार श्री अरविन्द डॉ० कृष्णधन घोष तथा स्वर्णलता देवी के तीसरे पुत्र थे। उनका जन्म १५ अगस्त १८७२ को कलकत्ता में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ था। श्री अरविन्द के नाना ऋषि राजनारायण बोस विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता के बहुत अच्छे मित्र थे तथा कट्टर राष्ट्रवादी थे। ऋषि राजनारायण ने राष्ट्रवाद के सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए एक गोपनीय समिति बनायी थी और उन्होंने रवीन्द्र को भी उस समिति में सदस्य बनाया था। अपने नाना का राष्ट्रवाद का संस्कार, उन्हें जाने–अनजाने बाल्यकाल से ही प्राप्त हो गया था। अरविन्द की सम्पूर्ण शिक्षा इंग्लैण्ड में हुई। उन्होंने इंडियन सिविल सर्विस (आई० सी० एस०) की लिखित परीक्षा में सभी विषयों में सर्वाधिक अंक प्राप्त किए, किन्तु घुड़सवारी की परीक्षा जानबूझकर न देने के कारण आई०सी०एस० न बन सके। अंग्रेजी के साथ ही वह ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं के भी उत्कृष्ट ज्ञाता थे। श्री अरविन्द के हृदय में ११ वर्ष की अवस्था में ही अंग्रेजों के प्रति विरोध का प्रभाव पड़ चुका था। उनके अवचेतन मन को यह भी विश्वास हो गया था कि विश्व में एक महान् क्रातिकारी परिवर्तन तथा सार्वजनिक चेतना का समय आ रहा है और उसमें भाग लेने के लिए वे कटिबद्ध थे। वर्ष १८९२ में इंग्लैण्ड में ही श्री अरविन्द ने भारतीय छात्रों का एक गुप्त संगठन बनाया और इसका नाम 'लोटस एण्ड डैगर' (कमल और तलवार) रखा। वर्ष १८९३ में बड़ौदा के महाराज सयाजीराव गायकवाड़ लंदन गये हुए थे। उन्होंने श्री अरविन्द को बड़ौदा राज्य सेवा में नियुक्त कर लिया।

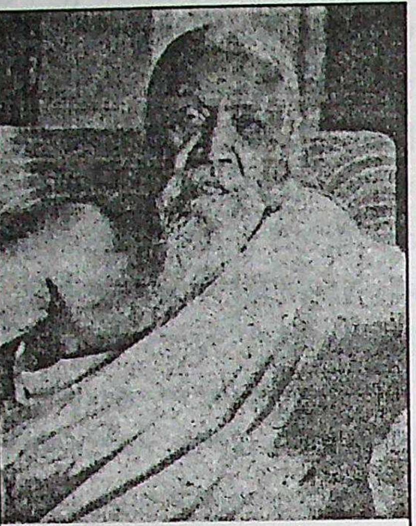

श्री अरविन्द घोष

वर्ष १८९३ में श्री अरविन्द भारत लौटे। बम्बई उतरकर भारत भूमि का अपने पैरों से स्पर्श करते ही वे आध्यात्मिक चेतना का अनुभव करने लगे। भारत लौटने के साथ ही उन्होंने भारतीय राजनीति में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। उस समय कांग्रेस एक छोटा संगठन था तथा उसकी बागडोर उदारवादी व्यक्तियों के हाथों में थी। उन्होंने कांग्रेस की अपने एक छद्मनाम से कटु आलोचना लिखी, जो बम्बई की 'इंदु प्रकाश' पत्रिका में छपी। उसकी तीखी प्रतिक्रिया हुई।

श्री अरविन्द ने गायकवाड़ की निष्ठापूर्वक सेवा की; किन्तु उनकी कृपा–दृष्टि पाने का उनमें कोई आकर्षण नहीं था। वर्ष १९०१ में कलकत्ता में भूपालचन्द्र बोस की पुत्री मृणालिनी देवी से उनका विवाह हो गया। बड़ौदा से वर्ष १९०२ में अरविन्द ने अपना एक आदमी बंगाल में गुप्त क्रांतिकारी संगठन बनाने के उद्देश्य से भेजा। निस्संदेह श्री अरविन्द की रुचि गुह्य–विद्याओं में थी, किन्तु वर्ष १९०४ तक वह सजग ढंग से योगाभ्यास प्रारम्भ नहीं कर सके। वर्ष १९०३ में कश्मीर की शंकराचार्य पहाड़ी की यात्रा के समय उन्हें, मूर्त रूप में शून्य–अनन्त का अनुभव हुआ। उनका कुछ योगियों से भी संपर्क हुआ। वर्ष १९०४ से वह योग का गम्भीर अभ्यास करने लगे, जिसके कारण उन्हें अपरिमित ऊर्जा प्राप्त हुई।

वर्ष १९०५ में वह बड़ौदा से कलकत्ता चले आये और नेशनल कालेज के प्रिंसिपल बनकर 'वंदेमातरम्' तथा 'कर्मयोगी' पत्रों के माध्यम से अपने विचारों का प्रचार भी करने लगे। इस प्रचार के फलस्वरूप बंगाल में अनेक क्रांतिकारी घटनाएँ होने लगीं और वर्ष १९०८ में अलीपुर बमकांड में स्वयं उन पर भी अभियोग चला। वह बन्दी बना लिये गये। कारागार से मुक्त होने के बाद उन्होंने वहाँ हुए आध्यात्मिक अनुभव का उल्लेख अपने एक भाषण में इस प्रकार किया है :

'जिस जेल में मुझे अन्य लोगों से अलग कर दिया गया था, उसे मैं इस तरह देखा करता था कि मैं इसकी ऊँची दीवारों में कैद नहीं था। मुझे तो चारों तरफ से वासुदेव ने घेर रखा था। अपनी कोठरी के सामने पेड़ की डालियों के नीचे मैं चहलकदमी करता,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु यह पेड़ नहीं था, मैं जानता था, ये श्रीकृष्ण हैं, जो मुझे अपनी छाया से आबद्ध किये हुए थे।'

वे तो मजिस्ट्रेट तथा अभियोग पक्ष के वकील को भी श्रीकृष्ण के रूप में ही देखते थे। वर्ष १६०६ में वह रिहा हो गये तथा 'धर्म' और 'कर्मयोगी' का पुनः सम्पादन करने लगे। इस बीच अंग्रेज सरकार उन्हें फिर से पकड़ने के प्रयास में लगी रही तथा १६१० में राजद्रोह के आरोप में उनकी गिरफ्तारी का वारंट जारी किया गया। गिरफ्तारी के पूर्व ही वह अंतरात्मा की पुकार पर पांडिचेरी चले गये, जो उस समय फ्रांसीसियों के अधिकार में था। वहीं पर वह नियमित रूप से योगाभ्यास में संलग्न हो गये।

वर्ष १६१४ से उन्होंने मासिक पत्र 'आर्य' का सम्पादन प्रारम्भ किया जिसमें उनकी सभी प्रमुख रचनाएँ धारावाहिक रूप में प्रकाशित होती रहीं। वर्ष १६१८ में उनकी पत्नी का कलकत्ता में इन्फ्लुएँजा से देहांत हो गया। इसके पूर्व १६०५ में उन्होंने अपनी पत्नी को बड़ौदा से एक पत्र में लिखा था :

"तुम्हें शायद अब तक पता चल चुका होगा कि जिस व्यक्ति के साथ तुम्हारा भाग्य जुड़ा है, वह अत्यंत विचित्र किस्म का है। मेरा मानसिक दृष्टिकोण, जीवन का उद्देश्य और कार्यक्षेत्र वैसा नहीं है, जैसा इस देश में आम लोगों का है। आम लोग असाधारण विचारों, कार्यों और उच्चाकांक्षाओं को पागलपन मानते हैं। परन्तु यदि ऐसा पागल आदमी अपने कार्यक्षेत्र में सफल हो जाता है, तब उसे पागल न कहकर महान् और प्रतिभाशाली कहा जाता है। एक पागल, अपनी पत्नी के जीवन में सुख नहीं ला सकता। मैं सांसारिक सुखों में डूबा रहा हूँ, परन्तु हिसाब तो चुकता करना ही है।"

उन्होंने यह भी लिखा कि प्रभु से साक्षात्कार करना उनका परम उद्देश्य है।

श्री अरविन्द ने 'भवानी मन्दिर' नामक एक व्यावहारिक और प्रतीकात्मक योजना का मसौदा बनाया, जिसका उद्देश्य भारतीय जन–मानस को यह स्मरण दिलाना था कि हमारी मातृभूमि अपने पुत्रों की जड़ता के कारण दुःखी है; किन्तु कुछ ज्योतिर्मय आत्माएँ भारतमाता को इस जड़ता से मुक्ति दिलाने के हेतु प्रयासरत हैं। उन्होंने कहा :

'लौहवत् बनाओ अपनी आत्माओं को !
भवानी ने यदि चाहा,
तो पराजय के विरुद्ध शक्ति और तलवार
हमारे राष्ट्र के भविष्य को रच सकते हैं।

श्री अरविन्द की आध्यात्म साधना में सहयोगिनी के रूप में वर्ष १६२० में 'श्री माँ' का पांडिचेरी में आगमन हुआ। इनका बचपन का नाम मीरा अल्फान्सा था। मूलरूप से ये एक फ्रेंच महिला थीं, जिन्होंने अपना शेष जीवन पांडिचेरी में रहकर साधना में बिताया। उनके आगमन के बाद ही 'श्री अरविन्द आश्रम' के विकास का सूत्रपात हुआ।

भारत में प्रचलित जाति व्यवस्था और सामंती शोषण के विरोध में श्री अरविन्द की टिप्पणी आज भी प्रासंगिक है। उनके अनुसार किसी तरह का जातीय या आनुवंशिक एकाधिकार किसी राष्ट्रवादी के भविष्य की योजना या उसके उस दिन के स्वप्न का अंश नहीं बन सकता, जिसके आगमन के लिए वह संघर्ष और प्रयास कर रहा है।

श्री अरविन्द का स्पष्ट मत था कि भारत अपने अतीत के उद्घाटन में अपने भविष्य की आशा देखता है। विश्व में मानव प्रगति के लिए स्वतंत्र एशिया तथा उसके अंतर्गत स्वतंत्र भारत को अगुआ होना चाहिए। उनकी दूरगामी दृष्टि का ही प्रतिफल था, वर्ष १६४७ में भारत ने स्वाधीनता प्राप्त की; जिसके बाद एशिया तथा विश्व के अन्य उपनिवेश स्वाधीन हुए।

दार्शनिक दृष्टिकोण किसी भी गम्भीर चिन्तक के मन में स्वाभाविक रूप से उठने वाला सनातन प्रश्न अरविन्द के मन में भी उठा। क्या हमारे जीवन का कोई गम्भीर अर्थ है? यदि हाँ, तो वह उद्देश्य क्या है? यदि मृत्यु अनिवार्य है तो जीवन की विषमताओं तथा समस्याओं से संघर्ष करने का औचित्य क्या है? यदि ईश्वर कृपालु है तथा इस समस्त संसृति का सर्जक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, तो यह सर्जन इतना अधिक अपूर्ण क्यों है? इसी प्रकार के अन्य अनेक प्रश्न हैं। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'द लाइफ डिवाइन' में इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं। **'सर्वोच्च सौंदर्य की प्राप्ति ईश्वर की प्राप्ति है'**। ईश्वर शाश्वत पूर्णता का पर्याय है। वह हमारी शाश्वत प्रेरणा है और उसे ही हमें प्राप्त करना है।

श्री अरविन्द की २३,८१३ पंक्तियों की मुक्त छन्द में लिखी कविता 'सावित्री' में प्रसंग तो 'महाभारत' के सावित्री तथा सत्यवान् के आख्यान से लिया गया है, किन्तु उस आख्यान के माध्यम से दर्शन के अनेक गूढ़ प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं। 'सावित्री' अंग्रेजी भाषा की सर्वाधिक लम्बी कविता है। संसार के विकट त्रास में, मृत्यु का केवल एक ही सच्चा विरोधी है और वह है प्रेम। 'सावित्री' काव्य का नायक एक स्त्री है यह तथ्य उसे संसार के अन्य महाकाव्यों से अलग दर्शाता है।

श्री अरविन्द के पाँच पूर्ण और तीन अपूर्ण नाटक भी उपलब्ध हैं। पूर्ण नाटक हैः 'पर्सिस द डेलिवरर' 'वासवदत्ता', 'रोडोगुन', 'द वजीर ऑफ बसरा', तथा 'एरिक'। अपूर्ण नाटक हैः 'द हाउस आफ बूयूट', 'द मेड इन द मिल', और 'द प्रिंस ऑफ ईडर',। इसके अतिरिक्त उनकी अनेक लम्बी कविताएँ हैं; जिनमें प्रमुख हैं : 'द ऋषि' तथा 'इलियन'। 'इलियन' नामक काव्य 'ट्रोजन' की कथा पर आधारित है। इसमें श्री अरविन्द ने चित्रित किया है कि 'भाग्य के निष्ठुर पहियों के नीचे न जाने कितने नायक, कितनी सम्यताएँ कुचली जा चुकी हैं। 'द ऋषि' में वे बताते हैं कि मनुष्य के लिए मुख्यतया क्या जानना आवश्यक है।

५ दिसम्बर १६५० को उनका देहावसान हुआ। पाँच दिनों तक उनका मृत शरीर ज्योतिर्मय दिखता रहा। उस पर अपघटन का लेशमात्र चिह्न नहीं था। ६ दिसम्बर को वह शरीर महासमाधि में रखा गया। इसके तीन वर्ष पूर्व भारतीय स्वाधीनता दिवस १५ अगस्त १६४७ को उन्होंने अपने देशवासियों को जो संदेश दिया वह भी विचित्र है, जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त उन्होंने कहा कि स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में हम सम्पूर्ण मानवता का कल्याण कर सकते हैं। सामाजिक विकास के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि इस मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं; किन्तु कठिनाइयाँ पराभूत होने के लिए होती हैं और यदि सर्वोच्च शक्ति का अस्तित्व है तो ये अवश्य पराभूत होंगी।

अरस्तू (अंग्रेजी नाम, एरिसटॉटिल) प्राचीन यूनान का एक वरिष्ठ दार्शनिक और वैज्ञानिक। उसने अपने चारों ओर के जीवन–प्रवाह को बड़ी सूक्ष्म–दृष्टि से देखा, और उस पर बड़ी गम्भीरता से विचार किया था। अध्यात्म, प्राकृतिक विज्ञान, आचार–शास्त्र, राजनीति, काव्य–दर्शन भाषण–कला आदि बहुत सारे विषयों पर उन्होंने विचार किया और लिखा भी। उनको सर्वाधिक प्रसिद्धि तर्क–शास्त्र पर लिखे गये ग्रन्थ 'आरगेनॉन' पर मिली थी। कुछ समय बाद ही उसे भुला दिया गया था, लेकिन मध्य युग के पूर्वार्द्ध में मुसलमान विद्वानों ने उसे फिर से प्रतिष्ठित किया था। उन्होने ६वीं शताब्दी में उसकी खोज की थी और यूरोपीय देशों में भी उसका प्रचार किया था। १४वीं शताब्दी में ईसाई धर्म–संस्थानों ने भी उसे मान्यता प्रदान की। १६वीं, १७वीं शताब्दियों में उसकी कुछ मान्यताओं को वैज्ञानिकों ने अस्वीकार कर दिया। लेकिन तर्कशास्त्र, राजनीति, काव्य–कला, भाषण–कौशल आदि क्षेत्रों में आज भी उसके विचार विशेष रूप से माने जाते हैं

अरस्तू का जन्म यूनान के एक प्रतिष्ठित परिवार में ईसा–पूर्व ३८४ में स्तैजाईरा में चाल्सिस में हुआ था। उनके पिता नाइकोमेकस मकदूनिया के महाराज अर्मितास के चिकित्सक थे। सम्भवतः इसी कारण अरस्तू का जीव–विज्ञान और चिकित्सा–शास्त्र से विशेष लगाव रहा। जब वे १७–१८ वर्ष के हुए, तब उन्हें, एथेन्स में अफलातून की अकादमी में पढ़ने के लिए भेजा गया। ई०पू० ३४७ तक वे वहाँ पढ़ते और फिर पढ़ाते भी रहे। लेकिन तभी अफलातून का निधन हो जाने पर वे एशिया के भूमध्य सागर के तटीय क्षेत्र, एशिया माइनर (आज की तुर्की) में चले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गये। वहाँ वे अपने सहपाठी हर्मियस के पास, जो एक छोटे से राज्य 'एतार्नियस' के शासक थे, कुछ समय रहे। वहीं उन्होंने हर्मियस की भतीजी से विवाह किया; और फिर लेजबोस द्वीप के मितिलीन शहर में जाकर रहने लगे। यहीं उन्होंने जीवशास्त्र (जन्तुविज्ञान) का अध्ययन किया। विशेष रूप से उन्होंने समुद्री जीवों में रुचि ली। कालान्तर में उन्होंने इस विषय पर लिखा।

अरस्तू की विद्वता की इस समय तक इतनी ख्याति हो गयी थी कि मकदूनिया के सम्राट् फिलिप ने उन्हें, अपने पुत्र अलेक्ज़ेंडर को पढ़ाने के लिए ई० पू० ३४२ में अपनी राजधानी पेला आमंत्रित किया। इसी अलेक्ज़ेंडर ने आगे चलकर, विश्व–विजय का अभियान आरम्भ किया। इतिहास उन्हें अलेक्ज़ेंडर महान् के नाम से स्मरण करता है। ई०पू० ३३६ में सम्राट् फिलिप की हत्या कर दी गयी; और तभी अलेक्ज़ेंडर को अपनी पढ़ाई छोड़कर शासन भार सँभालना पड़ा।

अरस्तू उसके बाद एथेन्स आ गये और वहाँ उन्होंने एक व्यायाम परिसर में 'लाइसियम' नाम का विद्यालय स्थापित किया। वहाँ वे चलते–फिरते अपने छात्रों को पढ़ाया करते थे। उनके इस अध्यापन विधि को पेरीपेतॉस (पदचारी) प्रणाली कहा गया है। ई०पू० ३२३ में जब अलेक्ज़ेंडर का निधन हुआ, तो एथेन्स में मकदूनिया के विरोध में ऐसी भावनाएँ फैलीं कि अरस्तू को उसके साथ सम्बन्धित होने के कारण, एथेन्स छोड़ना पड़ा। वे इयोबा द्वीप के अपने जन्म–स्थान चाल्सिस, अपनी माँ के पास आ गये। वहीं एक वर्ष के भीतर ही उनका निधन हो गया।

अपने गुरु अफलातून के साथ रहते हुए उन्होंने, उनकी विचार परम्परा को भली प्रकार ग्रहण करने का प्रयास किया था। लेकिन अफलातून तो भाववादी, आदर्श–निष्ठ और भविष्य को मंगलमय स्वरूप मानते थे। अरस्तू, वस्तुवादी, यथार्थ के प्रति निष्ठावान् तथा अपनी चारों ओर की वास्तविकताओं में रुचि लेने वाले दार्शनिक के साथ–साथ वैज्ञानिक भी थे। उन्होंने जो कुछ सोचा, विचारा और लिखा है, विद्वान् उसे विज्ञान का सर्वप्रथम व्यवस्थित स्वरूप मानते हैं।

अरस्तू के लेखन में सर्वप्रथम उनके ग्रन्थ 'अध्यात्म–शास्त्र' अथवा 'प्रथम दर्शन' की चर्चा होती है। उनके अनुसार इस जगत् की वास्तविकता अलग–अलग पदार्थों में देखने को मिलती है। हर पदार्थ के दो पक्ष होते हैं, एक तो उसका भौतिक–विधान और दूसरे उसका आकार। उसका आकार अर्थात् रूप उसके प्रयोग पर आधारित होता है। किसी भी वस्तु की पूरी जानकारी उसके प्रयोग के बिना नहीं पायी जा सकती। इन सभी वस्तुओं को उन्होंने एक दूसरे से सम्बन्धित माना है। यह सम्बन्ध उन्होंने प्रयोगशीलता के आधार पर स्वीकार किया है। उनका यह दर्शन, आघ्यात्मिक के स्थान पर लोकायत अधिक प्रतीत होता है।

अरस्तू ने प्राकृतिक–विज्ञान के क्षेत्र में भौतिकी, प्राणियों का इतिहास और आत्मतत्त्व पर भी ग्रन्थों की रचना की है। उनका कहना है कि हर जीवधारी में अन्तश्चेतना या आत्मतत्त्व होता है। उसी पर उसका स्वरूप और उसका जीवन आधारित होता है। मनुष्य सर्वाधिक चैतन्य प्राणी है और वह इस जगत् में कभी आकर्षण और कभी विकर्षण का अनुभव करता है। अरस्तू ने अनेक जीवधारियों के शरीर एवं विज्ञान एवं उनके व्यवहार का अनुशीलन किया था। इसी प्रकार अनेक पौधों एवं वृक्षों का भी उन्होंने वैज्ञानिक विश्लेषण किया था।

अरस्तू की सर्वाधिक ख्याति, तर्कशास्त्र पर लिखे उनके ग्रन्थों को लेकर है, जिन्हें उन्होंने बाद में 'ऑरगेनान' (उपकरण) में संकलित कर दिया था। उनका कहना था कि हर तार्किक विचार में एक सुनिश्चित अनुक्रम होता है, जिसे उसका न्यायिक स्वरूप कहा जा सकता है। यह तर्क–परम्परा तीन प्रस्तावनाओं पर आधारित होती है : पहली दो प्रस्तावनाएँ, सुनिश्चित रूप से तीसरी को स्थापित कर देती हैं। अरस्तू का कहना था कि हर विज्ञान में, स्वतः प्रगट सत्य होते हैं। उन्हीं से तर्क–परम्परा में मूल स्थापना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनती है, फिर गौण प्रस्तावना आती है, और फिर अन्ततः निष्कर्ष निकलता है।

अरस्तू ने आचार–शास्त्र पर भी एक ग्रन्थ की रचना की है। उनका कहना है कि मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य, उस परम सत्ता के कार्यों का अनुकरण करना है। वह सदा लोक में मंगल की प्रतिष्ठा में संलग्न रहता है, इसीलिए हमें भी उसी की भाँति अपने को, लोक–कल्याण के कार्यों में लगा देना चाहिए।

अरस्तू ने राजनीति पर भी एक ग्रन्थ लिखा है। उनके छात्रों ने १५८ प्रकार के संविधान एकत्र किये थे। उन्होंने उन्हें छह प्रकारों में विभाजित किया है : पहले उन्होंने राजतंत्र, अभिजात–व्यवस्था और मध्यवर्गीय शासन प्रणाली की विवेचना की है। यही तीन फिर बिगड़कर तानाशाही, अल्पतंत्र (आलीगैर्की) और भीड़तंत्र बन जाते हैं। अंतिम भीड़–तन्त्र को उन्होंने वैसे तो 'डिमॉक्रेसी' की संज्ञा दी है, लेकिन उसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि लोग सारे नियमों और कानूनों को तोड़ डालते हैं। उनका कहना है कि सर्वाधिक अच्छी शासन प्रणाली अभिजात वर्ग द्वारा संचालित होती है।

अरस्तू ने भाषण–कला पर भी एक ग्रन्थ की रचना की है। उन्होंने उसमें भाषा के प्रभावपूर्ण प्रयोग के नियम बताये हैं, जिनके आधार पर वक्ता, श्रोताओं को अपने विचार सहज रूप में मानने के लिए राजी कर सकता है। भाषण का यह कौशल, विशेष रूप से मंच पर सम्भाषण की दृष्टि से विवेचित किया गया है।

साहित्य जगत् में अरस्तू के 'काव्य शास्त्र' की विशेष प्रतिष्ठा है। उनका मूल ग्रन्थ तो प्राप्त नहीं है, उनके नाम से जो पुस्तक चल रही है, वह उनके किसी छात्र के कक्षा–विवरण सी लगती है। उन्होंने काव्य एवं इतर कलाओं को भी अनुकृति–मूलक माना है। अनुकरण से उनका तात्पर्य नकल करने से नहीं; वरन् वह, उनके शब्दों में उन उद्देश्यों का अनुकरण है, जिनकी ओर विश्व–प्रकृति अग्रसर हो रही है। उन्होंने दुःखान्तकी रचनाओं की विस्तृत विवेचना की है : दुःखान्तकी, मानव प्रकृति के उत्कृष्ट स्वरूप के, और भी संभाव्य उत्कृष्ट रूप की अनुकृति है। इसी प्रकार सुखान्तकी को उन्होंने मानव प्रकृति के निकृष्ट स्वरूप के और भी संभाव्य निकृष्ट रूप की अनुकृति कहा है। दुःखान्तकी रचना, प्रकरण के अनुसार हमारे मन में भय और करुणा की भावना जगाकर उनके अवांछनीय स्वरूप का हमारे मन से विरेचन करती है। अरस्तू ने यह विरेचन ('कैथौर्सिस') की प्रक्रिया, संगीत से भी सम्पन्न मानी है। उनका यह भी कहना है कि इसी प्रक्रिया के सहारे दुःखान्तकी एवं संगीत रचनाएँ, हमारे मन में निर्विकार आनन्द की सृष्टि करती हैं।

अरस्तू की कुछ वैज्ञानिक मान्यताएँ इधर की खोजों के आधार पर नकार दी गयी हैं। उन्होंने लिखा था कि सूर्य पृथ्वी की परिक्रमा करता है। लेकिन १६वीं तथा १७वीं शताब्दी में कोपरनिकस, गैलीलियो आदि ने उसे गलत सिद्ध कर दिया। उन्होंने यह भी कहा था कि किसी गिरते हुए पदार्थ की गति उसके परिमाण पर निर्भर करती है। लेकिन न्यूटन ने सिद्ध किया है कि कोई भी वस्तु, वास्तव में धरती की गुरुत्वाकर्षण की शक्ति के कारण नीचे आती है। इस आलोचना के बाद भी विद्वानों का कहना है कि अरस्तू ने अनुसन्धान की जिस विधि का प्रयोग किया था और अन्तर्निहित सत्य के विवेचन के लिए जो तर्क–परम्परा अपनायी थी, वह आज भी उपयोगी हैं।

अराजकतावाद आम बोलचाल की भाषा में अराजकतावाद का अर्थ 'अव्यवस्था, उपद्रव और आतंक' माना जाता है, पर शास्त्रीय–दृष्टि से 'अराजकतावाद' वह सिद्धान्त है, जो राज्य की उपयोगिता में विश्वास नहीं रखता और राज्य–विहीन समाज की स्थापना करना चाहता है।' इसमें एक ऐसी आदर्श व्यवस्था की कल्पना है जिसमें राज्य जैसे किसी बाह्यकारी संगठन के लिए कोई स्थान नहीं होगा।

अराजकतावादी सिद्धान्त की कई प्रमुख धाराएँ देखने को मिलती हैं, जैसे कि दार्शनिक अराजकतावाद,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तिवादी अराजकतावाद, साम्यवादी अथवा क्रान्तिकारी अराजकतावाद और नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित ईसाई अराजकतावाद। प्राचीन यूनानी नगर राज्यों के चिंतक अफलातून (प्लेटो) और अरस्तू, जिन दिनों राज्य संस्था की महानता पर विचार कर रहे थे, ठीक उन्हीं दिनों वहाँ जेनो जैसे दार्शनिक भी थे, जिन्होंने एक ऐसे समाज की कल्पना की, जिसमें राज्य की आवश्यकता ही न हो। इनके दर्शन को 'स्टोइक दर्शन' कहा गया है। भारत के प्राचीन ग्रंथकारों ने भी उस अराजक स्थिति का चित्रण किया है, जिसमें 'न राजा था और न प्रजा। न कोई दण्ड देने वाला था और न दण्ड पाने वाला।'

व्यक्तिवादी अराजकतावाद के प्रतिपादकों में विलियम गॉडविन (१७५६–१८३६) और जोज़ेफ प्रौधाँ (१८०१–१८६५) के नाम उल्लेखनीय हैं। फ्रेंच विचारक प्रौधाँ ने व्यक्तिगत सम्पत्ति को 'चोरी' बतलाया और यह कहा कि किसी के पास इतनी सम्पत्ति हो ही न कि दूसरा उसका शोषण कर सके। प्रौधाँ ने एक ऐसे समाज की कल्पना की, जिसमें राज्य का बंधन नहीं होगा। समाज की सारी गतिविधियाँ ऐच्छिक–संघों द्वारा संचालित होंगी। अमेरिका के सुविख्यात विचारकों – डेविड थोरो और मेक्स टर्नर के दर्शन में भी व्यक्ति की स्वतंत्रता की प्रधानता है। उन्होंने राज्य को स्वतंत्रता का शत्रु ठहराया है।

अराजकतावादियों में कुछ ऐसे विचारक भी हुए जिनका झुकाव 'साम्यवाद' और 'हिंसक क्रान्ति' की ओर था, जैसे कि माइकेल बाकूनिन (१८१४–१८७६) और पीटर क्राफ्टकिन (१८४२–१६२१)। पीटर क्राफ्टकिन ने राज्य को एक 'षड़यन्त्र' बतलाया है, जिसके माध्यम से असहायों और गरीबों का शोषण होता है। यदि निजी सम्पत्ति का अंत कर दिया जाये, तो अधिकतर अपराध अपने आप समाप्त हो जायेंगे। इससे राज्य–संस्था की भी जरूरत नहीं रहेगी। क्राफ्टकिन के अनुसार सरकार का स्थान 'ऐच्छिक समुदाय' ले लेंगे। शिक्षा, वाणिज्य, उद्योग, भवन–निर्माण, डाक, तार, रेलवे आदि विभागों के कार्यों का संचालन, भिन्न–भिन्न समुदाय करेंगे। अराजक समाज में सभी की आवश्यकताएँ आसानी से पूरी हो सकेंगी। सार्वजनिक भोजनालयों में जाकर कोई भी व्यक्ति भरपेट खाना खा सकेगा, वस्त्रालय से उसे कपड़े मिल जायेंगे, और इसी प्रकार वह स्कूलों, कालेजों, तथा पुस्तकालयों की सुविधा का उपभोग कर सकेगा। राज्यों को मिटाने के लिए क्रांति अनिवार्य है। यह क्रांति बहुत भीषण होगी और हिंसक भी। क्रापटकिन ने यद्यपि क्रांति का समर्थन किया है, पर वह व्यक्तिगत हिंसा के कार्यों के विरूद्ध था। उसके अनुसार एक–दो राजनेताओं या इक्के–दुक्के पूँजीपतियों को मिटाने से काम नहीं बनेगा। क्रांति संगठित तरीके से और व्यापक पैमाने पर की जानी चाहिए।

अरावली दिल्ली के दक्षिण भाग को छूती हुई राजस्थान के उत्तर–पूर्व से दक्षिण–पश्चिम तक फैली बनती–बिगड़ती पर्वतमाला। इसकी लम्बाई लगभग १२८० कि.मी. है और ऊँचाई १००० फुट से लेकर ३००० फुट तक है; लेकिन दक्षिण भाग में आबू शिखर ५६५० फुट ऊँचा है। उत्तर भाग में इसकी चौड़ाई लगभग १० मील है; लेकिन दक्षिण जाते–जाते वह ६० मील तक हो गयी है। इस पर्वत शृंखला में पेड़–पौधे विशेष नहीं हैं। बीच की धाटियों में बड़े ही विस्तृत बालू के मरुस्थल हैं; इसलिए आबादी भी बड़ी विरल है।

अरावली पर्वत शृंखला को भौगोलिक दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया गया है : एक – सांभर–सिरोही शृंखला, जिसमें आबू पर्वत का उच्चतम क्षेत्र आता है; और दूसरे सांभर क्षेत्रीय शृंखलाएँ, जिनमें कुछ अलग–अलग तीन पहाड़ी क्षेत्र हैं। अरावली पर्वत–शृंखलाओं से बनास, लूनी, सखी और साबरमती नदियाँ निकलती हैं। इन नदियों के तटों पर घनी बस्तियाँ हैं तथा वहाँ घने जंगल भी हैं। दक्षिण की पर्वत–शृंखलाओं ने राजस्थान के मरुस्थल को गुजरात की ओर बढ़ने से रोक रखा है।

भूगर्भ–वैज्ञानिकों के अनुसार, इस पर्वतमाला का आरम्भ पृथ्वी के आदिकाल से है। आदिकल्प

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(आर्कियोजोइक) के धारवार (ह्यरोनियन) युग में अवसादों (सेन्डिमेन्ट्स) का निक्षेपण हुआ था, और उसके फलस्वरूप पर्वत निर्माण की शक्तियों द्वारा इस अरावली शृंखला की रचना हुई थी। पुराकल्प (पैलियोजोइक) काल में यह पर्वत शृंखला फिर ऊपर उठी और दक्षिण पठार से लेकर उत्तर में हिमालय तक फैल गयी; लेकिन मध्यकल्प (मैसोजोइक) युग में इसका फिर अपक्षरण हुआ। उसके बाद तृतीयक (टर्शियरी) काल के आरम्भ में इसका विघटन हुआ और तब इसका वर्तमान स्वरूप बना। यह पर्वत शृंखला खनिज दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यहाँ शिस्ट, नाइस, संगमरमर, क्वार्टजाइट, शेल और ग्रेनाइट पाये जाते हैं। क्वार्टजाइट गुलाबी रंग के मिलते हैं।

अरिष्टनेमि इसका शाब्दिक अर्थ है, अरिष्ट का नाश करने के लिए वज्र के समान सामर्थ्य वाला।

वैदिक देवता जिनका स्मरण स्वस्तिवाचन के समय किया जाता है : '..... स्वस्ति नस्ताक्ष्यो अरिष्टनेमिः'।

इक्ष्वाकु वंश के निमि की मिथिला शाखा की परम्परा के एक महाराज। इन्हें सूर्यवंशी भी कहा गया है।

दैत्यराज बलि का एक महाप्रतापी पुत्र, जिसने बैल का रूप धारण कर श्रीकृष्ण के साथ युद्ध किया था।

जैनधर्म के बाइसवें तीर्थंकर। इन्हें नेमिनाथ भी कहा गया है। इन्हें द्वापर युग के श्रीकृष्ण का समकालीन और चचेरा भाई भी माना जाता है। इनके दीक्षाग्रहण के सम्बन्ध में आख्यान है कि इनके विवाह के अवसर पर प्रीतिभोज आयोजन के लिए, काटे जा रहे जानवरों के करुण स्वर सुनकर, इन्होंने तुरन्त सांसारिक जीवन का परित्याग कर दिया। उसके बाद इन्होंने काठियावाड़ की गिरनार पहाड़ियों पर कठोर साधना की और मोक्षप्राप्ति के अनन्तर जैन तीर्थंकरों में उनकी गणना होने लगी। इनका साधना क्षेत्र होने के कारण, गिरनार आज भी जैनियों का एक तीर्थस्थल है। श्वेताम्बर जैन इनके श्याम वर्ण के स्वरूप की पूजा करते हैं; और दिगम्बरों में इनका नील स्वरूप पूजा जाता है। इनकी पूजा का प्रतीक शंख है।

अरिस्टोफ़ेन्स अनुमानतः ई० पू० ४४८–३८८। प्राचीन यूनान का सर्वश्रेष्ठ व्यंग्य–हास्यपरक नाटकों का लेखक। इनके नाटकों में मानव चरित्र की दुर्बलताओं का उद्घाटन, किसी पर चोट करने के लिए नहीं, वरन् आत्मसंशोधन एवं लोक–संस्कार क्रे लिए किया गया है।

अरिस्टोफ़ेन्स परम्परा के प्रति विशेष निष्ठावान् थे। भावना से अनुप्राणित, कल्पना से अनुरंजित अभिव्यंजना प्रणाली उन्हें विशेष रुचिकर थी। फिर भी उनके मन में मनुष्य के मंगलमय भविष्य का एक स्वप्न था और अपनी लेखनी की सफलता उन्होंने उसे ही चरितार्थ करने में मानी थी। उनके समय में एथेन्स में राज्य की ओर से नाट्य–प्रतियोगिताएँ आयोजित हुआ करती थीं। उन नाटकों के प्रदर्शनों पर पुरस्कार भी दिये जाते थे। उन्हें भी कई बार पुरस्कार मिले थे। 'अचारनियन्स' उनके लिखे हुए ५४ नाटक माने जाते हैं, लेकिन उनमें से आज केवल ११ ही उपलब्ध हैं।

अरिस्टोफ़ेन्स का पहला नाटक 'अचारनियन्स' (ई०पू० ४२५) एक शान्तिप्रिय एथेन्स निवासी की स्पार्टा के विरुद्ध युद्ध समाप्त करने के लिए एक तर्क–संगत कार्य परम्परा प्रस्तुत करता है। यही मूल भावना, इसी प्रकार के प्रसंग को लेकर लिखे एक अन्य नाटक 'शान्ति' (ई०पू० ४२१) की भी है। ई०पू० ४२४ में लिखे गये नाटक 'दि नाइट्स' (सामन्त) और उसके दो वर्ष बाद लिखित नाटक 'दि वैस्पस्' (ततैया) में जनसाधारण को उत्तेजित करने वाले एक धनाढ्य पर चोट की गयी है। ई०पू० ४२३ की रचना 'दि क्लाउड्स' (बादल) में सुकरात की अव्यावहारिक शिक्षा पर व्यंग्य किया गया है। ई०पू० ४१४ की नाट्य–रचना 'दि बर्ड्स' (चिड़ियाँ) एक ऐसे प्रबुद्ध व्यक्ति का प्रसंग उपस्थित करती है, जो धरती की राजनीतिक व्यवस्था से विक्षुब्ध होकर आकाश में जाता है और वहाँ चिड़ियों से बादलों के बीच एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदर्शनगर की स्थापना कराता है। चिड़ियाँ अपने इस कार्य में देवताओं का भी सहयोग लेती हैं।

अरिस्टोफ़ेन्स को पुरुषों की तुलना में स्त्रियों के चरित्रगत औदात्य और कर्मठता पर अधिक विश्वास था। अपने नाटक 'लाइसिसट्राटा' (ई०पू० ४११) में उन्होंने स्त्रियों को पुरुषों के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध अस्वीकार करते हुए, प्रदर्शित किया है, जब तक कि वे अपने को युद्ध से पूरी तरह विमुख न कर लें। ई०पू० ४११ में लिखित **'दि वीमेन ऐट डेमेटर्स फेस्टिवल'** में उन्होनें स्वयं स्त्रियों, की चरित्रगत दुर्बलताओं का उद्घाटन किया। ई०पू० ३६३ में लिखित 'महिलाएँ : राजनीति में' स्त्रियाँ, पुरुषों की वेश–भूषा में अवतरित होकर, अपने रुचि के अनुरूप एक संविधान के निर्माण में तत्पर होती हैं।

अरिस्टोफ़ेन्स ने अपने युग के साहित्यिक जीवन को भी आलोचना का विषय बनाया है। यूरिपिडीज़ के दुःखान्त नाटकों की यथार्थनिष्ठ शैली की आलोचना की है; और ईस्किलस के भावना और कल्पना से अनुरंजित भाषिक संरचना का अभिनन्दन किया है। पाश्चात्य साहित्य में वस्तुतः यह तुलनात्मक आलोचना का पहला उदाहरण है। अपनी अन्तिम नाट्य–रचना 'प्लाटस' (ई०पू० ३८८) में उन्होंने धन के इसी नाम के देवता को पहले अन्धे के रूप में अवतरित किया है, जिसे भिखारी समझ लिया जाता है; लेकिन जल्दी ही उसकी आँखों में दृष्टि आ जाती है, और वह अमीरों से धन लेकर गरीबों में बाँटने लगता है।

अरिस्टोफ़ेन्स के नाटक विश्व की प्रायः सभी वरिष्ठ भाषाओं में अनुवादित हुए और खेले गये हैं। इसीलिए उन्हें कालजयी नाटककार कहा जाता है।

अरीठा (रीठा) यह वृक्ष लगभग सारे भारतवर्ष में पाया गया है। इसके पत्ते, गूलर के पत्तों से बड़े, छाल भूरी और फल गुच्छों में होते हैं। इसकी दो जातियाँ हैं। प्रथम जाति के वृक्ष के फलों को पानी में भिगोने और मथने से फेन उत्पन्न होता है और इससे सूती, ऊनी और रेशमी, सब प्रकार के कपड़े और बाल धोये जा सकते हैं। आयुर्वेद के मत से यह फल त्रिदोषनाशक, गर्म, भारी, गर्भपातक, वमनकारक, गर्भाशय को निश्चेष्ट करने वाला तथा अनेक विषों का प्रभाव नष्ट करने वाला है।

सम्भवतः वमनकारक होने के कारण ही यह विषनाशक भी है। वमन के लिए इसकी मात्रा २ से ४ माशे तक बतायी जाती है। फल के चूर्ण के गाढ़े घोल की बूँदों को नाक में डालने से अधकपारी, मिर्गी और वातोन्माद में लाभ होना बताया जाता है।

दूसरे प्रकार के वृक्ष से प्राप्त बीजों से तेल निकाला जाता है, जो औषधि के काम आता है। इस वृक्ष से गोंद भी मिलता है।

अरीठी (मरोड़फली) वैज्ञानिक नाम–हैलिक्टेरिस आइजोरा : कुल–स्टरकुलेसी

इसके अन्य नाम–संस्कृत–मृगशिंगा; बंगाली–अतमोरा; गुजराती–मुरदासिंग; तेलगू–कवांची, तमिल–वालमवीरी।

झाड़ी या छोटे पेड़ के आकार में यह १.५ से ४.५ मीटर इंच लम्बा तथा २.५ से १२.५ सेमी. मोटे तने वाला, रोमों से आच्छादित पेड़ है। पत्तियों में आरी जैसी कटान। फूल छोटे, एकटकी या गुच्छों में होते हैं। फूलों का रंग पहले लाल तथा बाद में पीला या नीला हो जाता है।

इसके तने व शाखाएँ कागज़ बनाने के काम आती हैं। तने के ऊपरी सतह से रेशा निकाला जाता है। पत्तियों और कोमल शाखाओं का पशु–आहार के लिए प्रयोग किया जाता हैं।

इसके सूखे फल का कई प्रकार की बीमारियों में प्रयोग करके लाभ लिया जाता है। जड़ तथा तने की छाल भी अनेक रोगों में लाभकारी होती है।

लकड़ी सफेद तथा मुलायम होती है और इसे ईंधन के रूप में प्रयोग किया जाता है। इसका कोयला बनाकर बारूद बनाने में प्रयोग होता है।

इसके पेड़ समस्त भारत में पाये जाते हैं। ये अक्सर समूह में उगते हुए, पाये जाते हैं। इनको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काटने या जलाने पर शीघ्र ही नये तने विकसित हो जाते हैं। ट्रावनकोर के जंगलों में इसका क्षेत्रफल लगभग ३०,००० एकड़ है। इनकी किस्मों को, पत्ती की विभिन्नता पर पहचानते हैं।

अरुणाचल प्रदेश पश्चिमोत्तर भारत में असम के उत्तर में स्थित एक राज्य। अरुण, सूर्य के बालरूप अर्थात् उसकी उदयकालीन संज्ञा है। सूर्य के उदयकालीन स्वरूप की भूमि होने के कारण, उस क्षेत्र को अरुणाचल प्रदेश कहा जाता है। इस प्रदेश का उल्लेख 'वाल्कीकीय रामायण', 'महाभारत' और 'कालिका पुराण' में मिलता है। पहले उसे पूर्वोत्तर सीमा का क्षेत्र, 'नार्थ ईस्ट फ्रांटियर एजेंसी' या 'नेफा' कहा जाता था। सन् १६७२ में वह केन्द्र शासित प्रदेश बना और फिर सन् १६८७ में उसे एक स्वतंत्र राज्य घोषित कर दिया गया।

अरुणाचल प्रदेश के पश्चिम में भूटान का राज्य है। उत्तर में और उत्तर–पश्चिम में तिब्बत के भूभाग हैं। दक्षिण–पूर्व में म्याँमार है, दक्षिण में नागालैण्ड और दक्षिण तथा दक्षिण–पश्चिम में असम राज्य। क्षेत्रफल ८३,७४३ वर्ग किलोमीटर; लेकिन आबादी पहाड़ी क्षेत्र की अधिकता के कारण बड़ी ही विरल है। राजधानी ईटानगर है, जिसे स्थानीय भाषा में लहर लागुन भी कहते हैं।

अरुणाचल प्रदेश के उत्तरी भाग में हिमालय की अच्छादित पर्वत श्रृंखलाएँ हैं, जिसे मैकमोहन रेखा कहा जाता है। इस क्षेत्र का तूलंग घाटी मार्ग ७०६० मीटर की ऊँचाई पर है। उसके बाद की पर्वत श्रृंखलाएँ बीच की अनेक घाटियों के नीचे ३०४८ मीटर की ऊँचाइयों तक उठती हैं; फिर उत्तरांचल की शिवालिक पहाड़ियों जैसी ३०० से १००० मीटर तक उठने वाली पहाड़ियाँ हैं, जिनकी तलहटी में असम का मैदानी क्षेत्र आता है।

अरुणाचल प्रदेश की सबसे बड़ी नदी ब्रह्मपुत्र है, जो तिब्बत के मानसरोवर से उत्पन्न होकर, चीन के पश्चिम–दक्षिण क्षेत्र को सींचती हुई अरुणाचल में दक्षिण की ओर प्रवेश करती है। पासीघाट के निकट यह नदी असम प्रदेश में प्रवेश करती है। अन्य नदियों में कमेंग, सुबंसिरी, दिबांग, लोहित और तिरप हैं।

अरुणाचल प्रदेश की जलवायु भौगोलिक विभिन्नता के कारण, ऊँचे पहाड़ों, घाटियों और छोटी पहाड़ियों के बीच अनेक प्रकार की है। ऊँचे पहाड़ी प्रदेश तो ठंडे रहते हैं। बीच की घाटियों में कुछ नमी रहती है; लेकिन नीचे की पहाड़ियों और घाटियों में बड़ी गर्मी हो जाती है। जाड़े के दिनों में तापमान १४ सेन्टीग्रेड से नीचे उतर जाता है; लेकिन गर्मियों में वह सामान्यतः ३५ सेन्टीग्रेड तक रहता है। वार्षिक वर्षा पूरे राज्य में औसतन ३००० मिलीमीटर होती है। वर्षा के दिन अधिकांश में अप्रैल से सितम्बर तक चलते हैं। राज्य के मध्य भाग के सियांग जिले के पूर्वी तथा पश्चिमी क्षेत्रों में प्रायः ४०६४ मिलीमीटर की वर्षा हो जाती है।

अरुणाचल प्रदेश की भौतिक विविधता के कारण वहाँ के पेड़ और पौधों में भी बड़ी विविधता है। राज्य में लगभग दो–तिहाई क्षेत्र में जंगल हैं। ऊँचे पहाड़ी क्षेत्रों में शंकु–वृक्षों की संख्या अधिक है। उष्ण कटिबंधीय वृक्षों की बहुतायत है। तराई के क्षेत्रों में दलदली क्षेत्र के जंगल हैं। मध्य तथा उत्तर के क्षेत्रों में औषधीय पौधों और जड़ी बूटियों की विविधता है; लेकिन अभी तक उनका उपयोग केवल स्थानीय निवासी ही अपने उपचार के लिए करते हैं। ऊँचाई के बीच के और नीचे के जंगलों में चीता, लम्चित्ता, हिमचित्ते, तेंदुए आदि पाये जाते हैं। हाथी भी बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं। ऊँची पहाड़ियों पर काले भालू, लाल पांडा और भरल भी पाये जाते हैं। नीची पहाड़ियों पर जंगली भैंसे अनेक प्रकार के हिरन, अनेक प्रकार के वानर यथा गिबन, लंगूर आदि भी देखे जाते हैं। अनेक प्रकार के छोटे–बड़े साँप, जलाशयों में अनेक प्रकार की मछलियाँ, और ५०० जातियों और प्रजातियों की चिड़ियाँ मिलती हैं।

सम्पूर्ण प्रदेश की आबादी सन् १६६१ की जनगणना के अनुसार ८ लाख ६४ हजार ५ सौ अट्ठावन थी, जो प्रतिवर्ग किलोमीटर मात्र १० बनती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। अधिकांश लोग ३६४६ गाँवों में रहते हैं। तीन मुख्य नगर हैं : पासीघाट, अलाँग और ईटानगर, जिनमें क्रमशः मात्र ६१३६, ८०७४ एवं ६४०६ लोग रहते हैं। आधी से अधिक जनसंख्या अनुसूचित जनजातियों की है। जनजातियों की संख्या लगभग २५ है, जिनके बीच विशिष्ट समुदायों में ही वैवाहिक सम्बन्ध बनते हैं; लेकिन विभिन्न जनजातियों के बीच जो अलग–अलग कुल हैं, वे परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। अधिकांश लोग एशियाई उद्गम के हैं, तथा तिब्बत एवं म्याँमार के पहाड़ी क्षेत्र के लोगों से उनमें बहुत मिलती–जुलती समानताएँ हैं। ये सभी जनजातियाँ विशेष प्रकार के भौगोलिक क्षेत्रों में रहती हैं। पश्चिमी क्षेत्र की मुख्य जातियाँ हैं निशी (डफला), सुलुंग, अका, मोनपा, अपातानी, हिलमीरी और शेरडुपपेन। मध्य क्षेत्र में सर्वाधिक लोग, आदि–जनजाति के हैं। उत्तरी पहाड़ियों पर मिरमी जाति के लोग रहते हैं। तिरप जिले के दक्षिण पूर्वी भाग में वांचो, भोक्ते और तुनसा जनजातियों के लोग रहते हैं। ये सभी जनजातियाँ अनेक समुदायों में जुड़ती हैं, जिनकी जीवन शैली और व्यवस्था परस्पर काफी मिलती–जुलती है।

अरुणाचल प्रदेश की ये जनजातियाँ चीनी, तिब्बती कुल की भाषा की तिब्बती बर्मी शाखा की लगभग पचास अलग–अलग भाषाएँ बोलती हैं। इन भाषाओं में परस्पर इतनी विभिन्नता है कि एक भाषा बोलने वाले, दूसरे की भाषा को नहीं समझते। अतः सामान्य भाषा के रूप में पूरे प्रदेश में असमिया, अंग्रेजी और हिन्दी का प्रयोग होता है। प्रकृति की विभिन्न शक्तियों की तथा अनेक दिव्य–आत्माओं की पूजा–अर्चना होती है। देवताओं के आगे बलिदान की प्रथा भी प्रचलित है और विशेष रूप से जंगली बैल का बलिदान दिया जाता है। बैल को इसीलिए महिमामय समझा जाता है। उत्तर के भाग में जो तिब्बत के निकट है, तिब्बती बौद्ध–धर्म का प्रचार है। म्याँमार के निकट की जनजातियाँ, बर्मी बौद्ध धर्म को मानती हैं, जिसे बौद्ध धर्म के हीनयान की एक शाखा कहा जाता है। लेकिन जो भाग असम प्रदेश के मैदानी क्षेत्रों को छूते हैं, वहाँ आज हिन्दू विश्वासों और पूजा–पद्धतियों का प्रचार है।

प्रदेश के ६० प्रतिशत से अधिक लोग खेती करते हैं। अधिकांश पर्वतीय क्षेत्र होने के कारण केवल ४.१५ प्रतिशत भूमि ही अनाज उपजाने के काम में लायी जाती है। चावल, मक्का, बाजरा और एक विशेष प्रकार के गेहूँ की फसलें स्थान बदल–बदल कर उगायी जाती हैं। व्यावसायिक दृष्टि से तिलहन, आलू और सब्जियों की खेती होती है। कुछ जनजातियों के लोग जंगली पदार्थों को खा कर भी गुजर करते हैं। कुछ जातियाँ जानवरों का शिकार करके तथा मछलियों को पकड़कर अपनी रोजी–रोटी चलाती हैं। मोनपा जाति के लोग भेड़ों के पालन में रुचि रखते हैं। चावल और बाजरे से बनी शराब बड़ी रुचि के साथ पी जाती है। थोड़ी – बहुत चाय भी पैदा की जाती है और उसे भी लोग पीते हैं।

अरुणाचल प्रदेश नैसर्गिक संसाधनों की दृष्टि से बड़ा ही समृद्ध है : बड़े ही घने जंगल हैं; बिजली उत्पादन की अनेक सुविधाएँ हैं तथा कोयला, तेल तथा और भी अनेक खनिज पदार्थों के भण्डार हैं। फिर भी वहाँ कोई बड़े कारखाने नहीं हैं। कपड़ा बुनना, दरियाँ और कालीन बनाना तथा बास्केट बनाना वहाँ के मुख्य उद्योग हैं। चावल, तेल, फलों से खाद्य–पदार्थ बनाने के छोटे–छोटे कारखाने हैं। टसर, रेशम आदि से अनेक प्रकार के धागे भी बनाये जाते हैं। राज्य सरकार ईटानगर, लहरलागून, पासीघाट और देवमाली में उद्योग–धन्धों को खड़े करने में प्रोत्साहन दे रही है।

अधिकांश हिस्से में पर्वतीय क्षेत्र होने के कारण यातायात के लिए केवल सड़कों की ही व्यवस्था है। रेल और वायुयान की सुविधाएँ असम के बड़े–बड़े शहरों में ही उपलब्ध होती हैं। राजकीय बस यातायात, देश को गुवाहाटी, शिलांग, तेजपुर, डिब्रूगढ़, तिनसुकिया, जोरहाट, नौगांव आदि से जोड़ता है। प्रदेश में प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षण की व्यवस्था तो है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन शैक्षिक–चेतना लोगों में बहुत ही कम है। सन् १६८४ में ईटानगर में अरुणाचल विश्वविद्यालय की भी स्थापना कर दी गयी। पूरे प्रदेश में २८३ डाकखाने हैं, ५ जिला अस्पताल और मात्र तीन सामान्य अस्पताल हैं। प्रायः हर जाति के लोग अपनी वेशभूषा और शिरोभूषणों से अपनी अलग पहचान बनाते हैं। नृत्य, सामुदायिक जीवन के अनिवार्य अंश हैं। बोरीबूथ, लोसर, नियोकुम, मोपिल और सोलंग, जनजातियों के महत्त्वपूर्ण त्यौहार हैं।

उत्तरी सीमा पर ८८५ किलोमीटर लम्बी काल्पनिक मैकमोहन रेखा प्रदेश को तिब्बत और चीन से अलग करती है। सर हेनरी मैकमोहन अंग्रेजी साम्राज्य के भारतीय विदेश विभाग के सचिव थे। सन् १६१३–१४ में, शिमला में सीमा निर्धारण के लिए ब्रिटेन, चीन और तिब्बत के प्रतिनिधियों की जो बैठक हुई थी, उसमें उन्होंने अंग्रेजों की ओर से बातचीत की थी। यह निश्चय हुआ था कि उस क्षेत्र की हिमालय की जो शिखरमाला है, उसी को सीमा के रूप में मान लिया जाये। उन दिनों चीन में संघीय सरकार थी, उसने यह समझौता मानने से इन्कार कर दिया था। इस प्रकार तब से यह क्षेत्र सीमा की दृष्टि से विवादास्पद चला आ रहा है।

सन् १६४७ में जब हिन्दुस्तान आजाद हुआ तो चीन ने यह कहकर कि वह मैकमोहन रेखा को मानता ही नहीं, लगभग सम्पूर्ण प्रदेश के अपना होने की बात कही। उस समय चीन के प्रधानमंत्री, चाऊ–एन–लाई, ने 'ब्रिटेनिका' के १६२६ के संस्करण को लेकर कहा कि यह सारा ही विवादास्पद क्षेत्र है। इस सम्बन्ध में बातचीत के समय भारतीय सरकार ने; भारतीय सर्वेक्षण विभाग का सन् १८८३ का नक्शा दिखाया, जिसमें यह क्षेत्र अंग्रेजों के भारतीय साम्राज्य का अंग था। चीनियों ने उसे माना नहीं; बात–चीत चलती रही और २६ अगस्त १६५६ को उन्होंने मैकमोहन रेखा पार कर लांगूज क्षेत्र तक अधिकार कर लिया। इस क्षेत्र को उन्होंने फिर सन् १६६१ में छोड़ा; लेकिन अक्टूबर १६६२ में सम्पूर्ण उत्तरी क्षेत्र पर फिर से अधिकार कर लिया। कालान्तर में चीनियों ने इस क्षेत्र को सन् १६६३ में खाली तो कर दिया; लेकिन विवाद को बनाये रखा; जो आज भी चल रहा है।

सन् १६६२ की जनगणना के अनुसार प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में ७५३,६३० और नगरों में ११०,६२८ लोग रहते हैं: इस प्रकार सम्पूर्ण प्रदेश की आबादी ८६४,५५८ है।

अर्जुन (पांडव) सामान्य अर्थ है उज्ज्वल, चमकीला, दिन जैसा प्रकाशमान, रुपहला, श्वेत। सम्भवतः इसी अर्थ को दृष्टि में रखते हुए तीसरे पाण्डु–पुत्र का नामकरण अर्जुन हुआ था; और उन्होंने अपने व्यक्तित्व तथा कृतित्व से उसे चरितार्थ किया। महाभारत–युद्ध का यह वरिष्ठ योद्धा महाराज पाण्डु की ज्येष्ठ पत्नी कुन्ती का सुपुत्र था। उनकी माँ श्रीकृष्ण की बुआ थीं, इसलिए उनके मन में तथा श्रीकृष्ण के मन में भी, भ्रातृत्व की भावना थी। कुन्ती ने अपना यह सुपुत्र इन्द्र से प्राप्त किया था। कुन्ती का दूसरा नाम पृथा भी था और उसके आधार पर उनका नाम 'पार्थ' भी हुआ। अर्जुन अपने समय के विलक्षण धनुर्धारी थे। उनमें वायें हाथ से भी धनुष चलाने की सामर्थ्य थी; इसी आधार पर उनका नाम 'सब्यसाची' भी प्रचलित हुआ।

अर्जुन ने धनुर्विद्या का पाठ विशेष रूप से द्रोणाचार्य से ग्रहण किया था और अपने शस्त्र–कौशल के कारण वह अपने गुरु के विशेष प्रिय भी थे। अपने शस्त्रकौशल के द्वारा उन्होंने स्वयंवर में द्रौपदी को जीता था। उन्होंने परशुराम के साथ रहकर भी शस्त्रविद्या का अध्ययन किया था। अर्जुन ने अपने विजय–अभियान में नागराज की सुपुत्री उलूपी से विवाह किया था; और उससे उन्हें इरावत नाम का पुत्र प्राप्त हुआ था। अपने मणिपुर अभियान के समय उन्होंने वहाँ के महाराज की कन्या चित्रांगदा से विवाह किया था, जिससे उन्हें बभ्रुवाहन नाम का सुपुत्र मिला था। द्वारिका में उन्होंने कृष्ण की बहन सुभद्रा से विवाह किया था। यह विवाह श्रीकृष्ण के परामर्श से सम्पन्न हुआ था। कालान्तर में सुभद्रा से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही उन्हें अभिमन्यु की प्राप्ति हुई थी, जिसने महाभारत–युद्ध में वीरगति पाकर भी, अपने अतुल पराक्रम से सबको विस्मय विमुग्ध कर दिया था।

युधिष्ठिर जब महाराज धृतराष्ट्र की सभा में शकुनि के प्रपंच से अपना सारा राज्य जुए में हार गये थे, तो उन्हें १२ वर्षों का वनवास और उसके बाद एक वर्ष उन्हें अज्ञातवास में भी भोगना पड़ा था। इस निर्वासन काल में जब वे हिमालय की ओर गये थे तो किरात वेषधारी शिव से अर्जुन को युद्ध करना पड़ा था; लेकिन जब उन्हें वास्तविकता का ज्ञान हुआ था, तो उन्होंने शिव की पूजा की थी। शिव ने प्रसन्न होकर उन्हें पाशुपतअस्त्र दिया था। उनके शौर्य तथा पराक्रम से प्रसन्न होकर इन्द्र, वरुण, यम और कुबेर ने भी अपने–अपने अस्त्र–शस्त्र उन्हें उपहार में दिये थे। इस निर्वासन के १३वें वर्ष के अज्ञातवास में पाँचों पाण्डवों ने महाराज विराट् के यहाँ नौकरी की थी। अर्जुन ने तब कञ्चुकी के रूप में विराट् की पुत्री उत्तरा को नृत्य–कला की शिक्षा दी थी। उनके सामने जब उत्तरा के साथ विवाह का प्रस्ताव रखा गया, तो उन्होंने मर्यादा की दृष्टि से मना कर दिया तथा अपने सुपुत्र अभिमन्यु से विवाह कराकर उसे पुत्रवधू के रूप में स्वीकार किया।

जब महाभारत–युद्ध आरम्भ होने पर, वे अपने सारथी श्रीकृष्ण के साथ युद्धभूमि में पहुँचे, तो अपने सामने अपने ही बन्धु–बान्धवों को देखकर उनके मन में विषाद उत्पन्न हुआ। श्रीकृष्ण ने तब उन्हें बहुत प्रकार से समझाया–बुझाया। श्रीकृष्ण और अर्जुन का वह संवाद, महर्षि व्यास ने अपने 'महाभारत' काव्य में 'गीता' के रूप में अवतरित किया है। अर्जुन ने उसके बाद अतुल साहस और शौर्य का प्रदर्शन किया था। भीष्म तथा कर्ण के वध उन्होंने ही किये थे। इस महायुद्ध में विजय प्राप्त कर युधिष्ठिर जब हस्तिनापुर के सिंहासन पर आसीन हुए, तो अश्वमेध यज्ञ का आयोजन हुआ था। अर्जुन ही प्रधान सेनापति के रूप में घोड़े के साथ चले थे। उन्होंने तब लगभग समस्त उत्तर भारत के राजाओं पर विजय प्राप्त की थी, लेकिन मणिपुर पहुँचने पर स्वयं अपने पुत्र बभ्रुवाहन से हारना पड़ा था।अर्जुन उसके बाद अश्वमेध–यज्ञ के विजेता के रूप में हस्तिनापुर लौटे थे।

अर्जुन को उसके कुछ समय बाद श्रीकृष्ण ने अपनी द्वारकापुरी में बुलाया था। यादवों के पारस्परिक युद्ध के बाद, जब श्रीकृष्ण का निधन हो गया तो अर्जुन ने ही उनका अन्तिम संस्कार किया था। उनके वापस लौटने पर महाराज युधिष्ठिर ने अभिमन्यु के एकमात्र पुत्र परीक्षित को हस्तिनापुर का शासन–भार सौंप दिया था; और फिर पाँचों भाई हिमालय की यात्रा पर निकल पड़े थे। अपने सभी भाइयों में अर्जुन को, सबसे अधिक पराक्रमी, गम्भीर, सद्भावना से ओतः प्रोत, सुन्दर और उदात्त चरित्र का कहा गया है।

अर्जुन (वृक्ष) अर्जुन के वृक्ष उत्तर भारत के मैदानी भागों से दक्षिण में कन्याकुमारी तक पाये जाते हैं। म्यॉमार और श्रीलंका में भी ये मिलते हैं। इस वृक्ष की ऊँचाई अट्ठारह से चौबीस मीटर तक होती है। पत्तियाँ लगभग ६–७ से.मी. चौड़ी और १०–१५ से.मी. लम्बी होती हैं। इसके फूल बहुत छोटे और कुछ हरीतिमा लिये हुए सफेद होते हैं। चिकित्सा तथा औद्योगिक दोनों ही दृष्टियों से इस वृक्ष की पत्तियों, छाल और लकड़ी का उपयोग किया जाता है। इसका वानस्पति नाम टरमिनेलिया अर्जुना है, और यह कॉमब्रिटेसी कुल का पौधा है।

अर्जुन की छाल में लगभग पन्द्रह प्रतिशत टैनिन होता है। आयुर्वेद में अर्जुन की छाल को कसैला, गरम, कफनाशक, व्रणशोधक, पित्त, श्रम और तृषा का निवारक कहा गया है। मूत्रकृच्छ के लिए इसे विशेष हितकारी माना गया है। इसके क्वाथ से नासूर का उपचार होता है। इस क्वाथ का उपयोग हृदयरोग में भी लाभकारी माना जाता हैः क्वाथ दूध के साथ पिलाया जाता है। अर्जुन की छाल के चूर्ण का सेवन रक्तचाप में लाभप्रद है। छाल के चूर्ण को दूध और राब के साथ मिलाकर देने से अस्थिभंग का भी उपचार होता है। शरीर के किसी भाग के नील

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ जाने तथा चोट लगने पर इसके क्वाथ का उपयोग किया जाता है। इसका गोंद सफेद होता है और विभिन्न रोगों की औषधि के काम आता है।

अर्जुन की पत्तियाँ टसर के कीड़ों को खिलाने के उपयोग में लायी जाती हैं। इसकी छाल रँगने में काम आती है। इसकी लकड़ी से नाव, गाड़ी, खेती के औज़ार आदि बनाये जाते हैं।

अर्जुन की इन विभिन्न प्रकार की उपयोगिताओं की दृष्टि से व्यावसायिक रूप में भी अब इसे लगाया जाने लगा है।

अर्जुनदेव सिख धर्म के पाँचवें गुरु। इनका जन्म बैसाख वदी ७, संवत् १६२० वि० (सन् १५५३ ई०) में गोइन्दवाल नामक स्थान में हुआ था। तीसरे गुरु अमरदास जी इनके नाना थे; और पिता थे, चौथे गुरु रामदास जी। इनकी माता थीं श्रीमती दयाकौर। जब ये बालक ही थे, तभी वे अपने नाना के यहाँ आने पर एक बार घुटनों के बल चलते–चलते गुरु–गद्दी पर बैठना चाहते थे। उनके नाना ने इस पर उनसे बड़े प्यार से कहा था, 'बेटा, तू अभी से इस आसन पर बैठना चाहता है; उतावला मत हो। उचित समय आने पर तुम्हें यह आसन मिलेगा।' उनकी यह भविष्य वाणी कालान्तर में चरितार्थ हुई थी।

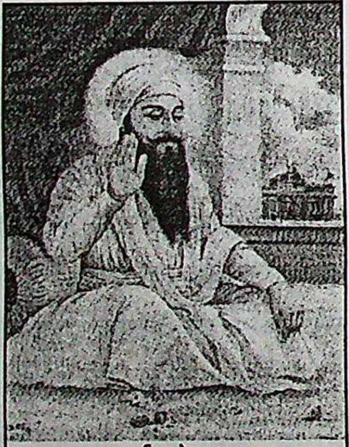

अर्जुनदेव

सन् १५८१ ई० में अपने पिता चौथे गुरु रामदासजी के निधन के बाद जब उन्हें गुरु के आसन पर बिठाला गया तो उनकी आयु मात्र १८ वर्ष की थी। उनके एक बड़े भाई भी थे, पृथ्वीचन्द। उन्होंने उसका विरोध किया। उन्होंने तत्कालीन मुग़ल सम्राट् अकबर को यह आवेदन–पत्र दिया कि 'मैं बड़ा हूँ इसलिए मुझे यह पद मिलना चाहिए।' अकबर ने इस विषय पर विचार किया और अपने वरिष्ठ अधिकारियों से सलाह करके यह निर्णय दिया कि गुरुपद, कोई पैतृक सम्पति नहीं है। पन्थ के लोगों ने अगर सोच–विचार कर उसे, उनके छोटे भाई को प्रदान किया है, तो वही मान्य है।

अर्जुनदेव जी युवावस्था के होते हुए भी, बड़े ही धर्मनिष्ठ, कुशल उपदेशक तथा प्रवीण प्रबन्धकर्त्ता थे। उनके प्रवचनों को सुनकर बहुत बड़ी संख्या में लोगों ने उनसे दीक्षा ली थी। अपने पिता द्वारा आरम्भ कराये गये 'सुधासर' को उन्होंने पक्का कराया था। 'गुरुग्रन्थ–साहब' में संकलित एक पद से ज्ञात होता है कि उन्होंने इस कार्य में अपने शिष्यों के साथ स्वयं भी हाथ बटाया था।

गुरु अर्जुनदेव जी ने सन् १५८६ में 'संतोषसर' को भी पक्का करा दिया था। कार्तिक सुदी ५, संवत् १६४५ वि० (सन् १५८८ ई०) में उन्होंने हरिमन्दिर की नींव रखी थी। सन् १५६० के मई महीने में उन्होंने तरनतारन बसाया। जालन्धर जिले के करतार पुर की स्थापना उन्होंने सन् १५६३ में नवम्बर महीने में की थी। उन्होंने सन् १५६६ में लाहौर में 'बाडली साहब' गुरुद्वारा बनवाया था। ये सभी निर्माण–कार्य करते हुए वे, नानक जी से लेकर अपने समय तक के सभी गुरुओं के पदों का भी संकलन करते रहे थे। यही उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाता है। उन्होंने ही उसे 'हरिमन्दिर' में उच्च आसन पर संस्थापित किया था, और 'गुरुग्रन्थ–साहब' की संज्ञा दी थी। उन्होंने बुड्ढा जी को पहला ग्रन्थी नियुक्त किया था। उसी समय से 'गुरुग्रन्थ–साहब' को सम्प्रदाय के सभी लोग जीवन्त गुरु जैसा सम्मान देते हैं।

अर्जुनदेव जी के मन में गुरुनानक जी के प्रति विशेष सम्मान की भावना थी। नानक जी के सुपुत्र बाबा श्रीचन्द जी अमृतसर जिले के बाबा नामक स्थान पर रहते थे और अपना एक अलग उदासी सम्प्रदाय चला रहे थे। अर्जुनदेव जी बड़ी श्रद्धा के साथ उनसे मिलने गये थे, कुछ दिनों साथ रहे थे, और फिर अमृतसर लौट आये थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्जुनदेव जी ने पहले रामदेवी और उसके बाद गंगादेवी से विवाह किये थे। गंगा देवी से उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई थी; और उसका नाम उन्होंने हरगोविन्द रखा था। बादशाह अकबर के नायब दीवान चन्दू शाह अपनी सुपुत्री का विवाह हरगोविन्द के साथ करना चाहते थे। अर्जुनदेव जी ने जब यह सम्बन्ध अस्वीकार कर दिया, तो शाहजी उनसे शत्रुता रखने लगे। शाहजी की अर्जुनदेव के बड़े भाई पृथ्वीचन्द से भी घनिष्ठता थी। दोनों ने मिलकर बादशाह अकबर से शिकायत की कि 'गुरुग्रन्थ साहब' में अनेक स्थलों पर हिन्दू और इस्लाम धर्मों के प्रति विद्वेष के भाव प्रकट किये गये हैं। अकबर को जब यह शिकायत मिली, तो वह पंजाब के दौरे पर था। उसने वास्तविकता जानने के लिए 'गुरुग्रन्थ–साहब' को देखने की इच्छा प्रकट की। हरमन्दिर के ग्रन्थी बुड्ढाजी और भाई गुरुदासजी ने 'गुरुग्रन्थ–साहब' के अनेक पद अकबर को सुनाये। उन्हें सुनकर अकबर को बिल्कुल भी यह नहीं लगा कि उसमें हिन्दू धर्म या इस्लाम धर्म के प्रति कोई विरोध का भाव है। अकबर ने पूर्णतः सन्तुष्ट होकर कहा कि यह तो बड़ा ही पवित्र ग्रन्थ है, और इसे पूरा सम्मान दिया जाना चाहिए। उसके बाद भी चन्दूशाह और पृथ्वीचन्द दोनों मिलकर अर्जुनदेव जी के विरुद्ध षड्यन्त्र चलाते रहे।

सन् १६०५ में अकबर के निधन के अनन्तर जहाँगीर ने शासन–भार सँभाला। उनके पुत्र खुसरो ने उनके विरुद्ध विद्रोह किया। खुसरो को आगरे से भागना पड़ा, और उसने तरनतारन पहुँचकर गुरु अर्जुनदेव जी से सहायता की याचना की। गुरु अर्जुनदेव जी ने उसे खस्ता–हाल देखकर पाँच हज़ार रुपये दिये, और विदा किया। शाही सेना ने खुसरो को झेलम नदी पार क़रते समय गिरफ्तार कर लिया, और आगरा भेज दिया।

उस समय तक पृथ्वीचन्द का निधन हो चुका था, लेकिन उसका बेटा मेहरबान भी अपने चाचा गुरु अर्जुनदेव के प्रति विरोध की भावना ही रखता था। उसने इस सारे प्रसंग की चन्दूशाह को सूचना दी। चन्दूशाह ने कुछ और नमक–मिर्च लगाकर बादशाह जहाँगीर को यह बताया कि अर्जुनदेव ने खुसरों को यह शुभाशीष दिया है कि वह बादशाह बनेगा। जहाँगीर यह सुनकर नाराज हो उठा और उसने गुरु अर्जुनदेव जी को कहलाया कि वे उससे मिलने आयें।

अर्जुनदेव जी को यह लगा कि उन पर बहुत बड़ी विपत्ति आने को है, अतः उन्होंने अपने पुत्र हरगोविन्द को गुरु के आसन पर प्रतिष्ठित कर दिया और लाहौर की ओर चल पड़े। जब वे जहाँगीर के सामने पहुँचे, तो उसने कहा कि जो कुछ तुमने किया है, उसके लिए दो लाख रुपये जुर्माना दो, और 'ग्रन्थ–साहब' में जिन पंक्तियों में हिन्दू तथा इस्लाम धर्मों की निन्दा की गयी है, उन्हें निकाल दो। अर्जुनदेव जी ने कहा कि उनके पास जो कुछ रूपये हैं, वे पन्थ के हैं; तथा गरीबों और बेसहारा लोगों के ही लिए हैं। फिर भी अगर आपकों रूपयों की ज़रूरत है तो आपको दिये जा सकते हैं; लेकिन जुर्माने के रूप में मैं कुछ भी नहीं दूँगा; जुर्माना अपराधियों पर किया जाता है, साधुओं और सन्तों पर नहीं। जहाँ तक 'गुरुग्रन्थ साहब' की बात है, उसमें कोई भी शब्द हिन्दुओं तथा मुसलमानों के विरोध में नहीं है; अतः उससे कुछ भी हटाने का सवाल ही पैदा नहीं होता। आप यह सब सुनने के बाद भी अगर मुझे कोई सजा देना चाहते हैं; तो मैं उसे बड़ी खुशी के साथ स्वीकार करूँगा।

जहाँगीर से अर्जुनदेव के इन शब्दों का कोई जवाब न बन पड़ा; लेकिन वहाँ उपस्थित काज़ी ने फ़रमान सुनाया कि अर्जुनदेव जी जुर्माना दें, नहीं तो सजा भुगतें। लाहौर के उनके एक शिष्य ने जब यह सब सुना तो उसने कहा कि वह जुर्माने की राशि जमा कर देगा; लेकिन अर्जुनदेव जी ने उसे यह नहीं करने दिया, और कहा कि धार्मिक मनोवृत्ति का और ईश्वर की भक्ति करने वाला कोई व्यक्ति, न तो कोई बुरा काम करता है, और न ही जुर्माना देता है; जुर्माना तो दुष्टों से, अपराधियों से वसूल किया जाता है।

गुरु अर्जुनदेव का यह जवाब सुनकर शाही अधिकारियों ने उन्हें मुर्तजा खाँ के सुपुर्द कर दिया। मुर्तज़ा खाँ ने उन्हें बड़ी ही कठोर यातनाएँ दीं। उनके ऊपर गरम बालू फेंकी गयी; गरम लोहे से उन्हें दाग़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया; फिर भी वे अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। उन्हें गरम पानी के देग़ में भी डाला गया। वे सब कुछ सहन करते रहे। भावविह्वल होकर वे कहते रहे, 'वाहे गुरु, तू मूझे शीतलता प्रदान कर।' इन सारी यातनाओं को सहते हुए भी उनके मुख पर परम शान्ति और तेज विराजमान् रहा। कहा जाता है कि अनेक प्रकार की यातनाओं से घायल अर्जुनदेव जी के शरीर को, रावी नदी के जल में डाल दिया गया था; और वहीं 'जपुजी' का पाठ करते–करते उन्होंने प्राण त्याग दिये। उनके शिष्यों ने उनके शरीर को निकालकर वहीं उनका दाह संस्कार किया था। उस स्थान पर कुछ समय बाद एक गुरुद्वारा बना, जिसे 'देहरा साहब' कहा जाता है।

'गुरुग्रन्थ–साहब' में, जिसका उन्होंने सम्पादन किया था, विभिन्न गुरुओं के कुल १५५०५ छन्द और स्वयं उनकी ६२०४ रचनाएँ हैं; जो अन्य गुरुओं की रचनाओं से कहीं अधिक हैं। उनकी प्रमुख वाणियाँ हैं: 'वाराँ माँ', 'वावन अक्सरी', 'गौड़ी थिली', 'सुखमनी साहब' और 'गाथा'। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'सुखमनी साहब' है; जिसमें २४ अष्टपदियाँ हैं। इन अष्टपदियों के पाठ से और स्मरण से भी सुख की उपलब्धि मानी जाती है। सम्भवतः इसीलिए इस ग्रन्थ को सुखों की वाणी, 'सुखमनी' नाम दिया गया था।

अर्थसार किसी शब्द का अर्थ से आगे उसके अर्थ विस्तार के, उसके उपयोग के अथवा उसके गुण–विशेष के कारण जो भाव बन जाता है उसे अर्थसार कहते हैं। उदाहरण के लिए शंख का सीधा अर्थ घोंघे की अस्थि है, किन्तु शंख का सम्बन्ध पूजा अर्चना के साथ जुड़ने से, कृष्ण विष्णु व अन्य देवी देवताओं के साथ जुड़ जाने से तथा युद्ध भूमि में प्रयुक्त होने के कारण वह सांस्कृतिक प्रतीक बन गया। इस प्रकार शंख का अर्थसार पवित्रता, उदघोष तथा भारतीय संस्कृति का प्रतीक हो गया।

अर्द्धनारीश्वर यह एक ऐसे दिव्य–मानवीय रूप की संकल्पना है, जिसकी देह विभाजन में आधी पुरुष की तथा आधी स्त्री की है। उमा–महेश्वर का यही एकात्म–रूप माना गया है। शिव के इस विलक्षण रूप का दक्षिणार्ध भाग पुरुष का तथा वामार्द्ध भाग स्त्री का है। दाहिनी ओर जटाजूट तथा बाघम्बर है; तथा बायीं ओर अलकावली, कर्ण–कुण्डल, एक स्तन, मेखला और साड़ी दिखाई देती है। यह संकल्पना इस विशिष्ट धारणा पर आधारित है कि प्रत्येक स्त्री के अर्द्धभाग में पुरुष, तथा प्रत्येक पुरुष के अर्द्धभाग में स्त्री का अस्तित्व है। इस अर्द्धनारीश्वर स्वरूप की परिकल्पना के सम्बन्ध में आख्यान है कि ब्रह्मा ने जब सृष्टि की संरचना करनी चाही तो पुरुष भाव से उन्हें सफलता नहीं मिली। उन्होंने तब शिव की पूजा की। शिव ने प्रसन्न होकर उन्हें अपने इस विलक्षण स्वरूप का दर्शन कराया। ब्रह्मा जी ने तब समझा कि पुरुष और स्त्री के समन्वय से ही सृष्टि का विधान खड़ा किया जा सकता है।

अर्द्धनारीश्वर

शिव के इस अर्द्धनारीश्वर स्वरूप की सबसे प्राचीन मूर्त्ति मथुरा में मिली है जो ईस्वी सन् की पहली शताब्दी की और कुषाणकालीन मानी जाती है। एलोरा के कैलाश मन्दिर में भी शिव के इस स्वरूप की एक बड़ी ही प्रभावपूर्ण प्रतिमा है। सामान्यतः शिव के लिंग रूप की ही मंदिरों में प्रतिष्ठा की गयी है; लेकिन तमिलनाडु के समुद्रतट पर चिदम्बरम् के मन्दिर में अर्द्धनारीश्वर की मूर्त्ति प्रतिष्ठित है, और नित्य–प्रति उसकी पूजा–अर्चना होती है। अर्द्धनारीश्वर वहाँ तथा अन्य स्थलों पर भी, नृत्य की भंगिमा में प्रदर्शित किये गये हैं; और इसी आधार पर उन्हें नटराज की संज्ञा दी गयी है।

शिव को, उनके प्रति समर्पित कुछ श्लोकों में संहार के देवता के रूप में श्मशान भूमि में ताण्डव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नृत्य करते हुए स्मरण किया गया है; लेकिन उनके इस नटराज रूप की संकल्पना उससे सर्वथा अलग है। विद्वानों का कहना है कि नटराज के इस स्वरूप को ब्रह्माण्ड के अविराम गतिमय रूप का, मानवीय आकार में प्रतीकात्मक प्रदर्शन मानना चाहिए। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि श्रीहर्ष ने अपने 'नैषधीय चरित' में शिव को कैलाश शिखर पर पाषाण–खण्डों को छितराते तथा असंख्य ग्रह–नक्षत्रों को चारों ओर विकीर्ण करते हुए प्रदर्शित किया है। 'नटनागर प्रशस्ति' में भी कहा गया है कि शिव नृत्य–भंगिमा में नवनिर्मित नक्षत्रों के साथ क्रीड़ा करते हुए, ऐसे लगते हैं मानों स्फटिक की गेदों के साथ खेल रहे हों।

नटराज के इसी आध्यात्मिक स्वरूप की स्वीकृति विश्वप्रसिद्ध कला समीक्षक आनन्द कुमार स्वामी के वक्तव्य में भी देखने को मिलती है। उन्होंने लिखा है कि नटराज का यह स्वरूप काव्यात्मक होने के साथ–साथ, विज्ञानमय भी लगता है। इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए फिट, जॉफ काका ने अपने ग्रन्थ 'दि टाओ ऑफ फिजिक्स' (१९७४) में लिखा है कि नृत्य करते हुए शिव, वस्तुतः नृत्य करता हुआ ब्रह्माण्ड हैः ऊर्जा के अनन्त प्रवाह में अनेकानेक रूप ग्रहण करते हुए, जो एक दूसरे में समाहित होकर एकाकार हो जाते हैं।

चिदम्बरम् में नटराज की जिस मूर्त्ति की प्रतिष्ठा है, उसके रचना विधान की विवेचना करते हुए शारदा श्रीनिवासन् ने लिखा है कि उस प्राचीन मनीषी ने, जिसने नटराज की संकल्पना की थी, उसमें उसने रहस्यात्मकता के साथ बड़ी ही मनोरम वैज्ञानिक अवधारणा भी जोड़ दी थी। 'चित्' का आशय चैतन्य से है, और अम्बरम विराट् दृश्य–विधान की ओर संकेत करता है : उसका शाब्दिक रूपान्तर होगा विराट् संचेतना। चिद्म्बरम् का नटराज मन्दिर अपने रचना विधान के वास्तुकलात्मक स्वरूप में ब्रह्माण्ड के विभिन्न स्तरों और अन्तश्चेतना को शिव के नृत्य, आनन्द–ताण्डव अथवा आनन्दमय–नृत्य को उपस्थित करता है। तमिल कवि उमापति ने चिदम्बरम् के नटराज को सत्, चित् और आनन्द का समन्वित स्वरूप कहा है।

चिदम्बरम् की चित् सभा में, अर्थात् स्वर्ण आच्छादित चैतन्य के सभागार में जो प्रतिमा गर्भगृह में प्रतिष्ठित है, वही एकमात्र ऐसा मन्दिर है, जहाँ शिव के लिंगस्वरूप की नहीं, वरन् नटराज की ही पूजा होती है।

अर्धमागधी यह भाषा, मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं का एक भेद है। इसका क्षेत्र मागधी और शौरसेनी के बीच में था। इसे प्राचीन काशी–कोसल के आसपास की भाषा कहा जा सकता है। मागधी की प्रवृत्तियों से प्रभावित होने के कारण ही इसे अर्धमागधी कहते हैं। पूर्व में हिन्दी की जननी यही अर्धमागधी अपभ्रंश है किन्तु डॉ० बाबूराम सक्सेंना अवधी आदि को अर्धमागधी से सम्बद्ध न मानकर पाली से सम्बद्ध मानते हैं।

जैन आचार्यों ने इस भाषा में अपने शास्त्रों की रचना की। गद्य और पद्य दोनों ही इसमें लिखे गये। जैनियों ने अर्धमागधी को आर्ष, आर्षी और आदिभाषा भी कहा है। इसका प्रयोग संस्कृत नाटकों में भी हुआ है। प्राचीनतम प्रयोग अश्वघोष के नाटक 'शारिपुत्रप्रकरण' में हुआ है। साहित्यदर्पणकार ने इसे चोरों, सेठों और राजपुत्रों की भाषा कहा है। इसका प्रयोग 'मुद्राराक्षस' तथा 'प्रबोध चन्द्रोदय' में भी हुआ है। कुछ विद्वानों के अनुसार अशोक के अभिलेखों की मूलभाषा यही थी, जिसको स्थानीय रूपों में रूपायित किया गया था। जैनों द्वारा प्रयुक्त महाराष्ट्री एवं शौरसैनी पर इसका प्रभाव पड़ा है।

अर्धमागधी की प्रमुख विशेषताएँ हैं – १. श तथा ष के स्थान पर स हो गया है। (श्रावक का सावग)। २. दंत्य ध्वनियाँ मूर्धन्य हो गयी हैं (स्थिता झ ठिप, कृत्वा–झ कट्टु)। ३. कुछ प्राकृतों में स्वरों का लोप मिलता है, किन्तु अर्द्धमागधी में 'य' श्रुति मिलती है (सागर का सायर, स्थित का ठिप)। ४. चवर्ग के स्थान पर कहीं–कहीं तवर्ग मिलता है (चिकित्सा झ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेइच्छा)। गद्य और पद्य की भाषा के रूपों में अन्तर है यथा, अ गद्य में मागधी की तरह 'ए' तथा पद्य में शौरसैनी की तरह 'ओ' का प्रयोग हुआ है।

अर्थशास्त्र (कौटिल्य) भारतीय साहित्य में अर्थशास्त्र नाम के ग्रन्थों में कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' को सर्वाधिक प्रसिद्धि मिली है। वे कुटिल गोत्र के थे, इसलिए कौटिल्य; चणक के पुत्र थे, इसलिए चाणक्य; लेकिन उनका वास्तविक नाम विष्णुगुप्त था। उनके 'अर्थशास्त्र' की विषयवस्तु को समझने के लिए पहले इस संज्ञा का शब्दार्थ विचारणीय है। 'अर्थ' से, ज्ञान–विज्ञान के संदर्भ में सामान्यतः धन का आशय लिया जाता है। इसी आधार पर वामन शिवराम आपटे ने अपने शब्दकोश में अर्थशास्त्र को धन–विज्ञान अर्थात् धन के विषय में विशिष्ट ज्ञान कहा है; और आज इसी अर्थ में इसका प्रचलन है। लेकिन कौटिल्य ने 'अर्थ' से आशय इस धरती के लोगों के योगक्षेम से लिया है। इस प्रकार 'अर्थशास्त्र' का मतलब हो जाता है, इस धरती तथा इसके लोगों के पालन–पोषण और संरक्षण की विद्या। ये सभी कार्य, राज–व्यवस्था द्वारा सम्पन्न होते हैं; इसीलिए कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ में राज्य की शासन–प्रणाली की विस्तृत विवेचना की है। उन्होंने अपने इस ग्रन्थ में राजनीति के साथ राजनय अर्थात् राज्यों के परस्पर सम्बन्ध, सन्धि, विग्रह आदि पर भी विचार किया है। इसी आधार पर उनके 'अर्थशास्त्र' को राजनीति का ग्रन्थ माना जाता है। अगर समग्रतः देखा जाय तो, इस ग्रन्थ में, इस पृथ्वी के जीवन के सभी पक्षों का निरूपण है। ग्रीस के विश्व प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने राजनीति को जीवन के सर्वाधिक व्यापक स्वरूप की कला कहा है। इस दृष्टि से भी 'अर्थशास्त्र' को राजनीति का ग्रन्थ कहना उपयुक्त है।

कौटिल्य की गणना भारतीय इतिहास के शलाका पुरुषों में होती है। वे तक्षशिला विश्वविद्यालय में आचार्य रहे थे। इसी शिक्षा–संस्थान में उन्होंने चन्द्रगुप्त को पढ़ाया था; और फिर उसी के माध्यम से मगध के सम्राट् धनानन्द को अपदस्थ कराकर, पाटलिपुत्र के राज–सिंहासन पर उसे प्रतिष्ठित किया था। चन्द्रगुप्त से ही मौर्यवंश के शासन काल का सूत्रपात हुआ था, जिसमें आगे चलकर अशोक प्रियदर्शी जैसा महान् सम्राट् हुआ था। पश्चिमोत्तर क्षेत्र में सेल्यूकस जब सिकन्दर के प्रतिनिधि के रूप में कार्य कर रहा था, तो चन्द्रगुप्त ने उसके राजदूत मेगस्थनीज को अपनी सभा में स्थान दिया था। कहा जाता है कि आचार्य चाणक्य ने अपने शिष्य चन्द्रगुप्त को राजनय की शिक्षा देने के लिए ही अपने 'अर्थशास्त्र' की रचना की थी।

'अर्थशास्त्र' का रचनाकाल इन्हीं ऐतिहासिक संदर्भों के आधार पर ईसा पूर्व चौथी शताब्दी माना जाता है। 'अर्थशास्त्र' का अध्ययन, मध्यकाल में विशेष नहीं हुआ था। सन् १९०४ में उसकी पाण्डुलिपि मैसूर के डॉ० आर०श्याम शास्त्री को मिली थी। उन्होंने १९०६ में उसे प्रकाशित किया था; और फिर १९१५ में उसका अंग्रेजी अनुवाद छपाया था। उन्होंने 'अर्थशास्त्र' का रचनाकाल चौथी शताब्दी ईसा पूर्व ही माना है। बम्बई विश्वविद्यालय के डॉ० आर०पी० कांगले को एक पूर्ण पाण्डुलिपि और कुछ खण्डित प्रतियाँ मिली थीं। उन्होंने बड़े परिश्रम से उनका सम्पादन करके १९६० में उसका पहला, और १९६५ में अन्तिम खण्ड प्रकाशित कराये थे। उन्होंने भी इसे ईसा पूर्व चौथी शताब्दी की रचना माना है। प्रो० उसमान ने भाषिक संरचना के अध्ययन के आधार पर, इसे ईस्वी सन् १५० का सिद्ध करने का प्रयास किया है। एल०एन० रंगराजन ने १९८७ में सर्वप्रथम प्रकाशित अपने अनुवाद में बड़े प्रामाणिक तर्कों से, 'अर्थशास्त्र' को चौथी शताब्दी ईसा पूर्व की रचना ही स्वीकार किया है। डॉ० त्राउसमान ने 'अर्थशास्त्र' को अनेक हाथों की रचना सिद्ध करने की भी कोशिश की थी; लेकिन रंगराजन जी ने उसे एक व्यक्ति की ही रचना बताया है।

'अर्थशास्त्र' के रंगराजन द्वारा सम्पादित/अनुवादित स्वरूप में, १५ अधिकरण हैं। पहले अधिकरण में सम्पूर्ण ग्रन्थ की विषय–वस्तु की रूपरेखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दी गयी है; और एक स्थान में लिखा है कि सम्पूर्ण पाठ १५० अध्यायों में विभाजित है। इन अध्यायों में १८० प्रकरण हैं, ६००० सूत्र–वाक्य तथा छन्द हैं। एक अध्याय की सामग्री, कभी दूसरे अध्याय में भी चली गयी है; और किसी–किसी अध्याय में एक से अधिक विषय लिये गये हैं। इसीलिए प्रकरणों की संख्या अधिक हो गयी है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में ५६२० सूत्र हैं, इन्हें सिद्धान्त वाक्य भी कहा जा सकता है। कुल ३८० श्लोक हैं, जो काव्यात्मकता लिये हुए हैं।

रंगराजन ने डॉ० कांगले के आधार पर 'अर्थशास्त्र' की विषय–वस्तु की रूपरेखा इस प्रकार दी है :

पहले अधिकरण का आरम्भ बृहस्पति और शुक्राचार्य की वन्दना से होता है। उसके बाद सम्राट् के प्रशिक्षण, अमात्य और राज्य के अधिकारियों की नियुक्ति, शासक का दैनिक कार्यक्रम और उसकी सुरक्षा व्यवस्था पर विचार है। दूसरे अधिकरण में विभिन्न प्रशासकीय अधिकारियों के कर्तव्यों का निरूपण है; और फिर राज्य की विभिन्न गतिविधियों, यथा– कृषि, खदान, मुद्रा, नापतौल के साधनों आदि पर विचार किया गया है। तीसरे अध्याय में कानून और न्याय–व्यवस्था की आचार–संहिता है। चौथे अधिकरण में अपराध, उनकी खोज के उपायों, व्यापारियों और उद्यमियों पर नियंत्रण, दण्ड–योजना आदि का विवेचन है। अधिकरण पाँच में अनेक विषयों के साथ राज्य के विभिन्न अधिकारियों के वेतन–क्रम दिये गये हैं। अधिकरण छह के प्रथम प्रकरण में राज–व्यवस्था के विभिन्न अंगों के आधार–भूत सिद्धान्त दिये गये हैं; और दूसरे में विदेश नीति के सूत्र हैं। अधिकरण सात में विदेश–नीति की छह प्रणालियों का विस्तृत विवेचन है और उनका किन स्थितियों में प्रयोग किया जाना चाहिए, यह बताया गया है।

अधिकरण आठ में उन व्यसनों अथवा दुर्योगों की विवेचना है, जो राज्य के विभिन्न अंगों को अनेक प्रकार से बाधित करते हैं। अधिकरण नौ में युद्ध की तैयारी के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की सेनाओं के संयोजन, अभियान के आरम्भ की उचित परिस्थितियों तथा आरम्भ के पूर्व उठने वाले खतरों के प्रति सावधान किया गया है।

अधिकरण दस में सैनिक शिविर के विभिन्न स्वरूपों, लड़ने के उपायों आदि का विवरण है। अधिकरण ग्यारह में, संघ–राज्य के साथ विजेता किस प्रकार व्यवहार करे, इसे स्पष्ट किया गया है। अधिकरण बारह में, यह बताया गया है कि कमजोर राज्य, सबल राज्य के साथ संघर्ष में किस प्रकार की रीति अपनाये कि उसकी विजय हो। अधिकरण तेरह में, शत्रु के दुर्ग पर चतुराई अथवा शस्त्र–कौशल से अधिकार करने की रीतियाँ दी गयी हैं; और फिर यह भी बताया गया है कि विजित क्षेत्र पर किस प्रकार की शासन–व्यवस्था लगायी जाये। अधिकरण चौदह में विभिन्न प्रकार की गुप्तचर प्रणालियों का निरूपण है। अन्तिम प्रकरण में इन विभिन्न प्रणालियों के कार्यान्वयन की प्रक्रियाओं को स्पष्ट किया गया है।

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के कुछ विशिष्ट विषयों पर कुछ विस्तार से विचार की अपेक्षा है। सर्वप्रथम शासन व्यवस्था को लें। डॉ० सुभाष कश्यप ने कौटिल्य के राज–दर्शन को तीन शीर्षकों में विभाजित किया है, एक शासक, दूसरे अधिकारी और तीसरे प्रशासन का स्वरूप।

'अर्थशास्त्र' के अनुसार शासक अथवा राजा का कर्तव्य, प्रजा और उसकी सम्पत्ति का पालन–पोषण तथा संरक्षण है। शासक को बराबर अनुशासन बनाये रखने में प्रयत्नशील रहना चाहिए। अगर कोई अव्यवस्था और अपराध होते हैं, तो उसे उन्हें बिना किसी कठोरता या उदारता के दमित करना चाहिए। न्याय को उन्होंने समाज की आधारशिला माना है। शासक को अपने कर्तव्यों के सम्बन्ध में स्वीकारात्मक होना चाहिए, और सामाजिक जीवन के हर पक्ष को सुव्यवस्थित रूप देने का प्रयास करते रहना चाहिए। अपनी प्रजा के सुख–दुख के साथ उसे पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार यह तभी सम्भव है जब शासक सुशिक्षित हो, ज्ञान की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभिन्न धाराओं पर उसका अधिकार हो; और सम्पूर्ण मन से अपने सभी प्रजाजनों के लिए मंगलकारी व्यवस्था में समर्पित हो।

'अर्थशास्त्र' कहता है कि अगर शासक सबल है और ऊर्जा से परिपूर्ण है, तो उसकी प्रजा के लोग भी वैसे ही उत्साह से युक्त एवं सक्रिय होंगे। शासक के लिए यह परम आवश्यक है कि वह हमेशा जागरूक और सावधान रहे। शासन के सम्बन्ध में कोई निर्णय लेने के पहले, उसे अपने सभी अमात्यों के साथ विचार कर लेना चाहिए। इसके साथ ही जन–साधारण के जो मार्गदर्शक और शुभचिन्तक हैं, उनसे भी विचार–विमर्श करते रहना चाहिए। अपनी प्रजा की भलाई में ही उसे अपनी भलाई समझनी चाहिए। उसे असहाय, दुखी, शारीरिक या मानसिक कष्ट झेलते लोगों के प्रति, सहायता को तत्पर रहना चाहिए। अगर कोई राष्ट्रीय दुर्योग हो जाये, तो उसे समाज के सम्पन्न वर्ग से धन अथवा अन्य प्रकार की सामग्री लेकर सेवा में संलग्न हो जाना चाहिए।

कौटिल्य ने शासक के विभिन्न कर्तव्यों को दृष्टि में रखकर एक सुनिश्चित कार्यक्रम भी निर्धारित किया है। उसे अपने प्रत्येक दिन का आठवाँ भाग सामान्य जन की समस्याओं को सुनने और उन्हें सुलझाने को देना चाहिए। उसके पास जो भी प्रार्थना लेकर आता है, बिना प्रतीक्षा कराये उसकी बात सुननी चाहिए और यथासम्भव उसका समाधान करना चाहिए। अगर यह कार्य वह अपने अधिकारियों पर छोड़ देगा, तो प्रजा में निश्चित रूप से असन्तोष फैलेगा और उसके विरोधी उसका लाभ उठायेंगे। एक अच्छे प्रशासक को स्त्रियों, अल्पवयस्कों, बूढ़ों, असहायों और संकट–ग्रस्त लोगों की बात स्वयं सुननी चाहिए। अगर कोई बहुत बड़ी समस्या को लेकर कोई आया हो, तो उसकी बात तत्काल सुननी चाहिए। अगर वह ऐसा नहीं करता है, तो हो सकता है कि बहुत बड़ा दुर्योग खड़ा हो जाये। शासक को अपने कर्तव्यों से अपने को प्रतिज्ञाबद्ध समझकर, हमेशा सचेष्ट रहना चाहिए। उसे बराबर यह समझना चाहिए कि उसकी प्रजा की प्रसन्नता में उसकी प्रसन्नता है। उसके कल्याण में ही उसका कल्याण है। कर्तव्य के निर्वाह में, अगर उसे कभी अपने निकट सम्बन्धी, अपनी अर्धांगिनी की भी उपेक्षा करनी पड़े, इसके लिए उसे तैयार रहना चाहिए।

शासक अपना कार्य विभिन्न विभागों के अधिकारियों के माध्यम से करता है। अगर जाने–अनजाने उनसे कोई भूल होती है, तो उन्हें सावधान किया जाना चाहिए। अगर कोई भ्रष्टाचार होता है, तो उसके लिए उन्हें दण्डित किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में अधिकारी के स्थानान्तरण और यदि अनुचित रीति से धन संग्रह किया गया है, तो उसे जब्त कर लिया जाना चाहिए।

कौटिल्य विवाह, मोक्ष, पुनर्विवाह, उत्तराधिकार, पारिवारिक सम्बन्ध आदि के सम्बन्ध में बड़े प्रगतिशील प्रतीत होते हैं। उन्होंने नागरिकों के कर्तव्य, स्त्रियों के अधिकारों, उपभोक्ताओं के संरक्षण, व्यापारियों के ईमानदारी से कार्य आदि के विषय में बड़े विचार पूर्वक लिखा है। वनों की व्यवस्था, पर्यावरण के संरक्षण, जलस्रोत के प्रबन्धन, भूमिहीन श्रमिकों के अधिकारों, वेतनभोगियों आदि के सम्बन्ध में भी विचार किया है। बीमार की उपेक्षा करने पर उन्होंने चिकित्सक को दण्डित करने की बात भी कही है। बहुमूल्य रत्नों के उत्खनन के कार्य में लगे लोगों के लिए उन्होंने, जो कुछ मिलता है, उसका अंश प्रतिशत भी निर्धारित किया है।

कौटिल्य ने समुचित प्रशासन के लिए प्रधानामात्य के साथ मंत्रिमण्डल बनाने की बात कही है। मनु, बृहस्पति आदि के आधार पर मंत्रिमण्डल में १२, १६ अथवा २० सदस्य होने चाहिए; लेकिन कौटिल्य का कहना है कि यह संख्या अपेक्षा के अनुसार अधिक भी हो सकती है। उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया है कि प्रशासन के सम्बन्ध में कोई निर्णय लेने से पहले मंत्रिमण्डल में उसके सम्बन्ध में भली प्रकार विचार कर लिया जाना चाहिए। राजकीय निर्णय के कार्यान्वयन के लिए अलग–अलग विभागों में स्थायी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अस्थायी दोनों ही प्रकार के अधिकारी और कर्मचारी नियुक्त किये जाने चाहिए।

कौटिल्य ने व्यापार के निरीक्षक अधिकारी के सम्बन्ध में बड़े विस्तार से लिखा हैः उसे भार तथा माप के उपकरणों की बराबर परीक्षा करते रहना चाहिए। यह भी देखना चाहिए की व्यापारी स्थानीय उत्पादनों पर केवल ५ प्रतिशत और विदेश से आयी वस्तुओं पर १० प्रतिशत लाभ ही लें। अगर वे अधिक लाभ लेते हैं, तो उन्हें दण्डित किया जाना चाहिए। इसी प्रकार अगर व्यापारी या बीच के लोग किसी प्रकार की मिलावट करते हैं, तो उनके लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिए।

दाम्पत्य जीवन में स्त्री और पुरूष दोनों के कर्तव्यों और अधिकारों के सम्बन्ध में उन्होंने बड़े विस्तार से लिखा है। पुरूष के साथ स्त्री को भी वह सम्बन्ध–विच्छेद का अधिकार देते हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में कुछ विशेष परिस्थितियों की चर्चा की है, यथा– पुरूष का दुश्चरित्र होना, बहुत लम्बे समय के लिए विदेश जाना, राज्य–द्रोही होना, मार डालने की धमकी देना, जाति–बहिष्कार या नपुंसक होना। किन्ही विशेष परिस्थितियों में उन्होंने सम्बन्ध–विच्छेद के साथ भरण–पोषण देने की बात भी कही है। अगर स्त्री अपने लिए कोई दूसरा सम्बन्ध खोज लेती है, तब यह सहायता बन्द हो जायेगी।

कौटिल्य ने न्याय व्यवस्था के सम्बन्ध में बड़े विस्तार से लिखा है। उसे उन्होंने दण्ड–नीति की संज्ञा दी है। दण्ड–व्यवस्था में उन्होंने आज की तरह दीवानी और फौजदारी दो प्रकार की अदालतें मानी हैं; और दोनों के ही लिए बड़े ही सुयोग्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के निर्देश दिये हैं। कोई राजकीय अधिकारी भी अगर भ्रष्टाचार में लिप्त पाया जाता है, तो उसके लिए आर्थिक–दण्ड के साथ और प्रकार की सजाओं की व्यवस्था उन्होंने दी हैं।

कौटिल्य के अनुसार राजकीय अधिकारी कोई चालीस प्रकार के भ्रष्टाचार में संलग्न हो सकते हैं। उन पर निगरानी के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है : 'पानी में नीचे तैरती मछलियों के सम्बन्ध में जिस प्रकार यह नहीं देखा जा सकता कि वे पानी पी रही हैं या नहीं पी रही हैं, उसी प्रकार राजकीय कार्य में यह नहीं देखा जा सकता कि काम कराने के लिए पैसों का लेन–देन चल रहा है या नहीं। आकाश में उड़ते हुए पक्षियों की गतिविधियों को देखना तो सम्भव है, लेकिन सरकारी कर्मचारियों के गलत आचरण को भली प्रकार देख पाना सम्भव नहीं है।' फिर भी शासक को अपने कर्मचारियों पर कड़ी निगरानी रखनी चाहिए। राजकीय कार्यालयों में अगर किसी प्रकार का भ्रष्टाचार दिखाई देता है, तो उसके लिए अपेक्षानुसार दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिए।

कौटिल्य ने प्रशासन के सात अंग माने हैं, यथा– स्वामिन् अर्थात् राजा, अमात्य, जनपद (क्षेत्र और उसके अधिवासी), दुर्ग, कोष, दण्ड (जिसके अन्तर्गत सेना भी आ जाती है।) और मित्र अर्थात् सहायक। अगर ये सभी मिलजुल कर एक शरीर के अंगों के रूप में कार्य करते हैं, तभी सुशासन की व्यवस्था हो सकती है। सुशिक्षित, सद्‌भावना से परिपूर्ण, लोकमंगल की प्रतिष्ठा में सदैव तत्पर व्यक्ति ही, अच्छा शासक हो सकता है। इसीलिए उन्होंने राजा के लिए भली प्रकार प्रशिक्षण का निर्देश दिया है। स्वामिन् को राजधर्म के पालन में सदैव सक्रिय रहना चाहिए। स्वदेश में सुराज्य की व्यवस्था के साथ उसे अपने पड़ोस के मित्र और अमित्र दोनों के साथ समुचित व्यवहार में भी कुशल होना चाहिए।

कौटिल्य के राजदर्शन के विभिन्न पक्षों को, अगर हम व्यावहारिक रूप में देखना चाहते हैं, तो विशाखदत्त के 'वेणीसंहार' और 'मुद्राराक्षस' नाटकों को भली प्रकार पढ़ना चाहिए। पहले नाटक का कथा–प्रसंग तो 'महाभारत' का है, लेकिन उसमें राजनीति के सूत्र, कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ही लिये गये हैं। मुद्राराक्षस में तो आचार्य चाणक्य को हम स्वयं अपने राजनीतिक सूत्रों का प्रयोग करते हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखते हैं। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में बहुत कुछ ऐसा है, जो आज की राजनीति में भी अपनाने के योग्य है।

अर्थशास्त्र (पाश्चात्य) पश्चिम में ज्ञान की यह शाखा आरम्भ से ही समाज के आर्थिक सम्बन्धों का अध्ययन करती रही है। उसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन, वितरण, विनिमय, और उपभोग पर विचार होता रहा है। 'व्यक्तिनिष्ठ' ('माइक्रो') अर्थशास्त्र में व्यक्तियों और संस्थाओं की आर्थिक व्यवस्था एवं समस्याओं का अनुशीलन होता है; और 'समष्टिगत' ('मैक्रो') अर्थशास्त्र किसी देश की आर्थिक व्यवस्था, औद्योगिक नीतियों, वाणिज्य–व्यापार और सरकार के अर्थसम्बन्धी क्रिया–कलापों की विवेचना करता है। इधर अर्थशास्त्र का एक और प्रकार विकसित हुआ है, जिसमें सामान्य रूप से अर्थचिन्तन, आर्थिक व्यवहार आदि का निरूपण होता है।

समाज की आर्थिक व्यवस्था के अनुशीलन में इधर बड़ा विस्तार हुआ है। समाज की औद्योगिक प्रगति, मुद्रा के प्रचुर उपयोग, यातायात एवं संचार के साधनों की वृद्धि ने उत्पादन, वितरण, विनिमय तथा उपभोग में बड़ी जटिलताएँ उत्पन्न कर दी हैं। सम्यक् विकास के लिए अब नियोजन की पद्धति का प्रयोग होता है। प्रायः सभी देशों के आयात और निर्यात में बढ़ोतरी हुई है। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार ने अनेक समस्याएँ खड़ी कर दी हैं। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक आदि अनेक संस्थाएँ विकसित हुई हैं, जिनसे अर्थशास्त्र ने अनेक नयी दिशाएँ ग्रहण की हैं।

आर्थिक चिन्तन में आरम्भ में दो धारणाओं का जन्म हुआ था : एक, मुक्त–अर्थ प्रणाली, जिसका आरम्भ फ्रांस के प्रकृतिवादी (फ़ीजियोक्रेट्स) विचारकों ने किया था, और फिर अनेक देशों ने उसे अपनाया; दूसरी विचारधारा व्यापारवादियों (मर्कन्टाइलिस्ट) की रही, जिन्होंने लाभ की दृष्टि से वाणिज्य–व्यापार को नियोजित करने पर बल दिया। इस दूसरी विचारधारा ने पूंजीवाद को जन्म दिया; और उसकी मुक्त अर्थप्रणाली से साम्राज्यवाद का विकास हुआ। कालान्तर में राष्ट्रवादी एवं समाजवादी आर्थिक चिन्तन विकसित हुए, जिनमें हम आर्थिक नियंत्रण पर विशेष बल देखते हैं।

पश्चिम में अर्थशास्त्र के क्षेत्र में पहला व्यवस्थित विचारक एडम स्मिथ (१७२३–९०) को माना जाता है। स्काटलैण्ड के ग्लास्गो विश्वविद्यालय में वे नैतिक–दर्शन और राजनीतिक अर्थशास्त्र के अध्यापक रहे थे। उन्होंने १७७६ में 'एन इंक्वायरी इन्टू दि नेचर एण्ड कॉज़ेज आफ़ दि वेल्थ ऑफ़ नेशन्स' को प्रकाशित किया, जिसमें उन्मुक्त–व्यापार–प्रणाली की वकालत की गयी थी। यह ग्रन्थ अर्थ–विज्ञान का पहला सुव्यवस्थित विवेचन माना जाता है। उसमें उन्होंने वस्तुओं के मूल्य, जनसंख्या, रोज़गार, स्वदेश तथा विदेश में व्यापार आदि विषयों पर विस्तार से विचार किया था। उनका कहना था कि सेवा–योजन, उत्पादन और व्यापार राष्ट्र की उतनी ही सम्पत्ति हैं, जितनी कि मुद्रा है। किसी व्यक्ति को जब न्याय–विधान के अन्तर्गत स्वच्छन्द रूप से अपने लाभ के लिए, व्यापार चलाने का अवसर दिया जाता है, तो वह सम्पूर्ण समाज के आर्थिक हित को भी आगे बढ़ाता है।

ऐडम स्मिथ ने आर्थिक विकास के सन्दर्भ में जनसंख्या की वृद्धि पर विचार तो किया था; लेकिन इस समस्या का विस्तृत विश्लेषण थॉमस राबर्ट माल्थस (१७६६–१८३४) ने उपस्थित किया। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'एसे ऑन दि प्रिंसिपिल ऑफ़ पापुलेशन' (१७९८) में लिखा कि जनसंख्या को अगर नियंत्रित न किया गया, तो भूख से मरने वालों की संख्या बहुत बढ़ जायेगी, क्योंकि अनाज का उत्पादन तो अंकगणित के विधान से होता है; लेकिन जनसंख्या ज्यामितीय पद्धति से बढ़ती है। इस समस्या के समाधान के लिए उन्होंने आत्म–नियंत्रण और अगर उसमें सफलता न मिले तो राजकीय प्रयास से जन्म–दर को नियंत्रित रखने की सलाह दी थी।

ऐडम स्मिथ के बाद, विस्तृत आर्थिक चिन्तन, हम डेविड रेकार्डो (१७७२–१८२३) के ग्रन्थ 'प्रिंसिपिल्स

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऑफ़ पोलिटिकल इकॉनमी एण्ड टैक्ज़ेशन (१८१७) में देखते हैं। उनका कहना था कि उत्पादन में जितना श्रम लगता है, उसके आधार पर 'विनिमय मूल्य' निर्धारित होता है। अपनी इस मान्यता के आधार पर उनका तर्क था कि 'तुलनात्मक–उत्पादन–मूल्य' का निर्धारण अन्तरराष्ट्रीय विनिमय के स्वरूप के आधार पर होता है। वे इंग्लैण्ड के संसद–सदस्य भी रहे थे; और इस रूप में उन्होंने उन्मुक्त–व्यापार को बढ़ाने के लिए बहुत कार्य किया था।

आर्थिक चिन्तन को व्यापारिक लाभ पर दृष्टि रखने वाली इस विचारधारा को, मानव कल्याण की दृष्टि से एक नयी दिशा देने का श्रेय अल्फ्रेड मार्शल (१८६२–१९२४) को दिया जाता है। उन्हें इंग्लैण्ड के नवशास्त्रीयतावादी अर्थशास्त्र का मुख्य संस्थापक माना गया है। उन्होंने अपने आदर्शनिष्ठ दृष्टिकोण से अर्थशास्त्र को ज्ञान की एक उदात्त शाखा का रूप दिया था। इस संदर्भ में उनका पहला ग्रन्थ 'प्रिंसिपिल्स ऑफ इकनामिक्स' १८९० में प्रकाशित हुआ था, जिसमें उन्होंने माँग की लोच, मूल्य–निर्धारण, सम्यक्–वितरण, उपभोक्ता की बचत आदि की बड़ी सुव्यवस्थित विवेचना की थी। आगे चलकर उन्होंने 'इण्डस्ट्री एण्ड ट्रेड' (१९१९) तथा 'मनी क्रेडिट एण्ड कॉमर्स' (१९२३) प्रकाशित किये थे। अपने इन ग्रन्थों में उन्होंने वस्तुओं के उत्पादन की लागत से मूल्य के निर्धारण में, समय विशेष की आर्थिक स्थिति को आधारभूत महत्त्व दिया था। उनके इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए विलियम जोवेन्स तथा कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों ने 'सीमावर्ती उपयोगिता सिद्धान्त' ('मार्जिनल यूटिलिटी प्रिंसिपिल्स') का प्रतिपादन किया था। मार्शल के ही विचारों को पीगू, निकल्सन, सिज्विक, जिन रॉबिन्सन्स, राबर्टसन्स, चैपमैन, हिक्स आदि ने और आगे बढ़ाया।

आर्थिक चिन्तन की इस मानवतावादी विचारधारा को कार्लमार्क्स (१८१८–८३) ने अपने प्रगतिशील जीवन–दर्शन को लेकर और आगे बढ़ाया। उनकी मूल मान्यता थी कि दार्शनिकों ने अब तक इस विश्व की विवेचना मात्र की है; लेकिन वास्तविक समस्या उसे बदलने की है। अपनी इसी विचारधारा के कारण उन्हे बर्लिन विश्वविद्यालय में प्राध्यापक का पद नहीं मिला था और पत्रकार बनने पर भी उन्हें अनेक परेशानियाँ उठानी पड़ी थीं। जब वे ब्रूसेल्स में थे, तो हाथ के उद्योगों में लगे हुए अनेक कारीगरों के सम्पर्क में आये थे, और तभी उन्होंने वर्ग–संघर्ष को क्रान्तिकारी रूप देने के लिए 'कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो' (साम्यवाद का घोषणा–पत्र) प्रकाशित किया था। इस घोषणा–पत्र में उन्होंने मजदूरों को संगठित होकर सशस्त्र विद्रोह से पूँजीवादी–व्यवस्था को समाप्त कर, उसके स्थान पर साम्यवादी व्यवस्था स्थापित करने का अह्वान किया था। अपनी इसी विचारधारा के कारण उन्हें अपनी मातृभूमि जर्मनी छोड़नी पड़ी थी और वे पेरिस आ गये थे। पेरिस में उनका सम्पर्क अनेक क्रान्तिकारी विचारकों से हुआ था, जिनमें फ्रेडरिक ऐंजिल्स उनके सहयोगी हो गये थे। उन्हीं के साथ मिलकर उन्होंने वैज्ञानिक समाजवाद का प्रतिपादन किया था। उन्हें फिर फ्रान्स से भी निर्वासित कर दिया गया था; और वे लन्दन आ गये थे। वहीं उन्होंने अपने सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'डास कैपिटल' की रचना की थी, जिसे साम्यवादी आन्दोलन की बाइबिल कहा जाता है।

मार्क्स ने अपने इस विशाल ग्रन्थ में पूँजीवादी व्यवस्था का बड़ा ही सूक्ष्म विश्लेषण किया है। उन्होंने लिखा है कि पूँजीपति अपने कारखाने में बनायी गयी वस्तुओं का लागत से कहीं अधिक मूल्य लेते हैं; लेकिन श्रमिकों को उनके श्रम का समुचित मूल्य नहीं देते। पूँजीपति तो 'अतिरिक्त मूल्य' ('सरप्लस वैल्यू') के सहारे अधिक से अधिक धनवान होता जाता है; और श्रमिक अपने श्रम का उचित मूल्य न पाकर सर्वहारा बनते जाते हैं। इस विषम वस्तु–स्थिति से छुटकारे का केवल एक ही मार्ग है, वर्ग–संघर्ष। इसी वर्ग–संघर्ष को और तीव्र करके, सशस्त्र क्रान्ति के मार्ग से पूँजीवादी व्यवस्था को विनष्ट, और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की जा सकती है। मार्क्स के इसी क्रान्तिकारी दर्शन से प्रेरणा लेकर, रूस में लेनिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने, चीन में माउत्ज़े तुंग ने और क्यूबा में फिडेल कैस्ट्रो ने सशस्त्र–क्रान्ति के सहारे समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की। लेकिन यह बदली हुई स्थिति पूँजीवादी देशों को स्वीकार्य नहीं हुई। चार दशकों बाद रूस एवं उसके निकटस्थ देशों की समाजवादी व्यवस्था टूट गयी। चीन में प्रत्यक्षतः तो साम्यवादियों का ही शासन है; लेकिन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के प्रवेश से, पूँजीवादी प्रवृत्तियों का बड़ी तेज़ी से विकास हो रहा है। मार्क्सवादी विचारधारा के लोग, रूस में, चीन में और अन्य देशों में भी, फिर से संगठित होकर समाजवाद लाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

बीसवीं शताब्दी के अर्थशास्त्रियों में ब्रिटेन के जॉन मेनार्ड केन्स (१८८६–१९४६) का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने विशेष रूप से 'समष्टि अर्थशास्त्र' (मैक्रोइकॉनॉमिक्स) के क्षेत्र में कार्य किया है। उनका कार्य इतना महत्त्व पूर्ण था कि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जो वारसायी सन्धि हुई थी, उसमें उन्हें ब्रिटेन के राजकीय–कोषागार के प्रतिनिधि के रूप में भेजा गया था। उस विचारविमर्श में भाग लेने के अनन्तर, सन् १९१९ में उन्होंने 'दि इकॉनॉमिक कॉन्सीक्वेंसेज ऑफ पीस' ग्रन्थ प्रकाशित किया था, जिसमें उन्होंने जर्मनी पर हरजाने की जो रकम लगायी थी, उसे सर्वथा अनुचित घोषित किया था। सन् १९२९ में आयी विश्वव्यापी मन्दी के कारणों तथा उसके परिणामों की व्याख्या करते हुए, अपने पहले के एवं समकालीन अर्थशास्त्रियों के इस विचार को कि राज्य की ओर से सभी को रोजगार दिया जा सकता है, सर्वथा नकार दिया था। अपने ग्रन्थ 'जनरल थियरी ऑफ़ इम्प्लायमेन्ट इन्ट्रेस्ट ऐण्ड मनी, (१९३६) में उन्होंने आर्थिक निवेश, रोजगार, ब्याज तथा पूँजी के संदर्भ में अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। द्वितीय विश्व युद्ध के समय वे अपने देश की सामरिक अर्थव्यवस्था को देखते रहे और सन् १९४४ में जब 'ब्रेटेन वुड्स' सम्मेलन हुआ तो उसमें उन्होंने ब्रिटेन के विशेष प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। उन्हीं के परामर्श से 'अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष' (इन्टरनेशनल मॉनेटरी फण्ड) की स्थापना हुई। इसी संस्था को और प्रभावपूर्ण बनाने के लिए कालान्तर में 'विश्व बैंक' तथा 'विश्व व्यापार संगठन' जैसी संस्थाएँ स्थापित हुईं।

आज के आर्थिक चिन्तन में केन्स की विचारधारा का विशेष प्रभाव है। उनका मूलभूत विचार है कि व्यक्ति के लिए तथा किसी संस्था के लिए जो आर्थिक नीति उपयोगी है, यह बिलकुल ज़रूरी नहीं कि वह किसी देश के जन–समुदाय तथा सरकार के लिए भी उपयुक्त हो। उनका कहना है कि सरकार को 'व्यापार–चक्र' को सुधारने के स्थान पर घाटे की अर्थ–व्यवस्था का सहारा लेना चाहिए। उनके बाद के अर्थशास्त्रियों ने उनके इस विचार को महँगाई की अर्थनीति और राजकीय हस्तक्षेप के सिद्धान्त के रूप में विकसित किया है।

केन्स के समकालीन और बाद के अर्थशास्त्रियों में लियोलेन चार्ल्स रॉबिन्स (१८९८–१९८४) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रॉबिन्स 'लन्दन स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स' में प्रोफेसर थे। अध्यापन कार्य करने के साथ उन्होंने अपने समय की आर्थिक समस्याओं को लेकर और स्वतंत्र रूप से अर्थ चिन्तन करते हुए अनेक पुस्तकें लिखी थीं, यथा–'नेचर एण्ड सिगनीफ़िकेन्स ऑफ इकॉनॉमिक साइन्स' (१९३२), 'थियरी ऑफ़ इकॉनॉमिक पॉलिसी' (१९५२), 'दि इवोल्यूशन ऑफ़ क्लासिकल इकॉनॉमिक्स' (१९५८) आदि। उन्होंने वैकल्पिक उपयोगों के बीच चुनाव को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आर्थिक समस्या बताया है। उसी के संदर्भ में उन्होंने व्यापार–चक्र, विश्वव्यापी मन्दी तथा आर्थिक नियोजन की विस्तृत विवेचना की। उन्होंने एक ऐसी योजना बनायी थी जिससे विदेश में विनिमय को स्थिरता दी जा सके। उनका स्पष्ट कहना था कि विदेश–व्यापार सर्वथा मुक्त होना चाहिए तथा पूँजी एवं श्रम के आवागमन पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं होना चाहिए। उनकी यह नीति आज हमें अविकसित और अर्द्धविकसित देशों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के स्वच्छन्द प्रवेश में दिखाई दे रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पश्चिम में अर्थ चिन्तन में सांख्यिकी का विशेष रूप से प्रयोग दिखाई दे रहा है। प्रायः सभी अनुसन्धान कार्यों में यही गणितीय विधि अपनायी जा रही है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में इकॉनोमेट्रिक्स (अर्थमिति) नाम की एक नयी उपधारा का प्रादुर्भाव हुआ है। इन नये क्षेत्रों में कार्य करने वाले अर्थशास्त्रियों में रेगनर, फ्रिश, टिन वर्जन, एल०आर० कलाइन आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

अर्थशास्त्र (भारतीय) ज्ञान की इस शाखा में मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के विभिन्न साधनों के उत्पादन, विनिमय तथा वितरण के व्यापारों का अध्ययन किया जाता है। वैदिक साहित्य में मानव जीवन के चार पुरुषार्थ बताये गये हैं, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, संन्यास और वानप्रस्थ, इन चारों ही आश्रमों में धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि क्रिया–कलापों के सम्यक् निर्वाह के लिए अर्थ की अर्थात् धन की विशेष अपेक्षा होती है, इसीलिए वेदों, उपनिषदों, आरण्यकों, स्मृतियों, पुराणों तथा जैन और बौद्ध ग्रन्थों में आर्थिक विषयों पर प्रचुर विचार–विमर्श मिलता है।

ऋक्, साम आदि वेदों के अनेक मंत्रों में, ईश्वर से यथेष्ट धन–सम्पत्ति की याचना की गयी है। सौ वर्ष तक जीने के लिए निरन्तर काम करते हुए, धनोपार्जन करने तथा समाज के कमजोर वर्गों को दान देते रहने पर बल दिया गया है। परन्तु वैदिक साहित्य में अर्थ को साध्य नहीं, वरन् साधन के रूप में स्वीकार करते हुए, लोभवृत्ति को छोड़ने तथा धन–वैभव में आसक्ति न रखकर, त्यागपूर्वक भौतिक पदार्थों के उपभोग का निर्देश दिया गया है।

प्राचीन काल के भारतीय जीवन में धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विचारों में परस्पर सामञ्जस्य था। अर्थशास्त्र के प्रथम आचार्य बृहस्पति ने अपने ग्रन्थ "बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र" में अनेक सूत्रों में यह कहा है कि धर्म के आधार पर काम तथा अर्थ सम्बन्धी क्रियाओं की परीक्षा की जानी चाहिए। उनका कहना है कि इस जीवन का मूलाधार, अर्थ अर्थात् धन है। धन जिसके पास होता है, उसके पास विद्या, गुण, विक्रम आदि सभी कुछ मान लिये जाते हैं। उसके मित्रों और आत्मीयों की संख्या भी बहुत अधिक होती है। अतः मनुष्य को धनोपार्जन करते रहना चाहिए; और जब वह अधिक हो जाये तो उसे, जिन्हें अपेक्षा हो, देते भी रहना चाहिए। आचार्य बृहस्पति के अनुसार राजा में विद्या, अर्थ और सैन्य बल समुचित मात्राओं में होने चाहिए; और फिर उसे कृषि, वाणिज्य तथा गो–कुल की रक्षा में तत्पर रहना चाहिए।

महर्षि शुक्राचार्य ने अपने ग्रन्थ "शुक्रनीति" में समस्त विद्याओं में अर्थशास्त्र को विशेष महत्त्व दिया है। उन्होंने अर्थशास्त्र के दो भाग किये हैं : एक, जिसमें राजा के कार्यों का विवरण होता है तथा धनोपार्जन की युक्तियाँ बतायी गयी हैं; और दूसरे में उद्योग–धन्धों के विकास का निरूपण है। इस निरूपण को वार्ता की संज्ञा दी गयी है। वार्ता के चार प्रधान विषय बताये गये हैं, यथा खेती, व्यापार, धन का लेन–देन तथा गोरक्षा। शुक्राचार्य ने वस्तुओं के मूल्य–निर्धारण, मजदूरी, लोक–वित्त के लेखा–जोखा आदि के सम्बन्ध में बड़ी गम्भीरता से विचार किया है।

कौटिल्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में अर्थ से आशय जन–साधारण के जीवन के योग–क्षेम की व्यवस्था से लिया है। सामान्य जनों के जीवन की व्यवस्था, मूलतः तो धन के आधार पर होती है; लेकिन धन के उपार्जन, वितरण, संवर्द्धन आदि के व्यापार, राजपुरुषों द्वारा निष्पन्न होते हैं, इसीलिए कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राजनीति पर विशेष रूप से विचार किया है। समग्र रूप से देखा जाए तो उनके ग्रन्थ में, मानव जीवन के विभिन्न पक्षों यथा–कृषि, वाणिज्य, उद्योग, व्यापार, मुद्रा प्रणाली, यातायात, खानों के प्रबन्धन आदि पर विचार किया गया है। समाज के विभिन्न सम्बन्धों के नियमन के सम्बन्ध में भी उन्होंने सुनिश्चित निर्देश दिये हैं। जन–साधारण के प्रति राजा के कर्तव्य, शासन–व्यवस्था, न्याय की प्रक्रिया पर उन्होंने बड़े विस्तार से लिखा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कौटिल्य का जीवन के विभिन्न पक्षों का यह विस्तृत विचार–विमर्श, अधिकांश में निर्देशात्मक है। इसका मुख्य कारण यह है कि जैसा हम पहले कह आये हैं, भारतीय विचारधारा भोग पर नहीं, वरन् त्याग पर बल देती हैं। समाज के विभिन्न वर्गों के लोग उन निर्देशों का भली प्रकार पालन कर सकें, उसके लिए आदर्श राजनीतिक व्यवस्था का बड़े विस्तार से निरूपण किया गया है। राजा का कर्तव्य उन्होंने सामान्य–जनों के लिए सुख–सुविधा की व्यवस्था करना माना है। राजा का कर्तव्य स्वदेश की सुरक्षा के साथ पड़ोसियों से सम्बन्ध बनाने के संदर्भ में सन्धि और विग्रह, सैन्य संचालन आदि के प्रश्नों पर भी विचार किया गया है। कौटिल्य के ग्रन्थ को इसी आधार पर समाज के आर्थिक सम्बन्धों की विवेचना करने वाली रचना के स्थान पर राजनीति का ग्रन्थ माना जाता है।

भारतीय इतिहास के मध्य युग में भी, हम समाज के आर्थिक सम्बन्धों और राजनीतिक व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार–विमर्श देखते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में सोमदेव सूरि ने 'नीतिराज्यामृत' ग्रन्थ की रचना की। उन्होंने उन सभी व्यापारों को आर्थिक कहा है, जिनसे मनुष्य के विभिन्न प्रयोजनों की सिद्धि होती है। उन्होंने दान को महिमामय तथा लोभ को दस्युवृत्ति कहा है। उन्होंने परामर्श दिया है कि आमदनी से खर्च कम होना चाहिए; तथा मूल–धन को नष्ट नहीं होने देना चाहिए। राज्य की उन्नति उन्होंने व्यापार से मानी है; तथा राजा को सलाह दी है कि वह निरन्तर उचित रीतियों से धन–धान्य का संग्रह करता रहे।

मध्यकाल के सुल्तानों तथा मुग़ल बादशाहों ने भी आर्थिक क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण प्रयास किये थे। सुल्तानों में अलाउद्दीन खिलजी के प्रयास सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। उसने लगभग सभी आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों का निर्धारण किया था, माप–तौल के नियम बनाये थे; तथा बेईमानी, मुनाफ़ाख़ोरी तथा ठगी को रोकने के लिये कठोर नियमों का निर्धारण किया था। शेरशाह सूरी ने समाज के आर्थिक जीवन को व्यवस्थित करने के लिए, खेती की ज़मीन की माप करायी थी; लगान निश्चित किया था तथा कर की व्यवस्था की थी। उसने सड़कों के निर्माण से भी सामाजिक जीवन को व्यवस्थित करने का प्रयास किया था : उसके इस प्रयास से वाणिज्य और व्यापार में निश्चित रूप से व्यवस्था आयी थी। मुग़ल बादशाह अकबर ने उसके इन सभी प्रयासों को अपने आर्थिक परामर्शदाता टोडरमल के माध्यम से और आगे बढ़ाया था।

आधुनिक काल में भारतीय अर्थचिन्तन को हम बिल्कुल नई दिशा ग्रहण करते हुए देखते हैं। यह परिवर्तन विशेष रूप से अंग्रेजी साम्राज्य की आर्थिक शोषण की नीति से उत्पन्न हुआ था। अब तक भारतवर्ष में, विदेश से आकर, जिन लोगों ने शासन–सूत्र अपने हाथों में लिया था, वे अन्य देशों से आये हुए होने पर भी, यहीं बस गये थे; और सामान्य तथा विशिष्ट जनों से भी जो पैसा उन्होंने लिया था, उसे यहीं ख़र्च किया था। लेकिन अंग्रेज तो आर्थिक–शोषण का चक्र चला रहे थे। उन्होंने यहाँ के उद्योग–धन्धों को पूरी तरह से विनष्ट किया था; और अपने बनाये सामानों को बेचने का जबरदस्त व्यापार चलाया था। वे जो कुछ कमाते थे, उसे अपने देश में भेजना अपना परम कर्तव्य समझते थे। मुग़ल शासन के अन्तिम दिनों में जो अराजकता उत्पन्न हुई थी, उसका तो उन्होंने शमन किया था; लेकिन अपना वाणिज्य–व्यवसाय उचित–अनुचित हर प्रकार से पूरी तरह से बढ़ाया था। इसी द्विधाबोध को लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने लिखा था कि अंग्रेजों ने सुख शान्ति की जो व्यवस्था खड़ी की है, उसके लिए वे सराहनीय हैं; लेकिन उनके शासन की सबसे बड़ी खराबी यह है कि वे हमारा धन अपने देश लिये जा रहे हैं। भारतेन्दु जी के समकालीन काशीनाथ जी ने 'हरिश्चन्द्राज मैग्ज़ीन' में 'इण्डियन ओपीनियन' शीर्षक से अपने एक अंग्रेजी लेख में लिखा था कि लंकाशायर में जिस प्रकार भारत के बने कपड़े की होली जलायी जा रही है; हमें भी अपने देश में इसी प्रकार विदेश से आये हुए माल की होली जलानी चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेजों की इस आर्थिक शोषण की नीति को लेकर, आर्थिक–चिन्तन करने वाले लोगों में, सबसे पहले दादाभाई नौरोज़ी का नाम आता है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'पावर्टी एण्ड दि ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' में लिखा कि भारत की गरीबी का प्रमुख कारण, अंग्रेज शासकों द्वारा हमारे संसाधनों का अन्धाधुन्ध दोहन है। अंग्रेजों ने अपनी इसी दृष्टि से १८वीं शताब्दी में, यहाँ के उद्योगों को नष्ट करके कच्चा माल यहाँ से ले जाना और अपने यहाँ के तैयार माल को बाजारों में खपाना शुरू किया। महादेव गोविन्द रानाडे ने इस विषम–स्थिति से छुटकारा पाने के लिए, अपने उद्योग–धन्धों को फिर से खड़ा करने की सलाह दी। रमेशचन्द्र दत्त ने भारतीय कृषकों और श्रमिकों की गरीबी, सामान्यजनों की बढ़ती कंगाली तथा बार–बार अकाल पड़ने का मुख्य कारण, ब्रिटिश सरकार का, भारतीय कृषि और उद्योगों को नष्ट करना, ग़लत कर व्यवस्था और प्रशासन में अत्यधिक ख़र्च को बताया। गोपालकृष्ण गोखले ने अपने आर्थिक विवेचन में सरकार के बढ़ते ख़र्च, जनता पर करों का बढ़ता बोझ, सैनिक अभियानों में लगने वाली रकम को भारतीय विपन्नता का कारण सिद्ध किया। उन्होंने सरकार से भारतीय उद्योगों को, संरक्षण प्रदान करने की भी वकालत की थी।

गांधी जी के भारतीय राजनीति में प्रवेश के साथ, आर्थिक–चिन्तन ने बड़ी आदर्शनिष्ठ, लेकिन व्यावहारिक और रचनात्मक दिशा ग्रहण की। उन्होंने सत्य और अहिंसा को अपने जीवन–दर्शन का आधार बनाया और सामान्य–जन से जुड़कर देश को एक नयी अर्थ–व्यवस्था अपनाने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने ग्रामीण जीवन को मूल में रखकर, घरेलू उद्योग–धन्धों के विकास पर विशेष बल दिया। गाँव के लोग शहरों की ओर जाना छोड़ें; इसके लिए उन्होंने गाँव–गाँव में छोटे–छोटे उद्योग खड़े करने का परामर्श दिया। वे ग्रामीण–जनों को इसी आधार पर आत्मनिर्भर बनाना चाहते थे। इसी दृष्टि से उन्होंने चरखा और खादी को स्वाधीनता आन्दोलन में विशेष स्थान दिया। वे यह तो जानते थे कि गरीबी को सहज रूप में समाप्त नहीं किया जा सकता। इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए उन्होंने समाज के सम्पन्न लोगों को, जन–साधारण का न्यासी (ट्रस्टी) बनने की सलाह दी। वे समाज में ऐसी अर्थ–व्यवस्था चाहते थे, जो सभी वर्ग के लोगों के लिए लाभप्रद हो। अपनी इस जीवन–दृष्टि को उन्होंने 'सर्वोदय' की संज्ञा दी थी।

गांधी जी से प्रेरणा लेकर, प्रोफेसर जे० के० मेहता ने आर्थिक–चिन्तन को दर्शन और मनोविज्ञान की दृष्टि से नये आयाम दिये। उपनिषदों तथा गीता के स्थित–प्रज्ञ–दर्शन के प्रभावों को लेकर, उन्होंने उसके साथ गांधी जी के विचार–सूत्रों को जोड़ते हुए, अर्थ–चिन्तन को नया रूप दिया। उनका कहना था कि मनुष्य जैसे–जैसे अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाता जाता है, उसके जीवन के दुःख और कष्ट बढ़ते जाते हैं और आनन्द की भावना उससे दूर होती जाती है। अतः उसे चाहिए कि ईमानदारी और परिश्रम के साथ जो कुछ मिलता है, उसी के आधार पर अपना जीवन व्यतीत करे। इस प्रकार उसका मानसिक सन्तुलन बना रहेगा, वह अपनी आवश्यकताओं को बढ़ायेगा नहीं, और बड़े सहज रूप में सुख को प्राप्त कर लेगा।

प्रो० मेहता के कार्य को प्रो० राधाकमल मुखर्जी ने और आगे बढ़ाया। उन्होंने ग्रामीण–नियोजन, क्षेत्रीय आर्थिक–विकास, भूमि–समस्या, जनसंख्या–नियंत्रण, खाद्य–उत्पादन, श्रमिकों के अधिकार आदि अनेक विषयों पर अपने विचार प्रकट किये। कुटीर–उद्योगों के साथ, उन्होंने बड़े उद्योगों की भी सिफारिश की। आर्थिक–व्यवस्था के समुचित विकास के लिए उन्होंने नियोजन की भी सलाह दी।

सन् १९४७ में जब भारत आजाद हुआ तो गांधी जी का अचानक एक बड़े दुर्योग में महाप्रयाण हो गया। उनकी मृत्यु के बाद, पं० जवाहर लाल नेहरू ने कुटीर–उद्योगों के स्थान पर बड़े–बड़े उद्योगों की स्थापना की नीति चलायी। उन्होंने अपने १७ वर्षों के प्रधानमंत्रित्व काल में समाजवादी समाज की स्थापना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की बात कही और उसके लिए पंचवर्षीय योजनाओं का क्रम चलाया। उनके बाद इन्दिरा गांधी ने अनेक क्षेत्रों में राष्ट्रीयकरण की योजना चलायी। यह तो सही है कि स्वाधीनता के बाद की आर्थिक नीतियों के फलस्वरूप औद्योगिक प्रगति बहुत हुई हैः जहाँ सुई भी विदेश से आती थी, वहाँ आज हमारे राकेट उड़कर अन्तरिक्ष की यात्रा कर रहे हैं। इस वैज्ञानिक और औद्योगिक प्रगति से हमारे राष्ट्र को आर्थिक लाभ तो बहुत हुआ है, लेकिन वह जन–साधारण तक नहीं पहुँचा है।

आज पूरे विश्व में उदारीकरण, वैश्वीकरण और निजीकरण का दौर चल रहा है। सोवियत रूस के विघटन के बाद, संयुक्त राज्य अमेरिका अपने को सर्वशक्तिमान् समझने लगा है। वह इंग्लैण्ड तथा यूरोपीय देशों के संगठन को साथ लेकर 'विश्व बैंक', 'अन्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष' तथा 'विश्व व्यापार संगठन' के माध्यम से, अपने लाभ की नीतियाँ सभी देशों पर लागू कर रहा है। विश्व के विभिन्न देशों की राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक गतिविधियाँ, वह अपने ही हित की दृष्टि से चलाना चाहता है। आज विश्व स्पष्टतः विकसित और विकासशील दो खेमों में बट गया है। विकासशील देश, विकसित देशों के मुक्त–व्यापार, निर्बाध पूंजी–निवेश, बौद्धिक–सम्पदा अधिकार जैसी नीतियों को लागू कर रहे हैं। भारतवर्ष की अनेक नैसर्गिक वस्तुओं यथा तुलसी, नीम, पोदीना आदि को वे पेटेन्ट करा रहे हैं। भारतवर्ष में नरसिंहराव के प्रधानमंत्रित्व काल में 'विश्वबैंक', 'अन्तराष्ट्रीय मुद्राकोष' आदि के दबाव में विकसित देशों की बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को प्रवेश देना आरम्भ किया गया था। उनके बाद तो उन कम्पनियों के लिए पूर्णतः द्वार खोल दिया गया है और वे उपभोक्ता वस्तुओं यथा आटा, नमक आदि के उत्पादन और वितरण में भी संलग्न हो रही हैं। कोकाकोला, पेप्सी जैसी कम्पनियों ने तो हमारे पेय उद्योग को पूर्णतः समाप्त कर दिया है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के प्रवेश से हमारे अनेक छोटे–बड़े उद्योग बन्द हो गये हैं। यह विषम परिस्थिति अनेक राष्ट्रीय उद्योगों के निजीकरण से और अधिक जटिल होती जा रही है।

भारतीय मनीषा इस निरन्तर बिगड़ती हुई आर्थिक–स्थिति से बड़ी चिन्तित है। इस सम्बन्ध में अमर्त्य सेन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने अंग्रेजी साम्राज्य की दुर्नीतियों के कारण, द्वितीय विश्वयुद्ध के समय बंगाल में जो भयंकर अकाल पड़ा था, उसे अपने आर्थिक अध्ययन का आधार बनाया। उसी अध्ययन को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने जिन ग्रन्थों की रचना की, उसके लिए उन्हें अर्थशास्त्र के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए, सन् १९९८ में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। उसके बाद जब वे भारतवर्ष आये थे, तो देश की आर्थिक व्यवस्था के सुधार और समुचित विकास के लिए तीन सुझाव दिये थेः (१) शिक्षा का सम्यक् प्रसार, (२) कृषि को भली प्रकार समुन्नत करना, और (३) लघु उद्योगों को हर प्रकार से प्रोत्साहित करना। उनके ये विचार गांधी जी के आर्थिक–चिन्तन से पर्याप्त मिलते–जुलते हैं; और इन्हें अपनाकर हमारा देश ही नहीं, विश्व के अविकसित और विकासशील देश भी अपनी आर्थिक अवस्था को मजबूत बना सकते हैं।

अर्हत् (१) पाली भाषा के इस शब्द के अर्थः अनेक योग्यताओं से परिपूर्ण, अधिकारी, पूजनीय तथा सर्वगुण सम्पन्न हैं। बौद्ध धर्म के पुरोहितों में इसे उच्च स्थान दिया जाता है। स्वयं बुद्ध को भी अर्हत् कहा गया है। थेरवाद तो अर्हत् को सर्वोच्च स्थान देता है। वह साधक जो अपने को सब प्रकार की इच्छाओं से मुक्त कर लेता है, वह अर्हत् हो जाता है; और फिर वह जन्म–मरण के चक्र से छुटकारा पा जाता है। यह अवस्था बौद्ध विहार में सम्यक् जीवन व्यतीत करने के बाद ही उपलब्ध होती है।

बौद्ध धर्म की महायान शाखा अर्हत् से आगे उठकर बोधिसत्व अवस्था को महत्त्व देती है। इस अवस्था को पहुँचा हुआ व्यक्ति बार–बार जन्म ग्रहण करने की इच्छा करता है, जिससे वह इस जगत् के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीड़ितों और प्रताड़ितों की सेवा करके लोक में मंगल की प्रतिष्ठा में अविराम तत्पर रह सके।

अर्हत् (२) (अरिहन्त) जैन धर्म का भी यह पारम्परिक शब्द है। अतिशय पूज्य तथा विशेष सत्कार के योग्य व्यक्ति को अर्हत् कहा जाता है। इसका एक पर्याय अरिहन्त भी है। 'अरि' अर्थात् शत्रु और 'हन्त' अर्थात् नाश करने में समर्थ इसीलिए सम्यक् जीवन के शत्रुओं का नाश करने वाला अरिहन्त कहा जाता है। अर्हत् या अरिहन्त के लिए यह आवश्यक होता है कि वह मोहरूपी शत्रु पर विजय प्राप्त करे तथा नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य कर्मों से ऊपर उठ जाये। जैन धर्म के 'णमोंकार' मंत्र में पंच परमेष्ठियों में सबसे पहले अरिहन्त को ही प्रणाम किया जाता है। अरिहन्त को भगवद्लोक का परम उपकारक माना जाता है। इसीलिये उन्हें सर्वोत्तम कहा गया है। एक कालावधि में एक ही अरिहन्त होता है। उस अरिहन्त को ही तीर्थंकर, केवली तथा सर्वज्ञ भी कहते हैं। केवली की संज्ञा उन्हें इसलिए दी गयी है कि केवल ज्ञान द्वारा ही वह सब कुछ जान लेते हैं। इसीलिए उन्हें सर्वज्ञ भी कहा गया है। पार्श्वनाथ को प्रथम तीर्थंकर और महावीर वर्धमान को चौबीसवाँ तथा अन्तिम तीर्थंकर माना जाता है।

अलंकार अलंकार से सामान्य आशय उस विधान से है जो वस्तु को 'अलं' अर्थात् चरमावस्था तक पहुँचा देता है। यह व्यापार विशेष रूप से किसी वस्तु की शोभा को बढ़ाने के लिए होता है। यह शोभा को बढ़ाने का प्रयास, हम जब अपने रूप–वैभव के संवर्द्धन के लिए करते हैं तो उसके अन्तर्गत स्त्री, पुरुषों तथा इतर प्राणियों द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के आभूषण होते हैं, उन्हें हम मानवीय अलंकारों का नाम देते हैं। काव्य की शोभा को बढ़ाने के लिए जिन अलंकारों का प्रयोग होता है, उन्हें सामान्य रूप से काव्यालंकार कहा गया है। अलंकारों की योजना काव्य से इतर अन्य कलाओं में भी देखने को मिलती है; लेकिन सामान्यतः अलंकारों के अन्तर्गत मनुष्य द्वारा धारण किये जाने वाले तथा काव्य की शोभा बढ़ाने वाले अलंकारों को ही लेते हैं। पहले हम काव्य की शोभा बढ़ाने वाले अलंकारों को ले रहे हैं।

(१) काव्यालंकार काव्य की शोभा का संवर्द्धन करने वाले विधान को काव्यालंकार की संज्ञा दी गयी है। काव्य की अन्तरंग तथा वहिरंग अथवा अर्थगत और शब्दगत शोभा को बढ़ाने वाले विधानों को दो भागों में विभाजित किया गया है, यथा– अर्थालंकार और शब्दालंकार। शब्दालंकार, काव्य की शाब्दिक शोभा को बढ़ाते हैं। अर्थालंकारों का कार्य, जैसा कि नाम से स्पष्ट है– अर्थगत शोभा का संवर्द्धन करना है। आचार्यों ने कुछ ऐसे भी अलंकार माने हैं, जो काव्य की शब्दगत तथा अर्थगत दोनों ही प्रकार की शोभाओं का संवर्द्धन करते हैं, इन्हें उभयालंकार कहा गया है। पश्चिम के काव्य मनीषियों ने भी इसी प्रकार काव्यालंकारों के तीन प्रकार यथा फीगर्स ऑफ़ स्पीच अर्थात् वाणी के अलंकार, 'फीगर्स ऑफ़ थाट' अर्थात् विचारों एवं भावों के अलंकार, तथा 'बोथ टुगेदर' अर्थात् उभयालंकार माने हैं। अलंकार के इन तीनों ही प्रकारों में उनके विभिन्न भेद–प्रभेद आते हैं। उनके लिए क्रमशः देखिए अर्थालंकार, उभयालंकार और शब्दालंकार।

(२) मानवीय अलंकार आचार्य भरत मुनि ने नाट्यकला के संदर्भ में स्त्रियों तथा पुरुषों द्वारा धारण किये जाने वाले अलंकारों पर विस्तार से विचार किया है। मानव–शरीर पर धारण किये जाने वाले अलंकारों के उन्होंने चार प्रभेद किये हैं; आबेध्य, बन्धनीय, प्रक्षेप्य और आरोप्य। आबेध्य अंलकार उन्हें कहा जाता है, जो अंगों को बींधकर धारण किये जाते हैं; यथा कान में कुण्डल, नाक में लौंग, नथनी आदि। बन्धनीय अलंकार, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, विभिन्न अंगों में बाँधे जाते हैं, जैसे अंगद, केयूर, करधनी आदि। प्रक्षेप्य अंलकार पहने और उतारे जाते हैं, जैसे नूपुर अंगूठी आदि। आरोप्य उन अलंकारों को कहा गया है जो शरीर पर आरोपित किये जाते हैं, यथा हेमसूत्र, मणिमाला आदि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भरत ने इसके बाद स्त्रियों द्वारा धारण किये जाने वाले अलंकारों की, जिन अंगों में वे पहने जाते हैं, उनके साथ, बड़ी लम्बी सूची दी है। स्त्रियों के शिरोभाग के अलंकार उन्होंने बताये हैं; शिखापाश, शिखाव्याल, चूड़ामणि, मकरिका, मुक्ताजाल, गवाक्षिक तथा शीर्षजाल। ललाट के अंलकारों में उन्होंने शिखिपत्र, वेणीगुच्छ और तिलक के नाम लिये हैं। कानों में पहने जाने वाले आभूषणों में उन्होंने कर्णिका, कर्णवलय, कुण्डल, कर्णमुद्रा, कर्णफूल आदि गिनाये हैं। कण्ठ के आभूषणों में उन्होंने मुक्तावली, व्यालपंक्ति, मंजरी, रत्नमालिका, रत्नावली आदि के नाम लिये हैं। बाहुमूल में अंगद तथा वलय पहने जाने का उल्लेख किया है। अंगुलियों के अलंकारों में अंगूठी के अतिरिक्त कलापी कटक, हस्तपात्र, सुपूरक और मुद्रा की चर्चा की है। कटि प्रदेश में उन्होंने मेखला, काञ्चिका, रसना आदि के पहने जाने का वर्णन किया है। जंघाओं पर भी उन दिनों पादपत्र नाम का आभूषण पहना जाता था। पैरों में तो उनके समय से लेकर आज तक नूपुर, किंकिणि, घटिका आदि भी पहने जाते हैं। उन्होंने पैरों की अंगुलियों में भी पहने जाने वाले अनेक आभूषणों के नाम लिये हैं, उनमें बिछिया का प्रयोग तो आज भी यदा–कदा देखने को मिल जाता है।

भरत ने पुरुषों द्वारा पहने जाने वाले अनेक अलंकारों के भी नाम गिनाये हैं, यथा शिर पर चूड़ामणि, कानों में कुण्डल, कण्ठ में मुक्तावली, अंगुली में अंगुलीयक, बाहुमूल में वलय, बाहु में केयूर और अंगद, वक्षस्थल पर मौक्तिक–माल, हार आदि। इन अलंकारों में हाथ की अंगुलियों में अंगूठी और कानों में यदा–कदा कुण्डल का उपयोग आज भी देखा जाता हैं।

अलबेरूनी इनका पूरा नाम रिहान मुहम्मद बिन अहमद अलबेरूनी स्वारिज़्मी कहा जाता है। उनका जन्म हिज़री सन् ३६० (ईस्वी सन् ६७०–७१) माना जाता है। इनके जीवनीकार शहरजूरी ने लिखा है कि सिंध के बिरून नामक स्थान में ये पैदा हुए थे। इसीलिए इनके नाम के साथ बरूनी या बिरूनी मिलता है; लेकिन 'किताबुलइन्सान' के लेखक समानी का कहना है कि 'बिरूनी' एक पारसी शब्द है, जिसका अर्थ होता है 'बाहर पैदा होने वाला'। वे अपने समय के अद्वितीय विद्वान् थे और वर्षों तक गज़नी के मुहम्मद बिन सुबुक्तगीन के राज–दरबार में रहे। उन्होंने जो ग्रन्थ लिखे हैं, उनसे यह ज्ञात होता है के वे पर्याप्त समय तक भारतवर्ष में भी रहे थे और उन्होंने भारतीय संस्कृति तथा संस्कृत, का अध्ययन किया था। उन्होंने यहाँ के अनेक प्रदेशों की यात्रा भी की थी और समय–समय पर उसके विवरण भी लिखे थे।

अलबेरूनी के सम्बन्ध में उनके समकालीन और परवर्ती विद्वानों ने लिखा है कि उनके हाथ से न तो लेखनी कभी अलग हुई, न उनकी आँखों के सामने से कभी पुस्तक ही हटी। वे उच्च कोटि के दार्शनिक थे तथा ज्ञान–विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में उन्होंने कार्य किया था। कहा जाता है कि उन्होंने जितने ग्रन्थों की रचना की है, वह वज़न में एक ऊँट का जितना बोझा ढो सकता है, उसके बराबर होगी। उन्होंने नक्षत्र–विज्ञान, ज्योतिष, भूगोल, अंकगणित, रेखागणित आदि विषयों पर ग्रन्थ लिखे। इब्नेसिना की पुस्तक 'बातकाल' का उन्होंने अरबी भाषा में अनुवाद भी किया था। इब्नेशिना से उनकी बड़ी मित्रता थी। दोनों के मत कभी–कभी मिलते भी नहीं थे, लेकिन इब्नेशिना के मन में उनके प्रति इतना आदर का भाव था कि उन्होंने कभी भी उनके साथ वाद–विवाद नहीं किया। उनके अन्तिम ग्रन्थ पर, जो नक्षत्र–विज्ञान पर था, सुल्तान मसूद ने प्रसन्न होकर उन्हें एक हाथी के वज़न के बराबर चाँदी भेंट की थी; लेकिन उन्होंने बड़ी निस्पृह भावना से उसे वापस कर दिया था।

अलसी इसका वानस्पति नाम लाइनम यूसीटेटीसिमम, कुल–लाइनेसी है।

इसके अन्य नाम अतसी (संस्कृत), तीसी, मसीना (बंगाली) अविसि (तेलगू), अलविराई (तमिल), अगासी (कन्नड़) है।

यह एक ६०–१२० से०मी० लम्बा सीधा एक वर्षीय पौधा है। समस्त भारत के मैदानी इलाकों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिरिक्त, १८०० मी० ऊँचाई तक वाले स्थानों में इसकी खेती की जाती है। फूल छोटा, नीलाभ, बैगनी या श्वेत होता है, जो तने के ऊपरी भाग में स्थित रहता है। बीज पीले रंग जैसा या काला भूरा होता है। यह छोटा, चपटा अण्डाकार होता है एवं ऊपरी पर्त चमकीली होती है।

अलसी को भारतवर्ष में प्रायः बीजोत्पादन हेतु उगाया जाता है। गंगा के दोआबी मैदानों एवं दक्षिणी भारत में उगायी जाने वाली किस्मों में मुख्य अन्तर जड़ों के विकास का है। गंगा के दोआबी इलाके में कम गहरी जड़ें जाती हैं, जबकि दक्षिणी इलाकों में अधिक। दक्षिणी भारत की किस्मों का बीज बड़ा तथा उसमें तेल की मात्रा अधिक होती है, जबकि दोआबे की किस्मों का बीज छोटा तथा कम तेल प्रतिशत वाला होता है।

इसका दाना मुख्य रूप से तेल उत्पादन के काम आता है। अलसी के दाने पंजाब तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के इलाकों में, पिनी नामक मिठाई बनाने के काम आते है। मध्यप्रदेश तथा मुम्बई में इसका चटनी बनाने में प्रयोग होता है। अलसी को जानवरों को खिलाने के काम में भी लिया जाता है। इसकी खली को सूजन में पुल्टिस रूप में प्रयोग किया जाता है।

आयुर्वेद के अनुसार अलसी मृदकारी, कफ़ोसारक एवम् मूत्रल है।

अलसी के तेल को पेन्ट और वार्निश के रूप में प्रयोग किया जाता है तथा इसके छिलके से 'लिनोनियम' बनायी जाती है।

अलाउद्दीन ख़िलजी सल्तनतयुगीन द्वितीय वंश (ख़िलजी वंश) का द्वितीय सुल्तान अलाउद्दीन १२६६ ई० में अपने चाचा जलालुद्दीन की हत्या करके, दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। वह जलालुद्दीन ख़िलजी के भाई शिहाबुद्दीन मसूद ख़िलजी का पुत्र था। अलाउद्दीन की जन्मतिथि के विषय में तत्कालीन किसी भी स्रोत द्वारा पर्याप्त प्रकाश नहीं पड़ता। जलालुद्दीन के शासन काल में उसे अमीर–ए–तुजुक का पद दिया गया था और जलालुद्दीन ने अपनी एक पुत्री का विवाह भी उसके साथ कर दिया था। मलिकछज्जू के विद्रोह के समय उसे दबाने में उसने महत्त्वपूर्ण भाग लिया और इस कारण उसे कड़ा मानिकपुर की सूबेदारी दी गयी। १२६२ ई० में उसने भिलसा (विदिशा) पर आक्रमण किया। इसी आक्रमण के दौरान उसने दक्षिण के शक्तिशाली राज्य देवगिरि तथा उसके अतुल धन के सम्बंध में कहानियाँ सुनीं। भिलसा के आक्रमण से मिली धन सम्पत्ति में से कुछ भाग उसने सुल्तान को समर्पित किया। इसके बाद उसे अवध की सूबेदारी दी गयी। १२६४ ई० में अलाऊद्दीन ने देवगिरि के राजा रामचन्द्र देव पर बिना सुल्तान की आज्ञा के आक्रमण किया और उसे पराजित किया। देवगिरि से वह अपार धन लूटकर लाया, जिसमें सहस्त्रों मन सोना, चाँदी, मोती, रत्न तथा एक सहस्त्र रेशमी कपड़े के थान सम्मिलित थे। इसी विजय के पश्चात अलाऊद्दीन की महत्त्वाकांक्षाओं में वृद्धि हो गयी। उसने दिल्ली के सिंहासन को हस्तगत करने का निश्चय किया। उसने धोखे से जलालुद्दीन को मानिकपुर बुलाकर १२६६ ई० में उसकी हत्या कर दी। इस कार्य में उसे अपने भाई अलमासबेग से बहुत सहायता मिली। इसी वर्ष उसने दिल्ली की दुर्बल स्थिति से लाभ उठाते हुए जलालुद्दीन के उत्तराधिकारी रुकनुद्दीन इब्राहीम को भागने के लिए बाध्य कर दिया। उसने दिल्ली पर अधिकार कर लिया और अपना राज्याभिषेक किया।

अलाउद्दीन ने जलालुद्दीन के पुत्रों अर्कली खाँ, रुकनुद्दीन, इब्राहीम, जलालुद्दीन की विधवा मलिका–ए–जहान, अहमद चप और मलिक अलगू को नसरत खाँ के सुपुर्दकर दिया। धीरे–धीरे वे सभी कत्ल कर दिये गये। अलाउद्दीन एक अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी सुल्तान था। उसने अपने राज्य विस्तार व शासन व्यवस्था हेतु महत्वाकांक्षी योजनाऐं बनायीं। अलाउद्दीन की इच्छा सम्पूर्ण विश्व को विजित करने और एक नवीन धर्म को आरम्भ करने की थी। लेकिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके मित्र अला–उल–मुल्क ने उसे सलाह दी कि पहले वह भारत के विस्तृत प्रदेश को जीतने का प्रयत्न करें और नवीन धर्म को चलाने का विचार त्याग दें, क्योंकि यह काम पैगम्बरों का होता है। अलाउद्दीन ने अपने मित्र की यह सलाह मान ली। उसने सल्तनत की स्थिति सुदृढ़ करने के लिए आवश्यक कदम उठाये। उसके समय में मंगोलों के आक्रमण का भय हिन्दुस्तान पर बना हुआ था। अलाउद्दीन ने अपनी योजनाओं को सफल बनाकर भारत में मुस्लिम साम्राज्यवाद को उसकी पूर्णता पर पहुँचा दिया।

यद्यपि अलाउद्दीन ख़िलजी एक शक्तिशाली मुसलमान शासक था, परन्तु उसने शासन में इस्लाम के सिद्धांतों का पालन नहीं किया। अलाउद्दीन निरकुंश राजतंत्र में विश्वास करता था। यद्यपि अलाउद्दीन ने राजत्व सम्बंधी सिद्धांतों की कभी व्याख्या नहीं की, लेकिन उसके विचार इस सम्बंध में गुलाम वंश के सुल्तान बलबन के समान थे। उसके वज़ीर, सेनापति व अन्य अधिकारी सभी उसके कर्मचारी मात्र थे, उनमें से कोई भी उसे सलाह देने का साहस नहीं कर सकता था। उसने अमीर वर्ग व उलेमा वर्ग को भी राज्य के मामलों में हस्तक्षेप करने से वंचित रखा। इस प्रकार वह दिल्ली का प्रथम सुल्तान था, जिसने धर्म पर राज्य का नियत्रंण स्थापित किया।

अलाउद्दीन के शासन काल के प्रारम्भिक वर्षों में उसके विरुद्ध लगातार विद्रोह हुए, जिनमें १२६६ ई० में नवीन मुसलमानों (मंगोल जो इस्लाम धर्म में परिवर्तित हो गये थे) द्वारा किया गया। द्वितीय विद्रोह अलाउद्दीन के भतीजे व राज्य के वकील दार अकत खाँ द्वारा, तीसरा विद्रोह अलाउद्दीन की एक बहन के पुत्रों मलिक उमर बदायूँ और अवध के सूबेदार मँगू खाँ ने किया। चौथा विद्रोह दिल्ली में हाजी मौला ने किया। ये सभी विद्रोह असफल रहे। अलाउद्दीन ने विद्रोहों के कारणों की समीक्षा की और उसके विश्वस्त सलाहकारों ने उसे बताया कि अमीरवर्ग के पास अधिक दौलत, उनके बीच वैवाहिक सम्बंध, गुप्तचर विभाग की अकुशलता, मदिरा का सार्वजनिक प्रयोग आदि इसके मुख्य कारण हैं। इन्हें रोकने के लिये उसने चार अध्यादेश जारी किये। प्रथम उसने राज्य की तरफ से दान में दी गयी अधिकांश भूमि को अधिकृत कर लिया। दूसरे अध्यादेश द्वारा गुप्तचर विभाग को सुसंगठित किया गया, जिससे अमीर वर्ग के कार्यों व बातचीत का ब्योरा शीघ्र ही सुल्तान को मिलने लगा। तीसरे अध्यादेश द्वारा मदिरा के सार्वजनिक प्रयोग व बिक्री पर रोक लगा दी गयी। एक अन्य अध्यादेश द्वारा उसने अमीर वर्ग के बीच वैवाहिक सम्बंधों व मिलने–जुलने पर भी प्रतिबंध लगा दिया। वे सुल्तान की अनुमति के बिना आपस में कोई वैवाहिक सम्बंध स्थापित नहीं कर सकते थे।

इसके अतिरिक्त अलाउद्दीन ने ग्राम स्तर के हिन्दू पदाधिकारियों (मुकद्दम आदि) को भी पहले की तुलना में अधिकार विहीन कर दिया और उन्हें भी दरिद्रता का जीवन जीने के लिए विवश कर दिया।

सुल्तान अपनी साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा को सुसज्जित व कुशल सेना से ही पूरा कर सकता था। उस ने घोड़ों को दागने की प्रथा शुरू की। फरिश्ता के अनुसार उसकी सेना में ४ लाख ७५ हजार घुड़सवार थे। प्रत्येक सैनिक का हुलिया रजिस्टर में लिखा जाता था। प्रत्येक सैनिक, जिसके पास एक घोड़ा होता था, उसे प्रतिवर्ष २३४ टका वेतन मिलता था और जिसके पास दो घोड़े होते थे, उसे ७८ टका अतिरिक्त मिलता था। उसने सैनिकों को नकद वेतन देने की व्यवस्था की और वेतन के बदले जागीर देने की प्रथा का अंत कर दिया। सिर्फ कुछ उच्चवर्गीय अमीरों के पास उनकी जागीरें रह गयीं।

अलाउद्दीन ने केन्द्र में एक विशाल स्थायी सेना रखी थी। उसे राजद्रोह का दमन, विद्रोहों का उन्मूलन, मंगोलों के आक्रमणों से सुरक्षा व भारत को विजित करने के लिए इस सेना की आवश्यकता थी। उसे अपनी शक्तिशाली सेना का व्यय घटाने का उपाय सोचने पर बाध्य होना पड़ा। इसके लिए उसने जीवन की आवश्यक वस्तुओं के मूल्य निर्धारित कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिये, जो उन वस्तुओं के लागत मूल्य पर आधारित होते थे। वस्तुओं के दाम कम निश्चित कर देने से सैनिक थोड़े वेतन में भी सरलता से जीवन निर्वाह कर सकते थे। उसने दिल्ली में चार अलग–अलग बाजारों की व्यवस्था की। एक बाजार अनाज के लिए, दूसरा कपड़े, चीनी, मेवे, घी व तेल आदि के लिए, तीसरा घोड़ों, मवेशियों व गुलामों के लिए और चौथा विलासितापूर्ण व महँगी वस्तुओं के खरीदने व बेचने के लिए। किसानों को अपना अनाज निश्चित मूल्य पर ऐसे व्यापारियों को बेचना पड़ता था, जिन्हें सरकार अनुमति देती थी। किसानों को अपना अनाज अन्यत्र बेचंने अथवा जमा करके रखने की आज्ञा नहीं थी। दोआब के पदाधिकारियों को इस बात की लिखित गारण्टी देनी पड़ती थी कि वे चोरी से किसी को अनाज जमा नहीं करने देंगे। दिल्ली के सब व्यापारियों को शहाने–मण्डी नामक पदाधिकारी के दफ्तर में अपने नाम लिखाने पड़ते थे। बरीद (गुप्तचर अधिकारी), मुन्हीयास (सुल्तान के गुप्तचर) सुल्तान को अपनी स्वतंत्र सूचनाएँ देते थे। यदि कोई व्यापारी तौल से कम सौदा तौलता था, उसके शरीर से उतना ही मांस काट लिया जाता था। इस प्रकार अलाउद्दीन ने कठोरतापूर्वक इन नियमों को लागू करके अपने सैन्य उद्देश्यों को पूर्ण करने में सफलता पायी।

उसके अन्य आर्थिक सुधारों में लगान को ५० प्रतिशत कर दिया गया और सरकार व किसानों के बीच बिचौलियों को हटा दिया गया। उसने दो नये कर मकान–कर व चराई–कर भी लगाये। राज्य की तरफ से दान में दी हुई सारी भूमि जैसे इनाम, वक्फ़ व जागीरें आदि वापस ले ली गयीं। खम्स जो कि युद्ध में मिली लूट का माल होता था, उसका ४/५ भाग स्वयं रखा और १/५ भाग सैनिकों के लिए छोड़ा। एक विभाग दीवान–ए–मुस्तखराज खोला गया, जो यह पता लगता था कि कृषि योग्य भूमि कितनी है और फिर उससे लगान एकत्रित करता था। इस प्रकार अलाउद्दीन ने हर सम्भव तरीके से राज्य की आय में बृद्धि करने के उपाय किये और अपनी विशाल सेना के खर्च को वहन किया।

अलाउद्दीन की सेना ने उसे विजय योजनाओं व मंगोलों के विरुद्ध सफलता दिलायी। उसने गुजरात में १२९९ ई० में राजा कर्ण से विजित किया। इसी विजय के समय नुसरत खाँ ने मलिक काफूर को खोजा था, जिसने अलाउद्दीन की दक्षिण भारत की विजयों को सम्पन्न किया। उसे हज़ार दीनारी भी कहा जाता था। १३०१ ई० में अलाउद्दीन ने हम्मीरदेव से रणथम्भौर जीता। १३०३ ई० में, चित्तौड़ के राणा रत्नसिंह को परास्त किया। १३०५ ई० में, मालवा के राजा हरनंद को हराया। १३०८ ई० में, मारवाड़ के राजा शीतल देव को परास्त किया। १३११ ई० में कनेरदेव को पराजित करके जालौर जीत लिया। अलाउद्दीन की सबसे महान उपलब्धि रही उसकी दक्षिण भारत की विजय। उसकी दक्षिण भारत की विजयों का श्रेय उसके सेनापति मलिक काफूर को है। अलाउद्दीन दिल्ली का पहला सुल्तान था, जिसने दक्षिण भारत को विजित करने में सफलता पायी। सुल्तान के रूप में १३०३ ई० में दक्षिण में वारंगल राज्य पर किया गया उसका पहला अभियान विफल रहा था; लेकिन १३०६–७ ई० में देवगिरि का यादव राज्य जीता गया। १३०८ ई० में तैलंगाना का काकतीय राज्य राजा प्रताप रुद्रदेव द्वितीय से जीत लिया गया। खफी खाँ ने लिखा है कि इसी आक्रमण के समय प्रतापरुद्र देव ने काफूर को विश्व प्रसिद्ध कोहिनूर हीरा दिया था, जिसे काफूर ने सुल्तान अलाउद्दीन को भेंट किया। इसके पश्चात १३१० ई० में द्वारसमुद का होयसल राज्य, वीर वल्लाल से, १३११ ई० में सुदूर दक्षिण का पांड्य राज्य, वीर पांड्य से जीत लिया गया। मलिक काफूर का दक्षिण पर अंतिम आक्रमण १३१३ ई० में देवगिरि में शंकरदेव को दण्डित करने के लिए किया गया था।

अलाउद्दीन ख़िलजी कहा करता था कि अल्लाह ने उसे ४ अमूल्य मित्र दिये हैं। ये चारों ही उसके योग्य सेनापति रहे– नुसरत खाँ, ज़फ़र खाँ,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अल्ला खाँ और उलुगखाँ। इन चारों की योग्यता व वीरता से ही वह अपनी विजय योजनाओं को साकार करने व मंगोलों से देश की सुरक्षा करने में सफल रहा। उसके बाद के शासन काल में सल्तनत की सीमाओं की सुरक्षा मलिक काफूर व गाज़ी मलिक तुगलक के द्वारा की गयी।

सन् १२६७–६८ ई० में ट्रांस–आक्सियाना के शासक दवा खाँ के नेतृत्व में मंगोलों ने आक्रमण किया। १२६६ ई० में साल्दी के नेतृत्व में तथा १२६६ ई० में ही कुतलुगख्वाजा द्वारा आक्रमण किया गया। इसी आक्रमण में ज़फ़र खाँ, जो कि अलाउद्दीन का एक महान् सेनापति था मंगोलों द्वारा मार डाला गया था। १३०३ ई० में तार्गी के नेतृत्व में मंगोलों ने दिल्ली तक पहुँचकर धावे किये। १३०५ ई० में अली बेग के नेतृत्व में मंगोलों ने फिर से सल्तनत पर आक्रमण किये। १३०६ ई० में कबक के नेतृत्व में मंगोलों ने लगातार फिर से आक्रमण किया। इसामी के अनुसार यह उनका अंतिम आक्रमण था। सीमा रक्षक गाज़ी मलिक तुगलक ने काबुल, गज़नी और कंधार तक मंगोलों के क्षेत्रों में जाकर हमले किये। सिर्फ अंतिम कुछ वर्षों में ही मंगोलों के आक्रमण का भय नहीं रहा।

सन् १३१५ ई० में अलाउद्दीन बीमार हुआ और 'जनवरी १३१६ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। वास्तव में अलाउद्दीन देश का पहला तुर्की साम्राज्य निर्माता था। उसके समय में तुर्की साम्राज्यवाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। अलाउद्दीन स्वंय निरक्षर था, लेकिन विद्या तथा ललित कलाओं का संरक्षक था। अमीर खुसरो, फारसी का महान् कवि व अमीर हसन देहलवी जैसे साहित्यिक रत्न उसके दरबार में थे। स्थापत्य कला से भी उसे प्रेम था। दिल्ली की अलाई दरवाजा नामक इमारत प्रारम्भिक तुर्की स्थापत्य का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। उसने इसके अतिरिक्त सीरी का किला व हज़ार खम्भा नाम का महल भी बनवाया था।

अलाउद्दीन के कार्यो का सबसे बड़ा दोष यह था कि उसकी शासन–व्यवस्था में स्थायित्व नहीं था, क्योंकि वह शक्ति पर निर्भर राज–व्यवस्था थी, न कि जनता की सद्भावनाओं पर आधारित। लेकिन वह दिल्ली सल्तनत के सम्पूर्ण युग में निर्विवाद योग्यतम सुल्तान था।

अलास्का संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रशान्त महासागर के तट का एक राज्य। हवाई द्वीप की भाँति भौगोलिक दृष्टि से यह देश के अन्य भागों से अलग है। अधिकांश में यह राज्य उत्तरी अमेरिका की पश्चिमोत्तर सीमा पर स्थित है। उत्तर में आर्कटिक सागर है, पश्चिम दक्षिण में प्रशान्त महासागर, पश्चिम में बेरिंग सागर और बेरिंग जलडमरू–मध्य और आर्कटिक महासागर हैं; और पूर्व में कनाडा का यूकान क्षेत्र एवं ब्रिटिश कोलम्बिया हैं। इस राज्य के साथ दो बड़े द्वीपसमूह भी हैं; एक एल्यूशियन द्वीपसमूह जो मूल भूमि के दक्षिण पश्चिमी कोण से पश्चिम की ओर धनुषाकार फैला हुआ है; और दूसरे एलेक्जेण्डर द्वीपसमूह, जो मूल भूमि के दक्षिण–पूर्व तट के सन्निकट है।

अलास्का में मूलतः चार आदिम जातियों अलयूत, इन्यूइत (एस्किमो), त्लिगित–हैदा और अथबस्कन के लोग रहते थे। इन सभी अमरीकी–भारतीयों के अपने अलग–अलग व्यवसाय थे, और वे पर्याप्त सुखद जीवन व्यतीत करते थे। लेकिन अनेक यूरोपीय देशों के लोगों के आ जाने और सम्पूर्ण क्षेत्र पर अधिकार कर लेने के कारण, अब उनकी संख्या बहुत कम हो गयी है।

अलास्का पहुँचने वाले पहले यूरोपीय रूसी थे। रूसियों का पहला दल देनविटस बेरिंग के नेतृत्व में सन् १७४१ में वहाँ पहुँचा था। उसके बाद अनेक रूसी वहाँ जाते रहे, और व्यापारिक सम्बन्ध बनाते रहे। उसके बाद स्पेन, इंग्लैण्ड, फ्रांस और अमेरिका के अनेक खोजी तथा व्यापारी वहाँ अपने पैर जमाने की कोशिश करते रहे; लेकिन १७७० से लेकर १८६७ तक वहाँ के व्यापार का नियंत्रण एक रूसी–अमरीकी कम्पनी के हाथ में रहा। उसके बाद संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपने राजनयिक विलियम एच० शिउअर्ड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के माध्यम से बातचीत करके उसे खरीद लिया। उस क्षेत्र में इधर–उधर सोना मिलने पर वहाँ छोटे–मोटे उपनिवेश बनने लगे। सन् १९५९ में अलास्का संयुक्त राज्य का ४९वाँ राज्य बन गया। उसके बाद उस राज्य के पर्यावरण की समस्या को लेकर लगातार वाद–विवाद चलता रहा। सर्वाधिक विवाद वहाँ मिलने वाले तेल की पाइप लाइन को लेकर उठा था, जो १२६२ कि.मी. मील आर–पार डाली जानी थी। अन्ततः १९७७ में वह पाइप लाइन पूरी हुई, लेकिन पर्यावरण के सवाल को लेकर उसके बाद भी वाद–विवाद बराबर चलता रहा। सर्वाधिक बड़ा पर्यावरण का दुर्योग मार्च १९८९ में घटित हुआ था, जब तेल से भरा हुआ एक टैंकर दुर्घटना ग्रस्त हो गया था। और उसने कोई दस लाख गैलन तेल फैला दिया था।

अलास्का की राजधानी जूनाऊ है। राज्य का सूत्रवाक्य है 'भविष्य उत्तर की ओर है।' राज्य का उपनाम ग्रेटलैण्ड है। राज्य का अपना गीत 'अलास्का लैण्ड' है। राज्य का अपना वृक्ष 'सित्कास्प्रूस', राजकीय फूल 'फ़ारगेट मी नॉट', राजकीय पक्षी 'विलोपतरमिगन' है। सम्पूर्ण राज्य का क्षेत्रफल, १,५३०,६९३ वर्ग किलोमीटर है, जिसमें ५२,२४५ कि०मी० जलीय क्षेत्र है। सागरीय तट ८९८० कि०मी० है। सबसे ऊँचा शिखर माउण्ट मकिल्ले है, जिसकी ऊँचाई ६१९४ मीटर है। सागर तल सबसे निम्न बिन्दु है। संयुक्त राज्य की सर्वोच्च संवैधानिक संस्था कांग्रेस में उसके दो सीनेटर हैं और एक प्रतिनिधि। इस प्रकार चुनाव के लिए उसके तीन मत हैं।

अलास्का के कृषि उत्पादों में है घास, आलू, जौ और अनेक प्रकार की सब्जियाँ हैं। इनके साथ ही वहाँ दूध, अण्डा और गोश्त आदि का भी निर्यात होता है। खनिज पदार्थों में पेट्रोलियम, प्राकृतिक गैस, विशेष प्रकार की बालू, पत्थर, कोयला और सोने का भी व्यापार होता है। इनके अतिरिक्त वहाँ खाद्य–पदार्थों, लकड़ी, पेट्रोलियम, कोयला, शीशा आदि के भी व्यवसाय चलते हैं। धातु से बनी वस्तुओं तथा बिजली से चलने वाली मशीनों के भी अनेक कारखाने हैं। पर्यटन भी वहाँ का धीरे–धीरे एक बड़ा व्यवसाय बनता जा रहा है। राज्य की नैसर्गिक शोभा की सुरक्षा के लिए, आगे के विकास क्रम को नियोजित रखने के लिए आज भी वहाँ विचार–विमर्श चलता रहता है।

अलिफ़ लैला अंग्रेजी अनुवाद 'अरेबियन नाइट्स' अथवा 'दि थाउजेन्ड एण्ड वन नाइट्स' (एक हज़ार और एक रातें)। अरबी भाषा का कहानियों का यह संकलन बड़े लम्बे समय तक मौखिक रूप में ही चलता रहा। सन् १४५० में यह मिस्र में प्रकाशित हुआ। एकं अरबी इतिहासकार अबुल हसन अली मसौदी ने लिखा है कि ६४४ ईस्वी में ये कहानियाँ फारसी में 'एक हज़ार रातें और एक रात' के नाम से लिखी गयी थीं।

अरबी के कहानी संकलन की ये कहानियाँ मूलतः बग़दाद के शाह शहरयार और उसकी पत्नी शहरज़ादी से सम्बद्ध हैं। शाह ने पहले जिस औरत से विवाह किया था, उसने उसके साथ धोखा किया; और तब उन्होंने निश्चय किया कि वे रोज एक औरत से शादी करेंगे और सुबह होते–होते उसकी हत्या करा देंगे, जिससे उन्हें फिर धोखा न खाना पड़े। यह क्रम तब तक चलता रहा जब तक उनके वज़ीर और सलाहकार की बेटी शहरज़ादी उनकी बीबी नहीं बन गयी। यह निश्चय हुआ कि वह अपने साथ अपनी बहन को लेकर आयेगी। उसने शाहंशाह को रात को एक कहानी सुनाना आरम्भ किया, जो सुबह तक पूरी नहीं हुई। वह कहानी इतनी रोचक थी कि शाहंशाह ने उससे दूसरी रात में पूरी करने के लिए कहा। उस दूसरी रात जब पहली कहानी पूरी हो गयी, तो बेग़म ने दूसरी कहानी आरम्भ कर दी। वह भी इतनी रोचक थी कि शाह ने उसे आगे सुनना चाहा। यही क्रम एक हज़ार एक रात तक चलता रहा और तब शाह ने उसे स्थायी बेग़म मान लिया।

शहरज़ादी ने जो कहानियाँ सुनायी थीं वह शहजादों और शहजादियों, सुल्तान और गुलामों, परियों और वैतालों, व्यापारियों और नाचने वालियों आदि से सम्बद्ध थीं। कुछ कहानियाँ विचित्र जानवरों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को लेकर भी थीं। अन्य कुछ कहानियाँ ख़लीफ़ा हारून–अल–रशीद ने बग़दाद में अपने अनुयाइयों के भावों और विचारों को जानने के लिए, रात में भेष बदल कर जो कुछ देखा सुना था, उसे लेकर भी थीं। शाहज़ादी परीज़ादा ने, बोलती–चालती चिडियाँ, गाते वृक्ष और सुनहरे पानी की खोज के लिए जो कुछ किया था, उन अनुभवों को लेकर भी कहानी सुनायी गयीं थीं।

एक हज़ार एक रातों के इस कहानी संकलन में सर्वाधिक जानी जाने वाली, 'अलादीन और उसका जादुई चिराग़', 'अलीबाबा और चालीस चोर' तथा 'सिन्दबाद जहाज़ी' की कहानियाँ भी हैं।

अरबी कहानी संकलन कालान्तर में यूरोपीय देशों में भी पहुँचा था। एनट्वाइन गालेन ने फ्रांसीसी में इसका अनुवाद सन् १७०४ में आरम्भ किया था और १६१७ तक उसे बारह खण्डों में प्रकाशित किया। अंग्रेजी में इसका अनुवाद १७०६ में बारह खण्डों में प्रकाश में आया था। इसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग्रेजी अनुवाद सोलह खण्डों (१८८५–८८) का माना जाता है। हिन्दी भाषा में इसे 'सहस्र रजनी चरित्र' नाम से प्रकाशित किया गया है।

अली इस्लाम के चौथे खलीफा (६५६–६१)। ये पैगम्बर मुहम्मद के चाचा अबू तालिब के पुत्र थे और मुहम्मद साहब ने अपनी पुत्री फातिमा का विवाह उनके साथ किया था। इनके दो पुत्र हुए थे, हसन और हुसैन। हुसैन ने कर्बला के युद्ध में धर्म की रक्षा करते हुए वीर–गति पायी। उनकी इसी शहादत का शोक मुहर्रम के रूप में प्रतिवर्ष मनाया जाता है। अली, पैगम्बर साहब के बड़े ही भक्त और विश्वास पात्र थे। इसीलिए मदीना छोड़ते समय उन्होंने इन्हें उसका शासक नियुक्त किया था। धर्म के प्रति विशेष निष्ठावान् होने के साथ, ये बड़े ही कुशल योद्धा भी थे। बद्रओहोद और अलखन्दक के युद्धों में इन्होंने अतुल पराक्रम का प्रदर्शन किया था। यमन के अभियान में भी इन्होंने विजय पायी थी। मुहम्मद साहब के निधन के अनन्तर उनके उत्तराधिकारी खलीफा के पद के लिए इनके नाम पर भी विचार हुआ था; लेकिन आयु, अनुभव और सम्बन्ध में ज्येष्ठ होने के कारण अबूवक्र को यह पद मिला था। अली के सम्बन्ध अबूवक्र और उनके बाद खलीफा बने उमर, दोनों के साथ ही बड़े अच्छे रहे थे। उमर के निधन के बाद उस्मान के खलीफा चुने जाने पर इनकी भी सहमति रही थी। सन् ६५६ ई० में जब कूफा–बसरा और मिस्र के विद्रोहियों ने उसमान की हत्या कर दी, तो इन्हें खलीफा निर्वाचित किया गया।

अली को अपने ख़िलाफत के पहले साल अनेक झंझट झेलने पड़े। सबसे पहले तो आयशा ने, जिनके साथ मुहम्मद साहब ने फातिमा की माँ के निधन के अनन्तर विवाह किया था, उनके विरुद्ध विद्रोह किया। वे पहले खलीफा अबूबक्र की पुत्री थीं। इसलिए खिलाफत पर वे पहले अपना अधिकार मानती थीं। उनके विद्रोह को यद्यपि जल्दी ही दबा दिया गया; लेकिन अली के खलीफा होने का अधिकार, फिर भी मान्य नहीं हुआ। तीसरे खलीफा उस्मान के सम्बन्धी सीरिया के शासक मुआविया ने उन्हें खलीफा स्वीकार नहीं किया, और खुद अपने खलीफा होने के अधिकार के लिए लड़ते रहे। यह संघर्ष ईस्वी सन् ६६० तक चला, जब अली ने मुआविया के साथ एक दूसरे के राज्य की सीमा–सुरक्षा के लिए सन्धि कर ली। मुआविया ने उसके बाद भी अपने को खलीफा घोषित कर दिया। अली ने उन पर आक्रमण करके अपनी खिलाफत को एकच्छत्र बनाना चाहा, लेकिन तभी मुल्झम नाम के खारिजी सम्प्रदाय के एक व्यक्ति ने कुफा में जून २४, ६६१ ई० में उनकी हत्या कर दी। मुआविया उसके बाद खलीफा स्वीकार कर लिये गये।

अली के निधन के बाद भी उनके सर्मथकों और विरोधियों में संघर्ष का क्रम चलता रहा। इस्लाम की उसके बाद दो शाखाएँ बन गयीं। अली की गणना फातिमा परम्परा के खलीफाओं में होती है और वे शिया कहे जाते हैं। अबूबक्र और आयशा की परम्परा के मुसलमान सुन्नी माने जाते है। सुन्नी शियाओं की अपेक्षा अधिक परम्परानिष्ठ माने जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अली, मुहम्मद (१६४२ –) अमेरिका के प्रसिद्ध मुक्केबाज, मूलनाम कैसियस मार्सेलस क्ले। इनका जन्म लोईविले में हुआ था। सन् १६६० के ओलम्पिक खेलों में कुछ हल्के, भारी वजन के प्रतिद्वन्द्वियों में सर्वजेता चुने जाने के बाद, इन्होंने अपने को व्यावसायिक मुक्केबाज बना लिया। सन् १६६४ में इन्होंने, मात्र बीस व्यावसायिक प्रतियोगिताओं में भाग लेने के बाद, अपने को 'सर्वश्रेष्ठ' घोषित कर दिया। यह घोषणा उन्होंने सोनी लिस्टन (१६३४–७०) को भारी वजन की प्रतियोगिता में पराजित करने के बाद की थी। इसी वर्ष उन्होंने इस्लाम धर्म में दीक्षा ले ली और मुहम्मद अली नाम रख लिया है और काले मुसलमान कहे जाने लगे। सन् १६६८ में उन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका की सेना में भर्ती होने से इन्कार कर दिया। इसके लिए उन्हें दण्ड भुगतना पड़ा, और मुक्केबाजी के संगठन ने उन्हें 'सर्वश्रेष्ठ' होने के पद से हटा दिया। सन् १६७० में वे फिर प्रतियोगिताओं में भाग लेने लगे, और दो बार विजय प्राप्त करने के बाद, जो फ्रेज़र से मार्च, १६७१ के संघर्ष में वे पराजित हो गये। उसी वर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका के उच्चतम न्यायालय ने उन्हें सेना में भर्ती न होने के अपराध से मुक्त कर दिया।

सन् १६७४ के जनवरी महीने में, इन्होंने फिर प्रतियोगिताओं में भाग लेना आरम्भ किया और पहले फ्रेज़र को हराया, और फिर अक्टूबर ३०, १६७४ को उस समय के सर्वजेता जॉर्ज फ़ोमैन (१६४६) को पराजित कर विश्वविजेता बन गये। चार वर्ष बाद लियॉन स्पिंक्स (१६५३ –) ने १५ फरवरी, १६७८ को लॉस वेगॉस ने उन्हें पराजित कर दिया; लेकिन उसी वर्ष १५ सितम्बर को उन्होंने स्पिंक्स को १५ चक्रों में हरा कर विश्वविजेता की उपाधि फिर से अर्जित कर ली। अली इस प्रकार भारी वज़न की मुक्केबाजी के इतिहास में तीन बार विश्वविजेता बनने वाले पहले व्यक्ति हो गये। सन् १६७८ में उन्होंने प्रतियोगिता से अवकाश लेने की घोषणा कर दी; लेकिन वर्ष भर बाद ही भारी वजन की प्रतियोगिता में विश्वविजेता लारी होम्स (१६४६–) को चुनौती दे दी; उसके साथ संघर्ष में वे हार गये। फिर भी अली को आज भी सर्वाधिक कुशल और सुनियोजित पद्धति का भारी वज़न का मुक्केबाज माना जाता है। इन दिनों वह पार्किन्सन बीमारी से विशेष रूप से ग्रस्त है: जिसमें मस्तिष्क की कुछ शिराओं के शिथिल हो जाने के कारण उसके शरीर के कुछ अंगो में कम्पन आ गया है।

अलहमबरा स्पेन के दक्षिण भाग के प्राचीन शहर ग्रानडा में पहाड़ के ऊपर बना क़िला और राजभवन। इसे उत्तरी अफ्रीका से आये इस्लाम के अनुयायी बर्बर जाति के मूरों ने बनवाया था। उन्होंने इसे नाम दिया था, 'कालअत अलहमरा' अर्थात् लाल क़िला। यह नाम इसे इसलिए दिया गया था क्योंकि यह लाल टाइलों से बनाया गया था। इसे बनवाने का कार्य यूसुफ (१३३४) ने आरम्भ किया था, और फिर मुहम्मद पंचम ने इसे पूरा कराया था। यह विशाल भवन १४०० हेक्टर भूमि पर खड़ा है। उसके चारों ओर बड़ी ही विशाल दीवार है, जिसमें बीच–बीच में शोभा के लिए मीनारें बनी हुई हैं। उससे कुछ दूर पर अलहमबरा आलता (दरबारियों का निवास स्थान) है। मूरों ने कोई २५० वर्षों तक स्पेन पर राज्य किया था; लेकिन जब पूरे देश में ईसाई धर्म का प्रचार हो गया, तो उन्हें यहाँ से भागना पड़ा।

स्पेन के सम्राट् जार्ज पंचम ने इसे विनष्ट करके नया राजभवन बनवाना चाहा था; लेकिन यह इतना मजबूत बना था कि वे इसे विशेष हानि नहीं पहुँचा सके, और न अपना अलग से कोई भवन ही खड़ा कर सके। फिर भी काल के प्रवाह में सैनिक अभियानों और भूचालों का प्रभाव इस पर देखा जा सकता है। यह इतना शानदार और शोभामय है कि स्पेन की सरकारों ने समय–समय पर सुयोग्य वास्तुकलाविदों को बुलाकर इसकी पुरानी शोभा को फिर से लाने का प्रयास किया। इस सम्बन्ध में इटली के प्रसिद्ध अभियन्ता काण्ट रे रॉस, उनके पुत्र राफेल, पौत्र और प्रपौत्र मरियाए के नाम लिये जाते है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलहमबरा का यह राजभवन बाहर से ही नहीं, भीतर से भी बड़ा शोभामय है। उसकी दीवारें नीले हरे और सुनहरे मणिरत्नों से सुसज्जित हैं। दीवारों और छतों पर सीपी और चाँदी की अनेक भव्य आकृतियाँ बनी हुई हैं। यह शोभा दो बहनों के कहे जाने वाले संगमरमर के बने सभागार में विशेष रूप से दर्शनीय है। उसके गुम्बज को मधुकोष जैसा स्वरूप दिया गया है। सिंहों के दरबार के नाम से जाना जाने वाला सभागार १०० बड़े ही सुन्दर स्तम्भों पर खड़ा है। संगमरमर के बने बारह सिंहों का बड़ा ही सुन्दर फव्वारा है; और वह आज भी वैसे ही सक्रिय देखने को मिलता है, जैसा मूरों के शासन काल में रहा होगा। 'अबेनसेराजेश' नाम का एक बड़ा ही सुन्दर सभागार भी है, जहाँ कभी बड़ा भयंकर हत्याकाण्ड हुआ था। कहा जाता है कि जिन राजकुमारों की वहाँ हत्या हुई थी, उनकी प्रेतात्माएँ आज भी वहाँ घूमती हैं; और उसके फर्श की टाइलें आज भी उनके रक्त से भीगी हुई हैं। अमेरिका के प्रसिद्ध कथाकार वाशिंगटन इरविंग जिनकी कहानियाँ 'रिपवॉन विंकिल' और 'दि लीजेन्ड ऑफ दि स्लीपी हालो' बड़ी ही प्रसिद्ध हैं, वे कभी मैड्रिड में अपने देश के राजनयिक के रूप में रहे थे, और तब उन्होंने इस राजभवन के साथ अनेक प्रचलित कहानियों को लेकर 'दि अलहमबरा' नामक पुस्तक की रचना की थी।

अलीगढ़ भारत के उत्तर प्रदेश के पश्चिमी क्षेत्र का एक समृद्ध जिला एवं शहर। अलीगढ़ जिला भौगोलिक दृष्टि से उत्तर अक्षांश २७–२६ डिग्री से २८–११ डिग्री तक तथा पूर्व देशान्तर ८७–२६ डिग्री से ७८–३८ डिग्री तक स्थित है। इसका क्षेत्रफल ५०२४ वर्ग कि०मी० है। यह जिला पूर्वोत्तर में गंगा तथा पश्चिमोत्तर में यमुना नदी के बीच स्थित है। इस जिले में पश्चिमी भाग में करवान और पूर्वी भाग में काली नदी बहती है। इन नदियों से अभिसिञ्चित होने के कारण सामान्यतः सारी भूमि बहुत ही उपजाऊ है। गंगा और यमुना के तटीय भागों को खादर कहा जाता है। गंगा के खादर की मिट्टी तो बहुत ही उपजाऊ है; लेकिन यमुना के खादर की मिट्टी खेती की दृष्टि से बहुत योग्य नहीं है। जिले के अधिकांश क्षेत्र में दोमट मिट्टी है, और उसमें गेहूँ, चना, जौ, ज्वार, बाजरा और मक्का पैदा होते है। इनके अतिरिक्त थोड़ी–बहुत कपास और गन्ने की खेती भी होती है। कुछ क्षेत्रों में कंकड़ निकलता हैं, जो सड़कें बनाने के लिए काम में लाया जाता है। सम्पूर्ण जिले के ८१ प्रतिशत क्षेत्र में गाँव हैं। कोल (अलीगढ़) खैर (हाथरस), सिकन्दरा राउ (एग्लास) और अतरौली, यहाँ की तहसीले हैं।

अलीगढ़ शहर का पुराना नाम कोयल अथवा कोल है। इसीलिए शहर के भाग की तहसील को कोल कहा जाता है। सन् ११९८ में कुतुबुद्दीन ऐबक ने इस शहर पर अधिकार कर लिया था, और तब भी उसका नाम कोल ही चलता रहा। सोलहवीं शताब्दी में इसका नाम मुहम्मदगढ़ पड़ा, और फिर १७१७ में साबितगढ़ कर दिया गया। जाटों ने इसे अपने अधिकार में लेने के अनन्तर सन् १७५७ में रामगढ़ नाम रख दिया। तभी रामगढ़ नामक दुर्ग भी बनाया गया। सन् १७५६ में सिंधिया ने इस गढ़ पर अधिकार कर लिया था। उसके बाद नज़फ़ खाँ ने उस पर अधिकार किया और उसे नया नाम अलीगढ़ दिया, जो आज भी चल रहा है। सन् १८०३ में अंग्रेजी सेना ने लॉर्ड लेक के नेतृत्व में इस पर अधिकार कर लिया था।

अलीगढ़ शहर उत्तर रेलवे के कलकत्ता से दिल्ली जाने वाले मार्ग पर स्थित है। कलकत्ते से उसकी दूरी १४८८ कि.मी. और दिल्ली से मात्र १५६ कि.मी. मील है। सम्भ्रान्त लोगों की बस्तियाँ, प्रचलित नाम सिविल लाइन्स, रेलवे स्टेशन से उत्तर की ओर है। अलीगढ़ विश्वविद्यालय भी इसी भाग में स्थित है। सर सैयद अहमद खाँ ने १८७३ में यहाँ एक स्कूल की स्थापना की थी, जिसने बढ़ते–बढ़ते सन् १९२० में विश्वविद्यालय का रूप ग्रहण कर लिया।

अलीगढ़ शहर का दक्षिणी भाग विशेष रूप से व्यावसायिक क्षेत्र है। यहाँ पीतल का इमारती सामान,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोहे के ताले तथा नाम के ठप्पे (डाई) आदि बनते हैं। यहाँ गाँवों के उत्पादन की अनाज और कपास की बड़ी–बड़ी मण्डियाँ हैं। आर्थिक दृष्टि से भी इस प्रकार यह एक समृद्ध शहर है।

अलूचा इसका नाम अंग्रेजी में प्लम, वानस्पतिक नाम प्रूनस डोमेस्टिका, प्रजाति प्रूनस, जाति डोमेस्टिका, कुल रोजेसी। यह एक पर्णपाती वृक्ष है। इसके फल को भी अलूचा या प्लम कहते हैं। फल लीची के बराबर या कुछ बड़ा होता है। छिलका नरम तथा साधारणतः गाढ़े बैंगनी रंग का होता है। गूदा पीला और खटमिट्ठे स्वाद का होता है। भारत में इसकी खेती नहीं के समान है; परन्तु अमरीका आदि देशों में यह महत्त्वपूर्ण फल है। केवल कैलीफ़ोर्निया से लगभग १ लाख पेटी फल प्रतिवर्ष बाहर भेजा जाता है। आलू बुखारा (प्रूनस बुखारोसिस) भी एक प्रकार का अलूचा है, जिसकी खेती अफ़गानिस्तान में होती है। अलूचा का उत्पत्ति स्थान, दक्षिण पूर्व यूरोप अथवा पश्चिमी एशिया में काकेशिया तथा कैस्पियन सागरीय प्रान्त हैं। इसकी एक जाति प्रूनस सैल्सिना की उत्पत्ति चीन में हुई। इसका जैम बनता है।

अलूचा के सफल उत्पादन के लिए ठण्डी जलवायु आवश्यक है। देखा गया है कि उत्तरी भारत की पर्वतीय जलवायु में इसकी उपज अच्छी हो सकती है। मटियार, दोमट मिट्टी अत्यन्त उपयुक्त है परन्तु इस मिट्टी का जलोत्सारण उच्चकोटि का होना चाहिए। इसके लिए ३०–४० किलो सड़े गोबर की खाद या कम्पोस्ट, प्रतिवर्ष, प्रतिवृक्ष के हिसाब से देना चाहिए। इसकी सिंचाई आड़ू की भाँति करनी चाहिए। अलूचा का वर्गीकरण फल पकने के समयानुसार होता है।

१. शीघ्र पकने वाला, जैसे अलूचा लाल, अलूचा पीला, अलूचा काला तथा अलूचा ड्वार्फ।

२. मध्यम समय में पकने वाला जैसे अलूचा लाल, बड़ा अलूचा जर्द तथा आलू बुख़ारा।

३. बिलम्ब से पकने वाला जैसे अलूचा एल्फा, अलूचा लेट्स, अलूचा एक्सेल्सियर तथा केल्सीज जापान।

अलूचा का प्रसारण आँख बांधकर (बडिंग द्वारा) किया जाता है। अलूचा के मूल वृत पर आँख बांधी जाती है। दिसम्बर या जनवरी में १५–१५ फुट की दूरी पर इसके पौधे लगाये जाते हैं। प्रारम्भ के कुछ वर्षों तक इसकी काट–छाँट विशेष सावधानी से करनी पड़ती है। फरवरी के आरम्भ में फूल लगते हैं। शीघ्र पकने वाली किस्मों के फल मई में मिलने लगते हैं। अधिकांश फल, जून–जुलाई में मिलते हैं। लगभग ३५ से ४० किलो फल प्रति वृक्ष पैदा होता है।

अलेक्ज़ेण्डर यूनान के मेसोडोनिया का सम्राट्, फ़ारस के विशाल साम्राज्य का विजेता और विश्व की महान् सैनिक प्रतिभा। इनका जन्म मेसोडोनिया की राजधानी पेल्ला में ३५६ ई०पू० हुआ था। इनके पिता सम्राट् फिलिप और माता इपिरस की राजकुमारी ओलम्पिया थीं। विश्वप्रसिद्ध विद्वान् अरिस्टोटिल से उन्होंने शिक्षा ग्रहण की थी। उन्होंने इन्हें साहित्य, राजनीति, समाजशास्त्र, भाषण–कला आदि अनेक विषय पढ़ाये थे। साहित्य का संस्कार सम्भवतः उनमें विशेष रूप से था। होमर के महाकाव्य 'इलियड' के नायक एचिलस को वे अपना नायक और उन्हीं की वंश–परम्परा का मानते थे। यह इतिहास के प्रति अनुराग ही था कि उन्होंने अपने पड़ोस के राज्य थीव पर विजय प्राप्त करने के अनन्तर सारे क्षेत्र को विनष्ट कर दिया था; किन्तु कवि पिण्डार के भवन और देवताओं के मन्दिरों को छोड़ दिया था। देवी–देवताओं के प्रति भी उनमें विशेष श्रद्धा थी;

अलेक्ज़ेण्डर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसीलिए उन्होंने अपने पड़ोसी राज्य एथेन्स को स्वतंत्र रहने दिया था।

उनके पिता फिलिप द्वितीय ने अपने पड़ोस के एक–दो राज्यों को जीतकर फारस के विशाल सम्राज्य पर आक्रमण करने की योजना बनायी थी। लेकिन ३३६ ई०पू० में उनकी हत्या कर दी गयी। अलेक्ज़ेण्डर को इस प्रकार २० वर्ष की आयु में ही शासन भार सँभालना पड़ा। उन्होंने पहले अपने पड़ोस के अनेक राज्यों पर अधिकार किया; अपनी सेना को सुदृढ़ बनाया और फिर फ़ारस के विशाल साम्राज्य की ओर अपना अभियान चलाया।

अलेक्ज़ेण्डर को अपने पिता से बड़ी ही सुदृढ़ सेना मिली थी। अपने विजय अभियान के लिए उन्होंने उसे और भी सुव्यवस्था प्रदान की थी। मध्यभाग में वे ढाल और तलवारों से लैस पैदल सैनिकों को रखते थे। दोनों पार्श्वों में घोड़ों की सेना होती थी। शत्रु सेना पर पहले पैदल सैनिक आक्रमण करते थे और फिर दोनों ओर से घुड़सवार विपक्ष की सेना को चीरते हुए, उसे नष्ट–भ्रष्ट कर देते थे।

अलेक्ज़ेण्डर ने ३३४ ई०पू० में फ़ारसी साम्राज्य से अपना संघर्ष आरम्भ किया। पहले उन्होंने फ़ारस की सेना पर ग्रेनिकस नदी के तट पर एशिया माइनर के पूर्व भाग में आक्रमण किया था और एक ही दिन में विजय प्राप्त कर ली थी। अपनी इस विजय से उन्होंने एशिया माइनर से समुद्र–तट तक बसे हुए यूनान के उपनिवेशों को स्वतंत्र कर दिया था और उधर सागर के वक्ष पर जो फ़ारस की जल–सेना थी, उसे भी अपने अधिकार में ले लिया था। उसके बाद वे फ़ोनीशिया के तट की ओर बढ़े थे और ३३३ ई०पू० में फ़ारस के सम्राट् दारुस द्वितीय को पराजित कर दिया था। अलेक्ज़ेण्डर को इस विजय में फ़ारस का बहुत बड़ा राजकीय ख़ज़ाना भी मिल गया। सम्राट् दारुस ने सन्धि करनी चाही थी और कहा था कि विशाल साम्राज्य दो भागों में बाँट लिया जाये; लेकिन उन्होंने इन्कार कर दिया था। सात महीने की घेराबन्दी के बाद उन्होंने दक्षिण फ़ोनीशिया के ट्रॉय नगर पर अधिकार कर लिया था; और फिर दो महीने बाद ही दक्षिण फ़िलिस्तीन का शहर गाज़ा भी उनके अधिकार में आ गया था।

अलेक्ज़ेण्डर ने उसके बाद मिस्र में प्रवेश किया था और फिर ३३२ ई०पू० से ३३१ ई०पू० के सर्दी के दिन उन्होंने वहीं बिताये थे। मिस्र के लोगों ने उन्हें फारस के दुःशासन के मुक्तिदाता के रूप में स्वीकार किया था। वे उसके बाद बड़ी श्रद्धा के साथ मिस्र के देवमन्दिरों में गये थे, अपने को वहाँ के सम्राटों की भाँति फराओ घोषित किया था और यह भी कहा था कि वे वस्तुतः मिस्र के देवता अम्मॉन की सन्तान हैं। उन्होंने उसके बाद भूमध्य सागर के तट पर अपने नाम के एक नगर की भी स्थापना की थी, जो आज भी अलेक्ज़ेण्ड्रिया के नाम से जाना जाता है।

मिस्र के बाद वे डैमेस्कस को पार कर मेसोपोटामिया पार करते हुए बेबीलॉन की ओर बढ़े थे, जहाँ दारुस अपनी सेनाओं को फिर से एकत्र कर उनके प्रतिरोध की तैयारी कर रहा था। बेबीलॉन से बाहर निकल कर उसने अलेक्ज़ेण्डर के साथ युद्ध किया था और उसे फिर पराजय स्वीकार करनी पड़ी थी। अलेक्ज़ेण्डर ने तब यह कह कर कि दारुस ने अपना राज–पद छोड़ दिया है, अपने को विशाल फ़ारस साम्राज्य का महाराजा घोषित कर दिया था।

उन्होंने अपनी सेना का विजय अभियान जारी रखा था और फ़ारसी साम्राज्य के बड़े–बड़े शहर बेबीलॉन, सूसा, पर्सेपोलिस, इग्बेताना उसके अधिकार में आते गये। दारुस बराबर भागता गया था और सम्भवतः उसके इसी भगोड़ेपन से विक्षुब्ध होकर उसके ही एक सैनिक ने उसका वध कर दिया था।

अलेक्ज़ेण्डर ने उसके बाद ३३०–२७ ई०पू० में कैस्पियन सागर के तट के शासकों पर विजय प्राप्त कर ली थी और फिर अफ़गानिस्तान तथा उससे लगे तुर्कों के क्षेत्र पर भी अधिकार कर लिया था। इस बीच वे जिन क्षेत्रों पर विजय प्राप्त करते गये थे, वहाँ के लोगों को ही शासक बनाते गये थे। उन्होंने ३२७ ई०पू० में बैक्ट्रिया की राजकुमारी रुख़साना से विवाह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी कर लिया था और वे पारसी वेश–भूषा पहनने लगे थे। उनके अपने देश के सैनिकों को यह सब अच्छा नहीं लग रहा था; और घर से जैसे–जैसे दूर होते जाते थे, उनके मन का विक्षेप भी बढ़ता जाता था। उन्होंने इस वस्तुस्थिति में भी अपना अभियान जारी रखा था। अलेक्ज़ेण्डर की सेना ने ३२६ ई०पू० में\ सिन्धु नदी को पार कर लिया और झेलम के तट पर पहुँची। वहाँ उस क्षेत्र के सम्राट् पुरु की सेना से उनका संघर्ष हुआ। पुरु की सेना का प्रतिरोध बड़े ही सुचारु रूप से चल रहा था, तभी उनकी सेना के हाथी भड़क गये और उन्होंने अपनी ही सेना को छिन्न–भिन्न कर दिया था। पुरु हार गये और उन्हें बन्दी बना लिया गया। पुरु को जब बन्दी के रूप में अलेक्ज़ेण्डर के सामने लाया गया, तो उन्होंने पूछा कि उनके साथ कैसा व्यवहार किया जाये ? पुरु का बड़ा स्वाभिमान से भरा उत्तर था– 'जैसा एक सम्राट् दूसरे सम्राट् से करता है।' अलेक्ज़ेण्डर को वह उत्तर बहुत पसन्द आया और फिर उन्होंने उसके साथ भारतीय क्षेत्र में और आगे बढ़ने की योजना बनायी; लेकिन इस बीच तक्षशिला के आचार्य चाणक्य को यह लगा कि विदेशी आक्रमण का जबरदस्त प्रतिरोध होना चाहिए। उन्हीं के निर्देश से चन्द्रगुप्त मौर्य ने सेना एकत्र करनी आरम्भ की। आचार्य चाणक्य ने इसके साथ अपने कूटनीतिज्ञों का भी प्रयोग किया। पहले से ही विक्षुब्ध यूनानी सैनिकों में और आगे न बढ़ने की बड़ी तीव्र इच्छा थी। इस विक्षोभ को विद्रोह का रूप लेते हुए देखकर अलेक्ज़ेण्डर को वापस लौटने का निश्चय करना पड़ा।

अलेक्ज़ेण्डर ने निश्चय किया कि उसकी सेना कुछ तो समुद्री मार्ग से और कुछ भूतल से वापस लौटे। एक बहुत बड़ा जहाजी बेड़ा तैयार हुआ और बहुत से सैनिक अरब सागर और फ़ारस की खाड़ी होते हुए वापस लौटे। समुद्र के किनारे की रेगिस्तानी भूमि पर जहाजी बेड़े को रोकते हुए कुछ सैनिक फ़ारसी साम्राज्य के नगर सूसा पहुँचे। वहाँ पहुँचकर अलेक्ज़ेण्डर ने अपने साम्राज्य को और साथ ही अपने पारिवारिक जीवन को भी सुव्यवस्थित करने का प्रयास किया। उन्होंने स्वयं फ़ारस की दो अन्य राजकुमारियों से विवाह किया और अपने सैनिकों से भी कहा कि वे फ़ारस एवं अन्य एशियाई देशों की कन्याओं से विवाह करें। फ़ारस के बहुत से लोगों को भी उन्होंने अपनी सेना में सम्मिलित किया। इसी दिशा में कार्य करते हुए जब उन्होंने अपने वरिष्ठ सैनिक–अधिकारियों के स्थान पर स्थानीय व्यक्तियों को रखना चाहा, तो फिर विद्रोह के स्वर सजग होने लगे। भावना के शील से भरी हुई अपनी वाणी से उन्होंने उन्हें किसी प्रकार फिर शान्त किया और मेसोपोटामिया की पहाड़ी जातियों से ई०पू० ३२४–२३ के जाड़ों के दिनों में संघर्ष करके उस क्षेत्र पर भी अपना अधिकार प्राप्त कर लिया।

अलेक्ज़ेण्डर उसके बाद बेबीलॉन आये और यह योजना बनायी कि जल और थल मार्गों से अपना सैनिक अभियान चलाकर पूरे अरब क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लें; लेकिन तभी अचानक वे बहुत बीमार हो गये और उनका निधन हो गया। अभी वे केवल ३३ साल के ही थे।

उनके निधन के बाद उनका विशाल साम्राज्य उनके अनेक सेनापतियों में विभाजित हो गया था। भारत के पश्चिमोत्तर भाग के क्षेत्र का शासन सैल्यूकस ने सँभाला। इसी सैल्यूकस से फिर मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का संघर्ष हुआ था। कविवर जयशंकर प्रसाद ने अलेक्ज़ेण्डर और सैल्यूकस दोनों के साथ आचार्य चाणक्य के निर्देशन में चन्द्रगुप्त मौर्य के संघर्ष को लेकर एक नाटक लिखा है। उन्होंने यह भी लिखा है कि वस्तुतः यह अलेक्ज़ेण्डर और चन्द्रगुप्त का संघर्ष नहीं वरन् यह अरिस्टोटिल और आचार्य चाणक्य के बुद्धिकौशल का संघर्ष है, जिसमें अन्त में भारतीयों को ही विजय मिली थी। विश्व–इतिहास में अलेक्ज़ेण्डर का नाम विश्वविजेता के रूप में अंकित है, और उसे महान् भी कहा जाता है।

अलक्तक सामान्य भाषा में आलता। भारतीय जनजीवन में स्वीकृत १६ शृंगार–प्रसाधनों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से एक। कुछ वृक्षों से निकलने वाली राल, लाल रंग की लाख, प्राचीन काल से भारतीय स्त्रियों द्वारा शरीर के कुछ अंगों को सुन्दर बनाने के लिए प्रयोग में लायी जाती है। विशेष रूप से उसका प्रयोग पैरों के तलवों और ओठों को अभिरञ्जित करने में होता रहा है। भारतीय साहित्य में इसके प्रयोग का उल्लेख सर्वप्रथम वाल्मीकीय रामायण में मिलता है :

"अल्कतर सरकताभावलक्त रस वर्जितौ,
अद्यापि चरणौ तस्याः पद्मकोशसमप्रभौ।"

कालिदास के 'कुमारसंभव','मालविकाग्नि मित्र, और 'रघुवंश' में अलक्तक के प्रयोग का वर्णन है। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में भी चौथे अंक में इसके प्रयोग का विवरण है यथा 'स्त्रियोह्रतार्थ पुरुषंनिरर्थं निष्पीड़ितालक्तक वत्यजन्ति'। सामान्य भाषा में इसे महावर और लाक्षा–रस भी कहा जाता है।

अल्जीयर्स अल्जीरिया की राजधानी, सबसे बड़ा नगर, बन्दरगाह, व्यापार और सांस्कृतिक गतिविधियों का स्थल है। इस नगर का व्यापारिक केन्द्र के रूप में उपयोग फ़ोनेशिया के लोगों ने ई०पू० नवीं शताब्दी में ही आरम्भ कर दिया था। ईस्वी सन् ४२ में रोम के लोगों ने उसे अपने हाथों में ले लिया था। पाँचवीं शताब्दी में विध्वंसक प्रकृति के लोगों ने वहाँ की सारी व्यवस्था विनष्ट कर दी थी। सातवीं शताब्दी में अरब आक्रमणकारियों ने उस पर अधिकार कर लिया था और उसे एक नया नाम 'जेजैक' दे दिया था। सोलहवीं शताब्दी में तुर्की से आये जल–दस्युओं ने उसे अपना मुख्य केन्द्र बना लिया था। जल–दस्युओं का राज्य, वहाँ सन् १८३० तक रहा, जब फ्रांसीसियों ने उस पर अधिकार कर लिया और फिर उसे एक सुशासित नगर एवं बन्दरगाह बनाया। द्वितीय विश्व युद्ध के समय जनरल रोमेल के अभियान में वह कुछ समय के लिए जर्मनों के हाथों में आ गया था; लेकिन मित्र–शक्तियों की सेनाओं ने उस पर फिर से अधिकार कर लिया था और फिर वह १९४३ से फ्रांस के उपनिवेश की राजधानी बन गया। जुलाई ३, १९६२ को फ्रांस के राष्ट्रपति चार्ल्स दि गॉल द्वारा अल्जीरिया के स्वंतत्र घोषित कर दिये जाने के बाद से, वह प्रजातंत्रात्मक, गणराज्य की राजधानी बन गया।

अल्जीरिया एटलस पर्वत माला के नीचे के भाग में भूमध्य सागर में कुछ निकले हुए भूखण्ड में स्थित है। उसके एक ओर ढलवाँ पहाड़ी पर गगन चुम्बी भवनों का कसवास शहर है, जो सोलहवीं शताब्दी में एक किले के रूप में बनाया गया था। उस शहर में आज भी अरब और मूर उद्गम के लोग रहते हैं और उनके बड़े भवन, बाजार, होटल आदि हैं। बन्दरगाह के पूरे क्षेत्र को घेरती हुई, पत्थर के खम्भों पर खड़ी लम्बी सड़क है। उसी से लगे हुए पश्चिमी शैली के बड़े–बड़े भवन, व्यापार केन्द्र, पार्क आदि हैं।

अल्जीयर्स शासन केन्द्र होने के साथ–साथ अनेक प्रकार के उद्योग–धन्धों और वाणिज्य व्यवसाय का नगर है। वहाँ के कारखानों में ट्रकें, अनेक प्रकार की मशीनें, बिजली के उपकरण, रासायानिक औषधियाँ, सीमेन्ट, कपड़े आदि बनते हैं। पेट्रोल के शोधन तथा शराब के भी वहाँ अनेक बड़े–बड़े कारखाने हैं। तम्बाकू का भी वहाँ व्यवसाय होता है। इसके अतिरिक्त गाँवों से आये अनाज, सब्जियों और फलों आदि का भी वहाँ व्यवसाय होता है। शहर में अनेक बड़े मार्ग और रेल पथ हैं। घरेलू तथा अन्तरर्राष्ट्रीय उड़ानों के लिए एयर–पोर्ट भी है।

अल्जीयर्स विश्वविद्यालय सबसे बड़ा शैक्षिक संस्थान है, वहाँ मानविकी, विज्ञान, विधि और तकनीक के संकाय हैं। अल्जीयर्स में ही बहुत बड़ा राष्ट्रीय पुस्तकालय और ललित–कलाओं का संग्रहालय है। वहीं पुरातात्त्विक सामग्री का राष्ट्रीय संग्रहालय भी है, जहाँ ईसा पूर्व से लेकर रोम, इस्लाम और फ्रांसीसी शासन कालों की वस्तुओं का प्रदर्शन है। अल्जीयर्स इस प्रकार पश्चिमोत्तर अफ्रीका का सर्वाधिक समृद्ध और महत्त्वपूर्ण शहर है।

अल्जीरिया पश्चिमोत्तर अफ्रीका का एक प्रजातंत्रात्मक गणराज्य। अफ्रीकी राष्ट्रों में इसका क्षेत्रफल बस सूडान से ही छोटा है। उत्तर में भूमध्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सागर, पश्चिम में मोरक्को, पूर्व में स्पूनेशिया और लीबिया, दक्षिण में निगर, माली और मोरेतानिया स्थित हैं। पश्चिम से पूर्व तक इसका फैलाव लगभग १७६० कि.मी. तथा उत्तर से दक्षिण तक १६२० कि.मी. है। सम्पूर्ण क्षेत्रफल १४६१५५२ वर्ग कि.मी. है। इसकी जनसंख्या ३,१८,००००० है।

अल्जीरिया में मुख्यतः ४ भौगोलिक क्षेत्र हैं, जो पूर्व से पश्चिम की ओर समानान्तर चलते हैं। उत्तरी भाग भूमध्य सागर को छूता हुआ दक्षिण में ८० से लेकर (१८६) १८६ कि.मी. मील प्रवेश करता है। समुद्रतटीय क्षेत्र मैदानी है, लेकिन दक्षिण में एटलस पर्वत श्रृंखला है, स्थानीय भाषा में उसे 'टेल' की संज्ञा दी गयी है। इस क्षेत्र में अनेक घाटियाँ हैं; लगभग ७२० कि.मी. मील लम्बी चेलिफ नदी है जो टेल ऐटलस में उत्पन्न होकर भूमध्य सागर में गिरती है। यही वस्तुतः देश का सबसे अधिक उपजाऊ भूभाग है। दूसरा क्षेत्र, पश्चिम से पूर्व तक फैला हुआ पठारी भाग है। यहाँ अनेक कुण्ड हैं, जिनमें वर्षा के दिनों में पानी भर जाता है। उसके दक्षिण में तीसरा क्षेत्र, पर्वतीय श्रृंखलाओं का है। चौथा क्षेत्र, जो देश के लगभग नब्बे प्रतिशत भाग को घेरे हुए है, सहारा रेगिस्तान का है।

उत्तरी क्षेत्र की जलवायु समुद्रतट के कारण गर्मी के दिनों में थोड़ी गर्म, जाड़े के दिनों में कुछ ठंड लिये हुए होती है। यहाँ वर्ष भर में ४० सेमी० से लेकर ७३ सेमी० तक की वर्षा होती है। गर्मी के दिनों में दक्षिण से सहारा की ओर से गर्म हवा चलती है। स्थानीय भाषा में उसे चेहिली नाम दिया गया है। पठार के क्षेत्र में साल भर में केवल २० सेमी० से लेकर ४० सेमी० तक की वर्षा होती है। सहारा क्षेत्र में तापमान बहुत ऊँचा उठ जाता है। वर्ष भर में मात्र १२.५ सेमी० वर्षा होती है, और सारे परिवेश में बड़ा ही सूखा रहता है।

अल्जीरिया की प्राकृतिक सम्पदा विशेष रूप से उसके खनिज पदार्थों में है। मुख्यतः तो वहाँ पेट्रोलियम, प्राकृतिक गैस, कच्चा लोहा और फॉस्फेट पाये जाते है। इनके अतिरिक्त कोयला, शीशा और जस्ते की भी खानें हैं। खेती की दृष्टि से उर्वरा भूमि केवल १० प्रतिशत है और वह भी घाटी तथा तटीय क्षेत्रों तक ही सीमित है। पहाड़ी क्षेत्रों में चीड़, देवदार तथा अनेक प्रकार के ओक वृक्ष मिलते हैं। सहारा क्षेत्र में दूर-दूर कहीं-कहीं घास या एक दो पेड़-पौधे दिखाई दे जाते हैं।

अल्जीरिया के निवासी अधिकांश में बरबर, अरबी और दोनों के सम्मिश्रण से बने लोग मिलते हैं। सन् १९६२ तक वहाँ लगभग एक लाख यूरोपीय, विशेष रूप से फ्रांसीसी लोग रहते थे। यहूदियों की संख्या लगभग डेढ़ लाख थी; लेकिन १९६२ में आजादी के बाद उनमें नब्बे प्रतिशत लोग वहाँ से चले गये थे। आज करीब एक-तिहाई लोग गाँव में तथा शेष छोटे बड़े शहरों में रहते हैं।

अल्जीरिया राजनीतिक दृष्टि से ३१ भागों में विभाजित है। उनके भी ६७६ उप विभाग हैं। अल्जीयर्स राजधानी है और वहाँ इस समय लगभग तीन करोड़ लोग रहते हैं। दूसरा बड़ा शहर ओरान है, जहाँ आयात-निर्यात के केन्द्र हैं। कुछ उद्योग-धन्धे भी हैं। तीसरा बड़ा शहर कॉस्टेनटाइन है, जो कृषि के उत्पादन और वितरण का बहुत बड़ा केन्द्र है। वहाँ जानवरों का भी व्यापार होता है।

अल्जीरिया की राजकीय भाषा अरबी है, लेकिन गाँव में कुछ लोग बरबर बोली और शहरों में फ्रांसीसी बोलते हैं। अधिकांश लोग मुसलमान हैं।

अल्जीरिया में प्राथमिक शिक्षा, निःशुल्क और अनिवार्य है। कोई दो लाख के करीब छात्र माध्यमिक विद्यालयों में जाते हैं। उच्च शिक्षा के लिए आठ विश्वविद्यालय हैं। उनमें दो विभिन्न विज्ञानों और तकनीकों के हैं।

सांस्कृतिक दृष्टि से अल्जीरिया स्वतंत्र होने के बाद भी बहुत समय तक फ्रांसीसी प्रभाव से ओतःप्रोत रहा : लेकिन उसके बाद से वहाँ के लोगों ने अपने स्वतंत्र संस्कार बनाने के प्रयत्न किये। वहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब अनेक बड़े–बड़े पुस्तकालय, संग्रहालय, स्वास्थ्य–संस्थान और लोक–कल्याण के कार्य करने वाले केन्द्र हैं।

इतिहास अल्‌जीरिया के मूल निवासी बरबर कहे जाते हैं। अहगार क्षेत्र में जो शिलाचित्र मिले हैं, वे ई०पू० ८००० से २००० के बीच के माने जाते हैं। उसके बहुत बाद ई०पू० लगभग ११०० में भूमध्य सागर के पूर्वी तट के बहुत सारे फ़ोनेशियन लोग उत्तरी अफ्रीका में आये और वहाँ उन्होने कार्थेय नाम का अपना उपनिवेश स्थापित किया : वह भूभाग अब ट्यूनेशिया के नाम से जाना जाता है। ई०पू० दूसरी, तीसरी शताब्दी में कार्थेय और रोम के युद्ध के बीच एक बरबर सरदार ने रोम की सहायता से अल्‌जीरिया क्षेत्र में, अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। उस नये राज्य को नोमीबिया नाम दिया गया। रोम ने ई०पू० १६०६ में उसके पौत्र को पराजित कर दिया और फिर उसे सीधे अपने शासन में ले लिया। रोमन शासन काल में अनाज उत्पादन को विशेष प्रोत्साहन मिला और फिर वह क्षेत्र रोम का अन्न–भण्डार कहा जाने लगा। ईस्वी सन् की दूसरी, तीसरी शताब्दी में रोमन साम्राज्य के पतन के बाद वहाँ के लोगों ने कुछ समय तक आजादी का अनुभव किया; लेकिन ५वीं शताब्दी में एक जर्मन जाति ने उस क्षेत्र पर आक्रमण किया और उसे अपने अधिकार में ले लिया। उसके मात्र एक शताब्दी बाद ही रोमन सम्राट् जेस्टनियन ने फिर उसे अपने अधिकार में ले लिया।

ईस्वी सन् की सातवीं शताब्दी में अरबों ने उत्तरी अफ्रीका पर आक्रमण किया और इस्लामीकरण आरम्भ कर दिया। इतिहास कहता है कि एक स्थानीय महिला नेता काहिना ने इस धर्म–प्रचार का विरोध किया था, लेकिन अन्ततः बरबर लोगों ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया। अधिकांश लोगों ने शिया सम्प्रदाय में दीक्षा ले ली। अनेक छोटे–छोटे राज्य स्थापित हुए। ११वीं और १३वीं शताब्दी के बीच ये इस्लामी राज्य इतने सबल हो गये कि उसने उत्तरी अफ्रीका ही नहीं, स्पेन के कुछ भाग पर भी अपना अधिकार कर लिया। यह अभियान विशेष रूप से अलमोहग राजवंश ने चलाया था। उनके शासन काल में अल्जीयर्स व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र बन गया था।

ईस्वीं सन् की १६वीं शताब्दी में स्पेन की ईसाई सेनाओं ने उत्तरी अफ्रीका के बहुत बड़े क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था। अल्जीयर्स तथा अन्य बन्दरगाह भी उन्हीं के अधिकार में चले गये थे। इस स्थिति से विक्षुब्ध होकर उस क्षेत्र के मुसलमानों ने पश्चिमी एशिया के मुसलमान सुल्तान से सहायता माँगी और वहाँ से आये जहाजी बेड़े ने, स्पेन के सैनिकों को वहाँ से भगा दिया। उन दिनों कस्तुनतुनिया, पश्चिम एशिया के इस्लामी राज्य की राजधानी था और अल्‌जीरिया उसी के अन्तर्गत एक स्वायत्त प्रदेश के रूप में कार्य करने लगा। उसके बाद कुछ समय तक समस्त भूमध्य सागर के क्षेत्र पर इस्लाम के जल–दस्युओं का राज्य रहा। यूरोपीय देशों के जहाजी बेड़ों को उन्हें नियमित शुल्क देना पड़ता था।

लेकिन १८वीं शताब्दी में जब यूरोपीय देशों में आग्नेयास्त्रों का विकास हुआ और बड़े ही मजबूत पानी के जहाज बनाये जाने लगे तो, उन जल–दस्युओं का प्रभाव समाप्त हो गया। इस अभियान में अंग्रेजों, डचों तथा फ्रांसीसियों के साथ अमेरिका के जहाजी बेड़े ने भी सहयोग दिया था।

सन् १८३४ में फ्रांस ने अल्जीयर्स पर अधिकार कर लिया। फ्रांसीसियों ने अनेक वर्षों तक स्थानीय मुसलमान नेता अबुद अल्–कादिर के साथ संघर्ष किया और सन् १८४७ में उसे पूर्णतः पराजित कर दिया। उसके बाद फ्रांस ने उस क्षेत्र को अपने उपनिवेश के रूप में विकसित करना आरम्भ किया। उन्होंने अपने उद्योग–धन्धे खड़े किये, बाजार बनाये तथा स्कूलों और अस्पतालों की स्थापना की। इन सामाजिक कार्यों का लाभ, स्थानीय मुस्लिम समाज को भी मिला। शिक्षा–दीक्षा के लिए लोग फ़्रांसीसी विद्यालयों में जाने लगे, फ्रांसीसी संस्कार ग्रहण करने लगे और जो फ़्रांसीसी बोलने लगे, वे अपने को औरों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से बड़ा समझने लगे, लेकिन वस्तुतः उनकी स्थिति द्वितीय श्रेणी के नागरिकों की ही रही।

अल्जीरिया में स्वतंत्रता आन्दोलन का आरम्भ प्रथम विश्व युद्ध के समय ही हो गया था। उनकी माँग उस समय मात्र यूरोपीय जातियों के समान अधिकार की थी। रूस में सन् १९१७ की बॉलशेविक क्रान्ति के अनन्तर, अल्जीरिया में फेहरत अब्बास और अहमद मेसाली नाम के दो कम्यूनिस्टों ने अल्जीरिया के स्वतंत्रता आन्दोलन का नेतृत्व किया। सन् १९३३ में फ्रांसीसी सरकार ने अल्जीरिया के मुसलमान सैनिक अधिकारियों को समानाधिकार देने का निश्चय किया, लेकिन फ्रांस की राष्ट्रीय सभा ने उसे स्वीकृति नहीं प्रदान की। उसका नतीजा यह निकला कि अब्बास और मेसाली के नेतृत्व में स्वाधीनता आन्दोलन और तेज हो उठा। द्वितीय विश्व युद्ध के समय इस आन्दोलन ने और भी जोर पकड़ा।

सन् १९४७ में फ्रांस ने अल्जीरिया के लोगों को पूरी नागरिकता प्रदान की; लेकिन मतदान के कुछ ऐसे नियम बनाये कि राजनीतिक नियंत्रण उपनिवेशवादियों के हाथों में ही बना रहा। यह वस्तु–स्थिति मूल निवासियों को स्वीकार नहीं हुई और उन्होंने एक क्रान्तिकारी संस्था–'राष्ट्रीय स्वातंत्र्य मोर्चा' (नेशनल लिबरेशन फ्रंट) बनाया। उसी के नेतृत्व में सन् १९५४ में ऐसा विद्रोह खड़ा हुआ कि फ्रांसीसी उसे दबाने में असमर्थ रहे। अल्जीरिया का यह संकट इतना घनीभूत होता गया कि फ्रांस की ढीली–ढाली राष्ट्रीय व्यवस्था, चौथा प्रजातंत्र १९५८ में टूट गया। उसके बाद जो नयी व्यवस्था बनी, जनरल चार्ल्स दि गॉल पहले प्रधानमंत्री और फिर राष्ट्रपति बने। उन्होंने अल्जीरिया के नेताओं के साथ बातचीत आरम्भ की; किन्तु उन्होंने स्वशासन के अतिरिक्त और कुछ मानने से इन्कार कर दिया। अतः सन् १९६२ में नयी व्यवस्था के सम्बन्ध में मतदान हुआ और अल्जीरिया को स्वतंत्र घोषित कर दिया गया। राष्ट्रीय स्वातंत्र्य मोर्चे के अहमद बेला सन् १९६३ में चुनाव से पहले राष्ट्रपति बने।

फ्रांसीसी उपनिवेशवादियों के चले जाने के बाद, बहुत से विदेशी राजकीय अधिकारी और तकनीकी विशेषज्ञ भी चले गये; और उसका परिणाम यह हुआ कि सारी अर्थव्यवस्था विच्छिन्न हो गयी। फ्रांसीसियों ने उसे सुधारने में थोड़ी–बहुत मदद दी। यह क्रम अभी आरम्भ ही हुआ था कि पहली क्रान्ति हुई–और कल्लन हउवरी बूमेदिने ने शासन तंत्र अपने हाथों में ले लिया। वह सन् १९७८ तक अपना एक तंत्र शासन चलाता रहा। उसके बाद छदली बेन्जेदीप राष्ट्रपति हुए। उन्हें बड़े लम्बे समय तक जन आन्दोलन को झेलना पड़ा और १९७६ में संवैधानिक रूप से विरोधी दलों को कार्य करने का अधिकार मिला। जनवरी १९९२ में इस्लामिक स्वातंत्र्य मोर्चे ने जब चुनाव में अपना विजय अभियान चलाया तो बेन्जेदीर ने मतदान के दूसरे दौर को निरस्त कर दिया और राष्ट्रीय आपात स्थिति की घोषणा कर दी। उसकी इस तानाशाही मनोवृत्ति को देख सैनिक अधिकारियों ने ही विद्रोह किया और मुहम्मद बोदिएफ ने शासन भार सँभाल लिया। लेकिन पश्चिम–विरोधी इस्लामी कट्टरपंथियों ने आतंकवादी अभियान में बोदिएफ की हत्या कर दी। सन् १९९५ में फिर जनरल लियामाइन जेराल ने चुनाव के माध्यम से राजकीय सत्ता ले ली। आरम्भ में यह लगा कि वे बिगड़ी हुई राजनीतिक स्थिति को सँभाल लेंगे, लेकिन वे गृह–युद्ध को नहीं रोक पाये और उसमें अब तक एक लाख से अधिक नागरिक मारे जा चुके हैं।

अल्तामीरा स्पेन के उत्तरी भाग की प्रागैतिहासिक काल के पाषाण युग की एक गुफा। एक पुराविद् अपनी छोटी सी बेटी के साथ १८७६ में आदिवासियों का तीर तलाशने के लिए वहाँ गये थे। पिता तो गुफा में जमीन पर तथा मिट्टी को हटा–हटा कर इधर–उधर ढूँढ़ रहे थे। उनकी बेटी गुफा की ओर देखती जा रही थी। वहाँ कहीं से प्रकाश आ रहा था और छत पर उसे बाइसनों का एक दल दिखाई दे रहा था। बाइसन, जलपाईगुणी तथा दार्जिलिंग में पाये जाने वाले जंगली सांड़ों के आकार के होते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बालिका जब चित्रित बाइसनों को देखकर डर रही थी और सहसा उसने चिल्लाकर कहा, 'पिताजी, सांड़ों का झुण्ड', पिता को लगा कि गुफा में सचमुच में साँड़ घुस आये हैं। उन्होंने पूछा, 'किधर–किधर' ? तभी उन्होंने देखा कि छत पर बहुत सारे बाइसनों के चित्र हैं। इस जानकारी के बाद अनेक पुरातत्त्वविदों ने उनकी प्रामाणिकता पर विचार किया और फिर हेनरी ब्रेयूडल ने प्रामाणिक रूप से यह सिद्ध किया कि वे सभी चित्र प्रागैतिहासिक काल के हैं। वे सभी १५० बाइसनों के चित्र लाल–भूरे रंग के हैं, लेकिन उनके अयाल, पूँछें और आमाशय काले–बैंगनी वर्ण के हैं। उस गुफा को आज विशेष पुरातात्त्विक महत्त्व का माना जाता है।

अल्पना अल्पना लोककला का मांगलिक रूप है। अल्पना भूमि पर किसी रंग–पदार्थ से की जाने वाली सज्जा को कहते हैं। यह सज्जा भारतवर्ष भर में किसी न किसी रूप में की जाती है। बंगाल में इसे अल्पना कहते हैं। उत्तर प्रदेश में चौक–पूरना, राजस्थान में मॉडना आदि अल्पना के ही रूप हैं। अब अल्पना शब्द प्रायः सभी प्रदेशों में भूमि पर की जाने वाली सज्जा के रूप में प्रयुक्त होने लगा है। प्रायः इसे, घर के प्रवेश–द्वार के सामने केन्द्र में, देहरी पर, ऑगन के केन्द्र में, पूजा स्थान पर तथा शुभ अवसर के पवित्र स्थानों पर बनाया जाता है। प्रायः स्त्रियाँ ही इस कार्य को सम्पन्न करती हैं।

चावल को पानी में पीस कर तथा उसमें हल्दी मिला कर बनाया गया पीला रंग, अल्पना बनाने में सर्वाधिक प्रयुक्त होता है। पानी में घोलकर प्रयुक्त किये जाने वाले रंगों में गेरू, नील, रामरज, हिरोंजी, चूना आदि प्रमुख हैं। आधुनिकता के साथ–साथ रंगों में भी परिवर्तन आया है। आज विभिन्न प्रकार के तैयार रंगों के अतिरिक्त, रँगा हुआ बुरादा, विभिन्न छालों, फूलों की पंखुरियों आदि का भी अल्पना में प्रयोग होने लगा है।

अल्पना में सरल रेखाओं से बनी प्रतीकात्मक मानवाकृति, वृक्ष, पत्ते, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, मछली, लहरदार रेखा, त्रिभुज, चतुर्भुज, चौखानों, कमलदल तथा अन्य आलंकारिक रूपों को प्रयुक्त किया जाता है।

अल्फासा, मीरा अल्फासा 'द मदर', श्रीमाँ (२१ फरवरी, १८७८–१७ अगस्त, १६७२) फ्रांसीसी महिला, महान् योगी तथा योगिराज श्री अरविन्द की सहयोगी।

मीरा अल्फासा का जन्म पेरिस (फ्रांस) में २१ फरवरी १८७८ को एक धनाढ्य परिवार में हुआ था। बचपन से ही वह अन्य बच्चों से पृथक् एक अन्तर्मुखी बालिका थीं। इसका परिचय उनके माता–पिता को उनके चार–पाँच वर्ष की अवस्था प्राप्त करते ही हो गया था। बारह वर्ष की अवस्था प्राप्त करते ही उनका प्रकृति से तादात्म्य होने लगा तथा प्रकृति के तत्त्वों में उन्हें ईश्वर के दर्शन होने लगे। वर्ष १६०२ में वह व ल ` म स ` ल (अलजीरिया) में मासियर थियोन से सांसारिक रहस्यों के विश्लेषण का प्रशिक्षण लेने गयी। उदाहरण के लिए आत्मा को शरीर के बाहर ले जाना, दूरस्थ वस्तुओं में आंदोलन उत्पन्न करना। लेकिन इससे उन्हें वास्तविक संतोष नहीं मिला। वर्ष १६०६ आते–आते उन्हें इस बात का ज्ञान हो चुका था कि उनके जीवन का उद्देश्य सामान्य व्यक्तियों से उच्चतर स्तर पर है। अपने जीवन के बीसवें वर्ष में उनका विवाह एक प्रतिष्ठित कलाकार मोरसिट से हुआ और उन्हें आंद्रे नाम के एक पुत्र की प्राप्ति हुई। वर्ष १६१२ में उनके प्रयासों से 'कॉस्मिक' नामक एक समूह की स्थापना हुई, जिसमें गीता, उपनिषद् तथा नारदीय भक्तिसूत्र इत्यादि के उद्धरण पढ़े जाते थे। वर्ष १६१० में उन्होंने

अल्फासा
(अरविन्द्र आश्रम की श्रीमाँ)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोरिसेट से अलग होकर पाल रिचर्ड से विवाह कर लिया। पाल रिचर्ड स्वयं भी गूढ़–विद्या के अध्येता थे। इसके अतिरिक्त वह एक राजनीतिज्ञ भी थे। वर्ष १६१० में रिचर्ड अपने निर्वाचन के सम्बन्ध में मीरा के साथ पांडिचेरी (भारत) आये। यहीं पर मीरा तथा रिचर्ड की भेंट योगिराज श्री अरविन्द से हुई (२६ मार्च, १६१४)। मीरा ने श्री अरविन्द को गुरु के रूप में प्राप्त कर लिया। इसके बाद मीरा दम्पति जापान गये; जहाँ उनकी भेंट टॉल्स्तॉय के पुत्र तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर से हुई। वर्ष १६२० में मीरा सदैव के लिए पांडिचेरी आ गयीं और आध्यात्मिक साधना में संलग्न हो गयीं।

साधकों के लिए श्री अरविन्द के प्रवचन तथा मीरा के उपदेश तथा साधना के लिए प्रशिक्षण परस्पर पूरक का कार्य करते थे। श्री अरविन्द ने स्वयं ही अपने भक्त साधकों को इस प्रकार का निर्देश कर दिया था। वर्ष १६२६ आते–आते मीरा आश्रम–वासियों तथा दूरस्थ भक्तों के लिए 'श्री माँ' बन चुकी थीं। २४ नवम्बर १६२६ के बाद श्री अरविन्द अपने भक्तों को 'श्री माँ' के माध्यम से ही आशीर्वाद प्रदान करते थे और स्वयं वर्ष में केवल एक–दो दिन ही 'दर्शन' देते थे। यद्यपि 'श्री माँ' स्वयं ही एक सिद्ध योगी थीं और भावात्मक संसार में कुछ भी करने में सक्षम थीं, किन्तु श्री अरविन्द का उनके लिए निर्देश था कि वे चमत्कारों के चक्कर में न पड़ें।

'श्री माँ' का भक्त साधकों के लिए निर्देश था कि संसार का त्याग आवश्यक नहीं है, वरन् उसका और अधिक विकास आवश्यक है। ईश्वर साक्षात्कार के लिए सम्पूर्ण समर्पण की अनिवार्यता उन्होंने रेखांकित की। वर्ष १६४२ तक श्री अरविन्द आश्रम में ३५० संवासी एकत्र हो चुके थे। आश्रम के अनेक नियमों में एक विशिष्ट नियम यह भी था कि संवासी किसी प्रकार का शारीरिक सम्बन्ध नहीं रखें तथा यथाशक्ति अपना कार्य स्वयं करें। उनका उपदेश था कि जब मनुष्य जीवित है तथा इस देह में है, संसार में कुछ भी असम्भव नहीं है। जहाँ एक ओर योगिराज अरविन्द ज्ञान और योग के उच्चतम स्तर पर स्थित होकर संसार का कल्याण कर रहे थे, वहाँ 'श्री माँ' अपने भक्तों को स्नेह और ममता प्रदान कर सदैव उनका हित चिंतन करती रहीं।

'श्री माँ' का अपने पुत्र आंद्रे से पुनर्मिलन वर्ष १६४६ में लगभग तीस वर्ष के अन्तराल के बाद गोलकोंडा (भारत) में हुआ। आंद्रे अपनी माता से अत्यन्त प्रभावित हुए। वर्ष १६५० में श्री अरविन्द के शरीर त्याग के बाद 'श्री माँ' आश्रम की एक मात्र प्रेरणाशक्ति बन गयीं। वर्ष १६५५ में भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू उनसे दो बार मिले।

वर्ष १६६८ की २८ फरवरी को 'श्री माँ' ने पांडिचेरी में 'अरोविल' नामक नगर का उद्घाटन किया, जो श्री अरविन्द के विश्व–मानवता के सपनों की साकार मूर्त्ति है। १६ अगस्त १६७३ को ६५ वर्ष की अवस्था में उन्होंने शरीर त्याग किया। २० अगस्त को उन्हें श्री अरविन्द की समाधि के पास ही समाधिस्थ किया गया।

अल्बानिया यूरोप के दक्षिण–पश्चिम भाग का एक क्षेत्र। औपचारिक रूप से उसे जनसाधारण का 'समाजवादी प्रजातंत्र' कहा जाता है। यह बाल्कन प्रायद्वीप के पश्चिमी क्षेत्र में एड्रियाटिक सागर के तट पर स्थित है। उसके उत्तर–पश्चिम, उत्तर एवं पूर्व में यूगोस्लाविया है। दक्षिण और दक्षिण–पूर्व में ग्रीस; और पश्चिम में एड्रियाटिक सागर। यह यूरोप के सबसे छोटे देशों में से एक है। उत्तर से दक्षिण की दूरी लगभग ३४५ कि०मी० और पश्चिम से पूर्व की चौड़ाई मात्र १४५ कि०मी० है। सम्पूर्ण क्षेत्रफल २८,७४८ वर्ग किलोमीटर है। जनसंख्या ३१६६००० है।

अल्बानिया के लोग एक भारतीय–यूरोपीय इलीरियन जाति के कहे जाते हैं; जो ईस्वी सन् से कोई एक हजार वर्ष पहले और कांस्य–युग के बाद, बाल्कन प्रायद्वीप के पश्चिमी भाग में आकर बस गये थे। ईसा पूर्व पाँचवीं और तीसरी शताब्दी के बीच उन्होंने वहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने शासक महाराज अकरान के शासन–काल (ई०पू० २५०–२३१) में वह अपनी सर्वाधिक समृद्धि तक पहुँच गया था। वह एक बड़ी नाविक–शक्ति बन गया था और रोम के जल– व्यापार पर भी नियंत्रण रखने लगा था। ईसापूर्व १६८ में रोमन लोगों ने उस पर अधिकार कर लिया था। उसके बाद रोमन साम्राज्य के विकास में इलीरियन लोगों ने बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। ईस्वी सन् ३६५ में रोमन–साम्राज्य जब विभाजित हो गया तो अल्बानिया पूर्वी राज्य का हिस्सा बन गया था; लेकिन धीरे–धीरे वह शक्ति भी क्षीण हो गयी थी; और समय–समय पर अनेक जातियों के लोग आक्रमण करके उस पर अपना राज्य स्थापित करते रहे। १४वीं शताब्दी के अन्त में तुर्कों ने उस पर अपना अधिकार कर लिया था, और फिर कई शताब्दियों तक उनके शासन में रहने के बाद सन् १६१२ में वह आजाद हुआ।

अल्बानिया को बड़े संघर्ष के फलस्वरूप आजादी मिलने के बाद कई वर्षों तक गृह–युद्ध झेलना पड़ा। सन् १६२५ में इटली के विशेष प्रयास से वह प्रजातंत्र बना। सन् १६२८ में राष्ट्रपति अहमद बेग़ ज़ोगू (१८६५–१६०१) ने अपने को स्वतंत्र घोषित करके उसे राजतंत्र का रूप दे दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय इटली और जर्मनी की सेनाओं ने उस पर अधिकार कर लिया। सोवियत सेनाओं के सफल अभियान के फलस्वरूप सन् १६४६ में वह फिर स्वतंत्र हुआ और साम्यवादी पार्टी द्वारा अनुशासित प्रजातंत्र बन गया। सोवियत संघ के साथ उसका सम्बन्ध स्टालिन के जीवनकाल तक भली प्रकार चलता रहा; लेकिन सन् १६६१ में यह राजनीतिक सम्बन्ध टूट गया। पूर्व यूरोपीय देशों में अकेला अल्बानिया ही ऐसा रहा, जिसने माओ के साम्यवादी चीन के साथ अपने राजनयिक और व्यावसायिक सम्बन्ध बना लिये। सन् १६७८ में चीन के साथ उसके व्यापारिक सम्बन्ध टूट गये; लेकिन सन् १६८३ में तनाव कुछ कम हुआ और फिर दोनों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध बने।

अल्बानिया ने साम्यवाद के चीनी स्वरूप के प्रति विशेष आस्था होने के कारण सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका दोनों की ही सैनिक–शक्तियों के विस्तार की आलोचना की। उसका कहना था कि ये दोनों ही महाराष्ट्र तीसरे विश्व के देशों के समुदाय को अनावश्यक रूप से कष्ट देते रहते हैं। अर्जेन्टाइना के वामपंथी शासकों ने अपने पास के फ़ाकलैण्ड द्वीपसमूह पर जब आक्रमण किया था, तो अल्बानिया ने उसका साथ दिया था।

सन् १६४६ में अल्बानिया की कम्यूनिस्ट पार्टी के मंत्री अनवर होक्सहा, अल्बानिया के एकतंत्र शासक बन गये और सन् १६८५ में अपनी मृत्यु तक वे बराबर वहाँ का शासन चलाते रहे। उनके बाद रमीज़ आलिया शासक बने। पूर्व यूरोपीय देशों में १६८० से लेकर १६६० के बीच जो सुधारवादी आन्दोलन हुआ, उससे कम्यूनिस्टों और प्रजातंत्रवादियों दोनों की सन् १६६१ में मिली–जुली सरकार बनी। सन् १६६२ में चुनाव हुए और फिर मात्र प्रजातंत्रवादियों ने अपनी सरकार बनायी। रमीज़ आलिया के स्थान पर साली बरीशा प्रजातंत्रवादी दल के नेता, राष्ट्रपति बने। उस समय देश जिस आर्थिक संकट में था, उससे मुक्ति के लिए उन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ व्यापारिक संधि की; लेकिन उससे विषम परिस्थितियों में कोई सुधार नहीं हुआ और विद्रोह खड़ा हो गया। बरीशा को विद्रोही नेताओं से समझौता करना पड़ा और फिर मिली–जुली सरकार बनी। जून में चुनाव हुए और पुरानी साम्यवादी–समाजवादी दल को विजय मिली। उसके बाद प्रधानमंत्री रेक्सेप मेज़दानी राष्ट्रपति बने।

अल्बानिया की ७० प्रतिशत भूमि पर्वतीय प्रदेश है, उसका कोराप पर्वत २७६४ मीटर ऊँचा है। अधिकांश आबादी पश्चिमी समुद्र तट के नीचे भूभागों पर है, जहाँ खेती होती है। पहाड़ी क्षेत्रों में अक्सर भूचाल आते हैं। पहाड़ी क्षेत्रों की जलवायु बड़ी ही कष्टकर होती है: जाड़ों में वहाँ जबर्दस्त हिमपात होता है। समुद्रतटीय क्षेत्रों में एक विशेष प्रकार की भूमध्य सागरीय जलवायु रहती है। ग्रीष्म ऋतु में धूप के साथ कुछ गर्मी रहती है, और शीत ऋतु में सामान्य ठंडक होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अल्बानिया आर्थिक दृष्टि से विशेष समृद्ध नहीं है। लगभग ५६ प्रतिशत लोग खेती–किसानी करते हैं। मक्का, जैतून, आलू, गन्ना, विभिन्न प्रकार की सब्जियों, फलों और गेहूँ की उत्पत्ति होती है। लोग पशु–पालन में विशेष रुचि लेते हैं। खनिजों में क्रोमाइट, तांबा और निकिल मिलते हैं और उनका निर्यात होता है.। थोड़ा–बहुत तेल, भूरा कोयला और बिजली भी बाहर भेजी जाती है। अल्बानिया में रसायन, सीमेन्ट व खाद के भी कारखाने हैं। कुछ कपड़े, लोहे और तेल–शोधन के भी कारखाने लगे हैं। इन सभी उद्योगों को लेकर पर्यावरण के सवाल उठने लगे हैं।

अल्बानिया का समस्त क्षेत्र २८७५० वर्ग किलोमीटर है। आबादी ३३,६३,००० है। साम्यवादी दल के अनुशासन में वह प्रजातंत्रात्मक है। जातीय दृष्टि से ६८ प्रतिशत लोग स्थानीय हैं; १.८ प्रतिशत यूनानी, शेष में कुछ मेसोडोनिया और कुछ जिप्सी (रोमा) आदि हैं। शासन का माध्यम अल्बानिया की अपनी भाषा है। अधिकांश लोग ईश्वरीय सत्ता पर विश्वास नहीं करते। विश्वास करने वाले लोगों में ६५ प्रतिशत इस्लाम के अनुयायी और ३३ प्रतिशत विभिन्न ईसाई सम्प्रदायों के हैं। सबसे बड़ी मुद्रा लेख है और वह १०० क्विण्डरों में विभाजित होती है। आर्थिक दृष्टि से अल्बानिया को यूरोप के गरीब देशों में गिना जाता है।

अल्बामा संयुक्त राज्य अमेरिका के पूर्व–दक्षिण एवं केन्द्रीय भाग का एक राज्य। इसके उत्तर में टेनेसी, पूर्व में जार्जिया, पश्चिम में मिसीसिपी, तथा दक्षिण में फ्लोरिडा एवं मैक्सिको की खाड़ी है। छताहोची नदी अधिकांश में इसकी सीमा बनाती है। इस नदी के अतिरिक्त मोबाइल, अल्बामा, टॉम बिगवी और टेन्सा नदियाँ भी इसे अभिसिंचित करती हैं। सभी नदियाँ दक्षिण की ओर बहती हुई मैक्सिको की खाड़ी में समाहित होती हैं।

अल्बामा राज्य का नामकरण विशेष रूप से अल्बामा नदी के आधार पर ही हुआ है; और अल्बामा नदी का नामकरण यहाँ के मूल आदिवासियों अल्बामा अथवा अलीबामोन के आधार पर हुआ था, जो क्रीक राज्य–संघ के सदस्य थे। अल्बामा के टीलों पर जो पुरातात्त्विक खुदाइयाँ हुई हैं, उनसे यह संकेत मिलता है कि आज से कोई ६ हज़ार साल पहले भी वहाँ लोग रहा करते थे। यूरोपीय लोगों के वहाँ पहुँचने के समय उत्तरी भाग में चिक्सा और चिरोकी, तथा दक्षिण में क्रीक तथा चोक्ता जातियों के लोग रहते थे।

अल्बामा क्षेत्र में सबसे पहले स्पेन के लोग पहुँचे थे। कहा जाता है, १५१६ में अलाजो, कीफाड़ा और १५२८ में पानफिडो द नरवेज वहाँ पहुँचे थे। अक्टूबर १८ सन् १५४० में चाकटाऊ आदिवासियों को युद्ध में पराजित कर हरनान्दो द सोतो उस क्षेत्र में पहुँचे थे, जहाँ आज मोबाइल शहर है। फ्रांस के लोगों ने १७०२ में फोर्ट लुई तथा डाफिन बन्दरगाह के क्षेत्र पर अधिकार किया था, और फिर १७११ में मोबाइल पहुँच गये थे। सन् १७६३ में पेरिस में हुई एक सन्धि में अंग्रेजों ने भी इस क्षेत्र में अपनी सत्ता स्थापित कर ली। स्पेन को लोगों ने सन् १७८३ तक मोबाइल पर तथा मैक्सिको की खाड़ी के तटीय क्षेत्र पर फिर से अधिकार कर लिया था। संयुक्त राज्य अमेरिका की सेनाओं ने सन् १८१२ के युद्ध के बाद इस सम्पूर्ण क्षेत्र को अपने अधिकार में कर लिया था। सन् १८१६ की २४ दिसम्बर को अल्बामा संयुक्त राज्य अमेरिका का औपचारिक रूप से बाइसवाँ राज्य बन गया। सन् १८६१ में अमरीकी गृहयुद्ध के बाद अमरीकी राज्यों का जो परिसंघ बना था, अल्बामा उसका संस्थापक सदस्य हो गया था। अल्बामा की आर्थिक व्यवस्था प्रारम्भ में कृषि उत्पादन पर ही निर्भर रही थी; लेकिन १६८० से वहाँ उद्योग–धन्धे खड़े होना आरम्भ हो गये थे।

अल्बामा की राजधानी माण्टगोमरी है। उसका सूत्रवाक्य है, 'हम में अपने अधिकारों की सुरक्षा का साहस है।' उसके दो उपनाम 'हार्ट ऑफ डिक्सी', और 'काटन स्टेट' भी प्रचलित हैं। 'अल्बामा' नाम का उसका अपना प्रादेशिक गीत है। 'सदर्न पाइन' उसका राजकीय वृक्ष है, 'कमीलिया' राजकीय फूल और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'यलो हैमर' राजकीय पक्षी है। उसका पूरा क्षेत्रफल १ लाख ३३ हजार ६ सौ पन्द्रह वर्ग किलोमीटर है, जिसके बीच २,४२६ किलोमीटर जलीय क्षेत्र है। समुद्रतटीय क्षेत्रफल ८५ किलोमीटर है। सबसे ऊँचा स्थान चेआहा शिखर है, ऊँचाई ७३४ मीटर खाड़ी के तट का क्षेत्र सबसे निम्न बिन्दु है। उसकी जनसंख्या ४ करोड़ से कुछ अधिक है। संयुक्त राज्य के सर्वोच्च संवैधानिक संस्थान में उसके दो सीनेटर और सात प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर चुनाव में उसके ६ मत हैं।

अल्बामा आर्थिक दृष्टि से बड़ा ही समृद्ध है। सोयाबीन, मक्का, फलों, कपास आदि की वहाँ खेती होती है। इन सभी के साथ पशुधनों में दूध, अण्डा, जानवरों आदि का भी वहाँ व्यापार होता है। मछलियों से भी कोई ४४ लाख डालरों की आय होती है। खनिज पदार्थों में कोयला, पेट्रोलियम, प्राकृतिक गैस आदि के व्यवसाय बड़े ही समृद्ध हैं। सर्वाधिक आय उद्योग–धन्धों से होती है, जिसके अन्तर्गत वस्त्र उद्योग, कागज के कारखाने, बिजली का सामान, रबर और प्लास्टिक की वस्तुएँ और विभिन्न प्रकार के रसायन आते हैं।

अल्बामा का सबसे बड़ा नगर बरमिंघम है। उसके बाद मोबाइल, माण्टगोमरी, हंसबिले, टस्कालोसा, दोथान, गैटसदेन, देक्तूर, प्रीचर्ड और लोरेन्स आते हैं। इस राज्य के लोग यह सब होते हुए भी आर्थिक दृष्टि से तो विशेष धनवान् नहीं हैं, फिर भी ग्रामीण संस्कृति की दृष्टि से विशेष रूप से अपने अफ्रीकी–अमरीकी समुदायों को लेकर समृद्ध माने जाते हैं।

अल्मोड़ा भारत के उत्तरांचल प्रदेश में स्थित ज़िला मुख्यालय। पूरा ज़िला सुन्दर पहाड़ी क्षेत्र है। इस क्षेत्र को कूर्मांचल (कुमायूँ) कहते हैं। कूर्म अथवा कछुआ इसलिए कहते हैं, क्योंकि जिस पहाड़ी पर यह बसा है, वह कछुए की पीठ जैसी है। पूरे ज़िले का क्षेत्रफल २५०० वर्ग कि०मी० है जिसमें अल्मोड़ा नगर का क्षेत्रफल मात्र १५ वर्ग कि०मी० है।

अल्मोड़ा कौशिकी (कोसी) तथा शाल्मली (सुपाल) नदियों के बीच 'काषाय पर्वत' की शृंखला पर समुद्रतल से १६४६ मीटर की ऊँचाई पर बसा है। यहाँ का तापमान ४.० डिग्री सें० से २९.० डिग्री सें० के बीच रहता है, और वर्षा ८२८ मि०मी० वार्षिक होती है। जलवायु के दृष्टिकोण से यह अत्यन्त उपयुक्त स्थान है। ऐतिहासिक दृष्टि से अल्मोड़ा अनेक वर्षों तक चन्द्र वंश के राजाओं की राजधानी रहा। वर्ष १७६० ई० में इस पर नेपाल के गोरखों का अधिकार हो गया। वर्ष १८१५ ई० में अंग्रेजों ने इस पर अपना अधिकार कर लिया। यहाँ पर अनेक स्वाधीनता संग्राम सेनानी, हिन्दी के मूर्द्धन्य कवि एवं साहित्यकार तथा प्रशासनिक अधिकारी हुए हैं।

अल्मोड़ा जिले में मुख्यालय से ५० कि०मी० दूर, दूसरा प्रमुख नगर रानीखेत है जो समुद्रतल से १८२६ मी० (६००० फीट) की ऊँचाई पर है। यह भी बहुत सुन्दर स्थान है। इसके अतिरिक्त कौसानी १८६० मी० की ऊँचाई पर स्थित एक रमणीक स्थान है। कौसानी अभी भी एक पहाड़ी गाँव की समूची नैसर्गिक सुषमा समेटे हुए है। इन सभी स्थानों से दूरस्थ हिमाच्छादित हिमालय की श्रेणियाँ, दर्शकों के मन को मुग्ध कर लेती हैं। अल्मोड़ा नगर में नन्दा देवी का पवित्र एवं प्राचीन मन्दिर है। मुख्यालय से लगभग ३८ कि०मी० की दूरी पर देवदार वन अथवा दारुकावन में स्थित प्रसिद्ध जागेश्वर तीर्थ है, जहाँ नागनाथ अथवा नागेश महादेव का प्रसिद्ध ज्योतिर्लिंग है। सम्पूर्ण जागेश्वर परिसर में १२४ मन्दिर हैं, जिनमें अनेक वास्तुकला की दृष्टि से अद्वितीय हैं। यहाँ शिवरात्रि तथा श्रावण मास में दर्शन का विशेष महत्त्व है। ज़िला मुख्यालय से १७ कि०मी० दूर कटारमल में इस क्षेत्र के एकमात्र सूर्य मन्दिर के भग्नावशेष (२११६ मी० ऊँचाई) अभी भी दर्शनीय हैं।

ज़िले का पूरा क्षेत्र सुन्दर बुरांस, देवदारु, चीड़ तथा अन्य वृक्षों के वनों से ढका है। मुख्य फसलों में गेहूँ, बाजरा, फल, शाक–भाजी आदि हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अल्लाह अरबी भाषा में ईश्वर का पर्यायवाची शब्द। इस्लाम मतावलम्बी विभिन्न विशेषण जोड़कर केवल इसी नाम को मानते हैं। 'अल्लाहो अकबर' का अर्थ है 'अल्लाह सबसे बड़ा है'। इसी प्रकार 'बिसमिल्लाह' अथवा 'बिसमिल्लाह रहमानुर्रहीम' का अर्थ है 'किसी कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व अल्लाह का नाम लेना, जो कि सब पर दया करने की शक्ति रखता है तथा सब पर दया करता है'। 'लाइलाहइल्लिल्लाह' का अर्थ है 'अल्लाह के अतिरिक्त और कोई पूजनीय नहीं है'। फ़ारसी भाषा में ईश्वर का पर्यायवाची शब्द 'खुदा' है।

अवतारवाद 'अवतार' शब्द का अर्थ है, उतरना अर्थात् ऊपर से नीचे आना ('तृ' धातु में 'अव' उपसर्ग)। यह शब्द देवों के लिए प्रयुक्त होता है, जो मनुष्य रूप में इस पृथ्वी पर आते हैं (अवतीर्ण होते हैं) और तब तक रहते हैं जब तक कि वह उद्देश्य, जिसे लेकर वे यहाँ आते है, पूर्ण नहीं हो जाता। भारतीय मान्यता के अनुसार और जैसा कि स्वयं श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है (अध्याय ४ श्लोक ७ तथा ८) :–

यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽत्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधुनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।

(हे भारत (अर्जुन) ! जब–जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब–तब मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् प्रकट करता हूँ। साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए और दूषित कर्म करने वालों का नाश करने के लिए तथा धर्म की स्थापना करने के लिए, मैं युग–युग में प्रकट होता हूँ (अवतार लेता हूँ)।

भारतीय मान्यता के अनुसार ईश्वर का जन्म कई बार हो चुका है और भविष्य में कई बार हो सकता है। भारतीय जन–मानस में यह धारणा समायी हुई है कि संसार के कार्यों में जब गड़बड़ी होती है, तो भगवान् स्वयं भौतिक शरीर में पृथ्वी पर अवतार लेकर सारी कुव्यवस्थाओं को ठीक करते हैं। भारतीय अवतार सिद्धान्त युगों एवं मन्वन्तरों के सिद्धान्त से सम्बन्धित है। भगवान् विष्णु के दस अवतार कहे जाते हैं, यथा – मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध एवं कल्कि। भारतीय पौराणिक धारणा के अनुसार अन्तिम अवतार 'कल्कि' अभी होना शेष है और यह कलियुग के अन्तिम चरण में होगा।

अवध प्राचीन कोसल राज्य का नाम। ऐतिहासिक काल में कोसल काफी बड़ा राज्य था। छठी शताब्दी ईस्वी के आसपास जिन सोलह राज्यों (महाजनपदों) में विभाजित था, उनमें कोसल (कोशल) भी एक था। उसके तीन प्रधान नगर थे – अयोध्या, साकेत तथा श्रावस्ती। अयोध्या के विषय में वाल्मीकि रामायण (बालकाण्ड, पंचमसर्ग,श्लोक ५/६) में इस प्रकार वर्णन है :–

"कोशल नाम से प्रसिद्ध एक बहुत बड़ा जनपद है, जो सरयू नदी के किनारे बसा हुआ है। पह प्रचुर धन–धान्य से सम्पन्न, सुखी और समृद्धिशाली है। उसी जनपद में अयोध्या नाम की एक नगरी है, जो समस्त लोकों में विख्यात है। उस पुरी को स्वयं महाराज मनु ने बनवाया और बसाया था।" ऊपर के वर्णन से अयोध्या की प्राचीनता सिद्ध होती है। रामायण के अनुसार श्री राम के पिता राजा दशरथ कोसल के राजा थे और अयोध्या उनकी राजधानी थी। छठी शताब्दी ई०पू० उसका राजा प्रसेनजित था। यह निश्चित रूप से नहीं ज्ञात है कि कब सारा कोसल राज्य अयोध्या नाम से विख्यात हो गया। आधुनिक अवध नाम अयोध्या का ही विकृत रूप है। अयोध्या, भारत की सात धार्मिक दृष्टि से पवित्र पुरियों में से एक है, यथा : अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार), काशी, कांची, अवन्तिका (उज्जैन)। पुरी द्वारावती (द्वारका) चैव सप्तैते मोक्षदायका :।।

श्रीराम का जन्म–स्थान होने के कारण अयोध्या का विशेष महत्त्व है। ईस्वी सन् की चौथी शताब्दी में अवध, गुप्त साम्राज्य का भाग था। सातवीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शताब्दी में यह हर्षवर्धन तथा नौवीं शताब्दी में गुर्जर–प्रतिहार साम्राज्य का भाग रहा। वर्ष ११९२ ई० में तरावड़ी युद्ध जीतने के बाद गुहम्मद गोरी के एक सहायक मलिक हिसमुद्दीन आगुल बक ने अवध पर अधिकार कर लिया। वहाँ की उर्वरा भूमि तथा स्वास्थ्यप्रद जलवायु के कारण, अनेक मुसलमान अमीर क्रमिक रीति से अवध आये और यहीं बस गये। वर्ष १३४० ई० में सुल्तान मुहम्मद तुगलक के शासनकाल में अवध, दिल्ली सल्तनत का एक भाग रहा। वर्ष १५२६ ई० में अवध पर मुग़लों का शासन हो गया। अकबर ने अपने राज्य को जिन पंद्रह सूबों में बाँटा था, उनमें अवध एक था। वर्ष १७२४ ई० में अवध के मुग़ल सूबेदार सआदत खाँ ने अपने को आंशिक रूप से स्वतंत्र कर लिया और यहाँ पर नवाब वंश के शासन की स्थापना की। प्रारम्भ में अवध सूबे की राजधानी अयोध्या के पास फैज़ाबाद में रही। वर्ष १७७५ ई० में यहाँ का नवाब आसफुद्दौला हुआ, जिसने राजधानी को फ़ैज़ाबाद से हटाकर लखनऊ कर लिया। किन्तु सूबे या प्रान्त का नाम अवध, १९४७ ई० (भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति) तक चलता रहा। वर्ष १८५६ में अवध प्रान्त के अन्तिम नवाब वाज़िद अली शाह को कुशासन के अभियोग में अंग्रेजों ने हटाकर इसे भारत के अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया था। अंग्रेजों ने आगरा और अवध के दोनों सूबों को मिलाकर 'यूनाइटेड प्रॉविन्सेज़ ऑफ़ आगरा एण्ड अवध' के नाम से पृथक् राजनैतिक प्रान्त बना दिया तथा उसकी राजधानी प्रयाग के पास इलाहाबाद में रखी। इस प्रान्त के गवर्नर सर हरकोर्ट के समय में 'यूनाइटेड प्रॉविन्सेज' की राजधानी धीरे–धीरे बदलकर लखनऊ हो गयी।

आधुनिक समय में अवध क्षेत्र उत्तर प्रदेश राज्य का अंग है तथा इसमें चौदह जनपदों को सम्मिलित किया जाता है यथा – लखीमपुर–खीरी, सीतापुर, हरदोई, उन्नाव, रायबरेली, लखनऊ, बाराबंकी, प्रतापगढ़, सुल्तानपुर, फैज़ाबाद (अयोध्या), अम्बेदकर नगर, गोण्डा, बलरामपुर, बहराइच (श्रावस्ती)। ये सभी नगर रामायण कालीन कोसल (उत्तर कोसल) जनपद के अन्तर्गत ही आते हैं। उत्तर कोसल के दक्षिण का भाग, जो मध्यप्रदेश तथा छत्तीसगढ़ तक चला जाता है, दक्षिण कोसल कहलाता था।

अवधी भाषा अवधी पूर्वी हिन्दी की सर्वप्रमुख बोली है। 'अवधी' शब्द का सम्बन्ध 'अयोध्या' से है। 'अयोध्या' का ही विकसित रूप 'अवध' है, जिसके आधार पर इस भाषा को 'अवधी' नाम दिया गया है। भाषा के अर्थ में 'अवधी' नाम का प्राचीनतम प्रयोग अमीर खुसरो द्वारा अपने 'नुहसियर' में किया गया है। अबुल फजल की 'आइने अकबरी' में भी यह शब्द उपलब्ध होता है। अवधी का उद्भव सामान्यतः अर्द्धमागधी अपभ्रंश से माना जाता है। अवधी भाषा का इतिहास लगभग १००० वर्ष पुराना है, किन्तु इसके पूर्व के कतिपय अभिलेखों एवं ग्रन्थों में भी इसके बीज उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ, २०० ई० पूर्व से २०० ई० के मध्य के पिपरहट, सोहगौरा, सारनाथ आदि के अभिलेखों में कुछ अवधी तत्त्व विद्यमान हैं। मुख्य रूप से सोहगौरा में ये तत्त्व अत्यंत स्पष्ट हैं। तत्पश्चात् 'प्राकृत पैंगलम्' (६वीं सदी से १४वीं सदी), 'राउलबेल' (११वीं सदी), 'उक्तिव्यक्ति प्रकरण' (१२वीं सदी) तथा 'कीर्तिलता' (१४वीं सदी) आदि अवहट्ट रचनाओं में भी अवधी के रूप स्पष्ट हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त रचनाओं का काल यद्यपि काफी बाद का है, किन्तु इनमें प्रयुक्त भाषा पुरानी है।

अवधी को पूर्वी, कोसली तथा बैसवाड़ी नाम भी दिये गये हैं, किन्तु भाषा विस्तार की दृष्टि से ये नाम अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्ति के दोष से युक्त हैं। यथा, बैसवाड़ा अवधी क्षेत्र का एक भाग मात्र है, जिसके अंतर्गत उन्नाव, लखनऊ, रायबरेली तथा फतेहपुर जिलों के कुछ भाग आते हैं, जहाँ बैस राजपूतों की प्रधानता के कारण उसे बैसवाड़ा कहा जाता है और बैसवाड़ी इसी क्षेत्र की बोली है। कोसली से आशय कोशल राज्य की भाषा से है। यदि इस नाम को स्वीकार कर लिया जाये, तो छत्तीसगढ़ी भाषा भी इसके अंतर्गत आ जायेगी, हालाँकि इस नाम का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग बहुत कम हुआ है। पूर्वी से तात्पर्य वस्तुतः पूरब में बोली जाने वाली बोली से है। कभी–कभी अवधी तथा भोजपुरी दोनों को ही पूर्वी के नाम से पुकारा जाता है; किन्तु वास्तव में पूर्वी शब्द, पूर्वी हिन्दी के लिए ही प्रयुक्त होता है, स्पष्टतः केवल 'अवधी' के लिए नहीं। इसके साथ ही साथ लोकव्यवहार में 'अवध' शब्द के अत्यधिक प्रचलन के कारण उससे सम्बद्ध बोली का नाम अन्य नामों की तुलना में अधिक प्रचलित हुआ और आज तक वही मान्य एवं स्वीकृत है।

यद्यपि 'अवधी' नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि इसका क्षेत्र केवल अवध प्रान्त है, किन्तु वस्तुतः इसकी सीमा तथा अवध प्रदेश की सीमा पूर्णतया एक नहीं कही जा सकती। अवधी लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, खीरी, फ़ैज़ाबाद, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़ तथा बाराबंकी में तो बोली ही जाती है; किन्तु इन जिलों के अतिरिक्त गंगापार इलाहाबाद, कानपुर तथा मिर्ज़ापुर में और जौनपुर के कुछ हिस्सों में बोली जाती है। बिहार के मुसलमान भी अवधी बोलते हैं। यही कारण है कि मिश्रित अवधी का क्षेत्र–विस्तार मुजफ्फरपुर तक है। अवधी बोलने वालों की संख्या लगभग चार करोड़ है।

भाषागत अध्ययन की दृष्टि से अवधी की तीन विभाषाएँ हैं–पश्चिमी, केन्द्रीय तथा पूर्वी। खीरी, सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव तथा फतेहपुर की अवधी पश्चिमी, बहराइच, बाराबंकी तथा रायबरेली की अवधी केन्द्रीय तथा गोंडा, फ़ैज़ाबाद, सुल्तानपुर, इलाहाबाद, जौनपुर व मिर्जापुर की अवधी पूर्वी के अन्तर्गत आती है। अवधी प्रधान रूप से नागरी लिपि में लिखी जाती है किन्तु इसके क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले कतिपय पुराने लोगों में तथा वही–खातें के कामों में कैथी एवं महाजनी लिपि का प्रचार रहा है। कुछ लोगों द्वारा अवधी भाषा के लिए फ़ारसी लिपि का भी प्रयोग किया गया है।

अवधी की भाषागत विशेषताओं पर दृष्टि निक्षेप करते हुए यह स्पष्ट होता है कि खड़ी बोली के आकारांत दीर्घ रूप जैसे, घोड़ा, अवधी में घोड़ अथवा घोड़वा हो जाते हैं। संज्ञा तथा विशेषण में लिंग के स्तर पर कोई कठोर नियम इस भाषा में नहीं हैं। व्यंजनान्त संज्ञा पदों के कर्त्ता एकवचन के रूपों में 'उ' लगता है, जैसे–घरु, मनु, वरु आदि। इस भाषा में कर्ताकारक के 'ने' अनुसर्ग का अभाव है। कर्म–सम्प्रदान का अनुसर्ग अवधी में 'का' 'के' है। कर्म–सम्प्रदान का अनुसर्ग 'मा' है। सर्वनामों के विषय में अवधी भाषा में पर्याप्त भिन्नता है। इसमें सम्बन्ध कारक के सर्वनाम 'तोर', 'मोर' आदि का प्रयोग किया जाता है। वर्तमान काल के सहायक क्रिया के रूप पश्चिमी हिन्दी के 'है' आदि, अवधी में, 'अहै', 'बाटै' हो जाते हैं। अवधी के अतीतकालीन के घटमान के रूप में कोई प्रत्यय नहीं लगता। पश्चिमी हिन्दी के भूतकाल में कोई प्रत्यय नहीं लगता। किन्तु अवधी में इस हेतु 'इसि' या 'इस्' प्रत्यय लगाया जाता है, जैसे–कहिसि, कहिस् आदि।

अवधी में प्रचुर साहित्य रचा गया है। प्रेममार्गी सूफी कवियों– मुल्ला दाऊद, कुतुबन, मंझन, जायसी, नूर मुहम्मद, उसमान आदि ने इस भाषा में अपने–अपने काव्य–ग्रन्थों की रचना की है। गोस्वामी तुलसीदास ने इसे अपनी विश्वप्रसिद्ध कृति 'रामचरितमानस' की रचना से अलंकृत किया है। वर्तमान युग में अवधी क्षेत्र की साहित्यिक भाषा अवधी है, किन्तु साधारण जनता द्वारा भी पारस्परिक बातचीत में प्रायः अवधी का व्यवहार किया जाता है।

अवधी साहित्य अवधी भाषा का इतिहास लगभग एक हजार वर्ष पुराना है तथा साहित्य की दृष्टि से रोडाकृत 'राउलबेल' को सबसे प्राचीन अवधी ग्रंथ माना जाता है, जिसकी रचना ग्यारहवीं शती में की गयी थी। इसके अतिरिक्त 'संदेश रासक', 'कीर्तिलता', 'हेमचन्द्र व्याकरण', 'कुमार पाल प्रतिबोध', 'प्रबंध चिंतामणि', 'वर्ण रत्नाकर', 'प्राकृत पैंगलम', 'उक्तिव्यक्ति प्रकरण', 'सिद्धों के चर्यागीत', 'पृथ्वीराज रासो', कबीर की 'रमैनी' तथा 'साखियों' आदि रचनाओं में भी अवधी का प्रयोग हुआ है। इन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभी कृतियों में अवधी के उस साहित्यिक रूप की झलक परिलक्षित की जा सकती है, जो आगे चलकर सन् १३७६ ई० में मुल्ला दाऊद कृत 'चंदायन' में पूर्णतया स्पष्ट हुई है।

अवधी का प्रारंभिक रूप वस्तुतः गीतात्मक ही रहा है। मध्यकालीन पूर्वार्द्ध के हिन्दी साहित्य की अधिकांश रचनाएँ अवधी में ही हैं। संतकाव्य, प्रेमकाव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य तथा रीतिकालीन धाराओं में से प्रथम तीन का सम्बन्ध मुख्य रूप से अवधी साहित्य के इतिहास से है। अवधी साहित्य में सामान्यतः पद्यात्मक रचनाएँ ही लिखी गयीं। इसमें धार्मिक तथा लोकाश्रयी रचनाएँ तो पर्याप्त हैं; किन्तु दरबारी साहित्य का प्रायः अभाव है। अवधी साहित्य के इतिहास में लगभग ६०० ऐसे कवियों का विवरण प्राप्त होता है जिनका कृतित्व उल्लेखनीय है। उनमें से १०० से अधिक कवि रामभक्ति शाखा, लगभग १०० कवि कृष्णभक्ति शाखा, लगभग ५० कवि संतकाव्य धारा तथा लगभग डेढ़ दर्जन सूफी काव्य धारा से सम्बन्धित हैं। इनके अतिरिक्त अवशिष्ट कवि स्वतंत्र अथवा लोकाश्रयी काव्यधारा से सम्बद्ध रहे हैं।

साहित्य की दृष्टि से अवधी एक महत्त्वपूर्ण विभाषा है तथा मध्ययुग में काव्यभाषा के रूप में अवधी को व्यापक रूप से प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। अपने क्षेत्र के अतिरिक्त सुदूर क्षेत्रों में अवधी भाषा में रचनाओं का सजृन किया जाता रहा। साहित्यिक अवधी का प्रथम प्राप्त ग्रंथ मुल्ला दाऊद कृत 'चंदायन' है। अवधी को काव्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय सूफी मुल्लादाऊद को ही दिया जाता है। 'चंदायन' की भाषा में दृष्टिगत होने वाली साहित्यिक प्रौढ़ता इस बात का प्रमाण है कि अवधी में काव्य–रचना की परम्परा कुछ पहले से शुरू हो गयी थी। आगे चलकर लालच दास कृत 'हरिचरित' (१४०० के बाद का) सूरजदास के 'रामजन्म' (१४वीं सदी का अंतिम चरण) तथा ईश्वरदास की 'सत्यवती कथा' (१५०१ ई०) आदि में अवधी का प्रयोग हुआ है। तत्पश्चात् कुतुबन कृत 'मृगावती' (१५०३ ई०) अवधी की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। कुतुबन के पश्चात् मलिक मुहम्मद जायसी ने यों तो अवधी में 'पदमावत', 'अखरावट', 'आखिरी कलाम', 'चित्ररेखा', 'कन्हावत' आदि कई ग्रंथ लिखे हैं : किन्तु 'पदमावत' ही उनकी एक ऐसी श्रेष्ठ कृति है, जिसमें अवधी अपने पर्याप्त ठेठ रूप में प्रयुक्त होते हुए भी, अभिव्यंजना के स्तर पर अत्यंत समर्थ और सशक्त है। जायसी के पश्चात् सूफी प्रेमाख्यानक कवियों की श्रृंखला में मंझन, उसमान, शेख नबी, आलम, नूर मुहम्मद, कासिम शाह, हुसैन अली, शेख निसार आदि का उल्लेख किया जा सकता है, जिन्होंने अवधी साहित्य को समृद्ध बनाने में अपना योगदान दिया।

काव्यभाषा के रूप में अवधी का उत्कृष्ट रूप गोस्वामी तुलसीदास विरचित 'रामचरितमानस' में देखने को मिलता है। मानस में जिस प्रकार की बिंबात्मकता युक्त अवधी भाषा के दर्शन होते हैं, वैसे किसी अन्य कृति में प्रायः दुर्लभ हैं। वस्तुतः जायसी कृत 'पदमावत्' और तुलसीकृत 'रामचरित मानस' अवधी के अमर महाकाव्य हैं। इसके अतिरिक्त अवधी में रचना करने वाले रामभक्त कवियों में स्वामी अग्रदास, नाभादास, हृदयराम, प्राणचंद चौहान, रामचरणदास, कृपानिवास आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

मध्यकाल का उत्तरार्द्ध अर्थात् रीतिकाव्य, ब्रज की भाषायी परिधि में ही आबद्ध रहा है। कवि–आचार्यों ने रस, अलंकार, नखशिख–भेद तथा पिंगल सम्बन्धी लक्षण–ग्रन्थों की रचना हेतु यद्यपि ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है तथापि इस युग में कुछ ऐसे भी कवि हुए जिन्होंने, अवधी में भक्ति, शृंगार, प्रकृति, नीति, आख्यान तथा लोकजीवन–परक काव्य–सर्जना कर अपने अनुभवों के माध्यम से जनजीवन का उदबोधन करते हुए, उन्हें नवीन जीवन–दृष्टि प्रदान की। इस दृष्टि से यशोदानन्दन, बाबा लक्ष्मणदास, भवानीशंकर, गिरिधर कविराय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

रीतिकाल में अवधी को नवीन दिशा, प्रेरणा एवं मार्गदर्शन न प्राप्त हो सकने के कारण उसकी गति कुछ मन्द पड़ गयी थी, किन्तु आधुनिक युग में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुकूल परिवेश पाते ही अवधी की रचना–धर्मिता विभिन्न विसंगतियों से मुक्त होकर पुनः स्वतंत्र रूप से उभर कर साहित्य जगत् में उपस्थित, दृष्टिगत होने लगी। आधुनिक अवधी साहित्य की विकास–यात्रा के विभिन्न सोपान इस बात का प्रबल प्रमाण हैं कि अवधी साहित्य पद्य और गद्य दोनों ही विधाओं में पुष्पित और पल्लवित हुआ है, हालाँकि, पद्यात्मक रचनाओं की अपेक्षा गद्यात्मक रचनाओं का समावेश इस साहित्य में बहुत कम हुआ है।

आधुनिक अवधी काव्यधारा से सम्बद्ध कवियों के रूप में बलभद्र प्रसाद दीक्षित 'पढ़ीस,' डॉ० द्वारकाप्रसाद मिश्र, चन्द्रभूषण त्रिवेदी 'रमई काका', गुरु प्रसाद सिंह 'मृगेश,' वंशीधर शुक्ल, त्रिलोचन शास्त्री, पारसनाथ मिश्र 'अमर', जगदम्बा प्रसाद मिश्र 'हितैषी', ब्रजभूषण त्रिपाठी 'ब्रजेश', दयाशंकर दीक्षित 'देहाती', केदारनाथ त्रिवेदी 'नवीन' आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने अपने समसामयिक संदर्भों से जुड़े रहकर राष्ट्रीय चेतना तथा देशप्रेम–परक, मानवतावादी चेतनापरक, सामाजिक समस्या तथा सुधारपरक, ग्राम्य–जीवन अथवा कृषिपरक, सांस्कृतिक भावपरक, प्रकृति पर्यवेक्षण परक, हास्यव्यंग्यपरक, चरितकाव्य या प्रबन्धकाव्यपरक, रसपरक आदि प्रवृत्तियों से प्रेरित रचनाएँ की हैं। इन प्रवृत्तियों ने अवधी काव्य की संचेतना में प्राणतत्त्व सञ्चरण का कार्य किया है।

गद्य के क्षेत्र में लेखकों ने अवधी की महत्ता को तिरोहित नहीं होने दिया। खड़ी बोली गद्य की विभिन्न विधाओं से प्रेरित होकर आधुनिक अवधी गद्यकारों ने भी निबंध, कहानी, उपन्यास, नाटक, पत्र आदि विधाओं पर अपनी लेखनी चलायी। इस दृष्टि से प्रथम निबंधकार के रूप में पं० प्रतापनारायण मिश्र का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने 'ब्राह्मण' नामक मासिक पत्र का सम्पादन करते हुए अनेक उत्कृष्ट निबन्ध प्रस्तुत किये। इसके अतिरिक्त 'पढ़ीस', रमई काका, 'भ्रमर' आदि ने भी अवधी में अनेक निबंध लिखे हैं। अवधी में नाटक लिखने वालों की शृंखला में पढ़ीस, रमई काका, वंशीधर शुक्ल, अमृतलाल नागर, लक्ष्मण प्रसाद मिश्र, गंगाप्रसाद मिश्र, इन्दरचन्द्र बौड़म, श्रीमती सुमित्रा कुमारी सिन्हा आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

अवधी में लोककथाओं का विपुल भंडार है तथा अनेक मौलिक सर्जनात्मक कथाएँ भी लिखी गयी हैं किन्तु कथा–साहित्य की दृष्टि से आधुनिक अवधी में कहानियों का श्रीगणेश करने वाले 'पढ़ीस' जी माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त पं० वंशीधर शुक्ल, गंगाप्रसाद मिश्र तथा शीतला शंकर 'शीतलेश' जी की कहानियाँ भी प्रसिद्ध हैं। अवधी में उपन्यास साहित्य का अस्तित्व एक दृष्टि से मुख्यतः मनोहरश्याम जोशी कृत 'नेताजी कहिन' तथा 'रमई काका' का 'कलुआ बैल' शीर्षक उपन्यास है।

हिन्दी गद्य के क्षेत्र में पत्र सहित्य का अपना एक स्वत्रंत्र अस्तित्व हैं। अवधी में इस कोटि के अंतर्गत आने वाली रचनाओं का अभाव है, फिर भी जिन लेखकों द्वारा इस विधा में अपनी छवि उभारने का कुछ प्रयास किया गया है, उनके अवधी में लिखे गये पत्रों को ग्रामीण जीवन का दस्तावेज कहा जा सकता है। यह उल्लेखनीय है कि निराला जी ने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी को अवधी में दो पत्र लिखे थे। इसी प्रकार अवधी गद्य साहित्य के यथार्थपरक दृष्टिकोणों की शोभा बढ़ाने वाले कतिपय अन्य उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार अवधी का समग्र साहित्य अपनी परम्परा और प्रकृति के अनुरूप ही विकसित हुआ है। लोक से उद्भूत एवं लोक से रूपान्वित अवधी साहित्य लोक के लिए समर्पित हैं। जनजीवन के सहज, सरल और सात्विक उद्गारों को उसमें वाणी मिली है तथा सर्वांगीण विकास की दृष्टि से उसका भविष्य उज्ज्वल है।

अवनीन्द्र नाथ ठाकुर (१८७१–१९१५ ई०) आधुनिक भारतीय चित्रकला के जन्मदाता अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने बंगाल चित्रशैली की स्थापना की। उनका जन्म १८७१ ई० में जोड़ासाँको में हुआ था। घर के कलात्मक वातावरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। बचपन में साहित्य, संगीत और चित्रकला का अध्ययन करने के बाद इटली के प्रसिद्ध चित्रकार सिनोर गिलहार्डी तथा चार्ल्स एल० पामर से कला शिक्षा प्राप्त की। धीरे–धीरे उनका झुकाव तैलचित्रण से जलरंग की ओर और विदेशी प्रभाव से भारतीय लघुचित्र शैलियों की ओर बढ़ने लगा। इसी समय वह कलकत्ता आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल श्री ई०बी० हेवल के सम्पर्क में आये, जिनकी देख–रेख में उन्होंने 'गीत–गोविन्द', बुद्ध–जन्म, बुद्ध और सुजाता, शाहजहाँ की मृत्यु जैसे उत्कृष्ट चित्रों का निर्माण किया। १९०२ के आसपास जापानी विचारक ओकाकुरा उनके यहाँ आये तथा अवनीन्द्र नाथ उनसे प्रभावित हुए। ओकाकुरा ने जापान से तीन चित्रकारों को भारतवर्ष भेजा। इन चित्रकारों से अवनीन्द्र नाथ ने जापानी तकनीक की शिक्षा प्राप्त की। आपने भारतीय चित्रकला के साथ फारसी, तिब्बती, चीनी, जापानी, जावा तथा कम्बोडिया की इण्डोनेसियाई और स्यामी कला का भी अध्ययन किया। उन्होंने जलरंग की पतली परतें लगाकर चित्रण की नयी तकनीक को विकसित किया, जो वाश शैली के नाम से प्रचलित हुई। १८९८ ई० से १९०५ ई० तक वे कलकत्ता कला विद्यालय के उप प्रधानाचार्य तथा १९०५ से १९१५ ई० तक प्राचार्य रहे। अवनीन्द्र नाथ कलकत्ता विश्वविद्यालय में ललित कला के बागेश्वरी प्रोफेसर के पद पर भी रहे।

राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित होकर उन्होंने कला आन्दोलन का सूत्रपात किया तथा १९०७ में 'इण्डियन सोसाइटी आफ ओरिएण्टल आर्ट' की स्थापना की। वह एक चित्रकार ही नहीं, विद्वान् लेखक, दार्शनिक, कला मर्मज्ञ एवं कुशल शिक्षक भी थे। उन्होंने भारतीय चित्रों की सारगर्भित विवेचना की। विश्व के प्रतिष्ठित लेखक एवं कलाकार उनसे मिलने आते थे।

यद्यपि आनन्द कुमार स्वामी तथा डब्ल्यू०जी० आर्चर ने अवनीन्द्र नाथ की कला की आलोचना की, किन्तु इतना निर्विवाद सत्य है कि उन्होंने भारतीयता को कला में पुनर्स्थापित किया, नयी शैली का सूत्रपात किया, नये आन्दोलन का प्रवर्त्तन किया और ऐसे प्रतिभावान् विद्यार्थियों की शृंखला तैयार की, जिन्होंने भारतवर्ष भर में परंपरा और आधुनिकता के सम्मिश्रण से नयी धारा प्रवाहित की। उनके प्रमुखतम शिष्यों में नन्दलाल बोस, असित कुमार हाल्दार, समरेन्द्र नाथ गुप्त तथा वेंकटदा आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

अवन्ति, अवन्तिका प्राचीन भारत के मध्यभाग का एक विशिष्ट प्रदेश था, अवन्ति। जिसे आज मालवा कहा जाता है, उसकी राजधानी थी अवन्तिका। कालान्तर में उसे उज्जयिनी संज्ञा मिली। अवन्तिका की गणना प्राचीनकाल से तीर्थस्थल के रूप में होती रही है। प्रसिद्ध सूक्ति है – 'अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांचीरवन्तिका। पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः।' सम्भवतः गुप्तवंश के चन्द्रगुप्त द्वितीय की शकों पर असाधारण विजय के अनन्तर इस नगरी को उज्जयिनी नाम मिला; और उनके अतुल पराक्रम के कारण उन्हें 'विक्रमादित्य' कहा जाने लगा। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि कालिदास उनकी राजसभा के नवरत्नों में कहे जाते हैं। महाराज ने कुमारगुप्त का नामकरण, लगता है कालिदास की रचना 'कुमारसंभव' के आधार पर किया था। यह नगरी, (आज का उज्जैन) शिप्रा (क्षिप्रा) नदी के तट पर बसी है। इसी नगराञ्चल में महाकाल का मन्दिर है, जहाँ आदिकाल से पूजा–आराधना की परम्परा चली आ रही है। मंदिर से थोड़ी ही दूरी पर ऋषि सांदीपनि का आश्रम बताया जाता है, जहाँ श्रीकृष्ण ने अपने भाई बलराम और सखा सुदामा के साथ शिक्षा ग्रहण की थी। लोग पास ही वह गुफा भी बताते हैं, जहाँ महाराज भर्तृहरि ने वैराग्य–ग्रहण के बाद साधना की थी।

उज्जैन आज भी देश का महत्त्वपूर्ण नगर है। प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य सूर्यनारायण व्यास, यहीं के निवासी थे। कालिदास की स्मृति में वहाँ उनके नाम पर अकादमी है, जो प्रायः प्रत्येक वर्ष विशिष्ट साहित्यिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और सांस्कृतिक आयोजन करती रहती है। विक्रम विश्वविद्यालय के रूप में वहाँ उच्चतम शिक्षा का एक संस्थान भी है।

अवलोकितेश्वर अवलोकित का अर्थ होता है, देखा हुआ, और इस प्रकार सम्पूर्ण शब्द का अर्थ बनता है, देखा हुआ ईश्वर। बौद्ध धर्म में अवलोकितेश्वर को बोधिसत्त्व अर्थात् बुद्ध का पूर्वावतार कहा गया है। इन्हें बुद्ध का एक स्वरूप कहा जाता है, जिसमें उन्होंने निश्चय किया था कि इस धरती के सभी प्राणियों को शोक से मुक्त करने के अनन्तर ही वे बुद्धत्व ग्रहण करेंगे।

अवलोकितेश्वर (कांस्य मूर्ति)

अवलोकितेश्वर की इस संज्ञा की कुछ और व्याख्याएँ भी की गयी हैं; यथा वह दिव्य सत्ता जो हर दिशा में देखती है, हम जो कुछ भी देखते हैं, उस सबका स्वामी, वह जो करुणाभरी दृष्टि से देखता है' तथा 'वह जो अपनी आँखों से सब कुछ देखता है'। हिन्द–चीन और थाईलैण्ड में उन्हें मात्र 'लोकेश्वर' कहा जाता है। तिब्बती, चीनी, जापानी आादि भाषाओं में इस संज्ञा के कुछ अनुवाद हुए, वे मूल भावना की सुरक्षा करते हुए भी, कुछ अलग ही अर्थ–भंगिमा प्रकट करते हैं।

अवलोकितेश्वर को बौद्ध धर्म में एक पौराणिक स्वरूप भी दिया गया है : भगवान् बुद्ध का जो चिरन्तन अमिताभ स्वरूप है, उसे उसकी पार्थिव अभिव्यक्ति कहा गया है। ऐतिहासिक चरित्र गौतमबुद्ध और उनके भविष्यावतार मैत्रेय के अवतरण के बीच, वे इस विश्व की सुरक्षा–व्यवस्था करते हैं। वे मनुष्य को जंगली जानवरों के प्रकोप, डाकुओं और हत्यारों के आक्रमण, अग्निकाण्ड, यातायात दुर्योग आदि से भी बचाते हैं।

अवलोकितेश्वर को कुछ बौद्ध ग्रन्थों में हिन्दू धर्म के ब्रह्मा के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। अवलोकितेश्वर की कहीं–कहीं ११मुखी संकल्पना भी मिलती है, जो मोर का स्वरूप धारण करते हुए, सपुच्छ दिखाई देते हैं। उनके जो चित्र मिले हैं, उनमें कहीं वे श्वेत और कहीं वे लाल दिखाई देते हैं। तारा को उनकी अर्द्धांगिनी कहा गया है। तिब्बत में उनकी प्रतिष्ठा पर्वत–शिखरों पर देखने को मिलती है। लखनऊ के संग्रहालय में भी उनकी बड़ी ही भव्य प्रस्तर मूर्ति है।

चीनी यात्री फाह्यान जब सन् ३६६ में भारतवर्ष आया था, तो उसे अनेक स्थलों पर अवलोकितेश्वर की पूजा देखने को मिली थी। तिब्बत, चीन, जापान, श्रीलंका आदि देशों में आज भी अवलोकितेश्वर की पूजा का प्रचलन है।

अविद्या भारतीय दर्शन का पारिभाषिक शब्द, जिसके समय–समय पर अनेक अर्थ किये गये हैं। सामान्य अर्थ है, जो विद्या नहीं, विदित नहीं अर्थात् अज्ञान। इसका एक पर्याय है माया; लेकिन माया के भी दार्शनिकों ने दो रूप माने हैं; एक विद्या और दूसरा अविद्या। अविद्या माया, जो अज्ञान की ओर ले जाती है। आदि शंकराचार्य ने ईशावास्योपनिषद् की व्याख्या में अविद्या को अज्ञान, भ्रान्ति, मिथ्याभास कहा है। उदाहरण के लिए उन्होंने अंधेरे में रज्जु में सर्प के भ्रम को उपस्थित किया है। आदि शंकरचार्य का ही एक महावाक्य है, 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्याः।' उनका कहना है कि हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों – आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा से, जो इस जगत् को देखते हैं; वह सनातन सच्चाई नहीं है, क्योंकि वह तो नाशवान् है, क्षणभंगुर है, मिटने वाला है। हमारा बोध इस प्रकार अविद्या है।

पातंजलि के योगसूत्र के अनुसार अविद्या, अस्मिता राग, द्वेष तथा अभिनिवेश क्लेश हैं और अविद्या ही क्लेशों की उत्पत्ति का कारण है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बौद्ध दार्शनिकों ने भी अविद्या शब्द का प्रयोग गौतम बुद्ध द्वारा खोजे गये मूल सत्यों के अज्ञान से माना है। वे मूल सत्य हैं : यह संसार अनित्य है, प्रतिक्षण परिवर्तनशील है; यहाँ चारों ओर दुख का सम्प्रसार है; इस दुःखानुभूति से निर्वाण का, मुक्ति का मार्ग– करुणा, उसका परिव्याप्त रूप महाकरुणा है। इस महाकरुणा की सिद्धि के लिए उन्होंने छह सम्पूर्णताओं की साधना बतायी, दान पारमिता, शील पारमिता, क्षान्ति पारमिता, वीर्य पारमिता, ध्यान पारमिता और प्रज्ञा पारमिता। बौद्ध विचारकों के अनुसार जीवन–यापन के इन सिद्धान्तों की जानकारी न होना ही अविद्या है।

आचार्य विनोबा भावे ने 'ईशावास्योपनिषद्' की अपनी वृत्ति में अविद्या को अनावश्यक ज्ञान कहा है और उससे बचने की सलाह दी है।

अवेस्ता प्राचीन ईरान की भाषा, जिसका प्रयोग पारसी साहित्य के वरिष्ठ विद्वानों, तथा यूनान (ग्रीस) के आदिकालीन लेखकों द्वारा ईसा से लगभग छह हजार वर्ष पूर्व होने लगा था।

विद्वानों का कहना है कि अवेस्ता भाषा में २०,००,००० छन्दों की रचना हुई थी। उनमें से आज लगभग २३,००० छन्द ही उपलब्ध हैं। इसका कारण यह बताया जाता है कि सिकन्दर ने अपने अभियान में ईरान की राजधानी पर्यापुलिस पर जब आक्रमण किया था, तो उसने वहाँ के पुस्तकालय को भी जला दिया था। यूनानियों के साथ ईरानियों का संघर्ष बहुत पहले से चला आ रहा था। ईरानियों ने कई बार यूनान पर हमला भी किया था। उनके इन हमलों का उल्लेख यूनान के प्रथम नाटककार ईस्किलस के कई नाटकों में है। संभवतः उसी रोष के कारण सिकन्दर के सैनिकों ने पुस्तकालय को जला दिया था। कहा जाता है, प्राचीन ईरान के सम्राट् विश्वास्प ने अवेस्ता भाषा के अपने धर्म ग्रन्थों के दो अनुलेख तैयार कराये थे। उनमें से एक तो पुस्तकालय में लगायी गयी आग से राख हो गया था; लेकिन दूसरे अनुलेख को यूनानी अपनी साहित्यिक अभिरुचि के कारण अपने साथ ले गये थे; और फिर उन्होंने उसे अपनी भाषा में रूपान्तरित भी कर लिया था। आज अवेस्ता भाषा का प्राचीन साहित्य उसी अनुवादित रूप में उपलब्ध है।

ईरान में अवेस्ता का जो साहित्य बच रहा था, उसे भी ईस्वी सन् की सातवीं शताब्दी में अरबों ने अपने आक्रमणों में नष्ट कर दिया था, फिर भी बहुत से शिलाखण्डों में प्राचीन अवेस्ता के लेख उपलब्ध हैं, और उन्हीं के आधार पर उस भाषा के स्वरूप की कुछ जानकारी होती है।

सिकन्दर के आक्रमण के बाद, जो राजनीतिक अव्यवस्था उत्पन्न हुई थी उसके कारण, अवेस्ता भाषा का प्रयोग कम होने लगा था, और उसके स्थान पर एक नयी भाषा, जिसे पहलवी कहते हैं, विकसित होने लगी थी। पहलवी भाषा में ईरान के प्राचीन धर्म 'मज़्दयस्न' में अनेक व्याख्याएँ लिखी गयी थीं। उन भाष्यों को 'जेन्द' कहा जाता है। उन ग्रन्थों की भाषिक संरचना कों 'जेन्द–अवेस्ता' कहा गया है। आगे चलकर, पहलवी के इन ग्रन्थों को भी विनष्ट किया गया, और अब उसका साहित्य ४,४६,००० शब्दों की संख्या तक ही शेष रह गया है।

अवेस्ता के दो ग्रन्थ प्राचीन मज्दयस्न धर्मावलम्बियों के पास बच रहे हैं, वे प्राचीन अर्मेक वर्णमाला में है। यह लिपि दाहिने से बायीं ओर लिखी जाती थी, और इसकी वर्णमाला में प्रायः पचास लिपिचिह्नों का प्रयोग मिलता है।

ईरान में आज उसके प्राचीन धर्म मज्दयस्न को मानने वाले बहुत ही थोड़े लोग रह गये हैं। ईरान में अत्यधिक राजनीतिक उथल–पुथल के कारण इस धर्म के बहुत से अनुयायी महाराष्ट्र में आकर बस गये थे। उन्हीं के बीच आज मज्दयस्न धर्म का वास्तविक स्वरूप देखने को मिलता है। महाराष्ट्र में इस धर्म के अनुयायी उसके प्राचीन स्वरूप की सुरक्षा के लिए सतत प्रयत्नशील दिखायी देते हैं। प्राचीन ईरान में इस धर्म के जीवन–दर्शन को जरथुस्त्र नाम के महापुरुष ने विशेष रूप से दिव्य–प्रेरणा लेकर सुव्यवस्थित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप में लिपिबद्ध किया था। ईरान के इस प्राचीन धर्म के अनुयायियों को जरथुस्त्रवादी कहा जाता है।

ईरान के उस प्राचीन धर्म के विद्वानों का कहना है कि अवेस्ता भाषा, वैदिक कालीन संस्कृत से पर्याप्त मिलती–जुलती थी। संस्कृत के 'यज्' शब्द से, जिसका अर्थ पूजा–आराधना से है, उससे मिलता–जुलता शब्द अवेस्ता में'यज्' है, जो लगभग इसी अर्थ का बोध कराता है। इसी प्रकार 'अइर्यान' जो अवेस्ता का एक शब्द है, आर्यों की भूमि का बोध कराता है। अवेस्ता का मूल शब्द है 'आर', जिसका अर्थ है आदर करना। इसी प्रकार संस्कृत का असुर शब्द प्राचीन ईरानी में अहुर रूप में मिलता है। अहुर का अर्थ होता है, सर्वशक्तिमान्, और उसी से 'अहुरमज़्द' बना है। अवेस्ता और वैदिक संस्कृत में ध्वनि परिवर्तनों के साथ अनेक अन्य शब्द भी मिलते–जुलते देखे जा सकते हैं।

अवेस्ता शब्द का प्रयोग ईरान की प्राचीन भाषा के अतिरिक्त, उस भाषा में लिखे गये साहित्य के लिए भी होता है। प्राचीन अवेस्ता की 'अशेमवाहू' नाम की एक प्रार्थना है, जिसमें कहा गया है, 'सदाचार की भावना अच्छी बात है, वह सबसे अच्छी बात है; वही दिव्य आनन्द की मूल प्रेरणा है। दिव्य आनन्द उसी के लिए है, जो धर्म के प्रति निष्ठावान् है। और जिसकी धर्मनिष्ठा मात्र उच्चतम औदात्य से अनुप्राणित है।' इस प्रार्थना का अशेम शब्द अवेस्ता के 'आशा' शब्द से व्युत्पन्न है, जो संस्कृत के 'ऋत्' शब्द का समानार्थी है; जिसका अर्थ सत्यनिष्ठा, शुद्ध आचरण, धर्मभावना आदि है। अवेस्ता की यह प्रार्थना निःस्वार्थ भावना से सत्कर्म की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देती है। भारतीय पारसियों के एक धर्मगुरु डॉ० पेशोतान फ्रामर्ज पीर ने इस प्रार्थना को श्रीमदभगवद्गीता की 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचनः' से मिलता–जुलता माना है।

पारसियों की एक और प्रार्थना अहुरवार की व्याख्या करते हुए डॉ० जे०एस० तारापोरवाला ने कहा है कि उसमें जीवन के तीन मार्गों की चर्चा है : 'हछ' (अर्थात् ज्ञानमार्ग) मज्दई (अर्थात् भक्ति मार्ग), और 'वस्तरेम' (अर्थात् लोक–सेवा का मार्ग)।

जरथुस्त्र ने मनुष्य को हुमता, हुख्ता, हवर्शता का भी निर्देश दिया है, जिसका आशय है कि हमें सद्विचार, सद्शब्दावली और सद्कार्यों की दिशा में अग्रसर होना चाहिए। उनका यह कथन मन, वचन और कर्म की एकता के भारतीय आदर्श के अनुरूप है।

अवेस्ता साहित्य मूलतः 'गाथा' रूप में उपलब्ध है। अवेस्ता की गाथाएँ वस्तुतः गायन के लिए लिखे गये भक्ति–सूत्र हैं, जिनका सस्वर पाठ किया जाता है। उनमें जरथुस्त्र के महामहिम व्यक्तित्व की चर्चा की गयी है; आध्यात्मिक रहस्यानुभूतियों की अभिव्यक्ति है, और 'अहुरमज़्द' अर्थात् परमेश्वर के साथ तादात्म्य स्थापित करने की इच्छा प्रकट की गयी है। उनमें सामान्य जीवन की आशा–निराशा को भी वाणी मिली है और अपने मत के लोगों के प्रति आत्मीयता, तथा विरोधियों के प्रति आक्रोश का भाव भी प्रकट किया गया है। मनुष्य को यह परामर्श दिया गया है कि वह अपनी दुर्बल प्रवृत्तियों को रोककर, सात्विक जीवन की दिशा में आगे बढ़े; तभी उसका वास्तविक कल्याण संभव है।

अवेस्ता साहित्य में गाथाओं के बाद 'यस्न' आते हैं, जिनकी संख्या ७२ है, और जो 'कुश्ती' के ७२ सूत्रों के प्रतीक हैं। 'कुश्ती' वस्तुतः धागों का बुना हुआ समूह है, जिसे प्रत्येक पारसी अब अपने पवित्र कुर्रा जिसे 'सूद्र' कहते हैं, के साथ अपनी कमर में धारण करता है। 'यस्न' का उत्सव बड़ी धर्मनिष्ठा के साथ मनाया जाता है। इस सुअवसर पर यस्नों का गायन होता है जो अहुरमज़्द को सम्बोधित होते हैं।

पारसियों के अन्य धर्मग्रन्थ हैं– वेंदीडाड, 'विदेवोदाता' आदि, जिनमें पारिवारिक जीवन, समाज व्यवस्था, कृषि–कर्म, युद्ध–विद्या आदि के नियम दिये गये हैं। अन्तिम संस्कार के सम्बन्ध में भी उसमें निर्देश हैं। देखिये जरथुस्त्र।

अशोक (वृक्ष) (सीता अशोक) : इसका वानस्पतिक नाम सराका असोका ≡ सराका इण्डिका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। यह सेजेलपिनिएसी कुल का सदस्य है। इसे गुजराती में अशोक पल्लव, तेलगू में वन्जूलामू, कन्नड़ में केन्काली, बंगाली में अशोक दमारा, अशोक, मराठी जसुन्दी, उड़ीया में ओशेको, तमिल में असोगम, मलयालम में अशोक/हेमुयपुष्प तथा संस्कृत में अशोक, कार्न्काल, अंगनप्रिय, अपशोक, चक्रगुच्छ, हेमपुष्प तथा रक्त पल्लव नामों से पुकारते है। यह सदाबहार घनी पत्तियों वाला ७–१० मीटर ऊँचा वृक्षा होता है। इसका छत्र हाना होता है। छाल चिकनी भूरी होती है। पत्तियाँ लगभग ३० सेमी. लम्बी जिसमें ४–६ जोड़े लहरदार, लम्बे पर्णक होते है। पुष्पन फरवरी–मार्च से होता है। पुष्प धनी ७.५ से १०.० सेमी. व्यास की समशिखर (कोरिम्ब) में व्यवस्थित होते हैं। पुष्प प्रारम्भ में नांरगी रंग के होते है जो बाद में सिन्दूरी रंग में परिवर्तित हो जाते है। जो आग के अंगार की तरह दिखाई पड़ते। तुलसीदास कृत रामचरित मानस में सीताजी इसी वृक्ष के नीचे बैठा बताया गया है। फलियाँ शमशेर आकार की कड़ी, चर्मिल चपटी और ८–१० सेमी. लम्बी होती है।

यह भारत, वर्मा, मलाया का देशज है तथा भारत में समुद्रतल से ७५० मीटर की ऊँचाई तक स्थानों पर पाया जाता है। यह विचित्र धार्मिक भावनाओं से जुड़ा है। लंका में सीताजी को इस वृक्ष के नीचे आश्रय मिला था इसलिए इसे सीता अशोक नाम दिया गया है। इस वृक्ष को कामदेव का प्रतीक मानते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार भगवान वुद्ध का जन्म इसी वृक्ष के नीचे हुआ था।

अशोक की छाल में अद्‌भुत औषधीय गुण पाये जाते है जो उसमें उपस्थित टैनिन, कैटीकॉल, हीमटॉक्सीलीन, सैपोनिन तथा कार्बनिक लौह यौगिक के कारण होते है। छाल से पैत्तिकता, अग्निमांद्य, अतिसार, शूल, बवासीर, अर्बुद तथा मुँहासों में लाभ होने का वर्णन है, पत्तियों में रक्त शोधक गुण होते है। फूल रक्तस्रावी अतिसार तथा मघुमेह में लाभ पहुँचाते है। फूल श्रेष्ठ गर्भाशय बल्य समझे जाते है।

इसका काष्ठ हल्का, लालाभ–भूरा, मुलायम तथा भार में ५७६ किग्रा./ध.मी. होता है। असम में यह हल व तखते बनाने के लिए तथा श्रीलंका में घरों के निर्माण में प्रयुक्त होता है।

भारत में वानस्पति भाषा में, पॉलीएल्थिया लौंगीफोलिया, जो एनोनेसी कुल का पौधा है, इसे भी अशोक या पेन्डला अशोक कहते है। परन्तु यह वृक्ष अशोक का प्रकार नहीं है। यह लम्बा वाला सदाबाहर वृक्ष २०–२५ मीटर तक ऊँचा हो जाता है। पत्तियाँ भालाकार लम्बी, नुकीली, तंरगित, चमकदार १२.५ सेमी. से २० सेमी. लम्बी होती है। इसमें पुष्पन–मार्च–अप्रैल में होता है। पुष्प तारों के समान पीताम हरे रंग के होते हैं। फल अंडाकार लम्बा २ सेमी. लम्बा पकते पर जामुन की तरह दिखता है जो जुलाई अगस्त में पक कर तैयार हो जाते है। यह श्रीलंका का देशज है इसे वृक्ष बीथी, छायादार वृक्ष के रूप में सार्वजनिक स्थानों पर लगाते है। इस वृक्ष के सन्दर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का ललित निबन्ध 'अशोक के फूल' विशेष रूप से पठनीय है।

अशोक कुमार भारतीय रजत पट पर सर्वाधिक लम्बी पारी खेलने वाले अभिनेता का जन्म १३ अक्टूबर, १६११ को बिहार के भागलपुर में, ननिहाल में हुआ था। उनके नानाजी ने, अपने नाती के जन्म के पहले ही उनका नामकरण कर दिया था। उन्होंने अपने होने वाले नाती के लिए लन्दन से कुछ कपड़े मंगाये थे, जो पार्सल आया था, उस पर लिखा था 'अशोक कुमार गांगुली'।

अशोक कुमार फ़िल्म–जगत् में 'दादामुनि' के नाम से भी प्रसिद्ध हुए। उनकी छोटी बहन उन्हें दादा कहती थी। बंगाल में रिवाज है कि आदर के लिए 'दादा' और 'दीदी' के साथ 'मणि' जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार वे 'दादामणि' और फिर 'दादामुनि' बन गये। परिवार में उनकी आयु से छोटे लोग उन्हें 'दादामुनि' कहने लगे। कालान्तर में फ़िल्म–जगत् में भी उन्हें इसी नाम से पुकारा जाने लगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अशोक कुमार के पिताजी बंगाल से आकर, मध्य प्रदेश के हरदा शहर में बस गये थे। बंगाल में बहुत से लोग १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, जमींदारी प्रथा की क्रूरता और बार–बार पड़ते अकाल के कारण उत्तर भारत के अनेक प्रदेशों के छोटे–बड़े शहरों में आकर रहने लगे थे; और शिक्षा, वकालत, चिकित्सा आदि क्षेत्रों में कार्य करने लगे थे। पिता, कुंजीलाल गांगुली ने भी हरदा में वकालत आरम्भ की थी। उन दिनों हिन्दी के प्रसिद्ध कवि पं० माखन लाल चतुर्वेदी जी भी हरदा में अध्यापन का कार्य क़र रहे थे। कुंजीलाल जी से उनकी बड़ी आत्मीयता थी। कालान्तर में वे बड़े शहर खण्डवा में आ गये; और उनकी प्रेरणा से कुंजीलाल भी खण्डवा आकर वकालत करने लगे। अशोक ने खण्डवा में ही शिक्षा ग्रहण की थी और बी०एस–सी० करने के बाद वे कामकाज की खोज में बम्बई आ गये।

बम्बई में अशोक कुमार को, बाम्बे टाकीज़ के हिमांशु राय के पास पटकथा लेखन का कार्य मिला। आरम्भ में वे हिमांशु राय की अंग्रेजी में लिखी पटकथा का हिन्दी रूपान्तर मात्र करते थे। हिमांशु राय ने 'जीवन नैया' फिल्म पर कार्य आरम्भ किया। पहला ही दिन था और उस फिल्म में जिन्हें मुख्य भूमिका करनी थी, वह नहीं आये थे। तभी अचानक हिमांशु राय ने अशोक से कहा कि तुम्हें मेरी फिल्म में ऐक्टिंग करनी है। अशोक ने कहा कि वे ब्राह्मण परिवार के हैं, अतः ऐक्टिंग करने पर उनके साथ बड़ा झंझट खड़ा हो जायेगा। लेकिन वे ज़्यादा देर तक मना नहीं कर सके और फिर 'जीवन नैया' के साथ उनका अभिनेता का जीवन आरम्भ हो गया। पहले दिन उनके प्रदर्शन में बड़ी गड़बड़ी हो गयी थी; लेकिन हिमांशु राय जी ने अपने कुशल निर्देशन में उन्हें सँभाल लिया था।

सन् १९३५ में 'जीवन नैया' पर कार्य आरम्भ हुआ था; और वह १९३६ में प्रदर्शित हुई। उसी वर्ष अशोक की दो और फिल्में 'जन्मभूमि' और 'अछूत कन्या' का प्रदर्शन भी हुआ था। इन तीनों फिल्मों का निर्देशन हिमांशु राय ने किया था। उन्हें अशोक कुमार का अभिनय कुछ ऐसा पसन्द आया कि उन्होंने उनसे कहा था, 'अशोक, डोन्ट लीव दिस लाइन, दो चार फिल्में और क़र लो, तुम्हारा नेचुरल स्टाइल चल गया, तो यू विल राइज टू एमिनेन्स।' अशोक ने उनकी यह बात गाँठ बाँध ली थी। फिर वे बड़े मनोयोग से अपनी भूमिकाओं का निर्वाह करने लगे थे। 'अछूत कन्या' फिल्म को महात्मा गांधी जी ने भी, श्री घनश्यामदास बिड़ला के साथ देखा था, क्योंकि वह उनके 'अछूतोद्धार' कार्यक्रम को पुष्ट करती थी।

हिमांशु राय जी ने उनके अभिनय में जो स्वाभाविकता देखी थी, उनके प्रोत्साहन से काल के प्रवाह में वह और निखरती गयी। अशोक कुमार ने उसकी विवेचना करते हुए कहा था कि ऐक्टर तो सभी होते हैंः जब बच्चों को स्कूल नहीं जाना होता, तो वे जो बहाना बनाते हैं, वह बहाना ही ऐक्टिंग होता है; सफल ऐक्टिंग करने का मतलब है कि जो बहाना बनाया जा रहा है, वह कामयाब हो जाय। उन्होंने आगे कहा था, 'हाऊ टु ऐक्ट, ऐक्टिंग नहीं है; ऐक्टिंग है व्हाट टु ऐक्ट।' यह समझने के लिए वे यह पता लगाते थे कि किस सीन में उन्हें क्या करना है, और तब फिर सोच–विचार कर बड़ी मेहनत के साथ उसे करते थे। रजतपट के प्रारम्भिक दिनों में 'लाउड ऐक्टिंग' का विशेष प्रचलन था। और अतिरंजना के साथ भाषण–कौशल के प्रदर्शन को विशेष प्रश्रय दिया जाता था। बोलने का यह ढंग रंगमंच से आया था और पृथ्वीराज कपूर तथा सोहराब मोदी, इस संवाद–सौष्ठव के शीर्षस्थ अभिनेता थे। लेकिन अशोक कुमार का विचार था कि संवेदनशीलता के साथ, अपनी बात कहना ही सर्वाधिक उपयुक्त है; सामान्यतः लोग अपने सुख–दुख को इसी ढंग से कहते हैं। इसी प्रकार संवाद योजना से अशोक कुमार ने रजत–पट पर अपना अलग स्थान बनाया था।

अशोक कुमार से एक बार उनके एक समीक्षक ने पूछा था कि जब उन्हें कोई रोल दिया जाता है, तब वे अपने को क्या सोचते हुए पाते हैं ? उन्होंने उत्तर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में कहा था कि उनका ध्यान सबसे पहले पात्र की वेशभूषा की तरफ जाता है। वेषभूषा ही किसी इन्सान की पहली आइडेन्टिटी होती है: इसीलिए साधुओं के भगवा पहनने पर ज़ोर दिया जाता है। वेशभूषा उन्हें पात्र बना देती है। उसके बाद वे सोचते हैं, वह कौन है? क्या है ? कहानी में उसके हालात क्या हैं ? दूसरे पात्रों से उसका रिश्ता क्या है ? उनसे उन्हें क्या कहना है ? और फ्रेम के भीतर उन्हें कैसे रिऐक्ट करना है ? इसके साथ रियाज़ आरम्भ होता है। घर पर अभ्यास में वे अपने नौकरों को अपने पास बुला लेते थे और उनके परामर्श से अपने प्रदर्शन को माँजते थे। वे चाहते थे कि उनके प्रदर्शन को ऐक्टिंग नहीं वरन् सहज–स्वाभाविक व्यवहार समझा जाए।

अशोक कुमार के अभिनय में हमें आत्म–नियन्त्रण, भी बड़े प्रभावपूर्ण रूप में दिखाई देता है।

अशोक कुमार ने १९३५ में 'जीवन नैया' से आरम्भ करके १९८६ में 'क्लर्क' तक २६३ फिल्मों में काम किया था; और नायक, अनेक सम्बन्धों के सहायक अभिनेता तथा खलनायक के रूप में भी कार्य किया था। अपनी सभी भूमिकाओं में उन्होंने विशेष सफलता अर्जित की थी। उनकी १५–२० फिल्में ऐसी भी हैं जो या तो पूरी नहीं हुई या उनका प्रदर्शन नहीं हो सका। उन्होंने स्वयं भी आठ फिल्में बनायी थीं, यथा– 'दिल', 'महल', 'मजबूर', 'ज़िद्दी', 'समाज', 'परिणीता', 'कल्पना' और 'रागिनी'। 'हल्दीघाटी' और 'थ्री हेडेड कोबरा' अधूरी ही रह गयी थीं। उनकी बनायी एक फिल्म 'चोर मण्डली' अप्रदर्शित ही रह गयी। हिन्दी फिल्म–जगत् के छोटे परदे के प्रथम धारावाहिक 'हम लोग' के प्रत्येक प्रसंग को उन्होंने ही प्रस्तुत किया था। इसके बाद अनेक धारावाहिकों में उन्होंने स्वयं भी काम किया था, जिनमें 'बहादुर शाह ज़फ़र', जिसमें उन्होंने मूल भूमिका की थी, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने 'जीवन नैया' से आरम्भ कर सन् १९४६ की 'शिकारी' तक सभी फिल्मों में गीत भी गाये थे, जिनमें से अनेक उन्होंने स्वयं भी लिखे थे। फिल्म 'साजन' में पहली बार मुहम्मद रफ़ी ने उन्हें अपनी आवाज उधार दी थी। अशोक जी को सन् १९५९ में संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली ने उनके अभिनय कौशल के लिए सम्मानित किया था। 'फिल्म फेयर' पत्रिका ने १९६२ में 'राखी' और १९६६ में 'आशीर्वाद' के लिए उन्हें सर्वोत्तम अभिनेता के पुरस्कार दिये थे। सन् १९६६ में इसी पत्रिका ने 'अफ़साना' में उन्हें सर्वोत्तम सहायक अभिनेता का पुरस्कार दिया था। सन् १९६८ में उन्हें 'दादा साहब फालके' पुरस्कार से सम्मानित किया गया था।

सन् १९९० में अन्तरराष्ट्रीय फिल्म उत्सव के अवसर पर पश्चिम बंगाल की सरकार और भारतीय फिल्म उद्योग के सहयोग से भारतीय पैनोरमा खण्ड में उनकी १५ फिल्मों का सिंहावलोकन प्रदर्शन हुआ था। सुप्रसिद्ध निर्देशक ऋषिकेश मुखर्जी ने इस अवसर पर कहा था, 'दादामुनि को मैं पितातुल्य मानता हूँ। मैंने उनसे फिल्म सम्पादन और निर्देशन में बहुत कुछ सीखा है। अगर वे अभिनेता नहीं होते तो, कुशल निर्देशक होते।' इन्दौर से प्रकाशित 'नई दुनिया' ने विशेष लेख में लिखा था, 'दादामुनि को अपने अभिनय के हर रूप में भारतीय रस–सिद्धान्त के साधारणीकरण में सफलता मिली है। इस दृष्टि से उनकी गणना, अलेक गुइननेस, सर रॉल्फ रिचर्डसन, पीटर सलर्स तथा डेविड अब्राहम जैसे विश्व के शीर्षस्थ अभिनेताओं में की जाती है।

अशोक, सम्राट् (लगभग २७३–२३२ ई०पू०) मौर्य राजवंश का तीसरा सम्राट्, चन्द्रगुप्त का पौत्र तथा बिन्दुसार का पुत्र। अशोक के बारे में अधिकांश जानकारी सिंहली (श्रीलंका) साहित्य में उपलब्ध है। अशोकवर्द्धन (अधिक प्रसिद्ध नाम अशोक) मगध साम्राज्य के केन्द्र पाटलिपुत्र (आधुनिक नाम पटना) की गद्दी पर बैठा था। उपर्युक्त तिथियाँ उनके सम्राट् काल की हैं। सिंहली साहित्य के अनुसार उन्होंने अपने ९९ भाइयों का वध करके पाटलिपुत्र का राज्य सिंहासन प्राप्त किया था; किन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अशोक द्वारा खुदवाये गए शिलालेखों से जो जानकारी प्राप्त होती है, उससे इसकी पुष्टि नहीं होती। इसके विपरीत यह ज्ञात होता है कि वह अपने भाई–बहनों के परिवार का शुभचिन्तक था।

अपने राज्यकाल के प्रारम्भिक वर्षों में अशोक भी अन्य सम्राटों की भाँति जीवन जीने वाले, एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति थे, जो राज्य–विस्तार के बारे में प्रयत्नशील रहते थे। शिलालेखों के अनुसार उन्होंने 'देवानांपिय पियदसी' (देवानांप्रिय प्रियदर्शी) की उपाधि धारण की थी।

'देवानां प्रियदर्शी' इस पूरी राजकीय उपाधि का अर्थ है 'देवाताओं का प्रिय'। महाराजा और राजाधिराज जैसी भारी–भरकम उपाधियाँ अशोक के समय में प्रचलित नहीं हुई थीं। अपने अभिलेखों से अशोक जब कोई गिनती देते है, तब वह वर्षों की गणना अपने राज्याभिषेक के समय से देते है। अशोक के प्रज्ञापन (शिलालेख) उनके 'धम्म' के विषय में और 'धम्म' के प्रचार के लिए जो साधन अपनाये गये थे, उन साधनों के विषय में हैं। शिलाओं पर के लेख दो प्रकार के हैं। (१) चौदह शिला–प्रज्ञापन और (२) गौण शिला प्रज्ञापन। १४ शिला–प्रज्ञापनों का यह नाम इसलिए पड़ा है, क्योंकि वे मिलकर क्रमबद्ध १४ विभिन्न लेखों का संग्रह हैं। ये ७ विभिन्न स्थानों में पाये गये हैं जो सब के सब भारत के सीमा प्रदेशों पर हैं और अशोक के साम्राज्य की सीमा पर हैं। अशोक के प्रमुख शिलालेख धौली, गिरनार, जौग्रड़ा, कालसी, सोपास, मनसहरा तथा शहबाजगढ़ी (अब पाकिस्तान) में पाये गये हैं। दो लघु शिलालेख अफगानिस्तान के कंधार तथा जलालाबाद में मिले हैं। इसी प्रकार अशोक के स्तम्भ लेखों को भी दो भागों में बाँटा जा सकता है: (१) सात स्तम्भ प्रज्ञापन और (२) गौण स्तम्भ लेख। इनमें से पहले सात मिलकर एक समूह बनाते हैं, पर पिछले चार अलग–अलग शिलालेख हैं। अन्तिम तीन गुफालेख वे हैं, जो बिहार के 'बराबर' की गुफाओं में खुदे हुए हैं। ये सब मिलाकर ३३ हैं। ये लेख अशोक, उनके प्रशासन, उनके धार्मिक विश्वास और उनके धर्म प्रचार के कार्यों आदि से सम्बन्धित अनेक बातों पर प्रकाश डालते हैं। अशोक के बहुत सारे पुरालेख इस पदावली से शुरू होते हैं: 'देवानाम्प्रियो पियदसी राज एवं अबाह',

"देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है"।

अपने राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में अशोक ने कलिंग (उड़ीसा) पर आक्रमण करके उसे जीता। इस युद्ध में एक लाख व्यक्ति मारे गये, डेढ़ लाख बन्दी बनाये गये तथा इससे कई गुने लोग युद्ध के बाद की विभीषिका में मर गये। अशोक ने कलिंग को वहाँ के राजा खारवेल से जीतकर मगध साम्राज्य में मिला लिया; किन्तु युद्ध के भयंकर परिणामों ने उनका मानसिक परिवर्तन कर दिया। इस युद्ध के बाद अशोक, बौद्ध हो गये और उन्होंने 'धम्म' का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। अशोक के शिलालेख उनके पश्चात्ताप को प्रदर्शित करते हैं।

अशोक के साम्राज्य के विस्तार के बारे में यह पता चलता है कि दक्षिण भारत के चोल, पाण्ड्य, सातियपुत्त और केरलपुत्र राजाओं को छोड़कर शेष भारतीय उपमहाद्वीप, उनके राज्य–सीमा के अन्तर्गत था। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि आधुनिक दक्षिण भारत के चार राज्यों को छोड़कर सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप (अफगानिस्तान, पाकिस्तान, नेपाल और बांग्लादेश सहित) पर उनका अधिकार था।

धम्म उनके धम्म (धर्म) के बारे में विशेष बात यह है कि उसकी मुख्य बातें प्रायः भारत में विद्यमान सभी धर्मों का सार थीं। अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इसमें वे नैतिक विचार भरे पड़े हैं, जो बौद्ध धर्म का आधार हैं तथा सनातन हिन्दू धर्म में भी। अशोक ने धम्म के प्रचार–प्रसार के लिए 'धर्म महामात्य' का पद सृजन किया था। अहिंसा के प्रति समर्पण के सिद्धान्त को बिना हानि पहुँचाये, अशोक ने न्याय–व्यवस्था में मृत्युदण्ड को अस्वीकार नहीं किया। इससे न्याय के प्रति उनके समर्पण की भावना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झलकती है, क्योंकि किसी भी शासन में इस चरम दण्ड का पूरी तरह से तिरस्कार नहीं किया जा सकता। उन्होंने अपने सभी अधिकारियों को बताया कि उसकी प्रजा उनकी संतान के समान है, अतः उसके साथ वैसा ही व्यवहार किया जाना चाहिए, जैसा कि राज–परिवार के सदस्यों के साथ होता है। उन्होंने अपने धर्म–प्रचारक न केवल अपने साम्राज्य के सभी भागों में, वरन् सीरिया, मिश्र, लंका, चीन एवं पूर्व तथा पश्चिम के अन्य देशों में भी भेजे थे।

शासन प्रबन्ध राजधानी पाटलिपुत्र का प्रबन्धन तीस सदस्यों के एक आयोग द्वारा होता था, जिसे सुविधा की दृष्टि से पाँच–पाँच सदस्यों के छह उप–आयोगों द्वारा कला–कौशल, विदेशियों का प्रबन्ध, जन्म–मृत्यु का आँकलन, वाणिज्य–व्यापार तथा राजकर का समायोजन किया जाता था।

साम्राज्य को प्रान्तों में विभाजित कर दिया गया था। अधिक संवेदनशील तथा सीमान्त प्रान्तों का शासन–भार, राजवंश के कुमारों (भाई तथा पुत्रों) को दिया गया था। एक कुमार गांधार की राजधानी तक्षशिला, दूसरा सुवर्णगिरि (दक्षिण भारत), तीसरा कलिंग तथा चौथा कुमार उज्जैन का शासन प्रबंन्ध देखता था। इसके अतिरिक्त अन्य विश्वस्त शासक साम्राज्य के दूसरे भागों का शासन–प्रबन्ध देखते थे। साम्राज्य का राजधानी से सम्पर्क नदी तथा सड़क मार्ग दोनों से था। लार्ड डलहौजी द्वारा जीर्णोद्धार कराये गये ग्रैण्ड ट्रंक रोड (जी टी रोड) का शुभारम्भ अशोक ने ही किया था। साम्राज्य के प्रबन्धन में इस मार्ग का सर्वाधिक महत्त्व था। यह मार्ग पाटलिपुत्र से तक्षशिला होते हुए, सिंध नदी तक जाता था। इस मार्ग के किनारे आधे–आधे कोस की दूरी पर स्तम्भ खड़े किए गये थे। प्रत्येक स्तम्भ के पास एक कुआँ था। मार्ग पर छायादार तथा फलदार वृक्ष लगवाये गये थे तथा ठहरने के लिए विश्राम–गृह बनवाये गये थे। न्याय व्यवस्था सहित अपने विशाल साम्राज्य का प्रबन्ध, अशोक स्वयं देखता था।

स्थापत्य अशोक अपने शिलालेखों के लिए सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त उसने चौरासी हज़ार स्तूपों का अपने साम्राज्य के विभिन्न भागों में निर्माण कराया था। बिहार प्रदेश में राजगृह के पास नालन्दा बौद्ध बिहार की नींव, उसी के समय में डाली गयी। भोपाल के पास साँची का स्तूप अभी तक अशोक के वैभव की कहानी कह रहा है। अशोक ने अनेक पत्थर के स्तम्भ भी निर्मित कराये, जिनमें कुछ पर लेख भी अंकित हैं। ये स्तम्भ देश के अनेक भागों से प्राप्त हुए हैं। सारनाथ (वाराणसी) से प्राप्त स्तम्भ का शीर्ष, जिस पर चार दिशाओं की ओर मुख किये हुए चार सिंहों के मुख तथा तल में चक्र अंकित है। उसके आसन को उलटे हुए कमल की आकृति प्रदान की गयी है। यह आज भारत सरकार का प्रतीक–चिह्न है। सर जान मार्शल के अनुसार प्राचीन काल में उसके जोड़ की कोई कलाकृति अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। बिहार प्रदेश के मुज़फ्फरपुर जिले (प्राचीन वैशाली) में स्थित–स्तम्भ आज तक सम्पूर्ण रूप में है। यह स्तम्भ धरातल से ४४ फीट ऊँचा है तथा सम्पूर्ण स्तम्भ का भार ५० टन आँका गया है। अन्य स्तम्भ अथवा उनके अवशेष दिल्ली, प्रयाग (इलाहाबाद), लौरिया अरराज, लौरिया नन्दनगढ़ रामपुरवार, साँची, रूमिदेई (बस्ती) तथा निगलिवा (बस्ती) में पाये गये हैं। अशोक द्वारा निर्मित अधिकांश कलाकृतियाँ कुछ तो समय की मार से तथा शेष मध्ययुगीन आक्रांताओं के द्वारा नष्ट कर दी गयीं, तथापि जो कुछ भी बची हैं वे उस महान सम्राट् के वैभव की कहानी प्रस्तुत करती हैं। अशोक के लगभग सभी स्तम्भ मीरजापुर (उत्तरप्रदेश) के पास चुनार की खानों से प्राप्त किये पत्थर से बनाये गये। उस प्राचीन समय में उन कलाकृतियों को देश के विभिन्न भागों में ले जाना भी एक विशिष्ट अभियांत्रिक उपलब्धि माना जाता है। सुल्तान फिरोजशाह तुगलक ने मेरठ के निकट प्राप्त एक स्तम्भ को दिल्ली ले जाने के लिए ८४०० व्यक्तियों को लगाया था, जो अनेक महीनों के परिश्रम के बाद उसे दिल्ली तक ले जा पाये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी प्रजा तथा बौद्ध धर्म के लिए अशोक द्वारा किये गये कार्यों के आधार पर उनकी गणना संसार के श्रेष्ठतम सम्राटों में की जाती है।

अशोक स्तम्भ (२४२ – २३२ ई०पू०) मौर्यकाल, कलाओं के विकास के लिए अत्यन्त अनुकूल समय था। चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र अशोक के समय में कलाओं को विशेष संरक्षण प्राप्त हुआ। उन्होंने देश के विभिन्न भागों में स्तम्भों का निर्माण करवाया। चुनार पत्थर से बने हुए स्तम्भों में सारनाथ का सिंह शीर्षस्थ स्तम्भ सर्वश्रेष्ठ है : इस शीर्ष को भारतवर्ष के राष्ट्रीय चिह्न का गौरव दिया गया है। बुद्ध ने सारनाथ में अपना पहला ध र्मोपदेश दिया था। इस उपदेश के स्मारक के रूप में अशोक के शासनकाल में २४२ ई०पू० से २३२ ई०पू० के मध्य में इसे स्थापित किया गया था। सिंह शीर्ष के मूर्तिशिल्प को ५० फुट ऊँचे स्तम्भ पर स्थापित किया गया था। इस स्तम्भ पर शीशे जैसी चमकदार चिकनी पालिश है। सिंहयुक्त शीर्ष के निम्नलिखित भाग हैं:–

अशोक स्तम्भ

(अ) कमल की पंखुड़ियों से बना हुआ पूर्ण घट, गोलाई में जो सिंह–शीर्ष का निचला भाग है।

(ब) गोल चौकी जिस पर चारों दिशाओं में चार चक्रों को उकेरा गया है, जिनके बीच–बीच में घोड़ा, हाथी, सिंह तथा बैल बने हुए हैं। प्रत्येक चक्र में बाईस अरे (तीलियाँ) हैं।

(स) इस चौकी पर चार सिंह एक दूसरे से कमर लगाये हुए बैठे हैं। सिंहों की मुद्रा शान्त है। चारों की नाप तोल समान है तथा इनकी बालों की लटों (केसर) को आलंकारिक विधि से बनाया गया है।

(द) सिहों के ऊपर ३२ अरों वाला महाचक्र ऊर्ध्व रूप में स्थापित था, जो अब खण्डित हो चुका है।

सिंह शौर्य तथा शक्ति का प्रतीक है। चक्र धर्म प्रचार के प्रतीक हैं। चारों पशु समानता के प्रतीक हैं तथा कमल सृष्टि का प्रतीक है।

अश्फ़ाक उल्ला खाँ काकोरी काण्ड के अमरशहीद का पूरा नाम अशफ़ाक उल्ला खाँ वारसी था। वे शायरी भी करते थे और उसके लिए उन्होंने तखल्लुस रखा था 'हसरत'। इनका जन्म २२ अक्टूबर सन् १६०० को मुहल्ला ऐमनजई (जलालनगर), शाहजहाँपुर, उत्तर प्रदेश में हुआ था। उनके नाम पर इस मुहल्ले का नाम अब अशफ़ाक नगर है। जलालनगर पुलिस चौकी को अब अशफ़ाक नगर पुलिस चौकी कहा जाता है। ये अफ़गान पठान थे। वालिद का नाम मुहम्मद शफ़ीक उल्ला खाँ और माँ का नाम मजहरुल निशा बेग़म। परिवार की अपनी जमींदारी थी और कुछ लोग नौकरी भी करते थे।

परिवार में वे सबसे छोटे थे, तीन बड़े भाई और एक बड़ी बहिन। सबसे छोटे होने के कारण वे अपने माँ–बाप को बहुत प्यारे थे। देखने में बड़े ही सुन्दर तथा स्वस्थ थे। सम्भवतः इसीलिए उन्हें 'अच्छू खाँ' कहा जाता था; लेकिन उनका स्वभाव बड़ा ही रोबदाब वाला था। कभी–कभी वे अपने साथियों की पिटाई भी कर देते थे; इसीलिए बच्चे उन्हें 'बुरे खाँ' भी कहा करते थे। फिर भी माँ का प्यार उन्हें सर्वाधिक मिलता था; और उन्हीं से उन्होंने पढ़ने–लिखने का संस्कार ग्रहण किया था। घर पर उर्दू, फ़ारसी पढ़ने के बाद, उन्हें शाहजहाँपुर के मिशन हाईस्कूल में भेज दिया गया था। वहीं उनका परिचय पं० राम प्रसाद 'बिस्मिल' से हुआ था, जो उम्र में उनसे बड़े थे और ऊँची कक्षा में पढ़ रहे थे।

अशफ़ाक का परिवार अंग्रेजों का बड़ा भक्त था। लेकिन उन्होंने बाल्यावस्था से ही बड़ा स्वच्छन्द जीवन व्यतीत किया था; इसीलिए उन्होंने जब अखबारों में खुदीराम बोस और कन्हाईलाल दत्त के देश के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए अपने को बलिदान होने के प्रसंगों को पढ़ा, तो उनके मन में भी देश की आज़ादी के लिए संघर्ष करने की इच्छा जागी। पं० राम प्रसाद बिस्मिल के सम्बन्ध ने उनकी इस इच्छा को और अधिक सुदृढ़ कर दिया।

रामप्रसाद आर्य समाज मन्दिर में रहते थे और उसके प्रचार–प्रसार के साथ, चन्द्रशेखर 'आजाद' के 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन ऐसोसिएन' से सम्बद्ध होने के कारण, देश की स्वाधीनता के लिए सशक्त क्रान्ति के प्रयासों में भी लगे रहते थे। अशफ़ाक के बड़े भाई उनके सहपाठी थे; लेकिन अपने मित्र के छोटे भाई को शायरी करते देखकर, वे उससे कुछ अधिक आत्मीय हो गये थे। अशफ़ाक की दृढ़ इच्छा–शक्ति और देश की स्वाधीनता के लिए उनकी गहरी लगन से प्रभावित होकर बिस्मिल ने उन्हें अपनी क्रान्तिकारी पार्टी का सदस्य भी बनवा लिया था।

सशक्त्र क्रान्ति के लिए जब धन–संग्रह करने की बात उठी थी, तो निश्चय हुआ था कि सरकारी खज़ाने को लूटकर ही पैसा जमा किया जाये। अशफ़ाक ने इस विचार–विमर्श के समय कहा था कि इस तरह हम लोग सरकार की नज़र में आ जायेंगे, अतः अन्य उपाय किये जाने चाहिए; लेकिन जब यह निश्चय हो गया कि सरकारी खज़ाने को ही लूटना है, तो उन्होंने उसमें पूरे मनोयोग से भाग लिया। सहारनपुर से लखनऊ आ रही सवारी गाड़ी को जब ६ अगस्त १९२५ को अलार्म चेन खींचकर, काकोरी स्टेशन के पास रोका गया, गार्ड के केबिन से खज़ाने के सन्दूक को नीचे गिराकर लोहे के घनों से उसे तोड़कर, नोटों की थैलियाँ निकाली गयीं, तो अशफ़ाक हर काम में आगे रहे थे।

सरकारी खज़ाने को लूटने का यह कार्यक्रम वैसे तो बड़ा सफल रहा था; लेकिन असावधानी से एक साथी, धोबी के घर धुली चादर मौके पर छोड़ आये थे। पुलिस ने उसी चादर को लेकर धोबी की खोज की और उसकी निशानदेही से २६ सितम्बर, १९२५ को उत्तर प्रदेश के कई शहरों में अनेक गिरफ्तारियाँ हुईं। किन्तु अशफ़ाक फ़रार हो गये। वे पहले बनारस, फिर बिहार के डाल्टनगंज पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपने को मथुरा का कायस्थ बताकर इंजीनियरिंग विभाग में नौकरी कर ली। उस कार्यालय के बड़े बाबू शायरी में रुचि लेते थे, इसलिए 'हसरत' से उनकी बड़ी आत्मीयता हो गयी। अगर अशफ़ाक वहीं बने रहते, तो शायद गिरफ्तार न होते; लेकिन उन्होंने दिल्ली जाने का निश्चय किया। वहाँ पहुँचने पर उनके शाहजहाँपुर के कई मित्र मिले और उन्हीं में से एक ने उन्हें गिरफ्तार करा दिया।

उन्हें स्पेशल मजिस्ट्रेट ऐनुद्दीन ने गिरफ्तार किया था। रेलगाड़ी से लखनऊ लाते हुए, उन्होंने अशफ़ाक को बहुत समझाया, मज़हबी जोश जगाने की भी कोशिश की। यह भी कहा कि तुम्हारा दोस्त रामप्रसाद, आर्यसमाजी है; और वह हिन्दू–राज स्थापित करेगा। उन्होंने जवाब में कहा था, अगर हिन्दू–राज हुआ तो अपने भाइयों का ही राज होगा; और अंग्रेजों के राज से तो हज़ार गुना अच्छा होगा। सी०आई०डी० के सुपरिन्टेण्डेन्ट तसद्दुक हुसैन, पब्लिक प्रासिक्यूटर ख़ैरात अली ने भी उन्हें सरकारी गवाह बनने के लिए, अनेक प्रलोभन दिये; लेकिन वे टस से मस न हुए। १३ जुलाई १९२७ को अपना फैसला सुनने के लिए वे वसन्ती रंग के बढ़िया कपड़े पहन कर आये थे। वे बड़े प्रसन्न दिखाई दे रहे थे। जब उन्हें फाँसी का हुक्म सुनाया गया, तो वे मुस्करा दिये थे। उसके बाद उन्होंने सभी सरकारी अधिकारियों तथा अपने खिलाफ झूठी गवाहियाँ देने वालों तक का शुक्रिया अदा किया था; क्योंकि उन सब की कृपा से ही तो उन्हें अपने देश के लिए शहीद होने का सुअवसर मिल रहा था। उन्हें फाँसी के लिए फ़ैज़ाबाद जेल भेज दिया गया था।

फ़ैज़ाबाद जेल की काल–कोठरी में लगभग पाँच महीने, हमेशा उन्हें अलमस्त, हँसते–गाते ही देखा गया। जब १६ दिसम्बर १९२७, उन्हें प्रातःकाल फाँसी देने का निश्चय हो गया, तो उन्होंने देश–वासियों के नाम एक लम्बा सम्बोधन लिखा, जिसमें कहा गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था कि उन्हें देश की स्वाधीनता के लिए सन् १९२०–२१ जैसा जन–आन्दोलन फिर से प्रारम्भ करना चाहिए। उन्होंने रामप्रसाद 'बिस्मिल' के साथ इस आन्दोलन में बड़े उत्साह के साथ भाग भी लिया था। उनके इस वक्तव्य से यह भी लगता है कि सशक्त क्रान्ति–पथ के सेनानी होते हुए भी, उनके मन में यह चेतना थी कि देश की आजादी जन–आन्दोलन के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती है।

फाँसी के एक दिन पहले, १८ दिसम्बर १९२७ को जब जेल के अधिकारियों ने उनसे उनकी अन्तिम इच्छा पूछी, तो उन्होंने कहा कि उनके लिए नया चूड़ीदार पायजामा, कुर्ता, सिल्क की नयी अचकन, नये मोज़े और नये जूते मँगवा दिये जायें। अगर मिल सके तो अच्छे किस्म की इत्र की छोटी शीशी भी मँगा दी जाये। इन सब चीजों की रातोंरात व्यवस्था कर दी गयी थी। सुबह जल्दी ही उठकर उन्होंने स्नान किया था और उसके बाद, 'कुरान–शरीफ़' का पाठ। फिर नये कपड़े पहने और उन पर इत्र छिड़का फाँसी के तख्ते पर चढ़ने के लिए, जेल के लोगों के साथ जाते हुए, उन्होंने एक शेर पढ़ा था, 'तंग आकर ज़ालिमों के ज़ुल्म और बेदाद से, चल दिये सूए–अदम जिन्दाने फ़ैज़ाबाद से।' तख्ते पर खड़े होकर जेल अधिकारियों से उन्होंने कहा था कि उनके घर के लोग बहुत चाहते थे कि उनका विवाह हो। आज उनको पसन्दीदा दुल्हन मिल गयी है। यह फाँसी का फन्दा ही उनकी दुल्हन है। उन्होंने उसका बोसा लिया था और फिर एक शेर पढ़ा था, 'कुछ आरजू नहीं है, है आरजू तो इतनी, रख दे कोई ज़रा सी ख़ाके वतन कफ़न पर।' इसके बाद वे, 'भारत माता की जय' कहते हुए, फाँसी के फन्दे में झूल गये थे। उनका शरीर शाहजहाँपुर ले जाकर रात को घर के पास के एक कब्रगाह में दफ़न कर दिया गया था। उस स्थान पर लिखा है:–

"वह अशफ़ाक मरकज में सोया हुआ है,
वतन में मगर अब सवेरा हुआ है।"

अश्म यह वैदिक भाषा का शब्द है, जिसका प्रयोग कठोर वस्तुओं का वर्णन करने में होता था, जैसे पत्थर, लौह आदि के लिए। संस्कृत साहित्य में बहुमूल्य मणियों के लिए भी इसका प्रयोग किया गया है, जैसे 'नीलाश्म' जिसका अर्थ नीलमणि या नीलम है। इसके अतिरिक्त गोफनों द्वारा फेंके गये पत्थर के टुकड़ों को भी अश्म कहा जाता था। जिन पत्थरों को घिसकर अग्नि प्रकट की जाती थी, वह भी अश्म कहलाते थे। अश्म शब्द को बादल, मेघ, वज्र और पर्वत के पर्याय में भी प्रयुक्त किया गया है।

'अश्मकुट्ट' या 'अश्मकुट्टक' उसे कहते हैं जो पत्थर पर रखकर वस्तुओं को तोड़ता है। 'अश्मउत्थ', 'अश्मपुष्प', 'अश्मजतु' अथवा 'अश्मजतुक', शिलाजतु या शिलाजीत नामक औषधीय गुणयुक्त पदार्थ को कहते हैं। 'अश्मगर्भ', 'अश्मगर्भज' अथवा 'अश्मयोनि' पन्ना नामक बहूमूल्य रत्न को कहते हैं। इसी प्रकार 'अश्मज' शब्द गेरू अथवा लोहे के लिए प्रयुक्त होता है। 'अश्मदारण' पत्थर तोड़ने के हथौड़े के लिए तथा 'अश्मभाल' पत्थर की खरल को कहते हैं। 'अश्मन्तक' उस अलाव या अंगीठी को कहते हैं जिसे लोहे या पत्थर को भस्म करने के लिए प्रयोग किया जाता है। 'अश्मसार' पत्थर या लोहे जैसे पदार्थ को तथा 'अश्मा' पत्थर इत्यादि की शिला को कहते हैं।

'जीवाश्म' उन अवशेषों के लिए प्रयुक्त होता है जो सृष्टि के आदिकाल में जीवन्त थे तथा अब पत्थरकाय हो गये हैं। 'अश्मरी' शब्द पेट अथवा मूत्राशय के पथरी रोग को कहते हैं।

अश्मरी (पथरी) अश्मरी शरीर के कतिपय अंगों में व्याधि स्वरूप उत्पन्न होती है। अधिकांश मूत्र तन्त्र में वृक्क (किडनी), मूत्राशय और वलीनो (वृक्क से मूत्राशय को जाने वाली नलिका) में पायी जाती है। एक अन्य प्रकार की अश्मरी पित्ताशय (गाल ब्लैडर) में बहुतायत से पायी जाती है। अपवाद रूप से यह लाला ग्रन्थियों (सेलिवरी ग्लैण्ड्स), फुफ्फुस (लंग्स), पुरस्थ ग्रन्थि (प्रोस्टेट ग्लैण्ड) और योनि में भी पायी जाती है, किन्तु इनका प्रतिशत बहुत कम होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूत्र–तंत्र की अश्मरियाँ कठोर होती हैं। ये यूरिक अम्ल या कैल्शियम लवणों यथा कैल्शियम फास्फ़ेट या कैल्शियम आक्सेलेट से बनी होती हैं। फास्फेट अश्मरियाँ गोल और चिकनी होती हैं, जबकि आक्सेलेट प्रकार की अश्मरी खुरदरी और काँटेदार (तूत अश्मरी) होती है; अतः सर्वाधिक कष्टकारी होती है।

पित्ताशय अश्मरी, कोलेस्ट्राल या बिलिरूबिन नामक वर्णक की बनी होती है; अतः इसे वर्णक अश्मरी कहते हैं। ये अपेक्षाकृत कोमल होती हैं और एक दो छोटी अश्मरियों से लेकर छोटी–छोटी सरसों के आकार की सैकड़ों की संख्या में पायी जाती है।

मूत्र–तंत्र की अश्मरियों की उत्पत्ति के कारक हैं:– (१) जीवाणुओं द्वारा संक्रमण, (२) मूत्र में यूरिक अम्ल और कैल्शियम लवणों की अति सान्द्रता, और (३) विटामिन ए की अल्पता। पहिले और तीसरे कारकों के प्रभाव से वृक्क या मूत्राशय की श्लेष्मा झिल्ली क्षतिग्रस्त हो जाती है, जिस पर मूत्र में उपस्थित कैल्शियम लवण चिपक कर अश्मरी रचना के लिए केन्द्रक का काम करते हैं। पित्ताशय अश्मरियों के कारक भी जीवाणु संक्रमण और कोलेस्ट्राल का बिलिरूबिन वर्णक की अतिसान्द्रता है।

मूत्र–तंत्र की अश्मरियाँ भारत में उत्तरी राज्यों यथा दिल्ली, हरियाणा और राजस्थान में बहुत अधिक होती हैं, जब कि दक्षिण में नगण्य होती हैं। सम्भवतः इसका सम्बन्ध खान–पान से है। भारत के अतिरिक्त ये पाकिस्तान और मिस्र देश में अधिक पायी जाती हैं। मूत्राशय अश्मरी उत्तर भारत के बच्चों में अधिक होती है।

पित्ताशय अश्मरी के सम्बन्ध में इस प्रकार का स्थानीय प्रसार नहीं होता है; परन्तु ये अधेड़ आयु की स्थूल स्त्रियों में अधिक होती हैं।

अश्मरी के प्रभाव में वेदना प्रमुख लक्षण होता है। मूत्र–तंत्र अश्मरी शूलवत वेदना के साथ रक्त मिश्रित हो सकती है। पित्ताशय अश्मरियों से शूलवत वेदना के अतिरिक्त जठर अत्याम्लता, भोजन में अरुचि, मतली और वमन के लक्षण होते हैं। सभी प्रकार की अश्मरियों का प्रभावी उपचार शल्य चिकित्सा द्वारा ही होता है। आयुर्वेद और होमियोपैथी चिकित्सा प्रणालियों से औषधियों द्वारा छोटी और कम संख्या की अश्मरियाँ निकल जाती हैं; किन्तु इनका प्रभाव बहुत देर से और अनिश्चित होता है।

अश्वघोष संस्कृत के कवि, नाटककार और बौद्ध दर्शन के रचनात्मक स्वरूप के समर्थ व्याख्याता। ईस्वी सन् की पहली शताब्दी का उत्तरार्द्ध और दूसरी शताब्दी का पूर्वार्द्ध, इनका जीवन–काल माना जाता है। साकेत (अयोध्या) में इनका जन्म हुआ था। इनकी माँ का नाम सुवर्णाक्षी मिलता है। सम्भवतः साकेत में ही शिक्षा–दीक्षा ग्रहण करने के अनन्तर ये पाटलिपुत्र चले गये थे। अपनी काव्य–प्रतिभा और बौद्ध–दर्शन के समुचित ज्ञान के फलस्वरूप, राज–सभा में इन्हें स्थान मिल गया था। पुरुषपुर (पेशावर) के सम्राट् कनिष्क ने जब पाटलिपुत्र पर अधिकार किया था, तो वे इन्हें अपने साथ ले गये थे। कनिष्क ने बौद्ध–धर्म ग्रहण करने के अनन्तर उसे और सुव्यवस्थित रूप देने के लिए जो चौथी संगति आयोजित की थी, एक परंपरा के अनुसार अश्वघोष ने ही उसकी अध्यक्षता की थी। लेकिन दूसरी परम्परा महास्थविर पार्श्व को उसका अध्यक्ष बताती है। फिर भी यह तो माना ही जा सकता है कि इन्होंने इस संगति में बौद्ध–धर्म के एक वरिष्ठ विचारक के रूप में भाग लिया था।

अश्वघोष के ग्रन्थों में सर्वप्रथम 'बुद्धचरित' का नाम लिया जाता है। इस महाकाव्य का जो भारतीय संस्करण है, उसमें १८ सर्ग हैं; लेकिन उसके चीनी एवं तिब्बती अनुवादों में २८ सर्ग मिलते हैं। इस काव्य–ग्रन्थ में बुद्ध के जीवन एवं दर्शन का, बड़ी ही कोमल–कान्त पदावली में वर्णन किया गया है। इनका दूसरा ग्रन्थ 'सौन्दरनन्द' है: इसमें बुद्ध के छोटे भाई नन्द के अपनी अर्द्धांगिनी के रूप–वैभव से मुक्त होकर सद्धर्म में दीक्षा ग्रहण करने का बड़ा ही मनोरम आख्यान है। इसी कथा–सूत्र को लेकर मोहन राकेश ने 'लहरों के राजहंस' नाटक की रचना

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की है। अश्वघोष का तीसरा काव्य–ग्रन्थ 'गण्डी–स्तोत्रगाथा' कहा जाता है: इसमें गीतिशैली का बड़ा ही रोचक प्रयोग हुआ है। चौथा ग्रन्थ 'शारिपुत्र प्रकरण' है, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह एक नाटकीय रचना है। ताजकिस्तान में इसकी मात्र एक खण्डित प्रति मिली है। इनकी एक और रचना 'सूत्रालंकार' कही जाती है; लेकिन डॉ० बलदेव उपाध्याय उसे किन्हीं और अश्वघोष की कृति मानते हैं।

अश्वघोष का नाम अपने समय के दार्शनिकों में भी लिया जाता है। उन्हें बौद्ध धर्म के 'सर्वास्तिवाद' का विवेचक माना गया है। बौद्ध–धर्म के महायान स्वरुप से भी उन्हें जोड़ा जाता है। लेकिन उनकी सर्वाधिक प्रसिद्धि साहित्यकार के रूप में है; और यह भी कहा गया है कि कालिदास ने उनके ग्रन्थों से विशेष प्रेरणा ग्रहण की थी।

अश्वत्थामा द्रोणाचार्य के महारथी पुत्र तथा कौरवों की सेना के सभी प्रधान वीरों के मारे जाने के बाद, दुर्योधन के द्वारा अभिषिक्त सेनापति। द्रोणाचार्य के वीरगति प्राप्त करने के बाद, अश्वत्थामा के वीरोचित गुणों के बारे में धृतराष्ट्र ने ये उद्‌गार व्यक्त किये थे– 'कृपी के शूरवीर पुत्र अश्वत्थामा शिष्यभाव से विशेष रहस्य सहित सारा धनुर्वेद अपने पिता द्रोणाचार्य से प्राप्त करके युद्धस्थल में उनके बाद वही उस योग्यता का रह गया है। वह शस्त्रविद्या में परशुराम के समान, युद्धकला में इन्द्र के समान, बल–पराक्रम में कार्तवीर्य अर्जुन के समान, बुद्धि में बृहस्पति सदृश, स्थिरता एवं धैर्य में पर्वत के तुल्य, तेज में अग्नि के समान, गम्भीरता में समुद्र के समान और क्रोध में विषधर सर्प के समान, नवयुवक अश्वत्थामा संसार का प्रधान रथी और धनुर्धर है,। महाभारत के अनुसार द्रोणाचार्य अपने एकमात्र पुत्र से अत्यधिक वात्सल्य रखते थे। युद्ध में जब द्रोणाचार्य किसी प्रकार पराजित नहीं हो रहे थे, तब श्रीकृष्ण ने पाण्डवों से कहा कि अश्वत्थामा के मारे जाने पर यह युद्ध नहीं कर सकते, अतः कोई मनुष्य इनसे कह दे कि 'युद्ध में अश्वत्थामा मारा गया', तब भीमसेन ने द्रोणाचार्य से ये शब्द कहे। द्रोणाचार्य ने इस घटना की पुष्टि धर्मराज युधिष्ठिर से करानी चाही, जो कभी भी असत्यभाषण नहीं करते थे। महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर ने कहा, 'अश्वत्थामा मारा गया' और फिर धीरे से अस्फुट स्वर में कहा 'वास्तव में इस नाम का हाथी मारा गया है।' बाद में कहे हुए शब्द द्रोणाचार्य को सुनाकर नहीं कहे गये थे। युधिष्ठिर के द्वारा अश्वत्थामा की मृत्यु की पुष्टि होने पर द्रोणाचार्य ने युद्धभूमि में ही अस्त्र–शस्त्र त्याग दिये और तब द्रौपदी के भाई धृष्टद्युम्न ने उनके सिर को धड़ से काट दिया।

द्रोणाचार्य के मारे जाने के बाद, अश्वत्थामा ने महान पराक्रम प्रकट किया और केवल श्रीकृष्ण की युक्तियों के कारण ही पाण्डव सेना के प्राण बचे। अश्वत्थामा के बारे में अर्जुन का उद्‌गार था कि 'जिस वीर ने जन्म लेते ही उच्चैःश्रवा अश्व के समान हिनहिनाकर पृथ्वी तथा तीनों लोकों को कम्पित कर दिया था और उस शब्द को सुनकर, किसी अदृश्य प्राणी ने उसका नामकरण 'अश्वत्थामा' रख दिया था, यह वही शूरवीर अश्वत्थामा सिंहनाद कर रहा है।'

महाभारत युद्ध के अठारहवें और अन्तिम दिन जब कर्ण वध के पश्चात् शल्य को सेनापति बनाया गया तो कौरव सेना के बचे–खुचे वीरों के साथ शल्य केवल आधे दिन में ही काम आ गये और दुर्योधन निराश होकर द्वैपायन सरोवर में भाग गया। वहाँ पर पाण्डवों ने पीछा करके उसे ढूँढ निकाला और भीम द्वारा वह अधमरा करके डाल दिया गया। उस मर्मान्तक पीड़ा की दशा में दुर्योधन ने अश्वत्थामा को बुलाया और उसका सेनापति पद पर तिलक कर दिया।

अश्वत्थामा, पांचाल वीर धृष्टद्युम्न द्वारा अपने निहत्थे पिता द्रोणाचार्य के मारे जाने से अत्यन्त आहत थे। अतः उन्होंने येन–केन प्रकारेण समस्त पांचालों और पाण्डवों को मारने के उद्देश्य से रात्रि के समय पाण्डवों के शिविर में घुसकर, सोते हुए लोगों की नृशंस हत्या की, जिसमें उसके सहायक कृपाचार्य और कृतवर्मा रहे। अश्वत्थामा द्वारा समस्त पांचाल और द्रौपदी के पाँच पुत्र मारे गये। श्रीकृष्ण को इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार के छल की पहले से ही आशंका थी। अतः वे सभी पाण्डव भाइयों को उस रात शिविर में न ठहराकर अन्यत्र ले गये थे। अश्वत्थामा ने इस क्रूर कर्म को करने के बाद मरणासन्न दुर्योधन के पास जाकर कहा, 'पाण्डव पक्ष' में केवल सात व्यक्ति (पाँच पाण्डव भाई, श्रीकृष्ण तथा सात्यकि) और कौरव पक्ष में केवल तीन व्यक्ति (स्वयं अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा) ही बचे हैं, अर्थात पाण्डव पक्ष के सभी योद्धा मार दिये गए हैं। दुर्योधन ने तो इस समाचार को सुनकर हर्षातिरेक में प्राण त्याग दिये, किन्तु अश्वत्थामा को इस क्रूर कृत्य के कारण इतिहास में कोई श्रेय नहीं प्राप्त हुआ। इसके विपरीत भीमसेन ने उसके वध की प्रतिज्ञा कर ली और उसे ढूँढ निकाला। पाण्डवों को देखते ही अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र चला दिया, जो समस्त लोकों को जलाने लगा। अतः श्रीकृष्ण के कहने से अर्जुन को ब्रह्मास्त्र संधान करने को प्रेरित किया। ऋषियों की मध्यस्थता से प्रेरित अर्जुन ने अपने ब्रह्मास्त्र को शान्त कर लिया, किन्तु अश्वत्थामा ने उसके द्वारा गर्भस्थ पाण्डव शिशुओं का वध कर दिया। अश्वत्थामा पराभूत था, अतः उसे अपने शिर पर स्थित मणि पाण्डवों को देनी पड़ी, साथ ही श्रीकृष्ण का घोर शाप भी झेलना पड़ा।

विद्वानों का मत है कि अश्वत्थामा की वह मणि कोई साधारण पत्थर नहीं, वरन् चिन्तामणि थी, जो प्रत्येक व्यक्ति के मस्तक में रहती है। अश्वत्थामा में शारीरिक बल की प्रचण्डता थी, पर विचारशक्ति की शून्यता थी। अश्वत्थामा को लोक में चिरंजीवी माना जाता है :

अश्वत्थामाबलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरंजीविनः।।

धर्मवीर भारती ने अपने काव्य नाटक 'अन्धा युग' में अश्वत्थामा के चरित्र का बड़ा ही संत्रास की भावना जगाने वाला स्वरूप उपस्थित किया है।

अश्वमेध अश्व का अर्थ है घोड़ा और मेध का आशय है, यज्ञ। भारतवर्ष में प्राचीन काल में अश्व के अभियान को लेकर देश–विदेश के क्षेत्रों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए, जो आयोजन हुआ करते थे, उन्हें अश्वमेध कहा गया है। इस यज्ञ का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद के दो सूत्रों यथा १/१६२ तथा १/१६३ में मिलता है। शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणों में इसका विशद् उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार अत्यधिक शक्ति–सम्पन्न राजन्यों को ही इसके विधान का अधिकार था। अश्वलायन श्रौत सूत्र में कहा गया है कि जो सर्वत्र अपने विजय की घोषणा करना चाहता है, हर प्रकार की समृद्धि की कामना करता है, और जगत् के सभी पदार्थों पर अपना अधिकार स्थापित करने का इच्छुक होता है, वही इस यज्ञ को सम्पन्न करने की दिशा में अग्रसर होता है।

अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान फाल्गुन की शुक्ला अष्टमी या नवमी अथवा ज्येष्ठ के आषाढ़ मास की शुक्ला अष्टमी को किया जाता था। अपने को सार्वभौम महत्त्व का घोषित करने की इच्छा करने वाला राजन्य, मूर्द्धाभिषिक्त होकर यह यज्ञ आरम्भ करता था। पहले वह यज्ञमण्डप में प्रवेश करता था। यज्ञ के लिए चुना गया अश्व, बड़ा ही सुडौल, सुन्दर तथा दर्शनीय होता था। उसे पहले सरोवर में नहलाया जाता था, और फिर पवित्र जल से अभिषिक्त किये जाने पर, वह यज्ञ–मण्डप में लाया जाता था। समुचित पूजा–अर्चना के बाद महाराज उसे विभिन्न दिशाओं में अपने राजकुमारों तथा सेना के साथ विजय अभियान के लिए छोड़ देते थे। वह जिस क्षेत्र में प्रवेश करता था, उसके महाराज या तो यज्ञकर्ता के महत्त्व को मानकर, उस अश्व को तथा साथ के राजकुमारों को सम्मानित करते थे; अथवा विरोध में खड़े होने पर उनके साथ युद्ध होता था, जिसमें उन्हें पराजय स्वीकार करनी पड़ती थी। अगर वे विजयी होते थे, तो यज्ञ खण्डित हो जाता था। भारतीय साहित्य में अश्वमेध यज्ञों के सफल विधानों के ही विवरण हैं।

'रामायण' में राम के द्वारा तथा 'महाभारत' में युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ का विवरण है। प्राप्त इतिहास में ईसापूर्व दूसरी शती में ब्राह्मण सम्राट् पुष्यमित्र शुंग ने इस यज्ञ का आयोजन किया था। उनके बाद ईस्वी सन् की चौथी शताब्दी की सम्राट् समुद्रगुप्त की जो मुद्राएँ मिलती हैं, उनसे यह ज्ञात

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है कि उन्होंने भी यह यज्ञ सम्पन्न किया था। दक्षिण में चालुक्य और यादव राजाओं ने भी, समय–समय पर अश्वमेध यज्ञ किये थे। इस यज्ञ का अन्तिम विवरण मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में जयपुर के महाराज सवाई जयसिंह का मिलता है। उनके यज्ञ का विवरण कृष्ण कवि के 'ईश्वर विलास काव्य' में है।

अष्टछाप हिन्दी साहित्य के पूर्व मध्यकाल की कृष्णभक्ति धारा के आठ कवियों को सम्मिलित रूप से 'अष्टछाप' की संज्ञा दी गयी। कृष्णभक्ति के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य महाप्रभु वल्लभाचार्य जी का माना जाता है। उन्होंने अपने सम्प्रदाय की स्थापना और गोवर्द्धन पर श्रीनाथ जी की प्रतिष्ठा करने के अनन्तर, कीर्तन के लिए सर्वप्रथम सूरदास जी को नियुक्त किया था। उसके बाद उन्होंने कुम्भनदास, परमानन्ददास और कृष्णदास को भी श्रीनाथ जी की नित्य सेवा एवं संकीर्त्तन का भार सौंपा। संवत् १५८७ वि० में वल्लभाचार्य जी के महाप्रयाण के अनन्तर उनके पुत्र बिट्ठलनाथ जी ने सम्प्रदाय का कार्यभार अपने हाथों में लिया। उन्होंने नंददास, कुम्भनदास जी के पुत्र चतुर्भुज दास, गोविन्दस्वामी और छीतस्वामी को अपना शिष्य बनाया। उन्होंने अपने इन शिष्यों को भी श्रीनाथजी की सेवा और भजन–कीर्त्तन का उत्तरदायित्व सौंपा। कालान्तर में उन्होंने ही अपने पिता के चार शिष्यों और फिर अपने चार शिष्यों को लेकर उन्हें अष्टछाप की संज्ञा दी। वल्लभ सम्प्रदाय के वार्त्ता साहित्य में इन आठ भक्त कवियों को श्रीनाथजी का 'अष्टसखा' भी कहा गया है। एक वार्त्ता ग्रन्थ, (अष्टसखान की वार्त्ता) तो इन 'अष्टछाप' के कवियों पर ही है। गोकुलनाथ जी तथा हरिलाल जी द्वारा लिखे गये दो ग्रन्थों, 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' में भी इन कवियों का उल्लेख है। नाभादास जी ने अपने 'भक्तमाल' में भी इन कवियों की भक्ति–भावना और काव्य–साधना का अभिनन्दन किया है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने इन भक्त कवियों को लेकर 'अष्टछाप' नामक एक छोटे से ग्रन्थ की रचना की थी। डॉ० दीनदयाल गुप्त जी ने इन आठ कवियों पर सम्यक् दृष्टि से विचार करते हुए एक बड़े ही वृहदाकार शोध–प्रबन्ध की रचना की थी।

'अष्टछाप' के अन्तर्गत आने वाले ये कवि कृष्णभक्त और समर्थ कवि होने के साथ–साथ, बड़े ही कुशल संगीतज्ञ भी थे। तभी तो ये श्रीनाथ जी के मन्दिर में भजन एवं कीर्त्तनगान के उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सके।

अष्टदल कमल कमल के फूल का एक विशेष प्रकार, जिसमें आठ दल होते हैं। अलग–अलग प्रकार के कमल के फूलों में दलों की संख्या अलग–अलग होती है। उसका एक प्रकार तो ऐसा भी है, जिसमें एक हजार दल होते हैं, उसे 'सहस्रदल कमल' कहा गया है।

अष्टधातु आठ धातुओं के एक समुदाय को सम्मिलित रूप से यह संज्ञा दी गयी है। संस्कृत के एक प्रसिद्ध श्लोक में इनका उल्लेख इस प्रकार मिलता है, 'स्वर्णं; रूप्यं, ताम्रं च रंगं यशदमेव च। शीसं, लौहं, रसश्चेति धातवोदष्टौ प्रकीर्त्तिताः।।' इन पंक्तियों में सोना, चांदी, तांबा, रांगा, जस्ता, शीसा, लोहा तथा पारा को सम्मिलित रूप से अष्टधातु कहा गया है। आयुर्वेदाचार्य सुश्रुत ने अपनी संहिता में पारे को छोड़कर शेष सात धातुओं का ही उल्लेख किया है। लगता है उस समय वे पारद को, उसके रस रूप के कारण धातु नहीं मानते थे; लेकिन अन्यत्र हम उन्हें रस को भी धातु रूप में स्वीकार करते हुए देखते हैं। अष्टधातु का उपयोग प्रतिमा और आभूषणों के भी निर्माण में देखने को मिलता है। अष्टधातु की अंगूठियों का विशेष प्रचलन है, जिन्हें विशेष ग्रह–शान्ति के लिए पहना जाता है। इसी प्रकार घरों में पूजन के लिए अष्टधातु की प्रतिमाओं का उपयोग होता है।

अष्टनायिका संस्कृत काव्यशास्त्र का एक ललित प्रसंग; जिसमें अवस्था के आधार पर नायिका के आठ प्रकार बताये गये हैं। व्यंग्यार्थ कौमुदी के अनुसार 'नयति वशीकरोति स नायिका', अर्थात् जो नायक को वशीभूत करती है, वह नायिका होती है। आचार्यों ने नायिकाओं के स्वरूप, धर्म, आयु, प्रकृति आदि के आधार पर अनेक भेद किये है; अवस्थानुसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके ८ भेद, यथा वासकसज्जा, उत्कंठिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खण्डिता, कलहान्तरिता, और प्रोषित–भर्तृका किये गये हैं।

नायिका के इन आठ रूपों का निरूपण सर्वप्रथम भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में दृष्टिगत होता है। उसके बाद यह संस्कृत के अनेक ग्रन्थों में उदाहरणों के साथ प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी के काव्यशास्त्रकारों और कवियों ने भी इनके लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। डॉ० छैल बिहारी गुप्त 'राकेश' ने नायिका के इन भेदों तथा अन्य भेदों को लेकर, शोध–प्रबन्ध की रचना की है।

अष्टप्रधान छत्रपति शिवाजी द्वारा शासन के संचालन के लिए स्थापित आठ वरिष्ठ अधिकारियों की एक परिषद्। इस परिषद् के सबसे वरिष्ठ सदस्य को 'पेशवा' अथवा मुख्य–प्रधान कहा गया, जो सामान्य प्रशासन चलाते थे और उनके पास राज्य–मुद्रा भी रहती थी। 'अमात्य' अथवा 'मजूमदार' तथा 'पन्त–सचिव' आर्थिक व्यवस्था देखते थे। 'सुमन्त', विदेशी विषयों की देख–रेख करते थे। 'मंत्री' पुलिस विभाग एवं गुप्तचर व्यवस्था का अवलोकन करते थे। 'न्यायाधीश' वैधानिक विषयों का निरीक्षण करते थे। 'पंडित राव' का कार्य धार्मिक विषयों का अनुशीलन था। 'सेनापति' सेना का सुनियोजन करते थे, और युद्ध के प्रसंग में उसका संचालन।

शिवाजी के समय में यही आठ अधिकारी अपने सहयोगियों के साथ राज्य–कार्य भली प्रकार सञ्चालन करते रहे। 'पेशवा' को इन सभी में सर्वाधिक अधिकार प्राप्त थे। शिवाजी के पुत्र सम्भाजी के समय में यह परिषद् विघटित हो गयी थी; लेकिन १८वीं शताब्दी में मराठा–शक्ति का जब फिर से अभ्युदय हुआ, तो इन सभी अधिकारियों के पद फिर से वापस आ गये; और फिर उन पदों पर वंश–परम्परा का अधिकार चलने लगा। सम्भाजी के बाद, उनकी वंश–परम्परा के लोग और भी कमज़ोर होते गये। नतीजा यह हुआ कि 'पेशवा' के हाथ में सारे अधिकार आ गये। यह वस्तुतः अष्टप्रधान–व्यवस्था की समाप्ति थी।

अष्टमंगल आठ मांगलिक–चिह्नों के समुदाय को 'अष्टमंगल' कहा गया है। साँची के स्तूप के तोरण स्तम्भ पर उत्कीर्ण शिल्प में मांगलिक–चिह्नों की दो मालाएँ बनी हुई हैं, इनमें ग्यारह–ग्यारह चिह्न हैं। मथुरा की जैन कला में अष्टमंगल चिह्नों की संख्या तथा स्वरूप निश्चित हो गये थे। कुषाणकालीन आयागपटों के अनुसार ये चिह्न इस प्रकार हैं– मीन–मिथुन, देवविमानगृह, श्रीवत्स, वर्धमान, संपुट, त्ररत्न, पुष्पदाम, इन्द्रयष्टि या वैजयन्ती और पूर्णघट। इन मांगलिक–चिह्नों के ठीकरों से बना आभूषण यद्यपि यहाँ नौ वस्तुएं गिनाई गयी हैं यथापि इन्हें 'अष्टमांगलिक' माला कहा गया है। बाद के साहित्य तथा लोक जीवन में भी इन चिन्हों की मान्यता एवं पूजा चलती रही, किन्तु इनके नामों में परिवर्तन भी देखा जा सकता है। 'शब्दकल्पद्रुम' में सिंह, वृषभ, गज, कमल, व्यंजन, वैजयन्ती, दीपक और दुन्दुभी को अष्टकमल कहा गया है।

अष्टमूर्ति शिव के, पौराणिक साहित्य में आठ स्वरूप माने गये हैं; और उसी के आधार पर उन्हें यह नाम दिया गया है। 'शैव–सिद्धान्त' में शिव की इन आठ मूर्तियों का उल्लेख मिलता है, यथा शिव, भैरव, श्रीकण्ठ, सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा। 'भविष्य पुराण' में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, यजमान, सोम और सूर्य को शिव की आठ मूर्तियाँ कहा गया है। कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के नान्दी–पाठ में शिव के अष्ट–स्वरूपों का स्मरण किया है।

उपनिषदों में छिति, जल, पावक, गगन और समीर इन पंचतत्त्वों के साथ, सूर्य, चन्द्र, और आत्मतत्त्व (यजमान) के संयोग से सृष्टि का विधान माना गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में पंचतत्त्वों के साथ मन, बुद्धि और अहंकार के योग से सृष्टि की संरचना मानी गयी है। इन्हीं सब आधारों पर शैव–दर्शन में शिव को इन आठ तत्त्वों से आकार ग्रहण करने वाला परम तत्त्व कहा गया है। सम्भवतः इसी आधार पर उन्हें अष्टमूर्ति की संज्ञा दी गयी।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अष्टांगयोग क्लेशों से मुक्त होने तथा चित्त को समाहित करने के लिए महर्षि पतञ्जलि ने जिस दर्शन का उपदेश किया वह 'योग' कहलाता हैः

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'

(चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है)

चित्त की वृत्तियों का निरोध करने के लिए योग के आठ अंगों (साधनों) का अभ्यास करना आवश्यक है, इसी को 'अष्टांगयोग' कहते हैं। ये हैं : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा तथा समाधि। इनका क्रमशः अभ्यास करना होता है।

१. **यम–** ये पाँच हैं – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह।

२. **नियम–** ये भी पाँच हैं – शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान।

३. **आसन–** चित्त को स्थिर रखने तथा सुखपूर्वक बैठने को आसन कहते हैं।

४. **प्राणायाम–** स्थिर आसन में श्वास प्रश्वास की गति को नियमित करना प्राणायाम है।

५. **प्रत्याहार–** इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करना।

६. **धारणा–** चित्त को किसी एक स्थान में स्थिर करने को धारणा कहते हैं।

७. **ध्यान–** जहाँ पर चित्त को लगाया जाए, उसी में वृत्ति का एकतार चलना अर्थात् चित्त का एकाग्र होना ध्यान है।

८. **समाधि–** जब ध्यान में केवल ध्येय ही रह जाय, वह अवस्था समाधि है।

धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों की एक साथ साधना 'संयम' है।

अष्टांगयोग के अभ्यास से क्लेशों का नाश होता है तथा अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। योगी को इन सिद्धियों के प्रति भी विरक्त होना चाहिए; क्योंकि ये सिद्धियाँ भी साधना में विघ्नकारक हैं।

क्लेश पाँच प्रकार के होते हैं। यथा – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश।

चित्त की वृत्तियों का निरोध, अभ्यास तथा वैराग्य से होता है। यह अभ्यास दीर्घकाल तक निरन्तर और श्रद्धापूर्वक साधना किये जाने पर दृढ़ होता है। योगशास्त्र में ईश्वर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्लेश, कर्मों के फल तथा इच्छा–वासनाओं से परे पुरुष विशेष ईश्वर है।

ईश्वर का वाचक शब्द ॐ है। ॐ के जप एवं अर्थ की भावना करने से चित्त एकाग्र होता है। उपर्युक्त अष्टांगयोग का अभ्यास करने से चित्त स्थिर हो जाता है, जिससे वैराग्य प्राप्त होता है, वैराग्य से समाधि में चित्त दृढ़ होता है। इसके बाद संसारिक गुणों का लय हो जाता है। इसे ही कैवल्य या मुक्ति कहते हैं, जो योग का चरम लक्ष्य है।

अष्टाध्यायी पाणिनि के द्वारा लिखित संस्कृत भाषा के व्याकरण का ग्रन्थ। इस ग्रन्थ के आठ अध्याय हैं, अतः इसे 'अष्टाध्यायी' कहते हैं। प्रत्येक अध्याय में चार पाद (भाग) हैं। इस प्रकार पूरे ग्रन्थ में बत्तीस पाद हैं। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसके लिखे ज़ाने के पहले तक, संस्कृत भाषा का व्याकरण अत्यन्त विस्तृत था। पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' के द्वारा इसे लघुतम रूप प्रदान किया। अष्टाध्यायी के द्वारा सम्पूर्ण संस्कृत व्याकरण को चार हजार से कुछ कम (३९६४) सूत्रों में ही समाहित कर दिया गया। जनश्रुति है कि पाणिनि ने संस्कृत व्याकरण को सरल तथा लघुतम रूप प्रदान करने के हेतु तपस्या की, जिसके फलस्वरूप भगवान् शिव उन पर प्रसन्न हुए और अपने डमरू से पाणिनि के सम्मुख चौदह ध्वनियाँ प्रकट कीं। वही ध्वनियाँ 'प्रत्याहार सूत्र' अथवा 'माहेश्वर सूत्र' कहलाती हैं, जो इस प्रकार है :

१. अइउण् २. ऋलृक् ३. एओङ् ४. ऐऔच् ५. हयवरट् ६. लण् ७. ञमङणनम् ८. झभञ् ९. घढधष् १०. जबगडदश् १२. खफछठथचटतव् १२. कपय् १३. शषसर् १४. हल्।

उपर्युक्त प्रत्याहार सूत्रों के आधार पर प्रत्याहार (वर्णों के समूह) बनते हैं जैसे अच्, हल् तथा अल् आदि। अच् के अन्तर्गत प्रथम से लेकर चार तक के सूत्रों के सभी वर्ण आ जाते हैं यथा :

अइउ (ण्) ऋलृ (क्) ए ओ (ङ्) ऐ औ (च्)–अच् का तात्पर्य वर्णमाला के (अं तथा अः को छोड़कर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभी स्वरों से है। इसी प्रकार हल् के अन्तर्गत पंचम प्रत्याहार सूत्र से लेकर चौदहवें प्रत्याहार सूत्र तक के सभी वर्ण आ जाते है। यथाः

हयवर (ट्) ल (ण्) ञमङणन (म्) झभ (घढध (ष्) जबगडद (श्) खफछ ठ थ च ट त ख् कप (य्) श षस (र्) तथा ह (ल्) अल् के अन्तर्गत सभी वर्ण समाहित हैं अर्थात् अइउ (ण्) से लेकर ह (ल्) तक। कोष्ठक के भीतर लिखे हुए हलन्त अक्षर इतिसंज्ञक हैं, अर्थात् वे सूत्र की समाप्ति को दर्शाते हैं।

पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' लिखे जाने के उपरांत परवर्ती वैयाकरणों ने उस पर व्याख्या स्वरूप जो कुछ लिखा, वह 'महाभाष्य' (महर्षि पतंजलि) तथा 'वार्त्तिक' (महर्षि कात्यायन) में संग्रहीत हैं। 'अष्टाध्यायी' के लाघव को देखकर पाश्चात्य विद्वानों ने उसे 'मानव मस्तिष्क की श्रेष्ठतम रचना' कहा है।

पाणिनि का रचनाकाल ईसापूर्व आठवीं शताब्दी माना जाता है। पाणिनि द्वारा संग्रहीत ग्रन्थों में अष्टाध्यायी के अतिरिक्त 'धातुपाठ' 'गणपाठ' 'उणादि सूत्र' 'लिङ्गानुशासन' हैं और इन सबका उपयोग संस्कृत भाषा तथा व्याकरण के लिये अनिवार्य है।

आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व 'अष्टाध्यायी' को आधार बनाकर भट्टोजि दीक्षित ने संस्कृत व्याकरण पर 'सिद्धांत कौमुदी' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसे प्रक्रिया ग्रन्थ की संज्ञा दी गयी। आधुनिक समय में व्याकरण पढ़ने हेतु 'अष्टाध्यायी' तथा 'सिद्धांत कौमुदी' (लघु सिद्धांत कौमुदी सहित) दोनों ही पद्धतियों का प्रचलन है।

अष्टावक्र कहोड़ ऋषि के पुत्र, इनका विलक्षण आख्यान 'महाभारत' में आया है। उनके पिता बहुत बड़े पण्डित थे। वे प्रतिदिन वेदपाठ करते थे। एक दिन जब वे वेदपाठ कर रहे थे, तो उनके गर्भस्थ बालक ने अचानक आवाज दी : 'यह सब बकवास है। वेदों में ज्ञान कहाँ है, बस मात्र शब्दों का संग्रह है। ज्ञान तो स्वयं हमारे भीतर है। शब्दों में सत्य नहीं है। सत्य स्वयं में है।' पिता यह सब सुनकर क्रुद्ध हुए। उनके अहंकार पर चोट पड़ी थी। आवेश में उन्होंने शाप दे डाला : 'जब पैदा होगा तो आठ अंगों से टेढ़ा होगा।' जब वे पैदा हुए तो वास्तव में आठ अंगों में टेढ़े थे; अतः उन्हें अष्टावक्र नाम दिया गया।

अष्टावक्र के प्रसंग में दूसरा प्रसंग है, जब वे बारह वर्ष के थे, तो उनके पिता महाराज जनक के यहाँ शास्त्रार्थ के लिए गये। कहोड़ ने अन्य सभी शास्त्रार्थियों को तो हरा दिया; लेकिन वन्दिन नाम के एक पंडित से वे स्वयं हारने लगे। यह सूचना जब अष्टावक्र तक पहुँची, तो वे राजमहल पहुँच गये। शास्त्रार्थ उस समय चरमावस्था पर था। पिता बिल्कुल हारने की स्थिति में पहुँच गये थे। तभी अष्टावक्र राजदरबार में पहुँचे। उपस्थित महापंडितों ने जब आठ अंगों से टेढ़े शरीर को देखा, तो वे हँसने लगे। अष्टावक्र भी उन्हें हँसता हुआ देखकर खिलखिला कर हँसने लगे।

महाराज जनक ने पूछा : यह सभी पंडित क्यों हँस रहे है; यह तो मैंने समझ लिया है; लेकिन बेटे, तुम क्यों हँस रहे हो ?

अष्टावक्र ने कहा : मै इसलिए हँस रहा हूँ कि इन चर्मकारों की सभा में सत्य का निर्णय हो रहा है !

उनके इन शब्दों को सुनकर चारों ओर सन्नाटा छा गया। महाराज ने पूछा : चर्मकार से तुम्हारा क्या तात्पर्य है ?

अष्टावक्र ने कहा 'बड़ी सीधी सी बात हैं। इन सभी सज्जनों को बस मेरी चमड़ी ही दिखाई दे रही है, मैं इन्हें नहीं दिखाई पड़ रहा हूँ, इसीलिए ये चर्मकार हैं। ये तो मात्र चमड़े के पारखी हैं। मेरा शरीर टेढ़ा–मेढ़ा है, लेकिंन मैं शरीर नहीं हूँ। यह जो भीतर बसा है, उसकी तरफ भी तो देखो, मुझसे सीधा–सादा व्यक्ति खोजना कठिन होगा।'

अष्टावक्र ने अपने इस कथन में वस्तुतः दो जीवन–दृष्टियों का प्रतिपादन किया था, एक चर्मदृष्टि, दूसरी आत्म–दृष्टि, जो प्रज्ञावान् आत्मा को देखती है। शास्त्रार्थ वहीं समाप्त हो गया और अष्टावक्र की तर्क–परम्परा से वन्दिन भी पराजित हो गये।

अष्टावक्र के साथ तीसरा प्रसंग है; महाराज जनक ने दूसरे दिन प्रातःकाल वायुसेवन के लिए जाते

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए बारह साल के उस बालक अष्टावक्र को देखा। वे रथ से उतर पड़े और उन्होंने उस बालक को साष्टांग दण्डवत् की। उन्होंने साग्रह कहा : 'आप मेरे भवन पधारें और मेरी जिज्ञासाओं का समाधान करें।' अष्टावक्र जब राजसभा में पहुँचे, तो महाराज ने उन्हें स्वयं सिंहासन पर बैठाया और उनसे प्रश्न किया : कैसे होगा ज्ञान; कैसे होगी मुक्ति; और कैसे मुझे वैराग्य की प्राप्ति होगी ?

अष्टावक्र ने इन प्रश्नों के उत्तर में जो कुछ कहा, वह 'अष्टावक्र गीता' अथवा 'अष्टावक्र संहिता' के नाम से उपलब्ध है। इस महाग्रन्थ में केवल ५२ श्लोक हैं, अर्थात् केवल १०४ पंक्तियाँ; लेकिन उसमें जो कुछ कहा गया है, उसे वेदों; उपनिषदों एवं श्रीमद्भगवत्गीता का सार माना गया है।

महाराज जनक के प्रश्न का उत्तर आरम्भ करते हुए, अष्टावक्र ने कहा : (१) तुम यदि मुक्ति चाहते हो; तो सभी विषयों को विष के सामान छोड़ दो; और क्षमा, आर्जव, दया, संतोष और सत्य का अमृत के समान सेवन करो।

(२) तुम न पृथ्वी हो, न जल हो, न वायु हो, न आकाश हो। मुक्ति के लिए आत्मा को, अर्थात् स्वयं को इन सभी का साक्षी चैतन्य मात्र जानों।

(३) यदि तुम देह को अपने से अलग कर चैतन्य में विश्राम कर स्थित हो जाओ, तो तुम अभी इसी क्षण सुखी, शान्त और सभी बन्धनों से मुक्त हो जाआगे।

(४) तुम न तो ब्राह्मण हो, न क्षत्रिय हो, न वैश्य हो, और न शूद्र। तुम्हारा कोई आश्रम भी नहीं है। तुम तो सर्वथा असंग हो।

अष्टावक्र संहिता महाराज जनक जैसे ज्ञानी पुरुष के दर्शनशास्त्र के विषय में जिज्ञासापूर्ण प्रश्नों और महर्षि अष्टावक्र के द्वारा उनके समाधानपूर्वक उत्तरों और उपदेशों का संग्रह ही 'अष्टावक्र संहिता' है। 'तुम यदि स्वयं को देह से पृथक् करके देखो, तो तुरन्त बंधनमुक्त हो जाओगे। तुम न तो कर्त्ता हो, न भोक्ता, केवल द्रष्टा हो। तुम अपने निरपेक्ष, निर्विकार, स्वनिर्भर, शांन्त और मुक्त स्वरूप में स्थित हो। दुःख का कारण द्वैत की भावना है। जब मन कुछ चाहता है, सोचता है, दुःखी होता है, सुखी होता है, तब बन्धन है। उसका विपर्यय ही मुक्ति है। कितने जन्मों तक शरीर, मन, वाणी से बड़े श्रम के साथ कर्म किये जाते हैं; किन्तु क्या उनसे मन को शान्ति प्राप्त होती है। यदि नहीं, तो अब अपने को इन सबसे अलग कर लो और विश्राम का अनुभव करो। सुख–दुख, जन्म–मरण यह सब दैवयोग से होते हैं, ऐसा जानकर साध्यकर्म को बिना श्रम के करता हुआ व्यक्ति उनमें लिप्त नहीं होता। 'न मैं देह हूँ, न यह देह मेरी है', ऐसा निश्चयपूर्वक जानने वाला व्यक्ति कैवल्य, (मोक्ष) प्राप्त करता है। धीर पुरुष, प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति किसी में दुराग्रह नहीं रखता और प्रत्येक कार्य को सुख पूर्वक करता है। आचार्य रजनीश ने अष्टावक्र संहिता पर पाँच खण्डों की बड़ी ही विस्तृत टीका लिखी है।

असंगध इसे अश्वगंधा भी कहते है; एक महत्त्वपूर्ण औषधीय वनस्पति, जिसका प्रयोग देशी–चिकित्सा, आयुर्वेद तथा यूनानी पद्धति में होता है। इसका वैज्ञानिक नाम 'विथेनिया सोमनीफेरा' है और यह सोलोनेसी कुल का सदस्य है। इसकी ताजी जड़ों से तीव्र गंध आती है, इसलिए इसे अश्वगंधा कहते हैं। ये जड़ें ही दवा बनाने के काम आती हैं। इसका पौधा शुष्क एवं उपोष्ठा जलवायु में भली प्रकार उगता है, इसलिए शुष्क क्षेत्र की बेकार भूमि को हरित रूप से सुंदरीकृत करने, उत्पादक बनाने हेतु यह एक व्यावहारिक फसल है। इसकी खेती मुख्यतः मध्यप्रदेश के पश्चिमी भाग में मन्दसौर जिले के मनासा, नीमच, जावद एवं मानपुरा तहसीलों में तथा उसके आसपास एवं राजस्थान के कोटा जिले तथा जम्मू के वन–क्षेत्रों में की जाती है। इसकी खेती करीब ४००० हेक्टेयर से अधिक भूमि पर की जा रही है। भारत में जड़ों का उत्पादन लगभग २००० टन है,

इसकी सूखी जड़ों का प्रयोग टानिक बनाने, गठिया रोग, त्वचा की बीमारियाँ, फेफडे की सूजन, पेट के फोड़ों तथा मन्दाग्नि के उपचार में किया जाता है। लिकोरिया तथा पुरुषों में वीर्य सम्बन्धी रोग दूर करने तथा कमर एवं कूल्हों के दर्द निवारण हेतु भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका प्रयोग किया जाता है। यह स्नायु–बल वर्धक भी है। हरी पत्तियों का प्रयोग जोड़ों की सूजन दूर करने तथा क्षय के इलाज में किया जाता है। इसका प्रयोग हर्बल चाय, पाउडर तथा गोलियाँ बनाने में करते हैं। इसके छाल का काढ़ा अस्थमा रोग में तथा 'बेडसोर' में लगाने के काम में आता है। इसका सत दूसरी जड़ी–बूटियों के साथ मिलाकर आयुर्वेदिक तथा यूनानी फार्मुलेशन बनाने में प्रयुक्त होता है। असगंध में मुख्य रसायन एल्कलाइड तथा विथैनोलॉइड हैं। इसकी जड़ों की बलवर्धक पौष्टिकता जिन्सेंग के समान होने के कारण इसे भारतीय जिन्सेंग भी कहते हैं। इसका दूसरा नाम नागौरी भी है।

असम प्रदेश भारत के पूर्वोत्तर भाग में स्थित। प्राचीन काल में इस क्षेत्र का नाम प्राग्ज्योतिषपुर था अर्थात् देश के पूर्व भाग का नगर। उसके बाद उसका नाम कामाख्या पड़ा; इस नाम का उल्लेख समुद्रगुप्त के एक शिलालेख में मिलता है। इधर के विद्वानों का कहना है कि अहोम राजाओं के शासन काल में इसे अहोम प्रदेश कहा गया, जो कालान्तर में असम बन गया। संस्कृत के असम शब्द का अर्थ अनुपम अथवा अद्वितीय है। एक और परिकल्पना प्रस्तुत की जा सकती है, यह प्रदेश समतल नहीं है अतः इसका नाम असम पड़ गया। कभी–कभी इसे उच्चारण की सुविधा के लिए आसाम भी कह दिया जाता है।

असम प्रदेश को पूर्वोत्तर भारत का प्रहरी कहा गया है। भूटान और बँगला देश की सीमाएँ उसे छूती है। इस प्रदेश का अधिकांश क्षेत्र पर्वतीय है जिसमें बीच–बीच में बड़ी सुरम्य घाटियाँ है, जिनमें खेती–बाड़ी होती है। राज्य के लगभग ८० प्रतिशत लोग कृषि पर निर्भर करते हैं। चावल यहाँ की मुख्य खेती है। अन्य फसलें हैं पटसन, चाय, कपास, तिलहन, गन्ना, आलू आदि। वर्षा यहाँ विशेष रूप से होती है इसलिए यहाँ की मिट्टी बहुत उपजाऊ है। लगभग ८६.४० लाख हेक्टेयर भूमि पर खेती की जाती है। यह प्रदेश अपनी वन–सम्पदा, जीव–जन्तुओं और अनेक प्रकार की वनस्पतियों के लिए भी प्रसिद्ध है। राज्य के २०.२४ लाख हेक्टेयर जमीन पर वन हैं जिसमें २२.२१ प्रतिशत क्षेत्र में आरक्षित वन हैं।

असम के अधिकांश उद्योग कृषि पर आधारित हैं। यहाँ सबसे अधिक चाय की खेती होती है। विश्व की चाय के कुल उत्पादन का लगभग १५ प्रतिशत असम में होता है। गुवाहाटी सी.टी.सी. किस्म की चाय की नीलामी का, विश्व का सबसे बड़ा केन्द्र बन गया है। असम में पेट्रोलियम, प्राकृतिक गैस, चूना, पत्थर और कोयले से सम्बन्धित भी काफी बड़े उद्योग हैं। बाली पाड़ा और भाटिया में बड़े विशाल औद्योगिक केन्द्र स्थापित किये गये हैं। कुटीर–उद्योगों में रेशम, बेंत और बाँस की वस्तुएँ बनायी जाती हैं। इनके अतिरिक्त गलीचे, लकड़ी, पीतल तथा अन्य धातुओं के भी छोटे–बड़े उद्योग हैं। रेशम का उपयोग अनेक प्रकार के कपड़ों के निर्माण में होता है जिन्हें ए.एन. डी., टसर, मूँगा आदि नाम दिये गये हैं। मूँगा तो रेशम की एक ऐसी किस्म है जो दुनिया के किसी और देश में नहीं मिलती।

असम के सड़कों की कुल लम्बाई ३३,११० किमी० है। राष्ट्रीय राजमार्ग २०७० किमी० लम्बा है। रेलमार्ग की लम्बाई ३८१६.१५ किमी० है। असम में ६ हवाई अड्डे हैं, जिनमें गुवाहाटी का गोपीनाथ वारग्दोलाई हवाई अड्डा, तेजपुर का सलोनीवाणी और डिबरूगढ़ का मोहनबाड़ी काफी बड़े हैं।

असम में प्रमुख बिजलीघर चन्द्रपुर और नामरूप में हैं, जिनसे शहरों के अतिरिक्त ६८ प्रतिशत गाँवों में बिजली पहुँचायी जाती है।

असम प्रदेश का गुवाहाटी नगर पर्यटन का दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। वहाँ कामाख्या मन्दिर, नवग्रह मन्दिर, वशिष्ट आश्रम, डोलगोविन्द, गाँधी मण्डप, राज्य संग्रहालय विशेष रूप से दर्शनीय हैं। इसके अतिरिक्त एक सींग वाले गैंडो के लिए प्रसिद्ध काजीरंगा नेशनल पार्क, बच्चों के लिए प्रसिद्ध मानस उद्यान, हॉफलांग (जातिंगा पहाड़ियाँ), विश्व का सबसे बड़ा नदी द्वीप माजुली, प्रसिद्ध पिकनिक स्थल चंदुबी झील, बौद्ध, हिन्दू और इस्लाम धर्म के मिलनस्थली के नाम से प्रसिद्ध जगह 'हाजो' दर्शन योग्य है। वैष्णव

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संत शंकर देव की जन्मभूमि बताद्रवा तथा रेशम उद्योग के लिए प्रसिद्ध सुवालकूची आदि अन्य दर्शनीय स्थल हैं।

असम के लोकनृत्यों में विशेष रूप से खेल–गोपाल, कलिगोपाल, महारास, बिहू, बोईसाजू, नटपूजा, खल चांगबी, होब्जानाइ, अंकुश, नागानृत्य तथा राखल बिछुआ हैं।

असम में २००१ तक ६ विश्वविद्यालय थे, ३१८ स्नातक एवम् परास्नातक महाविद्यालय, ४७५५ उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, ८०१६ माध्यमिक विद्यालय एवम् ३३२३६ प्राथमिक पाठशालाएँ हैं। छात्रों की कुल संख्या ६४६६३७५ थी।

प्रदेश की कुल संख्या २६६६५५५२८ थी। प्रदेश का कुल क्षेत्रफल ७८४३८ वर्ग किलोमीटर है। शासकीय भाषा अंग्रेजी एवं असमिया हैं, उसके साथ बंगाली पढ़ाई जाती है। साक्षरता का प्रतिशत ६४.२८ है। यहाँ का राजकीय पशु ताकिन और राजकीय पक्षी पीकॉक फीजेण्ट है। राजकीय दिवस २० मार्च है। राजधानी दिसपुर है।

असमिया, असमिया भाषा भारत के पूर्वोत्तर में स्थित असम प्रदेश की भाषा। असमिया भाषा भी भारत की अन्य भाषाओं की भाँति संस्कृत भाषा से ही उत्पन्न है। इस भाषा के गठन में बंगाली, उत्तरी बिहार की मैथिली, तिब्बत तथा उत्तरी बर्मा की बोलियों का योगदान है। असमिया भाषा तथा साहित्य का स्वतंत्र अस्तित्व पंद्रहवी शती ईस्वी में अधिक स्पष्ट हो गया। इसकी अपनी स्वतंत्र लिपि है जो देवनागरी से उद्भूत है। इस भाषा में 'विहगीत' तथा 'वनगीत' भरे पड़े हैं। 'विहगीत' प्रेम तथा उल्लास प्रदर्शित करने वाले गीत हैं तथा 'वनगीत' उन्हीं से मिले–जुलते लोकगीत हैं। असमिया का प्राचीन साहित्य यही गीत हैं। ये गीत असम की प्राकृतिक सुषमा की पृष्ठभूमि में लिखे गये हैं तथा उस प्रदेश के जनजीवन को चित्रांकित करते हैं। असम के वैष्णव कवियों ने कृष्ण के चरित्र से सम्बन्धित काव्य की रचना की है। इसके अतिरिक्त 'जिकिर' तथा 'मानिकोंवर' वह गीत हैं, जो वीरगाथाओं से सम्बन्धित हैं तथा परम्परा से पीढ़ी–दर–पीढ़ी चले आये हैं। इनमें प्रमुख हैं 'मणिराम दीवानार गीत'। यह गीत मणिराम दीवान की वीरगाथा पर आधारित है, जिन्होंने वर्ष १८०६ ई० में जन्म लिया तथा प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम (१८५७ ई०) में असम में अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व करते हुए अपने प्राणों की आहुति दी।

असमिया साहित्यकारों में सर्वप्रथम डाक महापुरुष का नाम आता है, जिनके नीति विषयक सूक्तियाँ असम में बहुत लोकप्रिय हैं। किन्तु वास्तव में असमिया साहित्य के जनक शंकरदेव हैं जिनका जीवनकाल १४४६ ई० से १५६६ ई० है। शंकरदेव वैष्णव सम्प्रदाय के कवि थे, जिन्होंने 'एक शरण धर्म' केवल 'कृष्ण' की शरण का ही दास्य (सेवक) भाव से प्रतिपादन किया। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे तथा संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का असमिया में अनुवाद किया, जिसमें प्रमुख 'श्रीमद्भागवत्' है। उनके अन्य प्रमुख मौलिक ग्रन्थ हैं, 'हरिश्चन्द्र उपाख्यान' 'कीर्तिन', 'अजामिल उपाख्यान', 'प्रहलाद चरित' 'गजेन्द्र उपाख्यान' तथा 'भक्ति प्रदीप'। शंकर देव की ही शिष्य परम्परा में माधवदेव (१४८६ ई० – १५६६ ई) प्रसिद्ध साहित्यकार हुए। इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं– 'नामघोषा', 'राजसूय यज्ञ', 'आदिकाण्ड रामायण', 'भक्ति रत्नावली', 'जन्म रहस्य' तथा 'नाम मालिका'।

पुरुषोत्तम विद्यावागीश ने असमिया व्याकरण तथा बकुल कायस्थ ने गणित पर पुस्तक लिखी। राम सरस्वती ने महाभारत का असमिया में अनुवाद किया। संस्कृत के नाटकों के आधार पर असमिया भाषा में भी नाटक लिखे गये। साहित्य की अन्य विधाओं, जैसे गद्य, निबन्ध, लघु कविताएँ, उपन्यास, कहानी आदि के क्षेत्र में भी असमिया में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। बीसवीं शती ईस्वी के असमिया साहित्यकारों में प्रमुख हैं : दुर्गाप्रसाद मजूमदार, तरूआ, मफीजुद्दीन हाजारिका, बेनधर राजखेवा, भोलानाथ दास, कमलाकान्त भट्टाचार्य, हेम गोस्वामी, लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ, अतुल हजारिका, शैला राजखोवा, रजनी बारडोलोई, बीना बरुआ, नब बरुआ, त्रैलोक्य गोस्वामी।

असमिया के गीतनाट्यों में 'भावना' अत्यधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकप्रिय है। ये गीतनाट्य अधिकांश में शंकरदेव की रचनाओं पर आधारित विषयों को लेकर 'नामधर' में मंचित होते हैं। 'नामधर' शंकरदेव के अनुयायियों द्वारा बनाये गये वे पूजा स्थान हैं, जहाँ कोई मूर्ति नहीं होती, केवल एक वेदी होती है। नाट्य प्रस्तुति के पूर्व वहाँ पर विधान सहित पूजा होती है। उसके पश्चात् 'भागवत्' इत्यादि के प्रकरणों पर आधारित 'भावना' की प्रस्तुति की जाती है। 'भावना' में स्त्री पात्रों की भूमिका बहुधा पुरुष पात्र ही करते हैं। वैसे आजकल 'भावना' की प्रस्तुति रंगमंच पर भी होने लगी है तथा स्त्री के चरित्रों की भूमिका में स्त्री–पात्र भी आने लगे हैं। 'भावना' के पात्र 'भँवरिया' कहलाते हैं।

असम के शास्त्रीय नृत्यों में 'सत्रिय नृत्य' उल्लेखनीय है, जिसे भारत के अन्य प्रदेशों में प्रचलित शास्त्रीय नृत्यों के समकक्ष लाने का सार्थक प्रयास किया जा रहा है।

असमिया साहित्य असम में साहित्य सृजन का आरम्भ ईसवी सन् पाँचवी–छठी शताब्दी में हुआ होगा क्योंकि यह उल्लेख मिलता है कि वहाँ के राजकुमार भास्कर वर्धन ने अपने मित्र कान्यकुब्ज और स्थाणेश्वर के सम्राट हर्षवर्धन को बड़ी सुन्दर लिपि में कुछ पुस्तकें भेजी थीं। उन्हीं दिनों चीनी यात्री बौद्ध भिक्षु ह्वेन साँग, भास्कर वर्धन के निमंत्रण पर कामरूप आये थे। इससे लगता है कि उन दिनों असम में बौद्ध–धर्म का विशेष प्रचलन था। हर्षवर्धन को भी बौद्ध–धर्म में विशेष रुचि थी; इसलिए लगता है कि बौद्ध–धर्म से सम्बन्धित पुस्तकें ही उन्हें भेजी गयी होंगी।

पूर्वोत्तर भारत में सातवीं–आठवीं शताब्दी में बौद्ध–सिद्धों के चर्यापदों की रचना हुई थी। बौद्ध सिद्धों की संख्या ८४ मानी जाती है। उनमें से कुछ असम प्रदेश के भी थे। सामान्यतः बौद्ध–सिद्धों ने पूर्वी अपभ्रंश में अपनी रचनाएँ लिखी थीं; लेकिन उनकी रचनाओं में मूलतः वे जिस क्षेत्र के थे, उसकी सामान्य बोली का प्रभाव दिखायी देता है। असम के बौद्ध–सिद्धों की रचनाओं में भी उस भाषा की कुछ छाप रही होगी, जो आगे चलकर असमिया भाषा के रूप में परिणत हुई। उस काल के कुछ मौखिक साहित्य का भी उल्लेख मिलता है, यथा– 'मणिकोंवर–फूलकोंवर', 'डाकवचन', 'तंत्र–मंत्र' आदि। इसमें 'डाकवचन' का महत्त्व, वैदिक उक्तियों जैसा कहा गया है। इन्हें लोक–साहित्य भी कहा जा सकता है और उनमें भी लोक–भाषा का वह स्वरूप रहा होगा जो आगे चलकर असमिया भाषा बना। ईसा की ग्यारहवीं–बारहवीं शताब्दी तक, भाषा का इसी प्रकार का विन्यास चलता रहा। मूल असमिया भाषा का साहित्य हमें तेरहवीं शताब्दी से मिलने लगता है।

उपलब्ध सामग्री के आधार पर, हेम सरस्वती को असमिया का पहला कवि और उनके 'प्रहलाद् चरित' को पहली रचना कहा जाता है। वे पश्चिमी कामरूप (असम) के शासक, दुर्लभ नारायण की राजसभा के कवि कहे जाते हैं। हरिहर विप्र का नाम भी उसी राजसभा के कवियों में आता है। उस काल के तीसरे प्रसिद्ध कवि, कविरत्न सरस्वती कहे जाते हैं, जिन्होंने 'जयद्रथ वध' नामक काव्य की रचना की थी।

असमिया साहित्य के उस आदि काल के कवियों में 'माधव कंदली' को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। उन्होंने कछारी महाराज महामाणिक्य के संरक्षण में रहकर वाल्मीकीय रामायण का अनुवाद असमिया भाषा में किया था।

उस काल के कवियों में एक अन्य वर्ग गीतिकाव्य–कारों का है। अब तक दुर्गावर, पीताम्बर, मनकर आदि की रचनाएँ मिली हैं, जो कथात्मक हैं। दुर्गावर ने रामकथा गीतशैली में लिखी। पीताम्बर ने 'उषा परिणय' प्रेमाख्यान की रचना की। मनकर ने एक लौक्रिक आख्यान के आधार पर 'देउला लखिन्दर' नाम की एक प्रेम कहानी लिखी। इस प्रणय काव्य में मनसा–पूजा का बड़ा ही गरिमामय वर्णन है।

असमिया साहित्य के उस आदिकाल में कुछ मंत्र–पोथियाँ भी लिखी गयीं। ये पोथियाँ गद्य में लिखी गयी हैं; लेकिन उनमें बड़ी लयात्मकता है। इन रचनाओं की विषय–वस्तु जादू–टोना, रोग–उपचार के मंत्र, भूत–पिशाचों से मुक्ति के सूत्र, तथा सर्पदंश से आरोग्य का निदान हैं।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय साहित्य के मध्य युग में दक्षिण से उठी हुई भक्तिधारा जो उत्तर भारत में आयी थी, वह मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या, काशी आदि होती हुई कालान्तर में असम में भी पहुँची थी। इस भक्तिधारा के कवियों में शंकरदेव का नाम सर्वप्रथम आता है। शंकरदेव ने पश्चिम से आयी भक्तिधारा के साथ, अपने प्रदेश के हेम सरस्वती और माधव कंदली के प्रभाव को भी आत्मसात किया था। शंकरदेव की रचनाओं में भक्ति आन्दोलन से आयी कृष्ण और राम के काव्य धाराओं का प्रभाव विशेष रूप से है, इसीलिए उन्हें वैष्णव कवि कहा जाता है।

शंकरदेव ने 'श्रीमद्भागवत पुराण' का विशेष रूप से अध्ययन किया था। इसीलिए उन्होंने जो पन्थ चलाया, उसे भागवती धर्म कहा गया है। उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'कीर्तनघोषा' है, जिसमें भागवत तथा अन्य पुराणों से संग्रहीत भक्तिपरक आख्यान हैं। उनका सिद्धान्त–मूलक ग्रन्थ है, 'भक्ति प्रदीप'। उनके अन्य ग्रन्थ हैं, निविनव सिद्ध', 'गुणमाला', 'लीलामाला' आदि। इन मुक्तक रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने 'रुक्मणी हरण' नाम के कथाकाव्य की भी रचना की थी। वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड को भी उन्होंने अनुवादित किया था। संस्कृत में उन्होंने 'भक्तिरत्नाकर' ग्रन्थ लिखा था।

शंकरदेव ने समय–समय पर नाटकीय रचनाएँ लिखी थीं, जिन्हें 'अंकियानाट' कहते हैं। उनकी नाटकीय रचनाएँ 'रामविजय', 'कालीदमन', 'पारिजात हरण', 'रुक्मणी हरण', 'पत्नी प्रसाद', आदि हैं। ये सभी रचनाएँ भक्तिभावना की अभिव्यक्ति के लिए विशेष रूप से बनी, 'ब्रजबुलि' में हैं। इन नाटकों के संवाद तो गद्य में हैं, जिनके बीच, पद्यांश भी हैं जिन्हें 'वरगीत' कहा जाता है। इन गीतों में भक्तिभावना बड़े प्रभावपूर्ण रूप में अभिव्यक्त हुई हैं। शंकरदेव को बड़ा समर्थ धर्म–प्रचारक भी कहा जाता है।

शंकरदेव ने जिस वैष्णव भक्तिधारा का सूत्रपात किया था, उसे माधवदेव ने और आगे बढ़ाया। माधवदेव संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान, बड़े कुशल संगीतज्ञ, नाटककार और धर्म प्रचारक थे। अपनी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'नामघोषा' में उन्होंने अपने आध्यात्मिक अनुभवों को, चिन्तन–मनन के साथ अभिव्यक्ति दी है। इसीकाल में अनन्तकन्दली ने 'कुमरहरण काव्य' और 'सीतार पातार प्रवेश' नाटक लिखे। श्रीधर कन्दली ने श्रीकृष्ण की बाल–लीलाओं को लेकर 'कानलीला' की रचना की। राम सरस्वती ने असमिया भाषा में 'महाभारत' और 'गीत–गोविन्द' के रूपान्तर प्रस्तुत किये।

असमिया के इन कवियों ने समय–समय पर गद्य में भी लिखा था; लेकिन गद्य साहित्य को सुव्यवस्थित रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय भट्टदेव को है। उन्होंने सोलहवीं शताब्दी में 'श्रीमद्भगवद्गीता' और 'भागवत पुराण' का असमिया में रूपान्तर किया।

असमिया साहित्य के इसके बाद के युग को आहोम या बुरंजी काल कहा गया है। आहोम जाति के लोग बाहर से आकर कामरूप में बस गये थे और उसका शासन–भार अपने हाथों में ले लिया था। ये आहोम मूलतः ताई जाति के थे, जो तिब्बतियों और चीनीयों के सम्मिश्रण से बनी थी और चीन तथा दक्षिण–पूर्वी एशिया के क्षेत्रों में रहती थी। वहीं से ये लोग प्रागृज्योतिषपुर या कामरूप में आये थे और यहाँ के शासक बन गये थे। इनमें वंश–परम्परा का इतिहास लिखने का रिवाज था, जिसे 'बुरंजी' कहते थे। 'बुरंजी' का मूल अर्थ है, 'अज्ञात कथाओं का भण्डार'। वस्तुतः इनमें वंश विशेष का जाना–पहचाना विवरण होता था। आहोम मूलतः तो बौद्ध थे, लेकिन यहाँ आकर उन्होंने वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया था और क्षेत्रीय निवासियों के साथ, पर्याप्त घुल–मिल गये थे। आहोम शासकों ने प्रारम्भ में तो अपनी ताई भाषा में लिखित बुरंजियों के स्थानीय बोली में अनुवाद कराये। यह कार्य आरम्भ में विभिन्न वंशों के पुरोहितों द्वारा कराया गया और फिर राजकीय संरक्षण में क्षेत्रीय लोगों से कराया जाने लगा। उस काल में जो बुरंजियां लिखी गयीं, उनमें तत्कालीन इतिहास बड़े ही जीवन्त रूप में सुरक्षित है।

बुरंजियों में, जिनमें वंश विशेष के आख्यान हैं, उसकाल में राजवंशों के भी विवरण लिखे गये। इनमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर्यखरी बलदेव की 'दरंराजवंशावली' और रतिकांत द्विज की 'राजवंशावली' विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त वैष्णव मतों के संरक्षण में कुछ चरित्र-काव्यों की भी रचना हुई।

संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद का तथा उनसे प्रेरणा लेकर ग्रन्थ-लेखन का कार्य, इस युग में भी चलता रहा। कविराज चक्रवर्ती ने जयदेव के 'गीत-गोविन्द' का दूसरा अनुवाद और फिर धर्मदेव भट्ट ने तीसरा अनुवाद प्रस्तुत किये। कविराज चक्रवर्ती ने 'शंखचुर वध' तथा 'शकुंतला' नाम के दो आख्यान काव्यों की भी रचना की थी।

असमिया में उस युग में कुछ साहित्येतर ग्रन्थों की रचना हुई : दर्शन, ज्योतिष, आर्युवेद, गणित, नृत्य, आदि पर भी ग्रन्थ लिखे गये। सुकुमार वरकाट ने 'हस्तविद्यार्णव', सागर खरी ने 'पीड़ा निदान', काशीनाथ ने 'अंकर आर्या', कवि चूड़ामणि ने 'ज्योतिष चूड़ामणि', बकुल कायस्थ ने 'कितावत', कविरत्न द्विज ने 'लीलावती', रत्नखरी ने 'कर्मफल', कविराज सरस्वती ने 'भाष्यवती' और 'श्रीहस्त मुक्तावली' की रचना की। इनमें से अन्तिम दो ग्रन्थ संस्कृत से अनुवादित हुए थे और उनमें यदा-कदा चित्रांकन भी था।

असमिया साहित्य की इस आहोम काल की रचनाएँ बुरंजियों से लेकर साहित्येतर कृतियाँ अधिकांश में गद्य में हैं, अतः इस काल को विद्वानों ने 'गद्य काल' भी कहा है।

असमिया साहित्य का आधुनिक काल अंग्रेजों और उनके साहित्य के सम्पर्क के साथ आरम्भ हुआ। असम में अंग्रेजी शासन का प्रारम्भ १८२६ से हुआ था। उनके आर्थिक शोषण, स्थानीय उद्योग-धन्धों के विनाश तथा दमन-चक्र को देखकर, उनके विरुद्ध संघर्ष करने की भावना जागी थी। अपने शासन को सुदृढ़ करने के लिए अंग्रेजों ने १८३८ से ईसाई-प्रचारकों को संरक्षण देना आरम्भ किया। ईसाई-प्रचारकों ने असमिया भाषा को ही अपने प्रचार का माध्यम बनाया। उन्होंने असमिया प्रेस की स्थापना की और अपना साहित्य प्रकाशित करने लगे। मुद्रण-कला का ज्ञान हो जाने पर असम के लोग भी अपनी पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित करने लगे। अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क से कहानी, उपन्यास, निबन्ध, हास्य-व्यंग्य परक रचनाओं के प्रयोग आरम्भ हो गये।

आधुनिक चेतना से सम्पन्न असमिया लेखकों में सबसे पहले आनन्दराम टेकियाल फुकन का नाम आता है। उनके समकालीन लेखकों में हेमचन्द्र बरूआ, गुणाभिराम बरूआ, सत्यनाथ वोरा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी लेखकों में नवीनता के प्रति आग्रह और अपनी रचनाओं में उसकी अभिव्यक्ति के साथ, परम्परा के प्रति निष्ठा भी मिलती है।

आधुनिक बोध अपनी पूर्णता के साथ चन्द्रकुमार अग्रवाल (१८५८-१९३८), लक्ष्मीनाथ देव बरूआ (१८५८-१९३८) तथा हेमचन्द्र गोस्वामी (१८७२-१९२८) की रचनाओं में मिलता है। इन तीनों ही लेखकों ने कलकत्ता में शिक्षा ग्रहण की थी और वहीं बंगला साहित्य की गतिविधियों से प्रेरणा लेकर १८८६ में 'जोनाकी' (जुगनू) नामक मासिक पत्रिका आरम्भ की थी। इस पत्रिका में लिखने वालों को 'जोनाकी-समूह' की संज्ञा दी गयी। इन सभी लेखकों पर सीधे बंगला साहित्य के माध्यम से भी अंग्रेजी के स्वच्छंदतावादी कवियों- वर्डस्वर्थ, शेली, कीट्स आदि का प्रभाव दिखाई देता है।

'जोनाकी-समूह' के लेखकों में लक्ष्मीनाथ देव बरूआ बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न थे। उन्होंने कहानी तथा ललित निबन्ध दोनों के समन्वय से एक नई साहित्यिक विधा विकसित की थी। उनकी रचनाओं का एक संकलन 'असमिया साहित्येक चनेकी' बड़ा ही लोकप्रिय हुआ था। उन्होंने समय-समय पर हास्य-व्यंग्य परक रचनाएँ भी लिखी थीं। उनकी ये रचनाएँ इतनी लोकप्रिय हुईं थीं कि उन्हें 'रसराज' की उपाधि प्रदान की गयी थी। उनके समकालीन लेखकों में कमलकान्त भट्टाचार्य, रघुनाथ चौधरी, नलिनी बाला देवी, अम्बिकागिरि रायचौधरी, नीलमणि फुकन आदि के नाम आते हैं। मफीजुद्दीन अहमद ने उन्हीं दिनों सूफी विचारधारा को लेकर बड़ी भावमयी कविताएँ लिखी थीं।

कथा-साहित्य तथा अन्य साहित्यिक विधाओं के क्षेत्र में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद्मनाथ गोस्वामी बरूआ, कृष्ण भूयान आदि ने बड़ी ही मर्मस्पर्शी कहानियाँ लिखी थीं। हास्य–विनोद की कहानियों के लिए लक्ष्मीनाथ फुकन विशेष प्रसिद्ध हुए थे। नाटक के क्षेत्र में अतुलचन्द हजारिका का नाम आता है। साहित्य–समीक्षकों में अम्बिकानाथ बोरा, लक्ष्मीकान्त काकती, कालीराम मेधी, विरंचि बरूआ तथा डिम्बेश्वर का विशेष योग माना जाता है।

असमिया साहित्य के प्रचार–प्रसार के लिए 'जोनाकी' के बाद 'अरुणोदय', 'बोली', 'जयन्ती' आदि और भी पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई थीं। नवीनता के प्रति विशेष आग्रहशील लेखकों के लिए 'रामधेनु' पत्रिका ने विशेष भूमिका का निर्वाह किया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पत्र–पत्रिकाओं की संख्या बढ़ गयी थी तथा साहित्यिक गतिविधियों में भी तीव्रता आ गयी थी।

असमिया के स्वातंत्र्योत्तर साहित्यकारों में भवेन्द्रनाथ शइकीया ने सर्वाधिक ख्याति अर्जित की है। वे बहुमुखी रचनात्मक प्रतिभा के धनी थे। उनका जन्म एक सामान्य परिवार में हुआ था और इससे उन्हें जन–जीवन के कष्टों और कठिनाईयों, संघर्षों तथा स्वप्नों को देखने का विशेष अवसर मिला था। उन्होंने अपना साहित्यिक जीवन माध्यमिक कक्षाओं में आरम्भ कर दिया था। उनकी कहानी पुरस्कृत हुई थी और उसके बाद उनका कहानी–लेखन, शिक्षा–ग्रहण के साथ बराबर चलता रहा था।

साहित्यिक अभिरुचि से सम्पन्न होते हुए भी उन्होंने विज्ञान का अध्ययन किया था। भौतिक विज्ञान में एम०एससी० करने के अनन्तर, शिवसागर के एक महाविद्यालय और गुवाहाटी के विश्वविद्यालय में चार वर्ष पढ़ाने के बाद, वे लन्दन चले गये थे और वहाँ उन्होंने भौतिक–विज्ञान में डॉक्टरेट की उपाधि अर्जित की थी।

भवेन्द्र नाथ में हम आधुनिक चेतना और वैज्ञानिक जीवन–दृष्टि के साथ, जनसाधारण के प्रति सहानुभूति विशेष रूप से देखते हैं। उनका स्पष्ट कहना था कि जनसाधारण के जीवन को हमें पुस्तकों के सहारे नहीं, उनकी जीवनधारा का भली प्रकार अवगाहन करके समझना चाहिए। अपने इसी साहित्य–दर्शन को लेकर, छोटे–बड़े अनेक राजकीय पदों पर कार्य करते हुए, उन्होंने अपना लेखन बराबर जारी रखा था। उनकी कहानियों के १९६३ से १९९८ तक ग्यारह संकलन प्रकाशित हुए। साहित्य अकादमी ने १९७६ में उनके कहानी संकलन 'शृंखला' के लिए उन्हें पुरस्कृत किया था।

कहानी लेखक के रूप में प्रतिष्ठित होने के अनन्तर शइकीया ने नाटक लिखने और उनके प्रदर्शन में रुचि ली। असम के विभिन्न शहरों में घूम–घूम कर, अपने नाटकों का प्रदर्शन करने के अनन्तर, वे फिल्म निर्माण की ओर अग्रसर हुए। अपनी फिल्मों के लिए उन्होंने अपनी ही कहानियाँ ली थीं। उनकी फिल्मों का प्रदर्शन केन्द्रीय सरकार द्वारा आयोजित फिल्म समारोहों में भी हुआ था। उन्हें सात बार 'रजत–मयूर' पुरस्कार और एक फिल्म के लिए 'सर्वोत्तम दृश्यालेख' पुरस्कार, मिले थे।

साहित्य, रंगमंच और फिल्म–जगत् में विशेष सक्रिय रहते हुए, उन्होंने बच्चों के लिए विभिन्न विषयों की पुस्तकें और निबन्धों के तीन संग्रह भी प्रकाशित किए थे। उनके लिखे तीन उपन्यास भी उपलब्ध हैं।

शइकीया ने पत्रकारिता के क्षेत्र में भी कार्य किया था। असमिया की सर्वाधिक प्रतिष्ठित पत्रिका 'प्रतीक' का वे जीवन–प्रर्यन्त सम्पादन करते रहे। बच्चों के लिए भी एक पत्रिका 'सम्फुरा' (मंजूषा) भी उन्होंने सम्पादित की थी। केन्द्रीय सरकार द्वारा संचालित 'पूर्वी क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र', कोलकाता के वे सदस्य रहे। 'नेशनल बुक ट्रस्ट', नई दिल्ली के भी वे दो वर्ष सदस्य रहे; और फिर 'श्रीमन्त शंकरदेव कला क्षेत्र गुवाहटी' के उपाध्यक्ष। मूलतः असमिया भाषा के लेखक होते हुए भी उन्हें अखिल भारतीय स्तर का साहित्यकार और रंग मनीषी कहा जाता है।

शइकीया के बाद वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य ने मूलतः असमिया भाषा में लिखते हुए भी, अखिल भारतीय ख्याति अर्जित की। उनमें जनतांत्रिक समाजवादी जीवन–मूल्यों के प्रति गहरी निष्ठा थी। डॉ० राम मनोहर लोहिया की समाजवादी जीवन–दृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को लेकर, उन्होंने नागा आदिवासियों के जीवन की समस्याओं का विशेष अध्ययन किया था। उनके उपन्यास 'मृत्युंजय' में हमें अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करते हुए एक नवयुवक 'धनपुर' और आदिवासी युवती 'दिमी' के अव्यक्त प्रेम का बड़ा ही मर्मस्पर्शी आख्यान मिलता है। इस व्यापक विन्यास में इन दोनों के जीवन की व्यथा–कथाएँ भी आ गयी हैं। भारतीय ज्ञानपीठ ने उनकी इस रचना के लिए उन्हें पुरस्कृत भी किया। उनके उपन्यास 'प्रजा का राज' के लिए साहित्य अकादमी ने भी उन्हें पुरस्कृत किया था। भारतीय ज्ञानपीठ ने उनका एक और उपन्यास 'पाखी घोड़ा' भी प्रकाशित किया।

वीरेन्द्र कुमार अपने सहज सरल व्यक्तित्त्व और मानवतावादी रचनाओं के कारण हिन्दी क्षेत्र में बड़े ही लोकप्रिय रहे। इलाहाबाद की ऐतिहासिक महत्त्व की साहित्यिक संस्था 'परिमल' ने उन्हें आमंत्रित किया था। इलाहाबाद के 'गांधी अध्ययन संस्थान' ने गांधी जी के जीवन–दर्शन पर उनका व्याख्यान आयोजित किया था। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने वृन्दावन में आयोजित साहित्यिक शिविर का उन्हीं से उद्घाटन कराया था। केन्द्रीय संस्था 'साहित्य अकादमी' के वे अध्यक्ष भी रहे थे।

असमिया के और भी साहित्यकार अखिल भारतीय स्तर पर अपनी रचनाओं के लिए सम्मानित हुए हैं। भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा पुरस्कृत साहित्यकारों में वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य के अतिरिक्त श्रीमती इन्दिरा गोस्वामी का नाम आता है। उनके उपन्यास 'छिन्नमस्ता' के लिए उन्हें यह सम्मान दिया गया। उनकी इस रचना में शक्तिपीठ कामाख्या की पृष्ठभूमि में १६२१ से १६३२ तक की अवधि की घटनाओं का विवरण है : हिंसा और अहिंसा की दो विचारधाराओं के संघर्ष के बीच गरीबी, अज्ञान और अन्धविश्वास से घिरे असम के जनजीवन की बड़ी मर्मस्पर्शी कहानी प्रस्तुत की गयी है। इन्दिरा जी को 'दक्षिण कामरूप की गाथा' के लिए साहित्य अकादमी ने १६६७ में पुरस्कृत किया था।

साहित्य अकादमी ने समय–समय पर असमिया के अनेक साहित्यकारों को सम्मानित किया है, यथा रजनीकान्त बरडले को उनके उपन्यास 'मनोमति' (१६६७) और 'मीरी बिटिया' (१६६८), सैय्यद अब्दुल मलिक– 'यायावर' (१६६२), लक्ष्मीनन्दन वोरा– 'पाताल भैरवी' (१६६६), नवकान्त बरूआ– 'पित्तरों के हाड़' (२००१), योगेश दास को उनके कहानी संकलन 'पृथ्वी की पीड़ा' के लिए। साहित्य अकादमी ने भारतीय साहित्य के निर्माता श्रृंखला में असमिया के दो आधुनिक साहित्यकारों आनन्द राम ढेकियाल फुकन और आनन्द राम बरूआ पर ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। असमिया साहित्य ने इस प्रकार अखिल भारतीय साहित्य जगत् में अपनी पहचान बनाई है।

असहयोग गांधी जी द्वारा अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय स्वतंत्रता के लिए सन् १६२०–२१ में चलाया गया आन्दोलन। असहयोग का सामान्य अर्थ है, सहयोग अर्थात् साथ न देना। अगर शासक को, जो शासित हो रहे हैं, उनका सहयोग न मिले तो शासन चलाना सर्वथा असम्भव हो जाता है। इसी विचार को लेकर गांधी जी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में अपना समुचित स्थान बनाने के बाद, यह निश्चय किया कि जनसाधारण को अंग्रेजी सरकार के साथ किसी प्रकार का सहयोग न देने के लिए; जनसाधारण को खड़ा किया जाये। उन्होंने कांग्रेस की सितम्बर १६२० की बैठक के लिए, जो प्रस्ताव तैयार किया था, उसमें पहले मात्र असहयोग की बात कही थी। फिर वे तो शांतिमय संघर्ष के पक्षपाती थे, इसलिए उसे 'शांतिमय असहयोग' कहा। फिर उन्हें लगा कि मात्र शांतिमय शब्द जोड़ने से बात भली प्रकार स्पष्ट नहीं होगी और तब उन्होंने उसके स्थान पर 'अहिंसात्मक असहयोग' नाम दिया। अपनी इस विचार परम्परा को और भी स्पष्ट करने के लिए उसे 'सविनय अवज्ञा' की संज्ञा दी। कालान्तर में वे उसे 'सत्याग्रह' अर्थात् सत्य की प्रतिष्ठा के लिए, 'जिस देश में जो रहता है, वहाँ उसी का शासन होना चाहिए, के दृष्टिकोण से 'सत्याग्रह' कहने लगे।

गांधी जी के मन में इस अहिंसात्मक असहयोग का विचार कैसे आया ? जहाँ तक अहिंसा की बात है, भारतीय, जैन, बौद्ध एवं वैष्णव परम्पराओं से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिचित होने के कारण, उसका उन्हें समुचित भान था। उसे जनान्दोलन में अपनाने का विचार, अपनी आत्मकथा में जैसा उन्होंने स्वयं लिखा है, पश्चिम के कुछ विचारकों एवं आन्दोलनों से मिला था। जब वे इंग्लैण्ड में न्याय–विधान की शिक्षा ग्रहण कर रहे थे, तो उनका सम्पर्क कुछ शांतिवादी विचारकों से हुआ था, जो युद्ध के स्थान पर शान्तिमय तरीकों से समाज को बदलने की बात कहते थे। उन्हीं दिनों उन्होंने पश्चिम के कुछ अराजकतावादियों यथा रूस के प्रिंस क्राप्टकिन के ग्रन्थों 'रोटी की विजय' और संघर्ष या सहयोग' का अध्ययन किया था, जिसमें शान्तिमय तरीकों से सुव्यवस्था लाने की बात कही गयी थी। टॉल्स्टॉय के शान्तिवादी विचारों ने भी, उन्हें प्रभावित किया था। रूस में उन्हीं दिनों राजनीतिक व्यवस्था को बदलने के लिए एक शान्तिमय आन्दोलन चला था; लेकिन इस सम्बन्ध में गांधी जी सबसे अधिक अमेरिकी विचारक हेनरी डेविड थोरो (१८७०–६२) के प्रसिद्ध निबन्ध 'सिविल डिसओबिडियेंस' से प्रभावित हुए थे। थोरो ने यह निबन्ध मैक्सिको में चल रहे युद्ध को लेकर लिखा था, जिसमें उन्होंने स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रहे लोगों से शान्तिमय तरीकों से संघर्ष करके अपना उद्देश्य सिद्ध करने की बात कही थी। गांधी जी ने जॉन रस्किन की पुस्तिका 'अन्टु दि लास्ट' के अपने ऊपर पड़े हुए विशेष प्रभाव को भी स्वीकार किया है। रस्किन ने तो मात्र अन्त्योदय की बात कही थी; लेकिन गांधी जी ने 'सर्वोदय' नाम देकर उसका अनुवाद किया था। वे स्वयं कहते हैं कि इन्हीं प्रभावों को लेकर उनके मन में लोक–मंगल की प्रतिष्ठा के लिए शान्तिमय उपाय अपनाने की बात उठी थी। गांधी जी जब भारतीय राजनीति के क्षेत्र में आये थे, तो भारतीय स्वाधीनता के लिए दो प्रकार के प्रयास चल रहे थे। कुछ बुद्धिजीवी तो ऐसे थे जो लिखा–पढ़ी, आवेदन–निवेदन की पद्धति से देश में स्वशासन लाने के लिए प्रयत्नशील थे; दूसरा वर्ग सशस्त्र–क्रान्ति के द्वारा देश को स्वाधीनता दिलाने के लिए प्रयत्नशील था। गांधी जी ने अब तक अफ्रीका के अपने राजनीतिक आन्दोलन के अनुभव से यह समझ लिया था कि इन दोनों ही उपायों से देश को स्वाधीन नहीं कराया जा सकता। तभी उन्होंने देश के विभिन्न भूभागों में घूम–घूमकर तथा चंपारन सत्याग्रह जैसा आन्दोलन चलाकर देश के जनसाधारण को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक करने का प्रयास किया।

गांधी जी ने जब कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं और देश के जनसाधारण को समुचित रूप से शान्तिमय आन्दोलन के लिए राजी कर लिया, तो बम्बई (अब मुम्बई) में उनकी अध्यक्षता में केन्द्रीय सत्याग्रह समिति बनी। उसकी ओर से २८ फरवरी १६१६ को वह ऐतिहासिक घोषणा–पत्र प्रकाशित हुआ, जिसमें कानून न मानने की बात कही गयी थी। उसके बाद देश भर में जनसभाएँ होने लगीं, उपवास और हड़ताल के कार्यक्रम चलने लगे। इस आन्दोलन ने पंजाब में सर्वाधिक ज़ोर पकड़ा और उसे रोकने के लिए अंग्रेजों ने वहाँ फ़ौजी कानून लागू कर दिया। उस कानून के विरोध के लिए अमृतसर के जलियाँवाला बाग में जब जनसभा हो रही थी, तो जनरल डायर ने चारों ओर से घिरे हुए उस परिसर में गोली चलवाकर बड़ी नृशंसता, क्रूरता और बर्बरता से हज़ारों लोगों की हत्या करा दी, जिनमें बच्चे, बूढ़े और स्त्रियाँ भी थीं। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस अत्याचार की सूचना पाकर, अंग्रेजों की दी हुई 'सर' की उपाधि वापस कर दी थी। इसी असाधारण परिस्थिति के कारण, गांधी जी ने वह जनान्दोलन खड़ा किया, जिसे 'असहयोग' का नाम दिया जाता है।

गांधी जी ने अपना 'असहयोग' का प्रस्ताव सर्वप्रथम राष्ट्रीय कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में रखा। उसके बाद सितम्बर १६२० में नागपुर कांग्रेस में उसे स्वीकृति मिली। गांधी जी ने इस आन्दोलन का जो कार्यक्रम बनाया था, उसके पाँच सूत्र थे : १. विद्यार्थी अंग्रेजों द्वारा चलाये गये विद्यालयों का बहिष्कार करें; २. सरकारी कर्मचारी इस्तीफा दें; ३. जनसाधारण सरकारी अदालतों में जाना छोड़ दें; ४. सरकार ने लोगों को जो उपाधियाँ प्रदान की थीं, उन्हें अस्वीकार करना; और ५. सरकार ने जो कौंसिलें और धारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभाओं की स्थापना कर स्वशासन का दिखावा किया है, उनका बहिष्कार किया जाये। गांधी जी ने इन सभी को मिलाकर उसे 'पंचबहिष्कारों' की संज्ञा दी थी। इन बहिष्कारों के साथ उन्होंने लोगों को यह भी सलाह दी थी कि विदेशी वस्त्र न धारण करें, विदेश से आयी हुई किसी भी चीज का इस्तेमाल न करें, और अपने ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन दें।

पं० सुन्दरलाल ने अपनी पुस्तक 'भारत में अंग्रेजी राज्य' में लिखा है कि गाँधी जी के इस आन्दोलन से कोई ५० वर्ष पहले पंजाब के नामधारी सम्प्रदाय के गुरु रामसिंह जी ने, बिल्कुल इसी प्रकार का आन्दोलन चलाया था। पंजाब के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर स्वयं गुरु जी से मिलने आये थे। जब उन्होंने गुरु जी से पूछा कि जो कुछ भी आप कर रहे हैं, उसमें आपका क्या उद्देश्य है ? उन्होंने बड़ी निर्भीकता से जवाब दिया था, 'मैं आप लोगों को बाहर निकालने की तैयारी कर रहा हूँ।' गुरु जी हिंसा के प्रबल विरोधी थे। वे अहिंसा को पंजाबी में 'छिमा' कहते थे। अपने अनुयायियों से उनका कहना था कि अंग्रेजी सरकार को किसी प्रकार का सहयोग न दो। अपने बच्चों को अंग्रेजी विद्यालयों में पढ़ने न भेजो। अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए, अंग्रेजों की अदालतों में न जाओ। अपनी चिट्ठी–पत्री के लिए, अंग्रेजों के डाकखाने का इस्तेमाल न करो। अंग्रेजों द्वारा चलायी जा रही रेलगाड़ियों पर भी न बैठो। अंग्रेज सरकार को यह सब नागवार गुज़रा था और उन्होंने गुरु जी को पकड़ कर रंगून भेज दिया था। उनके अनुयायियों को भी, जो उनके बताये असहयोग को ही आगे बढ़ा रहे थे, बहुत बड़ी संख्या में गिरफ्तार कर विशेष रेलगाड़ियों में भरकर बंगाल की ओर भेज दिया गया था। कोई भी नहीं जानता कि उन्हें सुन्दरवन के खूँख़्वार जानवरों के आगे छोड़ दिया गया या बंगाल की खाड़ी में डुबो दिया गया था। नामधारी सम्प्रदाय के लोगों की गिरफ्तारी उसके बाद भी बराबर चलती रही।

गांधी जी ने जो असहयोग आन्दोलन खड़ा किया था, वह भी कुछ इसी प्रकार का था। छात्रों ने बहुत बड़ी संख्या में स्कूल छोड़ दिये थे; सरकारी कर्मचारियों ने इस्तीफे दे दिये थे; वकीलों ने अंग्रेजों के न्यायालयों में जाना बन्द कर दिया था और सरकारी उपाधियाँ लौटा दी गयी थीं। गांधी जी ने इस आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए 'नवजीवन' और 'यंग इण्डिया' का प्रकाशन आरम्भ किया था। सन् १९३१ में अहमदाबाद में गांधी जी को इस आन्दोलन का पूर्ण संचालक चुना गया था। बारदोली सत्याग्रह आरम्भ हुआ था; लेकिन इसी बीच चौरी–चौरा में आन्दोलनकारियों ने पुलिस चौकी पर हमला कर २२ कर्मचारियों की हत्या कर दी। गांधी जी ने यह सूचना पाते ही अपना आन्दोलन स्थगित कर दिया था। गांधी जी ने कालान्तर में फिर इसी प्रकार के आन्दोलन चलाये; लेकिन उन्होंने उन्हें अलग–अलग नाम दिये। सन् १९३० में उन्होंने जो आन्दोलन चलाया था, उसे व्यक्तिगत सत्याग्रह का नाम दिया था। बिनोबा भावे पहले सत्याग्रही बनाये गये थे। फिर सामूहिक सत्याग्रह हुआ था। उसके बाद ९ अगस्त १९४२ का 'अंग्रेजों, भारत छोड़ो' आन्दोलन हुआ। गांधी जी ने इस अन्तिम आन्दोलन को भी 'अहिंसात्मक असहयोग' का ही रूप देने की योजना बनायी थी; लेकिन उन दिनों इंग्लैण्ड में भारतीय विभाग के सचिव लॉर्ड एमरी ने उस आन्दोलन को कुचलने के लिए उसके हिंसात्मक स्वरूप को प्रचारित किया था। गांधी जी के उस आन्दोलन का तात्कालिक परिणाम चाहे कुछ भी रहा हो, सन् १९४७ में हम आजाद हुए। हमारी आजादी में गांधी जी की भूमिका का अभिनन्दन करते हुए कविवर प्रदीप ने एक गीत लिखा था, 'दे दी हमें आज़ादी बिना खड्ग बिना ढाल। साबरमती के सन्त तूने कर दिया कमाल।' गांधी जी द्वारा चलाया गया यह आन्दोलन विश्व का एकमात्र ऐसा प्रसंग है, जिसमें मात्र शांतिमय असहयोग के माध्यम से एक विशाल देश ने आज़ादी अर्जित की।

असित कुमार हाल्दार असित कुमार हाल्दार में काव्य और चित्रकला का सुन्दर संयोग हुआ था। हाल्दार का जन्म १० दिसम्बर १८९० ई० को कलकत्ता में हुआ था। सन् १९०९ में वे अवनीन्द्र नाथ के शिष्य हो गये। अपनी शिक्षा समाप्त करके उन्होंने शांति निकेतन में कला–भवन की स्थापना की,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और १९२३ ई० तक वहाँ प्रिंसिपल रहने के उपरान्त, एक वर्ष जयपुर के महाराजा स्कूल ऑफ़ आर्ट्स में रहकर १९२६ में, लखनऊ कला महाविद्यालय के प्राचार्य हो गये। सन् १९६४ ई० में उनका देहावसान हुआ।

असित कुमार हाल्दार, अवनीन्द्र नाथ के प्रमुख शिष्यों में से एक थे। वह पुनरुत्थान काल के अग्रगामी कलाकार के रूप में माने गये। लेडी हरिंघम की अध्यक्षता में अजन्ता के चित्रों की प्रतिलिपियाँ बनाने में आपने नन्दलाल बोस के साथ काम किया। लन्दन की 'रॉयल सोसायटी ऑफ़ आर्ट्स' की फेलोशिप इन्हें प्रदान की गयी। सुकुमारता और मधुरता उनकी कला के प्रधान गुण हैं। इनकी रेखाएँ लयात्मक, स्पष्ट तथा कोमल हैं। 'मेघदूत', 'ऋतु–संहार', 'उमर ख़य्याम' तथा 'रामायण' विषयक उनके चित्र विशेष प्रसिद्ध हुए। इन्होंने बाल मनोरंजन, दर्शन तथा ललित कला पर बंगला और अंग्रेजी में पर्याप्त लेखन कार्य किया जिसमें 'इंडियन कल्चर एट ए ग्लांस', 'गौतम गाथा', 'भारतीय चित्रकला', 'ललित कला की धारा' तथा 'रूपदर्शिका' प्रमुख हैं।

असीमो जापान की होंडा मोटर्स कम्पनी लिमिटेड द्वारा निर्मित मानवाकार रोबोट। उसका यह नामकरण ''एडवांस स्टेप इन एनोवेटिव मोबिलिटी'' का संक्षिप्त रूप है। इस कम्पनी ने सन् १९८६ में यह कार्य आरम्भ किया था और सन् २००० में उसके अनुसन्धान और विकास विभाग ने उसे पूरा किया। जुलाई, २००३ में इसका प्रदर्शन जर्मनी में हुआ था और तब यह भारत में प्रदर्शित हुआ। हीरो होंडा के अध्यक्ष बृज मोहन लाल मुञ्जाल ने १ सितम्बर, २००३ को नई दिल्ली में दर्शकों के आगे उसे उपस्थित किया था और उसके बाद यह भारत के अन्य बड़े शहरों में प्रदर्शन के लिये भेजा गया।

'असीमो', बड़े ही विकसित तकनीक से बना रोबोट है। वह केवल आगे और पीछे चलता ही नहीं, मुड़ सकता है, सीढ़ियों पर चढ़ और उतर सकता है और पास की चीज को घुमा फिरा भी सकता है। इन गतिविधियों के अतिरिक्त वह विभिन्न वस्तुओं को, लोगों को, उनकी चेष्टाओं को भी समझ सकता है। उनके कंठ स्वर को भी पहचान सकता है और जो कुछ कहा जाता है, उसके अनुरूप कार्य भी कर सकता है।

अभी यह रोबोट उन अन्य क्रिया–कलापों के लिये अनुसन्धान की ही प्रक्रिया में है। जब यह कार्य पूरा हो जायेगा तब यह यंत्र–मानव, मनुष्य के अनेक कार्य करने के अतिरिक्त उसके सहायक के रूप में भी सक्रिय दिखाई देगा। भविष्य में सम्भवतः एक दिन वयोवृद्ध लोग, प्रातःकाल के भ्रमण में भी अपने सहायक के रूप में उसका उपयोग कर सकेंगे। होंडा मोटर कम्पनी तब व्यावसायिक रूप में भी इसका निर्माण करेगी और अपनी निर्मित मोटरसाइकिलों और कारों की तरह, इनका विपणन भी करेगी।

असीरिया बहुत ही प्राचीन काल का दक्षिण–पश्चिम एशिया का एक राज्य। आज के इराक के उत्तर भाग में वह दज़ला–फ़रात नदियों के बीच स्थित था। उस राज्य का नामकरण उस क्षेत्र में परम–सत्ता को जो संज्ञा दी गयी थी, 'असुर' उसके आधार पर हुआ होगा। 'असुर' नाम उस राज्य की राजधानी का भी था।

पुरातात्त्विक खोजों से उपलब्ध सामग्री के आधार पर ईसा से कोई चार हज़ार वर्ष पहले, वह क्षेत्र बसना शुरू हो गया था। वहाँ लोगों ने मिट्टी के छोटे– छोटे मकान बनाये थे, गाँव बसाये थे, खेती–बाड़ी की थी और पशु–पालन भी किया था। उस क्षेत्र में इस प्रकार जो हरियाली हो गयी थी, उसके कारण, अरब के रेगिस्तानी क्षेत्रों से आ–आकर लोग वहाँ बसने लगे थे। यह क्रम शताब्दियों तक चला था और फिर एक मिली–जुली जाति विकसित हुई थी; लेकिन अधिकांश में वे लोग सामी कहे जाते थे। यह जातीय सम्मिश्रण ईसा के कोई २००० वर्ष पूर्व तक चलता रहा। पहले अकादी और फिर सुमेरो जाति के लोगों ने उन्हें प्रभावित किया। वे एक प्रकार की सामी भाषा बोलते थे और मिट्टी पर कीलाक्षरों में लिखा करते थे।

असीरिया के लोग अनेक पड़ोसी जातियों के लोगों से बराबर संघर्ष में बने रहने के कारण, बड़े ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहसी हो गये थे, और उनमें सैनिक चेतना भी विकसित हो गयी थी। ईसा पूर्व १६वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में सामी आक्रमणकारी शम्सी अदाद (ई०पू० १८१४–१७८२) ने असीरिया में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली थी। उसके उत्तराधिकारी इतने सशक्त नहीं रहे थे, इसलिए उन्हें अपने पड़ोसियों से बराबर संघर्ष करना पड़ा, और ई०पूर्व १५०० से लेकर १३६० तक वह मितानी राज्य का भाग रहा। यह पराधीनता असीरिया के लोगों को स्वीकार नहीं थी, अतः असुर डबलित नाम का एक योद्धा उठा, उसने सेना बनायी, और फिर अपने प्रदेश को मितानियों के शासन से मुक्त किया। ईसा पूर्व १३६५ से लेकर १३३० तक उसका शासन रहा। उसके बाद उसके वंशज कभी दृढ़ता और कभी शिथिलता के साथ राज्य चलाते रहे। ई०पू० १११६ से लेकर १०७७ तक तिगलाथ पिलेसर प्रथम ने शासन–भार संभाला। उसने पड़ोसी जातियों को पराजित किया और अपना साम्राज्य कालासागर और भूमध्य सागर के तटों तक विकसित कर लिया; लेकिन उसके उत्तराधिकारी वैसे सशक्त नहीं रहे। फिर भी उन्होंने यथासंभव अपने राज्य की सीमाओं को सुरक्षित रखा।

ई०पू० ८८४ में असुर नासिर पाल ने शासन–सूत्र अपने हाथों में लिया और असीरिया के अपने राज्य को फिर एक साम्राज्य का रूप दे दिया। पूर्व–पश्चिम और दक्षिण, अनेक दिशाओं में उसकी सेनाएँ गयीं और भूमध्य सागर के क्षेत्र तक उसका शासन हो गया। इस बड़े साम्राज्य की सुरक्षा के लिए उसने कलक (आज के निमरूद के पास) को अपनी राजधानी बनाया। उसके बेटे सलमाने ज़ेर तृतीय ने अपने साम्राज्य को और विस्तार दिया, और भूमध्य सागर की ओर जाने वाले अनेक व्यापार–मार्गों को सुरक्षा प्रदान की। लेकिन उसके वंशज फिर उतने सशक्त नहीं हुए, फिर भी लगभग १०० वर्षों तक वे अपना शासन चलाते रहे।

असीरिया के साम्राज्य का पुनरुत्थान तिगलाथ पिलेसर तृतीय (ई०पू० ७४५–७२२) के शासन–काल में फिर देखने को मिला। उसकी अपनी तथा उत्तराधिकारियों की बौद्धिक क्षमता तथा अथक परिश्रम के फलस्वरूप असीरिया फिर विश्व का सशक्त राज्य बन गया। स्वयं तिगलाथ तृतीय ने अपने विजय–अभियान में, सीरिया, फ़ोनीशिया, दमस्कस, गाज़ा और इज़राइल के राज्यों को अपने प्रभुत्व में लिया, और ई०पू० ७२६ में उसने अपने को बेबीलोनिया का भी शासक घोषित कर दिया। असीरिया के शासकों में उसके बाद सरगॉन (ई०पू० ७२२–७०५) का शासनकाल रहा है। उसने अपने विजय अभियान में पहले इज़राइल पर अधिकार किया, उसे नया नाम समालिया दिया, और फिर डरारतू और मेरें के राज्यों को भी अपने अधिकार में ले लिया। कुछ समय बाद ही उसने बेबीलोनिया के विद्रोहियों को भी कुचल दिया, और फिर कलक से हटाकर दुर–शारोकिन को अपनी राजधानी बनाया। उसके वंशजों के शासन–काल में असीरिया का राज्य बड़ा ही शक्ति–सम्पन्न हो गया।

ई०पू० ७०५ से ६८१ के बीच इसी वंश के शासक सेनाचेरीब को अनेक राज्यों के विद्रोह झेलने पड़े, फिर भी उसने किसी प्रकार अपने साम्राज्य को सुरक्षित रखा। विद्रोहियों को दबाते हुए उसे बेबीलोनिया शहर को भी नष्ट करना पड़ा। शासन की सुव्यवस्था के लिए उसने निन्हेवे को अपनी राजधानी बनाया। ई०पू० ६८१ में स्वयं उसके एक पुत्र ने उसकी हत्या कर दी। उसके पुत्रों के बीच संघर्ष हुआ और फिर उसके छोटे बेटे ईसर हदान (ई०पू० ६८१–६६८) ने सबको पराजित कर शासन–सूत्र अपने हाथों में ले लिया। उसने बेबीलोनिया को फिर बसाया और मिस्र को अपने साम्राज्य का एक अधिकृत प्रदेश बना लिया।

असुर बनिपाल (ई०पू० ६६८–६२६) के शासन–काल में असीरिया का साम्राज्य अपने चरम वैभव तक उठ गया। उसने मेसोपोटामिया, मिस्र, जूदह, समालिया, फ़ोनेशिया, सीरिया तथा मेदिया और इलम के कुछ भागों पर भी अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। लेकिन जल्दी ही उसे ई०पू० ६५२ में मिस्र के विद्रोह का सामना करना पड़ा और फिर बेबीलोनिया में भी संघर्ष उठ खड़ा हुआ। इन विद्रोहों के शमन में उसे चार वर्ष लग गये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असुर बनिपाल के बाद जो शासक हुए वे बस तभी तक अपने साम्राज्य को सुरक्षित रख पाये, जब तक वे सैन्य–शक्ति को सुदृढ़ रख सके। साम्राज्य इतना अधिक विस्तृत हो गया था कि उसे सुचारु रूप से चलाने के लिए, बड़ी मुश्किलें उत्पन्न हो रही थीं। विशाल सेना को निरन्तर उठने वाले संघर्षों के शमन के लिए, सुदृढ़ बनाये रखना बड़ा मुश्किल हो रहा था। असीरिया का राज्य धीरे–धीरे दरिद्र होता गया और वह सर्वथा अशक्त हो गया। पहले बाबुल और मीदी के शासकों ने उस पर आक्रमण किया और फिर ई०पू० ६१२ में मीदियों ने राजधानी निन्हवे को भी विनष्ट कर दिया। इन आक्रमणों के फलस्वरूप असीरिया का साम्राज्य सर्वथा विनष्ट हो गया और उस पर बेबीलानिया के छल्दिया जाति के लोगों का अधिकार हो गया।

असुर 'अ' उपसर्ग के निषेधवाचक होने के कारण सामान्यतः इससे आशय 'न सुर :' अर्थात् देवता नहीं, दैत्य, राक्षस आदि लिया जाता है। वामन शिवराम आप्टे ने अपने शब्दकोष में, इस सन्दर्भ में बाल्मीकीय रामायण का एक वक्तव्य भी उद्धृत किया हैः 'सुराप्रतिग्रहाद्देवाः सुरा इत्यभिविश्रुता, अप्रतिग्रहणात्तस्या दैतेयाश्चासुरास्तथा'; और फिर अर्थ दिया है, देवताओं का शत्रु, दैत्य, दानव आदि। लेकिन डॉ० बलदेव उपाध्याय ने 'असुर' शब्द की व्युत्पत्ति; निरुक्त' के आधार पर प्राणवन्त, प्राणशक्ति से सम्पन्न (असुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति।) उन्होंने इस प्रसंग में ऋग्वेद का भी आधार लिया है : उसमें ६० स्थान पर इसका प्रयोग शोभन अर्थ में तथा केवल १५ स्थलों पर देवताओं के शत्रु के लिए किया गया है, 'असुर' शब्द का यह शोभन अर्थ प्राचीन ईरान की पारसी जाति के प्रधान देवता 'अहुरमज्द' में भी मिलता है, जिसके अर्थ परम् ज्ञान, सर्वशक्तिमान् ईश्वर किये गये हैं। भारतीय आर्य भाषा का 'सिन्धु' शब्द प्राचीन ईरानी में जैसे 'हिन्दू' हो गया है। 'स' ध्वनि जैसे 'ह' में परिवर्तन हो गयी है, वैसे ही वैदिक संस्कृति में 'असुर' शब्द अवेस्ता में 'अहुर' हो गया है। भारतीय आर्य और प्राचीन ईरान (आर्यान्) के लोग मूलतः एक ही प्रजाति के माने जाते हैं; लेकिन भौगोलिक विभेद तथा और न जाने किन कारणों से दोनों के बीच आगे चलकर कुछ विभेद उत्पन्न हो गये थे। तभी प्राचीन काल के आर्यों ने भी 'असुरः' का 'न सुरः' अर्थ लेना आरम्भ कर दिया था, और उससे दैत्यों, दानवों आदि का वाचक मानने लगे थे। प्राचीन ईरानियों ने भी तभी भारतीय 'देव' शब्द का अर्थ 'द एव' के रूप में 'दानव' लेना आरम्भ कर दिया था; इसीलिए ऋग्वेद में कुछ स्थलों पर उसका अर्थ देवताओं के शत्रु के रूप में लिया जाने लगा था। शतपथ ब्राह्मण में असुर शब्द का प्रयोग इसी हेय अर्थ में हुआ है। बाद के पौराणिक साहित्य में तो 'असुर' शब्द का प्रयोग मात्र दैत्यों, दानवों एवं राक्षसों के लिए ही मिलता हैं।

अस्तित्ववाद यूरोप के कुछ दार्शनिकों द्वारा, सन् १८५० के बाद प्रतिपादित जीवन–दर्शन, जिसमें व्यक्ति के अस्तित्व को, आधारभूत आधिभौतिक तथ्य कहा गया है। इन दार्शनिकों का कहना है कि व्यक्ति का अस्तित्व, जो चारों ओर संकटों से घिरा हुआ है, वह अपने को बनाये रख सकेगा, तभी तो यह जगत् उसके लिए किसी प्रकार सार्थकता ग्रहण कर पायेगा। इसलिए इस दर्शन का मूल–सूत्र है कि इस जगत् के जीवन–प्रवाह का जो सार–तत्त्व है, व्यक्ति का अस्तित्व उसके पहले आता है। व्यक्ति को यह दर्शन, अपने अस्तित्व के लिए अविराम संघर्षशील घोषित करता है, इसीलिए इसे 'अस्तित्ववाद' की संज्ञा दी गयी है।

अस्तित्ववाद का प्रतिपादन डेन्मार्क के दार्शनिक सोरेन कीर्कगार्द (१८१३–५५) ने किया था। उनकी सभी रचनाएँ, काव्यात्मक होने के साथ–साथ विरोधाभास लिये हैं। विज्ञान और स्थापित धार्मिक व्यवस्था, दोनों के प्रति वह संदेहशील था। फिर भी वह धर्म के प्रति विशेष निष्ठावान् प्रतीत होता है, क्योंकि वह कहता है कि मनुष्य अकेले ही जीता है, लेकिन ईश्वर से उसका सम्बन्ध है।

व्यक्ति के अपने अस्तित्व के लिए संघर्षशील इस जीवन दर्शन को जर्मन दार्शनिक मॉर्टिन हेडेगर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१८८६–१६७६) ने और विस्तार दिया। उसने अपने ग्रन्थ 'अंगस्ट' (आतंक) में भय को मनुष्य की आधारभूत चेतना कहा है। यह विचित्र बात है कि व्यक्ति के अस्तित्व को खतरे से भरा मानते हुए, उसने हिटलर की आतंकवादी शासन–प्रणाली में कार्य करना स्वीकार किया। उसकी प्रतिष्ठा इससे नष्ट हुई, और फिर कालान्तर में उसने यह भी कहा कि वह अस्तित्ववादी नहीं है।

अस्तित्ववाद के प्रचारकों में मार्सेल, यास्पर्श हसेल, ज्याँपाल सार्त्र, मेर्लेऊ–पान्ती आदि के नाम आते हैं। सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन में हम घोर निराशा के साथ, भविष्य की मंगलमय संभावनाओं का भी योग देखते हैं।

अस्तित्ववादी दार्शनिकों के स्पष्टतः दो वर्ग मिलते हैं। कीर्कगार्द और यास्पर्श व्यक्ति के अस्तित्व को ईश्वर से जोड़कर, उसे मूल्यवान बनाने के लिए प्रयत्नशील दिखायी देते हैं; लेकिन सार्त्र, निरीश्वरवादी विचारकों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अस्तित्ववाद के धार्मिक स्वरूप की व्याख्या एलेन के ग्रन्थ 'एक्ज़ेस्टिन्स्यलिज़्म फ्रॉम विदिन' में बड़े सुव्यवस्थित रूप में है।

अस्तित्ववादी जीवन–दर्शन ने राजनीति में भी अपना प्रभाव डाला था। हेडेगर ने हिटलर के आतंक फैलाने के अभियान में सरकारी सेवक के रूप में कार्य किया था। लेकिन बड़ी विचित्र बात है कि इसी अस्तित्ववादी जीवन–दर्शन को सार्त्र ने अपने देश फ्रांस में हिटलर के विरोध का हथियार बनाया था। अस्तित्ववाद के इसी क्रान्तिकारी स्वरूप की विवेचना हमें एल्बर्ट कामू के 'ला होमे रिलोल्ते' में मिलती है। इस दर्शन को, दूसरे विश्वयुद्ध ने, उसके भयावह और विद्रोहशील दोनों ही रूपों में प्रोत्साहित किया था।

साहित्य में अस्तित्ववादी दर्शन की अभिव्यक्ति रूस के कथाकार दोस्तोवस्की की रचनाओं में मानी जाती है। अपने ग्रन्थ 'नोट्स फ्रॉम दि अण्डर ग्राउण्ड' में उनका कथाकार जिस समाज में अपने को पाता है, उनमें उन व्यक्तियों और संस्थाओं के प्रति आक्रोश प्रकट करता है, जो उसके व्यक्तित्व को बाधित और उसके अस्तित्व को खतरे में डालना चाहती हैं। व्यक्ति के अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष की यह भावना, सार्त्र की रचनाओं में और भी सबल रूप में देखने को मिलती है। सार्त्र तो स्पष्ट कहता है कि परिस्थितियाँ यद्यपि बहुत ही विषम और भयावह हैं; लेकिन हमें निराशा से ग्रस्त न होकर, उनके विरुद्ध संघर्ष करना है। सार्त्र ने अपने इसी साहित्य–दर्शन को लेकर अस्तित्ववाद की नयी विवेचना भी उपस्थित की थी। इस सन्दर्भ में उनका ग्रन्थ 'व्हाट इज़ लिट्रेचर' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

अस्तित्ववादी साहित्यकारों में सार्त्र के साथ एल्बर्ट कामू का भी नाम लिया जाता है। उन्होंने फ्रांस की स्वाधीनता के संघर्ष के लिए दूसरे विश्वयुद्ध के समय 'कॉमबैट' नामक पत्रिका का सम्पादन भी किया था। इस पत्रिका में सार्त्र के साथ उनका वाद–विवाद भी, प्रकाशित हुआ था। उनके तीन प्रसिद्ध उपन्यास हैं; 'दि आउटसाइडर' (१६४२), 'दि प्लेग' (१६४७) और 'दि रिबल्स' (१६५३)। उनकी इन रचनाओं में जीवन की त्रासद परिस्थितियों के प्रति विद्रोह का स्वर बड़े ही मुखर रूप में प्रकट हुआ है। अस्तित्ववादी विचारधारा की यह अभिव्यक्ति फ्रांस की महिला लेखिका सिमोन दे व्युवोई के उपन्यास 'ल साँ दे पोत्रे' (१६४५) में भी देखने को मिलती है। अस्तित्ववाद का रचनात्मक साहित्य में प्रयोग इस प्रकार अधिकांश रूप में फ्रांस में मिलता है।

अस्तित्ववाद के इसी दर्शन ने पश्चिम में अनर्गलता (असंगति) के 'रंगमंच' को भी प्रोत्साहित किया था। (देखिये अनर्गलतावाद)

हिन्दी साहित्य में अस्तित्ववादी जीवन–दर्शन के सम्बन्ध में लिखा तो बहुत गया है, उसके साहित्यिक पक्ष की विवेचना भी बड़े विस्तार से हुई है; लेकिन साहित्यिक रचनाओं में उसका प्रभाव कम ही देखने को मिलता है। धर्मवीर भारती के काव्य–नाटक 'अंधायुग' में उसकी कुछ छाया है। सार्त्र के काव्य–नाटक 'मक्खियाँ' में जीवन के जिस त्रासद

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरूप का चित्रण है, उसका कुछ हल्का–सा आभास भारती की इस रचना और उनके एकांकी नाटक 'सृष्टि का आखिरी आदमी' में मिलता है।

अस्तेय अपरिग्रह की तरह अस्तेय भी निषेध–परक जीवनमूल्य होने के कारण सभी धर्मों में स्वीकृत है। अस्तेय का अर्थ है, न चुराना। किसी अन्य की सम्पत्ति को छल या बल से हड़पना स्तेय कहलाता है और इसका निषेध है अस्तेय। मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षणों में एक अस्तेय भी है, जिसकी उपयोगिता आज भी असंदिग्ध है। छल–बल से दूसरों की सम्पत्ति, अधिकार और सुविधा को हड़पने के कारण, आज जो अशान्ति है, वर्ग और वर्ण संघर्ष की जो विभीषिका विश्व झेल रहा है, उसका निराकरण अस्तेय जैसे परम्परागत जीवन–मूल्य के द्वारा ही सम्भव है। केवल अभावग्रस्त या विवशता–जन्य स्थिति में ही नहीं, अपितु सक्षम या अधिकार सम्पन्न होने पर, शोषण, लूट, प्रवंचना, भ्रष्टाचार और दुराचार से दूसरों की या सार्वजनिक सम्पदा को लूटना भी स्तेय कहा जायेगा और इसका निषेध धार्मिक दृष्टिकोण से ही नहीं, व्यावहारिक, सामाजिक, या सांसारिक दृष्टिकोण से भी वांछनीय है। मानव जीवन की सुरक्षा और समृद्धि के लिए अस्तेय आवश्यक है।

अस्थि सामान्य बोलचाल में हड्डी एक कठोर धूसर–श्वेत पदार्थ होती है, जिसमें दो–तिहाई अजैविक खनिज सामग्री होती है, मुख्यतः चूने का क्षार (फ़ास्फेट), जो उसे कठोर बनाता है, उसका शेष तिहाई भाग, जैविक सामग्री होती है, जो उसे सशक्त बनाती है तथा उसे टूटने से बचने में मदद करती है।

यह अस्थि मनुष्य एवं अन्य सभी मेरुदण्डधारी जीवों के शरीर का ढाँचा, जिसे कंकाल कहा जाता है, बनाती है। हड्डियों का यह ढाँचा ही पूरे शरीर को सहारा देता है। अस्थियों की यह संरचना, जिस आकार के शरीर को सहारा देती है, उसी के अनुपात में सशक्त होती है; इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि सामान्य स्वस्थ मनुष्य की अस्थि 'ओक से दुगुनी सशक्त' होती है। यद्यपि सभी अस्थियाँ अधिकांश में समान पदार्थों से ही बनी होती हैं; तथापि जिस प्रकार जिस जीवधारी की होती हैं, उसी के अनुसार उसका स्वरूप और आकार होता है। मछलियों और छोटी–छोटी चिड़ियों की हड्डियाँ बड़ी ही छोटी–छोटी होती हैं, लेकिन हाथियों तथा प्रागैतिहासिक काल के जो दानवाकार जीवधारियों के जीवाश्म मिले हैं, उनकी हड्डियाँ बड़ी भारी होती हैं, और कुछ तो कई सौ किलो की होती हैं।

कुछ हड्डियाँ खोखली होती हैं और उनमें मज्जा भरी होती हैं। विशेष आयु के जीवधारियों की लम्बी हड्डियों की मज्जा पीली और कुछ सघन होती है। अन्य अस्थियों में मज्जा लाल रंग की होती है और उनमें रक्त की लाल और श्वेत कणिकाएँ होती हैं। किशोरावस्था के बच्चों की हड्डियों की मज्जा लाल होती है। सुगठित हड्डी में कुछ सूक्ष्म मार्ग भी होते हैं, जो रक्त, लसीका (एक तरल द्रव) और स्नायु तंत्रिकाओं को अपने बीच से ले जाते हैं।

अस्थियों के आकार के आधार पर चार प्रकार माने गये है : (१) लम्बी अस्थि, जो तीन तरफ से तो बन्द होती है; लेकिन एक सिरे पर द्वार होता है, यथा ह्यूमेरस, रेडियस, अलना, फीमर आदि; (२) छोटी अस्थि, यथा हाथों और पैरों कि अंगुलियो की अस्थियाँ; (३) चपटी अस्थि यथा पसलियों तथा शिरोभाग की अस्थियाँ; (४) माँस–पेशियों से जुड़ी हुई अस्थियाँ यथा पैटेला, पैवेला आदि।

शरीर की आंगिक संरचना के आधार पर दो प्रकार की अस्थियाँ मानी गयी हैं, (१) अक्षीय कंकाल, यथा खोपड़ी, मेरुदण्ड और पसलियों की अस्थियाँ; (२) अनुबंधीय कंकाल यथा हाथों और पैरों की अस्थियाँ।

अस्थियाँ, शरीर के विन्यास में अनेक प्रयोजनों की भी सिद्धि करती हैं : (१) शरीर के विशेष महत्त्वपूर्ण अंगों यथा मस्तिष्क, मेरुदण्ड, हृदय, फेफड़े आदि की सुरक्षा; (२) शरीर के विन्यास का निर्माण; (३) खड़े होने की मुद्रा; (४) रक्तकोशिकाओं की सुरक्षा (५) कैल्शियम और फ़ास्फेट के संग्रह तथा चयापचय का नियंत्रण ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभी अस्थियों के अपने–अपने नाम हैं। पसलियों में हड्डियों की व्यवस्था पिंजडे जैसी होती है, जो वक्षस्थल के कुछ विशिष्ट अंगों यथा हृदय और फेफड़े को अपने भीतर सुरक्षा प्रदान करती हैं। हाथ के ऊपरी भाग की लम्बी हड्डी को ह्यूमेरस कहा जाता है। कूल्हे की हड्डी, जो सबसे अधिक मजबूत होती है, उसे फ़ीमर कहा जाता है।

हर एक अस्थि एक पतले आच्छादन के भीतर होती है, जिसे पर्यस्थ्यावरण (पेरिओस्टियम) कहते हैं। इस आवरण में अनेक रक्त वाहिकाएँ और स्नायु तंत्रिकाएँ होती हैं। अस्थि के बढ़ने की अवस्था में यह आवरण, हड्डी में नयी परते उत्पन्न करता है, जो उसकी मोटाई बढ़ाते हैं। यही आवरण चोट लग जाने के बाद, हड्डी की मरम्मत करता है। यही आवरण मांसपेशियों के संलग्न होने का आधार भी बनता है।

अस्थि चिकित्सा अस्थि–भंग (फ्रैक्चर) अस्थि रोगों में सर्वाधिक घटित होने वाली व्याधि है। इसका एक शब्द में उपचार है– 'अचलीकरण'। इसके लिए पेरिस प्लास्टर का प्रयोग जाना माना और सर्वाधिक उपयोगी है। अत्याधुनिक विधियों में इस्पात की कील और पट्टी का प्रयोग शल्य–चिकित्सा द्वारा, बड़ी हड्डियों को जोड़ने में अधिक कारगर और कम समय लेने वाला होता है।

अस्थि–भंग के अतिरिक्त अन्य अस्थि व्याधियाँ हैं– अस्थियों पर जीवाणु संक्रमण, अस्थि मज्जा संक्रमण, अस्थियों का ट्यूमर, कैन्सर, कैल्शियम की कमी से अस्थि सुषरिता (ऑस्टियोपोरोसिस), जिसमें अस्थियाँ कमजोर और भंजनशील हो जाती हैं। विटामिन डी की कमी से बच्चों में रिकेट्स और अस्थि मृदुलता, जो कि वयस्कों, अधिकांशतः स्त्रियों में होती है।

अस्थि 'मज्जा' संक्रमण के उपचार के लिए अचलीकरण (विश्राम के लिए) और प्रतिजीवी औषधियों (ऐन्टीबायटिक्स) दोनों की आवश्यकता होती है। ट्यूमर और कैंसर के लिए शल्य–चिकित्सा, रसायन चिकित्सा और रेडियो चिकित्सा का प्रयोग होता है। रसायन चिकित्सा में कैंसर विरोधी औषधियों का प्रयोग और रेडियो चिकित्सा में रेडियम या कोबाल्ट किरणों का प्रयोग होता है।

अस्थि सुषरिता अधिकतर वृद्ध व्यक्तियों में होती है। इसके उपचार के लिए प्रोटीन युक्त भोजन, कैल्शियम और विटामिन डी का प्रयोग किया जाता है। रिकेट्स और अस्थि मृदुलता विटामिन डी और कैल्शियम के प्रयोग से ठीक हो जाती है।

अहंकार शाब्दिक अर्थ है अहम् अर्थात् 'मैं' की चेतना। सामान्यतः यह समझा जाता है कि अहम् की अत्यधिक चेतना मनुष्य को घमण्डी बना देती है : और इसलिए वह असत्य होती है। लेकिन सांख्य–दर्शन में, अहंकार शब्द का प्रयोग हम एक पारिभाषिक शब्द के रूप में देखते हैं। सांख्यवादियों का कहना है कि पुरुष और प्रकृति के संयोग से महत् उत्पन्न होता है। उस महत् से फिर अहंकार की सृष्टि होती है; और अहंकार से फिर सृष्टि के स्थूल और सूक्ष्म रूपों का उद्भव होता है। उन्होंने अहंकार को एक भौतिक तत्त्व कहा है, और उसी के अभियान से इस जगत् की सारी प्रक्रियाएँ संभव मानी जाती हैं। अहंकार से ही पुरुष और प्रकृति में तादात्म्य स्थापित होता है। आदि शंकराचार्य ने कहा है कि विषयों की अनुकूलता से यह (अहम्) सुखी और प्रतिकूलता से दुखी होता है। सुख और दुःख इस अहंकार के ही धर्म हैं, नित्यानन्द स्वरूप आत्मा के नहीं। अहंकार अथवा स्वत्व की चेतना, कभी सात्विक, कभी राजसिक तो कभी तामसिक होती है। सात्विक अहंकार में मन, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और पंच कर्मेन्द्रियाँ सत्कर्मों की ओर अग्रसर होती हैं। राजसिक अहंकार, मनुष्य को इस जगत् के सद् और असद् दोनों ही प्रकार के कर्मों से जोड़ता है। तामसिक अहंकार से मनुष्य पूर्णतः दुष्प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर होता है। भारतीय मनीषियों ने यह स्पष्टतः कहा है कि व्यावहारिक जगत् में अहंकार के बिना निर्वाह सम्भव नहीं है; लेकिन अगर मनुष्य जीवन के परम अर्थ को समझना चाहता है, आध्यात्मिक साधना के पथ पर आगे बढ़ना चाहता है, तो उसे अपने को तामसिक और राजसिक ही नहीं, सात्विक अहंकार से भी मुक्त करना होगा।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहमद खाँ, सर सैयद इनका जन्म १७ अक्टूबर १८१७ को दिल्ली में हुआ था और निधन २७ मार्च १८६८ को अलीगढ़ में। मुग़ल सम्राट् शाहजहाँ के शासन–काल में इनके पूर्वज हेरात से आये थे, और दिल्ली में आकर बस गये थे। इनके पिता बड़ी धार्मिक अभिरुचि के थे और उन्होंने इनके पालन–पोषण में कोई विशेष रुचि नहीं ली। नानाजी बड़े ही प्रबुद्ध व्यक्तित्व के थे। अन्तिम दो मुग़ल सम्राटों के समय ये उनके वज़ीरे आज़म रहे थे और फिर उसके बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेवा में आ गये थे। उन्होंने ही सम्भवतः सैयद अहमद को अपनी सामान्य शिक्षा पूरी करने पर सन् १६३८ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के दफ्तर में कार्य दिला दिया था। सैयद अहमद आगे चलकर राजकीय परीक्षा में सफलता प्राप्त कर, सब–जज हो गये थे; और फिर उन्होंने अनेक स्थानों पर न्यायिक सेवा में कार्य किया था।

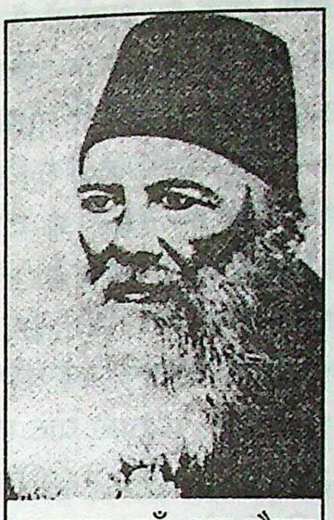
अहमद खाँ, सर सैयद

सैयद अहमद ने राजकीय सेवा करते हुए २३ वर्ष की अवस्था में ही लेखन–कार्य आरम्भ कर दिया था। सन् १८४३ में उन्होंने एक बड़ी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'अतहर अस्सानदीद' प्रकाशित की, जिसमें पुरातात्त्विक महत्त्व के दिल्ली के अनेक स्थानों के बड़े ही रोचक विवरण हैं : उसके बाद उन्होंने मुहम्मद साहब के जीवन पर अनेक निबन्ध लिखे। 'कुरान' पर भी, उसकी आधुनिक दृष्टि से समीक्षा करते हुए उन्होंने कई खण्डों का एक ग्रन्थ प्रकाशित किया था। 'बाइबिल' पर भी आधुनिक दृष्टि से समीक्षा करते हुए, उन्होंने कई खण्डों का एक ग्रन्थ प्रस्तुत किया था। सन् १८५७ के भारतीय विद्रोह पर भी उन्होंने एक पुस्तिका प्रकाशित की थी। उन्होंने उसमें यह दिखाया था कि अंग्रेजों ने अपने शासन में कैसी भूलें की थीं; जिनके आधार पर उनके विरुद्ध यह क्रान्ति खड़ी हुई थी। यह पुस्तिका अंग्रेजी में प्रकाशित हुई थी और उसे अंग्रेज अधिकारियों ने बड़ी रुचि के साथ पढ़ा था तथा उससे सबक भी लिया था।

सैयद अहमद का सर्वाधिक महत्त्व, उनके द्वारा स्थापित शिक्षा–संस्थाओं के कारण माना जाता है। सन् १८५८ में उन्होंने मुरादाबाद में और फिर १८६३ में गाजीपुर में विद्यालयों की स्थापना की थी। सन् १८६६–७० के बीच उन्होंने इंग्लैण्ड की यात्रा की थी और फिर मुसलमानों के लिए कैम्ब्रिज के स्तर का एक विद्यालय खोलने की योजना बनायी थी। इसी विचार को लेकर मई सन् १८७५ में उन्होंने अलीगढ़ में एक मुस्लिम स्कूल स्थापित किया था। सन् १८७६ में अवकाश ग्रहण करने के बाद, उन्होंने उसे कालेज का रूप देने का निश्चय किया। जनवरी सन् १८७७ में तत्कालीन वायसराय से उसके भवन का शिलान्यास कराया और फिर उसे 'ऐंग्लो–मोहम्मडन ओरियन्टल कालेज' का रूप दिया। यही शिक्षा संस्थान सन् १६२० में अलीगढ़ विश्वविद्यालय बना।

सैयद अहमद ने वैज्ञानिक दृष्टि के प्रचार–प्रसार के लिए साइंटिफिक सोसायटी की भी स्थापना की थी। उस संस्था के माध्यम से उन्होंने अनेक पाठ्य–ग्रन्थों के साथ एक द्विभाषी पत्रिका भी आरम्भ की थी, जिसमें उर्दू और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में लेख प्रकाशित हुआ करते थे। सैयद अहमद मुसलमानों में सामाजिक सुधार की भावना जगाना चाहते थे और इस दृष्टि से उन्होंने 'तहजीब अल्–अख़लाक' नाम की एक पत्रिका भी निकाली थी। सन् १८८६ में उन्होंने मुसलमानों का एक अखिल भारतीय शैक्षिक सम्मेलन बुलाया था, जिसके अधिवेशन उसके बाद प्रतिवर्ष होते रहे। उन अधिवेशनों में विशेष रूप से मुसलमानों में शिक्षा का प्रसार किस प्रकार बढ़ाया जाये, इसके सम्बन्ध में विचार–विमर्श होता था। सैयद अहमद की इस संस्था ने सन् १६०६ में 'मुस्लिम लीग' की स्थापना तक मुसलमानों को परामर्श दिया था कि वे यथासम्भव अपने को राष्ट्रीय कांग्रेस की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने वाली राजनीति से अलग रखें।

सैयद अहमद को अंग्रेजों ने सन् १८८८ में 'नाइट कमाण्डर ऑफ दि स्टार ऑफ़ इण्डिया' की महत्त्वपूर्ण उपाधि से सम्मानित किया था और फिर उन्हें 'सर' का खिताब भी प्रदान किया था। मार्च २७ १८९८ में जब उनका निधन हुआ तो उनके द्वारा स्थापित 'ऐंग्लो–मोहम्मडन ओरियण्टल कालेज', के परिसर में ही उन्हें दफनाया गया था। उनका जीवन बहुमुखी था, लेकिन शिक्षा क्षेत्र में जो महत्त्वपूर्ण कार्य उन्होंने किये थे, उनके लिए उन्हें आज भी स्मरण किया जाता है।

अहमदनगर महाराष्ट्र का एक ऐतिहासिक शहर और ज़िला। पहले यहाँ यादवों का राज्य था और नगर का नाम मिनार था। सन् १४९० में मलिक अहमद निजामशाह ने इस पर आक्रमण किया और अधिकार में लेने के अनन्तर उसे अहमदनगर नाम दे दिया। उसके बाद इस शहर पर कुछ समय तक मुग़लों और मराठों का अधिकार रहा; फिर वह अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। सन् १९४० में जवाहर लाल नेहरू तथा अन्य अनेक बड़े राजनेताओं को अहमद निजामशाह के बनवाये हुए किले में ही बन्दी रखा गया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के अनन्तर इस क्षेत्र का औद्योगिक दृष्टि से विशेष रूप से विकास हुआ। यहाँ आज कपड़ा, चमड़े; बिजली के उपकरणों तथा इंजीनियरिंग के अन्य सामानों के कारखाने हैं। एक महाविद्यालय भी है, जो पुणे विश्वविद्यालय से सम्बद्ध है। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण सैनिक छावनी भी है। शहर सड़कों और रेलमार्ग से मुम्बई, पूणे, शोलापुर आदि बड़े–बड़े शहरों से सम्बद्ध है।

अहमदनगर ज़िला गोदावरी नदी के अभिसिञ्चित क्षेत्र में ऊपरी भाग में बसा है। यह नदी ही ज़िले की उत्तरी सीमा बनाती है। इस ज़िले में बहने वाली और नदियाँ हैं– मूला, सीना और भीमा। मूला जिले के उत्तरी भाग में बहती है और अन्य दोनों नदियाँ दक्षिण पूर्वी भाग में बहती हुई, कर्नाटक राज्य की कृष्णा नदी में मिलती हैं। बारिश कभी अच्छी हो जाती है और कभी कम, इसलिए अनाज की बराबर कमी रहती है। अनाजों में गेहूँ और बाजरा मात्र होते हैं। कपास भी थोड़ी–बहुत उगायी जाती है; लेकिन नदियों के कारण जो नहरें बनी हैं उनके सहारे गन्ने की अच्छी खेती होती है। इसीलिए ज़िले में चीनी की कई मिलें हैं। रुई के भी कई छोटे–मोटे कारखाने हैं। आयुर्वेदिक औषधियों के भी कुछ उद्योग हैं। शिरडी, जहाँ के साई बाबा विशेष प्रसिद्ध हैं, यहाँ का बड़ा धर्मस्थल है। अन्य बड़े धार्मिक केन्द्र हैं – नेवासे और सिंघनापुर। पश्चिमी घाट की सह्याद्रि पर्वतमाला ज़िले की पश्चिमी सीमा निर्धारित करती है। ज़िले की सभी नदियों के उद्‌गम स्थल इसी पर्वतमाला में हैं। भण्डारडरा बाँध एक बहुत बड़ा पर्यटन स्थल है, जहाँ बिजली बनती है और नहरों का जाल बिछा है। सम्पूर्ण ज़िले की आबादी १९९१ में ३३,७२,९३५ थी। शहरी क्षेत्र में रहने वालों की संख्या ५,३३,४९१ थी, और ग्रामीण क्षेत्रों की २८,३९,४५४ थी।

अहमदशाह अब्दाली अफ़गानिस्तान के अब्दाली फिरके का एक वरिष्ठ योद्धा। उसका पिता मुहम्मद जमाँ खान, हेराज़ क्षेत्र का सरदार था। नादिरशाह ने जब हेराज़ पर अधिकार किया, तो अहमद खान भी बन्दी बना लिया गया; लेकिन कालान्तर में मुक्त होकर वह नादिरशाह की सेना का वरिष्ठ अधिकारी बन गया। नादिरशाह ने जब पश्चिमोत्तर हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया था, तो उसने भी उस अभियान में भाग लिया था। नादिरशाह के निधन के अनन्तर उसकी सेना का दमन कर वह स्वयं अफ़गानिस्तान का शासक बन गया था। उसने तब अपने को दुर–इ–दुर्रानी घोषित किया था अर्थात् युग का मोती। इसी आधार पर उसे अहमद शाह दुर्रानी भी कहा जाने लगा।

अहमदशाह ने कन्धार, काबुल और पेशावर पर अधिकार करने के अनन्तर, पहली बार अपने बारह हज़ार सैनिकों के साथ जनवरी १७४८ में पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण किया; लेकिन मुगल बादशाह के

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुत्र अहमदशाह और सिपहसालार मीर मंजू ने उसे भागने के लिए मजबूर किया। मीर मंजू को उसके बाद पंजाब का शासन भार सौंप दिया गया। लेकिन जल्दी ही अहमद शाह ने फिर आक्रमण किया और दिल्ली से विशेष सहायता न मिलने के कारण, उसने पंजाब पर अधिकार कर लिया। अहमद शाह ने १७५१ में मुग़ल साम्राज्य पर फिर आक्रमण किया और मीर मंजू को हराकर कश्मीर पर अधिकार कर लिया। अहमद शाह, जो अब बादशाह हो गया था, उसे पंजाब के सरहिन्द तक के भाग को अब्दाली के हाथों सौंपना पड़ा।

सन् १७५५ में अब्दाली दिल्ली तक बढ़ आया और चालीस दिनों तक वह हर प्रकार का उत्पात मचाता रहा। उसके सैनिकों ने आगे बढ़कर मथुरा को भी बुरी तरह लूटा था। उसके चले जाने के बाद, लाहौर के मुग़ल साम्राज्य के सूबेदार ने सुरक्षा के लिए सिक्खों और मराठों से मित्रता जोड़ी। मराठों ने रघुनाथ राव के नेतृत्व में अप्रैल १७५८ में पंजाब पर आक्रमण किया और अफ़गानियों को पराजित कर लाहौर पर अधिकार कर लिया। अब्दाली ने १७५६ में पंजाब पर फिर आक्रमण किया और उसे अपने अधिकार में ले लिया। उसके बार–बार के आक्रमणों से विक्षुब्ध होकर, मराठों और सिक्खों दोनों ने मिलकर प्रतिरोध खड़ा किया। लेकिन १४ जनवरी १७६१ को अब्दाली की सेनाओं ने मिली–जुली भारतीय सेनाओं को पराजित कर दिया और हर प्रकार से लूटपाट करता हुआ वापस चला गया। सन् १७६७ में उसने फिर सिक्खों से मित्रता करके अपना अभियान चलाना चाहा; लेकिन उसके बहुत से सैनिक उसके विरुद्ध खड़े हो गये और उसे भागना पड़ा। सिक्खों ने उस समय उसका पीछा भी किया था और पंजाब का बहुत सा क्षेत्र अपने अधिकार में ले लिया था। बार–बार के अभियान में कभी जीत, कभी हार का खेल खेलते हुए उसका मनोबल टूट गया था। अन्तिम दिनों में वह चेहरे के कैंसर से परेशान रहता था और मात्र ५० वर्ष की आयु में सन् १७७२ में उसका निधन हो गया था। उसके प्रदेश के लोग उसे अहमदशाह बाबा के नाम से याद करते हैं।

अहमदाबाद भारत में गुजरात प्रदेश का सबसे बड़ा शहर। यह नगर २३°१' उत्तर अक्षांश तथा ७२°३७' पूर्व देशान्तर पर स्थित है। साबरमती नदी, इस नगर के दाहिनी ओर बहती है। इस नदी के तट पर शहर से कुछ दूर पर गांधीजी ने अपना आश्रम बसाया था। उद्योग–धन्धों, वाणिज्य–व्यवसाय तथा शैक्षिक–सांस्कृतिक दृष्टि से प्रदेश का यह सबसे महत्त्वपूर्ण नगर है।

अहमदाबाद की स्थापना असावल नाम के एक वीर सरदार ने अपने नाम पर की थी। सामरिक दृष्टि से उस क्षेत्र को महत्त्वपूर्ण समझकर गुजरात के सुल्तान अहमदशाह प्रथम ने उसे अपना राजनगर बनाया; और फिर उसे अपने ही नाम पर अहमदाबाद नाम दे दिया। अहमदशाह और उसके वंशजों का राज्य १५११ ई० तक रहा और उनके शासनकाल में वह उत्तरोत्तर विकसित होता रहा। सन् १५१२ में बहादुरशाह ने शासन भार सँभालने पर चम्पानेर को अपनी राजधानी बनाया, और फिर वर्षों तक यह नगर उपेक्षित रहा। सन् १५७२ में मुग़ल सम्राट् अकबर ने इस क्षेत्र पर अधिकार कर लिया, और अहमदाबाद को ही अपना शासन केन्द्र बनाया। शहर में फिर से विभिन्न प्रकार के निर्माण कार्य चल पड़े; और फिर जहाँगीर, शाहजहाँ तथा औरंगजेब के शासन–कालों में यह निरन्तर उत्तरोत्तर वृद्धि करता गया। औरंगजेब के निधन के बाद मुग़ल–साम्राज्य के शिथिल हो जाने के कारण अराजकता रही। कभी यह मराठों के अधिकार में चला जाता था, और कभी कोई मुसलमान सरदार इस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता था; लेकिन दोनों की ही रूचि लूट–पाट में ही अधिक रहती थी। सन् १८१७ में अंग्रेजों ने इसे अपने अधिकार में ले लिया और उसके बाद फिर यह शहर सभी क्षेत्रों में उन्नति की ओर बढ़ गया।

अहमदाबाद में सन् १८६१ में पहली कपड़ा–मिल स्थापित हुई थी। उसके बाद तो सूती और रेशमी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कपड़ों के अनेक कारखाने खड़े हुए। कच्चा माल तथा शारीरिक श्रम अधिक सुलभ होने के कारण अहमदाबाद बम्बई से भी बड़ा कपड़ा उद्योग का केन्द्र बन गया। कालान्तर में कांधला के बन्दरगाह के बन जाने पर, इस शहर के औद्योगिक विकास को और अधिक प्रोत्साहन मिला।

अहमदाबाद आज केवल औद्योगिक दृष्टि से ही नहीं, शैक्षिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी विशेष महत्त्वपूर्ण नगर हैं। कोलकाता, मुम्बई, दिल्ली, चेन्नई और हैदराबाद के बाद, देश के बड़े नगरों में इसी नगर का नाम आता है। राजस्थान के बड़े–बड़े शहरों की भाँति, इस नगर में भी अनेक पोल हैं, जिनमें जाति विशेष के सम्भ्रान्त परिवारों की बड़ी–बड़ी बस्तियाँ हैं, जिन्हें उपनगर ही कहना चाहिए। प्रत्येक पोल की सुख–सुविधा के लिए अपना अलग परिसर है। शहर में मध्यकालीन अनेक भव्य–भवन और स्मारक भी हैं। हिन्दुओं तथा जैनियों के अनेक मन्दिर हैं और अनेक भव्य मस्जिदें भी हैं। प्रबन्धन का सबसे बड़ा संस्थान इसी नगर में है।

गांधीजी ने साबरमती आश्रम से राजकीय नियम तोड़कर नमक बनाने की अपनी दांडी–यात्रा आरम्भ की थी। गांधीजी की विचार धारा को लेकर अहमदाबाद के कल–कारखानों में कुछ श्रमिक संगठन भी खड़े किये गये थे।

अहम् उत्तम पुरुष वाचक सर्वनाम का कर्तृ कारक रूप : इसका अर्थ है, मैं अथवा स्व। मनुष्य अपनी मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों से अन्य से जो अपनी पृथक्ता स्थापित करता है, उसे 'अहम्' कहा जाता है। भारतीय दर्शन में 'अहम्' को उसका आत्म–चैतन्य भी कहा गया है। इस विराट् विश्व में एक ही चेतना परिव्याप्त है। यह आत्मबोध अनेक प्रकार की आध्यात्मिक साधनाओं से जब मनुष्य को हो जाता है, तो वह 'सोऽहं', अर्थात् वह जो परम सत्ता है, मैं ही हूँ, उसका अनुभव करता है। इसी दिव्य–चेतना को वैदिक वाङ्मय में 'अहं ब्रह्मास्मि' कहा गया है।

पाश्चात्य दर्शन में अहं को 'ईगो' की संज्ञा दी गयी है और उसे स्वयं को तथा विश्व के प्रति अपने सक्रिय सम्बन्ध का आत्मिक–केन्द्र कहा जाता है। मनुष्य जाने–अनजाने जो कुछ भी करता है, उसमें उसके अहम् की ही अभिव्यक्ति होती है। इसीलिए साहित्य के क्षेत्र में मनुष्य की रचना–शैली को, उसके अहम् का सहज प्रकाशन कहा गया है। साहित्य की परिभाषा भी कुछ इसी प्रकार की गयी है : 'साहित्य, भाषा का व्यक्ति–निष्ठ प्रयोग तथा उसमें आत्म–प्रतिष्ठा का प्रयास है।'

पश्चिम के प्रत्ययवादी दार्शनिकों ने अहम् को प्रस्थानबिन्दु के रूप में निरूपित किया है। डेकार्ट के अनुसार अहम् चिन्तनशील तत्त्व के रूप में तार्किक संज्ञान के अन्तः प्रज्ञात्मक मूल के रूप में विद्यमान् होता है। 'अहम्' की यह व्याख्या अंग्रेजों के अनुभववाद की विशेषता है। लेकिन जर्मनी के प्रतिष्ठित दार्शनिकों को हम अहम् को मानसिक व्यक्तिवादी परिभाषा से अलग करते हुए देखते हैं। फ़िट्ज़े 'अहम्' को एक ऐसा मूल तत्त्व मानता है, जो न केवल अपने को वरन् सभी अस्तित्वमान् सत्त्वों को 'अहम्' के रूप में स्थापित कर देता है। हीगेल ने अहम् को 'विश्वबुद्धि के रूप में बताया है। फ्रायड को हम 'अहम्' के खंडित व्यक्तित्व की विवेचना करते हुए देखते हैं। उन्होंने 'अहम्' के चेतन, उपचेतन और अचेतन तीन रूपों को प्रदर्शित किया है। मार्क्सवादियों को हम 'अहम्' के व्यक्तिपरक स्वरूप के प्रति आग्रह करते हुए देखते हैं। उनका कहना है कि 'अहम्' की सर्वाधिक स्वतंत्र एवं पूर्ण अभिव्यक्ति साम्यवादी समाज में, व्यक्ति के चहुँमुखी विकास की अवस्था में सम्भव होगी। सोवियत संघ में तो यह प्रयोग असफल हो गया है; लेकिन चीन में तथा क्यूबा में, इस दिशा में प्रयास अब भी चल रहे हैं।

अहमदिया (१) इस्लाम की सूफ़ी–परम्परा का १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में क़ादियान, पंजाब में स्थापित एक सम्प्रदाय। मिर्जा गुलाम अहमद (१८३६–१९०८) ने १८८९ में उसकी शुरुआत की थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस्लाम जन्म–जन्मान्तर के सिद्धान्त को नहीं मानता; लेकिन उनका कहना था कि वे मुहम्मद साहब के ही पुनरावतार हैं। उन्होंने अपने को महदी घोषित किया था; इस्लाम में जिनका अवतरण इस विश्व की समाप्ति के बाद माना जाता है। यह सम्प्रदाय इस प्रकार की प्रचलित विचारधारा से अलग ढंग की बात कहता है। जेहाद अर्थात् जो विश्वास नहीं करते, उनमें इस्लाम की मान्यताओं के प्रति विश्वास जगाना, उनका उद्देश्य था; लेकिन वे यह कार्य शस्त्र–बल से नहीं, वरन शान्तिमय तरीकों से समझा–बुझाकर करना चाहते थे।

मिर्ज़ा गुलाम अहमद का अपनी विचारधारा के अनुरूप कार्य करते–करते जब निधन हो गया तो उनके अनुयायियों ने मौलवी नूरुद्दीन को उनका उत्तराधिकारी अर्थात् ख़लीफ़ा चुना। सन् १९१४ में उनके निधन के बाद अहमदिया सप्रदाय दो शाखाओं में बँट गया : एक शाखा तो गुलाम अहमद के पुत्र हजरत मिर्जा वशीरुद्दीन मुहम्मद अहमद को जिनका जन्म १८८९ में हुआ था, दूसरा ख़लीफ़ा मानती थी; और दूसरी नूरुद्दीन की परम्परा को आगे बढ़ाती रही। कालान्तर में लाहौर में अहमदिया सम्प्रदाय का जो केन्द्र बना उसने मात्र गुलाम अहमद को अपना संस्थापक माना। अहमदिया समप्रदाय के लोग आज हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के अलावा इंग्लैण्ड तथा अनेक यूरोपीय देशों तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में भी पाये जाते हैं। पश्चिमी अफ़्रीका के कुछ देशों में भी इस सम्प्रदाय के लोग मिलते हैं। यूरोपीय तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में अहमदिया सम्प्रदाय के लोग बड़े ही समृद्ध हैं, और बड़ी ही निष्ठा के साथ इस्लाम के प्रचार का कार्य करते हैं। वे अपने को इस्लाम के सच्चे स्वरूप क़ा प्रचारक मानते हैं और मुहम्मद साहब के साथ मिर्ज़ा गुलाम अहमद को भी मसीहा बताते हैं। सन् १९४७ में पाकिस्तान बन जाने के बाद इस सम्प्रदाय का केन्द्र अब वहीं क़ादियान के स्थान पर रबवाह बन गया है।

अहमदिया (२) मिस्र की सूफ़ी परम्परा का अहमद अल् बदवी द्वारा स्थापित एक सम्प्रदाय। इस्लाम के अनुयायी भी अल् बदवी को, जिनका निधन १२७६ ई० में हुआ था, एक महान् सन्त मानते हैं। अल् बदवी को पहले एक वैज्ञानिक प्रचारक के रूप में बड़ी प्रसिद्धि मिली थी; लेकिन कालान्तर में उन्होंने एकान्त में चिन्तन–मनन का मार्ग अपनाया। इस साधना में जो सफलता उन्हें मिली, उससे उन्हें चमत्कार करने की शक्ति प्राप्त हुई और फिर उनके हज़ारों अनुयायी हो गये। कहा जाता है कि वे १२३६ ई० में तन्ता (कैरो के दक्षिण स्थित) पहुँचे थे। लोक आख्यान है कि जब अल् बदवी तन्ता पहुँचे तो एक निजी भवन की छत पर चढ़ गये थे और वहाँ स्थिर खड़े होकर सूर्य को बिना अपनी आँखें झपकाये देखते रहे थे। उनकी आँखें लाल हो गयी थीं; उनमें दर्द होने लगा था, फिर भी वे बराबर देखते रहे थे। उनके अनुयायियों ने भी फिर उनके इस व्यवहार को एक साधना–मार्ग के रूप में अपनाया। उनके अनुयायी उसके बाद सूतूइयह अर्थात् छत के लोग कहलाये जाने लगे थे।

अहम्मात्रवाद (स्लोपिसिज्म) आत्म प्रत्यय का सिद्धान्त, जिसके अनुसार केवल मनुष्य तथा उसकी चेतना मात्र ही अस्तित्ववान् है; और यह वस्तुगत जगत्, व्यक्ति के केवल मन में ही विद्यमान् होता है। बर्कले तथा हिक्टे, किसी विषय, परिघटना अथवा प्रक्रिया को मात्र आन्तरिक लाक्षणिकता मानने वाले दर्शन, लगभग इसी दृष्टिकोण के प्रतिपादक रहे हैं। यह दृष्टिकोण मनुष्य के दार्शनिक एवं वैज्ञानिक सभी प्रकार के प्रयासों को सर्वथा नकार देता है। आत्मवादी दार्शनिक इसीलिए 'अहम्' के चरम स्वरूप से बचने का आग्रह करते हैं। लेनिन ने अपने ग्रन्थ 'भौतिकवाद एवं आलोचनात्मक अनुभववाद' में अहम्मात्रवाद के इस अत्यधिक स्वार्थमय स्वरूप को सर्वथा अग्राह्य घोषित किया है।

अहम्वाद स्वार्थवाद, जिसे अंग्रेजी में 'ईगोइज़्म' कहा गया है। अहम्वाद अथवा आत्म–चेतना में खोया हुआ व्यक्ति, केवल अपने लाभ की बात सोचता है और दूसरों के, अपने चारों ओर के, समाज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के हितों की अनदेखी करता है। इस अहम्‌वादी दर्शन ने सामन्ती व्यवस्था के सोपानिक अथवा श्रेणीगत संगठन के विरुद्ध संघर्ष के समय यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार की सुरक्षा में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी; तथापि मनुष्य की नैतिकता के इतिहास में सामान्यतः उसे नकारात्मक ही कहा गया है। पूंजीवादी व्यवस्था के विकास के साथ 'अहम्' का विकास करने वाले सिद्धान्तों में समाज के विरोध की प्रवृत्ति अधिक से अधिक बढ़ती गयी है। नीत्ज़े के साथ हम अहम्‌वाद को और भी अधिक प्रतिक्रियावादी स्वरूप ग्रहण करते देखते हैं। 'अहम्' के इस स्वरूप की मार्क्सवादियों ने सर्वाधिक दृढ़तापूर्वक भर्त्सना की है। उन्हें हम 'अहम्' के स्थान पर लोक में मंगल की प्रतिष्ठा के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करते हुए देखते हैं।

अहल्या ब्रह्मा की पहली पुत्री। इनके रूप वैभव को देखकर इन्द्र ने इन्हें अपनाने की इच्छा प्रगट की थी लेकिन ब्रह्मा ने इन्हें ऋषि गौतम को दे दिया और फिर ये उनकी अर्द्धागंनी होकर रहने लगी। इन्द्र के मन में फिर भी इनके प्रति आकर्षण बना रहा; और पौराणिक आख्यान है कि इन्द्र इनके साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए चन्द्रमा को अपने साथ लेकर गये थे। चन्द्रमा ने आधी रात ही कुकुट (मुर्गा) के स्वर में बोलकर यह संकेत दे दिया कि सवेरा हो गया है। महर्षि गौतम यही समझकर उठ गये और पूजा पाठ के लिए दूसरे कक्ष में चले गये। तभी इन्द्र ने गौतम का वेश–विन्यास बनाकर शयन कक्ष में प्रवेश किया और इस मायाजाल के सहारे अहल्या के साथ सम्भोग किया। इस संदर्भ में एक पौराणिक आख्यान यह भी है कि अहल्या स्वयं इन्द्र के प्रति अनुरक्त थीं। अतः यह सम्भोग क्रीड़ा सम्भव हुई। गौतम को जब इसके विषय में ज्ञात हुआ तो उन्होंने उनका परित्याग किया और यह शाप दिया कि तुम पाषाणी हो जाओ। गौतम उसके बाद अपना आश्रम छोड़कर चले गये और फिर वे वहाँ पाषाणी रूप में अकेली ही रह गयी।

महर्षि विश्वमित्र के साथ जब राम और लक्ष्मण जनकपुर जा रहे थे तो उन्होंने उस पाषाणी स्वरूप को देखा। विश्वमित्र जी ने उन्हें पूरी कथा बताई और फिर राम जी से कहा कि इन्हें अपने चरणों से स्पर्श करो इनसे इनका उद्धार हो जायेगा। राम के चरणों के स्पर्श से वे पुनः जीवन्त हो गयी। गौतम को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने उन्हें फिर से अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया। फिर उनके शतानन्द नाम का एक पुत्र भी हुआ।

अहल्या के पाषाणी होने के सम्बन्ध में यह भी कथा है कि महर्षि गौतम ने यह भी कहा था कि अयोध्या के राजकुमार राम उनका उद्धार करेंगें। भारतीय साहित्य में अहल्य की गणना बड़ी विशिष्ट नारियों में होती है।

इस सम्बन्ध में एक सूक्ति भी प्रसिद्ध है। 'अहल्या, द्रौपदी, सीता, तारा, मन्दोदरी, तया। पंचकन्या स्मरे नित्यम् महा पातक नाशनी।' द्विजेन्द्र लाल राय ने इसी प्रसंग को लेकर पाषाणी नाम का एक काव्य नाटक भी लिखा है। रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने भी अहल्या के पाषाणी स्वरूप को लेकर एक काव्य की रचना की है।

कुमारिल भट्ट ने अहल्या के इस प्रसंग को सर्वथा प्रतीकात्मक माना है। इस सम्बन्ध में उन्होंने वेदों में इन्द्र के लिए प्रयोग किये गये विशेषण 'अहल्यायेः जारः' का आधार लिया है। उन्होंने इन्द्र को सूर्य का और अहल्या को रात का प्रतीक माना है: सूर्य अपने को रात्रि को अर्पण किया करता है और उसे जीर्ण अर्थात बृद्ध एवम् अन्तर्हित कर देता है। इसी आधार पर अहल्या को लेकर प्रचलित कथा गढ़ी गई है। शतपथ (३/३/४/१८), जेमिनी (२/७६) तथा शदविंश (१/१) में उपलब्ध प्रसंग का यही आशय है।

अहिछत्र उत्तर भारत में प्राचीन काल का एक जनपद। 'महाभारत' में अहिछत्र को पाञ्चाल प्रदेश की राजधानी कहा गया है। उन दिनों वहाँ महाराज द्रुपद का शासन था। पाँच पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी, इन्हीं महाराज द्रुपद की सुपुत्री थीं। 'महाभारत'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में कहा गया है कि महाराज द्रुपद, गुरु द्रोणाचार्य के सहपाठी रहे थे। एक बार द्रोणाचार्य बहुत बड़े आर्थिक संकट के समय महाराज द्रुपद के पास गये; लेकिन उन्होंने कुछ दिया नहीं, वरन् उनका अपमान किया। गुरु द्रोणाचार्य ने पाण्डवों और कौरवों को शिक्षा देने के अनन्तर, उनसे पाञ्चाल प्रदेश पर आक्रमण कराया था; और फिर आधे पाञ्चाल प्रदेश पर उनका शासन हो गया था।

प्राचीन जनपद अहिछत्र के अवशेष, बरेली ज़िले के आँवला स्टेशन से सात मील की दूरी पर रामनगर में मिलते हैं। वहाँ जो टीले–टम्बर मिलते हैं, उनमें समय–समय पर जो पुरातात्विक खुदाइयाँ हुई हैं, उनमें महाभारत काल का कोई अवशेष नहीं मिला है। सबसे पहले कनिंघम ने वहाँ खुदाई करायी थी। उसके बाद यूरर ने कुछ और खुदाइयाँ करायीं। सन् १९४०–४४ में वहाँ और अधिक खुदाइयाँ हुईं। इन खुदाइयों से जो सामग्री मिली है, वह ईसा पूर्व छठी शताब्दी से आरम्भ होती है। सामग्री में जो मुद्राएँ और अभिलेख मिले हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वहाँ कभी पुष्यमित्र, अग्निमित्र आदि राजाओं ने राज्य किया था। वरिष्ठ इतिहासकार इन राजाओं को शुंगवंश का मानते हैं। उस क्षेत्र में प्राप्त मुद्राओं और अभिलेखों के आधार पर विद्वानों का कहना है कि ये शासक सार्वभौम न होकर प्रादेशिक मात्र थे। गुप्तवंश के शासनकाल से सम्बन्धित भी यहाँ कुछ सामग्री मिली है। उसके बाद के राजाओं के समय के कुछ भवन, मन्दिर तथा सड़कों के अवशेष मिले हैं। चीनी यात्री युवान च्वांग जब यहाँ आया था, तो उसे यहाँ दस बौद्ध विहार और नौ मन्दिर मिले थे। उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह लगता है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक इस जनपद का राजनीतिक महत्त्व सर्वथा समाप्त हो गया था।

अहिमन यह पहलवी भाषा का शब्द है। प्राचीन ईरान की अवेस्ता भाषा में इसका रूप अंग्र मैन्यु (वेदों में मन्यु) है। पारसी धर्म के समर्थ प्रवक्ता ज़रथुस्त्र ने परम सत्ता को अहुरमज़्द कहा है। सांसारिक जीवन में सद् और असद् शक्तियों का जो संघर्ष देखने को मिलता है, उसमें सद् शक्ति को उन्होंने 'स्पेंत मैन्यु' और असद् शक्ति को 'अंग्र मैन्यु' नाम दिये हैं। अंग्र मैन्यु अथवा अहिमन इस प्रकार पारसी धर्म में राक्षसी अथवा दानवी शक्ति का प्रतीक माना जाता है। भारतीय दर्शन के 'सत्यमेव जयते' की भाँति, पारसियों का भी विश्वास है कि अन्त में स्पेंत मैन्यु की ही विजय होती है; और पराजित होकर अंग्र मैन्यु अथवा अहिमन को पाताल भागना पड़ता है।

अहिल्याबाई होल्कर (ईस्वी सन् १७२५–९५) इन्दौर के महाराज मल्हार राव की पुत्रवधू। इनके पति खाण्डेराव की युद्धक्षेत्र में मृत्यु हो गयी थी। इनका पुत्र मालोराव अभी छोटा ही था, इसीलिए मल्हार राव ने इन्हें ही शासकीय प्रशिक्षण देना आरम्भ किया था। मल्हार राव जैसे–जैसे शिथिल होते गये थे, शासन के सारे अधिकार धीरे–धीरे उन्होंने इन्हें ही सौंप दिये थे। मल्हार राव की मृत्यु के अनन्तर उनके पौत्र मालोराव ने मात्र ६ महीने के लिए शासन भार सँभाला था। मालोराव बड़ी ही उच्छृंखल प्रकृति का था, अतः उसके शासनकाल में राज्य व्यवस्था बहुत ही बिगड़ गयी थी। अहिल्याबाई को जब शासन भार अपने हाथों में लेना पड़ा, तो उन्होंने अपने प्रशासनिक कौशल से शीघ्र ही सुव्यवस्था स्थापित कर दी। अपने पड़ोसी राज्यों के साथ उन्होंने मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाये। उनके सेनापति तुकोजी ने मन्दसौर के राजपूत शासकों को युद्ध में पराजित कर, उस क्षेत्र पर भी इनका राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित कर दिया था।

अहिल्याबाई बहुत बड़े क्षेत्र की शासिका नहीं थी; लेकिन अपनी प्रजा को सुशासन देने के साथ–साथ, वे अपना वात्सल्य भी प्रदान करती थीं। असहायों की मदद करना उन्होंने अपना स्वभाव बना लिया था। उनकी यह दानशीलता केवल अपने राज्य की सीमा तक ही सीमित नहीं थी। वे बड़ी ही धार्मिक अभिरुचि की थीं; अतः उन्होंने विन्ध्याचल से लेकर सुदूर गंगोत्री तक के अनेक धार्मिक स्थलों को आर्थिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहायता दी थी। उनकी इन्हीं विशेषताओं के कारण उन्हें अपने समय का सर्वाधिक कुशल और परम उदार राजनीतिज्ञ कहा जाता है।

अहिल्याबाई को अपने जीवन–काल में अनेक दुख झेलने पड़े थे : पहले पति खाण्डेराव की मृत्यु, उसके बाद एकमात्र पुत्र मालोराव का निधन, फिर जामाता और नाती का मरण; उन्हें अपनी पुत्री मुक्ताबाई को भी अपने पति के साथ सती होते हुए देखना पड़ा था। कोई भी सामान्य व्यक्ति इन दुर्योगों से अपना मानसिक संतुलन खो बैठता; लेकिन उनकी धार्मिक चेतना ने उन्हें गीता की शब्दावली में पूर्णतः स्थितप्रज्ञ बना दिया : हानि–लाभ, जय–पराजय सभी को उन्होंने बड़ी मानसिक दृढ़ता के साथ सहन किया। उनके इस महामहिम व्यक्तित्व और असाधारण कृतित्व को लेकर उनकी अनेक जीवनियाँ लिखी गयी हैं। वरिष्ठ कवि और नाटककार डॉ० रामकुमार वर्मा ने उन पर एक नाटक लिखकर उनकी यशोगाथा उपस्थित की है।

अहिरावण लंका के महाराज रावण का एक मित्र। इसके भाई का नाम महिरावण मिलता है। पौराणिक आख्यान है कि राम और लक्ष्मण जब सीता के अपहरण के अनन्तर सुवेल पर्वत पर विश्राम कर रहे थे, तो रावण के आदेश से ये दोनों भाई उन्हें शिलापट सहित उठा ले गये। उन्हें वे कामरूप प्रदेश के कामाख्या मन्दिर के पास ले गये थे, और दूसरे दिन प्रातःकाल कामाख्या जी के सामने उनका बलिदान करना चाहते थे। हनुमान जी जब राम और लक्ष्मण की खोज करते–करते निकुंमिला नगर पहुँचे तो उन्हें वहाँ मकरध्वज नाम का एक नवयुवक मिला। हनुमान जा पहले भी कभी उस प्रदेश में गये थे तो स्नान करते–करते उनका वीर्य स्खलित हो गया था, और एक मछली ने उसे ग्रहण कर लिया था। मकरध्वज इसी संयोग से उत्पन्न हुआ था, और हनुमान जी के प्रति विशेष आत्मीयता अनुभव करता था। उसी ने हनुमान जी को बताया कि ये दोनों राक्षस भाई कामाख्या देवी के सामने राम और लक्ष्मण दोनों का वध करेंगे। प्रातः काल जब ये दोनों राक्षस राम और लक्ष्मण को लेकर मन्दिर में पहुँचे तो हनुमान जी ने देवी की छद्म–वाणी में कहा कि पूजा कार्य मन्दिर के बाहर के परिसर में होना चाहिए। राक्षस जब बाहर निकले तो हनुमान जी ने राम और लक्ष्मण को भी बन्धनमुक्त कर दिया। राज और लक्ष्मण ने उसके बाद बाहर निकलकर उन दोनों राक्षसों से लड़ना आरम्भ किया। लेकिन उन दोनों राक्षसों को रक्तबीज जैसा वरदान मिला था। इसलिए उनके रक्त भी बूँदो से नये–नये अहिरावण और महिरावण उत्पन्न होते जा रहे थे। इसलिए इस युद्ध की समाप्ति ही नहीं दिखाई दे रही थी।

हनुमान् जी को संकटमोचन कहा गया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में अहिरावण की पत्नी से बातचीत की। उसने बताया कि वह नागकन्या है, अर्थात नाग जाति की कन्या। अहिरावण ने उसके बलपूर्वक विवाह किया ही है, महिरावण भी उसे वासनभरी दृष्टि से देखता है। अतः वह भी इन दोनों से उद्धार चाहती है। इनका वध कैसे किया जा सकता है, इसकी भी उसे जानकारी है। अगर हनुमान जी यह वादा करें कि इनके वध के अनन्तर राम उसके साथ विवाह कर लेंगे, तो वह उन्हें इन्हें मारने की तरकीब बता देगी। हनुमान जी ने बड़ी चतुराई से कहा कि अगर तुम्हारा पलंग रामजी का भार संभालने में समर्थ होगा, तो वे निश्चित रूप से तुमसे विवाह कर लेंगे। नागकन्या ने आश्वस्त होकर तब उन्हें बताया कि एक बार कुछ बालक काँटें चुभाकर भौरों की हत्या कर रहे थे तो इन दोनों भाइयों ने इन भौंरो की सुरक्षा की थी। इन भौरों से प्राप्त मधु–बिन्दुओं में अमृत जैसी सामर्थ्य है, उसे ही निरन्तर पीते रहने के कारण ये अजेय हो गये हैं। अगर भौरों के उस समुदाय का वध कर दिया जाये तो इन्हें अमृत मिलना बन्द हो जायेगा, और फिर इनका वध किया जा सकेगा। राम और लक्ष्मण ने भौंरो का वध करना आरम्भ कर दिया, लेकिन हनुमान जी ने उनमें से दो–एक को बचा लिया और उन्हें उस नागकन्या के पलंग में छिपा दिया। राम

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और लक्ष्मण ने तब उन दोनों राक्षसों का वध कर दिया। हनुमान् के दिये वचन की पूर्ति के लिए जब राम उस नागकन्या के पलंग के पास पहुँचे, तब तक भौंरों ने उसी भीतर से जर्जर कर दिया था, अतः राम के बैठने का प्रयास करते ही वह पलंग टूट गया। राम को इस प्रकार हनुमान जी द्वारा उस नागकन्या को दिये गये वचन से मुक्ति मिल गयी। नागकन्या इस दुर्योग को देखकर इतनी विक्षिप्त हुई कि उसने अग्नि को अपना शरीर समर्पित कर दिया।

अहिंसा सामान्य अर्थ है किसी प्रकार की हिंसा न करना; अर्थात् किसी को भी किसी तरह से कष्ट, चोट आदि नहीं पहुँचाना। हिंसा तीन प्रकार की– कायिक, वाचिक और मानसिक मानी गयी है, और इसी प्रकार अहिंसा को, किसी को भी मनसा, वाचा, कर्मणा दुख न देना, कहा गया है। 'पातंजलि योगसूत्र' में के अष्टांग–योग में यम के अन्तर्गत जो पाँच मार्ग बताये गये हैं, उनमें सबसे पहले अहिंसा ही आती है; सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (संग्रह की प्रवृत्ति का अभाव) बाद को आते हैं। अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाने पर, व्यक्ति के निकट सभी प्राणी, परस्पर बैरभाव का त्याग कर देते हैं। अहिंसा को भारतीय दर्शन में मनुष्य का परम धर्म कहा गया है। जैन, बौद्ध, वैष्णव आदि दर्शनों में अहिंसा की विस्तृत विवेचना की गयी है। ईसाई धर्म में भी अहिंसा को विशेष महत्त्व दिया गया है।

अहिंसा का सर्वाधिक विस्तृत विवेचन जैन ग्रन्थों में मिलता है। जैन दार्शनिक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति, सभी को जीवधारी मानते हैं; और इन सभी के प्रति अहिंसात्मक व्यवहार का आदेश देते हैं। उन्होंने आगे चलकर, इस जगत् की स्थावर और जंगम सभी प्रकार की वस्तुओं के प्रति हिंसा को वर्जित किया है। उन्होंने अहिंसा के विधेयात्मक और निषेधात्मक दो स्वरूप माने हैं। विधेयात्मक स्वरूप के अन्तर्गत उन्होंने सत्प्रवृत्ति, स्वाध्याय, अध्यात्म–सेवा, ज्ञान–चर्चा आदि सभी आत्महितकारी क्रियाओं को स्थान दिया है। राग, द्वेष को छोड़ना, प्रवृत्ति मार्ग के परित्याग तथा किसी को हानि पहुँचाने के कार्य को उन्होंने निषेधात्मक कहा है। एक प्राचीन जैनगाथा में आठ प्रकार की हिंसा का वर्णन किया गया है : एक सूक्ष्म जीवहिंसा, दूसरे स्थूल जीवहिंसा, तीसरे संकल्प हिंसा, चौथे आरम्भ हिंसा, पाँचवें सापराध हिंसा, छठे निरपराध हिंसा, सातवें सापेक्ष हिंसा और आठवें निरपेक्ष हिंसा। जैन श्रावक इनमें से दो, तीन, छह और आठ को ही छोड़ पाता है; लेकिन जैनमुनि इन सभी को छोड़ने में समर्थ होते हैं।

बौद्ध धर्म में अहिंसा की स्पष्टतः चर्चा नहीं मिलती। उसमें जो दीन–हीन हैं, पीड़ित हैं, प्रताड़ित हैं, उनके प्रति करुणा की भावना को विशेष बल दिया गया है। करुणा की परिव्याप्त चेतना को 'महाकरुणा' कहा गया है। करुणा का यही दर्शन हमें सब प्रकार की हिंसा से बचने का आदेश देता है। श्रीमद्भगवद्गीता के दशम् अध्याय के पाँचवें श्लोक में अहिंसा को मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा गया है। 'मनुस्मृति' के पाँचवें, छठे, और दशवें अध्यायों में क्रमशः ७५, ४४ और ६३वें छन्दों में अहिंसा पर विशेष रूप से बल दिया गया है। कबीर, दादू, नानक आदि सन्त कवियों ने भी, हर प्रकार की हिंसा से बचने का निर्देश दिया है। तुलसीदास 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई, परपीड़ा सम नहिं अधमाई' कहकर अहिंसा की शिक्षा देते हैं। ईसामसीह ने तो यहाँ तक कहा है कि अगर कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारता है, तो तुम्हें उसका कोई जवाब न देकर, मात्र उसके सामने अपना दूसरा गाल भी कर देना चाहिए।

गांधी जी को हम अहिंसा का प्रयोग बड़े व्यापक स्तर पर करते हुए देखते हैं। उन्होंने इसे अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपने असहयोग और सत्याग्रह के, आन्दोलनों के अस्त्र के रूप में प्रयोग किया। उन्होंने स्वाधीनता का जो व्यापक जन–आन्दोलन खड़ा किया था, उसे वे, सर्वथा अहिंसात्मक रखना चाहते थे। इसीलिए सन् १९२१ में आरम्भ किये गये जन–आन्दोलन के समय, जब आन्दोलन हिंसात्मक हो उठा– चौरी–चौरा में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आन्दोलनकारियों ने जब पुलिस थाने पर हमला करके अनेक लोगों की हत्या कर दी; तो उन्होंने आन्दोलन बन्द कर दिया था। उनके इस निर्णय का अनेक लोगों ने विरोध किया था; लेकिन अन्ततः सभी को उनकी बात माननी पड़ी। उनका कहना था कि अहिंसात्मक संघर्ष में, अपराध का विरोध किया जाना चाहिए, अपराध करने वाले का नहीं। इसी दृष्टि से उन्होंने कहा था कि हम अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरोधी हैं; अंग्रेजों के नहीं। गांधी जी ने अपनी इसी अहिंसावादी जीवन–दृष्टि को लेकर भारतवर्ष के सम्पूर्ण जनसमुदाय को जागरूक और स्वतंत्रता आन्दोलन के लिए सन्नद्ध कर दिया था और उनका प्रयोग सफल हुआ।

अहुरमज़्द प्राचीन ईरान, आर्यानक की अवेस्ता भाषा में इस शब्द का प्रयोग, चरम या सर्वशक्तिमान् ईश्वर के लिए किया गया है। प्राचीन ईरान के सर्वाधिक प्रसिद्ध धर्मपुरुष जरथुस्त्र ने उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को 'अहुरमज़्द' संज्ञा से ही सम्बोधित किया है। उन्होंने उस परम सत्ता को सम्बोधित करते हुए कहा है, 'मैने तुम्हें केवल विश्व के आदिकर्त्ता के रूप में अभिव्यक्त पाया हैं, और तुमको ही विवेक का स्रष्टा एवं सद्धर्म का वास्तविक अर्जक तथा मानव जाति के समस्त कर्मों का नियामक समझा है। उन्होंने यह भी कहा है कि 'अहुरमज़्द' केवल ध्यान का विषय है; और अगर ध्यानस्थ होकर हम अपने मानस–चक्षुओं से उसे देखेंगे तो वह हमें सर्वस्रष्टा, सर्वद्रष्टा सर्वनियामक, सर्वशक्तिमान्, सर्वोपरि प्रतीत होगा। पारसी धर्मग्रन्थों में 'अहुरमज़्द' को परम उदात्त, सत्वेतनामय तथा अविराम प्रकाशवान् कहा गया है। वह सतत असत् प्रवृत्तियों, अन्धकार के विस्तार और मात्र दुष्प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि अरिमान के विरुद्ध संघर्ष करता है। लोक में मंगल की प्रतिष्ठा मात्र ही उसका लक्ष्य होता है।

अहोम आज के असम प्रदेश में ईस्वी सन् की तेरहवीं शताब्दी में आकर बसी जाति। प्राचीन समय में अहोम लोग उत्तरी बर्मा में रहते थे और 'शान' कहलाते थे। आसाम में अहोम राजवंश, वर्ष १२२८ से १८३५ ई० तक अविच्छिन्न रूप से चलता रहा। अहोम लोगों की विशेषता यह रही कि इन्होंने मुग़लों और पठानों को कभी भी अपने प्रदेश में घुसने नहीं दिया। इन लोगों ने संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति को पूरी तरह से अपनाया था। इनकी राजध ानी जोरहाट के पास 'गढ़' थी। असम प्रदेश का प्राचीन नाम प्राग्ज्योतिषपुर था। कालान्तर में जब वहाँ कामाख्या देवी का मन्दिर बना तो उसे कामरूप की संज्ञा मिली। अहोम जाति के लोग जब बहुत बड़ी संख्या में आकर वहाँ बस गये, तो अहोम, आहम बना और यही आहम फिर ध्वनि परिवर्तन के कारण अंग्रेजों के समय में (१८२४ ई० के बाद) आसाम बन गया। आसाम प्रदेश का नामकरण इस प्रकार वहाँ अहोम जाति के लोगों के बहुत बड़ी संख्या में बस जाने के कारण माना जाता है। भारत के स्वाधीन होने के बाद आसाम प्रदेश का नाम 'असम' कर दिया गया और उस समय उसमें पूर्वोत्तर के सभी राज्य सम्मिलित थे।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
139306

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

LIBRARY

	Signature	Date
Accession		4.3.06
Class on		10.11.06
Cat on		
Tag etc		
Filing		
E.A.R.		
Any others		
Checked		

Recommended By...........

Entered in Database

Signature with Date 4.3.06

STOCK VERIFY 2020 G.K.V. Library

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादक

विश्वनाथ मिश्र एम.ए., डी.फिल्, डी.लिट्, पाँच दशकों से अधिक का हिन्दी के पठन, पाठन और शोध कार्यों का अनुभव। रंगमंच के गहन अध्येता एवं अधिकारी विद्वान। प्रकाशन : 'हिन्दी भाषा तथा साहित्य पर अंग्रेजी प्रभाव (१८७०–१६२०)', 'हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव', 'नाटक का रंग–विधान', 'भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य–सिद्धान्त', 'भारतीय नाट्यशास्त्र और आज का रंगमंच', 'स्तानिस्लावस्की का रंग–जीवन'; अनुवादित पुस्तकें : ललित कलाएँ और मनुष्य', 'अभिनेता की तैयारी', 'चरित्र की रचना–प्रक्रिया' और 'भूमिका की संरचना'। एक काव्य संकलन, तीन नाटक और सौ के लगभग शोध–निबन्ध भी प्रकाशित।

राधेकृष्ण गुप्त एम.ए., एलएल.बी., भारतीय प्रशासनिक सेवा के पूर्व अधिकारी। भारतीय विद्या भवन लखनऊ केन्द्र के प्रारम्भ से प्रबंधक–सचिव। भारतीय संस्कृति एवं शिक्षा समिति के सचिव एवं निदेशक। हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, फ्रेंच तथा जर्मन भाषाओं के अध्ययन तथा साहित्य, धर्म, दर्शन, इतिहास एवं संस्कृति के विषयों में विशेष रुचि। भगवद्गीता, योगसूत्र, सात उपनिषदों एवं रवीन्द्र नाथ टैगोर की गीताजंलि के सरल हिन्दी अनुवाद प्रकाशित।

जितेन्द्र कुमार मिश्र (जे०के० मिश्र), एम.एससी., पीएच.डी., एलएल.बी., तीन दशकों से अधिक समय से वनस्पति विज्ञान विषय में शिक्षण और शोध कार्य में सतत् रत। विदेशों में भी शोध कार्य तथा अनेक अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों में शोध–निबन्ध के पाठ का अनुभव। कई विशिष्ट पुस्तकें– ए मैनुअल ऑफ़ राइस सीड हेल्थ टेस्टिंग, इलस्ट्रेटेड जेनेरा ऑफ़ ट्राइकोमाइसिटीज़ : फंगल सिम्बिऑट्स ऑफ़ इन्सेक्ट्स एण्ड अदर आर्थ्रोपॉड्स, ट्राइकोमाइसिटीज़ एण्ड अदर फंगल ग्रुप्स : प्रोफेसर रावर्ट लिक्वर्ट कमीमोरेशन वाल्यूम एवं साठ से अधिक शोध–पत्र प्रकाशित।

हिन्दी विश्वभारती समिति
लखनऊ – 226 016

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar